गोस्वामी तुलसीदास

व्यक्तित्व : दर्शन : साहित्य

गोस्वामी तुलसीदास

व्यक्तित्व : दर्शन : साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय से डी० लिट् उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

रामदत्त भारद्वाज

डी० लिट्० (हिन्दी), पीएच० डी० (दर्शन), एम० ए० (त्रय), एलएल० बी०,

प्राध्यापक, देशबन्धु कालिज, दिल्ली विश्वविद्यालय

१९६२

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा : दिल्ली

काव्य-लास की सुषमा-प्रतिभा,
अभिनव पद्म-रत्न के आकर,
रस-रक्षा-रत श्री नगेन्द्र को
'तुलसीदास' समर्पित सादर

भूमिका

परम पूज्य पिता (अब स्वर्गीय) पण्डित जौहरीलाल शर्मा से निरन्तर प्रेरित एवं प्रोत्साहित मैं लगभग पच्चीस वर्षों से गोस्वामी तुलसीदास-सम्बन्धी अनुसंधान में संलग्न रहा हूँ। इस दिशा में मेरी सर्वप्रथम रचना वह भूमिका है जो मैंने १६३७ ई० में 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' के लिए लिखी थी। तदनन्तर मेरे दो लेख १६३८ ई० के 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुए, जिन्हें पढ़कर कतिपय विद्वान् सोरों-सामग्री का अवलोकन करने के लिए सोरों-कासगंज पधारे थे। तब से और भी अनेक लेख, नवीन सामग्री का परिचय देने के लिए अथवा आलोचन-प्रत्यालोचन के निमित्त, लिखे गये। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के कारण लेखों और पुस्तकों के प्रकाशन में मुझे कठिनता का अनुभव करना पड़ा, तथापि साप्ताहिक 'नवीन भारत' के द्वारा इस विषय में प्रगति होती रही। 'तुलसी चर्चा' के प्रकाशन पर मुझे ऐसा लगा था कि तुलसी-विषयक अनुसंधान की इति-श्री हो गयी, पर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने उत्साहवर्द्धक शब्दों में यह आशा प्रकट की थी कि भविष्य में इस विषय में और भी अधिक प्रयत्न होगा, और आज मुझे प्रसन्नता है कि उनकी भविष्य-वाणी सफल हुई, क्योंकि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आगरा विश्व-विद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है।

सोरों-सामग्री के तीव्रालोचकों में प्रमुख हैं श्री चन्द्रबली पांडे और डॉ० माताप्रसाद गुप्त। उनकी आलोचनाओं के कारण विद्वत्समाज में ऊहापोह उपस्थित हुआ तथा सोरों-सामग्री को स्वर्ण की भाँति तपने और शुद्ध होने का अवसर मिला। तुलसी-जगत् में ये दोनों साधुवाद के पात्र हैं, क्योंकि यदि उनकी आलोचनाएँ प्रशंसात्मक होतीं तो कदाचित् कुछ भ्रान्तियों का निराकरण सुचारु रूप से न हो पाता।

मेरे सम्मुख जो सामग्री उपस्थित होती है मैं तब तक उसे प्रामाणिक मानता हूँ जब तक उसके विरुद्ध कोई अन्तःसाक्ष्य अथवा प्रबल बहिःसाक्ष्य उपलब्ध न हो। जन-श्रुतियों में भी सत्य निगूढ रहता है, ऐसा मेरा विश्वास है। सोरों-सामग्री से मेरा कोई व्यक्तिगत साहित्येतर सम्बन्ध नहीं, क्योंकि न मैं सनाढ्य ब्राह्मण हूँ और न एटा ज़िले का निवासी ही। मेरा लक्ष्य तो सदैव सत्यानुसंधान रहा है। मैं इस दिशा में कहाँ तक सफल हुआ हूँ, यह मेरे विज्ञ पाठक समझ सकते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में युरोपीय विद्वानों के (विशेषतः सर्वश्री ग्राउज़, ग्रियर्सन और ग्रीव्ज़ के) अनुसंधानों की, तत्पश्चात् भारतीयों की (विशेषतः आदरणीय मिश्र-बन्धु, डॉ० श्यामसुन्दरदास एवं पं० रामचन्द्र शुक्ल की) गवेषणाओं की, चर्चा की गयी है, जिससे यह आभास मिलता है कि उनकी रचनाओं में गोस्वामीजी के जीवन-वृत्त का समय-समय पर क्या रूप रहा। नवीन सामग्री की प्राप्ति पर धारणाओं में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यद्यपि १८७४ ई० में प्रकाशित बुन्देलखण्ड गज़टियर में राजापुर की स्थापना गोस्वामीजी के द्वारा बतायी गयी और उन्हें स्पष्टतः सोरों का निवासी कहा गया था, तथापि यह आश्चर्य है कि उक्त एवं अन्य सभी

अनुसंधाताओं की दृष्टि से तथ्य सर्वथा तिरोहित रहा।

द्वितीय अध्याय में भ्रान्त साहित्य की आलोचना की गयी है। 'तुलसी चरित', 'मूल गोसाईं चरित' और 'घट रामायन' आदि रचनाएँ परीक्षा से शुद्ध नहीं उतरतीं। अब तक 'तुलसी चरित' की बाह्य परीक्षा ही होती रही, किन्तु उसके अन्तःपरीक्षण का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। 'घट रामायन' और 'गौतम चन्द्रिका' में मैंने कतिपय अन्यान्य इतिहास-व्यतिक्रमों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। 'तुलसी प्रकास' सोरों-पक्ष का समर्थन करता है, किन्तु परीक्षण के अनन्तर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि यह भी सर्वथा शुद्ध नहीं क्योंकि इसमें कुछ साभिप्राय प्रक्षेप विद्यमान हैं।

तृतीय अध्याय में सूकरक्षेत्र की तत्ता पर प्रकाश पड़ा है। गोस्वामीजी ने बाल्यकाल की अचेत अवस्था में वहाँ रामकथा सुनी थी, जिसका उल्लेख उन्होंने 'रामचरितमानस' के आरम्भ में किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार इसकी स्थिति गोंडा जिले में सरयू-घाघरा के संगम पर बतायी गयी, किन्तु अन्य विद्वानों के विचार से यह एटा जिले में गंगा के उपकण्ठ पर विद्यमान है। मैंने दोनों मतों की पुष्टि में दिये गये प्रमाण-बाहुल्य पर विचार कर अपना स्पष्ट झुकाव तुलसी-पूर्व तुलसी-कालीन एवं तुलसी-परवर्त्ती बहुल साक्ष्य के आधार पर दूसरे मत की ओर प्रकट किया है।

चतुर्थ अध्याय में गोस्वामीजी के जन्म-स्थान की चर्चा है। इस विषय में राजापुर, काशी, अयोध्या, तारी आदि अनेक स्थानों का उल्लेख किया जाता है। मैंने सभी स्थानों का, पर उक्त स्थानों का विशेष विवेचन किया है। जन्म-स्थल-सम्बन्धी निर्णय के हेतु, मैं सोरों और रामपुर के मध्य डगमगाता था, किन्तु जब से श्री चन्द्रबली पांडे ने इस सम्बन्ध में गोस्वामीजी का एक अन्तःसाक्ष्य उपस्थित किया तब से मेरी धारणा रामपुर के प्रति दृढ़तर हो गयी। अब तक गोस्वामीजी के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में मेरी प्रवृत्ति बाह्य साक्ष्य की ओर थी। अतएव पांडे जी से परोक्ष प्रेरणा प्राप्त कर मैं अन्तःसाक्ष्य की ओर झुका, और अब मैं इस साक्ष्य के आधार पर भी सूकरक्षेत्रान्तर्गत गंगोपकण्ठस्थ रामपुर को तुलसीदास की जन्म-भूमि समझता हूँ।

पंचम अध्याय में गोस्वामीजी के जन्म-मरण से सम्बन्ध रखने वाली तिथियों पर विचार किया गया है। सम्भवतः 'तुलसी-प्रकास'-प्रदत्त जन्म-तिथि अधिक युक्ति-युक्त एवं अन्तःसाक्ष्य के निकटतर प्रतीत होती है। निधन-तिथि के सम्बन्ध में प्राचीन जन-श्रुति ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है।

षष्ठ अध्याय में गोस्वामीजी की वर्णाकृति, चित्र-प्रतिमा, एवं स्वभाव-प्रकृति का उल्लेख अन्तःसाक्ष्य पर आधृत एवं सोरों-सामग्री से समर्थित है। किशनगढ़ से गोस्वामीजी का जो चित्र मुझे प्राप्त हुआ उसका भी उल्लेख उनके अन्य चित्रों के विवरण के साथ किया गया है।

सप्तम अध्याय में सोरों-सामग्री का सचित्र परिचय एवं हस्तलिखित पुस्तकों का विवरण दिया गया है। इस सामग्री पर समय-समय पर आक्षेप होते रहे हैं, यहाँ तक कि उसको जाली भी कह दिया गया है। मैंने सर्वप्रकार से इसका परीक्षण किया, कराया, और विचारान्तर्गत पुस्तकों में केवल एक प्रतिलिपि के अतिरिक्त सभी को प्रामाणिक समझा है। मैंने इस बात पर भी विचार करने का प्रयत्न किया है कि

यदि सोरों-सामग्री न होती तो गोस्वामीजी की जीवन-गाथा का क्या रूप होता ? मेरा निष्कर्ष है कि यह सामग्री गोस्वामीजी से सम्बद्ध विकीर्ण जन-श्रुतियों पर प्रचुर प्रकाश प्रदान करने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अष्टम अध्याय में गोस्वामीजी की पत्नी रत्नावली के आत्म-परिचय, काव्य-कौशल, उपदेश और दर्शन पर विमर्श उपस्थित किया गया है, तथा परिशिष्ट में अद्यावधि उपलब्ध उनकी रचना एवं जीवनी को अविकल रूप से पाठान्तर-सहित दे दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रत्नावली के आत्म-परिचय से गोस्वामी जी के जन्म-स्थान, गृह, एवं परिवार का समुचित आभास मिलता है।

नवम अध्याय में गोस्वामीजी की जीवन-चर्चा उन्हीं के ग्रन्थों के आधार पर की गयी है, जिन से उनके जन्म-स्थान, मातृ-पितृ-नाम, जाति एवं अन्य कतिपय विषयों पर अन्तःसाक्ष्य उपलब्ध होता है। तन्निमित्त कुछ कूट और गूढार्थ उक्तियों को भी प्रकाश में लाया गया है।

दशम अध्याय में गोस्वामीजी की साहित्यिकता का निरूपण है। उनके द्वारा उपस्थापित काव्य का स्वरूप श्लाघ्य है। उनका माध्यम, मेरे विचार से, प्रधानतः व्रजी एवं व्रजावधी भाषाएँ हैं। तुलनात्मक उद्धरणों के द्वारा मैंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि उनके पितृव्यपुत्र महाकवि नन्ददास, भ्रात्रीय कवि कृष्णदास, पत्नी रत्नावली, तथा व्रजमंडल के अन्य कवियों की रचना से 'रामचरितमानस' की भाषा-शैली का प्रचुर साम्य है। गोस्वामीजी के द्वारा प्रयुक्त कतिपय शब्दों को इधर-उधर का बताया जाता रहा है, जिनका प्रयोग उनके उक्त सम्बन्धियों ने मथुरा और सोरों में किया है। अब तक गोस्वामीजी की रचना-शैलियों का जो उल्लेख होता रहा है उसमें कूट-शैली का निर्देश नहीं है। यह शैली सोरों में भी विद्यमान रही है जिसका दर्शन तत्रत्य कतिपय कवियों के लेखों तथा पण्डितों की सूक्तियों में होता रहा है। कृतियों के काल और मूलपाठ के निर्णय में कवि की जन्म-भूमि सहायक होती है; अतएव, निरूपण के पश्चात्, इन दोनों दिशाओं में प्रचलित धारणाओं का विपर्यास अप्रत्याशित नहीं।

एकादश अध्याय में मैंने गोस्वामीजी के प्रकीर्ण विचारों का सामञ्जस्य किया है। गोस्वामीजी को अब तक रामानन्दी माना जाता रहा है, किन्तु सतर्क विवेचन पर वे रामानन्दजी के अनुयायी नहीं ठहरते। वे स्मार्त वैष्णव थे। यद्यपि, वास्तव में, वे किसी आचार्य के अनुगामी नहीं थे, तथापि उनका स्थान श्री रामानुजाचार्य से सुदूर किन्तु जगद्गुरु श्री शंकराचार्य एवं महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के निकट-मध्य है। 'द फिलॉस्फ़ी ऑव तुलसीदास' नामक शोध-प्रबन्ध में ब्रह्म, जीव, परमार्थ आदि विषयों पर मैं तुलनात्मक अध्ययन कर चुका हूँ; अतएव स्थान-संकोच से, एवं विषयान्तर-भय से, मैंने प्रस्तुत प्रबन्ध में तुलनात्मक रूप को छोड़ दिया है। वल्लभाचार्यजी गोस्वामीजी के कैशोर में सोरों पधारे थे और वहाँ उनका पीठ आज तक विद्यमान है। नन्ददासजी वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे। यद्यपि गोस्वामीजी उस सम्प्रदाय में दीक्षित न थे, तथापि उसके कुछ सिद्धान्तों ने उन्हें प्रभावित अवश्य किया था। आध्यात्मिक विचारों की चर्चा करते समय, मैं उनके राजनीतिक विचारों को न छोड़ सका, क्योंकि

आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव राजनीति पर पड़ता ही है। उनका कर्त्तव्याकर्त्तव्य-परक अथवा आचार-परक विचार एवं उनका मनोविश्लेषण हिन्दी-काव्य-जगत् को नवीन, अमूल्य और अप्रतिम देन है जो आधुनिकतम सिद्धान्तों से भी सर्वथा अनुमोदित है।

परिशिष्ट में कुछ महत्त्वपूर्ण एवं दुर्लभ सामग्री को मूलरूप में एवं उसके परीक्षण-विवरणों को, विद्वानों के अवलोकनार्थ, उपस्थित किया गया है।

ज्ञाताज्ञात वे सभी महानुभाव साधुवाद के पात्र हैं जो सोरों-सामग्री के संरक्षण, संग्रह अथवा सम्प्रदान से सम्बद्ध हैं। मैंने एतद्विषयक नामोल्लेख यथा-स्थान किया है; किन्तु स्व० पं० गोविन्द वल्लभ भट्ट शास्त्री, श्री पं० भद्रदत्त शर्मा शास्त्री और आचार्य वेदव्रत शर्मा विशेष उल्लेनीय हैं। मैं पं० भद्रदत्त जी का विशेष आभारी हूँ।

दिल्ली
वसन्त पंचमी, सं० २०१८ वि०

रामदत्त भारद्वाज

विषय-सूची

प्रथम अध्याय : अन्वेषण का उपक्रम 1—37

द्वितीय अध्याय : भ्रान्त साहित्य ३८—१००

त्रयोदश अध्याय : मनोविज्ञान ४०६—४२०

चतुर्दश अध्याय : आचार-शास्त्र ४२१—४३९

चित्र

(क) पांडुलिपि

रामचरित मानस, बालकांड, १६४३ वि०
रामचरित मानस, अरण्य काण्ड, १६४३ वि०
गोस्वामी तुलसीदास जी का हस्तलेख, १६४३ वि०
भ्रमरगीत, बालकृष्ण की प्रति, १६७२ वि०,
श्री गोसाईं जी के सेवक चारि अष्टछापी तिनकी वार्त्ता १६९७ वि०,
दोहा रत्नावली, गोपालदास की प्रति १८२४ वि०
दोहा रत्नवली, गंगाधर की प्रति १८२९ वि०
रत्नावली लघु दोहा संग्रह, ईश्वरनाथ की प्रति, १८७५ वि०
रत्नावली चरित (मुरलीधर चतुर्वेद) १८२९ वि०
रत्नावली चरित, रामवल्लभ मिश्र की प्रति, १८६४ वि०
श्री अष्ट सखामृत, १८६५ वि०
सूकरक्षेत्र माहात्म्य, मुरलीधर चतर्वेद की प्रति, १८०९ वि०
सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा, शिवसहाय की प्रति १८७० वि०
सूकरक्षेत्र माहात्म्य (श्री कवि कृष्णदास कृत), संवत् १९२७ वि०
वर्षफल, रुद्रनाथ की प्रति १८७२ वि०,
भक्तमाल पर सेवादास की टीका
सं० १९२८ वि० के मुद्रित सूकरक्षेत्र माहात्म्य का मुख पृष्ठ

(ख) स्थान

श्री वराह मन्दिर और घाट, सूकरक्षेत्र
गुरु नरसिंह का विद्यालय (जीर्णोद्धार से पूर्व)
गुरु नरसिंह का विद्यालय (जीर्णोद्धार के पश्चात्)
श्यामायन
श्यामसर
रामपुर (श्यामपुर) की ग्रामदेवी
रामपुर के निवासी
रामपुर के निवासी
तारी का ताल,
तारी की ग्रामदेवी,
तारी का बट और तारी के कुछ निवासी
तारी के कुछ निवासी
तारी के निकट डूंग
मंदिर सीताराम
तुलसीदासजी का गृह-स्थान
तुलसीदास जी की प्रतिमा, सोरों

संकेत

इस प्रबन्ध में गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थों के संक्षिप्त नाम इस प्रकार हैं—

पा० = पार्वती मंगल, जा० = जानकी मंगल, रा० प्र० = रामाज्ञा प्रश्न, रा० न० = रामलला नहछू, कृष्ण गी० = श्री कृष्ण गीतावली, ब० रा० = बरवै रामायण, क० = कवितावली, ह० बा० = हनुमान बाहुक, गी० = गीतावली, वि० = विनय पत्रिका, वै० सं० = वैराग्य संदीपनी, दो० = दोहावली, कुं० रा० = कुण्डलिया रामायण, तु० स० = तुलसी सतसई।

प्रथम से एकादश तक के अध्यायों में गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'रामचरित मानस' के गुटके का, किन्तु द्वादश से पञ्चदश तक के अध्यायों में डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित 'रामचरित मानस' के संस्करण का उपयोग हुआ है।

अन्वेषण का उपक्रम

(क) युरोपीय विद्वानों का अनुसन्धान

प्राक्कथन—कुछ यूरोपीय विद्वानों ने गोस्वामी तुलसीदास के जीवनवृत्त पर जो प्राथमिक अनुसन्धान किया वह अधिकांश में विश्वसनीय और प्रशंसनीय है। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रकाश डालने वाले एच० एच० विलसन थे, तत्पश्चात् गार्सी द तासी ने इस विषय में कार्य किया, किन्तु उन्होंने विलसन का ही अनुगमन किया। एफ० एस० ग्राउज ने विलसन की कतिपय त्रुटियों का उल्लेख किया। किन्तु सब से महत्त्वपूर्ण कार्य सर जॉर्ज आर्थर ग्रियर्सन का है। रेवरेंड ई० ग्रीव्ज, डॉ० विंसेंट स्मिथ, रेवरेंड एफ० ई० के और किसैन कीने आदि सभी ने उन्हीं का अनुसरण किया है।

(क) विलसन

विलसन की सूचनाएँ—विलसन ने 'ए स्केच ऑव द रिलीजस सेक्ट्स् ऑव द हिन्दुज्' नामक अपना लेख एशियाटिक रिसर्च के लिए १८३१ ई० में लिखा था। यह लेख पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और इस पुस्तक का नवीन संस्करण १८६१ ई० में हुआ था। जहाँ तक गोस्वामीजी के जीवनवृत्त का सम्बन्ध है, इस नवीन संस्करण में लगभग वे ही सूचनाएँ हैं। हाँ, गोस्वामीजी की निधन-तिथि के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रसिद्ध उक्ति पाद-टिप्पणी के रूप में अवश्य दे दी गयी है :—

संवत सोलह सै असी, गंगा (जी) के तीर।
सावण शुक्ला सत्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

गोस्वामीजी के सम्बन्ध में विलसन के शब्द मनोरम हैं। वे कहते हैं "भक्तमाल में तुलसीदास का जो विवरण है उससे विदित होता है कि तुलसीदासजी अपनी उस पत्नी के उपालम्भ के कारण राम-भक्ति में प्रवृत्त हुए जिसमें वे इतने अनुरक्त थे। परिव्राजक होने के उपरान्त वे काशी पधारे और तत्पश्चात् चित्रकूट। चित्रकूट में उन्हें हनुमान्‌जी के दर्शन हुए, जिनसे उन्हें कविता लिखने के लिए प्रेरणा मिली और अद्भुत कार्यों के करने की शक्ति भी। उनका यश दिल्ली तक पहुँचा जहाँ सम्राट् शाहजहाँ शासन करते थे। सम्राट् ने गोस्वामीजी को बुलाया और कहा कि हमें राम के दर्शन कराओ। तुलसीदासजी ने ऐसा करना अस्वीकार किया तो सम्राट् ने उन्हें कारागार में डाल दिया। सहस्रों कपि कारागार के चारों ओर एकत्र होकर उसका एवं निकटस्थ भवनों का विध्वंस करने लगे। निकटवर्ती लोगों ने अपनी सुरक्षा के लिए सम्राट् से उन्हें स्वतंत्र कर देने के लिए प्रार्थना की। शाहजहाँ ने इस कवि को मुक्त कर दिया और कहा कि आप उस अपमान के बदले जो आपको सहना पड़ा कुछ माँगें। तदनुसार तुलसीदासजी ने सम्राट् से निवेदन किया कि आप पुरानी दिल्ली

को जो कि भगवान् राम का निवास-स्थान है छोड़ दें। इस प्रार्थना के अनुसार सम्राट् ने उस स्थान को त्याग कर नवीन नगर की स्थापना की जो तब से शाहजहाँबाद नाम से ख्यात है। तदुपरान्त तुलसीदासजी वृन्दावन पधारे और नाभाजी से मिले। वे वहाँ बस गये और उन्होंने राधा-कृष्ण की अपेक्षा सीताराम की अर्चना के लिए आग्रह किया।"

हाजीपुर का उल्लेख--विलसन कहते हैं कि इस यशस्वी लेखक की इन गाथाओं के अतिरिक्त, हमें उसका कुछ अन्य ऐसा परिचय उसके ही ग्रन्थों तथा जन-श्रुतियों से उपलब्ध है जो उक्त बातों से कुछ भिन्न है। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी सरवरिया ब्राह्मण एवं चित्रकूट के निकट हाजीपुर के जन्मजात निवासी थे। प्रौढ़ होकर वे वाराणसी में बसे और उसी नगर के राजा के दीवान पद पर सुशोभित हो गये। उनके दीक्षा-गुरु जगन्नाथदास थे जो अग्रदास के शिष्य एवं नाभाजी के गुरु-भाई थे। अपने गुरु के साथ वे वृन्दावन के निकटवर्ती गोवर्द्धन स्थान पर गये, तत्पश्चात् काशी पधार कर उन्होंने हिन्दी में १६३१ वि० में रामचरितमानस का प्रारम्भ किया। उस समय वे इकत्तीस वर्ष के थे। इस अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ के अतिरिक्त तुलसीदासजी ने कुछ और ग्रन्थ लिखे हैं, यथा :—सतसई जो विभिन्न विषयों पर सात सौ दोहों का संग्रह है, रामगुणावली जिसमें राम का गुणानुवाद है, गीतावली और विनय पत्रिका जो भक्ति-प्रधान हैं और जिनमें सीताराम की विविध स्तुतियाँ हैं। तुलसीदासजी काशी में रहते रहे। वहाँ उन्होंने सीताराम का मन्दिर बनवाया और एक मठ की स्थापना की। ये दोनों आज तक विद्यमान हैं। उन्होंने १६८० वि० में जहाँगीर के शासनकाल में महाप्रयाण किया, अतएव तुलसीदास और शाहजहाँ का वार्त्तालाप ऐतिहासिक व्यतिक्रम है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि विल्सन महोदय तुलसीदासजी को हाजीपुर-जात, सरवरिया ब्राह्मण, जगन्नाथ दास का शिष्य बताते हैं और इस बात का उल्लेख करते हैं कि रामायण प्रारम्भ करने के समय वे इकत्तीस वर्ष के थे तथाच काशी-नरेश के दीवान थे। किन्तु विल्सन महोदय के इस लेख से किसी भी परवर्ती समर्थक को तनिक भी सन्तोष न हुआ जैसा कि यथा-स्थान निरूपित होगा।

(ख) ग्राउज़

रामचरितमानस का अंग्रेजी अनुवाद—एफ० एस० ग्राउज़ ने समग्र रामचरित मानस का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। उन्होंने इस अनुवाद का सूत्रपात एक लेख के द्वारा किया जो १८७६ ई० में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित हुआ था। लेख का नाम है 'प्रोलोग टु द रामायण ऑव तुलसीदास : ए स्पैसिमन ट्राँसलेशन'। इस लेख में तथा रामायण के अपने अनुवाद की भूमिका में ग्राउज़ लिखते हैं कि विल्सन के स्कैच में अनेक विवरण छोड़ दिये गये और अन्य ऐसे सम्मिलित कर दिये गये हैं जिनका आधार गोस्वामीजी का काव्य नहीं है।

कुछ गाथाएँ—ग्राउज़ आगे कहते हैं: हिन्दु विचारधारा सदा से ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा का, तथा चमत्कार के प्रति श्रद्धा-विश्वास का, विचित्र उदाहरण है।

यद्यपि भक्तमाल की टीका इस महाकवि की मृत्यु से एक शताब्दी के भीतर की होगी, तथापि वह कवि के जीवन के सम्बन्ध में अल्पविश्वसनीय घटनाओं की सूचना देती किन्तु मिथ्या सूचनाओं का भी स्पष्टतः सम्मिश्रण कर देती है। उनकी पत्नी ने उन्हें सर्वप्रथम भौतिक प्रेम के बदले दिव्य भक्ति तथा रामार्चना के लिए प्रेरित किया था। इस घटना को सत्य समझा जा सकता है, किन्तु 'भक्तमाल' में ऐसी अन्य गाथाएँ भी है जिनका महाकवि से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो बड़ी लोकप्रिय हैं, उनका आधार चाहे जो हो। कुछ गाथाएँ ये है :—किसी प्रेत ने गोस्वामीजी का हनुमानुजी से साक्षात्कार कराया और उनके द्वारा राम-लक्ष्मण के दर्शन हुए। गोस्वामीजी ने किसी हत्यारे से भगवान् का नामोच्चारण कराया और उसे पाप मुक्त कराया, तथा किसी चितागामिनी विधवा के पति को जीवन प्रदान किया। जब सम्राट् ने गोस्वामीजी से चमत्कार-प्रदर्शन के लिए कहा तो उन्होंने अस्वीकार कर दिया; अतः सम्राट् ने उन्हें कारागार में डाल दिया, किन्तु हनुमानुजी के वानर-दल ने उन्हें मुक्त करा दिया और सम्राट् को वह स्थान त्याग देना पड़ा। एक बार भगवान् राम ने, जो गोस्वामीजी के निवास की चौकसी कर रहे थे, चोरों को सेंध देने से रोका। तुलसीदासजी का दर्शस्पर्श नाभाजी से वृन्दावन में हुआ था। गोस्वामी जी भगवान् कृष्ण की अपेक्षा भगवान् राम के अधिक भक्त थे, यद्यपि स्वयं भगवान् कृष्ण ने गोस्वामीजी को यह बता दिया था कि राम और कृष्ण में कोई अन्तर नही।

ग्राउज़ यह भी बताते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में साधारण-सी घटनाएं स्वयं गोस्वामीजी के ग्रन्थों से सकलित हो सकती हैं। उदाहरणार्थः रामायण के उपोद्घात से स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ने रामायण की रचना का आरम्भ अयोध्या में १६३१ वि० में किया, और वे इससे पूर्व कुछ काल तक सोरों में अध्ययन कर चुके थे। जाति से वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, और जैसा कि भक्ति सिंधु में लिखा है उनके पिता का नाम आत्माराम था और वे हस्तिनापुर में उत्पन्न हुए थे। ग्राउज़ के अनुसार 'भक्ति सिन्धु' कोई विशेष प्रामाणिक रचना नहीं; यह एक नवीन कविता है और उसके रचयिता घटना के अभाव में कल्पना का आश्रय ले लेते हैं। अन्य व्यक्ति गोस्वामीजी का जन्मस्थान चित्रकूट के निकट हाजीपुर मानते हैं। उनके जीवन का अधिकांश निश्चय ही काशी में व्यतीत हुआ, यद्यपि उन्होने कुछ वर्ष सोरों, अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग और वृन्दावन में व्यतीत किये और १६८० वि० में अपना नश्वर शरीर त्यागा।

सोरों में लालन-पालन—कदाचित् ग्राउज़ ऐसा समझते हैं कि 'भक्ति सिन्धु' के रचयिता ने इस बात का आविष्कार किया कि तुलसीदासजी के पिता का नाम आत्माराम था और उनका जन्मस्थान हस्तिनापुर था, पर ग्राउज़ स्वयं यह सूचित करते हैं कि तुलसीदासजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और सोरों में उनका लालन-पालन हुआ था। ग्राउज़ महोदय पहली बात के लिए किसी कारण का निर्देश नहीं करते किन्तु दूसरी के लिए उन्होंने रामायण के उपोद्घात की ओर इंगित किया है। गोस्वामीजी ने रामायण का लिखना किस अवस्था में प्रारम्भ किया, इस विषय में वे चुप हैं। गोस्वामीजी की निधन-तिथि पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं। उन्होंने 'सोरों'

शब्द की व्युत्पत्ति की है; उनके मत से 'सूकर ग्राम' (अर्थात् वराह नगर) का विकृत रूप 'सूअर गाउँ' हुआ और इन दोनों विकृत शब्दों के एकीकरण से 'सूअराउँ' बना और इससे 'सोरों'। यह व्युत्पत्ति कहाँ तक संगत है, इस सम्बन्ध में हम फिर विचार करेंगे।

(ग) सर जार्ज आर्थर ग्रियर्सन

प्रमुख गवेषक—गोस्वामी तुलसीदास पर प्रमुख गवेषी सर जार्ज आर्थर ग्रियर्सन हैं। १८८८ ई० में उन्होंने अपने ग्रन्थ 'द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान' में हमारे महाकवि का परिचय इस प्रकार दिया है :—

तुलसीदासजी सरवरिया ब्राह्मण थे, जो षोड़षी शती में उत्पन्न हुए और १६२४ ई० में दीर्घायु पाकर काशी के असी घाट पर दिवंगत हुए जैसा कि इस प्रचलित दोहे से विदित होता है :—

संवत सोरह से असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सत्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

'भक्त सिंधु' और 'वृहद्रामायण माहात्म्य' के अनुसार गोस्वामीजी के पिता आत्माराम थे, माता हुलसी थी और वे कुछ विद्वानों के अनुसार चित्रकूट के निकट हाजीपुर में उत्पन्न हुए थे, यद्यपि जनश्रुति यह है कि वे यमुनाजी के किनारे बाँदा जिले में उत्पन्न हुए थे। उनका बाल्यकाल सूकरखेत अर्थात् सोरों में व्यतीत हुआ और वहीं वे रामभक्ति में रत हुए थे। प्रियादास के अनुसार गोस्वामीजी अपनी पत्नी के उपालम्भों के कारण विरक्त होकर काशी चले गये जहाँ उन्होंने अपने जीवन का बहुत सा समय व्यतीत किया। कभी-कभी वे अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुरुषोत्तम पुरी तथा अन्य तीर्थों में भ्रमण करने चले जाते। उनके जीवन की एक और घटना जिसका निश्चयपूर्वक उल्लेख हो सकता है यह है, कि वे आनन्दराम और कन्हई नामक दो व्यक्तियों के अभियोग में पंच बने थे।

सहयोग—गोस्वामीजी के विषय में उन्होंने महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी और बाबू रामदीन सिंह जैसे विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया और उसी सहयोग के फलस्वरूप उन्होंने गोस्वामीजी के सम्बन्ध में कतिपय लिखित विवरणों एवं अधिकतर अलिखित अनुश्रुतियों का संग्रह किया। उनके प्रशस्त संग्रह ने उनके उत्तरवर्ती भारतीय और विदेशीय विद्वानों को गोस्वामीजी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में प्रभावित और प्रेरित किया। अतएव प्रस्तुत विषय पर ग्रियर्सन महोदय के उस संकलन का कुछ और उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।[1]

सूचनाएँ—ग्रियर्सन लिखते हैं कि महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने जो बहुमूल्य घटनाएँ मुझे बताई मैं उन्हीं से प्रारम्भ करता हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि कवि (तुलसीदास) कान्यकुब्ज थे और दूसरे कहते हैं कि वे सरयूपारीण थे। पहले प्रकार के ब्राह्मण भेंट लेना, भिक्षा माँगना आदि बातों को बुरा समझते हैं, किन्तु

---

१. नोट्स ऑन तुलसीदास (इंडियन एण्टीक्वेरी, जिल्द २२, सन् १८९३ ई०)

तुलसीदासजी कवितावली में स्पष्ट लिखते हैं 'जायो कुल मंगना', अर्थात् मैं ऐसे कुल में उत्पन्न हुआ जो भिक्षा-वृत्ति करता है, अतः तुलसीदासजी अवश्य सरयूपारीण रहे होगे। जनश्रुति है कि वे उस उपजाति के पराशर गोत्री दुबे थे। अत्यन्त विश्वस्त विवरणों के अनुसार वे संवत् १५८९ में उत्पन्न हुए थे, अतः रामायण आरम्भ करने के समय उनकी अवस्था बयालीस वर्ष की होनी चाहिए, यह बात ग्रन्थ से ही पुष्ट होती है। निश्चय ही यह ग्रन्थ किसी प्रौढ़ बुद्धि और ऐतिहासिक पुरुष का लिखा होना चाहिए।

अंग्रेजी शासन से पहले ज्येष्ठा नक्षत्र के अन्त में तथा मूल नक्षत्र के प्रारम्भ में जो बच्चे उत्पन्न होते थे उन्हें अभुक्त-मूलज कहा जाता और जघन्य समझा जाता था क्योंकि वे अपने पिता के जीवन के लिए अनिष्टकारक समझे जाते थे, इस कारण उनके माता-पिता उन्हें प्रायः त्याग दिया करते थे। यदि वात्सल्य के कारण वे इतने अमानुषीय न होते, तो वे आठ वर्ष तक उनका मुख नहीं देखते थे। 'मुहूर्त चिन्तामणि' में, जो तुलसीदासजी के समय में बनी होगी, यह लिखा है कि "जातं शिशुं तत्र परित्यजेद्वामुखम् पितास्याष्ट समा न पश्येत्"। पुराणों में नरान्तक का उल्लेख मिलता है कि रावण का वह पुत्र अभुक्त मूल में उत्पन्न होने के कारण त्याग दिया गया था; वह मरा नहीं, बढ़ता रहा और उसकी बहुत-सी सन्तति-प्रसन्तति हुई किन्तु नारदजी की प्रेरणा से रावण ने उसे बुला लिया, अतएव वह स्वयं राम से युद्ध कर नाश को प्राप्त हुआ।

तुलसीदासजी भी अभुक्त-मूल में उत्पन्न हुए थे। जब उनके माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया तो किसी परिव्राजक ने उन्हें उठा लिया; क्योंकि, भला, कोई भी आदरणीय गृहस्थ ऐसे बालक का क्या करता? स्वयं तुलसीदासजी विनयपत्रिका (२२७, २) में लिखते हैं: 'जननी-जनक तज्यो जनमि, करम बिनु विधि हु सृज्यो अवडेरे।' इसी प्रकार का भाव कवितावली (३०, ७३) में मिलता है। गोस्वामीजी अवश्य बचपन में इस साधु के साथ रहे और भारतवर्ष में घूमे होंगे, और उन्होंने उसी से तथा उसके साथियों से राम-कथा सुनी होगी जैसा कि उन्होंने स्वयं बालकाण्ड में लिखा है 'मैं पुनि निज गुरुसन सुनी'।

कदाचित् इस साधु ने अपनी प्रथा के अनुसार गोस्वामीजी का नाम तुलसीदास रखा। जब कभी किसी व्यक्ति को दीक्षित किया जाता है तो उसे भगवान् विष्णु की मूर्ति पर चढ़ाया हुआ तुलसी-दल खाने के लिए दिया जाता है। यही बात इस अभागे बालक के सम्बन्ध में हुई होगी और इसी कारण 'तुलसी' नामकरण भी।

संस्कृत ज्ञान—लोगों की ऐसी धारणा है कि गोस्वामीजी गंभीर पण्डित थे किन्तु यह भूल है जैसा कि उनके ग्रन्थों से स्पष्ट है। संस्कृत में उनकी अनेक अशुद्धियाँ हैं। उदाहरणतः रामचरितमानस के उत्तरकाण्डीय प्रारम्भिक श्लोकों में 'केकी कण्ठाभनीलं' में 'केकि'; 'चिन्तकस्य मन भृंगसंगिनो' में 'मनोभृंग' और रुद्राष्टक के 'विप्रेण हरतोषये' में 'तुष्टये' होना चाहिए था।

जनश्रुति—ग्रियर्सन ने इस जनश्रुति का उल्लेख किया है कि गोस्वामीजी के पिता का नाम आत्माराम दुबे और उनकी माता का नाम हुलसी था। उनका वास्तविक

नाम 'राम बोला' था जैसा कि उनकी कवितावली से विदित है। उनके दीक्षा-गुरु नरहरि और श्वशुर दीनबन्धु पाठक थे। उनकी पत्नी का नाम रत्नावली और पुत्र का नाम तारक था। निम्नलिखित दोहों में उक्त विवरणों का समावेश है :—

दुबे आतमाराम है पिता नाम जग जान।
माता हुलसी कहत सब तुलसी के सुत कान॥
प्रह्लाद-उद्धरण नाम करि गुरु को सुनिये साधु।
प्रगट नाम नहिं कहत जग कहे होत अपराधु॥
दीनबन्धु पाठक कहत ससुर नाम सब कोइ।
रत्नावलि तिय नाम है सुत तारक गत होइ॥

गुरु के नाम का स्पष्ट उल्लेख बिना अपराध के नहीं होता, किन्तु यह नाम भगवान् विष्णु के उस अवतार का द्योतक है जिन्होंने प्रह्लाद की रक्षा की थी, अर्थात् नरहरि। अन्तिम पंक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि के पुत्र का देहान्त बाल्यकाल में ही हो गया था। ये महाकवि भी अपने गुरु का नाम 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में रूपान्तर से प्रकट करते हैं : 'बंदौ गुरु पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि'। गोस्वामीजी ने अपनी माता के नाम का भी उल्लेख पीछे किया है : रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी, तुलसीदास हित हिय हुलसी सी (रा १, ३०, ६)

जन्म-स्थान और विद्या-स्थान—कई स्थान गोस्वामी जी का जन्म-स्थान होने का गौरव करते है, यथा अन्तर्वेद की तारी, चित्रकूट के समीप हाजीपुर और बाँदा जिले में यमुनाजी के तट पर राजापुर। इन स्थानों में तारी का दावा सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। बचपन में तुलसीदासजी ने 'सूकर क्षेत्र' अर्थात् वर्तमान 'सोरों' में अध्ययन किया जैसा रामचरितमानस के बालकाण्ड से स्पष्ट है। अपने पिता के जीवनकाल में उन्होंने विवाह किया और उनकी मृत्यु के पश्चात् वे गृहस्थ की भाँति सन्तोषपूर्वक रहने लगे। उनके एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था।

गुरु और सम्प्रदाय—तुलसीदासजी रामानुजीय विशिष्टाद्वैत के उस रूप के अनुयायी थे जिसका रामानन्दजी ने प्रचार किया। किन्तु तुलसीदासजी को इस सम्प्रदाय का कट्टर अनुयायी कहना ठीक न होगा क्योंकि अयोध्या में वे वैरागी वैष्णव न थे, स्मार्त्त थे और किसी सीमा तक महादेवजी की पूजा भी करते थे। रामचरितमानस में उन्होंने स्वयं लिखा है कि मेरा सिद्धान्त 'नाना पुराण निगमागम-सम्मत' है और वे जब-तब शंकराचार्यजी के उस निर्विशेष अद्वैत वेदान्त की ओर इंगित करते है जो माया और निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। गोस्वामीजी के एक घनिष्ठ मित्र भी शांकर वेदान्त के अनुयायी थे। मोटे रूप से कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी का सिद्धान्त ऐसा विशिष्टाद्वैत था, जिसमें अद्भुत तत्वों के सम्मिश्रण का अवकाश था। ग्रियर्सन महोदय को बाबा मोहनदास साधु से एक गुरु-परम्परा तालिका प्राप्त हुई। इसका प्रारम्भ श्रीमन्नारायणजी से हुआ जो शिष्य परम्परा में रामानुजाचार्य से बारह पीढ़ी पूर्व थे। ग्रियर्सन के पास इस तालिका के परीक्षण करने का कोई साधन न था। अतएव उन्होंने उसे उसी रूप में उपस्थित कर दिया है जिसमें उन्हें वह प्राप्त हुई थी। हाँ, उन्होंने इस बात का उल्लेख अवश्य किया है कि यह

तालिका अधिकांश में जनश्रुतियों पर आश्रित है। उन्हें पटना से भी एक और नामावली प्राप्त हुई जो किन्हीं बातों में उक्त नामावली से भिन्न है और जिसका प्रामाण्य अज्ञात था। वे नामावलियाँ इस प्रकार हैं :

क्रमांक	मोहनदास की सूची	पटनावाली सूची
१	श्रीमन्नारायण	ये ११ नहीं हैं
२	श्री लक्ष्मी	
३	श्री श्रीधर मुनि	
४	श्री सेनापति मुनि	
५	श्री करिसूनु मुनि	
६	श्री सैन्यनाथ मुनि	
७	श्री नाथ मुनि	
८	श्री पुण्डरीक	
९	श्री राम मिश्र	
१०	श्री परांकुश	
११	श्री यामुनाचार्य	
१२	श्री रामणीय स्वामिन्	श्री रामानुज स्वामी
१३	श्री शठकोपाचार्य	नहीं है।
१४	श्री कूरेशाचार्य	
१५	श्री लोकाचार्य	मोहनदास की सूची के समान
१६	श्री पराशराचार्य	,,
१७	श्री वाकाचार्य	श्री मघत् इन्द्राचार्य
१८	श्री लोकार्य	मोहन दास की सूची के समान
१९	श्री देवाधिपाचार्य	,,
२०	श्री शैलेशाचार्य	,,
२१	श्री पुरुषोत्तमाचार्य	,,
२२	श्री गंगाधरानन्द	,,
२३	श्री रामेश्वरानन्द	श्री राम मिश्र
२४	श्री द्वारानन्द	मोहनदास की सूची के समान
२५	श्री देवानन्द	,,
२६	श्री श्यामानन्द	,,
२७	श्री श्रुतानन्द	,,
२८	श्री नित्यानन्द	,,
२९	श्री पूर्णानन्द	,,
३०	श्री हर्यानन्द	,,
३१	श्री श्रय्यानन्द	नहीं है।
३२	श्री हरिवर्यानन्द	मोहनदास की सूची के समान

क्रमांक	मोहनदास की सूची	पटनावाली सूची
३३	श्री राघवानन्द	मोहनदास की सूची के समान
३४	श्री रामानन्द	"
३५	श्री सुरेश्वरानन्द	"
३६	श्री माधवानन्द	"
३७	श्री गरीबानन्द	श्री गरीबदास जी
३८	श्री लक्ष्मीदासजी	मोहनदास की सूची के समान
३९	श्री गोपालदासजी	"
४०	श्री नरहरिदासजी	"
४१	श्री तुलसीदासजी	"

संदेह—यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि विल्सन महोदय ने अपने 'रिलिजस सैक्ट्स् ऑव हिन्दुज' नामक पुस्तक में रामानुज और रामानन्द के बीच में अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक पीढ़ियों का उल्लेख किया है। पैंतीसवें पृष्ठ की प्रथम टिप्पणी में वे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि रामानुज एकादश शताब्दी के अन्त में उत्पन्न हुए थे और द्वादश शताब्दी के प्रथमार्द्ध में आचार्य रूप से उनकी ख्याति स्थिर हो चुकी थी। २६वें पृष्ठ पर वे लिखते हैं कि लोग कभी-कभी ऐसा भी कहते हैं कि रामानन्दजी रामानुज के निजी शिष्य थे, किन्तु यह बात भ्रमपूर्ण प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त वे एक विशेष विवरण के आधार पर शिष्य-परम्परा का उल्लेख इस प्रकार करते हैं : रामानुज—देवानन्द—हरिनन्द—राघवानन्द—रामानन्द। इस सूची के अनुसार तेरहवीं शताब्दी के अन्त में रामानन्दजी का होना संगत है। 'भक्त माल' में उक्त सूची का चतुर्थ व्यक्ति छूट गया है। विल्सन को स्वयं अपनी सूची की सत्यता पर सन्देह है और उनकी ऐसी धारणा है कि रामानन्द जी चतुर्दश शताब्दी के अन्त में अथवा पंचदश शतक के प्रारम्भ से पूर्व विद्यमान नहीं थे; इस प्रकार, उनके अनुसार, रामानुज और रामानन्द में तीन शताब्दियों का अन्तर होना चाहिए।

विवाह-विरक्ति—ग्रियर्सन महोदय सूचित करते हैं कि गोस्वामीजी के श्वशुर दीनबन्धु पाठक रामभक्त थे। पाठकजी की कन्या भी राम की उपासिका थी और जब कभी साधु-सन्त उसके पिता से मिलने आते तो वह उनका आदर-सत्कार करती थी। बचपन में उसका विवाह तुलसीदासजी से हो गया था। बड़े होने पर वह अपने पति के साथ रहने लगी। उसके पतिदेव उसमें अत्यन्त अनुरक्त थे। पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् एक दिन की बात है कि तुलसीदासजी घर आये, ज्ञात हुआ कि पत्नी बिना बताये अपने पिता के घर चली गयी है। उन्हें बड़ी चिन्ता हुई और वे उसके पीछे-पीछे वहाँ पहुँचे ; किन्तु उसने उनका स्वागत निम्नलिखित दोहों से किया :

लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चर्म मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होत न तौ भवभीति॥

अर्थात्, क्या आपको लज्जा नहीं आती कि आप मेरे पीछे यहाँ तक दौड़े चले आये हैं ? ऐसे प्रेम को धिक्कार है ; किन्तु, हे नाथ, मैं आपसे क्या कहूँ। मेरा शरीर तो अस्थि और चर्म का बना हुआ है। यदि आपका वह प्रेम जो इस शरीर के प्रति है भगवान् राम के प्रति होता, तो आपके लिए सांसारिक भय न होता।

इन शब्दों को सुनते ही गोस्वामीजी में तुरन्त परिवर्तन हो गया और वे अपने घर की ओर चल पड़े। उनकी पत्नी का ऐसा कोई विचार न था कि उनमें इतनी उत्कट प्रतिक्रिया उत्पन्न हो ; अतएव उसने उनसे लौटने, टिकने और भोजन करने के लिए कहा जिससे वह भी साथ चलती। किन्तु झंझा के समक्ष व्यजन क्या कर सकता था ? उसी समय से तुलसीदासजी विरक्त हुए और घर-बार छोड़ मुक्त पुरुष की भाँति रामभक्त हो परिव्राजक बन गये। उन्होंने पहले तो अयोध्या को, तत्पश्चात् काशी को, अपना प्रधान निवास-स्थान बनाया और वहाँ से वे यदा-कदा मथुरा, वृन्दावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग और पुरुषोत्तम-पुरी के दर्शन करने चले जाते थे।

पत्र-व्यवहार और आकस्मिक मिलन—ग्रियर्सन आगे लिखते हैं कि गोस्वामीजी के गृहत्याग के पश्चात् निम्नलिखित पत्र पत्नी ने अपने पति को लिखा था :

कटि की खीनी कनक सी, रहत सखिन संग सोइ।
मोहि फटे की डर नहीं, अनत कटे डर होइ॥

अर्थात्, कमर की पतली, स्वर्णकान्ति वाली, मैं अपनी सहेलियों के साथ रहती और उन्हीं के साथ सोती हूँ। मुझे इस बात का तो डर नहीं कि मेरा हृदय फट जायगा किन्तु मुझे यह डर अवश्य है कि आप कहीं अन्यत्र फँस न जायँ। इसका उत्तर गोस्वामीजी ने इस प्रकार दिया था :

कटे एक रघुनाथ संग, बाँधि जटा सिर केश।
हम तो चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेश॥

अर्थात् मैं तो केवल रघुनाथजी से प्रभावित हूँ ; मैंने सिर पर जटा-जूट धारण कर लिया और अपनी पत्नी के उपदेश से भगवत-प्रेम-रूपी रस का आस्वादन किया है। इस उत्तर को प्राप्त करके, पत्नी ने अपने पति के कार्य की प्रशंसा करते हुए अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित कीं। वर्षों के पश्चात् जब तुलसीदास वृद्ध हो चुके थे वे चित्रकूट से लौट रहे थे। भक्ति में तल्लीन वे अपने श्वशुर के ग्राम में अनजान आ पधारे और उन्होंने भिक्षा चाही। उस समय उन्हें यह ज्ञात न था कि मैं कहाँ हूँ और यह गृह किसका है। उनकी पत्नी भी, जो अब बहुत बूढ़ी हो गयी थी, प्रथा के अनुसार उस आदरणीय अतिथि का आतिथ्य करने के लिए बाहर आयी। उसने पूछा कि आप क्या भोजन पायँगे ? वे बोले कि मैं खिचड़ी बनाना चाहता हूँ। अतएव उसने उनके लिए चौका प्रस्तुत किया और लकड़ी, चावल, दाल, शाक और घी ला उपस्थित किये। स्मार्त वैष्णवों की प्रथा के अनुसार उन्होंने स्वयं अपने हाथ से भोजन पकाना आरम्भ किया। जब उनकी पत्नी ने उन्हें एक-दो बार बोलते सुना तो उसने उन्हें पहचान लिया। उसे इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरे पति राम के इतने बड़े भक्त हो गये हैं ; किन्तु उसने अपने को प्रकट न कर केवल इतना कहा कि हे परमादरणीय स्वामिन्, क्या मैं आपके लिए कुछ काली मिर्चें लाऊँ ? वे बोले कि मेरे झोले में हैं। वह बोली

कि क्या कुछ मसाले ले आऊँ ? उत्तर मिला कि मेरे झोले में हैं। "आपके लिए कुछ कपूर ले आऊँ ?" "मेरे झोले में हैं।" तब उसने उनकी आज्ञा प्राप्त किये बिना उनके चरण धोने का प्रयत्न किया; किन्तु उन्होंने उसे ऐसा नहीं करने दिया। तब वह अपने मन में रात भर सोचती रही कि मैं इनके साथ रहने तथा अपने समय को अपने पतिदेव तथा भगवान् की सेवा में व्यतीत करने का क्या उपाय करूँ ? कभी ऐसा सोचती तो कभी ऐसा स्मरण भी कर लेती थी कि मेरे पति तो मुझे छोड़कर सन्यासी हो गये हैं और मेरे संग से उन्हें बाधा होगी। किन्तु अन्त में उसने यह सोचा कि मेरे पतिदेव मिर्च मसाले और कपूर जैसी रुचिकर वस्तुएँ अपने झोले में रखते हैं तो मैं उनकी पत्नी भी उनके लिए बाधक नहीं हो सकती। तदनुसार प्रत्यूष में उसने तुलसीदासजी से साक्षात्कार किया और उनसे वहीं टिकने और भजन-पूजन करने के लिए आग्रह भी; किन्तु उन्होंने उसकी सभी प्रार्थनाएँ अस्वीकार कर दीं। यहाँ तक कि वे भोजन करने के निमित्त और टिकने के लिए भी अनिच्छुक रहे। तब वह बोली कि 'हे आदरणीय स्वामिन् क्या आप मुझे पहचाने ?' वे बोले : 'नहीं'। वह बोली : 'जानते हैं कि यह कौन नगर है ?' वे बोले : 'नहीं'। तब उसने अपना परिचय दिया और प्रार्थना की कि आप मुझे अपने साथ रखें, किन्तु वे इस बात के लिए किसी प्रकार सहमत न हुए। तब वह बोली :

खरिया खरी कपूर लों, उचित न पिय तिय त्याग।
के खरिया मोहि मेल के, अचल करो अनुराग॥

अर्थात् यदि आपके झोले में खरिया से कपूर पर्यन्त सभी वस्तुएँ विद्यमान हैं तो हे प्रिय, आपको अपनी पत्नी का त्याग उचित नहीं ; या तो आप मुझे भी अपने झोले में रख लें और अपने प्रेम को स्थायी बना लें या सांसारिक चिन्ताओं के प्रतीक इस झोले को त्याग कर भगवान् के प्रति अपनी भक्ति को और दृढ़ कर लें।[१] यह सुनते ही तुलसीदासजी चल पड़े और उन्होंने अपने झोले की सभी वस्तुएं ब्राह्मणों को बाँट दीं और अपनी पत्नी के उपदेश से उनका दिव्य ज्ञान पहले से भी अधिक सुदृढ़ हो गया।

वृन्दावन-गमन—ग्रियर्सन ने एक और ऐसी घटना का वर्णन किया है जिसका उल्लेख उनके पूर्ववर्ती लेखकों ने भी किया था। वह यह है कि तुलसीदासजी दिल्ली से वृन्दावन गये और वहाँ भक्तमाल के प्रणेता एवं कृष्णभक्त नाभादासजी से उनकी भेंट हुई। एक दिन अन्य वैष्णवों के साथ अर्चना के लिए दोनों कवि गोपाल-मन्दिर में पधारे। एक वैष्णव ने व्यंग्यपूर्वक कहा कि इसने अपने इष्टदेव राम को त्याग दिया है और अन्य देव (अर्थात् कृष्ण) की पूजा करने आया है। इस पर तुलसीदास बोल उठे—

का बरनों छवि आज की, भले बिराजे नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे, धनुख बान लो हाथ॥

अर्थात् मैं किस प्रकार कृष्ण भगवान् की आज की शोभा का वर्णन करूँ ; वे वास्तव

१. वैष्णव साधुओं के झोले के लिए 'खरिया' शब्द का प्रयोग किया जाता है क्योंकि वह खरुआ वस्त्र का बना होता है और कन्धों पर धारण किया जाता है। (ग्रियर्सन)

में बड़े भले प्रतीत हो रहे हैं। किन्तु तुलसीदास तो उन्हें अपना मस्तक तब नवायगा जब वे अपने हाथ में धनुष-बाण लेकर आविर्भूत होंगे। गोस्वामीजी ऐसा कह ही रहे थे कि भगवान् कृष्ण की मूर्ति में परिवर्तन हो गया। उनकी वंशी बाण बन गयी थी और छड़ी धनुष। इस चमत्कार से चकित होकर सब ने तुलसीदासजी की प्रशंसा की।

'जर्नल' में वृत्तान्त—१६०३ ई० में ग्रियर्सन ने 'जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सुसाइटी' में गोस्वामीजी का जो विवरण दिया है वह 'इण्डियन एंटिक्वेरी' वाले से किंचित् अंशों में भिन्न होता हुआ इस प्रकार है :

तुलसीदासजी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। उन्हें अभुक्त मूल में उत्पन्न होने के कारण उनके माता-पिता ने तत्कालीन प्रथा के अनुसार त्याग दिया था। किसी घूमते-फिरते साधु ने उन्हें पुनः उठा लिया और शिष्य बनाकर साधारण शिक्षा प्रदान की। हम उनके दीक्षा-गुरु तथा निकट सम्बन्धियों के नाम जानते हैं। उनका विवाह हुआ और एक पुत्र भी। उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रामायण की रचना अयोध्या नगरी में प्रारम्भ की थी जबकि उनकी अवस्था तेंतालीस वर्ष की थी। सहधर्मियों से झगडा हो जाने के कारण वे बनारस चले गये। ९६२३ ई० में काशी नगरी में प्लेग नामक महामारी का प्रकोप हुआ और उसी वर्ष उनका देहान्त भी; किन्तु प्रत्यक्षतः उस रोग से नहीं।

साइक्लोपीडिया—१६२१ ई० में ग्रियर्सन ने 'साइक्लोपीडिया' ऑव एथिक्स एण्ड रिलिजन' में गोस्वामीजी का परिचय इस प्रकार दिया है :

तुलसीदासजी मध्यकालीन उत्तरी भारत के महत्तम कवि हैं। किन्तु दो-तीन मितियों के तथा उनके लेखों में विद्यमान कतिपय आकस्मिक विवरणों के अतिरिक्त निश्चय रूप से उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अधिक विदित नहीं। ऐसा कहा जाता है कि उनके मित्र तथा साथी वेणी माधवदास ने गोसाईंजी का जीवनवृत्त लिखा था, जिसकी कोई प्रति अब विद्यमान विदित नहीं, किन्तु जिसका उल्लेख १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में शिवसिंह सेंगर ने किया है।

गोस्वामीजी का मुख्य निवास पहले अयोध्या था, तत्पश्चात् वाराणसी। उन्होंने उत्तरी भारत में लम्बी-लम्बी यात्राएँ कीं और रामभक्ति का प्रवचन किया। पहले तो उनका बड़ा विरोध हुआ किन्तु उनके पवित्र जीवन और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण सभी बाधाएँ हट गयीं। यहाँ तक कि काशी नगरी में भी, जो शिवार्चन का केन्द्र है, उनका सर्वत्र आदर होता था। कवि-रूप से उनका यश दूर-दूर तक फैल गया। उनके अनेक मित्र और अनुयायी हो गये जिनमें से अत्यन्त प्रसिद्ध हैं : आमेर के राजा मानसिंह, सुप्रसिद्ध अब्दुर्रहीम खानखाना और काशी के टोडरमल नामक धनाढ्य जमीदार। ये वे टोडरमल नहीं, जो अकबर के वित्त-मंत्री थे। कवि के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ हैं जिनमें से कुछ को अत्यन्त विश्वास के साथ स्वीकार किया जा सकता है। कहते हैं कि वे सन् १५३२ ई० में उत्तर प्रदेशीय बाँदापुर जिले के राजापुर में पराशर गोत्रिय सरवरिया ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम आत्माराम और माता का हुलसी था। उनका निजी नाम रामबोला

था। अपनी एक रचना में गोस्वामीजी ने लिखा है कि मेरे माता-पिता ने मुझे मेरे जन्म के पश्चात् त्याग दिया; अतः यह अधिक सम्भाव्य है कि वे उन्हीं अभागे बालकों में थे जो मूल नक्षत्र के प्रारम्भ में, अर्थात् अभुक्त मूल में, उत्पन्न हुए। कहते हैं कि ऐसा बालक अपने पिता का नाश कर देता है और उसका उपाय केवल यही है कि जन्म के समय उसका त्याग कर दिया जाय या कोई ऐसा उपाय कर दिया जाय जिससे माता-पिता अपने उस बालक का आठ वर्ष तक मुख न देख सकें। किसी घूमते हुए साधु ने उन्हें उठा लिया और पवित्र तुलसीदल के नाम पर उनका नाम तुलसीदास रख दिया। ये साधु, अत्यन्त सम्भवतः, उनके दीक्षा-गुरु थे। उनका नाम नरहरिदास था जिन्होंने सम्पूर्ण उत्तरी भारत में भ्रमण किया था। इन गुरुदेव से उन्होंने राम-कथा सुनी किन्तु (संस्कृत के) अज्ञान के कारण वे पहले उस कथा की महत्ता नहीं समझ पाये थे किन्तु बार-बार सुनने पर उन्होंने अपनी मति के अनुसार अपने काव्य को लिखने का निश्चय किया। टोडरमल की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों में सम्पत्ति बंटवारे के निमित्त झगड़ा हुआ, और तुलसीदासजी को पंच बनाया गया। पंचनामा उन्हीं के हाथ का लिखा विद्यमान है, जिस पर संवत् १६६९ अर्थात् सन् १६१२ ई० पड़ा है। भारत में सन् १६१६ में गिल्टी वाली प्लेग का प्रकोप हुआ जो आठ वर्ष तक रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने गोस्वामीजी को आक्रान्त किया क्योंकि उन्होने 'हनुमान् बाहुक' नाम की एक छोटी रचना मे ऐसे ही किसी रोग का उल्लेख किया है। अस्थायी स्वास्थ्य लाभ के पश्चात् रोग का पुनः आक्रमण हुआ और सन् १६२३ ई० में वे काशीधाम में स्वर्गवासी हुए।

एनसाइक्लोपीडिया—सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के १९२९ ई० के संस्करण में एक लेख प्रकाशित कराया था। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे तुलसीवृत्त के सम्बन्ध में भारतीय लेखकों से प्रभावान्वित हो चले थे। तदनुसार गोस्वामी तुलसीदासजी सरवरिया ब्राह्मण थे। जनश्रुति के अनुसार वे सन् १५३२ ई० में उत्पन्न हुए थे; और इस बात की अत्यन्त संभावना प्रतीत होती है कि वे यमुना जी के दक्षिण में बाँदा जिले के राजापुर में जन्मे थे। उनके माता-पिता के नाम हुलसी और आत्माराम, तथा उनकी पत्नी और पुत्र के नाम रत्नावली और तारक थे। गोस्वामीजी ने सूकरक्षेत्र में अध्ययन किया था। सूकरखेत का तादात्म्य प्रायः सोरों से किया जाता है, जो कि उत्तर प्रदेश के एटा जिले में स्थित है किन्तु ग्रियर्सन को इस बात की अधिक सम्भावना होने लगी कि यह सूकरक्षेत्र वह वराह क्षेत्र है जो अयोध्या से तीन मील पश्चिम की ओर घाघरा नदी के तट पर विद्यमान है। वे यह भी सूचित करते हैं कि गोस्वामीजी ने सन् १५७४ ई० में अपने ग्रन्थ (रामायण) को प्रारम्भ किया था और जब उन्होंने उसका तृतीय सोपान अर्थात् अरण्य काण्ड समाप्त किया तो अयोध्या के वैरागी वैष्णवों से अनबन हो गयी और उन्हें वाराणसी जाना पड़ा, वहाँ वे असी घाट पर बस गये; मृत्यु के समय उनकी अवस्था ९१ वर्ष की थी। राजापुर में तुलसीकृत अयोध्या काण्ड की एक प्राचीन पाण्डु-लिपि विद्यमान है।

(घ) स्मिथ, मैक्फ़ी, कीने

ग्रियर्सन की विचार धारा में स्मिथ, मैक्फ़ी और कीने आदि अनेक युरोपीय हैं।

विंसेंट स्मिथ ने अपने ग्रन्थ 'अकबर द ग्रेट मुग़ल' में गोस्वामी तुलसीदास का उल्लेख किया है।[1] वे कहते हैं कि 'यह हिन्दु अपने युग का भारत में महत्तम व्यक्ति था, अकबर से भी महत्तर।' किन्तु, ये महापुरुष ब्राह्मणजात साधारण माता-पिता की संतति थे जिसे दुर्मुहूर्त्त में उत्पन्न होने के कारण त्याग दिया गया था। एक चलते-फिरते साधु ने उन्हें उठा लिया, उनका पालन-पोषण किया और उन्हें शिक्षा-दीक्षा दी। वे कभी चित्रकूट और कभी राजापुर में रहे, किन्तु उनके जीवन का उत्तर भाग अधिकतर काशी में व्यतीत हुआ और वहीं अधिकतर उन्होंने अपने काव्यों की रचना की। उनका साहित्यिक जीवन चालीस वर्ष की अवस्था तक प्रारम्भ नहीं हुआ था, और चालीस वर्ष तक अर्थात् सन् १५७४ से १६१४ ई० तक रहा भी। सन् १६२३ ई० में ९० वर्ष से ऊँची अवस्था में उनका देहान्त हुआ। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्मिथ ने गोस्वामीजी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में ग्रियर्सन का आधार ग्रहण किया। विंसेंट स्मिथ कहते हैं कि यद्यपि गोस्वामीजी की मैत्री आमेर के राजा मानसिंह और मिर्जा अब्दुर्रहीम खानखाना से थी जो कि अकबर के अत्यन्त शक्तिशाली सरदार थे, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी सम्राट् अकबर अथवा अबुल फजल की जानकारी में नहीं थे। अतएव गोस्वामीजी उक्त दोनों सरदारों के सम्पर्क में अकबर की मृत्यु के पश्चात् ही आये होंगे जो १६०५ ई० में हुई थी।

मैक्फ़ी—जे० एम० मैक्फ़ी ने 'द रामायण ऑव तुलसीदास और द बाइबिल ऑव द नॉर्दर्न इण्डिया'[2] की भूमिका में गोस्वामीजी की जीवनी का उल्लेख करते समय ग्राउज़ और ग्रियर्सन का आधार ग्रहण किया है। रघुवंश शर्मा शास्त्री के आधार पर वे लिखते हैं कि जब तुलसीदास के पुत्र उत्पन्न हो चुका था तब गोस्वामीजी के श्वशुर ने कई बार यह इच्छा प्रकट की कि मेरी पुत्री को कुछ काल के लिए मेरे घर भेज दिया जाय, किन्तु गोस्वामीजी निषेध करते रहे। ऐसा हुआ कि एक दिन उसका भाई आकार उसे घर लिवा ले गया, इत्यादि। संन्यास ग्रहण के पश्चात्, गोस्वामीजी की पत्नी ने उन्हें एक पत्र लिखा था 'मोहि फटे का डर नहीं' इत्यादि। इसका उत्तर गोस्वामीजी ने लिख भेजा 'कटे एक रघुनाथ संग' इत्यादि। मैक्फ़ी ने प्रियादास के आधार पर तुलसीदास के सम्बन्ध में उन कतिपय चमत्कारों का उल्लेख किया है, जिनकी चर्चा, ग्राउज़ और ग्रियर्सन आदि कर चुके थे, यथा:— हनुमद्दर्शन, रामदर्शन, रामलक्ष्मण का धनुष-बाण लेकर चौकसी करना, शव को जीवित कर देना, दिल्ली-सम्राट् को दिल्ली छोड़ने तथा नव-दुर्ग बनवाने के लिए बाध्य करना। गोस्वामीजी के निधन के सम्बन्ध से 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' वाले दोहे की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है।

कीने—किसैन कीने ने 'ग्रेट मैन ग्रॉव इण्डिया'[1] नामक पुस्तक में एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक है 'तुलसीदास, हूसेङ् द सौङ् ग्राव राम'। इन्होंने भी ग्रियर्सन का ग्राधार ग्रहण किया प्रतीत होता है। इन्होंने गोस्वामीजी का जीवनकाल सन् १५३२ से १६२३ ई० तक माना है। गोस्वामीजी ग्रभुक्त मूल में जन्मे ग्रौर माता-पिता द्वारा परित्यक्त हुए। किसी परिव्राजक ने उनका पालन-पोषण किया ग्रौर उन्हें शिक्षा-दीक्षा भी दी। गोस्वामीजी जन्म से सरयूपारीण ब्राह्मण थे, रत्नावली से उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुग्रा किन्तु वह बचपन में ही जाता रहा। रत्नावली के कटु उपदेश से गोस्वामीजी परिव्राजक बन गये। उन्होंने ग्रयोध्या को ग्रपना मुख्य निवास-स्थान बनाया ग्रौर तैंतालीस वर्ष की ग्रवस्था में रामायण का प्रारम्भ किया, किन्तु वैरागियों से ग्रनबन हो जाने के कारण वे काशी चले गये ग्रौर वहीं लेखन ग्रौर प्रवचन में संलग्न रहे। वृद्धावस्था में वे प्लेग से ग्राक्रान्त हुए किन्तु उस रोग से मुक्त हो गये। कीने ने गोस्वामि-सम्बन्धिनी ग्रनेक गाथाग्रों को मिथ्या समझकर छोड़ दिया, किन्तु विरक्ति के पश्चात् पति-पत्नी के मिलन का उसी प्रकार वर्णन किया है जैसा ग्रियर्सन ग्रादि कर चुके थे।

विदेशीमत का सिंहावलोकन

जन्म-स्थान—युरोपीय लेखकों ने यह ग्रच्छा किया कि गोस्वामीजी के जीवन से सम्बद्ध जनश्रुतियों तथा ग्रनुमानों को लेखबद्ध कर लिया। यद्यपि परस्पर-विरोधी ग्रनुमान ठीक नहीं है तथापि कुछ जनश्रुतियाँ ग्रवश्य ठीक हैं। विदेशीय लेखक गोस्वामीजी की जन्म-भूमि के विषय में एक-मत नहीं हैं। विल्सन ग्रौर तासी हाजीपुर का सुझाव उपस्थित करते हैं तो ग्रियर्सन तारी का दावा सर्वश्रेष्ठ समझते है। ग्रियर्सन ने ग्रपने पूर्वकालीन लेख में तारी की ग्रोर झुकाव प्रदर्शित किया; किन्तु, सम्भवतः ग्रपने समकालीन कतिपय भारतीय विद्वानों से प्रभावित होकर उनका झुकाव राजापुर की ग्रोर हो चला था। किन्तु रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज़ ने जनश्रुतियों के ग्राधार पर सर्वप्रथम यह सूचना दी कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर में नहीं हुग्रा था, जिसकी पुष्टि पीछे से श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद तथा श्री शिवनन्दनसहाय ने की थी ग्रौर जिसका विवेचन यथा-स्थान किया जायगा।

उपजाति—गोस्वामीजी की उपजाति के विषय में मतभेद है। विल्सन उन्हें सरवरिया ब्राह्मण बताते हैं, तो ग्राउज़ कान्यकुब्ज। ग्रियर्सन उन्हें पराशर गोत्रिय सरवरिया दुबे कहते हैं ग्रौर गोस्वामीजी के इस लेख का ग्राधार लेते हैं 'जायो कुल मंगना'। किन्तु इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि 'मंगना' शब्द का प्रयोग सरवरिया के लिए ही नहीं ग्रपितु ग्रन्य ब्राह्मणों के लिए भी है। नरोत्तमदासजी ने सुदामा के मुख से ब्राह्मण को जहाँ 'सिच्छक·· सिगरे जगको' बताया है, वहाँ यह भी लिखा है कि 'ग्रौरन को धन चाहिये बावरि ब्राह्मन को धन केवल भिच्छा।' मुरादाबाद जिले में सुकुल ब्राह्मण संस्कारों के ग्रवसर पर बिना धार्मिक कृत्य कराये

---

१. पृष्ठ ५३२—५३४।

दान-दक्षिणा से अपनी आजीविका चलाते हैं। इसी प्रकार सोरों तथा अन्य तीर्थों के पण्डे विवाह आदि के अवसरों पर दान के निमित्त दूर-दूर तक जाते हैं। यह वृत्ति भिक्षा-कल्प है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों ने ब्राह्मण के लिए आजीविका का जो आदर्श उपस्थित किया था उसने गोस्वामीजी के समय तक भैक्ष का रूप धारण कर लिया था। याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा नाम की टीका ने देवल स्मृति के आधार पर ब्राह्मणों को दो प्रकार का बताया है—यायावर और शालीन। याज्ञवल्क्य के निम्नलिखित श्लोक में यायावर वृत्ति का चित्रण इस प्रकार है :

कुशूल कुम्भीधान्यो वा त्र्याहिकोऽश्वस्त नोऽपि वा।
जीवेद्वापि शिलोञ्छेन श्रेयानेषां परः परः।। १, ५, १२८

मनुजी ने उपर्युक्त चार वृत्तियों का उल्लेख किया है (४, ७) और शिलोञ्छ वृत्ति को ऋत, अयाचित वृत्ति को अमृत, याचित किंवा भिक्षा वृत्ति को मृत, कृषि को प्रमृत और वाणिज्य को सत्यानृत माना है। उनके शब्द इस प्रकार हैं :

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।। (४, ५-६)

'भृगु संहिता' में 'ब्राह्मण वंश' के लिए "भिक्षुकस्य कुलेऽजनि" ऐसे वाक्य का भी प्रयोग मिलता है।

अतः गोस्वामीजी के 'मंगना' शब्द का अर्थ सरवरिया ब्राह्मण ही लगाया जाय, यह आवश्यक नहीं। मुरादाबाद और एटा जिले में सुकुल आस्पदीय ब्राह्मणों की भैक्ष-कल्प-वृत्ति है। गोस्वामीजी सुकुल आस्पदीय थे जैसा कि उन्होंने विनय-पत्रिका की निम्नलिखित पंक्ति में लिखा है:—

दियो सुकुल जनम शरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।

सोरों-सामग्री के अतिरिक्त कुछ लोगों ने गोस्वामीजी को सनाढ्य ब्राह्मण माना है जिसकी चर्चा यथास्थान की जायगी। ऐसी अवस्था में, 'मंगना' शब्द से केवल सरवरिया समझ लेना भ्रामक होगा।

ग्रियर्सन कहते हैं कि तुलसीदास अभुक्त मूल में उत्पन्न हुए थे; किन्तु यह केवल अनुमान-मात्र है जो 'विनय पत्रिका' की निम्नलिखित पंक्तियों पर आश्रित है :

'जननि जनक तज्यो जनमि' तथा **'मातु पिता जग जाय तज्यो'**

विल्सन महोदय के अनुसार जगन्नाथदास जी तुलसीदासजी के गुरु थे; किन्तु ग्रियर्सन गुरु का नाम नरहरि बताते है। भारतीय लेखकों ने, कुछ ग्रन्थों के आधार पर (जिनकी प्रामाणिकता का विवेचन यथास्थान किया जायगा) अन्य कई गुरुओं के नामों का उल्लेख किया है। ग्रियर्सन का आधार 'रामचरितमानस' के अनुसार निम्नलिखित सोरठा है :

बंदो गुरु पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रवि कर निकर।।

इस विषय में सोरों-सामग्री एवं 'रामचरितमानस' की कतिपय प्राचीन टीकाएँ ग्रियर्सन का समर्थन करती हैं। हाँ, इस विषय में श्री भूदेव शर्मा विद्यालंकार

को आपत्ति है। उन्होंने सम्मेलन पत्रिका की बत्तीसवीं जिल्द के ७-६ अंकों में इस आशय का लेख लिखा कि गोस्वामीजी के कतिपय छन्द संस्कृत श्लोकों के अनुवाद-मात्र हैं, और गोस्वामीजी का उक्त सोरठा तो जाबालि-संहिता के निम्नलिखित श्लोक का अनुवाद है—

वन्दे गुरु पदाब्जं यो नर रूपः स्वयं हरिः।
यद्वाक्य सूर्य्योदयत स्तमो नश्यति साम्प्रतम् ॥

विद्यालंकारजी कहते हैं कि जाबालि संहिताकार ने जब उक्त श्लोक को लिखा तो उनके मन में तुलसीदासजी के गुरु की कल्पना थी, इस बात की सम्भावना प्रतीत नहीं होती। किन्तु क्या ऐसा सम्भव नहीं कि गोस्वामीजी ने जान-बूझ कर जाबालि संहिता में से वह छंद पसन्द किया जिसमें उनके गुरु का भी आभास मिलता था, भले ही सहिताकार को उसकी कल्पना भी न हो। ग्रियर्सन का मत भी पुष्ट प्रतीत होता है क्योंकि उन्हें निम्नलिखित जनश्रुति का समर्थन प्राप्त है—

(प्रहलाद) उद्धरण नाम करि, गुरु को सुनिये साधु।
प्रगट नाम नहिं कहत जग, कहे होत अपराधु ॥

इसके अतिरिक्त गोस्वामीजी ने अन्यत्र भी गुरु के नाम का उल्लेख किया है जिसकी चर्चा यथास्थान की जायगी।

जन्म-निधन—गोस्वामीजी से सम्बन्ध रखने वाली मितियों की भी चर्चा की गयी है। विलसन और ग्राउज़ दोनों ने ही 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ का एवं उनके निधन के संवत् का उल्लेख किया है। संवत् १६३१ तो 'रामचरित मानस' में ही विद्यमान है, और निधन संवत् १६८० निम्नलिखित दोहे पर आश्रित है :

संवत सोलह से असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥

विलसन ने १८३१ ई० में प्रकाशित 'ए स्कैच ऑव द रिलिजस सैक्ट्स ऑव द हिन्दुज' में निधन-तिथि का उल्लेख नहीं किया था। १८६१ ई० में उक्त लेख पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था, उसमें उक्त दोहा है। ग्रियर्सन ने गोस्वामीजी के जन्म-संवत् का भी उल्लेख किया है, वे उसे १५८९ वि० जनश्रुति के आधार पर मानते हैं। तदनुसार 'रामचरितमानस' की रचना का प्रारम्भ-काल गोस्वामीजी की बयालीस अथवा तैंतालीस वर्ष की अवस्था में पड़ता है—विलसन के अनुसार गोस्वामी जी उस समय इकत्तीस वर्ष के थे, अतः उनका जन्म-संवत् लगभग १६०० वि० होना चाहिए।

ग्रियर्सन के विचार से गोस्वामीजी का देहान्त गिल्टी वाली प्लेग से हुआ था। अनेक भारतीय विद्वानों ने इस विचार का प्रतिवाद किया है जो उचित ही प्रतीत होता है। विलसन ने गोस्वामीजी की निधन-तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी संवत् १६८० बतायी।[1]

पति-पत्नी—ग्राउज़ ने नाभादास के भक्तमाल पर प्रियादास की टीका के

---

१. गोस्वामीजी के आविर्भाव और तिरोभाव के सम्बन्ध में पाँचवाँ अध्याय देखिये।

आधार पर जिन गाथाओं का उल्लेख किया है उन्हें मान लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हाँ, तुलसीदासजी की पत्नी ने अपने पति को डाट पिलाकर जो उपदेश दिया वह औचित्य की मात्रा से अवश्य बढ़ गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविक घटना को नमक-मिर्च लगाकर वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है, वही बात सोरों-सामग्री में अत्यन्त मृदुल रूप से उपस्थित की गयी है। विरक्त होने के पश्चात् गोस्वामीजी और उनकी पत्नी के आकस्मिक मिलन की जो चर्चा की गयी है वह अधिक विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती; क्योंकि किसी भी औचित्य के साथ यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि तुलसीदासजी अपनी पत्नी को नहीं पहचान पाये, न अपने घर को और न अपने उस नगर को ही जहाँ वे वर्षों रह चुके थे। यह तो संभव है कि बहुत काल बीतने के पश्चात् वे अपनी पत्नी को न पहचान पाये हों; और यह भी संभव है कि वे अपने घर को भी न पहचान पाये हों क्योंकि कालान्तर में पर्याप्त परिवर्तन हो गया हो; किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि वे अपने नगर को भी न पहचान पाये थे, मानो अलाउद्दीन के दीपक ने उनको अनजाने वहाँ लाकर पधरा दिया था।

अन्य बातें—संन्यास से पूर्व एवं पश्चात्, पति-पत्नी में जो वार्तालाप हुआ उससे यह बात स्पष्ट है कि गोस्वामीजी की पत्नी कविता कर लेती थी। सोरों-सामग्री में रत्नावली के दोहे तुलसी-पत्नी की काव्य-शक्ति की पुष्टि करते हैं। गोस्वामीजी की पत्नी के मुख से निःसृत जो दोहे बताये जाते हैं और जिनका सर्वप्रथम उल्लेख ग्रियर्सन ने आज से ६६ वर्ष पूर्व किया था, उनसे प्रतीत होता है कि उनकी पत्नी उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिले की न होकर किसी ब्रज-भाषा-भाषी नगर या ग्राम की रही होंगी। इस विषय में सविस्तार विचार यथास्थान होगा। ग्रियर्सन महोदय तथाकथित बेणी माधवदास कृत 'मूल गोसाईं चरित' का दर्शन नहीं कर पाये। उन्होंने केवल उस समय तक उसका नाम सुन लिया था जबकि १९२१ ई० में उन्होंने हमारे सन्त के विषय में 'एंसाइक्लोपीडिया ऑव एथिक्स एण्ड रिलिजन' में अपना लेख लिखा था। उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि राजापुर में 'रामचरित मानस' के अयोध्याकाण्ड की प्रति और काशी में 'पंचनामा' दोनों ही गोस्वामीजी के हाथ के लिखे हुए हैं। पंचनामे के सम्बन्ध में कोई सन्देह प्रकट नहीं किया जाता है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस विषय में संदेह उपस्थित किया है कि राजापुर की प्रति गोस्वामीजी के हाथ की है।

प्रशस्त संकलन—ग्रियर्सन महोदय ने वास्तव में गोस्वामीजी के जीवन-वृत्त सम्बन्धी दन्तकथाओं, जनश्रुतियों एवं अन्य सामग्री का जो संकलन किया है वह अत्यन्त प्रशस्त है। उनके पूर्वकालीन वे लेख जो अपेक्षाकृत स्वातंत्र्यपूर्वक लिखे गये थे तथ्य के अत्यन्त निकट हैं। ग्राउज़ को विश्वास न था कि गोस्वामीजी के पिता थे आत्माराम सुकुल, माता थी हुलसी, श्वशुर थे दीनबन्धु, पत्नी थी रत्नावली तथा पुत्र था तारक जिसका देहान्त बाल्यावस्था में ही हो गया था और गोस्वामीजी स्मार्त वैष्णव तथा गुरु नरहरि के शिष्य थे। तथापि ग्रियर्सन को यह मत मान्य था क्योंकि उन्होंने प्रियादास के आधार पर इस बात का भी उल्लेख किया है कि रत्नावली

अपने पिता के घर पति की आज्ञा के बिना चली गयी थी। उक्त सभी बातों का अधिकांश समर्थन सोरों-सामग्री के द्वारा भी होता है।

आश्चर्य—यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि गोस्वामीजी के निवास-स्थान के विषय में ग्राउज़, ग्रीव्ज़ और ग्रियर्सन भी अनुमान-क्षेत्र में रहे। प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने भी केवल यही लिखा कि गोस्वामीजी को राजापुर जाने तथा यदा-कदा वहाँ निवास करने का अवसर प्राप्त हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त किसी सज्जन को राजापुर जाने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। यदि प्राप्त होता तो उनकी जानकारी स्पष्टतर होती अथवा वे अपनी असम्मति प्रकट करते। रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज़ ने सन् १८९८ की नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में एक लेख लिखा और उसमें गोस्वामीजी के जन्म और निवास के सम्बन्ध में इस प्रकार विवेचन किया: "पर जन्म कहाँ हुआ ? लोग बतलाते हैं, राजापुर उनकी जन्म-भूमि है। पर इस बात के विरुद्ध और लोग कहते हैं कि नहीं, उनका जन्म वहाँ नहीं हुआ, पर गुसाईं जी ने वहाँ एक मन्दिर बनवाया या गाँव बसाया। फिर हस्तिनापुर उनकी जन्म भूमि बतलाई गई, और हाजीपुर भी (जो चित्रकूट के पास है); पर इन बातों का कुछ प्रमाण नहीं। फिर औरों ने कहा, वह ताड़ी में जन्मे, पर दूसरे लोग कहते हैं—नहीं, उनके माता-पिता वहाँ रहते थे, पर यह तुलसीदास के उत्पन्न होने के पहले था। इन सब बातों से अनुमान होता है कि अब तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हुआ कि तुलसीदास का जन्म कहाँ हुआ ?"

गज़टियर—राजापुर सम्बन्धी सभी सरकारी गज़टियर इस बात का उल्लेख करते हैं कि रामचरित-मानसकार गोस्वामी तुलसीदास सोरों के निवासी थे, और उन्होंने राजापुर की नींव डाली तथा वहाँ कुछ समय तक निवास किया। सब से प्रथम गज़टियर, जिसका सम्बन्ध प्रस्तुत विषय से है, १८७४ ई० में इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था और सब से पिछला १९०९ में, किन्तु सभी में उक्त एक ही बात कही गयी है। गोस्वामीजी के सम्बन्ध में ग्राउज़ ने सर्वप्रथम १८७६ ई० में, ग्रियर्सन ने १८९३ ई० में, ग्रीव्ज़ ने १८९८ ई० में, एवं विंसेंट स्मिथ ने और भी पीछे अपने विचार प्रकट किये। किन्तु किसी ने भी अपने से पूर्व (अर्थात् १८७४ ई० में) प्रकाशित सरकारी गज़टियरों का उल्लेख नहीं किया, यद्यपि वे कलकत्ता, इलाहाबाद आदि स्थानों से ही प्रकाशित हुए थे और न उन्होंने उनका खण्डन ही किया। ये गज़टियर गोस्वामीजी के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं अतः उनके उद्धरण आवश्यक प्रतीत होते हैं।

(१) प्रथम गज़टियर में लिखा है:

"Tradition has it that in Akbar's reign, a holy man, Tulsidas, a resident of Soron, in Parganah Aliganj of the Etah District, came to the jungle on the banks of the Jumna, where Rajapur now stands, erected a temple, and devoted himself to prayer and meditation. His sanctity soon attracted followers, who settled around him, and as

their numbers increased they began to devote themselves (and with wonderful success) to commerce, as well as to religion. There are some curious local customs peculiar to Rajapur derived from the precepts of Tulsi..."

Statistical Description and Historical Account of the North-Western Province of India, Edited by Edwin T. Atkinson, B. A., B. C. S., Vol. I. Bundelkhand, Allahabad, 1874, Pages 572-573.

अर्थात् १८७४ ई० में इलाहाबाद से प्रकाशित और एडविन टी० एटकिनसन द्वारा संपादित 'स्टेटिस्टिकल डिस्क्रिप्शन एण्ड हिस्टोरिकल अकाउंट ऑव द नार्थवेस्टर्न प्रोविंस ऑव इण्डिया' की बुन्देलखण्ड जिल्द १ के पृष्ठ ५७२-७३ पर इस प्रकार लिखा है :—

"जनश्रुति है कि अकबर के शासनकाल में तुलसीदास नाम के एक पुण्यात्मा जो एटा जिले के परगना अलीगंज में सोरों के निवासी थे, यमुना जी के किनारे उस जंगल में आये जहाँ अब राजापुर स्थित है। वहाँ उन्होंने मन्दिर बनवाया और वे प्रार्थना और ध्यान में तल्लीन हो गये। उनकी साधुता ने तुरन्त अनुयायियों को आकर्षित किया और वे उनके चारों ओर बस गये। ज्यों-ज्यों उनकी संख्या बढ़ती गयी त्यों-त्यों वे आश्चर्यजनक सफलता से वाणिज्य और धर्म की ओर प्रवृत्त होने लगे। तुलसी-उपदेश-जन्य कुछ विचित्र स्थानीय प्रथाएँ हैं जो राजापुर में ही मिलती हैं।")

(२) तत्पश्चात् 'इम्पीरियल गजटियर ऑव इण्डिया' की ग्यारहवीं जिल्द प्रकाशित हुई जिसका सम्पादन डब्लू० डब्लू० हंटर ने किया था। उसका द्वितीय संस्करण १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसके ३८५-३८६ पृष्ठों पर इस प्रकार लिखा है :

"Rajapur was founded in the reign of Akbar by Tulsi Das, a devotee from Soron, who erected a temple and attracted many followers."

अर्थात् अकबर के शासनकाल में तुलसीदास नामक एक भक्त ने सोरों से आकर राजापुर की नींव डाली। उन्होंने एक मन्दिर का निर्माण कराया और बहुत से अनुयायियों को आकृष्ट किया।

(३) तदनन्तर १९०८ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित 'इम्पीरियल गजटियर ऑव इंडिया; यू० पी० २ (प्रोविंशल सिरीज)' के पचासवें पृष्ठ पर लिखा है:—

"Rajapur is the name of the town, and Majhgaon that of the Mauja or village area within which it is situated. According to tradition, the town was founded by Tulsidas, the celebrated author of the Ramayana and his residence is still shown..... "

अर्थात् "राजापुर कस्बे का नाम है और मझगाँव उस मौजा अथवा ग्राम-प्रदेश का

जिसमें वह स्थित है। ऐसी जनश्रुति है कि रामायण के प्रसिद्ध रचयिता तुलसीदास ने इस कस्बे की नींव डाली थी और वहाँ उनका निवास-स्थान अभी तक दिखाया जाता है......।"

(४) चौथा गज़टियर बाँदा ज़िले का है जो 'डिस्ट्रिक्ट गज़टियर्स ऑव द यूनाइटड प्रोविंसज़' की इक्कीसवीं ज़िल्द में सम्मिलित है और जो १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसके पृष्ठ २८५-२८६ पर इस प्रकार लिखा है :—

> "It is said that in the reign of Akbar, a holy man, named Tulsi Das, a resident of Soron in Kasganj Tahsil of the Etah district, came to the jungle on the banks of the Jumna where Rajapur now stands, and devoted himself to prayer and meditation. His sanctity soon attracted followers, who settled round him, and as their number increased they began to devote themselves to commerce as well as religion. This is, of course, Tulsi Das, the author of the Ramayana, and his house is still shown in the town. It was a low kachcha building, but has recently been rebuilt and contains a shrine and an old, somewhat mutilated, manuscript of the Ramayana. There is a small muafi attached to the shrine, but the present muafidars are ignorant and quarrelsome and do nothing to further the spirit of religious purity and lofty ideals preached by the venerable poet. The shrine also contains a stone figure said to be an effigy of the poet, of celestial origin, and to have been found buried in the sands near Rajapur. Local tradition says that Tulsi Das became acquainted with Rajapur through his having married into a Brahman family in Mahewa, tahsil Sirathu, district Allahabad. There are some peculiar customs in vogue at Rajapur, derived from the precepts of Tulsi Das. No houses are allowed to be built of stone or masonry, and even the richest live in mud houses : only temples are made of masonry. No barbers are ever allowed to settle within the town, and no dancing girls, except of the caste of Beriahs, are allowed to live within it. Kumhars are also interdicted from residence, and all gharas and pots are brought in from outside. The rules, however, are now so far relaxed as to be held to apply only to the precincts of Tulsi Das's house."

अर्थात् ऐसा कहा जाता है कि अकबर के राज्यकाल में तुलसीदास नाम के एक पवित्रात्मा, जो एटा ज़िले की तहसील कासगंज में सोरों के निवासी थे, यमुनाजी के किनारे उस जंगल में आए जहाँ अब राजापुर विद्यमान है और वे पूजा-ध्यान में प्रवृत्त हो गये। शीघ्र ही उनके पावित्र्य से आकृष्ट होकर उनके अनुयायी चारों ओर बस गये; और जब उनकी संख्या में वृद्धि हुई तो वे वाणिज्य और धर्म में दत्त-चित्त

हो गये। वस्तुतः ये वे ही तुलसीदास हैं जिन्होंने रामायण की रचना की। कस्बे में उनका घर अब भी दिखाया जाता है। उसकी इमारत कच्ची और नीची थी, किन्तु अभी हाल में उसका पुनर्निर्माण हो गया है और उसमें एक मन्दिर तथा रामायण की एक प्राचीन किन्तु किंचित् खण्डित पाण्डुलिपि विद्यमान है। मन्दिर से लगी हुई एक छोटी सी मुआफ़ी है किन्तु वर्तमान मुआफीदार अपठित और झगड़ालू हैं और आदरणीय कवि ने जिन पवित्र और उच्च आदर्शों का प्रवचन किया था उनकी भावना को आगे बढ़ाने के लिए वे कुछ नहीं करते। मन्दिर में पत्थर की एक प्रतिमा है जिसे देव-निर्मित तथा कवि की बताया जाता है। यह भी कहा जाता है कि यह राजापुर के निकट रेणुका में निगूढ़ मिली थी। स्थानीय जनश्रुति है कि तुलसीदास राजापुर से इसलिए घनिष्ठ हो गये थे कि उन्होंने इलाहाबाद ज़िले की तहसील सिराथू में महेवा के एक ब्राह्मण कुटुम्ब में अपना विवाह कर लिया था। राजापुर में कुछ विचित्र प्रथाओं का प्रचार है जिनका उद्गम तुलसीदासजी के उपदेशों से है। वहाँ चूने-पत्थर के घर बनाने की आज्ञा नहीं है और धनी से धनी भी कच्चे घरों में रहते हैं, केवल मन्दिर ही पक्के बन सकते हैं। नगर के भीतर नापितों को बसने की आज्ञा नहीं है और बेरिया जाति के अतिरिक्त किसी और जाति की नर्तिकाएँ वहाँ निवास नहीं कर सकती हैं। कुम्हारों पर भी निवास का प्रतिबन्ध है, घट और भाण्ड बाहर से मँगाये जाते हैं। किन्तु अब ये नियम शिथिल हो गये हैं और केवल तुलसीदासगृह-प्रतिवेश तक ही लागू हैं।"

गज़टियरों का सार—उपर्युक्त चारों गज़टियरों से यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस के कर्त्ता गोस्वामी तुलसीदास सोरों के निवासी थे और उन्होंने अकबर के शासनकाल में यमुना-तीरस्थ राजापुर की स्थापना की एवं नव वसति की विशुद्धता के लिए कुछ नियमों का विधान किया। उनका निवासस्थान कच्चा था जिसका पुनर्निर्माण हुआ। गज़टियर में मुआफी और मुआफीदारों का भी उल्लेख है। सन् १८७६ ई० की शर्त वाजिबुल अर्ज़ से स्पष्ट है कि मुआफीदार गोस्वामीजी के शिष्य-वंशधर हैं। एक महाशय उक्त गज़टियरों का प्रामाण्य नहीं मानते। उनका तर्क विचित्र है। उनके मत में गज़टियरों का सम्पादन अंग्रेज साहब बहादुरों ने किया जो लोग अपने चपरासियों पर अपने अनुसंधान के विषय में निर्भर रहते थे (अर्थात् वे जैसी सूचनाएँ देते थे साहब लोग उनको उसी रूप में मान लेते थे)। अतएव गज़टियरों का कोई प्रामाण्य नहीं। किन्तु हमारी विनीत सम्मति में गज़टियरों का कुछ न कुछ प्रामाण्य अवश्य है। और कुछ नहीं इतना तो स्पष्ट है कि सन् १८७४ ई० में अर्थात् आज से ८७ वर्ष पूर्व राजापुर का कम से कम एक व्यक्ति यह भी धारणा रखता था कि गोस्वामीजी सोरों के रहने वाले थे। सोरों और राजापुर में लगभग तीन सौ मील का अन्तर है और आज से सतासी वर्ष पूर्व रेलों का विस्तार नहीं था। अतएव राजापुर के किसी चपरासी को क्या पड़ी थी कि वह गोस्वामीजी का सम्बन्ध, राजापुर में बैठकर, सोरों से बिना बात जोड़ देता। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जन्मस्थल से अधिक मोह होता है और यह संभव है कि वह अपने स्थान का गौरव अतिशयोक्ति-पूर्ण करे। चपरासी या कोई और व्यक्ति राजापुर की नींव उस व्यक्ति से क्यों धरता

जो सोरों का निवासी था। और यदि यह तर्क उपस्थित किया जाय कि गज़टियर का तुलसीदास-सम्बन्धी उल्लेख पढ़े-लिखे साहब बहादुर की कल्पना का उत्पादन है, तो भी इस बात के समाधान की अपेक्षा रहती है कि राजापुर के निकट रहने वाले किसी विदेशी को इतनी दूरी पर स्थित सोरों से इतना मोह क्यों था। गज़टियर में यह स्पष्ट उल्लेख है कि राजापुर के नींव डालने एवं तुलसीदास के सोरों-निवासी होने से सम्बन्ध रखने वाली बातों का आधार राजापुर की ही जनश्रुतियाँ हैं।

(च) **निष्कर्ष**—विदेशी विद्वानों ने जो अनुसन्धान किये उनका सार इस प्रकार है : गोस्वामीजी का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध तारी से था। तारी नामक स्थान अन्तर्वेद में था। उनकी शिक्षा-दीक्षा सूकरक्षेत्र में हुई और यह सूकरक्षेत्र सोरों है जो एटा जिले की कासगंज तहसील में स्थित है। उनके गुरु नृसिंह अथवा नरसिंहजी थे। पिता का नाम था आत्माराम, माता का हुलसी, पत्नी का रत्नावली, पुत्र का तारक, और श्वशुर का दीनबन्धु पाठक। गोस्वामीजी जाति से ब्राह्मण और रामचरितमानस के कर्त्ता थे। सोरों से आकर इन्होंने बाँदा जिले में राजापुर नामक कस्बे की नींव डाली, वहाँ कुछ काल तक निवास किया और उसके निवासियों के लिए कुछ नियमों का विधान भी किया जिनमें से कुछ का पालन आज तक किसी न किसी रूप में होता आ रहा है। राजापुर में गोस्वामीजी के शिष्य-वंशधरों को मुआफी मिली हुई है। गोस्वामीजी अयोध्या और चित्रकूट में भी रहे, अब्दुर्रहीम खानखाना और राजा मानसिंह के सम्पर्क में आये, और अन्त में काशीसेवन कर संवत् १६८० वि० में श्रावण शुक्ला सप्तमी को स्वर्ग सिधारे।

(ख) भारतीयों की गवेषणा

प्राक्कथन—अनेक भारतीय विद्वानों ने भी अपने जीवन का बहुत कुछ समय गोस्वामीजी के जीवन-वृत्त और ग्रन्थों के अध्ययन में व्यतीत किया है। जहाँ तक गोस्वामीजी के ग्रन्थों के अध्ययन तथा समालोचन का सम्बन्ध है वहाँ तक उनका कार्य अत्यन्त उपादेय है। किन्तु गोस्वामीजी के जीवन-वृत्त पर उनका अनुसन्धान उतना उत्साहजनक नहीं रहा। इसका कारण है द्रुतालोचना, उदासीनता अथवा नवानुसन्धान के प्रति उपेक्षा। जिन यशस्वी लेखकों ने इस ओर अपना कलम उठाया वे हैं आदरणीय मिश्र बन्धु, डॉ० श्यामसुन्दरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू शिवनन्दन सहाय, श्री रामदास गौड़, लाला सीताराम, श्री व्यौहार राजेन्द्रसिंह, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र, श्री सीताराम शरण, श्री भगवान प्रसाद, डॉ० माता प्रसाद गुप्त, पं० चन्द्रबली पाण्डे, आदि जिनका उल्लेख यथा-स्थान होता रहेगा किन्तु प्रथम तीन की सेवाएँ, प्रारम्भिक एवं अत्यन्त प्रशंसनीय हैं, अतएव उनका विवरण अलगशः आवश्यक प्रतीत होता है।

(अ) मिश्रबन्धु

पं० गणेश बिहारी मिश्र, रावराजा रायबहादुर डॉ० श्यामबिहारी मिश्र तथा रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र नामक त्रिबन्धुओं ने हिन्दी साहित्य की जो सेवा

की है वह किसी से छिपी नहीं है। उन्होंने गोस्वामीजी के सम्बन्ध में जो प्रकाश डाला वह भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। 'हिन्दी नवरत्न' एवं 'मिश्र बन्धु विनोद' दोनों ही त्रिबन्धुओं की संयुक्त लेखनी से १६१० और १६१३ ई० में क्रमशः प्रकाशित हुए थे।

माता-पिता ने तुलसीदास को त्यागा न था—मिश्रबन्धु लिखते हैं: गोस्वामीजी का जन्म राजापुर, तहसील परगना मऊ, जिला बांदा में संवत् १५८६ में हुआ था। राजापुर एक अच्छा कस्बा है जो श्री यमुनाजी के किनारे करवी रेलवे स्टेशन (जी० आई० पी०) से १६ मील पर बसा है। यहाँ तुलसीदासजी की कुटी अब तक वर्तमान है जो गोस्वामीजी के शिष्य गणपतिजी के उत्तराधिकारी ब्रजलाल चौधरी के आधिपत्य में है और जहाँ अंग्रेजों ने महात्माजी के स्मारक-स्वरूप संगमरमर की एक तखती लगा दी है।'' इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। स्वयं इनका नाम रामबोला था परन्तु वैरागी होने पर इनका नाम तुलसीदास हुआ। इनका जन्म अभुक्त मूल में हुआ था। जान पड़ता है कि इनके माता-पिता इनकी बाल्यावस्था में ही स्वर्गवासी हो गए थे, और ये दाने-दाने को 'बिललाते' फिरते थे (देखिये "बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन जानत हो चारि फल चारि ही चनक को"—कवितावली) कुछ लोग समझते हैं कि इनके माता-पिता ने इन्हें छोड़ दिया था पर यह बात ठीक नहीं। अवश्य ही अपनी कविता में इन्होंने ठौर-ठौर अपना माता-पिता द्वारा तजा जाना लिखा है पर, मिश्रबन्धुओं के मतानुसार उससे उनके शीघ्र ही 'स्वर्गवासी'' होने का तात्पर्य है।[1] मिश्रबन्धुओं ने अपनी इस धारणा के लिए कोई कारण नही दिया कि गोस्वामीजी के माता-पिता उनके शैशव में ही स्वर्गवासी हो गये थे, यद्यपि इस धारणा की पुष्टि सोरों-सामग्री से अवश्य होती है।

जनश्रुति के आधार पर मिश्रबन्धु कहते हैं कि गोस्वामीजी का विवाह दीन-बन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ जिससे इन्हें तारक नाम का एक पुत्र भी हुआ पर वह बचपन में ही चल बसा। यह भी सुना जाता है कि गोस्वामीजी अपनी स्त्री पर बड़ा प्रेम रखते थे और उसके नैहर जाने पर एक बार वहीं जा पहुँचे। इस पर स्त्री ने कहा कि यदि आप इतना प्रेम परमेश्वर से करते तो न जाने क्या फल होता। तब तो तुलसीदासजी की आँखें खुल गयीं और वे घर छोड़ चल दिये और वैरागी हो गये। इस कथा का उल्लेख प्रियादासजी ने भक्तमाल की टीका में किया है।

दोहों में पति-पत्नी की बातचीत विश्वसनीय नहीं—कहा जाता है कि साधु होने पर एक बार अपनी स्त्री से इनका दैवात् साक्षात्कार हो गया, पर इस अवसर पर जो दोनों में दोहों के द्वारा बात-चीत होना कहा गया है वह मिश्रबन्धुओं को विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती।[2] दीन बन्धु पाठक, रत्नावली, तारक आदि के विषय में उनका उल्लेख सोरों-सामग्री से समर्थित है, पति-पत्नी के आकस्मिक मिलन की चर्चा हमें भी विश्वस्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि उसका उल्लेख सोरों-सामग्री में तथा अन्यत्र भी—तुलसीचरित, मूलगोसाईं चरित आदि में—कहीं नहीं मिलता।

---

१. हिन्दी नवरत्न, पृ० २-३। २. वही, पृ० ३।

तुलसीदास के गुरु नरहरि—गृह-त्याग के उपरान्त गोस्वामीजी रामानन्दजी के शिष्य नरहरिदास के शिष्य हो गये थे। इस समय वे पच्चीस वर्ष के होंगे, निर्धन होने के कारण उस समय तक उनका विवाह न हुआ होगा, न उन्हें पुत्र लाभ ही। रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने लिखा है कि मैंने सूकर क्षेत्र में अपने गुरु से राम-कथा सुनी थी किन्तु उस समय मैं अबोध था और मैं उनके तात्पर्य को भली भाँति नहीं समझ सकता था; यद्यपि मेरे गुरुजी ने मुझे यह कथा बार-बार सुनायी, तथापि मैं तब उसका माहात्म्य अपनी शक्ति के अनुसार ही समझ सकता था। मिश्रबन्धु कहते हैं कि इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि वे उस समय बारह वर्ष के रहे होंगे और यह भी प्रतीत होता है कि उन्होंने विरक्त होने से पहले ही नरहरि दास से ही दीक्षा लेकर राम-कथा का श्रवण किया हो; क्योंकि यदि हम ऐसा न मानें तो प्रियादास-प्रदत्त उस विवरण में अविश्वास करना होगा जिसका सम्बन्ध गोस्वामीजी के विवाह से है। किन्तु निम्नलिखित तीन कारणों से प्रियादास के लेख पर अविश्वास नहीं किया जा सकता—प्रथमतः उसके विरुद्ध कोई साक्ष्य नहीं। द्वितीयतः प्रियादासजी ने भक्तमाल पर अपनी टीका अपने उन गुरु नाभादासजी की प्रेरणा से लिखी जो कि भक्तमाल के कर्त्ता और गोस्वामीजी के घनिष्ठ मित्र और परिचित थे। तृतीयतः गोस्वामीजी के विवाह की वार्ता प्रचलित है। साक्ष्य के अभाव में प्रियादासजी की रचना को अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता[1]। मिश्रबन्धुओं के उक्त तीनों ही तर्क युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

क्या तुलसीदास कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे?—मिश्रबन्धुओं के मतानुसार तुलसीदासजी के वंश के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद इस प्रकार है—कोई उन्हें कान्यकुब्ज मानते हैं तो कोई सरयूपारीण। अपने 'भक्त कल्पद्रुम' में राजा प्रतापसिंह ने उन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण लिखा है किन्तु 'शिवसिंह सरोज' में वेणी माधवदास के आधार पर सरयूपारीण ब्राह्मण लिखा है। रामायण के प्रसिद्ध टीकाकार और विद्वान् पं० रामगुलाम द्विवेदी ने भी उन्हें सरयूपारीण बताया है और उन्हीं का अनुसरण डॉ० ग्रियर्सन ने किया है, किन्तु मिश्रबन्धुओं के मतानुसार गोस्वामीजी को सरयूपारीण मान लेने में दो आपत्तियाँ हैं: पहली तो यह कि समग्र बाँदा तथा राजापुर के निकटवर्त्ती प्रदेश में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का निवास है सरयूपारीणों का नहीं। अतएव यदि तुलसीदासजी द्विवेदी थे तो स्पष्टतः वे कान्यकुब्ज थे। दूसरी यह कि वे पाठकों में विवाहित थे जो ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, तत्पश्चात् द्विवेदियों का स्थान है। पाठकों की पुत्रियों का विवाह द्विवेदियों में नहीं हो सकता था क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी कन्या का विवाह निम्नतर कुल में नहीं करता। किन्तु कान्यकुब्जों में पाठक द्विवेदियों की अपेक्षा नीचे समझे जाते हैं अतएव पाठक और द्विवेदियों का वैवाहिक सम्बन्ध औचित्यपूर्वक हो सकता था। सुतराम् मिश्रबन्धु, भक्त-कल्पद्रुम के लेखक से सहमत हो, गोस्वामीजी को कान्यकुब्ज मानते हैं[2]। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन तर्कों का निराकरण किया है जैसा कि हम आगे देखेंगे। इस सम्बन्ध में

---

१. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ ४। २. वही, पृ० ६-१०।

हमारा विनम्र निवेदन है कि सनाढ्य ब्राह्मणों में भी द्विवेदी, सुकुल, पाठक आदि शाखाएँ होती हैं। रायबहादुर लाला सीताराम ने गोस्वामीजी को राजापुर के निकट किन्तु सनाढ्य ब्राह्मण लिखा है[1]। वैष्णव वार्त्ताओं में और सोरों-सामग्री में भी गोस्वामीजी को स्पष्टतः सनाढ्य ब्राह्मण माना गया है।

तुलसी चरित में अनास्था—मिश्रबन्धुओं ने जब 'हिन्दी नवरत्न' की रचना की थी तब तथाकथित 'तुलसीचरित' उपलब्ध न था। संवत् १९७१ वि० में सहसा उसका आविर्भाव हुआ किन्तु उसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव मिश्रबन्धुओं पर न पड़ा। 'हिन्दी नवरत्न' के तीन वर्ष पश्चात् अर्थात् १९१३ ई० में उनका दूसरा ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' प्रकाश में आया, और इस महाकाय ग्रन्थ के अनुसार गोस्वामीजी का जीवनचरित इस प्रकार है : तुलसीदासजी बाँदा जिले के सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में संवत् १५८९ वि० में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता का हुलसी। उनके माता-पिता ने उनका नाम रामबोला रखा था। किन्तु मिश्रबन्धु कहते हैं कि कुछ लोग 'तुलसीचरित' के आधार पर गोस्वामीजी की जन्म-तिथि और माता-पिता, भाई आदि के नामों पर सन्देह करने लगे ; उसके अनुसार गोस्वामीजी ने अपनी अवस्था के इकहत्तरवें वर्ष में रामचरितमानस का प्रारम्भ किया और १२० वर्ष की आयु प्राप्त कर महाप्रयाण किया, तथाच न वे निर्धन थे और न नन्ददास के चचेरे भाई। किन्तु मिश्रबन्धुओं के मत से, गोस्वामीजी समृद्ध थे यह बात गोस्वामीजी की उक्तियों के विरोध में है; वे नन्ददास के भाई नहीं थे यह बात चौरासी वैष्णवों की वार्ता के समकालीन साक्ष्य के विरुद्ध है ; और उन्होंने इकहत्तर वर्ष की वृद्धावस्था में रामायण का प्रारम्भ किया यह बात बुद्धिगम्य नहीं है। इसी प्रकार यह बात भी अनुमान-विरुद्ध है कि उन्होंने १२० वर्ष की आयु पायी थी। मिश्रबन्धु 'तुलसी-चरित' को प्रामाणिक नहीं समझते क्योंकि एक-आध सज्जनों के अतिरिक्त और किसी ने भी इस ग्रन्थ का दर्शन नहीं किया है, और जिन्होंने इस ग्रन्थ को देखा है वे बार-बार की प्रार्थना और प्रतिज्ञाओं के उपरान्त भी उसके दर्शन कराने के लिए इच्छुक अथवा प्रस्तुत प्रतीत न हुए[2]। अतएव मिश्र-बन्धुओं का निष्कर्ष तदानींतन विद्वानों के आधार पर इस प्रकार रहा : तुलसीदासजी बचपन में निर्धन थे और उन्होंने प्रयत्न से कुछ ज्ञानोपार्जन किया ; लगभग बीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ और तारक नाम के पुत्र की प्राप्ति भी, जो कुछ ही दिनों के पश्चात् जाता रहा। गोस्वामीजी अपनी पत्नी में बड़े अनुरक्त थे। एक दिन उनकी पत्नी ने उनसे कहा कि यदि इतना प्रेम तुम ईश्वर से करते तो सिद्ध हो जाते। उपदेश-प्राप्ति पर तुलसीदासजी ने घर छोड़ दिया और वे नरहरिदास के शिष्य बन गये। नरहरिदास ने गोस्वामीजी का नाम तुलसीदास रखा और गोस्वामी-जी ने उक्त गुरु की प्रेरणा से 'रामचरितमानस' की रचना की। उन्होंने अनेक तीर्थों

---

१. रामायण अयोध्याकाण्ड (राजापुर संस्करण) जीवन चरित, पृ०('घ')।

२. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० २६८-२६९।

के दर्शन किये और अन्त में काशी के असी घाट पर बस कर संवत् १६८० वि० में देह-त्याग किया।[1]

डॉ० दास और पण्डित शुक्ल का प्रभाव—यद्यपि मिश्रबन्धुओं पर 'तुलसीचरित' का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे गम्भीर विद्वानों ने, तुलसी-सम्बन्धिनी जन श्रुतियों में उनके विश्वास को शिथिल कर दिया था। श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने संवत् १९८५ वि० (अथवा १९२८ ई०) में 'माधुरी' की उनासीवीं सख्या में 'गोस्वामी तुलसीदासजी और उनकी जाति' नामक लेख लिखा, जिसमें वे इस प्रकार लिखते हैं : 'मिश्रबन्धु महोदय पहले जितने प्रबल कान्यकुब्ज मानने के पक्ष में थे, इस समय उतने नहीं हैं; अपितु उनके भावों में कुछ शिथिलता सी हो रही है'[2]। मैं दीक्षितजी के इन शब्दों से सहमत हूँ और समझता हूँ कि मिश्रबन्धुओं के मन में इस विषय में कुछ सन्देह उत्पन्न हो गया था, क्योंकि उन्होंने 'माधुरी' के उस अंक में जो १८ अगस्त, १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था, स्पष्ट लिखा है कि 'आप कान्यकुब्ज अथवा सरयूपारीण ब्राह्मण थे'।[3] सन् १९१० में मिश्रबन्धुओं ने तुलसीदास जी को कान्यकुब्ज घोषित किया था, सन् १९१३ में सरयूपारीण, और सन् १९२३ ई० में लिखा कि वे या तो कान्यकुब्ज थे या सरयूपारीण। ध्यान देने की बात है कि उन्होंने उक्त लेख में तथा 'मिश्रबन्धु विनोद' में रत्नावली और उसके पिता का उल्लेख नहीं किया है। यह लोपन आकस्मिक प्रतीत होता है क्योंकि मेरे पत्र के[4] उत्तर में रायबहादुर डॉ० श्यामविहारी मिश्र ने, मुझे यह सूचित करने की कृपा की कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर में सं० १५८९ में हुआ, उनके माता-पिता आत्माराम और हुलसी थे; रत्नावली से उनका विवाह हुआ; 'उनके श्वसुर का नाम सबको मालूम है हमें इस समय याद नहीं; वे 'सरयूपारीण या कान्यकुब्ज ब्राह्मण—गाना के मिश्र या द्विवेदी' थे, और उनका देहावसान काशी में श्रावण कृष्णा तीज संवत् १६८० में हुआ था। रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र ने 'मूल गोसाईं चरित' के सम्बन्ध में आपत्तियों की एकादशी प्रस्तुत कर उस चरित को अस्वीकार किया है[5] जिसकी चर्चा यथा स्थान की जायगी।

मिश्रबन्धुओं का प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है। उन्होंने गोस्वामीजी के सम्बन्ध में प्राचीन किन्तु प्रचलित जनश्रुतियों के संरक्षण के निमित्त श्लाघ्य प्रयास किया और अपने निर्णय को निष्पक्ष तर्कों से सम्पन्न किया।

(आ) डॉ० श्यामसुन्दर दास

प्रारम्भिक मत—रायबहादुर डॉ० श्यामसुन्दर दास के प्राथमिक ग्रंथों में गोसाइ तुलसीकृत 'रामचरितमानस' नामक ग्रंथ भी है जिसका सम्पादन उन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी सभा की पंच-सदस्य-समिति की प्रेरणा से किया था और जो

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ २९९।
२. पृ० ८६।
३. पृ० ८५।
४. पत्र १८ दिसम्बर १९४० ई०, उत्तर २७ दिसम्बर १९४० ई०।
५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जिल्द ८, संवत् १९८४ वि०।

इंडियन प्रेस के द्वारा सन् १९१५ में प्रकाशित हुआ और जिसकी भूमिका उन्होंने सभा के मंत्रि-रूप से काशी में ५ जून को १९०३ ई० में लिखी थी।

जिस समय उक्त ग्रंथ का सम्पादन हुआ उस समय न तो बाबा रघुबरदास के 'तुलसी चरित' का और न बाबा वेणी माधवदास के 'मूल गोसाईं चरित' का आविर्भाव हुआ था। अतएव डॉ० दास को उन जनश्रुतियों से ही सन्तुष्ट रहना पड़ा जिनका संग्रह ग्रियर्सन महोदय कर चुके थे। डॉ० दास लिखते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम दुबे, माता का हुलसी और उनका प्रथम नाम रामबोला था; किन्तु डॉ० ग्रियर्सन और महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी से डॉ० दास इस बात में असहमत थे कि गोस्वामीजी को उनके माता-पिता ने अशुभ नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण त्याग दिया था। उनकी सम्मति में गोस्वामीजी के माता-पिता का स्वर्गवास बचपन में ही हो गया था और वे साधुओं के साथ घूमते-फिरते थे, क्योंकि यदि माता-पिता ने उन्हें जन्म से ही त्याग दिया होता तो गोस्वामी-जी को कैसे पता चलता कि मैं ब्राह्मण हूँ और वे अपने विषय में 'दियो सुकुल जनम' न लिखते।[1]

डॉ० दास कहते हैं कि यह दृढ़ जनश्रुति है कि गोस्वामीजी के गुरु नरहरि दास थे और स्वयं उन्होंने रामायण में भी 'नर रूप हरि' का उल्लेख किया है। गुरु ने सोरों में बचपन ही में रामायण का उपदेश दिया था। उनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ और उससे तारक नामक एक पुत्र भी जो शैशव में ही समाप्त हो गया था। तुलसीदासजी अपनी पत्नी से अत्यन्त स्नेह करते थे और जब वह अपनी माता के यहाँ चली गयी तब वे उसका वियोग न सह सके और उससे मिलने के लिए चल दिये।[2]

'तुलसीचरित' का प्रभाव—सन् १९१६ ई० में डॉ० दास ने रामचरितमानस की टीका की जिसका द्वितीय संस्करण इण्डियन प्रेस से १९२२ ई० में प्रकाशित हुआ। उस समय तक तुलसीचरित नाम के ग्रन्थ का आविर्भाव हो चुका था जिसका प्रभाव उन पर कुछ कम न पड़ा। इनका पहले से ही विश्वास था कि गोस्वामीजी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इस नये ग्रन्थ ने उनकी धारणा को दृढ़ कर दिया। इस कारण वे 'हिन्दी नवरत्न' के लेखक मिश्रबन्धुओं से जो गोस्वामीजी को कान्यकुब्ज बताते थे असहमत रहे। डॉ० दास ने गोस्वामीजी के माता-पिता के सम्बन्ध में भी अपनी धारणा में परिवर्तन किया, ऐसा प्रतीत होता है। वे निम्नलिखित छन्द का उल्लेख करते हैं:—

सुर तिय नर तिय नाग तिय, सब चाहत अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय॥

इसके उत्तरार्द्ध को अब्दुर्रहीम खानखाना ने लिखा था। लोग कहते हैं कि 'हुलसी' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है, जिन में से एक गोस्वामीजी की माता

---

१. रामचरितमानस भूमिका, पृ० ९। २. वही, पृष्ठ ११-१२।

का धारणा है, किन्तु डॉ० दास के मत में ऐसी धारणा का कोई आधार नहीं और यह केवल अनुमान है। अतएव उन्हें 'तुलसीचरित' के आधार पर गोस्वामीजी के प्रपितामह का नाम परशुराम मिश्र, पितामह का शंकर मिश्र, और पिता का रुद्रनाथ मिश्र बताना अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ।*

गोस्वामीजी के नाम के सम्बन्ध में भी डॉ० दास ने 'तुलसीचरित' का आधार ग्रहण किया, जिसके अनुसार हमारे महाकवि का नाम तुलाराम था और जिसे कुल-गुरु ने 'तुलसीदास' में परिवर्तित कर दिया। पीछे से गोस्वामीजी स्वयं अपने को 'तुलसीदास' बताने लगे। अतएव डॉ० दास का सुझाव है कि विनयपत्रिका के इस वचन का कि 'राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम' यह तात्पर्य होना चाहिये कि भगवान् रामचन्द्र ने गोस्वामीजी का नाम राम बोला रख दिया था।[1]

डॉ० दास कहते हैं कि 'तुलसीचरित' के अनुसार गोस्वामीजी विवाह के पश्चात् अपने माता-पिता से अलग हो गये थे जैसा कि तुलसीदासजी ने स्वयं लिखा है 'मातु पिता जग जाय तज्यो' और 'जननी जनक तज्यो जनमि'। उनके विचार से ये दोनों उक्तियाँ समान हैं क्योकि दोनों ही के अनुसार माता-पिता और पुत्र का वियोग हुआ था। किन्तु यह वियोग कब हुआ था इस सम्बन्ध में दोनों उक्तियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। यदि समग्र 'तुलसीचरित' उपलब्ध होता तो कदाचित् समस्या सुलझ जाती, किन्तु उसकी उपलब्धि के अभाव में तब तक गोस्वामी जी के वचनों को मानना पड़ेगा जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि तुलसीदासजी के उक्त वचन प्रक्षिप्त हैं अथवा उनकी लेखनी से निस्सृत नहीं हुए। किन्तु ऐसा प्रामाण्य नहीं। ऐसी परिस्थिति में डॉ० दासजी को कहना पड़ा कि या तो तुलसीदास जी के माता-पिता ने उन्हें छोड़ दिया था अथवा संभवत: वे अपने माता-पिता के जीवन-काल में ही किसी कारण अपने गुरु के साथ रहने लगे हों, अतएव उक्त दोनों बातें सत्य हो सकती है। डॉ० दास के उक्त विचारों से स्पष्ट है कि उनका झुकाव 'तुलसीचरित' की ओर हो चला था।[2]

तुलसीदासजी के गुरु के विषय में डॉ० दास का मत है कि अनुमान की अपेक्षा 'तुलसीचरित' पर निर्भर रहना अधिक अच्छा है, अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कहना अधिक-उपयुक्त होगा कि गोस्वामीजी के गुरु रामदासजी थे और रामायण के मंगलाचरण में 'नर रूप हरि' से नरहरिदास का तात्पर्य ग्रहण करना अधिक समीचीन नहीं। एक पाद-टिप्पणी में डॉ० दास ने उस वंशावली में अविश्वास किया है जो डॉ० ग्रियर्सन को मिली थी और जिसमें तुलसी-गुरु 'नरहरिदास' का उल्लेख है; किन्तु विचित्रता यह है कि उन्होंने रामचरितमानस के बालकाण्ड के पाँचवें दोहे की टीका में नरहरिजी को गोस्वामीजी का गुरु माना है। उनका तर्क है कि कुछ टीकाकार 'नररूप हरि' से भगवान् नृसिंह का तात्पर्य ग्रहण करते हैं अतएव गोस्वामीजी को श्री

---

* रामचरितमानस की टीका, द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृ० १७।

१. वही पृष्ठ। २ वही, पृष्ठ १८-१९।

[न]सिंहावतार का भक्त समझते हैं। किन्तु मेरा निवेदन है कि गोस्वामीजी के जीवन-[वृ]त्त के गंभीर अध्ययन से यह स्पष्ट है कि नरहरि नामक विद्वान् गोस्वामीजी के गुरु [थे]। 'नररूपहरि' इस अभिव्यक्ति से प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी ने अपने प्रतिभा-[श]ाली गुरु नरहरिजी को रामचरितमानस में प्रणामांजलि अर्पित की है, जिसका अधिक [वि]वेचन यथास्थान किया जायगा।

तुलसीदासजी के विवाह के विषय में डॉ० दास के विचार इस प्रकार हैं: [प]रम्परा से यह विदित है कि तुलसीदासजी ने दीनबन्धु की पुत्री रत्नावली से विवाह किया और उससे उन्हें तारक नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जो शैशव में ही जाता रहा; किन्तु 'तुलसीचरित' के अनुसार गोस्वामीजी ने तीन विवाह किये और तीसरा विवाह कंचनपुर ग्राम के निवासी लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती से हुआ जिसके कारण गोस्वामीजी विरक्त हुए। तुलसीदास और उनकी पत्नी के विरागोत्तर एवं आकस्मिक मिलन का उल्लेख डॉ० दास करते हैं, तथाच तत्कालीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर गोस्वामीजी की जन्मतिथि का विवेचन भी, जिसके सम्बन्ध में यथा स्थान विचार करेंगे।

'मूल गोसाईं चरित' की ओर झुकाव—उपरिलिखित उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि डॉ० दास का झुकाव कभी-कभी 'तुलसीचरित' की ओर था और किन्हीं-किन्हीं विषयों में तो वे उसको तुलसी-सम्बन्धिनी जनश्रुतियों से अधिक महत्त्व प्रदान करते थे; किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया और हिन्दी साहित्य के प्रांगण में बाबा वेणी माधवदास कृत 'मूल गोसाईं चरित' का आविर्भाव हुआ वैसे-वैसे 'तुलसी चरित' का चमत्कार लुप्त होता गया। अतएव डॉ० दास इस आविष्कृति को महत्त्व प्रदान करने लगे। उनके विचार से महात्मा रघुवर दास का 'तुलसी चरित' गोस्वामीजी के जीवन पर प्रकाश डालता तो है, किन्तु गोस्वामीजी के समसामयिक शिष्य बाबा बेणीमाधव [क]ा 'गोसाईं चरित' अधिक प्रामाणिक है। वास्तव में डॉ० दास का विश्वास 'तुलसी चरित' से हट गया था।

विवरणाभाव की पूर्ति जन श्रुति से—यद्यपि उन्होंने अपने उस महाकाय एवं उत्कृष्ट ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में स्पष्टतः कहना उचित नहीं समझा जो इंडियन प्रेस से सर्वप्रथम १९८७ वि० में प्रकाशित हुआ था, तथापि उसमें उन्होंने 'मूल गोसाईं चरित' को ही महत्त्व दिया है और जब कभी आवश्यकता पड़ी तो विवरण के अभाव की पूर्ति जन श्रुतियों से की। उनका निष्कर्ष रहा कि आत्मारामजी तुलसीदास के पिता थे, यद्यपि मूल 'गोसाईं चरित' में पितृ-नामोल्लेख नहीं है। डॉ० दास ने तुलसीदासजी को नरहरि और शेष सनातन दोनों का ही शिष्य माना है और इस बात का भी उल्लेख किया है कि पन्द्रह वर्ष तक विद्या प्राप्त कर लेने के पश्चात् वे अपने युवाकाल में घर लौट गये थे। किन्तु इस सूचना का आधार 'मूल गोसाईं चरित' और जन श्रुतियों का सम्मिश्रण है।

खटकने वाली बात—एक बात जो अधिक खटकती है यह है: डॉ० दास ने लिखा है कि 'गोसाईं चरित' और 'तुलसी चरित' दोनों के ही अनुसार गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ वि० और मृत्यु संवत् १६८० वि० है; किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य

है कि 'तुलसी चरित' में तो गोस्वामीजी के जन्म-निधन की तिथियाँ विद्यमान नहीं है।

परिवर्तन—ऐसा प्रतीत होता है जब डॉ० दास ने १९०३ ई० में रामचरितमानस का सम्पादन किया अथवा १९१६ ई० में उसकी टीका की तो उनकी मनोवृत्ति ग्राहक रूप में थी और जब उन्होंने १९३० में 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक ग्रन्थ लिखा तो वह वृत्ति प्राश्निक और आलोचक रूप को ग्रहण करने लगी। किन्तु जब उन्होंने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रंथ लिखा जो हिन्दुस्तानी अकादमी से १९३१ में प्रकाशित हुआ तो यह वृत्ति आलोचनात्मक हो गयी। इसमें उन्होंने 'तुलसी चरित' को अस्वीकार और 'मूल गोसाई चरित' को स्वीकार किया है। उन्होंने प्रथम पुस्तक के विषय में सन्देह उत्पन्न करने के निमित्त बाबू शिवनन्दन सहाय का आधार ग्रहण किया और स्वयं भी लिखा : "खेद है कि इस बृहत् ग्रन्थ के एक लाख तैंतीस हजार नौ सौ बासठ उदार छन्दों में से हमें केवल अवध खण्ड की बयालीस चौपाइयाँ और ग्यारह दोहों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिन्हें स्वयं इन्द्रदेव नारायणजी ने उक्त लेख में दिया है...शेष 'उदार' छन्दों को जगत् के सामने रखने की उदारता उन्होने नहीं दिखाई है। उक्त ग्रंथ को भी स्वयं इन्द्रदेव नारायण के अतिरिक्त और किसी लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति ने नहीं देखा है। सम्भवतः वह इसकी जाँच कराना पसन्द नहीं करते। उक्त विषय के पत्रालाप से भी उन्हें आना-कानी है। इसलिए यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यह ग्रंथ कहाँ तक प्रामाणिक है" (पृष्ठ १९)। आगे चलकर डॉ० दास अपने सन्देह की पुनरावृत्ति इस प्रकार करते हैं, 'यह वंश-परम्परा तुलसी चरित में दी गई है पर इसका समर्थन और कहीं से नहीं होता। यह ग्रन्थ भी आलोचकों की दृष्टि से बचा कर रखा हुआ है। इसलिए खेद है कि हम इस परम्परा को मानकर नहीं चल सकते।' (पृ० २६-२७)। डॉ० दास आगे विचार करते हैं कि 'तुलसी चरित' में यह उल्लेख नहीं कि तुलसीदासजी जन्म के समय असाधारण लक्षणों से सम्पन्न थे अतएव उनके परित्याग का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता; प्रत्युत् 'चरित' से तो यह प्रत्यक्ष है कि तुलसीदासजी अपने माता-पिता के साथ बहुत समय तक रहे थे। किन्तु यह बात स्वयं गोस्वामीजी की उक्ति के विरुद्ध है, अतएव अमान्य है।" (पृष्ठ ३५)

डॉ० दास अपनी धारणा से विचलित हुए प्रतीत होते हैं। रामचरितमानस की टीका में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि तुलसीरामजी और रामदासजी गोस्वामीजी के अध्यापक अथवा गुरु थे; तथाच गोस्वामीजी का पहला नाम तुलाराम था और यदि रामबोला नाम का कोई नाम था भी उसे भगवान् रामचन्द्र ने दिया था (पृ० ३५-३७)। किन्तु कुछ ही पृष्ठ के अनन्तर वे लिखते हैं कि अनुमानतः रामबोला तुलसीदासजी का पहला नाम था जैसा कि तुलसीदासजी स्वयं अनेक बार इंगित कर चुके हैं। श्री नरहर्यानन्द के विषय में जो कि तुसलीदास के गुरुओं में से एक थे (दूसरे श्री शेष सनातन), डॉ० दास तुलसी-कृत बाल काण्ड के मंगलाचरण का उद्धरण और बेणीमाधव दास कृत 'मूल गोसाईं चरित' एवं नाभादास कृत 'भक्त माल' का साक्ष्य उपस्थित करते हैं और डॉ० ग्रियर्सन-द्वारा उपलब्ध उस वंशावली को भी

जिसे वे 'रामचरित मानस' के सटीक संस्करण की भूमिका के पृष्ठ १९-२० पर अस्वीकार कर चुके थे।

'तुलसी चरित' की तीव्रालोचना—'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार तुलसीदास का विवाह तारीपत के ब्राह्मण की कन्या से हुआ था और उसी के उपदेश से वे विरक्त हो गये थे। किन्तु डॉ० दास कहते हैं कि 'तुलसी चरित' तो उनके विवाह और विरक्ति के विषय में दूसरी ही बात कहता है। यदि हम 'तुलसी चरित' की बात मानें तो यह बात झूठ सिद्ध होगी कि तुलसीदास के माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया था, जैसा कि गोस्वामीजी की ही उक्तियों से स्पष्ट है। अतएव 'तुलसी चरित' माननीय नहीं। इसके अतिरिक्त रघुवरदास जी ने तुलसीदास की विरक्ति के समय उनका जो वर्णन किया है वह ऐसे व्यक्ति का नहीं प्रतीत होता जिसके हृदय में वैराग्य का उदय हो गया हो। उनका हृदय तो विरागशून्य प्रतीत होता है अर्थात् ऐसे व्यक्ति का जिसे बलात् गृह से निष्कासित कर दिया हो। उस समय रघुनाथ पंडित ने उन्हें व्यथित-भ्रान्त एवं व्यस्त देखा और समझा था; और तुलसीदासजी ने भी अपनी पत्नी के बारे में इस प्रकार कहा था : 'हे भगवन् मेरी पत्नी का अपराध है जिसके कारण माता, भाई तथा सम्बन्धियों से वियोग हुआ है।' इस प्रकार की उक्ति ऐसे व्यक्ति के मुख से निष्कासित नहीं हो सकती जो विरक्ति से प्रपूर्ण हो।

'मूल गोसाईं चरित' के पक्ष में प्रथम तर्क—डॉ० दास ने 'तुलसी चरित' को अस्वीकृत, किन्तु 'मूल गोसाईं चरित' को स्वीकृत किया है। यह विचित्र सी बात प्रतीत होती है कि 'मूल गोसाईं चरित' को केवल इसलिए मान लिया जाय कि वह बाबा बेणीमाधवदास का लिखा हुआ है जिनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे बहुत समय तक गोस्वामीजी के सम्पर्क में रहे थे। तर्क इस प्रकार है : 'मूल गोसाईं चरित' इसलिए प्रामाणिक है कि उसके लेखक अपने चरितनायक के साथ चौंसठ अथवा सत्तर वर्ष तक रहे थे। किन्तु मेरी विनीत सम्मति में इस प्रकार का तर्क पर्याय दोष का उदाहरण है; क्योंकि यह कैसे सिद्ध हो कि उसके तथा-कथित रचयिता बेणीमाधव दास नाम के कोई व्यक्ति थे और वे सत्तर वर्ष तक गोस्वामीजी के साथ रहे भी थे?

द्वितीय तर्क—एक दूसरा तर्क भी है। 'मूल गोसाईं चरित' में जिन तिथियों का उल्लेख किया गया है वे सभी गणना से ठीक बैठती हैं। वे मितियाँ भी पंडित गोरेलाल तिवारी की गणना से ठीक उतरती हैं जिन पर नागरी प्रचारिणी पत्रिका में (जिल्द ७, पृ० ३९५-९८ और ४०१-४०२) सन्देह किया गया था। किन्तु यह दावा कहाँ तक ठीक है इस पर अन्यत्र विचार किया जायगा। डॉ० दास स्वयं स्वीकार करते हैं कि इस पुस्तक में कुछ घटनाएँ अप्राकृत और असम्भव हैं, किन्तु उनके समर्थन में वे कहते हैं कि महापुरुषों के विषयों में चमत्कारों का उदय स्वाभाविक है और शिष्य समुदाय उनमें विश्वास करने लगता है। वैज्ञानिक युग में भी शिष्य अपने गुरु के सम्बन्ध में ऐसा करते देखे जाते हैं फिर बेणीमाधवदास जी की तो बात ही क्या जो सत्रहवीं शताब्दी के गुरु-भक्त थे और जो अपने गुरु के जीवन-चरित का नित्य पाठ करना अपना कर्त्तव्य समझते थे।

विरोधी पक्ष से कहा जा सकता है कि तथा-कथित बेणीमाधवदास तो

गोस्वामीजी के निकट सम्पर्क में सत्तर वर्ष रहे, अतएव उनको अपने गुरु के सम्पूर्ण जीवन के सम्बन्ध में, कम से कम उनके उत्तरकालीन जीवन के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान होना चाहिए था। भ्रान्ति तो उन शिष्यों में होती है जो अपने गुरु के निकट नहीं रहते अथवा गुरु के देहावसान के पश्चात् परम्परा अथवा संप्रदाय में दीक्षित होते हैं। ऐसे ही शिष्य असम्भव चमत्कारों में विश्वास कर उन्हें अपनी भक्ति का केन्द्र बनाते हैं। किन्तु बेणीमाधवदासजी से ऐसी आशा नहीं होनी चाहिए कि वे असम्भव घटनाओं का उल्लेख करते क्योंकि ऐसा करना अपने गुरु के प्रति अपराध, समाज के प्रति अन्याय और अपने प्रति प्रवंचन है। वे तो अन्तेवासी थे।

सूकर क्षेत्र के सम्बन्ध में—डॉ० दास ने सूकर क्षेत्र की सत्ता के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये हैं। १९१५ ई० में रामचरितमानस की भूमिका में तथा उस ग्रंथ के उन्नीसवें पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में उन्होंने सूकर क्षेत्र को सोरों माना था। १९२२ ई० में भी रामचरितमानस के सटीक संस्करण की भूमिका के बाइसवें पृष्ठ पर सूकर क्षेत्र को सोरों का जिला माना था, सम्भवतः 'सोरों जिला' से उनका तात्पर्य एटा के सोरों से था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पीछे से उन्होंने अपनी धारणा में परिवर्तन कर लिया था। कदाचित् इस विषय में उन पर 'मूल गोसाईं चरित' का प्रभाव पड़ा जिसमें सूकर क्षेत्र को सरयू और घाघरा के संगम पर बताया गया है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का भी प्रभाव इस विषय में उन पर पड़ा और उन्होंने 'रामचरितमानस' के अपने नवीनतम संस्करण (१९४० ई०) में शुक्लजी के शब्दों को इस अभिप्राय से उद्धृत किया है कि सूकर क्षेत्र सोरों नहीं है।

स्पष्टवादिता—डॉ० दास का झुकाव 'मूल गोसाईं चरित' की ओर इस कारण रहा कि उसकी उल्लिखित कतिपय तिथियाँ मिलती हैं। किन्तु १९४० ई० के रामचरितमानस के सटीक संस्करण के षष्ठ पृष्ठ पर वे इतना अवश्य मानने लगे कि 'यदि यह जाल है तो यह अयोध्या में नहीं रचा गया।' उनके इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि 'मूल गोसाईं चरित' में उनकी आस्था शिथिल हो गई थी, किन्तु यह शिथिलता उनकी स्पष्टवादिता की ओर संकेत करती है जो अनुसन्धाता में होनी चाहिए।

(ग) पं० रामचन्द्र शुक्ल

गोस्वामीजी को कान्यकुब्ज मानने पर आपत्तियाँ—पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने गोस्वामी तुलसीदास को सरयूपारीण ब्राह्मण माना और इस विषय में मिश्रबन्धुओं ने जो आपत्तियाँ उठायीं थीं उनका समाधान किया। पहली आपत्ति यह थी कि सम्पूर्ण बाँदा और राजापुर के आस-पास कान्यकुब्ज ब्राह्मण निवास करते हैं, सरयूपारीण नहीं, अतएव यदि तुलसीदासजी द्विवेदी थे तो वे अवश्य ही कान्यकुब्ज थे। दूसरी आपत्ति यह थी कि गोस्वामीजी का विवाह पाठकों में हुआ था। ब्राह्मणों में पाठक उच्चतम समझे जाते हैं, तत्पश्चात् द्विवेदी। पाठक-कन्या का विवाह द्विवेदी पुत्र से नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी पुत्री को अपने से नीचे कुल में नहीं देना चाहता। कान्यकुब्जों में पाठक द्विवेदी से नीचे होते हैं और पाठक औचित्य-

पूर्वक द्विवेदी-कन्या से विवाह कर सकता है। किन्तु शुक्लजी इन दोनों आपत्तियों को निराधार समझते हैं। उनका कथन है कि चित्रकूट से जबलपुर तक और उससे भी आगे सरयूपारीण ब्राह्मण निवास करते हैं और चित्रकूट तथा राजापुर के निकट तो ग्राम के ग्राम सरयूपारीणों से संकुल हैं। द्वितीय आपत्ति के सम्बन्ध में शुक्लजी का कथन है कि सरयूपारीण ब्राह्मणों का बच्चा-बच्चा यह जानता है कि सरयूपारिणों में पाठक, चौबे, और उपाध्यायों की कोटि निम्न है, और ऊँची श्रेणी वाले सरयूपारीण उक्त कुलों में अपने पुत्रों का विवाह भी नहीं करते, द्विवेदी तो पाठकों से कहीं ऊँचे समझे जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल जी के इन तर्कों ने मिश्रबन्धुओं के हृदय में घर कर लिया, और कुछ नहीं उनके मन में संशय तो उत्पन्न कर ही दिया।

जन्म-तिथि—गोस्वामीजी की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में शुक्लजी के विचार डॉ० श्यामसुन्दरदास के विचारों से मेल खाते हैं। अतएव उनकी सम्मति में ऐसा कोई ग्रंथ नहीं जिसमें गोस्वामी तुलसीदास की जन्म-तिथि का उल्लेख हो। जनश्रुति के आधार पर पण्डित रामगुलाम द्विवेदी ने गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५८९ वि० माना जिसे डॉ० ग्रियर्सन ने स्वीकार किया है। किन्तु शिवसिंह सेंगर के अनुसार गोस्वामीजी १५८३ वि० के लगभग उत्पन्न हुए थे। पहले संवत् के अनुसार गोस्वामीजी की आयु इक्यानवें और दूसरे के अनुसार सत्तानवें वर्ष ठहरती है। विद्वानों ने अधिकतर १५८९ वि० को ही तुलसीदासजी का जन्म-संवत् माना है। शुक्लजी यह भी सूचित करते हैं कि शिव बालक पाठक काशी के एक विद्वान् थे जो गोस्वामीजी की शिष्य-परम्परागत चौथी पीढी में थे। पाठकजी ने बाल्मीकि रामायण पर संस्कृत टीका की है, संस्कृत व्याकरण पर कुछ पुस्तकें रची हैं, तथाच 'रामचरित-मानम' पर भी मानसमयंक नाम की टीका लिखी है। इम टीका में पाठकजी ने गोस्वामीजी का जन्म-सवत् इस प्रकार दिया है—

मन[४] ऊपर शर[५] जानिये, शर[५] पर दीन्हें एक[१]।
तुलसी प्रकटे रामवत, राम जन्म की टेक॥
सुने गुरु के बीच शर[५], सन्त बीच मन[४०] जान।
प्रगटे सतहत्तर परे, ताते कहे चिरान॥

अर्थात् गोस्वामी तुलसीदास संवत् १५५४ वि० में उत्पन्न हुए और उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में अपने गुरु से राम कथा सर्वप्रथम सुनी। तत्पश्चात् उन्होंने वह तब सुनी जब वे चालीस वर्ष के थे। जब गोस्वामीजी सतहत्तर वर्ष के हो चुके थे अर्थात् जब उन्होंने अपनी अवस्था के अठहत्तरवें वर्ष में पदार्पण किया तब उन्होंने रामचरितमानस का प्रारम्भ किया। सवत् १६३१ वि० में वे अठहत्तर वर्ष के थे और संवत् १६८० में संसार से चल बसे। इस प्रकार १५५४ वि० में सतहत्तर जोड़ने से १६३१ वि० संवत् की उपलब्धि होती है। यदि १५५४ वें वर्ष को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो मानस-रचना के समय गोस्वामीजी की अवस्था अठहत्तर वर्ष की और पूर्णायु १२७ वर्ष की ठहरती है।

शुक्ल जी का तर्क—शुक्ल जी तर्क करते हैं कि एक सौ सत्ताइस वर्ष तक

जीवित रहना असम्भव तो नहीं किन्तु यह सम्भव है कि मानस-मयंक के छन्दों का पाठ अशुद्ध हो। यह पता नहीं कि 'तुलसीचरित' के लेखक महात्मा रघुवरदास ने गोस्वामी जी का जन्म-संवत् दिया भी है कि नहीं। इस परिस्थिति में यह विषय और भी संदिग्ध हो जाता है और इस पर निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। निश्चयपूर्वक तो इतना ही कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी षोडशी शती के उत्तर भाग में उत्पन्न हुए और दीर्घजीवी रहे।

जन्म-स्थान—जन्म-स्थान के विषय में, शुक्ल जी का कथन है, कोई लिखित प्रमाण नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि गोस्वामी जी का जन्म-स्थान तारी था, दूसरे कहते हैं कि हस्तिनापुर था, किन्तु यह पता नहीं कि यह कौनसा हस्तिनापुर है। लोग यह भी कहते हैं कि यह स्थान हाजीपुर के निकट चित्रकूट है। अन्य लोग कहते हैं कि यह स्थान बाँदा जिले का राजापुर है। बहुमत तारी के पक्ष में है। किन्तु पण्डित राम गुलाम उसे राजापुर घोषित करते हैं। शिवसिंह सरोज, मूल गोसाईं-चरित और तुलसी-चरित में भी राजापुर लिखा है। राजापुर में तुलसीदास जी का आश्रम और मन्दिर भी विद्यमान हैं। अतएव शुक्ल जी के अनुसार राजापुर को ही गोस्वामी जी का जन्म-स्थान तब तक मानना चाहिए जब तक कोई विरुद्ध-प्रमाण दृष्टिगोचर न हो।

वंशावली—शुक्ल जी उस वंशावली को मानते है, जो 'तुलसी-चरित' में दी गयी है। इस के अनुसार तुलसीदासजी के प्रपितामह परशुराम मिश्र थे। इनके पुत्र शंकर मिश्र थे और उनके संतमिश्र और रुद्रनाथ मिश्र नामक दो पुत्र हुए। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र और दो कन्याएँ थीं। पुत्रों के नाम थे गणपति, महेश, तुलाराम, और मंगल, पुत्रियों के थे वाणी और विद्या। तुलाराम ही हमारे चरित नायक गोस्वामी तुलसीदास हैं। पर 'मूल गोसाई-चरित' और 'तुलसी-चरित' के अनुसार वंश-विवरणों में नितान्त भिन्नता है।

क्या नन्ददास जी चचेरे भाई थे?—शुक्लजी यह मानने को प्रस्तुत नहीं कि महाकवि नन्ददास जी गोस्वामी तुलसीदास जी के चचेरे भाई थे। वे कहते हैं कि 'दो सौ बावन वैष्णव वार्ता' के आधार पर यह बात प्रचलित हो गयी है कि 'रासपंचाध्यायी' के रचयिता नन्ददास जी गोस्वामी तुलसीदास के चचेरे भाई थे। बैजनाथ दास ने भी इन्हें एक ही गुरु का शिष्य माना है। किन्तु, शुक्ल जी कहते हैं कि नन्ददास जी तो गोकुल के गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे पर गोस्वामी तुलसी दास के गुरु राम भक्त थे अतः वे दोनों बातें असंगत हैं। 'दो सौ बावन वैष्णव वार्ता' में यह भी लिखा है कि तुलसीदासजी सनाढ्य ब्राह्मण थे। अतएव शुक्ल जी आपत्ति करते हैं कि यह कैसे सम्भव है कि दो व्यक्ति एक ही विद्या-गुरु के और विभिन्न दीक्षा-गुरुओं के शिष्य हों।

विवाह—गोस्वामीजी के विवाह के सम्बन्ध में, डा० श्यामसुन्दर दास की भाँति, शुक्ल जी लिखते हैं कि कुछ व्यक्तियों का अनुमान है कि तुलसीदास जी अविवाहित रहे। इस अनुमान का आधार है विनयपत्रिका का वाक्य—'व्याह न बरेखी जात-पाँत न चाहत हों'। किन्तु शुक्ल जी की सम्मति में यह वाक्य इस बात का प्रमाण नहीं कि गोस्वामी जी अविवाहित रहे, क्योंकि इसका अर्थ तो यह भी हो सकता है कि 'मुझे

इस समय विवाह की इच्छा नहीं'। इसके अतिरिक्त प्रियादास सबसे प्रथम वे व्यक्ति हैं जिन्होंने 'भक्तमाल' पर अपनी टीका में गोस्वामीजी के विवाह का उल्लेख किया। तत्पश्चात् गोस्वामी जी के प्रत्येक जीवन-चरित में इसका उल्लेख मिलता है। प्रियादास तो तुलसीदास जी के कुछ समय पश्चात हुए थे अतएव हमें यह मान लेना चाहिए, शुक्ल जी लिखते हैं, कि तुलसीदास जी का विवाह हुआ था। वे यह भी कहते हैं कि तुलसीदासजी के तीन विवाह हुए और उनकी तीसरी पत्नी कंचनपुर ग्राम के निवासी लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती थी। इस विषय में शुक्ल जी ने 'तुलसी-चरित' का आधार ग्रहण किया है। 'मूल गोसाई चरित' में गोस्वामी जी की पत्नी के नाम का उल्लेख नहीं है, और जनश्रुति तथा सोरों-सामग्री के अनुसार गोस्वामी जी की पत्नी दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली थी जिसके कारण वे विरक्त हुए थे। डॉ० दास की भाँति, शुक्ल जी पति-पत्नी के आकस्मिक किन्तु विरागोत्तर मिलन-सम्बन्धी कथानकों का उल्लेख करते हैं, जिनका संग्रह ग्रियर्सन महोदय कर चुके थे।

गुरु—गोस्वामीजी के अध्यापक एवं गुरु के सम्बन्ध में, डॉ० दासकी भाँति, शुक्लजी कहते हैं कि तुलसीदासजी ने अपने गुरु के नाम का उल्लेख कहीं नहीं किया है, बस 'रामचरितमास' के मंगलाचरण में यह उल्लेख है :—

बंदउँ गुरु पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रवि कर निकर॥

उक्त सोरठे में 'नर रूप हरि' से कुछ लोग उन नरहरिदास का तात्पर्य ग्रहण करते हैं जो तुलसीदास जी के गुरु एवं स्वामी रामानन्द जी के बारह शिष्यों में से एक थे। ये स्वामी जी १४५० वि० के लगभग विद्यमान थे। अतएव ऐसा संभव है कि उनके शिष्य नरहरिदास षोडशी शती में विद्यमान रहे हों। किन्तु शुक्ल जी का कथन है कि यह केवल 'नर रूप हरि' के आधार पर अनुमान है। 'तुलसीचरित' के अनुसार रामदास जी तुलसीदासजी के गुरु थे, अतएव अनुमान की अपेक्षा इस कथन को अधिक महत्व देना चाहिए। शुक्ल जी के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि उनका झुकाव इस ओर था कि रामदास जी तुलसीदासजी के गुरु थे; किन्तु यहाँ यह निर्देश कर देना उचित होगा कि नरहरि को गोस्वामीजी का गुरु अनुमानमात्र के बल पर नहीं अपितु प्राचीन जनश्रुति के आधार पर, माना जाता है। इस द्विरुक्ति की आवश्यकता नहीं कि 'तुलसी-चरित' का प्रामाण्य सभी को अमान्य है। डॉ० ग्रियर्सन द्वारा अनुसंहित उस वंशावली को, जिसका सम्बन्ध रामानन्द, नरहरिदास और तुलसीदास से था, शुक्लजी इस कारण से नहीं मानते कि शठकोपाचार्य रामानुज से पहले थे किन्तु वंशावली में यह नाम पीछे आया है (पृष्ठ २६ पाद टिप्पणी)। यह आलोचना बड़ी संक्षिप्त है; नामोल्लेख का व्यतिक्रम तो कई कारणों से हो सकता है, यथा: लिपिकार की असवाधानी अपर्याप्त ज्ञान, एक ही नाम के अनेक व्यक्ति।

'रामबोला'—हमारे महाकवि का नाम भी विवादास्पद है। शुक्ल जी कहते कहते हैं कि तुलसीदास जी ने स्वयं विनय पत्रिका में लिखा है—

'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम'। ७६

इससे प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी का एक नाम रामबोला भी था किन्तु 'तुलसी-

चरित' में उनका नाम तुलाराम है जिसको उनके कुलगुरु ने 'तुलसीराम' में परिवर्तित कर दिया, यद्यपि विरक्ति के पश्चात् उनकी प्रसिद्धि 'तुलसीदास' नाम से ही हुई। अतएव शुक्लजी के अनुसार विनय पत्रिका की उक्ति का तात्पर्य तो केवल इतना है कि भगवान् राम ने उनको बुलाया और स्वीकार कर लिया। स्पष्टतः शुक्लजी का झुकाव 'तुलाराम' नाम की ओर रहा। इस विषय में 'तुलसी-चरित' के खण्डन की विशेष आवश्यकता नहीं; किन्तु यह निर्देश कर देना उचित प्रतीत होता है कि तुलसीदास जी बचपन में 'राम-राम' कहा करते थे जिससे उनका नाम 'रामबोला' पड़ गया।

तुलसीदास जी अपने माता-पिता से अलग हुए—कवितावली और विनय पत्रिका में कतिपय ऐसे वाक्य हैं जिनसे यह सन्देह उत्पन्न होता है गोस्वामीजी के माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया था अथवा वे पीछे से उनसे अलग हो गये थे। अतएव शुक्लजी ने गोस्वामीजी के इन वाक्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि—

मातु पिता जग जाइ तज्यो। जनक जननि तज्यो जनमि।

पं० सुधाकर द्विवेदी के आधार पर डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा था कि अभुक्त मूल में उत्पन्न होने के कारण उनके माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया किन्तु यह तर्क भी किया था कि मूल-शान्ति के लिए शास्त्रों में उपाय भी बताये गये हैं और बच्चे इस प्रकार त्याग नहीं दिये जाते। अतएव, शुक्ल जी के अनुसार, 'तज्यो' का अर्थ यहाँ पर यह ग्रहण करना चाहिए कि माता-पिता ने यह देखकर कि तुलसीदास किसी काम-धन्धे में नहीं लगते हैं उन्हें अपने घर से अलग कर दिया अथवा वे उनके शैशव-काल में ही दिवंगत हो गये हों। शुक्ल जी का झुकाव पहली बात के लिए अधिक है और वे विनय पत्रिका से निम्नलिखित उद्धरण उपस्थित करते हैं:

स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो

'तुलसी-चरित' में भी लिखा है कि तुलसीदास जी अपने माता-पिता से गृहकलह के कारण अलग हुए थे। उनका मत है कि 'जनक जननि तज्यो जनमि' इस वाक्य में 'जनमि' का अर्थ 'जन्म के समय' न करना चाहिए; करना चाहिए 'वे लोग जिन्होंने जन्म दिया है'। किन्तु 'जनमि' की इस प्रकार संगति लगाने में शुक्ल जी परम्परागत अर्थ से दूर हो जाते हैं। इस विषय में उनकी कल्पना वैसी ही क्लिष्ट है जैसी कि 'रामबोला' का अर्थ करने में। इस प्रकार की क्लिष्ट कल्पना का प्रेरक 'तुलसी चरित' है जिससे वे प्रभावित थे।

सूकर खेत सरयू-घाघरा के संगम पर—शुक्ल जी ने सूकर-क्षेत्र की स्थिति को सरयू-घाघरा के संगम पर बताया है। सूकर-क्षेत्र सोरों है यह कहना शुक्ल जी को नहीं सुहाता। वे इस विषय में अपनी झुँझलाहट को इस प्रकार प्रकट करते हैं: "सारे उपद्रव की जड़ है 'सूकर खेत' जो भ्रम से सोरों समझ लिया गया है। 'सूकर क्षेत्र' गोंडा जिले में सरयू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है। यहाँ आस-पास के कई जिलों के लोग स्नान करने जाते हैं और मेला लगता है।" शुक्ल जी लिखते हैं कि सोरों की ओर सर्वप्रथम इंगित लाला सीताराम ने किया और उसके बहुत दिनों पीछे उसी इशारे पर दौड़ लगी। यहाँ हमारा निवेदन है कि लोग बहुत काल से सोरों को सूकर क्षेत्र मानते रहे हैं। रामचरित मानस की अतिप्राचीन टीकाओं में सूकर क्षेत्र का तादात्म्य

सोरों से किया गया है। अनेक पुराणों में सूकर क्षेत्र की स्थिति गंगा के किनारे बतायी गयी है। ग्राउज़ आदि अनेक पश्चिमी विद्वान् भी सोरों को ही सूकर क्षेत्र मानते रहे हैं। पर लाला सीताराम तो उन व्यक्तियों में हैं जिन्होंने सूकर क्षेत्र को सोरों से हटा कर सरयू-घाघरा के संगम पर बताया है। शुक्ल जी ने, संवत् १९८० वि० में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा-द्वारा प्रकाशित 'तुलसी ग्रन्थावली' के तृतीय भाग के प्रथम संस्करण की भूमिका के ५४वें पृष्ठ पर, पण्डित महादेव प्रसाद त्रिपाठी के मत का उल्लेख किया है जिन्होंने अपने 'भक्ति-विलास' में सूकर क्षेत्र का तादात्म्य सोरों से किया है। कदाचित् शुक्ल जी को तब यह विदित न था कि उक्त संगम पर भी कोई सूकर खेत कहा जाता है नहीं तो वे उक्त त्रिपाठी जी को अवश्य आड़े हाथ लेते।

परिवर्तन—ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल जी जिसे पहले हीरक-खनि समझते थे वह पीछे स्वर्णखनि, तत्पश्चात् कोकिल-खनि, सिद्ध हुई। सर्वप्रथम वे 'तुलसी-चरित' से प्रभावित हुए, किन्तु 'मूल गोसाईं-चरित' के आविर्भाव से 'तुलसी-चरित' का चमत्कार लुप्त हो गया। अतएव अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में उन्होंने उक्त 'तुलसी चरित' की उस महिमा का त्याग किया जो 'तुलसी ग्रन्थावली' की भूमिका में विद्यमान है। यद्यपि इस संस्करण में स्पष्टतः 'मूल गोसाईं चरित' की प्रशंसा नहीं की गयी है, तथापि उसके बड़े भाई 'तुलसी चरित' की अपेक्षा 'मूल गोसाईं चरित' को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। यह बात उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी ने अपने पिछले ग्रन्थ में यह नहीं लिखा कि गोस्वामी तुलसीदास रामदास के शिष्य थे अथवा तुलसीराम उनके कुलगुरु थे। किन्तु वे 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर नरहरिदास और शेष सनातन को तुलसी दासजी का गुरुबताने लगे। जिस 'मूल गोसाईं चरित' की ओर शुक्ल जी अपने इतिहास के प्रथम संस्करण में झुके प्रतीत होते थे, उसी को उन्होंने नवीनतम संस्करण में भर्त्सना प्रदान की और जाली घोषित किया।

शुक्ल जी का दृष्टिकोण—अतः शुक्ल जी ने यह अच्छा ही किया कि उन्होंने अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रन्थ से गोस्वामी जी का जीवन-चरित निकाल दिया। इसके प्रथम संस्करण में, जो १९८० वि० में लक्ष्मीनाराण प्रस से प्रकाशित हुआ था, उन्होंने गोस्वामी जी के जीवन-चरित के निमित्त एक सौ सतानवें पृष्ठ उपस्थित किये थे, किन्तु जब उसका नवीन संस्करण इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) से प्रकाशित हुआ'—तो उन्होंने जीवन-खण्ड को निकाल दिया। १९९७ वि० में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पुनः प्रकाशित हुआ और इस संस्करण से यह स्पष्ट नहीं होता कि गोस्वामी जी के जीवन-चरित के सम्बन्ध में शुक्ल जी की निजी धारणाएँ क्या थीं। उन्होंने 'मूलगोसाईं चरित' की स्पष्ट निन्दा की है और वे 'तुलसीचरित' के प्रामाण्य के विषय में भी संदिहान प्रतीत होते हैं। यद्यपि शुक्ल जी अपनी आलोचना में बड़े दृढ़ और प्रबल प्रतीत होते हैं तथापि ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि उन्होंने सत्य को अपनाने में संकोच न किया। यदि वे आज जीवित होते और सोरों की समस्त सामग्री का स्वयं अवलोकन कर उसे सत्य पाते तो उसकी भी भूरि-भूरि प्रशंसा करते।

भ्रान्त-साहित्य

प्राक्कथन

गोस्वामी तुलसीदास के जीवन के सम्बन्ध में ६ भ्रान्त पुस्तकें हैं। वे हैं: 'तुलसी चरित', 'मूल गोसाईं चरित', '—घटरामायन', 'गोसाईं चरित', 'गौतम चन्द्रिका' और 'तुलसी प्रकास'। इनमें से प्रथम तीन तो तुलसीदास जी को राजापुर-जात बताती हैं। चतुर्थ और पंचम तुलसी-जन्म स्थान के सम्बन्ध में चुप हैं, किन्तु द्वितीय से पंचम तक सभी पुस्तकें सूकरखेत की स्थिति सरयू-घाघरा के संगम पर बताती हैं। छटी पुस्तक सोरों-सिद्धान्त के अनुकूल होते हुए भी अप्रामाणिक है। अतएव उक्त सभी पुस्तकों का अलग-अलग विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

(क) तुलसी-चरित : परीक्षण

सूत्र-पात और परिचय—श्री इन्द्रदेव नारायण ने प्रयाग से निकलने वाली मर्यादा नाम की मासिक-पत्रिका की ज्येष्ठ संवत् १०६६ की संख्या में एक लेख प्रकाशित कराया, जिसमें मिश्रबन्धु-कृत 'हिन्दी नव-रत्न' की विरोधात्मक समालोचना की गयी थी। इसी लेख के मध्य में 'तुलसी-चरित' नामक एक ग्रन्थ की सूचना इस प्रकार दी गई थी "गोस्वामी जी का जीवन-चरित उनके शिष्य महानुभाव महात्मा रघुवरदास जी ने लिखा है। इस ग्रन्थ का नाम तुलसी-चरित है। यह बड़ा ही बृहत् ग्रन्थ है। इसके मुख्य चार खण्ड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा, इनमें भी अनेक उपखण्ड हैं। इस ग्रन्थ की छंद संख्या इस प्रकार लिखी हुई है—

एक लाख तेंतीस हजारा नौ सै बासठ छंद उदारा।

यह ग्रन्थ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामी जी के जीवन-चरित-विषयक नित्यप्रति के मुख्य-मुख्य वृत्तांत लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यन्त मधुर, सरल और मनोरंजक है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुवरदासजी-विरचित इस आदरणीय ग्रन्थ की कविता श्री रामचरित मानस के टक्कर की है और यह तुलसी-चरित बड़े महत्व का ग्रन्थ है। इससे प्राचीन समय की सभी बातों का विशेष परिज्ञान होता है।"

शिवनन्दन सहाय जी का व्यंग्य—१६२३ में प्रकाशित माधुरी के तुलसी अङ्क के 'गोस्वामी-तुलसीदासजी' नामक लेख में शिवनन्दन सहाय जी 'तुलसी-चरित' की प्राप्ति पर इस प्रकार विचार करते हैं—

"हमें ज्ञात हुआ है कि केसरिया (चंपारन) निवासी बाबू इन्द्रदेव नारायण को गोसाईंजी के किसी चेले की एक लाख दोहे-चौपाइयों में लिखी हुई गोसाईं जी की जीवनी प्राप्त हुई है। सुनते हैं, गोसाईंजी ने पहले उसका प्रचार न होने का शाप दिया था, किन्तु लोगों के अनुनय-विनय से शाप-मोचन का समय संवत् १६६७

निर्धारित कर दिया। तब तक उसकी रक्षा का भार उसी प्रेत को सौंपा गया जिसने गोसाईं जी को श्री हनुमानजी से मिलने का उपाय बताकर श्री रामचन्द्रजी के दर्शन की राह दिखाई थी। वह पुस्तक भूटान के किसी ब्राह्मण के घर में पड़ी रही। एक मुंशीजी उसके बालकों के शिक्षक थे। बालकों से उस पुस्तक का पता पाकर उन्होंने उसकी पूरी नक़ल कर डाली। इस गुरुतर अपराध से क्रोधित हो वह ब्राह्मण उनके वध के निमित्त उद्यत हुआ तो मुंशी जी वहाँ से चंपत हो गये। वही पुस्तक किसी प्रकार अलवर पहुँची और फिर पूर्वोक्त बाबू साहब के हाथ लगी। क्या हम स्वजातीय इन मुंशीजी की चतुराई और बहादुरी की प्रशंसा नहीं करेंगे? उन्होंने सारी पुस्तक की नक़ल कर ली। तब तक ब्राह्मण देवता के कानों तक खबर न पहुँची और जब भागे तो अपने बोरिए बस्ते के साथ दीर्घकाय ग्रन्थ को लेते हुए। इसके साथ ही क्या अपने दूसरे भाई को यह अभूतपूर्व और अलभ्य पुस्तक हस्तगत करने पर बधाई न देनी चाहिए? पर प्रेत ने उसकी कैसे रक्षा की और वह उस ब्राह्मण के घर कैसे पहुँची, यह कुछ हमारे संवाद-दाता ने हमें नहीं बताया। जो हो, जिस प्रेत की बदौलत सब कुछ हुआ, उसके साथ गोसाईं जी ने यथोचित प्रत्युपकार नहीं किया। बनखंडी तथा केशवदास के समान उसके उद्धार का उद्योग तो भला करते, उल्टे उसके माथे तीन सौ वर्ष तक अपनी जीवनी की रक्षा का भार डाल दिया।"

मिश्र बन्धुओं और शुक्ल जी का असन्तोष—'मिश्र-बन्धु विनोद' में मिश्र-बन्धु लिखते हैं: "हम 'तुलसी चरित' को प्रमाण नहीं मानते हैं, क्योंकि इस ग्रन्थ को अभी तक सिवा एक-आध सज्जनों के और किसी ने नहीं देखा है और उन महाशय ने हम से कई बार वादा करने पर भी उस ग्रन्थ के दिखाने में कोई तत्परता नहीं की।" पंडित रामचन्द्र शुक्ल भी इस बात का उल्लेख 'तुलसी ग्रन्थावली' की प्रस्तावना में करते हैं कि 'इस पुस्तक को और किसी ने नहीं देखा है।'

डॉ० दास और बड़थ्वाल की आपत्तियाँ—डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल गोस्वामी तुलसीदास नामक ग्रन्थ में 'तुलसी चरित' के विषय में इस प्रकार विचार प्रकट करते हैं—"खेद है कि इस बृहत् ग्रन्थ के एक लाख तेंतीस हजार नौ सौ बासठ उदार छंदों में से हमें केवल अवध-खंड की ४२ चौपाइयों और ११ दोहों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिन्हें स्वयं इन्द्रदेव नारायण जी ने उक्त लेख में दिया है। ·····शेष उदार छंदों को जगत् के सामने रखने की उदारता उन्होंने नहीं दिखाई है। उक्त ग्रन्थ को भी स्वयं इन्द्रदेव नारायण जी के अतिरिक्त और किसी लब्धप्रतिष्ठ लेखक ने नहीं देखा है। संभवतः वे उसकी जाँच कराना पसंद नहीं करते। उस विषय के पत्रालाप से भी उन्हें आनाकानी है। इसलिए यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यह ग्रन्थ कहाँ तक प्रामाणिक है।" आगे चलकर 'गोस्वामी तुलसीदास' के लेखक कहते हैं; "यह वंशपरम्परा तुलसी-चरित में दी हुई है, पर इसका समर्थन और कहीं से नहीं होता। यह ग्रन्थ भी आलोचकों की दृष्टि से बचाकर रखा हुआ हैं इसलिए खेद है कि हम इस परम्परा को मानकर नहीं चल सकते······ तुलसी-चरित वाले कथानक को यदि सत्य मानते हैं तो पिता के द्वारा त्याग दिए जाने की कथा झूठी ठहरती है······ अतएव तुलसी-चरित की विवाह-सम्बन्धी बातें

माननीय नहीं हैं। इसके अतिरिक्त रघुवरदास ने तुलसीदास के घर से वैरागी होने के लिए निकलने पर जो दशा बताई है, वह उस व्यक्ति की सी नहीं है, जिसके हृदय में वैराग्य का उदय हुआ हो। उनका हृदय वैराग्य की अनुभूति से रहित जान पड़ता है। वे घर से ज़बरदस्ती निकले हुए से लगते हैं। इस समय रघुनाथ पंडित ने उन्हें 'विसोक आतुर गति धारी' देखा था। इस पंडित से बुद्धिमती के विषय में तुलसीदास ने कहा था—

'अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई। मात भ्रात परिवार छोड़ाई।'

यह ऐसे व्यक्ति का-सा वर्णन नहीं है जिसके हृदय में वैराग्य की अनुभूति हो। तुलसीदासजी का जो रूप उनके ग्रन्थों से प्रस्फुटित होता है, यह उसके प्रतिकूल पड़ता है।"

गाना मिश्र का बेतुका गाना—'सनाढ्यजीवन' के तुलसी-स्मृति अंक में कान्य-कुब्ज-कुलभूषण पं० रामस्वरूप मिश्र ने 'श्री तुलसीदास के काल्पनिक जीवन-चरित पर एक दृष्टि-पात' किया है। आप लिखते हैं—

"तुलसी चरित में रघुनाथ पंडित और गोस्वामी तुलसीदासजी के प्रश्नोत्तर विचारणीय हैं। प्राय: अपरिचित व्यक्ति के परिचय के लिए उसका नाम, धाम, जाति, वृत्ति तथा वर्तमान दशा का पूछना ही पर्याप्त होता है, इन बातों के ज्ञात हो जाने पर बिशेष बातें किसी विशेष प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही पूछी जाती हैं, किन्तु रघुनाथ पंडित का साधारण परिचय भी न होते हुए सम्पूर्ण कुटुम्ब का वृत्तान्त, पिता की पूर्व पीढ़ियोंके साथ ससुराल आदि का परिचय प्राप्त करना अस्वाभाविक है, और रघुनाथ पंडित का कथन तो सर्वथा उपहासास्पद ही प्रतीत होता है। 'लखों चिह्न मिश्रन सम तोरा, विसुचि मंजु मम गोत्र किशोरा'। तुम्हारे चिह्न मिश्रों के समान देखता हूँ, अत: तुमको मैं अपने पवित्र गोत्र का पुत्र अनुमान करता हूँ।' यहाँ पर रघुनाथ ने गोस्वामीजी के मिश्र जान पड़ने वाले चिह्न नहीं दिए, शायद उस समय मिश्रों के कोई विशेष चिह्न होते हों जो अन्य आस्पदीय ब्राह्मणों में न पाए जाते हों, किन्तु गोस्वामीजी ने अपनी कविता में अपने किन्हीं विशेष चिह्नों का संकेत नहीं किया है, न अपने को मिश्र ही लिखा है। उन्होंने तो स्पष्ट रूप से अपना जन्म सुकुलों में लिखा है—

'दियो सुकुल जनम शरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को'···

विद्वान् गोस्वामी जी ने रघुनाथ पंडित के प्रश्नों के विस्तृत उत्तर में अपने कुल-गुरु तुलसीराम द्वारा नामकरण, रामदास गुरु से केवल तीन वर्ष में समस्त शास्त्र पुराणादि पढ़ना अपनी कुण्डली के ग्रहों के फल विवाह-दहेज में हजारों रुपये लेना, बौद्ध, जैन, बाम मार्ग का अप्रासंगिक वर्णन, अपने को धनी, विद्यावान्. तपस्वी, तेजस्वी, बुद्धिमान् बचनसिद्ध, स्वरूपवान्, गौरवर्ण और विदेह-समान ज्ञानी बताना, तथा पिता-द्वारा अपनी माता, भ्राता, भगिनी, भावज, भतीजे, भतीजियों सहित अपना १६ व्यक्तियों के घर से निकाले जाना आदि कहने और न कहने योग्य सभी बातें तो एक अपरिचित पुरुष से विना पूँछे ही कह डालीं।" श्री शिवनन्दनसहाय की भाँति मिश्रजी भी इसबात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि गोस्वामीजी को ६,०००) दहेज में मिले, सो भी तीसरे विवाह में। पर ऐसा प्रसिद्ध है कि गोस्वामीजी को बालकपन में आर्थिक संकट

का सामना करना पड़ा, जैसा कि स्वयं उनकी ही उक्तियों से स्पष्ट है। मिश्रजी की धारणा है कि "वास्तव में यह 'तुलसी चरित' उनके किसी भी शिष्य का लिखा नहीं जान पड़ता, यह अवश्य ही किसी स्वार्थसाधक गाना मिश्र का बेतुका गाना है।"

पाठान्तर—'तुलसी चरित' 'मर्यादा' के अतिरिक्त 'तुलसी ग्रन्थावली' 'गोस्वामी तुलसीदास' 'रामचरितमानस सटीक' एवं 'तुलसीदास और उनकी कविता' में भी उद्धृत है, जो क्रमशः नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इण्डियन प्रेस और हिन्दी मन्दिर, से प्रकाशित हुए। त्रिपाठीजी ने कदाचित् डॉ० श्यामसुन्दर से नकल की है। यह ध्यान देने की बात है कि सभी उद्धरणों में पर्याप्त संशोधन भी हुआ है। शब्द तक बदल दिए गये हैं और कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास में भी अन्तर है। ऐसा न जाने क्यों हुआ है?

अस्पष्ट स्थल—'तुलसी-चरित' के अनेक स्थल ऐसे हैं जो अंधकारमय हैं, यथा—

राजधानि ते जानिए, कोश विंश त्रय भूप।
जन्म भुमि मम और पुनि, प्रगट्यो बौद्ध स्वरूप॥
बोध स्वरूप पेंडते मारी। उपल रूप महि दीन बलारी॥
जैनामास चल्यो मत भारी। रक्षा जीव पूर्ण परिचारी॥
अति आदर करि भूप बसावा। बाम मार्ग पथ शुद्ध चलावा॥
स्वाद त्यागि शिव शक्ति उपासी। जिनके प्रगट शंभु गिरिवासी॥
दोहा—राज योग बोउ सुख सु एहि, होंहि अनेक प्रकार।
अब्दे दया मुनीस को, लियो जन्म बरबार॥

ऐतिहासिक व्यतिक्रम—'बौद्ध-स्वरूप' और 'जैनाभास' मत क्या हैं? जैन और बौद्ध धर्म तो गोस्वामीजी की चार ऊँची पीढ़ियों से भी कम से कम एक-एक हजार वर्ष पहले प्रचलित थे। 'बाम मार्ग पथ शुद्ध' क्या है? बाम मार्ग भी बहुत प्राचीन है। अस्तु 'तुलसी-चरित' की निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेषतः विचारणीय हैं—

पुनि भारती यज्ञ मम हेता। कियो परम गुरुदेव सचेता॥
पढ़ि मुनि पाणिनीय को ग्रन्था। बसु अध्याय शब्द कर पंथा॥
दीक्षित ग्रन्थ समग्र विचारी। पढ़े कृपा गुरु शेखर भारी॥
कौस्तुभादि महभाष्य विचारी। ··· ··· ···
बरष एक मह शब्दहि जोई। पुनि षट् शास्त्रवर्ष महँ गोई॥
सकल पुरानकाव्य अवलोकी। तीन वर्ष महँ भयो विशोकी॥

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गोस्मामी तुलसीदास ने केवल तीन वर्षों में बहुत कुछ पढ़ लिया। एक वर्ष में सब पुराण, एक वर्ष में सम्पूर्ण व्याकरण, और एक वर्ष में छहों शास्त्र पढ़ लिये। चतुर से चतुर मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। अष्टादश पुराणों के पारायणमात्र में बहुत समय लग जाता है। सुनते हैं कि अकेला व्याकरण ही बारह वर्षों में समाप्त होता था। गोस्वामीजी असाधारण मनुष्य थे, अतएव विचारार्थ हम माने लेते हैं कि उन्होंने केवल तीन वर्ष में ही सब व्याकरण, शास्त्र और पुराण पढ़ लिये।

क्या भट्टोजी और नागेश के व्याकरण रचे जा चुके थे ?—किन्तु एक बात खटकती रहती है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने दीक्षित, कौस्तुभ और शेखर पढ़ लिये। ऐसा कदाचित् मान भी लिया जाय कि उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतंजलि का महा-भाष्य पढ़े थे, क्योंकि वे गोस्वामीजी से कहीं पहले के हैं, यद्यपि तुलसीदासजी की क्षीण संस्कृत-रचना से तो यही प्रकट होता है कि उन्हें संस्कृत व्याकरण का बोध अधिक न था; इस पर आगे प्रकाश डाला जायगा। पर गोस्वामीजी दीक्षित, कौस्तुभ और शेखर किस प्रकार पढ़ सकते थे, जब कि ये रचनाएँ गोस्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् संसार को मिली हैं।

भट्टोजी दीक्षित का समय—स्मरण रहे कि सिद्धान्त, कौस्तुभ और मनोरमा के कर्त्ता भट्टोजी दीक्षित जगन्नाथ पंडितराज के समकालीन थे, अतः वे शाहजहाँ के शासनकाल में विद्यमान थे, जैसा कि श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी ने 'हिन्दी रस गंगाधर, की भूमिका के पृष्ठ २२-२४ पर लिखा है, जिसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से इण्डियन प्रेस ने १९८६ वि० में प्रकाशित किया। ए० ए० मैकडौनल ने 'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर' (१९१७-नवीन संस्करण) के ४३२ वें पृष्ठ पर भट्टोजी को सत्रहवीं शताब्दी का माना है। उसी प्रकार काशी-विश्वविद्यालय के प्रो० पं० सीताराम जयराम जोशी और पं० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज ने अपने 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (पृष्ठ २१४) में भट्टोजी को सप्तदश शतक के प्रारम्भ का माना है। श्री सदाशिव शर्मा जोशी ने स्वसंपादित एवं भट्टोजी दीक्षित-कृत 'प्रौढ़ मनोरमा' के प्रस्ताविकम् (१९२८ ई०) के चतुर्थ पृष्ठ पर भट्टोजी के विषय में इस प्रकार लिखा है—

'अस्य कर्त्तारःपूज्यपादाः खिस्ताब्दमानेन १६३० खाग्निरसेन्दु-परिमिते संवत्सरे वाराणसी-वास्तव्या महाराष्ट्र-ब्राह्मणा भट्ट-कुलावतंसाः श्री मल्लक्ष्मीधर-पंडितवर-तनूजन्मानः श्रीमच्छेष-कृष्णाभिधगुरोश्चरणानुराधन-समासादित-वैदुषीः-भूषिताः सुगृहीतनामधेयाः विद्यावारिधिमथन-दीक्षिता भट्टोजी दीक्षिता इति विदितमेव समेषां विदुषाम्।'

इससे स्पष्ट है कि भट्टोजी दीक्षित १६३० ईसवी में प्रकाश में आये थे।

नागेश भट्ट का समय—महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद और वासुदेव शर्मा पणशीकर ने 'रसगंगाधर' का संपादन १९१६ ई० में किया, जिसमें उन्होंने नागेश भट्ट के विषय में इस प्रकार लिखा है—

अत्र पंडित-राजाद् द्वितीयः पुरुषो नागेश आसीदिति ज्ञायते। पूर्व-निर्णीते आसन्ने जगन्नाथपण्डितराज-समये १६६६ खिस्ताब्दे पुरुषद्वय-पर्याप्तानि चत्वारिंशद्वर्षाणि योज्यन्ते चेत्तदा १७०६ खिस्ताब्दोऽयमासन्नो नागेश समयः समायाति। अथ च जयपुर-महाराजाः श्री सवाई जयसिंह वर्माणोऽश्वमेध-प्रसंगे नागेश-भट्टाय निमन्त्रणपत्रं प्रहितवन्तः। तदा नागेशेन 'अहं क्षेत्र-संन्यासं गृहीत्वा काश्यां स्थितोऽस्मि, अतस्तां परित्यज्यान्यत्र गन्तुं न शक्नोमि'। इत्युत्तरं प्रहितम् एषा किंवदन्ती जयपुरेऽधुनाऽपि प्रसिद्धास्ति। श्री जयसिंह महाराजाश्च १७१४ खिस्ताब्देऽश्वमेधं कृतवन्त इत्युक्तमेव प्राक्। अयमश्वमेधसंवत्सरोऽपि पूर्वलिखित १७०६ खिस्तसंवत्सरासन्न एवेति खिस्ता-

ब्दीकाष्टादश-शतक-प्रथम-तुरीयांशे नागेश भट्ट आसीदिति व्यक्त मेव ।"

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि भट्टोजी दीक्षित १६३० ई० में प्रकाश में आये, किन्तु सभी उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार गोस्वामीजी १६२३ ई० (अर्थात् १६८० संवत् वि०) में दिवंगत हुए थे। नागेशभट्ट-कृत 'परिभाषेन्दुशेखर' 'बृहच्छब्देन्दुशेखर' और 'लघुशब्देन्दुशेखर' तो और भी पीछे (अठारहवीं शताब्दी) की कृतियाँ हैं। अतः स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ने तो 'सिद्धान्त कौमुदी' के कर्त्ता भट्टोजी दीक्षित और भट्ट नागेश कृत शेखरों के नाम भी न सुने होंगे, पढ़ने की तो बात ही क्या ?

संस्कृत व्याकरण का साधारण ज्ञान—गोस्वामीजी के संस्कृत-ज्ञान की चर्चा कदाचित् अप्रासंगिक न होगी। 'रामचरितमानस' के श्लोकों की रचना देखने से अनेक विद्वानों की सम्मति अब तक यही रही है कि तुलसीदासजी संस्कृत-भाषा के साधारण पंडित थे *। वे बहुश्रुत एवं असाधारण पौराणिक थे, किन्तु 'शेखर,' 'मनोरमा' आदि के ज्ञाता अथवा भाष्यान्त वैयाकरण नहीं थे, जैसा कि 'तुलसी-चरित' के लेखक ने लिखा है। गोस्वामीजी की संस्कृत-रचना में कई अशुद्धियाँ हैं। आर्ष-प्रयोग कहकर इन त्रुटियों का भी समाधान किया जा सकता था, यदि ये अशुद्धियाँ स्वल्पसंख्यक होतीं और गोस्वामीजी कालिदास आदि कवियों से पहले होते। किन्तु ऐसा नहीं। पद्य संख्या के देखे त्रुटियाँ कुछ अधिक और इतनी स्पष्ट हैं कि थोड़ा सा संस्कृत ज्ञान रखने वाला भी उन्हें सहज में जान लेता है। इससे इनके केवल साधारण संस्कृत-पाण्डित्य की पुष्टि होती है।

व्याकरण-व्यतिक्रम के उदाहरण—मानस के संस्कृत पद्यों की अशुद्धियाँ इस प्रकार हैं—

अयोध्या काण्ड के तीसरे श्लोक में 'सीता समारोपित वाम भागम्' लिखा है। यहाँ सप्तम्यन्त का पूर्व निपात होने से 'वामभाग समारोपितसीतम्' ऐसा पाठ होना चाहिए।

अरण्य काण्ड में 'नमामि भक्तवत्सलम्' यह अत्रिकृत स्तव है। इसमें कई प्रयोग खटकते हैं—

'निषंगचापसायकं धरम्'—यहाँ 'निषंगचापसायकधरम्,' ऐसा होना चाहिए।

'मुनीन्द्र सन्त रंजनम्'—इसमें 'सन्त' शब्द का प्रयोग लौकिक व्यवहार के अनुसार है। व्याकरण से 'सत्' अथवा 'सज्जन' होना उचित है।

'त्वमेकमद्भुतं प्रभुम्'—यहाँ 'त्वम्' के स्थान पर 'त्वाम्' होना चाहिए।

'नतोऽहमुर्विजापतिम्'—यहाँ 'उर्विजा' के स्थान पर 'उर्वीजा' होना चाहिए।

'प्रसीद मे नमामि ते पदाब्ज भक्ति देहि मे'—इसमें 'ते' के स्थान पर 'त्वाम्' होना चाहिए। और यदि 'ते' का सम्बन्ध 'पदाब्ज भक्ति' के साथ लगाया जाय तो

---

* मंगला-चरण और ग्रन्थ की समाप्ति में कुछ श्लोक शुद्ध संस्कृत के भी रखे है, जिनसे यह प्रकट होता है कि ये संस्कृत के ज्ञाता थे, परन्तु संस्कृत के अच्छे कवि नहीं थे और संस्कृत व्याकरण में कच्चे थे—राम चरितमानस (डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित) इंडियन प्रेस, १९१५, पृष्ठ ७३-७५

हि वॉज नेवर ए गुड संस्कृत स्कॉलर एण्ड सम ऑव हिज फ्यू वर्सज इन् देट् लेंग्वेज कण्टेन ग्रेमेटिकल ब्लंडर्स।—जी० ए० ग्रीयर्सन, साइक्लोपीडिया ऑव एथिक्स एण्ड रिलीजन।

के दूसरे श्लोक में 'मम्ले' शब्द की ओर ध्यान आकर्षित किया है, वह संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'मम्लौ' होना चाहिए।

'प्रसन्नतां या न गताभिषेकत स्तथा न मम्ले बनवास दुःखतः।'

इसी प्रकार उत्तरकाण्ड के निम्नलिखित श्लोक में 'तोषये' शब्द आया है, जो संस्कृत व्याकरणानुसार 'तुष्टये' होना चाहिए।

रुद्राष्टक मिदं प्रोक्तं विप्रेण हर तोषये
ये पठन्ति नरा भक्त्या तेषां शम्भुः प्रसीदति।

निष्कर्ष—अतः स्पष्ट है कि गोस्वामीजी को संस्कृत-व्याकरण का ज्ञान साधारण था, और उन्होंने व्याकरण का विशेष अध्ययन न किया होगा। सम्पूर्ण 'तुलसी-चरित', जैसा कि अनेक विद्वानों ने लिखा है, जनता की दृष्टि से बचा हुआ है। यदि वह वास्तव में पूरा-पूरा विद्यमान है, तो अच्छा ही है कि वह अभी तक गुप्त-निधि बना हुआ है, क्योंकि यदि वह पूरा प्रकाशित होता तो उसमें विद्वानों को कदाचित् और भी असंगत बातें मिल जातीं, किन्तु जैसा भी उपलब्ध है वह अपने वास्तविक रूप का द्योतक है। न तो उसकी भाषा परिमार्जित है और न उसकी बातें ही इतिहास के अनुकूल हैं। उसकी अप्रामाणिकता तो स्वयं-सिद्ध है।

(ख) मूल गोसाईं चरित

आलोचन

प्रथम उल्लेख—ठाकुर 'शिवसिंह सेंगर ने शिवसिंह सरोज' में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-चरित के विषय में लिखा है कि "इनके जीवन-चरित्र की पुस्तक वेणीमाधवदास कवि पसका ग्राम निवासी ने, जो इनके साथ रहे, बहुत विस्तारपूर्वक लिखी है। उसके देखने से इन महाराज के सब चरित्र प्रकट होते हैं।" सेंगरजी ने गोस्वामीजी का जन्म सं० १५८३ लिखा है पर बाबा वेणीमाधव-कृत 'मूल गोसाईं-चरित' में १५५४ इस प्रकार दिया गया है :

पन्द्रहसौं चउवन बिषें, कालिंदी के तीर
सावन शुक्ला सत्तमी, तुलसी धरेउ शरीर।

इससे प्रतीत होता है कि सेंगरजी ने बाबाजी की उक्त रचना देखी न थी, नहीं तो वे गोस्वामीजी का जन्म संवत् स्वतन्त्र रूप से निश्चित न करते।

प्राप्ति की लालसा—शिवनन्दन सहायजी 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी' में (पृष्ठ १२९ पर) सूचित करते हैं कि वेणीमाधवदासजी के गोसाईं चरित्र की "प्राप्ति और पाठ के लिए गोसाईंजी के अनुरागी लोग बड़े ही लालसित हैं"। सहायजी की आशंका सत्य निकली : लालसाएँ पूर्ण हुई।

मूल गोसाईं चरित के लिए खोज—बहुत खोज करने पर भी सर जॉर्ज ग्रियर्सन, एफ० एस० ग्राउज़ एवं ग्रीव्ज़ आदि तुलसीचरितान्वेषी महानुभावों को बाबा वेणीमाधवदास-कृत मूल गोसाईं-चरित उपलब्ध नहीं हुआ। विद्यावारिधि पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र अपनी सटीक रामायण की भूमिका में लिखते हैं—"सुनते हैं कि

वेणीमाधवदास कृत एक गोसाईं-चरित ग्रन्थ है जो गोस्वामीजी के समय में ही रचा गया है, परन्तु वह भी इस समय नहीं मिलता है।" काशी नागरीप्रचारिणी सभा के विद्वान संपादकों ने श्रीरामचरित-मानस का शुद्ध संस्करण संपादित करते समय गोस्वामीजी के जीवन-चरित्र की उपलब्धि पर विचार करते हुए लिखा है—"सबसे प्रामाणिक वृतांत बताने वाला ग्रन्थ वेणीमाधवदास कृत गोसाईं-चरित है, जिसका उल्लेख बाबू शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' में किया है : परन्तु खेद का विषय है कि न तो अब वह ग्रन्थ कहीं मिलता है, और न शिवसिंह सरोज-कार ने ही उसका संक्षिप्त वृत्तांत अपने ग्रन्थ में लिखा है।"

आविर्भाव—उन्नाव के वकील पं० रामकिशोर शुक्ल ने स्व-संपादित रामचरित मानस के आरम्भ में उक्त 'मूल गोसाईं-चरित' लगाकर १९२५ ई० में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित कराया था, पर उक्त चरित की प्राप्ति पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। इसके पश्चात् १९३१ ई० में डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इसे 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक में परिशिष्ट-रूप दिया जो प्रयाग की हिंदुस्तानी एकाडेमी से प्रकाशित हुई है। यह 'चरित' 'मानसांक' के साथ गीता प्रेस, गोरखपुर से, और रामायणी श्रीरामबालक दास-संशोधित 'श्री तुलसीदास कृत रामचरित मानस सटिप्पन' के साथ सेठ लक्ष्मीचंद छोटेलाल के द्वारा श्री वैष्णव पुस्तकालय, अयोध्या, से प्रकाशित हुआ। कब ? इसका कुछ पता नहीं, क्योंकि इस पर संवत् नहीं छापा गया है। पुस्तक प्राचीन नहीं। कदाचित् यह उल्लेख उचित होगा कि "श्रीयुत गोस्वामी तुलसीकृत रामायण सम्पूर्ण क्षेपक सहित" पं० रामभद्र ने शुद्ध की और हरिप्रसाद भगीरथजी ने बम्बई के जगदीश्वर छापेखाने में सं० १९५९ में मुद्रित की और परमहंस सीताशरणजी की आज्ञा से लक्ष्मीचन्द छोटेलाल ने प्रकाशित की। इस पुस्तक में 'तुलसी-चरितामृत' की गद्य-पद्य-मयी भूमिका है जो अधिकांश में 'मूल गोसाईं चरित' के अथवा 'गोसाईं चरित' के विषय से मेल खाती है। यही नहीं, इसमें कई स्थानों पर 'मूल गोसाईं चरित' के छंद ज्यों के त्यों मिलते हैं ; किन्तु यह कहीं भी नहीं बताया गया है कि ये छंद 'मूल गोसाईं चरित' के हैं अथवा वेणीमाधवदासजी के।

भूमिका—प्रस्तुत मूल गोसाईं-चरित से विदित होता है कि—

"संवत सोलहसौ असी, असी गंग के तीर,
श्रावण-श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।"

और

"सोरहसों सत्तासि सित, नवमी कातिक—मास,
विरच्यो यहि नित पाठ हित, वेणीमाधवदास।"

अर्थात् सं० १६८० में श्रावण की श्यामा तीज शनिवार को काशी में असी गंगा के तट पर गोस्वामी तुलसीदास ने शरीर त्याग किया और सं० १६८७ में कार्तिक शुक्ला नवमी को उक्त 'मूल गोसाईं-चरित' नित्यपाठ करने के लिए बाबा वेणीमाधवदास ने लिखा, और 'इमि यादव माधववेणि उभय चिरसुख करुणेश आनंद-सदय' इस उक्ति के द्वारा यह प्रकट किया है कि बाबाजी १६०९ वि० के लगभग चित्रकूट पर गोस्वामीजी

के सत्संगी जन-समुदाय में थे। अतः, स्पष्ट है कि वे गोस्वामीजी के समकालीन ही नहीं प्रत्युत निकटवर्ती भी थे और उनके पश्चात् कम से कम सात वर्ष तक जीवित रहे। ऐसी दशा में बाबा-वाक्य को ही प्रमाण समझना उचित प्रतीत होता ; परन्तु खेद है, कि वह गहन विचार के पश्चात् सत्य की कसौटी पर नहीं टिकता।

गोस्वामीजी की जन्म-तिथि और जन्म-स्थान—उक्त 'मूल गोसाईं-चरित' में बाबा वेणीमाधवदास लिखते हैं :

"उदए हुलसी उदघाट हिते।"
"सुकृती सतपात्र सुधी सुखिया रजियापुर राजगुरु मुखिया।
तिन के घर द्वादस मास परे जब कर्क के जीव हिमांशु चरे।
कुज सप्तम अष्टम भानु-तनय अभिजीवित शान सुन्दर साँझ समय।"

देश सरवार, पतेजी (पत्यौजा) ग्राम निवासी, पराशर गोत्रीय, झुरखे आस्पदीय ब्राह्मण कुल में यमुना-तटस्थ दूबन के पुरवा में, रजियापुर के राजगुरु की धर्मपत्नी हुलसी की दक्षिण कुक्षि में १२ मास निवास कर संवत् १५५४ में श्रावण शुक्ला ७ शनिवार को सायंकाल रजियापुर में गोस्वामीजी ने जन्म लिया। उनके जन्म-समय अभिजित नक्षत्र था, और जन्म-पत्र में मंगल सप्तम तथा शनि अष्टम स्थान में एवं कर्क के गुरु और चन्द्र थे। खेद की बात है कि जहाँ ज़रा-ज़रा बात का उल्लेख है वहाँ गोस्वामीजी के पिता के नाम पर शून्य ही दिखाया गया है। यदि बाबाजी गोस्वामीजी के संगी और समकालीन थे तो क्या वे उनके पिता के नाम का पता नहीं लगा सकते थे ? जनता में पुत्र की प्रसिद्धि पिता के नाम से होती है, न कि माता के नाम से। यदि बाबाजी गोस्वामीजी के पिता का नाम जानते होते तो उसका उल्लेख करने से कभी न चूकते।

बाबा बेणीमाधवदास ने गोस्वामीजी का जन्म सं० १५५४ में लिखा है और देह-त्याग सं० १६८० में ; इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास की आयु १२६ वर्ष की होती है। जितेंद्रिय, वीतराग, योगी महात्माओं की आयु इतनी या इससे भी अधिक हो सकती है, परन्तु इस गणना से सं० १६३१ में, जबकि उन्होंने रामचरित मानस लिखा था, उनकी अवस्था ७७ वर्ष की होती है। इस अवस्था में रामचरित-मानस जैसे वृहत् काव्य-ग्रंथ का निर्माण करना असम्भव-प्राय जान पड़ता है ; क्योंकि इस अवस्था में बल स्फूर्ति और स्मृति का ह्रास होना स्वाभाविक है।

जन्म-गृह—वेणीमाधवदास ने गोस्वामीजी की जन्म-तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी शनिवार के सायंकाल में अभिजित् का होना लिखा है, किन्तु गणित से यह असत्य है, न तो उस दिन और न जन्म के समय ही अभिजित् नक्षत्र था। प्रतीत होता है उक्त लेखक ने किंवदंतियों का आश्रय लिया, अथवा कल्पना का। कदाचित् उन्हें गोस्वामीजी की पूर्ण जन्म-पत्री का ज्ञान न था ; यदि होता तो वे नवग्रहों के बदले केवल चार ग्रहों के उल्लेख से ही सन्तोष न कर लेते, क्योंकि, जैसा कहा जा चुका है, वे अपने वर्णनों में जरा-जरा सी बातों का उल्लेख करते पाये जाते हैं।

अन्य तिथियों का उल्लेख—बाबा वेणीमाधवदास ने निम्नलिखित छः और ऐसी तिथियों का उल्लेख किया है जिनकी परीक्षा गणना के द्वारा सम्भव है। वे हैं :

१—**यज्ञोपवीत** : माघ शुक्ला पंचमी शुक्रवार १५६१ वि० अर्थात् १० जनवरी १५०५ ई०।

२—**विवाह**—ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी गुरुवार १५८३ वि० अर्थात् २४ मई १५२६ ई०।

३—**पत्नी-मरण** : आषाढ़ कृष्णा दशमी बुधवार १५८९ वि०।

४—**रामदर्शन** : माघ अमावास्या बुधवार १६०७ वि०।

५—**मानस-समाप्ति** : मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी मंगलवार १६३३ वि०।

६—**तुलसी-देहान्त**—श्रावण कृष्णा तीज शनिवार १६८० वि०।

मुझे पुरातत्त्व के डिप्टी डाइरेक्टर डॉ० एन० पी० चक्रवर्ती से ३ फरवरी १९४१ को विदित हुआ कि उक्त तिथियों में से प्रथम दो ही सत्यापित होती हैं, शेष नहीं। आश्चर्य है कि गोस्वामीजी के अन्तेवासी जीवनीकार को भी अपने गुरुदेव के तिरोभाव की तिथि का स्मरण ठीक न रहा !!

परिताप—वेणीमाधवदास लिखते हैं : गोस्वामीजी सदंत जन्मे थे और जन्म के समय रोये न थे ; इससे स्त्रियों को आश्चर्य हुआ, वे बकने और काँपने लगीं। उन्होंने गोस्वामीजी को राक्षस बताया और बालक के पिता को बुला लायीं। गोस्वामीजी के पिता भी प्रसूतालय के द्वार पर खड़े होकर नवजात शिशु को देख आँसू भरकर रोने लगे—

पूरित सलिल दृग निरखि शिशु परिताप-युत मानस भए,
मन मंह पुराकृत पाप को परिनाम गुनि बाहर गए।

संसार में अनेक शिशु सदंत पैदा होते हैं, जन्म लेते समय अनेक नहीं रोते, तो क्या स्त्रियाँ उन्हें देखकर बकती या काँपती हैं, या उन्हें राक्षस समझती हैं ? प्राय: ऐसा नहीं होता। तुलसीदास तो भयानक आकृति के भी नहीं थे। पर सदंत शिशु को देखकर उसके पिता राजगुरु का गुरुत्व जाता रहा और वे स्त्रियों के सदृश रोने लगे। शास्त्रों में सदंत शिशु के जन्म होने पर उसकी शान्ति-विधि लिखी हुई है, क्या वे इसे नहीं कर सकते थे ?

तब जुरे सब हित, मित्र, बांधव गणक आदि प्रसिद्ध जे
लागे विचारन करिअ नवजात शिशु कहँ, कहँहि ते।

उस समय राजगुरु के इष्टमित्र कुटुम्बी और सिद्ध ज्योतिषी भी आये थे। तो क्या स्वयं राजगुरु जैसे विद्वान् के घर आये हुए प्रसिद्ध ज्योतिषियों ने उनके जन्मकालिक ग्रह न देखे होंगे ? क्या उन्होंने ज्योतिष-शास्त्र से यह न जाना होगा कि यह बालक संसार में प्रसिद्ध और अपने देश का उद्धार करनेवाला यशस्वी विद्वान् होगा, यद्यपि इसकी माता की मृत्यु अवश्य होगी। पर

पंचन यह निर्णय किए, तीन दिवस पश्चात्।
जियत रहे शिशु तब करिअ, लौकिक वैदिक-बात॥

अर्थात् उन आये हुए मित्र-कुटुम्बीजन और प्रसिद्ध ज्योतिषी आदि पंचों ने यह निर्णय किया कि जब तीन दिन तक यह बालक जीवित रह चुके तब लौकिक वैदिक संस्कार हों। इससे सिद्ध होता है कि न तो राजगुरु ही विद्वान् थे और न वे प्रसिद्ध

ज्योतिषी ही, क्योंकि उन्हें नवजात बालक के जीवन में तीन दिन तक मृत्यु का सन्देह रहा। उन्हें यह ज्ञात न हुआ कि यह शिशु तो दीर्घायु होगा, पर इसकी माता की मृत्यु शीघ्र हो जायगी। संस्कार न करने में कौन सी बुद्धिमानी थी, कौन-सा विशेष व्यय था ? कदाचित् राजगुरु को रुलाने में एक रहस्य है। यदि राजगुरु को रुलाने की कल्पना न की जाती तो "सुनि भयो परिताप पाप जननी-जनक को" गोस्वामीजी के इस वाक्य से उपर्युक्त 'पूरित सलिल" छन्द के भाव की समता कैसे होती ?

परित्याग—"मातु-पिता जग जाय तज्यो" तथा "जननी जनक तज्यो जनमि" आदि गोस्वामीजी के वाक्यों के साथ साम्य-प्राप्ति अभीष्ट थी। अतः जन्म से चौथे दिन मरणासन्न माता ने तुलसीदास को पालन-पोषण के लिए चुनिया नाम की स्त्री को सौंप दिया। चुनिया के मरने के पश्चात्

हम का करिबे अस बालक लै ? तथा

जन्मेउ सुत मोर अभागो महो, सो जिये वा मरै मोहि सोच नहीं।

आदि वाक्य कहलाकार गोस्वामीजी का उनके पिता-द्वारा परित्याग कराया गया है। इस प्रकार का मेल मिलाकर 'मूल गोसाईं चरित्र' को 'मौलिक' सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। क्या गोस्वामीजी के पिता जो राजाओं के गुरु, विद्वान्, धनी तथा प्रतिष्ठित थे अपने एकमात्र निर्दोष, सुन्दर पुत्र-रत्न को त्याग कर उक्त वाक्य कह सकते थे ? कैसा ही दुष्ट, कुरूप, रोगी एवं अभागा पुत्र हो, माता-पिता की उस पर स्वाभाविक प्रीति और ममता होती ही है।

पालन—माता-पिता के द्वारा परित्यक्त बालक तुलसीदास द्वार-द्वार डोलने लगे। इन्हें जगज्जननी अन्नपूर्णा पार्वती ब्राह्मणी का रूप धारण कर नित्य भोजन करा जाती थीं, और इस प्रकार पाँच वर्ष और पाँच मास की अवस्था से सात वर्ष और पाँच मास की अवस्था पर्यन्त, अर्थात् दो वर्ष तक, भोजन कराती रहीं। एक दिन ग्राम की नारियों ने उन्हें रोका और हठ किया तो वे अदृश्य हो गयीं :

डोलत सो बालक द्वार-द्वार बिलोकि तेहि बिदरत हियो।
बालक-दशा निहारि गौरा माई जग-जननि।
द्विज-तिय रूप सँभारि नितहि पवा जावहि अशन।
दुइ बत्सर बीतेउ यहि रसे, पुर लोगन कौतुक देखि कसे॥
परि पायँ करी हठ, जान न दे, जगदंब अदृश्य भई तब ते॥

एक बालक को भोजन कराने में इतने समय तक जगज्जननी अन्नपूर्णा का इतना आयोजन, इतना आयास ! और अंत में वे अदृश्य होने के लिए बाध्य हो गयीं ! तब भगवान् शिव ने एक और सुलभ उपाय किया। उन्होंने अनंतानंदजी के शिष्य नरहर्यानंदजी को दर्शन देकर रामचरितमानस सुनाया, और कहा कि तुम तुलसीदास को यह कथा सुनाओ ; जब उसके हृदय के नेत्र खुलेंगे, तब वह स्वयं रामचरितमानस बनाकर कहेगा। शिवाज्ञा से नरहर्यानंदजी बालक तुलसीदास के समीप आये, पुरवासियों की सम्मति से उन्हें साथ लेकर हरिपुर गये, और १५६१

माघ शुक्ला पंचमी को सरयू के तीर पर उनका यज्ञोपवीत संस्कार कर और उन्हें अपना शिष्य बना वहाँ दस मास रहे। अब तुलसीदास ८ वर्ष ४ मास के हो गये थे। वहाँ से चलकर नरहर्यानंदजी और तुलसीदास सूकर-क्षेत्र आये और ५ वर्ष तक रहे। तुलसीदास १३ वर्ष ४ महीने के हो गये। फिर उन्होंने १५ वर्ष तक काशी एवं चित्रकूट में शेषसनातनजी से विद्याध्ययन किया, और वे २८ वर्ष ४ मास के हो गये। विद्याध्ययन के पश्चात् वे अपने जन्म-स्थान को गये। २८ वर्ष १० मास के वय में उनका विवाह हो गया।

शिक्षण—इस प्रकार वेणीमाधवदासजी के लेखानुसार तुलसीदासजी को जन्म से विवाह तक किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं होना चाहिए था। चुनिया, अन्नपूर्णा पार्वती, नरहर्यानंदजी एवं शेषसनातनजी, इन्हीं चार व्यक्तियों ने तुलसीदासजी का, पुत्र से भी अधिक स्नेह के साथ, पालन-पोषण एवं शिक्षण किया। तुलसीदासजी को बाल्यकाल से द्वार-द्वार जाकर, दीन होकर जाति-कुजाति के टूक खाने की आवश्यकता ही कब पड़ी, और कितने समय तक ? पर गोस्वामी जी लिखते हैं :

बारे तें ललात-बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक कों।
जाति के, सुजाति के पेटागि-बस
खाए टूंक सबके बिदित बात दुनी सो।　　(कवितावली)
"हुतो ललात कृस गात खाति खरि मोद पाइ कोदों कनें।"　(गीतावली)
"हा-हा करि दीनता कही द्वार-द्वार, बार-बार परी न छार।
असन-बसन बिनु बावरो जहँ तहँ उठि धायो मुँह बायो।
(विनय-पत्रिका)

बाबा वेणीमाधवदासजी भी स्वर में स्वर मिलाते लिखते हैं—

"डोलत सो बालक द्वार-द्वार, विलोकि तेहि विदरत हियो।"

किन्तु वे यह स्पष्ट नहीं करते कि ऐसा कब हुआ ? तुलसीदास की देख-भाल के लिए जब स्वयं भगवान् शिव और जगज्जननी पार्वती चिन्तित थे, तब तो ऐसी कल्पना मिथ्या प्रतीत होती है। चुनिया के पश्चात् देवी पार्वती, फिर नरहर्यानंदजी, तत्पश्चात् शेषसनातनजी पर तुलसीदासजी के भरण-पोषण का भार रहा। क्या तुलसीदासजी इतने अकृतज्ञ थे कि वे अपने उपकारकों को एकदम भूल गये ? यदि वे हुलसी का, जिसका सुख उन्होंने नहीं देखा, उल्लेख कर सकते थे तो उस चुनिया का भी करते, जिसके पास वे पाँच वर्ष तक पुत्रवत् रहे और जो तुलसीदास को प्रसन्न रखने में कोई बात उठा नहीं रखती थी (जेहि ते शिशु रीझ हि, सोइ करै)।

सूकर-क्षेत्र की स्थिति—बाबा वेणीमाधवदास ने सूकरक्षेत्र की स्थिति सरयू-घाघरा के संगम पर बतायी है :

"कहत कथा, इतिहास बहु आए शूकर-खेत।
संगम सरयू घाघरा संत जनन सुख देत।"

यह पुराण-प्रसिद्ध सूकरक्षेत्र के साक्ष्य तथा अन्य प्रमाणों के विरुद्ध है, जैसा कि इस

ग्रंथ में अन्यत्र विस्तार से स्पष्ट किया जायगा।

तुलसी के गुरु—बाबा वेणीमाधवदास के अनुसार तुलसीदासजी के दो गुरु थे। वे लिखते हैं कि गोस्वामीजी गुरु नरहर्यानंद के साथ सूकरक्षेत्र से काशी-धाम आये। वहाँ शेषसनातनजी ने नरहर्यानंदजी से गोस्वामी तुलसीदास को चारों वेद, छः शास्त्र आदि पढ़ाने के लिए माँग लिया, और गोस्वामीजी भी उनसे १५ वर्ष पढ़कर पूर्ण विद्वान् हो गये :

बिचरत, बिहरत मुदित मन, आये काशी धाम।
परम गुरु सुस्थान पर, जाय कीन्ह विश्राम।

× × ×

तँहवाँ हते शेषसनातन जू वपु वृद्ध वरंच युवा मन जू।

× × ×

तिनि रीझि गए बटु पै जबही, गुरु स्वामि सों सुन्दर बात कही।
निज शिष्यहि देइए मोहि मुनी, तिसुबुत्ति बुनी नहि ध्यानधुनी।
हों ताहि पढ़ावहुँ वेद चहूँ, अरु आगम दर्शन पात चहूँ।

× × ×

"बटु पंद्रह वर्ष तहाँ रहिकें, पढ़ि शास्त्र सबै महिके गहिके।

आश्चर्य है कि भगवान् शिव की पसन्द के गुरु नरहर्यानंदजी फीके निकले, और शेषसनातनजी की आवश्यकता पड़ी। दूसरा आश्चर्य है कि स्वयं तुलसीदासजी भी अपनी कृतियों में शेषसनातनजी का उल्लेख करना भूल गये। गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में जहाँ गुरु की महिमा एवं वन्दना लिखी है, वहाँ उन्होंने केवल 'कृपासिंधु नर-रूप हरि' अर्थात् गुरु नृसिंह का ही उल्लेख किया है, शेषसनातनजी का नहीं। क्या गोस्वामीजी ऐसा पक्षपात कर सकते थे ?

मृगयावलोकन—बाबा वेणीमाधव लिखते हैं कि लक्ष्मण-पहाड़ी की गुफा में गोस्वामीजी निवास करते थे, पुनः नरहर्यानन्द स्वामी की सम्मति से वे गुफा में से निकल कर सजे हुए मचान पर बैठकर नित्य सत्संग करते, विहार देखते तथा मृगया के कौतुक का अवलोकन करते थे :

नित नित्य विहारहु देखत हैं, मृगया कर कौतुक पेखत हैं।

किन्तु तुलसीदासजी जैसे कोमल-हृदय भक्त को मृगया का दृश्य रुचिकर प्रतीत होता होगा, इसमें सन्देह है।

प्रियादास और नवल का आगमन—बाबा वेणीमाधव लिखते हैं कि संवत् १६०९ वि० में चित्रकूटस्थ तुलसीदास के पास श्री हितहरिवंशजी ने वृन्दावन से अपने शिष्य प्रियादास और नवल को भेजा। उन्होंने आकर जुहार किया और गुरु हितहरिवंशजी की दी हुई यमुनाष्टक, राधासुधा-निधि एवं राधिका-तन्त्र-महानिधि नामक पुस्तकें और जन्माष्टमी की लिखी एक पत्रिका भेट की। उसमें लिखा था : हे सदय, महारास की रजनी आ रही है, मेरा चित-चोर ललचा रहा है, मैं शरीर को त्यागना चाहता हूँ, मुझे आप आशीर्वाद दें तो मैं कुंज प्राप्त करूँ।

मुनि बिनती मुनिमान, एवमस्तु इति भाखेउ।
तनु तजि भए सनाथ, नित्य-कुंज प्रवेश करि।

अर्थात्, तुलसीदास ने इस बिनती को सुनकर एवमस्तु कहा, और हितहरिवंश जी नित्यकुंज में प्रवेश (शरीर-त्याग) कर सनाथ हो गये। किन्तु प्रथमतः सं० १६२२ वि० तक हितहरिवंशजी के जीवित रहने का प्रमाण मिलता है, क्योंकि "ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास जी सं० १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे," जैसा कि पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं। द्वितीयतः हितहरिवंश जी राधावल्लभीय संप्रदाय के प्रवर्तक थे; उन्हें तुलसीदासजी से तनुत्याग की आज्ञा अथवा आशीर्वाद की क्या आवश्यकता पड़ी थी?

सूरदासजी का आगमन—बाबा वेणीमाधवदास सूरदासजी के विषय में लिखते हैं:

सोरह सौ सोरह लगे, कामदगिरि ढिग बास,
सुचि एकांत प्रदेस महँ आए सूर सुदास।
पठए गोकुलनाथजी कृष्ण-रंग में बोरि,
कवि सूर दिखायेउ सागर को सुचि प्रेम कथा नटनागर को।
दिन सात रहे सतसंग-पगे, पद कंज गहे जब आन लगे।
गहि बाँह गोसाँई प्रबोध किए, पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिए।

अर्थात् सं० १६१६ लगते ही कामदगिरि के समीप वास करते हुए तुलसीदासजी के पास (ब्रजभूमि से) श्री गोकुलनाथजी के द्वारा कृष्ण-रंग में बोरे और भेजे हुए सूरदास जी आये। उन्होंने अपना 'सूरसागर' दिखाया, और वहाँ सात दिन रहकर चलते समय गोस्वामीजी के चरण छुए। तब गोस्वामीजी ने उन्हें बोध, और एक पत्र गोकुलनाथजी के लिए दिया। संवत् १६१६ में श्री गोकुलनाथजी आठ वर्ष के थे, और सूरदासजी ७६ वर्ष के। वे तो कृष्ण-रँग में पहले से ही रंगे हुए थे, और वे वृद्धावस्था में ब्रज को छोड़कर कहीं जाते न थे, नेत्रांध भी थे। डा० ब्रजेश्वर वर्मा को भी यह वृत्तान्त अमान्य है।[1]

याज्ञवल्क्यजी से साक्षात्कार—बाबा वेणीमाधवदास के अनुसार, सं० १६२८ में हनुमान्जी ने प्रसन्न होकर गोस्वामीजी से कहा कि तुम अयोध्या में जाकर रहो। आज्ञानुसार गोस्वामीजी अयोध्या चल दिये। मार्ग में तीर्थराज प्रयाग पड़ा। वहाँ मकर-स्नान के पर्व का आरम्भ था। उस पर्व के ६ दिन पश्चात् वट की छाया में गोस्वामीजी ने दो मुनि देखे और दूर से ही उन्हें प्रणाम किया। उनमें से एक ने गोस्वामीजी को अपने पास बुलाया। वे भूमि पर ही बैठ गये। परस्पर परिचय हुआ। वहाँ वही राम-कथा हो रही थी जो तुलसी-गुरु ने सूकर-खेत में कही थी। इससे विस्मित होकर गोस्वामीजी ने मुनि से गुप्त-मत पूछा, तब याज्ञवल्क्य मुनि ने बताया कि यह कथा शिवजी ने भवानी और काकभुशुंड से कही, एवं काकभुशुंड से मैंने सुनी, पुनः मैंने भरद्वाज को सुनायी। इस प्रकार संतुष्ट हो गोस्वामीजी उस दिन

---

१. सूरदास, पृष्ठ ४१

वहाँ से चले आये। वे पुनः उसी स्थान पर गये, परन्तु वहाँ न तो वट की छाया थी और न वे दोनों मुनि ही, इससे उन्हें बड़ा विस्मय हुआ :

तेहि अवसर उत्तम परब लागो मकर महान,
योगी, यती, तपी, सती, जुरे सयाम-प्रयान।
तेहि पर्व ते पाछे गए दिन छै, बट छाँह तरे जु लख्यो मुनि द्वै।

× × ×

सोइ राम कथा तँह होत रह्यो गुरु शूकर खेत में जौन कह्यो।
विस्मय-युत बूझेउ गुप्त मता कहि जागबलिक मुनि दीन्ह बता।
हर रचि भवानिहिं दीन्ह सोई पुनि दीन्ह भुशुंडिहिं तत्त गोई।
हौं जाइ भुशुंडि तें ताहि लहेउँ, भरद्वाज मुनी प्रति आई कहेउँ।

दूसरे मुनि कौन थे, कुछ पता नहीं। गोस्वामीजी और ऋषि याज्ञवल्क्य का साक्षात्कार खूब हुआ! सोचने की बात है, कब याज्ञवल्क्य और कब तुलसीदास!

राम-जन्म-योग—बाबा वेणीमाधवदास लिखते हैं—

राम-जन्म तिथि बार सब, जस त्रेता-युग मास।
तस यकतीसा महं जुरे, योग, लग्न, ग्रह, रास।

अर्थात्, त्रेता युग में राम-जन्म के समय जो तिथि, वार, योग, लग्न, ग्रह, राशि आदि एकत्र हुए थे वे ही सम्वत् १६३१ वि० की चैत्र शुक्ला नवमी मंगलवार को भी एकत्र हुए थे। यदि बाबा वेणीमाधवदास को यह बात ज्ञात थी तो गोस्वामीजी को भी अवश्य होती। यदि ऐसा होता, तो गोस्वामीजी 'मानस' का आरम्भ करते समय तिथि, वार आदि के साथ-साथ इस बात का भी उल्लेख अवश्य करते, और बड़े गौरव से। ज्योतिष के किसी विद्वान् ने भी अभी तक यह बात ज्ञात नहीं की।

केशवदासजी से साक्षात्कार—बाबा वेणीमाधवदास के अनुसार, संवत् १६४२ के लगभग तुलसीदासजी काशी के असी-घाट पर थे, तब कवि केशवदास उनसे मिलने गये और एक ही रात्रि में उन्होंने 'रामचन्द्रिका' रचकर गोस्वामीजी को दिखायी :

कवि केशवदास बड़े रसिया, घनश्याम सुकुल नभ के बसिया।
कवि जानि के दर्शन हेतु गए, रहि बाहर सूचन भेज दिए।

× × ×

रचि रामसुचंद्रिका रातिहिं में, जुरे केसवजू असि घाटहिं में।

परन्तु केशवदासजी स्वयं अपनी रामचंद्रिका में लिखते हैं :

सोरहसै अट्ठावनै, कातिक सुदि, बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, तब लीनो अवतार।

अर्थात् १६५८ वि० के कार्तिक शुक्ल, बुधवार को रामचंद्रिका अवतीर्ण हुई। बाबा वेणीमाधवदास पुनः लिखते हैं कि सं० १६४६ या १६५० के लगभग गोस्वामी जी को दिल्ली जाते समय ओरछा में कवि केशवदास के प्रेत ने उन्हें घेरा, तब वे गोस्वामीजी की कृपा से बिना प्रयास प्रेत-योनि से मुक्त हो विमान पर चढ़कर स्वर्ग गये। पर कवि केशवदास ने संवत् १६५८ में विज्ञान-गीता और १६६९ में जहाँगीर-

जस-चंद्रिका की रचना की थी। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल केशवदासजी का जन्म संवत् १६१२ वि० में और मृत्यु १६७४ वि० के आस-पास मानते हैं।

नाभाजी से भेंट—बाबा वेणीमाधवदास गोस्वामीजी की व्रज-यात्रा के विषय में लिखते हैं कि तुलसीदासजी नाभाजी के साथ प्रसन्नतापूर्वक मदनमोहनजी के मंदिर में गये और श्री मदनमोहन ने उन्हें राम-भक्त जानकर, धनुष-बाण धारण कर दर्शन दिया :

> **बिप्र संत नाभा-सहित हरि-दर्शन के हेतु,**
> **गए गोसाँई मुदित मन मोहन मदन-निकेत।**
> **राम-उपासक जानि प्रभु तुरत धरे-धनु-बान,**
> **दर्शन दिए सनाथ किए, भक्तबछल भगवान।**

प्रथमतः ध्यान देने की बात है कि नाभाजी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे डोम थे; किन्तु बाबा वेणीमाधवदास उन्हे 'विप्र-संत' लिखते हैं। द्वितीयतः 'दो-सौ-बावन वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है : "सो नंददासजी के बड़े भाई तुलसीदास हते, सो काशी सों नन्ददासजी कूं मिलिबे के लिए ब्रज में आए······। जब नन्ददासजी श्रीनाथजी के दर्शन करिवे कूं गए तब तुलसीदास हूँ उनके पीछे गए······। जब श्री नन्ददासजी ने मन में विचार कीनो, यहाँ और गोकुल में हूँ इनकूं श्री रामचन्द्रजी के दर्शन कराऊँ, तब ये श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानेंगे। जब श्री नन्ददासजी ने श्री गोवर्धननाथजी सों विनती करी, सो दोहा :

> **आज की सोभा का कहूँ, भले बिराजो नाथ !**
> **तुलसी मस्तक तब नमें, धनुस-बान लेओ हाथ।**

"जब श्रीगोवर्धननाथजी ने श्रीरामचन्द्र को रूप धरके तुलसीदास कूं दर्शन दिए तब तुलसीदासजी ने गोवर्द्धननाथजी कूं साष्टांग दंडवत करी।"

क्या नन्ददासजी कान्यकुब्ज थे ?—संपूर्ण वार्ता से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्ति ने नन्ददासजी की प्रार्थना पर धनुर्धर राम का रूप धारण कर गोस्वामीजी को दर्शन दिया था। यह भी ज्ञात होता है कि तुलसीदासजी महाकवि नन्ददास के, जो सनाढ्य ब्राह्मण थे, बड़े भाई थे और अपने छोटे भाई से ब्रज में मिलने आये थे। बाबा वेणीमाधव ने उक्त घटना का विशेष उल्लेख नहीं किया, वे लिखते हैं :

> **नन्ददास कनौजिया प्रेम-मढ़े जिन शेष सनातन तीर पढ़े।**
> **शिक्षा-गुरुबन्धु भए तिहि ते अति प्रेम सों आय मिले यहि ते।**

अर्थात् नन्ददास कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। वे शेषसनातन जी के पास पढ़े थे। वे गुरुभाई थे, अतः वे आकर प्रेमपूर्वक तुलसी से मिले। शेषसनातनजी की सृष्टि और नन्ददासजी को सनाढ्य से कान्यकुब्ज बनाना, यह सब क्यों ? स्यात् इस कारण कि 'श्री गोसाईं चरित्र' के लेखक भवानीदासजी ने भी बरेली वाले नन्ददास और रामपुर वाले नन्ददास को भूल से एक समझ लिया था :

> **कानकुब्ज यक बिप्र नगर कनउज ढिगवासी,**
> **श्रीगोसाँई गुरु बंधु रहे श्रीकृष्ण उपासी।**
> **नंददास सुभनाम स्वच्छ कृत पद जग गावै,**
> **और कुटुम्बी बिप्र पढ़न (?) महि भावै।**

विविध भाँति इरिषा करहिं, पार न पावै पंक वै।
तब मृतक गाइ निसि दास द्विज डारि मृषा कलंक दै॥
भोर भये अपराध लाइ सब मिलि विज छेरे,
कंपमान होइ दास भक्त वत्सल तन हेरे।
अब प्रभु कछु विसाइ लाज बाने की करिये,
होइ षलन को मान भंग हम सांसति टरिये।
करुनाकर गाइ जिआइ तब दास सुजस जग विस्तर्यो।
षल त्रास मानि सब चेत ह्वै आनि भक्त चरनन पर्यो॥
तब ते अधिक सप्रेम होइ करै कृष्ण गुन गान,
आनन्द सो विचरत रहै नंददास सुष-षान।
सुनि आगमन गोसाँई को वृंदावन मों आइ,
मिले पुलकि अति प्रेमते आनँद उर न समाइ।
पद सुनाइ करि भेंट तहँ कियो हास मुसकाइ,
लीला कृष्ण बहुत करी राम अल्प गुन गाइ।
तब कर जोरि विनै कह्यो बिबस बाल अरु दास,
तात मात सौंपहि जह जेहि मति करि विस्वास।
प्रथमहि तुम ही उर धरेउ नंददास अस नाम,
दसरथ दास न क्यों कह्यो रट्तो तिन गुन ग्राम।
दास जौन सरकार को कर दीन्हो तुम मोहिं,
ताहि भजौ दृढ़-प्रेम करि यहै कृपा अब होहि।
सुनिकै अधिक प्रसन्न ह्वै विपुल प्रसंसा कीन्ह,
दृढ़ (मन) भजन करो सदा बहुलिष आसिष दीन्ह।

पर स्वयं नाभादासजी ने कृष्ण-मूर्ति का राम-मूर्ति में परिवर्तित होने की और तुलसीदास को अपने सामने दर्शन देने की अद्भुत एवं अलौकिक घटना का वर्णन अपने भक्तमाल में नहीं किया।

विद्वानों की सम्मति—यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है कि कतिपय प्रसिद्ध विद्वान् अब तक 'मूल गोसाईं-चरित' के विषय में क्या लिख चुके हैं। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' (जिल्द ८, सं० १९८४ वि०, पृष्ठ ५२-५८) में डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कुछ विद्वानों की सम्मतियों का उल्लेख किया है। यद्यपि रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'मूल गोसाईं-चरित' की प्रशंसा की है तथापि उन्होंने तुलसीदासजी की जन्म-तिथि पर संदेह प्रकट किया है। रायबहादुर बाबू हीरालाल भी इस चरित की ओर झुके तो प्रतीत होते हैं, किन्तु वे इस प्रकार लिखते हैं : "यह सत्य है कि वेणीमाधव की सभी बातें विश्वास के योग्य नहीं हैं। उन्होंने अपने गुरु की महिमा इतनी बढ़ाई है कि उन्हें मुर्दा जिलाने, लड़की का लड़का बना देने आदि की शक्ति दे दी है।" स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"इसमें वर्णित अधिकांश घटनाएँ सच जान पड़ती हैं। अलौकिक और मनुष्यातीत जितनी बातें इसमें हैं उनकी मात्र सचाई में सन्देह होता है।" सर जॉर्ज ग्रियर्सन लिखते हैं—"खेद है कि उन्होंने

(पं० रामकिशोर शुक्ल ने) इस बात की सूचना नहीं दी कि यह हस्तलिखित पुस्तक, जिसका जिन्होने सम्पादन किया, कहाँ विद्यमान है और वह किस दशा में है······इस समय मैं मितियों के विषय में ज्योतिष-गणना करने में असमर्थ हूँ।"

पाठकजी की सम्मति—पंडित श्रीधर पाठक उक्त लेख में लिखते हैं कि "हमारी समझ में वेणीमाधव के मूल गोस्वामी-चरित में दी हुई सामग्री गोस्वामीजी के सविशेष जीवन-चरित के लिए अधिकांश में प्रामाणिक और उपयोगी है, केवल जन्म-संवत् को और जन्म-संवत् से रामगीतावली के संकलन के पूर्व तक जो घटना-काल दिये हैं उनकी सत्यता संदिग्ध प्रतीत होती है।···यह कथन कि गोस्वामीजी का साहित्यिक जीवन उनकी ७४ बरस की उम्र में आरम्भ हुआ और ११८ बरस की वयस तक प्रवर्तित रहा—विश्वसनीयता की सामान्य सीमा के परे पहुँचता प्रतीत होता है।······मरण-संवत् की प्रामाणिकता में संदेह का अवसर नहीं, अतः निष्कर्ष निकलता है कि जन्म-सम्बन्धी दोहा मरण-सम्बन्धी दोहे के बाद उसकी नकल में बनाया गया है।······तीर्थाटन समाप्त करके जब गोस्वामीजी चित्रकूट में बरसों के लिए बस गए तब उनके दर्शनार्थ दूर-दूर से साधु, महात्मा आदि आने लगे। उनमें वृन्दावन के हितहरिवंशजी के भेजे हुए उनके प्रिय शिष्य नवलदास भी थे, जिनके हाथों उन्होंने 'यमुनाष्टक', 'राधा सुधानिधि' और 'राधा तन्त्र' की पुस्तकें, मय संवत् १६०६ की जन्माष्टमी की लिखी हुई अपनी पत्री के गोस्वामीजी की भेट को प्रेषित की थीं। फिर सं० १६१६ मे गोकुलनाथजी की प्रेरणा से गोस्वामीजी से मिलने महात्मा सूरदासजी आए और अपना प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ सूर-सागर उनको दिखाने के लिए साथ लाए। तदनन्तर मीराबाई के पद्यबद्ध पत्र के आने का उल्लेख है। इस स्थल पर प्रश्न उठता है कि ये सब साहित्यिक संसर्ग की विशिष्ट घटनाएँ गोस्वामीजी के साधुत्व के कारण हुई थीं, अथवा साधुत्व-सहवर्ती कवित्व की प्रसिद्धि उनका हेतु थी? क्या उनसे यह आभासित नहीं होता कि तुलसीदासजी ने ७४ वर्ष की उम्र से बहुत पहले साहित्यिक कर्मण्यता के साथ संपर्क स्थापित कर लिया था और जिस समय उन्होंने 'रामगीतावली' और 'कृष्णगीतावली' का संकलन और रामचरितमानस का निर्माण किया था, उस समय वे संवत् १५५४ के जन्मे, पौन शताब्दी पुराने शिथिलेंद्रिय, जीर्ण-शीर्ण, जरठ नहीं थे? मरण-तिथि, जो मूल चरित में दी हुई है, ठीक मानी जा सकती है; क्योंकि मूल चरित के कर्ता बाबा वेणीमाधवदास गोस्वामीजी की मृत्यु के समय उनकी सेवा में उपस्थित रहे होंगे, परन्तु उपनयन, विवाह, स्त्री-त्याग, राम-दर्शन, सूरदास-आगमन, टोडरमल-मृत्यु इत्यादि घटनाओं की तिथियाँ बाबाजी को कहाँ से और कैसे प्राप्त हुईं? कहा जा सकता है कि जन्म-तिथि गोस्वामीजी के जन्म-पत्र से ली गई होगी, या स्वयं गोस्वामीजी से मालूम हुई होगी; परन्तु क्या जन्म होते ही माता-पिता से बिलगाए गए बालक का जन्म-पत्र बनाया गया होगा और जन्म-पत्र के अभाव में गोस्वामीजी को अपने जन्म के नक्षत्र, दिवस, तिथि, संवत् का ठीक ज्ञान होगा? सम्भव है, यज्ञोपवीतादि घटनाओं के संवतों का उनको ठीक ज्ञान रहा हो; परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उन घटनाओं के संवत् वेणीमाधवदास को गोस्वामीजी से प्राप्त हुए थे। अब 'मूल चरित' के सम्बन्ध में कुछ वाङ्मय-विवेचना

अपेक्षित प्रतीत होती है। यह कहा जाता है कि इसके रचयिता बाबा वेणीमाधवदास गोस्वामीजी के पट्ट शिष्यों में थे और उनकी सेवा और सहवास में चिरकाल तक रहे थे। परन्तु एक महाकवि के सत्संग का साहित्यिक दृष्टि से उनको कोई प्रशंसनीय फल नहीं मिला, क्योंकि मूल-चरित सारा का सारा अनेक दोषों से परिप्लुत है। तोटक छन्द का उसमें अधिक बाहुल्य है और उसी छन्द में छन्दोभंग का प्रचुर प्राबल्य है। सिवाय दोहों के शेष सभी छन्द रचनाएं न्यूनाधिक अशुद्ध हैं। पृष्ठ २० पर जो एक शार्दूलविक्रीडित दिया हुआ है वह छन्द करके अभिहित है। हरिगीतिका को भी वही नाम प्राप्त है। आश्चर्य है कि जिन गोस्वामीजी ने 'निर्धन भाट दमोदरहि आशिष दै कवि कीन्ह', उनकी शिष्यता में बरसों रहने पर भी वेणीमाधवदास को आदरणीय कविता बनाने की योग्यता प्राप्त नहीं हुई। प्रतीत होता है कि प्रकाशित होने के पहले मूल-चरित में कुछ संशोधन किये गए हैं।"

मिश्रजी की सम्मति—रायबहादुर पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र की आलोचना इस प्रकार है—"इसकी साक्षी अनेकानेक अंशों मे इतनी असम्भव और भ्रष्ट है कि इसके किसी अंश पर भी विश्वास करना बड़े ही श्रद्धालु पुरुष का काम है···वेणीमाधव के 'मूल गोसाईं-चरित' में ओर से छोर तक असम्भव घटनाओं की भरमार है। कुछ उदाहरण लीजिए—

"(१) गोस्वामीजी जन्म के समय ही पाँच वर्ष के थे। वे रोए नहीं और पृथ्वी पर गिरते ही उन्होंने 'राम' कहा। उनके उसी समय बत्तीसों दाँत मौजूद थे।

"(२) जन्म-समय में पाँच वर्ष के होते हुए भी गोस्वामीजी ६५ महीनों में बोलने और डोलने के योग्य हुए। क्या दस वर्षों की आयु होकर बेचारे चल सके? राम नाम तो जन्म के समय ही लिया था, फिर बोलने योग्य होने के लिए ६५ महीनों की कैसे आवश्यकता पड़ी!

"(३) बोलने-डोलने के योग्य तो ६५ महीनों में हुए, किन्तु यज्ञोपवीत ६० की ही अवस्था में हो गया।

"(४) उनकी स्त्री उन्हें पहले तो कुवाच्य कहकर उनके वैराग्य का कारण बनी; किन्तु पीछे से जब मनाने से वे वापस न हुए तो तुरन्त मर गई। इस प्रकार लोग मरकर गिर नहीं पड़ा करते हैं। अन्य साक्षियों ने इसी स्त्री का बहुत पीछे गोस्वामीजी से साक्षात्कार लिखा है, जिसमें कई दोहों में बातचीत लिखी है। वे कुछ दोहे भी तुलसीकृत हैं।

"(५) मीराबाई संवत् १६०३ ही में मर चुकी थीं, किन्तु उनका पत्र सं० १६१६ में गोस्वामीजी के पास आना लिखा है। काल-विरुद्ध दूषण है।

"(६) सं० १६२८ में पहले-पहल ७४ वर्ष की अवस्था में गोस्वामीजी का ग्रन्थ-निर्माणारम्भ लिखा है। इतना बड़ा पंडित तथा सुकवि, इतनी बड़ी अवस्था तक एक भी ग्रन्थ न बनावे और चार-छः बड़े ग्रन्थ बुढ़ापे में रच डाले—ऐसा मानना बड़े ही भोले आदमी का काम है।

"(७) भगवान् की मूर्ति ने भोजन कर लिया तथा पत्थर के नन्दीगण ने

घास खा ली। जब इससे भी ज्यादा घास खावे तब कोई समालोचक बीसवीं शताब्दी में ऐसे अनर्गल वाद को सच्चा साक्षी समझे।

"(८) केशवदास ने रामचन्द्रिका एक ही रात में बना डाली। ग्रन्थ में प्रायः ४० अध्याय हैं और पूरा ग्रन्थ अच्छे पद्यों में है। इतना बड़ा ग्रन्थ एक ही रात मे बन गया—यह बड़ा ही असम्भव कथन है।

"(९) ब्राह्मणों ने सँडीले के मार्ग में गोस्वामीजी का अपमान किया, जिससे वे निर्धन हो गए! ठाकुर क्षितिपाल प्रणाम न करने से कंगाल हो गया, तथा जुलाहे भेद देने से विपुल धन-धान्य पा गए! बादशाह जहाँगीर करामात दिखलाने का उत्सुक होने से वानरों द्वारा पीड़ित हुआ।

"(१०) गोस्वामीजी ने एक दरिद्र-मोचक शिला उत्पन्न कर दी, तब एक स्त्री को पुरुष बना दिया। वास्तव में वेणीमाधवजी की जिह्वा के आगे कोई खाई-खंदक नहीं है। ऐसे ही लोग असम्भव के उदाहरण में दश हाथ की हरड़ वाला कथन करने वाले कवि को भी मात करते हैं।

"(११) एक मरा हुआ मुर्दा आपने उसकी स्त्री के कारण जिला दिया। तीन लड़के आपका एक दिन दर्शन न पाकर मर ही गए और आपने उन्हें तुरन्त जिला भी दिया।

"इस असम्भव एकादशी का वर्णन केवल तीस पृष्ठ के छोटे से ग्रन्थ में प्रस्तुत है। हनुमानजी तो गोस्वामीजी के पीछे ही पीछे फिरा करते थे और रामचन्द्र तथा महादेवजी ने भी इन्हें दर्शन दिए। ऐसे अनर्गल भाषी का एक भी कथन एक मिनट के लिए भी विचारने योग्य नहीं।······केवल तिथि-संवत् आदि लिखने से किसी अनर्गल एवं असम्भव-भाषी के कथन प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकते। इस ग्रन्थ का कोई भी भाग मान्य नहीं है।"

याज्ञिक जी—नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अष्टम भाग (सं० १९८४) में पंडित मायाशंकर याज्ञिक ने भी कुछ महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डाला है :

(क) "संवत् १६१६ में गोकुलनाथजी की आयु केवल ८ वर्ष की थी। गोकुलनाथजी के पिता गोस्वामी विट्ठलनाथजी स्वयं गद्दी पर विराजमान थे। गोकुल-नाथजी के तीन भ्राता भी मौजूद थे। सूरदासजी रहते भी विट्ठलनाथ के पास थे। फिर उनका पत्र न लेकर एक आठ वर्ष के बालक का पत्र लेकर सूरदासजी का आना संभव नहीं प्रतीत होता। बाबा वेणीमाधवदास ने इस सम्बन्ध में गोकुलनाथजी का नाम लिखने में कदाचित् भूल की है।

(ख) "नन्ददासजी और तुलसीदासजी की भेंट के विषय में जिस रीति से वर्णन 'मूल गोसाईं-चरित' में किया गया है, वह भी विचारणीय है। यद्यपि इस भेंट का कोई संवत् गोसाईं-चरित में नहीं दिया गया है, फिर भी जिस क्रम से वर्णन किया गया है, उससे पाया जाता है कि बाबा वेणीमाधवदास के कथनानुसार यह भेंट संवत् १६४९ के पश्चात् हुई होगी; क्योंकि गोस्वामी तुलसीदास संवत् १६४९ में पिहानी के सुकुल से मिले थे। उसके बाद खैराबाद, मिसिरिख होकर रामपुर पहुँचे और वहाँ से चलकर वृन्दावन आए और वृन्दावन में नन्ददासजी से मिले थे। इसलिए यह भेंट

१६४६ के बाद ही गोसाईं-चरित के अनुसार हुई होगी, परन्तु '२५२ वैष्णवन की वार्ता' से पाया जाता है कि नन्ददासजी का वैकुण्ठवास १६४६ से बहुत पूर्व हो चुका था। वार्ता में लिखा है कि तानसेन से नन्ददासजी का एक पद सुनकर अकबर ने नन्ददास जी से मिलने की इच्छा प्रकट की और उनको बीरबल द्वारा श्रीगोवर्द्धन में बुलवाया। नन्ददासजी की देह वहीं छूटी थी। जब यह समाचार विट्ठलनाथजी को विदित हुआ तो उन्होंने नन्ददासजी की बड़ी सराहना की थी। इससे स्पष्ट है कि नन्ददासजी की मृत्यु गो० विट्ठलनाथ और बीरबल दोनों से पहले हुई थी। गोस्वामी विट्ठलनाथ का गोलोकवास सं० १६४२ में और बीरबल का स्वर्गवास सं० १६४० के आसपास हुआ था। नन्ददास जी का देहावसान इससे भी पहले हुआ था। फिर गोसाईं-चरित में सं० १६४६ के पश्चात् नन्ददासजी और तुलसीदासजी की भेंट होना लिखा गया है, यह ठीक नहीं मालूम होता है।······'२५२ वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर कुछ लोग नन्ददासजी को तुलसीदास का भाई मानते थे। वार्ता में नन्ददासजी को सनाढ्य ब्राह्मण लिखा है।······ वार्ता के देखने से उसमें किसी दूसरे सनाढ्य तुलसीदास का वर्णन नहीं पाया जाता, किन्तु गोस्वामीजी का वर्णन पाया जाता है।

(ग) "केशवदासजी के प्रेत-योनि से छुड़ाने का जो समय गोसाईं-चरित में लिखा है वह ठीक नहीं है। गोसाईं-चरित में लिखा है कि दिल्ली से बादशाह का ख़वास गोस्वामीजी को बुलाने आया था। दिल्ली जाने के समय केशवदास को गोसाईंजी ने प्रेत-योनि से छुड़ाया था ···· दिल्ली से लौटकर काशी आने के कुछ समय बाद संवत् १६६६ की वैशाखी पूर्णिमा को गोस्वामीजी के मित्र टोडरमल की मृत्यु हुई थी। अतः केशवदास को संवत् १६६६ के पूर्व ही गोस्वामीजी ने प्रेत-योनि से छुड़ाया होगा, परन्तु संवत् १६६६ तक केशवदासजी का जीवित रहना निश्चित है। इस संवत् में उन्होंने 'जहाँगीर यश-चन्द्रिका' निर्माण की थी।

(घ) "संवत् १६७० के अन्त में जहाँगीर का गोस्वामी से मिलने आना लिखा है, वह भी जाँच से ठीक नहीं ठहरता है। संवत् १६७० के बहुत पहले से गोस्वामीजी का अखंड वास काशी में ही था। इसलिए यदि जहाँगीर गोस्वामीजी से मिलने आया होगा तो काशी ही में आया होगा, परन्तु जहाँगीरनामे के देखने से पाया जाता है कि संवत् १६६६ की चैत बदी ११ से आश्विन सुदी २ संवत् १६७० तक तो जहाँगीर आगरे ही रहा। इस मिति को अजमेर के लिए रवाना हुआ और अगहन सुदी ७ को वहाँ पहुँचा था। पाँच दिन कम तीन वर्ष अजमेर में रहकर कार्तिक सुदी ३ संवत् १६७३ को दक्षिण की ओर रवाना हुआ था। संवत् १६७० या उसके तीन वर्ष बाद तक जहाँगीर आगरा, प्रयाग, काशी की ओर रहा ही था कि गोस्वामीजी के काशी में अखण्ड वास करते हुए उनसे मिलने आया। गोसाईं चरित में संवत् १६७० के अन्त में उसका गोसाईंजी से मिलने आना लिखा है, वह मानने योग्य नहीं है।"

डॉ० गुप्त—"मूल गोसाईं-चरित की ऐतिहासिकता पर कुछ विचार" नामक लेख में डॉ० माताप्रसाद गुप्त निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डालते हैं—

(क) हितहरिवंशजी ने (वेणीमाधवदास के अनुसार) १६०६ वि० की महारास-रजनी, अर्थात् कार्तिक की पूर्णिमा, को शरीर त्याग किया; किन्तु इतना

निश्चित है कि उनका देहान्त १६०६ वि० में नहीं हुआ, क्योंकि ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यासजी १६२२ वि० के लगभग आपके शिष्य हुए थे।

(ख) नाभाजी को 'विप्र-संत' कहा गया है, किन्तु नाभाजी डोम कहे जाते हैं। मन्दिर-दर्शन के विषय में वेणीमाधवदास और '२५२ वैष्णवन की वार्ता' में सामंजस्य नहीं।

(ग) वेणीमाधवदास के अनुसार उदयसिंह को १६२६ वि० में शाही सभाओं में सम्मान मिला, किन्तु इतिहास-लेखकों का मत है कि सम्मान न उदयसिंह को मिला, न प्रतापसिंह को······१६२८ वि० में उदयसिंह की मृत्यु हो गई।

(घ) वेणीमाधवदास के अनुसार टोडरमल के घर का बटवारा उनके दो लड़कों के बीच हुआ; किन्तु पंचनामे से प्रतीत होता है कि वे चाचा-भतीजे थे।

त्रिपाठी जी—पं० रामनरेश त्रिपाठी सटीक रामचरित-मानस की भूमिका में लिखते हैं—"शिवसिंह (सेंगर) ने 'सरोज' में एक ऐसी पुस्तक का हवाला दिया है, जो अब अप्राप्य है। उस हवाले का परिणाम यह हुआ कि उसी नाम की पुस्तक प्राचीन काग़ज़ पर लिखकर या लिखवाकर चतुर आदमियों को तुलसीदास के प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित करने का सुअवसर मिल गया। ······'मूल गोसाईं-चरित' को मैं······एक नव-निर्मित पुस्तक मानता हूँ। मैने उसे ध्यान से पढ़ा है, उसके एक-एक शब्द और मुहावरों पर विचार किया है, तब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उसकी आयु अभी बहुत थोड़ी है।······'मूल गोसाईं-चरित' की भाषा मुझे तीन-सौ वर्ष पुरानी मालूम नहीं होती। एक साधारण तुकबन्द ने, ग़ैर-ज़िम्मेदारी के साथ जो कुछ उसके मग़ज़ में से निकला, या निकलवाया गया, बे-सिर-पैर के पद्यों में निकालकर रख दिया है। हमें उसका कहाँ तक विश्वास करना चाहिए?······'मूल गोसाईं-चरित' हमें भ्रमपूर्ण और असत्य बातों से भरा मिलता है। हम उसे गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन-चरित के लिए बिल्कुल ही विश्वास-योग्य नहीं मानते, वह किसी अनधिकारी व्यक्ति का लिखा हुआ जान पड़ता है। संभव है, उसका उत्पत्ति-स्थान कनक-भवन अयोध्या हो।"

'तुलसीदास और उनकी कविता' नामक ग्रन्थ में त्रिपाठीजी इस प्रकार विचार करते हैं: 'उसकी भाषा तीन सौ वर्षों की पुरानी नहीं मालूम होती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

एक दासि कढ़ी तेहि अवसर में, कहि देव बुलाहट हैं घर में।

"हमें इस 'बुलाहट' के हट को देखकर संदेह हुआ था, क्योंकि 'हट' प्रत्यययुक्त शब्द जैसे—घबराहट, मुस्कराहट, चिल्लाहट आदि बहुत प्राचीन नहीं हैं, कम से कम मुझे किसी प्राचीन कवि की कविता में अभी तक नहीं मिले। हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-अध्यापक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को मैंने पत्र लिखकर और फिर मिलकर भी पूछा। वे भी 'हट' को प्राचीन नहीं मानते।" "सत्यं शिवं सुन्दरं" ने तो मूल-चरित के आधुनिक रचयिता को अंधेरे में से खींचकर उजाले में लाकर खड़ा कर दिया है। 'सत्यं शिव सुंदरं' संस्कृत का प्राचीन वाक्य है, पर अभी थोड़े दिनों से हिन्दी-वाक्यों में इसने

प्रवेश पाया है। तुलसीदास ही ने नहीं किया तो उनके एक साधारण पढ़े-लिखे कलिख चेले की क्या बिसात थी, जो इस वाक्य तक पहुँचता।"

शुक्लजी—पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' * में इस विषय पर विचार किया है। उनका कथन है कि अयोध्या में एक ऐसा निपुण दल है जो समय-समय पर पुस्तकें प्रकट करता रहता है। उनकी सम्मति में 'सत्यं शिवं सुंदरं' अंग्रेजी के 'द ट्रयू, द गुड, द ब्यूटिफुल' का अनुवाद है, जो ब्रह्म-समाज के द्वारा बंगाली साहित्य में और फिर हिन्दी में प्रविष्ट हुआ।

निष्कर्ष—तथ्य यह है कि 'मूल गोसाईं-चरित' परीक्षा की कसौटी पर ठीक नहीं उतरा है, भाषा और इतिहास की दृष्टि से भी खरा नहीं है। यह जिस समय का रचा हुआ बताया जाता है, उससे कहीं पीछे का है। चमत्कारों असम्भवों घटनाओं और इतिहास-व्यतिक्रमों ने तो इसकी मौलिकता का अपहरण कर लिया है।

(ग) 'घट रामायन' की आलोचना

संस्करण—'घट रामायन' नामक पुस्तक हाथरस वाले तुलसी साहब की कृति बताई जाती है। इसका सर्व-प्रथम प्रकाशन मुंशी देवीप्रसाद साहब, उर्फ देवी साहब ने, तत्पश्चात् स्व० रायबहादुर बालेश्वर प्रसाद ने 'अधम' उपनाम से कतिपय प्रतियों के आधार पर उसे संशोधित कर बेलबेडियर प्रेस, प्रयाग से १९११ ई० में प्रकाशित किया। तब से इसके तीन संस्करण हो चुके हैं। मेरे सामने १९३२ का चौथा संस्करण है।

तुलसी साहब का जीवन चरित—उक्त संस्करण में तुलसी साहब का जीवन-चरित भी सम्मिलित है। इससे पता चलता है इनके पिता ने इनका नाम श्यामराव रखा था। इनके छोटे भाई थे पेशवा बाजीराव द्वितीय, और इनकी स्त्री का नाम था लक्ष्मीबाई। यद्यपि इनके पिता इन्हें ही गद्दी देना चाहते थे, तथापि स्वभावतः विरक्त होने के कारण गद्दी पर बैठने के एक दिन पहले ही वे घर छोड़कर भाग गये। इनकी बड़ी खोज हुई, "पर जब कहीं पता न लगा तो अति उदास व निराश होकर (पिता ने) राज्य को त्याग किया और अपने कुँवर बाजीराव को गद्दी पर बैठाया। तुलसी साहब कितने ही बरसों तक जंगलों, पहाड़ों और दूर-दूर शहरों में घूमे और हजारों आदमियों को उपदेश देकर सत्य मार्ग में लगाया और कई बरस पीछे जिला अलीगढ़ के हाथरस शहर में आकर पक्के तौर पर ठहरे और वहाँ अपना सतसंग जारी किया। घर से निकलने के बयालीस बरस पीछे वह अपने छोटे भाई राजा बाजीराव से बिठूर (जिला कानपुर) में मिले थे जहाँ कि बाजीराव गद्दी से उतारे जाने पर संवत् १८७६ में भेज दिये गये थे ......तुलसी साहब के उत्पन्न होने का संवत् 'सुरत विलास' में नहीं दिया है, पर यह लिखा है कि उन्होंने अनुमान-अस्सी बरस की अवस्था में जेठ सुदी २ विक्रमी संवत् १८९९ या १९०० में चोला छोड़ा। इससे उनके देह-धारन करने का समय संवत् १८२० के लगभग ठहरता

---

* १९४० ई०, पृष्ठ १५०-१५१

है। हाथरस में उनकी समाधि मौजूद है और बहुत से लोग वहाँ दर्शन को जाते हैं और साल में एक बार भारी मेला लगता है।"

इतिहासकारों की कथा कुछ भिन्न है। विंसेंट स्मिथ ने सातों पेशवाओं की वंशावली में श्यामराव अथवा तुलसी साहब का उल्लेख नहीं किया है। इस वंशावली के अनुसार बाजीराव द्वितीय के बड़े भाई थे अमृतराव, किन्तु ये दत्तक भाई थे। पूना-युद्ध (१८०२) के पश्चात् बाजीराव (द्वितीय) भाग गये थे और जब जसवन्तराव होल्कर ने गद्दी पर पुनः बैठने के लिए बुलाया और वे न आये तो दत्तक-भाई अमृतराव को ही गद्दी पर बैठा दिया, किन्तु आर्थर वेलेज़ली ने होल्कर के आदमी अमृतराव को हटाकर बाजीराव द्वितीय को गद्दी पर बैठाया। अमृतराव को मुकाबला करने की इच्छा न हुई और उसे पेंशन लेकर बनारस रहना ही सन्तोषप्रद प्रतीत हुआ। इस वृत्तान्त से पता चलता है कि श्यामराव अथवा तुलसी साहब नामक बाजीराव द्वितीय का कोई बड़ा भाई न था और न वह स्वेच्छा से ही विरक्त हुआ। सम्भव है श्यामराव नामक कोई व्यक्ति बाजीराव द्वितीय का कोई रिश्तेदार हो। यदि ऐसी बात थी तो बाजीराव के पिता रघुनाथराव (राघोबा) को क्या आवश्यकता थी कि वे अपने दो औरस पुत्रों को छोड़ किसी कुटुम्बी या अन्य सम्बन्धी को गद्दी पर बैठाते ? और गद्दी पर बैठाने का उन्हें अधिकार ही कहां था; क्योंकि सालबाई की संधि (१७८५) के अनुसार उन्हें पेंशन लेनी पड़ी थी और बाजीराव को भी उन्होंने गद्दी पर नहीं बैठाया।

यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि जुलाई १९५९ में मुझे तुलसी साहब के जीवन पर एक पुस्तिका प्राप्त हुई। उसका नाम है : "हाथरस वाले सतगुरु श्री तुलसी साहब की बानी और जनम कथा।" इसे श्री सूरस्वामी ने लिखा और गुरु चरनदास लाहौरी ने सतगुरु-आश्रम, अनारकली गेट, लाहौर (वर्तमान हाथरस) से इसका तृतीय संस्करण फरवरी १९३० में प्रकाशित किया। यद्यपि इस पुस्तिका से सोरों-सामग्री का समर्थन होता है तथापि मुझे इसकी प्रामाणिकता में अभी तक दो कारणों से पक्का विश्वास नहीं। प्रथमतः इस पर कहीं भी मुद्रण-यंत्रालय का नाम नहीं; द्वितीयतः इसके मुद्रण का उल्लेख किसी सरकारी ग़ज़ट अथवा अन्य किसी तत्कालीन पुस्तक में मुझे अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। जिज्ञासा-शांति के निमित्त उक्त पुस्तक का सार निम्नांकित है। श्री सूर स्वामी नाम के कोई कान्यकुब्ज ब्राह्मण तुलसी साहब के शिष्य और भण्डार के अधिकारी थे। वे अपने गुरु तुलसी साहब का परिचय इस प्रकार देते हैं :

भदावर राज के वटेश्वर में मल्हारे नाम का कोई मल्लाह था, जिसकी चार नावें यमुना पर चलती रहती थीं। वह छदाम की कौड़ी में यात्रियों को पार लगा देता और साधु-सन्तों की सेवा में सदा रत रहता था। उसकी पत्नी का नाम रूपा था। उनके सात पुत्र हुए जो जाते रहे। अंतिम और आठवें पुत्र तुलसी साहब थे जिनका आविर्भाव १८२९ वि० की कार्तिक पूर्णिमा मंगलवार अर्थात् १० नवम्बर १७७२ ई० को हुआ था। उस समय रजनीश मेष के थे। यह तिथि गणना से शुद्ध है :

कातिक ठारहसो उनतीसा । पूनम भौम मेष रजनीसा ।। ४४,१

उस दिन वटेश्वर में बड़ा भारी मेला था, लाखों पशु नर और नारीं आए हुये थे; किन्तु जन्म का उत्सव नहीं मनाया गया। और बालक मुस्कराकर दूध पीकर सो गया। सब लोग उसे तुलसी कहते थे। वह सब पर रह जाता, अतएव सभी लोग उसे खिलाना चाहते थे। भूखे रहने पर भी वह कभी झुंझलाता न था। वह बोलता न था, अतएव लोग उसे गूँगा समझते थे। जब वह ग्यारह वर्ष का हो गया तो उसकी माता मरने लगी और घरवाले रोने लगे। तब तुलसी ने माता के चरणों की वन्दना की और माता-पिता को शिक्षा दी जिससे रूपा को प्रसन्नता हुई। माता की मृत्यु के पश्चात् तुलसी अपने पिता के साथ नाव खेते और जब कभी किसी संत के आगमन की सूचना पाते तो दौड़कर उसके पास जाते। इस प्रकार वे जैन, कबीर, दादू, दरिया की वाणियाँ सुनते। उन्होंने गीता, भागवत तथा तुलसीदासजी की रामायण भी सावधान होकर सुनी और अनेक यज्ञ होते देखे, मौलवियों के उपदेश सुने; किन्तु उन्हें किसी में तत्त्व नहीं जँचा। तुलसी अब बीस वर्ष के हो गये थे। पिता चाहते थे कि तुलसी विवाह कर ले, पर तुलसी सहमत न हुए, यद्यपि वे पिता के परम आज्ञाकारी थे। बड़े-बूढ़े बदरीनाथ जा रहे थे। सल्हारे भी चले गये; किन्तु वहाँ से लौटते समय मार्ग में दिवंगत हो गये। तुलसी ने ज्योंही अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुना त्योंही उन्होंने सर्वस्व त्याग कर दिया। वे बटेश्वर छोड़कर बहुत समय तक काशी और मगह में रहे और बुद्ध-गया भी गये। बंगाल, उड़ीसा, दक्षिण, कश्मीर, पंजाब और मारवाड़ में घूमे, तदनन्तर नीमसार और हरिद्वार में बसकर आगरा आ गये। विचरण करते-करते एक दिन तुलसी हाथरस के जोगिया ग्राम में चले आये और अपने मत का प्रचार करने लगे। अनेक छीपी, कंजर, कोरी, कहार, धानुक, धोबी, धुना, चमार, तेली, खटीक, कुम्हार, गड़रिया, काछी, लोधे, बढ़ई और अहीर उनके शिष्य थे, जिनमें से प्रमुख थे जैना और नैनू भाट, मुराव, हिरदै अहीर, फूलदास भीमा बनजारे और कमलनैन कायस्थ। भक्तों की प्रार्थना पर तुलसी साहब हाथरस किले के निकट कुटी में बस गये और १९०२ वि० की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया शनिवार को स्वर्ग सिधारे। गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में उनका उल्लेख है:

गंगा सूकर खेत भा बाम्हन तुलसीदास।
तिन रामायन रचि करया भरम पंथ परगास ।।१५।।

निर्माणकाल—'घट रामायन' कब बनी? इसी पुस्तक में कई स्थलों पर आभ्यन्तर साक्ष्य के अनुसार इसका प्रारम्भ मंगलवार, भाद्रपद शुक्ला एकादशी संवत् १९१८ को हुआ। तुलसी साहब लिखते हैं—

सम्मत सोला सै अट्ठारा। घट रामायन लिखिसारा।। पृ० ४१२
घट रामायन सार। सोलह सै अठरा कही।। पृ० ४१३
सोलह सै अठरा के माहीं। घट रामायन कीन्ह बनाई।। पृ० ४१३
सम्मत सोलह सै अट्ठारा। घट रामायन साज सँवारा।। पृ० ४१३

सम्मत सोलह सै अट्ठारा। उठी मोज ग्रंथ कियो सारा॥
भादों सुदी मंगल एकादसी। आरम्भ कियो प्रथममनमासा॥ पृ० ४१७

पुस्तक को गुप्त करने के कारण—प्रश्न उठता है कि यदि यह पुस्तक तुलसी साहब ने गोस्वामी तुलसीदास के रूप में १६१८ संवत् में लिखी तो गोस्वामीजी की अन्य पुस्तकों की भाँति इसका पता लोगों को क्यों न था? इस शंका का समाधान स्वयं तुलसीं साहब ने इसी ग्रंथ में करने का प्रयत्न किया है। आपका कथन है कि आपने 'घट रामायन' १६१८ में तो बनाली थी, किन्तु काशी में लोगों ने इसका बड़ा विरोध किया। जब इसका बड़ा शोर मचा तो स्वयं गोस्वामीजी ने इसको गुप्त कर दिया और तुलसी साहब का चोला धारण कर पुनः प्रकट कर दिया।

जग अबूझ कारन हम गाई। जो करै इष्ट राम से भाई॥
जो हम न्यारा भेद सुनावैं। तो जग माँहि रहन नहिं पावैं॥
तासे न्यारा भेद न भाखा। संत भेद हम गुप्तै राखा॥
भेद ग्रंथ में गुप्त लखावा। पुनि काहू की दृष्टि न आवा॥ पृ० २५३

कासी में भया सोर, तेरह को लिया चोर।
तुलसी भ्रम ज्ञान जोर, घोर नगर माँही।
तुलसी साध रहत, तेरह कीना अचेत।
तासे कोउ करो न हेत, देत जादू जाई। पृ० ३२४

घट रामायन सुनि भो सोरा। कासी नगर भया घन घोरा॥
पंथ भेष जग लड़न खखारा। घट रामायन परी पुकारा॥
अस सुन सोर भयो जग माँही। सहर मुलक गँवईं गाँई॥
भेष पंथ में अचरज भइया। दरसन भेष लखन को अइया॥ पृ० ३८६
कासी में चोल उड़ाई। तब हमने गुप्त छिपाई॥ पृ० ४१२
पंडित हिरदे से भयो झगरा। और भेष जग कासी सगरा॥
तब तुलसी मन कियो विचारा। घट रामायन गुप्तकरि डारा॥ पृ० ४१३
सुनि कासी में अचरज कीन्हा। सोर नगर में भयो अलीना॥
पंडित जग्त जैन और तुरका। भयो झगरा आइ कासी पुरका॥
पंडित भेष जगत मिलि सारा। घट रामायन परी पुकारा॥
जो कुछ झगरा रीति जस भाँती। जस जस भया दिवस अरु राती॥
तासे ग्रंथ गुप्त हम कीन्हा। घट रामायन चलन न दीन्हा॥ पृ० ४१७-१८

संसार को भ्रम में डालने के लिए रामचरितमानस की रचना—उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'घट रामायन' ने ऐसी खलबली मचा दी थी कि दिन-रात झगड़ा होने की आशंका रहती थी। अतएव गोस्वामीजी ने उसे गुप्त कर दिया। किन्तु यह बात विचारणीय है कि 'घट रामायन' का नाम क्या शहर, क्या गया-बीता ग्राम, सभी जगह फैल गया था और लोग गोस्वामीजी के दर्शन के लिए आते थे, जैसा कि उक्त उद्धरण से स्पष्ट है। प्रसिद्धि तो अच्छी बात थी, पुस्तक तो विचार-प्रसार की दृष्टि से ही लिखी जाती है। यदि घट-रामायन के कारण गोस्वामीजी के पास लोग दूर-दूर से दर्शन करने को आते थे तो वे काशी छोड़कर अन्यत्र जा

सकते थे। साधु के लिए क्या काशी, क्या मथुरा, क्या प्रयाग, क्या मगहर, सभी बराबर हैं। गोस्वामीजी काशी के शोर से इतने डर गये कि उन्हें 'घट रामायन' गुप्त कर देनी पड़ी। कबीर का भी बड़ा विरोध हो चुका था, किन्तु वह महापुरुष तो अड़ा ही रहा। भक्तों के दर्शनार्थ आने पर भी काशीवालों के डर से 'घट रामायन' उन्हें गुप्त करनी पड़ी। बात यहाँ समाप्त नहीं होती है। यहाँ तक भी ग़नीमत थी। उन्होंने एक काम और किया—उन्होंने 'घट रामायन' के पश्चात् १६३१ में ऐसा रामचरित बनाया जिससे सारा संसार भ्रम में पड़ जाय। तुलसी साहब के वचन हैं—

तासे गुप्त हम कीन्हा। घट रामायन चलन न दीन्हा॥
या से संत मते की रीति। जगत अजान न जाने रीति॥
संवत् सोलासै इकतीसा। रामचरित्र कीन्ह पद ईसा॥
ईस कर्म औतारी भावा। कर्म भाव सब जगहि सुनावा॥
जग में झगरा जाना भाई। रावन राम चरित बनाई॥
पंडित भेष जगत सब झारी। रामायन सुनि भये सुखारी॥
अंधा अंधे विधि समझावा। पृ० ४१७-४१८
रावन राम कीन्ह संवादा। तब काशी में चली अगाधा॥
तुलसीमता कोई नहिं चीन्हा। गुप्त भेद सब जग से कीन्हा॥
ये भौसागर जगत पसारा। तुलसी मता मते कीलारा॥
जग में वस्तु कोई नहिं चीन्हा। जा से ग्रन्थ गुप्त कर दीन्हा॥
रामचरित्र बनाय जगत भूल भ्रम ताहि में। पृ० ४१४

पर गोस्वामी तुलसीदास ने तो और भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिन सब में उनका दार्शनिक सिद्धान्त प्राय: एकसा ही है और राम में उनकी अटल भक्ति उनके सभी ग्रन्थों में लक्षित होती है।

प्रस्तुत 'घट रामायन' मूल रूप में है अथवा सार रूप में?—कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीसाहब गोस्वामीजी की घट रामायन नहीं कह रहे हैं किन्तु उसका सार मात्र कह रहे है।

काल करे जिव हानि, तुलसीदास तत सम रहो।
घट रामायन सार, मथि काया विध घट कह्यो॥ पृ० २१
घट रामायन सार, यह घट माँहि घटाइया।
घट का मथन विचार, भिन्न करि डारिया॥ पृ० २६
रामायन घट सार, सुरति शब्द से लखि परै।
गगन कंज कर बास, ऊपर चढ़ि जिन देखिया॥ पृ० ४६
घट रामायन सार, ये अगार गति यों कही।
बूझै बूझनहार बिन सतगुर पावै नहीं॥ पृ० ७६
सम्मत सोलासै अट्ठारा। घट रामायन लिखि सारा॥ पृ० ४१२
घट रामायन सार, सोलहसै अठरा कही।
सही भई नहिं सार, लार निकट कासी बसै॥ पृ० ४१३

यदि यह पुस्तक वास्तव में गोस्वामीजी की 'घट रामायन' नामक किसी कृति का सार है तो इसका नाम 'घट रामायन सार' होना चाहिए था। 'घट रामायन' नाम से तो भ्रम फैलता है, क्योंकि जो कृति वास्तव में गोस्वामीजी की नहीं है वह उनकी बताई जाती है। यह गोस्वामीजी के विचारों का सार भी है या नहीं यह तो पाठक सम्पूर्ण आलोचना को पढ़कर और गोस्वामीजी के ग्रन्थों का मनन और मंथन कर निश्चय कर सकते हैं।

घट रामायन का विषय—'घट रामायन' का विषय क्या है? इस पुस्तक में भेद पिंड और ब्रह्मांड, नीर भेद, गगन भेद, सूक्ष्म त्रिकुटी भेद, नाल भेद, सुन्नि भेद, जोगभेद, सिद्धों के नाम, प्रकृति भेद आदि कई प्रकरण हैं। इसमें कुछ विरोधी पुरुषों के शुभनाम और विवाद-संवाद भी सम्मिलित हैं जिन्होंने संतमत स्वीकार कर लिया था, यथा—तकी मियाँ, मानगिरि संन्यासी, फूलदास कबीरपंथी, गुसाईं प्रियेलाल, और पलकराम नानक पंथी। डॉ० रामकुमार वर्मा ने तुलसी साहब को आवापंथ का प्रचारक बताया है। तुलसी सासब ने 'साध' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है और एक स्थल पर गोस्वामी तुलसीदास के लिए काशी के पंडितों से कहलाया है 'तुम्हरा साधमता तब जानी,' पृष्ठ १२७। इनके दार्शनिक विचार का सार उस संवाद से अच्छा विदित होता है जो मानगिरि संन्यासी के साथ हुआ था।

तुलसी साहब के दार्शनिक विचार—"स्वामीजी, तीन लोक बैराट नाश होकर कहाँ समाते हैं?

"ब्रह्म निराकार जोति तीन लोक बैराट नाश होकर सुन्न में समाता है। सुन्न नाश होकर महासुन्न में समाता है। महासुन्न के परे सत्त लोक है जहाँ सत्त साहब रहता है, यहाँ प्रलय और महाप्रलय की गम नहीं।

"सत्त साहिब की लहर से महासुन्न होता है, महासुन्न से सुन्न, सुन्न से शब्द, शब्द से ब्रह्म, ब्रह्म, से जोति निराकार, निराकार जोति से मन, मन से जक्त, ब्रह्मा, बिष्णु, शिव, वेद सब उत्पन्न होते हैं।" पृष्ठ १७९

अगले पृष्ठ पर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए तुलसी साहब कहते हैं—

"ब्रह्मा बिस्नु और महदेवा। नास भये जन मत के मेवा॥
मन को नास सुनो पुनि भाई। मन नसि गया निरंजन माई॥
नास निरंजन ब्रह्म समाना। ब्रह्म जो नसा सब्द में जाना॥
सब्द नास जो सुन्न समाना। सुन्न नास महासुन्न में जाना॥
यहँ से उतपति परलय होई। आगे भेद न जाने कोई॥
वहँ से आवैं यहँ लै जावैं। आगे भेद न कोई पावैं॥
सत्त लोक महा सुन्न कहाई। तीन लोक सब सुन में जाई॥
तीनि लोक करता नहिं जावैं। वा पद को कोई संत समावैं॥

पहले कहा था कि 'महा सुन्न के परे सत्त लोक है' और 'सत्त साहिब की लहर से महा सुन्न' होता है, पीछे कहा है कि "सत्त लोक महासुन्न कहाई।"

जैन और सनातन धर्म के विरोधी विचार—तुलसी साहब को कदाचित् वेद, शास्त्र, पुराण, अवतार एवं राम-कृष्ण के नाम से चिढ़ थी जैसा कि आगे निर्देश

किया जायेगा। वे मूर्ति-पूजा के भी विरोध में थे और उन्होंने जैनियों पर इस विषय में आक्षेप किया है कि

जैनी जो जैन नैन सूझै नाई। आतम को छोड़ि पुजै पाहन जाई॥ पृ० ६६

पुस्तक की भाषा—पुस्तक की भाषा प्रधानतः खड़ी बोली और व्रजभाषा है किन्तु इसमें पंजाबी और फ़ारसी शब्दों का भी मिश्रण है। मैं भाषा पर गम्भीर विचार नहीं करना चाहता अतः पाठकों को निम्नलिखित कतिपय उदाहरण देकर ही सन्तुष्ट हूँ—जिवरा, उद्र (उदर), जग्त (जगत्), सुषम्म, पलक्क, अलग्ग, विलग्ग, प्रमातम (परमात्मा), खलक्क, पिछाना (पहिचाना), अरजुन्न, जतन्न (यत्न), तप्प, गत्ति (गति), वरन्न, ज्वाब (जवाब), स्वाल (सवाल), कधी (कभी), तत्त (तत्त्व), निर्ख, पिरथम्म (प्रथम), खुद्द (खुद), रब्ब (रब), अक्कल, दा, पदीदा, कीदा (किया), दूरबीन, तलव, इस्क, तबक, गह्यो, कह्यो, खायो, हतो, बसेरो, चेरो, बचायो, सुनायो, रह्यो, दिया, किया, हुआ, रहा, आया। यद्यपि गोस्वामीजी राजापुर में जन्मे और काशी में रहे, जैसा कि 'घट रामायन' के अंत में लिखा है, तथापि उस कृति में अवधी का अभाव है।

अभूतपूर्व व्युत्पत्तियाँ—नीचे के उद्धरणों में वृन्दावन, दशरथ, लक्ष्मण, कौशल्या, कैकेयी, मंथरा, मन्दोदरी, भरत, शत्रुघ्न आदि रामचरित मानस के पात्रों की अश्रुत एवं अपूर्व व्युत्पत्तियाँ हैं, जिन्हें कदाचित् गोस्वामी तुलसीदास मान्यता प्रदान न कर सकते थे।

बिन्द से बना बिन्द्रावन होई। जग के माहीं रहा समोई॥ पृ० २८४
बिन्द्रावन बिंद कीन्ह सोई सांचा। गुसांई गोपी के साथ बन बन नाचा॥
पृ० २८६

इंद्रजीत जीते मन ही को। सो इन्द्र जीत कहाई॥
रावन ब्रह्म बसै मन बोरी। ताको मन्दोदरी बनाई॥
मन की डोर को दूर बहावे। त्रिकुटी ब्रह्म कहाई॥
दस इंद्री रत दसरत कहिये, राम रमा मन जाई।
सत की सीता असत सिया को, कुमति कौशल्या बसाई।
मन थिर सुरति करे थिर कोई, सो मन मंथा कहाई।
वहाँ की बात कहो कौन सुनाई, कर्म न थिर केकाई।
ले छै रस मन ही को भाई, लछमन बीर बड़ाई।
गो में रूढ़ गरूढ़ गिनाई, भय ले भसुंड भुलाई।
भय रत भरत भरत हे सोई, चाह चाह त्रिगुन्न गिनाई।
तो को नाम चतुर गुन कहिये, ये सब भेद बताई। पृ० २१५

अनास्था—तुलसी साहब को शुकदेव, व्यास, जनक, नारद, वेद, शास्त्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ज्ञानी, व्रत, तीर्थ, अवतार और संस्कृत में आस्था न थी, पर तुलसीदासजी को तो थी।

काया खोज किया नहिं भाई। सुकदेव रहे भूल के माई॥
व्यास जनक नारद नहिं माई। कथि पुरान आतम गति गाई॥

ज्ञानी भूले भर्म में, परम हंस ब्रह्म चार ॥
सास्तर संघ बिचारिया, बहे कर्म की धार ॥ पृ० २३
तिनमें रहै त्रिभवनी घाटा। ब्रह्मा विष्णु न पावैं बाटा ॥
संकर जोगी सिद्ध अनूपा। उनहूँ न पायो आपन रूपा ॥ पृ० २५
ब्रह्मा वेद नसाय बिस्नु सिव ना बचैं। बचैं नहीं बैराट कहनि कहो को पचै ॥ पृ० ६२
पानी नहि पवना अगिन न भवना, वेद भेद गति नाहिं लई।
ब्रह्म नहिं बिस्ना राम न किस्ना, सिब सिद्धि नहिं पार लई।
ब्रह्म बिस्नु भये महादेवा। इनको उतपति मन मत भेवा ॥
सास्तर वेद संस्कृत बानी। ये सब मन मत गति उतपानी ॥
दस औतार जगत जग माया। यह मन और अनेक उपाया ॥
ऋषी मुनी जोगी सुर ज्ञानी। मन करता कर सब मिलि मानी ॥
तीरथ बरत वेद ब्योहारा। जग भूला मन जाल पसारा ॥ पृ० ३६

तुलसी साहब और तुलसीदास के दृष्टिकोणों में अन्तर—गीता कहती है, 'त्रैगुण्यविषया वेदा:' और गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—'विधि हरि संभु नचावन हारे।' किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि गोस्वामीजी को 'राम' शब्द कितना प्यारा था। उनको दशरथ के सुत कितने प्यारे थे और तुलसी साहब का भाव राम-कृष्ण के प्रति क्या था ?

जिनकी रज पावन राम और रावन, नि:अच्छर सार सही। पृ० १२
नहि राम अरु रावन यह गति पावन, अगुन सगुन गुन नाहि कही। पृ० २६
जासे नाम भेद नहिं जानै, मनहि राम को नाम बखानै।
नाम गती है अगम अपारा, ब्रह्म राम दोउ पावैं न पारा ॥ पृ० २६
रावन राम सकल परिवारा। ये घट भीतर चुनि चुनि मारा ॥ पृ० ४३
राम राम जो जपै अघाई। जाको जनम अकारथ जाई ॥ पृ० १५१
राम करम बस भौ के माई। संत अगम घर नित प्रति जाई ॥
राम कांच सम को मत जाना। संत गती हीरा परमाना ॥
दो पैसे में जग ले आवै। राम कांच मन जग को भावै ॥
संत अगम हीरा गति न्यारी। केहि बिधि पावै जगत भिखारी ॥ पृ० २४३
राम आप कर्मन बस परिया। कहो तासैं जग कसकस तरिया ॥ पृ० २४४
बोल राम रित चेला थापा। बुद्धि गई तु बूड़े आपा ॥ पृ० २४५
राम-कृष्न दोऊ बटमारा। सिव ब्रह्मा मिलि फाँसी डारा ॥ पृ० २६७
त्रेता रामचन्द्र भये राजा। भूले वोहू देह सुख काजा ॥
तिरया काज कीन्ह संग्रामा। बन बन फिरे लछमन अरु रामा ॥
कुल आतम रावन को मारा। आतम हति लीन्हा सिर भारा।
आतम पाप अनीती कीन्ही। बालिहिं मारि काल गति लीन्हीं ॥
ये अधर्म कीन्हा अन्याई। आतम मारि दया नहिं आई ॥ पृ० ३३०
करता राम भया मति हीना। कपट मिरग उनहूँ नहि चीन्हा ॥

तिरिया काज कीन्ह सब कामा। लीन्हा भोग कीन्ह सोई रामा॥ पृ० ३३०
रामकृष्ण अग हाथी जाना। सोउ वहे कर्म लपटाना॥ पृ० ३३१

क्या गोस्वामी तुलसीदास राम को 'बटमारा' 'मतिहीना' बताकर मार सकते थे अथवा उन्हें काँच समझकर उनकी अवहेलना कर सकते थे ? क्या वे रावण को राम से कहीं अधिक अथवा बराबर मान सकते थे ? तुलसी साहब की आस्था तो रावण पर राम से कहीं अधिक है। उनके 'घट रामायन' में रावन ब्रह्म है और त्रिकुटी लंका है। वे लिखते हैं—

रावन ब्रह्म कहा जोई। कुटी लंक ब्रह्म है सोई। पृ० ४२
रावन ब्रह्म बसं त्रिकुटी में। लंक त्रिकूट बनाई॥ पृ० २१५

रावण के परिवार तक की सुन्दर व्याख्या है। रावण की पत्नी मंदोदरी तो 'मन की दौर को दूर' बहाने वाली किन्तु रामपत्नी सिया असत्, राम-माता कौशल्या कुमति और राम-पिता विषयी हैं—

रावन ब्रह्म बसं मन दौरी, ताको मंदोदरी बनाई।
मन की दौर को दूर बहावै, त्रिकुटी ब्रह्म कहाई।
दस इंद्री रत दसरत कहिये, राम रमा मन जाई।
सत की सीता असत सिया को, कुमति कौसिल्या बसाई॥ पृ० २१२

किन्तु गोस्वामी तुलसीदास को अवश्य इस उक्ति से असंतोष होगा।

रामनाम का विरोध—तुलसी साहब रामनाम के विरोध में इस प्रकार युक्ति देते हैं :—

राम लिखौ पत्थर के माई, पानी डारि देखि लो भाई।
जो पत्थर पानी नाहिं बूड़ा, तो तुम जानो राम अगूढ़ा।
पत्थर डूबे राम लिखे से। तो तुम बुड़िहो राम कहे से।

पर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने सभी ग्रंथों में रामनाम की कितनी महिमा गायी है।

मिथ्या तिथियाँ—डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं कि तुलसी साहब ने सात मितियों का उल्लेख किया है जिनमें से केवल तीन में बार दिया हुआ है, अतः अन्य मितियों के तथ्यातथ्य के बिषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। जिन मितियों के तथ्यातथ्य का विवेचन हो सकता है वे हैं—

(क) जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला ११ मंगलवार १५८९ वि० अर्थात् १० सितम्बर १५३२ ई०; (ख) काशी में आगमन की तिथि चैत्र शुक्ला १२ मंगलवार १६१५ वि० और (ग) घटरामायन-निर्माण की तिथि भाद्रपद शुक्ला मंगल एकादशी संवत् १६१८। किन्तु जन्म-तिथि को छोड़कर और कोई भी ज्योतिषगणना के अनुसार ठीक नहीं उतरती।

ऐतिहासिक व्यतिक्रम—इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे ऐतिहासिक व्यतिक्रम हैं जिनसे घटरामायन के साक्ष्य का महत्त्व एकदम कम हो जाता है। प्रथम व्यतिक्रम यह है कि पलकराम नानक-पंथी से संवाद करते हुए घटरामायन-कार उस प्रथा की ओर इंगित करते हैं जो पंजाब में साधारण रूप से और जाटों में विशेष

रूप से प्रचलित थी। विंसेंट स्मिथ * लिखते हैं कि लार्ड हार्डिङ् के समय में पुत्रीवध पंजाब, राजपूताना, मालवा, कच्छ, काठियावाड़ तथा अन्यत्र भी व्यापक था और उक्त गवर्नर जनरल ने इसे रोकने का उद्योग किया।

पलकराम ये कैसी रीती। साहिब जावे करैं अनीती॥
लड़की मारि करैं अजगूता। यह हत्या आतम होइ भूता॥ पृ० ३७१
सुनि साहिब जादों की रीती। लड़की मारि जो करैं अनीती॥
कन्या पाप करम की जुगती। सो साधू नहिं पावे मुक्ती॥ पृ० ३७७

घटरामायन कर्त्ता ने एक स्थान पर यह भी लिखा है कि

आज गृहस्थ लड़की जो मारै। ताको जगत अधम करि डारै॥ पृ० ३७२

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'आज' से क्या तात्पर्य है। इससे तो यही ध्वनि निकलती है कि तुलसी साहब अपने उस समय की ओर इशारा कर रहे हैं, जबकि अंग्रेज लोग 'दुख़्तर-कुशी' को रोकने का उपाय कर रहे थे। 'आज' शब्द से प्रतीत होता है कि यह रचना गोस्वामी तुलसीदास की नहीं है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मुंशी देवीप्रसाद ने घट रामायन का जो संस्करण निकाला था उसमें 'लड़की' के स्थान पर 'बकरा' शब्द रख दिया गया है।

दूसरा व्यतिक्रम यह है कि घटरामायन-कार ने कम से कम नौ स्थलों पर दरिया साहिब के नाम का उल्लेख किया है :

वा घर कोई मरम न जाने। नानक दास कबीर बखाने॥
दादू दरिया रैदासा। नाभा मीरा अगम विलासा॥ पृ० ६५
दादू मीरा नाभा भाई। नानक दरिया सूर सुनाई॥ पृ० २१३
नानक और दादू दरिया साधू। मीरा सूर कबीर कही।
नाभा नभ जानि भाखि बखानी। सुरति समानी पार गई॥ पृ० २२०
दरिया भी दादू बतलाई। अलीमियाँ सुन साखि सुनाई॥ पृ० २३०
और कबीर दादू रैदासा॥ दरिया नानक अगम तमासा॥
सूरदास नाभा अरु मीरा। औरो संत अगम मति धीरा। पृ० २४०
ऐसे अंध अचेत अबूझा। गुरु दरिया पानी में सूझा॥ पृ० २६२
गुरु दरियाव राह नहिं जाना। हलुवा पानी डार बखाना॥
ये बावे नहिं कहां विधाना। गुरु दरिया पानी में जाना॥ पृ० २६३
गुरु का दर दरवाजा भाई। ताको गुरु दरियाव बताई॥ पृ० ३६३
जग गुरु दर दरियाव न चीन्हा। हलुवा पानी डार जो दीन्हा॥ पृ० ३६३
बाह गुरु दरियाव न पावै। बिना संत कहो को दरसावे॥ पृ० ३६३
झंडा तन बिच बीच विचारा। गुरु दरियाव गगन के पारा॥ पृ० ३६५
नानक और कबीर सुनाई। दादू दरिया सब ने गाई॥ पृ० ३७८

---

* लार्ड हॉर्डिङ्......टुक मैजर्स फ़ार सप्रेसिङ् सती एण्ड इनफेंटिसाइड इन द नेटिव स्टेट्स पृष्ठ ६८६।

इनफेंटिसाइड वॉज़ प्रेक्टिस्ड एक्सटेंसिवली इन द पंजाब, राजपूताना, मालवा, कच्छ काठियावाड एण्ड एल्ज़ह्वेयर। पृष्ठ ६६० द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया, विंसेंट स्मिथ-कृत।

यहाँ यह विचारणीय है कि डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में दो दरिया साहबों का परिचय दिया है। एक तो बिहार-वाले दरिया साहब थे जो संवत् १७३१ में जन्मे और १८३७ में मरे, दूसरे थे मारवाड़ वाले दरिया साहब जिनका जन्म संवत् १७३३ में हुआ। यदि यह ठीक है तो क्या १६८० में दिवंगत होने वाले गोवामी तुलसीदास दरिया साहब का उल्लेख कर सकते थे ?

तृतीय व्यतिक्रम यह है कि 'घटरामायन' के रचयिता ने पलकराम नानक पंथी के साथ संवाद में अनेक (कम से कम छः) स्थलों पर गुरु गोविन्द का उल्लेख किया है; यथा—

गुरु गोविंद मुख भाखै बानी। बादशाह दसमें सहदानी ॥ पृ० ३४६
गुरु गोविंद जी बावे कहिया। पातशाह दसवां बतलइया ॥ पृ० ३४६
गुरु गोविंद विधि कही बखाना। सो भी सांच-सांच कर माना ॥ पृ० ३५६
गुरु गोविंद ग्रन्थ गति गावा। तामें विधी सब्द बतलावा ॥
सुनी सब्द मैं भाखि सुनाऊं। गुरु गोविंद बानी मुख गाऊं ॥
पूजा पाहन नहीं बताई। देखो गोविंद ग्रन्थ मंझाई ॥
देखो ग्रन्थ में याकी साखी। एक सब्द तुलसी कहि भाखी ॥ पृ० ३६६
येहि विधि गोविंद ग्रंथ लखाई। देखो सब्द ग्रन्थ के माहीं ॥
औरो सुनो मूल इक गाऊं। गुरु गोविंद की साखि बताऊं ॥
गुरु गोविंद मुख अपने गावा। ग्रन्थ विधी में देखि बुझावा ॥
कृष्न राम भगवान जो भाखा। नहीं काल ने उनको राखा ॥
गुरु गोविंद ग्रन्थ में गावा। भये भगवान काल ने खावा ॥ पृ० ३७०

ध्यान देने की बात है कि गोस्वामीजी और पलकराम का संवाद १६१६ संवत् में हुआ था जैसा कि उद्धरणों से स्पष्ट है और इसी संवाद में गुरु गोविन्द का भी उल्लेख है। इस बात के प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं कि गुरु गोविंदसिंह का आविर्भाव गोस्वामी तुलसीदास के देहावसान के पश्चात् हुआ। अतः यह असम्भव कल्पना है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने गुरु गोविन्दसिंह का उल्लेख अपनी रचना में किया होगा। 'घटरामायन' में गुरु गोविंद का जो उल्लेख है वह सब पीछे का है।

पूर्व जन्म की कथा—'घटरामायन' के परिशिष्ट में लिखा है कि तुलसी साहब अपने किसी पूर्वजन्म में गोस्वामी तुलसीदास थे और तब इनका जन्म भाद्रपद शुक्ला ११ मंगल १५८९ वि० में यमुना के किनारे राजापुर में हुआ जो बुन्देलखण्ड में चित्रकूट से दस कोस की दूरी पर स्थित है। ये कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। यद्यपि ये अपनी पत्नी में आसक्त थे तथापि सत्संगप्रिय थे। श्रावण शुक्ला नवमी संवत् १६१४ को इनके 'अगम का सौदा' हुआ, इनकी समाधि लगने लगी, बड़ी प्रसिद्धि हो गयी, लोग दर्शनों को राजापुर आने लगे। काशी का रहने वाला हिरदे नाम का अहीर राजापुर में किसी के यहाँ नौकर था, वह नित्य प्रति दर्शन को आता था, अतः इनकी उससे प्रीति बढ़ गयी। एक दिन ऐसा हुआ कि हिरदे को काशी गये बहुत दिन हो गये तो तुलसीदास व्याकुल हो स्वयं काशी जा पहुँचे, हिरदे से मिले और काशी में गंगा के किनारे कुटी बना कर सत्संग में रहने लगे। यह बात चैत्र द्वादशी मंगलवार संवत् १६१५ की है। कार्तिक

कृष्णा पंचमी १६१६ में पलकराम नानकपंथी से साक्षात्कार हुआ। तत्पश्चात् इन्होंने भादों शुक्ला मंगल ११ सं० १६१८ को घटरामायन का प्रारम्भ किया। इस पुस्तक से काशी में बड़ी खलबली मची। अतः इन्होंने झगड़े के डर से इसे गुप्त कर दिया और सं० १६३१ में "अंधा अंधे विधि" समझाने के लिए रामचरितमानस का प्रारम्भ किया और सं० १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी को वरुण नदी के किनारे महाप्रस्थान किया। इस विषय में आवश्यक उद्धरण इस प्रकार हैं—

राजापुर जमुना का तीरा। जहँ तुलसी का भया शरीरा ।। पृ० ४१५
विधि बुन्देलखण्ड वोहि देसा। चित्र कोट बीच दस कोसा ।।
संवत् पंद्रा सै नवासी। भादों सुदी मंगल एकादसी ।।
तिरिया बरत भाँत मन राता। विधि-विधि रीति चित्त संग साथा ।।
ज्ञान हीन रस रंग संग माता। कान्हकुब्ज बाह्मन मोरी जाता ।।
संत साथ मोहि नीका भावै। ज्ञान अज्ञान एक नहिं आवै ।।
संवत् सोलासै थे चौधा। ता दिन भया अगम का सौदा ।।
सावन सुदी नौमी तिथि बारी। आधी राति भई गति न्यारी ।।
कंज गुरु ने राह बताई। देह गुरू से कछु नहिं पाई ।। पृ० ४१६
ऐसे कइ दिन बीति सिराने। राजापुरी जगत जब जाने ।।
लोग दरस को नित नित आवैं। दरस भाव सब को उपजावैं ।।······
हिरदे अहीर कासी का बासी। रहे राजापुर नोकर पासी ।।
वोहु प्रतिदिन दरसन को आवैं। प्रीति बड़ी हित कहा न जावैं ।। पृ० ४१७
रीति दिवस दिन-दिन रहै पासा। तुलसी बिना और नहिं आसा ।।
एक दिवस भई ऐसी रीति। कासी गये बहुत दिन बीती ।।
हमरा चित हिरदे में बासी। हम चलि गये नग्र यहँ कासी ।।
संवत सोलासै रहे पंद्रा। चैतमास बारस तिथि मंगरा ।।
पहुँचे कासी नगर मंझाई। हिरदे सुनत दौड़ि चलि आई ।।
आये चरन लीन्ह परसादी। विधि-विधि रहन कुटी की साधी ।।
कुटी बनाय कीन्ह अस्थाना। कासी में हम रहे निदाना ।।
गंगा निकट कुटी जहं कीन्हा। हिरदे नित आवै लौ लीना ।।
सोलासै सोला में सोई। कातिक बदी पंचमी होई ।।
आये पलकराम इक संती। रहे कासी में नानक पंथी ।।······
घटरामायन ग्रन्थ बनावा। ताकी विधि दिवस सब गावा ।।
सम्मत सोलासै अट्ठारा। उठी मौज ग्रन्थ कियो सारा ।।
भादों सुदी मंगल एकादसी। आरंभ कियो प्रथम मन भासा ।।
सुन कासी में अचरज कीन्हा। सोर नगर में भयो अलीना ।।
तासे ग्रन्थ गुप्त हम कीन्हा। घटरामायन चलन न दीन्हा ।।
सम्मत सोला सै इकतीसा। राम चरित्र कीन्ह पद ईसा ।।
जग में झगरा जाना भाई। रावन राम चरित्र बनाई ।।
पंडित भेष जगत सब झारी। रामायन सुनि भये सुखारी ।। पृ० ४१८

अंथा ग्रंथे विधि समझावा। घटरामायन गुप्त करावा॥
अब कहो अंत समय प्रस्थाना। देह तजो विधि कहौं बिधाना॥
सम्मत सोलासै असी नदी वरुन के तीर।
सावन सुकला सत्तमी तुलसी तज्यो शरीर॥
मैं अपना बरतंत बताई, समझ बूझ सुधबुध चित लाई।
जस-जस भया विधि-विधि लेखा, तस-तस तुलसी कहा बिसेखा॥

परिशिष्ट पर विचार—तिथि वार संवत् और रचना-घटना का बाहुल्य निस्संदेह तथाकथित तुलसी साहब की पूर्वजन्म-स्मृति का अद्भुत साक्षी है। पूर्वजन्म में इनके जो-जो संवाद अपने भक्तों से हुए थे वे सब संवतों के साथ ज्यों के त्यों स्मृति-पटल पर अंकित हैं, उन सब भक्त स्त्री-पुरुषों के नाम स्मृत हैं, उन्होंने जो कहा वह भी, इन्होंने जो उनसे कहा वह भी याद है। इनका पूर्वजन्म में कब जन्म हुआ वह बावन तोले पाव रत्ती स्मरण रहा; उनका जन्मस्थान कहाँ था, किस प्रांत में और चित्रकूट से कितनी दूर था, यह भी। उन्हें अपनी मरण-तिथि, याद रही। इनके 'अगम का सौदा' कब हुआ वह तिथि मास संवत् यहाँ तक कि आधीरात, ये हिरदे की प्यास में काशी किस दिन पहुँचे, इन्होंने 'घटरामायन' किस दिन प्रारम्भ की; रामचरित मानस कब प्रारम्भ किया सब स्मृत है। और तो और, इनको यह घटना भी याद है कि पलकराम नानक पंथी इनके पास किस संवत् में किस तिथि और वार को सर्वप्रथम मिला। पर इन्हें यह स्मरण नहीं रहा कि पूर्वजन्म में इनके पुण्यश्लोक माता-पिता का क्या नाम था। इन्हें यह स्मरण नहीं रहा कि इनकी पत्नी का जिसमें ये अत्यन्त अनुरक्त थे क्या नाम था। इन्हें यह स्मरण नहीं रहा कि इन्होंने पूर्वजन्म में गोस्वामीजी के रूप में 'घटरामायन' और 'रामचरित मानस' के अतिरिक्त कौन-कौनसी पुस्तकें लिखीं। इन्हें 'विनय-पत्रिका', 'कवितावली' आदि सभी अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें विस्मृत हो गयीं। इनकी स्मृति अविश्वसनोय होनी चाहिए, क्योंकि केवल जन्म तिथि को छोड़ कर अन्य कुछ तिथियाँ प्रथम तो गणना की कसौटी पर वार आदि के अभाव से कसी नहीं जा सकतीं, और जो कसी भी जा सकती हैं वे असत्य हैं।

'सुधांशु' जी की घोर अनास्था—'घटरामायन' गोस्वामी तुलसीदास के विषय में महत्त्व की नहीं है। श्री लक्ष्मीनारायणसिंहजी 'सुधांशु' के शब्द हैं :—

हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि किसी तुक्कड़ ने इसकी रचना कर इसे तुलसीदासजी के पवित्र नाम से प्रकाशित किया है...यह पुस्तक संतमत की कट्टर समर्थक है। सारी पुस्तक दोहे चौपाई आदि में वर्णित है। पर इसमें रामचरितमानस की तरह न सरसता है, न सरलता और न अर्थ-गाम्भीर्य। छंदोभंग की त्रुटियों से सारी पुस्तक खचाखच भरी पड़ी है...जैसे तैसे एक ही बात की बार-बार आवृत्ति कर पुस्तक के कलेवर की वृद्धि की गई है। हमारी समझ में यह पुस्तक गोस्वामीजी के पवित्र नाम में कलंक लगाने वाली है।"[1]

विवरण—'घटरामायन' कैसी भी पुस्तक हो उसका सम्बन्ध तुलसी साहब से है। तुलसी साहब किसी जाति के हों, वे सत थे; अतः वे आदर के पात्र हैं चाहे

---

१. तुलसीदास और घटरामायण, माधुरी, भाद्रपद १९८३ वि०

सिद्धान्त की दृष्टि से मतभेद कितना भी हो । वे हाथरस के निवासी न थे किन्तु वहाँ आते-जाते रहते थे और उनकी एक पक्की समाधि वहाँ विद्यमान है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जनसाधारण पर उनका प्रभाव अधिक नहीं था । हाथरस की शिष्ट जनता आज उनको नहीं के बराबर जानती है, कदाचित् यही कारण था कि १८७५ ई० में एटकिंसन महोदय ने जो गज़टियर छापा जिसमें अलीगढ़ जिले और हाथरस तहसील का विवरण है उसमें तुलसीसाहब का कोई उल्लेख नहीं, और न १९०९ में छपे अलीगढ़ जिले के गज़टियर में ही। हाथरस में ऐसी कोई जनश्रुति नहीं कि गो० तुलसीदास का जन्म राजापुर में हुआ था ।

सन् १९२४ ई० में श्री श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र ने हिन्दी की पाण्डुलिपियों के अनुसन्धान का जो त्रैवार्षिक विवरण प्रकाशित किया, उसके परिशिष्ट (संख्या १ पृष्ठ २३९-४० पर) अंग्रेजी में यह आशय प्रकट किया है कि "तुलसी साहब नये अनुसन्धात कवि हैं जो अपने प्रख्यात नामराशि से भिन्न हैं। वे हाथरस में रहते थे। पुस्तक कब रची इसका पता नहीं। पाण्डु लिपि १९५४ संवत् में अर्थात् १८९७ ई० की हाथरस के पण्डित दुर्गादत्त त्रिपाठी के पास विद्यमान है। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है : 'इति श्री ग्रन्थ घटरामायन तुलसी साहेब का सम्पूर्ण मिती कातिक बदि ११ सं० १९५४ दसषत: गुरमुषदास के शुभमस्तु ११११'"

गुरमुषदास कौन ?—'रत्नसागर' के तृतीय संस्करण के द्वितीय पृष्ठ पर जो १९३० में प्रकाशित हुआ तुलसी साहब का जीवन-चरित दिया गया है, उसमें अन्य भक्तों के साथ उक्त गुरमुषदास अर्थात् सूरस्वामी का उल्लेख इस प्रकार है : "रामकिशुन नाम का एक गडरिया तुलसीसाहब के नीचे आ बैठता था। एक दिन तुलसीसाहब को यह बात विदित हो गई, उन्होंने पूछा तुम क्यों आते हो; वह बोला कि आपकी वाणी बड़ी प्यारी लगती है । इस पर तुलसीसाहब ने दया करके उसे एक पुस्तक दी और कहा कि पढ़ो । उसने उत्तर दिया कि मैं अपढ़ हूँ । किन्तु तुलसीसाहब के पुन: आज्ञा करने पर उसने जो पुस्तक ली और देखा तो धड़ाके से पढ़ने लगा। इसी प्रकार प्रसिद्ध है कि आपके गुरमुख (शिष्य) सूरस्वामी थे जो निपट अपढ़ और जन्मान्ध थे । उनको भी एक दिन तुलसीसाहब की आज्ञा हुई कि ग्रन्थ पढ़ो और उज्र करने पर डाँटा तो उनकी आँखों में ज्योति आ गई और वे पढ़ने लगे।"

निष्कर्ष—घट रामायन में तुलसीसाहब के पूर्व जन्म का जो परिचय है वह स्यात् गुरमुषदास अथवा अन्य किसी शिष्य का प्रक्षिप्त परिशिष्ट हो, क्योंकि उस परिचय की भाषा शेष पुस्तक की भाषा से भिन्न है और जहाँ-जहाँ तिथियों का उल्लेख हुआ है वहाँ-वहाँ अन्त्यानुप्रास बिगड़ गया है, और कहीं प्रथम पुरुष का तो कहीं उत्तम पुरुष का प्रयोग हुआ है । तुलसी साहब के पूर्व-जन्म-संबन्धी घटनाओं के जो संवत् दिये गये हैं उनमें से कुछ तो तिथि-वार के अभाव से जाँच की कसौटी पर नहीं कसे जा सकते, और जिनमें तिथि वार मिलते हैं वे केवल एक संवत् को छोड़ गणना से अशुद्ध हैं । जन्म-संवत् गणना से ठीक उतरता है किन्तु भ्रान्त विवरणों के बीच घुणाक्षर-न्याय से ही ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि सभी गण्य तिथियों में मंगलवार दिया गया है । 'घटरामायन' सर जॉर्ज ग्रियर्सन की टिप्पणियों से पीछे की

है, अतः गोस्वामीजी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में महत्त्व की नहीं। डॉ० पीताम्बरदत्त ?[1] और श्री परशुराम चतुर्वेदी[2] दोनों ने ही 'घटरामायन' के जीवन-वृत्त-सम्बन्धी परिशिष्ट को प्रक्षेप माना है।

(घ) गोसाईं-चरित्र : विवेचन

चरित्र के रूप—गोस्वामी तुलसीदास के चरित के सम्बन्ध में निम्नलिखित कतिपय रचनाएँ भवानीदास के 'गोसाईं चरित्र' की परम्परा में प्रतीत होती हैं :—

(क) 'तुलसीदास चरित्र', जनकराज किशोरी शरण-लिखित। इसका निर्माण काल ज्ञात नहीं, किन्तु लिपिकाल सं० १९३० है। यह प्रति राष्ट्रकवि डॉ० मैथिलीशरण गुप्त (चिरगाँव, झाँसी) के संग्रह में विद्यमान है। खोज-रिपोर्ट में इस चरित्र के आदि, मध्य तथा अन्त के एक-एक छन्द भी दिये हुए हैं; किन्तु, जैसा कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं,[3] उनमें न तिथियाँ हैं और न अन्य उपयोगी बातें लक्षित होती हैं।

(ख) 'तुलसीचरित्र' इसे जिला बहराइच में अलीपुर के निवासी रघुवीरसिंह ने सं० १९१० में रचा जिसकी प्रतिलिपि संवत् १९५५ की है। खोज-रिपोर्ट के अनुसार इसकी विषय-सूची में वन्दना, पवन-सुत-मिलन, शिव-दर्शन, हरियानन्दन सन्त, मुरारिदेव विदा, रामघाट मचान, सरयू स्नान, नाभागमन, आदि का समावेश है।[4]

(ग) 'तुलसी चरित्र', दासान्यदासकृत। इस प्रति का निर्माण-काल अज्ञात है; लिपिकाल १९२१ है। यह ठाकुर महेश्वरसिंह, ग्राम दिकौलिया, डाकखाना बिसव', जिला सीतापुर के संग्रह में है।[5]

(घ) श्री गोसाईं चरित्र, दासान्यदासकृत। कानपुर के प्रो० अयोध्यानाथ शर्मा की कृपा से मुझे एक 'गोसाईं चरित्र' की एक प्रतिलिपि के दर्शन हुए, जिसे डॉ० भगवतीप्रसादसिंह ने, आत्रेय भवन, लंका, बनारस में १९५६ ई० में ३ अक्तूबर के ८ बजे प्रातःकाल से ७ अक्तूबर के ८ बजे प्रातःकाल तक पूर्ण किया था। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है :—

इति श्री गोसाईं चरित्र दासान्यदास विरचितायां सम्पूर्णम् सुभमस्तु।

इति श्री दसषत मोहन शुक्ल के गोधनी अस्थानन्से सुक्ल पछे तिथौ संम्यं सुक्रवासरे संवस्त १९२१

राम राम   राम राम   राम राम
राम राम   राम राम   राम राम
राम

दोहा—सुक्रवार तिथि संतमी सुक्र पछ वैसाष।
संवत वनइस सै यकईस को धाता संवत भाष॥

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ९०-९१
२. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ६४८
३. तुलसीदास, पृ० ६४   ४. वही,   ५. वही

उक्त दोहा पुस्तक के १५१ वें पृष्ठ पर है। पुष्पिका से स्पष्ट है कि पुस्तक को किसी दासान्यदास ने लिखा और मोहन शुक्ल ने संवत् १९२१ में नकल किया। किन्तु हरिगीतिका संख्या १४ में भवानीदास का भी उल्लेख है, जो इस प्रकार है:—

सब गुन रहित औगुन सहित तब चरन दिढ़ विस्वास है,
धरि आस संग्या नाम की जाचें भवानी दास है।
झूठे फुरे निज दास की पंति लाज करि आये सबै
निज दिसि निहारि पुरारि प्रिय रिषि लीजिये अजहूँ अबै ॥१४॥

क्या दासान्यदास और भवानीदास एक ही व्यक्ति हैं? 'श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत' से पता चलता है कि हाँ।[1]

श्री गोसाईं चरित्र के लिए प्रेरणा इस प्रकार मिली थी:—

राम चरित रस पंग जे प्रभु पद दृढ़ असनेह
श्री गोसाईं अनुकूल तिन तिनहि परम पिय नेह।
श्री अग्रदास आज्ञा हुई भक्तन के गुन गाउ
भव सागर के तरन को नाहिन आन उपाउ ॥१९॥
ताते कछुक प्रसंग सुभ सुनेउ जो संत प्रसाद
संत सिरोमणि हू दई आग्या रामप्रसाद ॥२०॥
श्री स्वामी नन्दलाल ब्रह्मरत राम परायण
नगर सडोलो वास ब्रह्म कुल के सुषदायन।
श्रीमत जोधराम जिनहि कुल कमल दिवाकर
जथा नाम प्रभु आपु मनो तन धरे कृपाकर।
प्रथम कछुक बंदन कियो श्री गुरदेव जो परमहित
अमित दानि नर रूप हरि तिन गनती को कहामित।
श्री रामचरन दास मुनीम प्रिय जन स्वामी के
तिनके गुन अभिराम भरति सब विधिनीके।
श्री हीरामनिदास जो तिनके गुन मंडित
सास्त्रज्ञ रति राम ज्ञान आचारज पंडित।
तेहि कुल कैरव सुधानिधि रामप्रसाद प्रकास किय
हित चरन विषय रस अवध वसि श्री स्वामी के वृत्ति किय ॥२५॥
मोहि आपन कर जानि मानि कुल कानि पछ धर
नतरु विषय लपटान कौन हो पात्र कृपाकर।
विविधि प्रसंग सुनाइ गोसाईं के सुषदायक
भो निसोस कर चरित करहु भाषा गुन गायक।
अज्ञा सिर पर लई जोरि कै बिन वौ कवि कोविद चरन
लखि चूक छमा कीनो अबुध जानि दास आपनी सरन।

सोरठा—जद्यपि सब विधि हीन छोटो पोटो पीन अघ
करहि छोह परवीन जैसों कैसो दास लषि।

---

१. सरस्वती, भाग ४१, संख्या १, पृष्ठ ३१

इस प्रति में पचास विषय वर्णित हैं, यथा—गणेश, शिव, राम, वाल्मीकि, सन्त, और हनुमानजी की स्तुतियाँ; गोसाईं चरित निर्माण की प्रेरणा; स्वामी रामप्रसाद का आदेश; गुरु परम्परा; स्वामी रामानन्द, अनन्तानन्द, कृष्णदास तथा अग्रदास की वन्दनाएँ; नाभा हनुमान्‌जी, मीराबाई, नन्ददास, वृन्दावन, वंशीवट, रामपुर, आदि के प्रसंग।

(ङ) डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उस 'गोसाई चरित्र' की ओर ध्यान आकर्षित किया है जो १९२४ ई० में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से रामचरितमानस पर, रामचरणदासजी की वृहट्टीका के तृतीय संस्करण के साथ प्रकाशित हुआ था।[1] श्री चन्द्रबली पाण्डे की आस्था इस चरित में अधिक थी और उन्होंने अपनी रचना "तुलसी की जीवन-भूमि" के लिए इसका उपयोग बहुलता से किया है। इस चरित्र को भवानीदास ने स्वामी रामप्रसाद की प्रेरणा से लिखा अतएव बहुत संभव है कि यह चरित्र और दासान्यदास वाला दोनों ही न्यूनाधिक समान है। चरित्र के लिए प्रेरणा कैसे मिली, उसका निर्देश करने के लिए डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने जो उद्धरण दिया है[2] वह उक्त उद्धरण के "श्री स्वामी नन्दलाल......जानि दास अपनी शरण" के समान है यद्यपि कहीं-कहीं वर्त्तनी और नाम में किंचित् अन्तर भी है।

'चरित्र' का निर्माण कब ? डॉ० गुप्त ने ऊहा-पोह के अनन्तर इस चरित्र को लगभग सं० १८१० की रचना माना है।[3] हमें भी उसे तत्कालीन रचना मान लेने में कोई आपत्ति-विशेष नहीं। उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता से सोरों-सामग्री पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि, जैसा कि डॉ० गुप्त लिखते हैं, यद्यपि इसमें कवि के समकालीन अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का उल्लेख है तथापि उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में और उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में हमें वह आवश्यक विस्तार नहीं मिलता जिसकी सहायता से उनकी ऐतिहासिकता का परीक्षण हो सके; क्योंकि चरित्र-भर में किसी तिथि का उल्लेख नहीं।[4]

चरित्र के गद्यानुवाद उर्दू-नागरी में—'श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत' डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस शीर्षक से सरस्वती में[5] एक लेख लिखा। यह चरितामृत भवानीदास-कृत 'गोसाईं चरित्रामृत' का उर्दू गद्यानुवाद है जो काकौरी (लखनऊ) के निवासी लालजी कवि के द्वारा संवत् १९४३ वि० अर्थात् मई सन् १८८६ ई० पूर्ण हुआ। इसकी तरतीब नवाबगंज (जिले बाराबंकी) में हुई। यह पुनः अयोध्या के कनक भवन के निकट तुलसीराम के द्वारा उर्दू से नागरी रूप को प्राप्त हुआ। यह ग्रन्थ, डॉ० वार्ष्णेय की सूचना के अनुसार, गोस्वामी तुलसीदास के हनुमद्दर्शन से आरम्भ होता है, और भवानीदासजी ने तुलसीदास जी के जन्म, जन्म-स्थान आदि के विषय में कुछ नहीं लिखा; किन्तु अनुवादक ने, अवश्य, अपनी

---

१. सरस्वती भाग ४१, संख्या १, पृ० ४०
२. वही, पृ० ४२
३. वही पृ० ४३
४. वही, पृ० ४४
५. वही, पृ० ३१-३६

ओर से तुलसीदासजी का जन्म राजापुर में संवत् १५८३ में और मरण काशी में १६८० वि० में लिख दिया है।[1]

चरित्र के प्रसंग—इस ग्रन्थ में साठ प्रसंग हैं जिनमें से कुछ ये हैं:—हनुमद्दर्शन; अयोध्या-निवास; नाभागमन; नाभा से मिलने वृन्दावनगमन; वृन्दावन में कृष्णमूर्त्ति का राममूर्त्ति में परिवर्त्तन; तज्जन्य ईर्ष्या; वृन्दावन में राम की प्रस्तरमूर्त्ति की स्थापना; कन्नौज के कनोजिया और गोस्वामीजी के गुरु भाई नन्ददास का आना और ठहरकर वापस जाना; अयोध्या-माहात्म्य सुनाकर तुलसीदासजी का अयोध्या से वृन्दावन लौट जाना; अयोध्या में राममूर्ति के सामने नृत्य करने वालों को 'गीतावली' की भेंट; कलि-कुचाल के कारण अयोध्या छोड़कर काशी जाना; राममन्दिर-निर्माण और रामायण-प्रचार; भाषा में 'रामचरित मानस' के निर्माण से काशी में पडितों का विरोध; मधुसूदन स्वामी की सम्मति और पंडितों की क्षमा याचना; भैरव-त्रास; हनुमत्सहायता; चोरों का प्रयत्न और राम-लक्ष्मण की चौकसी; उपदेश के द्वारा गणिका, जमींदार, पंडित, योगी, नीच आदि का उद्धार; काशी से जनकपुर यात्रा और ब्राह्मणों को माफी में ग्राम दिलाना; प्रत्यावर्त्तन; बनखण्डी प्रेत की मुक्ति; प्रेत के साथ नैमिषारण्य की यात्रा और कोष का उत्खनन कर तीर्थोद्धार में धन का व्यय; काशी से चन्नारगढ़, विंध्याचल की तराई से प्रयाग; मुरारिदास और मलूकदास से भेंट; चित्रकूट-दर्शन, रघुनाथजी की लीला और मृगया-विहार से आनन्द-प्राप्ति; राम घाट में दरियानन्द से भेंट और राम-दर्शन; चित्रकूट के एक ग्राम में किसी ब्राह्मण के दारिद्रय का मोक्ष; चित्रकूट से दिल्ली; बादशाह को करामात न दिखाने के कारण बन्धन और हनुमत्कृपा से मोक्ष; शाहजहाँनाबाद की स्थापना; किसी ग्वाले की माया-मुक्ति, वृन्दावन को प्रस्थान; संदीले में नन्दलाल से भेंट; भीकम सिंह कानूनगो की उपेक्षा; मलिहाबाद में रामोपासक वैष्णव भाट को "राम चरित मानस' की प्रति की भेंट; मलिहाबाद से रसूलाबाद, ब्रह्मावर्त्त, संदीला, पिहानी, मिसरिख, और रामपुर (मथुरा) होते हुए अयोध्या को प्रस्थान; लाला भीकम सिंह की शरणागति; काशी में हैजे का प्रकोप; काशी-निवासियों की शरणागति और हनुमत्स्तुति के द्वारा प्रकोप की शान्ति; मीराबाई का पत्र तथा आगमन; गंग कवि का व्यंग्य और बादशाह के हाथी के द्वारा उसकी मृत्यु; जहाँगीर का आगमन और भेंट-स्वीकृति के लिए उसकी प्रार्थना; तुलसीदासजी के शरीर में फोड़े और बादशाह की उक्ति कि मेरे साथ 'हकीम डाक्टर अँगरेज'[2] बहुत हैं उनकी दवा कर लें, किन्तु गोस्वामीजी की असम्मति।

सूचना-बहुलता—भवानीदास के गोसाईं चरित्र की विशेषता यह है कि उसमें गोस्वामी तुलसीदासजी की यात्राओं तथा प्रसंगों का वर्णन-बाहुल्य है। उनमें ऐतिहासिक क्रम का कहाँ तक पालन और उल्लंघन हुआ है यह स्वतन्त्र अनुसंधान और निर्णय का विषय है। फिर भी तुलसी-सम्बन्धी इन सूचनाओं में सत्यांश का आधिक्य होगा ऐसा हमारा अनुमान है।

---

१. श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत, सरस्वती; भाग ४१, संख्या १, पृ० ३४

२. वही, पृ० ३६

संदिग्ध प्रामाण्य—फिर भी 'गोसाईं चरित्र' के प्रामाण्य को आँख मूँदकर सर्वांश में स्वीकार कर लेना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि उसमें कुछ स्थल ऐसे भी हैं जो तथ्य से सर्वथा दूर हैं, और तिथियों के अभाव के अतिरिक्त वह कुछ कारणों से प्रमाण-निरपेक्ष भी नहीं, यथा :—

(१) प्रथमतः भवानीदास ने रामपुर वाले नन्ददास का तादात्म्य बरेली वाले नन्ददास से कर दिया है जो भ्रमोत्पादक है। इन दोनों के वृत्त 'शिवसिंह सरोज' में अलग-अलग विद्यमान हैं। नाभाजी ने स्वयं नन्ददास को रामपुर का बताया है और 'वैष्णव वार्त्ताओं' में रामपुर वाले नन्ददास को गोस्वामी तुलसीदास का भाई (और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी दोनों को भाई) घोषित किया है जिसकी सविस्तर चर्चा सोरों-सामग्री के विवेचन के समय की जायगी।

(२) द्वितीयतः यह बात इतिहास के विरुद्ध है कि गंग कवि की मृत्यु हाथी के पैर से कुचल कर जहाँगीर के समय में हुई थी। उसे तो औरंगजेब ने सदोष कवित्व के लिये हाथी से कुचलवाया जैसा कि श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा[1] और डा० माताप्रसाद गुप्त[2] समझते हैं।

(३) तृतीयतः जहाँगीर के समय में अंग्रेज[3] डाक्टर बहुत कहाँ थे ? क्या तब तक अंग्रेज डाक्टरों की और अंग्रेजी चिकित्सा की इतनी धाक जम गई थी कि जहाँगीर ने तुलसीदासजी को उनके इलाज का सुझाव दिया ?

(४) चतुर्थतः शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' में गोस्वामीजी के जीवन चरित्र का उल्लेख तो किया है; किन्तु उसे बेणीमाधवदास की रचना बताया है, भवानीदास की नहीं। यद्यपि मूल गोसाईं चरित में गोस्वामीजी का जन्म १५५४ में बताया गया और 'गोसाईं चरित्र' में गोस्वामीजी के जन्म की चर्चा ही नहीं, तथापि शिवसिंह सरोज में जन्म संवत् १५८३ वि० दिया गया है। भवानीदास ने 'गोसाईं चरित्र' में वेणीमाधवदास के नाम का उल्लेख कहीं भी नहीं किया।

(५) पंचमतः भवानीदास की रचना डॉ० गुप्त के अनुमान से संवत् १८१० के लगभग हुई। तब से उसके हिन्दी-उर्दू गद्यानुवाद और छोटे-बड़े अनेक संस्करण भी हो गये। 'गोसाईं चरित्र' के दोनों बड़े संस्करणों में विषय का न्यूनाधिक्य परम विचारणीय है, किसी में पचास[4] तो किसी में साठ[5]।

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि यद्यपि 'गोसाईं चरित्र' का अपना महत्त्व है तथापि उसका प्रामाण्य निरपेक्ष नहीं।

(ङ) गौतम चन्द्रिका

प्राक्कथन—श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने २०१२ वि० की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में 'गौतम चन्द्रिका' का एवं तद्वर्णित गो० तुलसीदास के चरित्र का सोद्धरण

---

१. वीणा, पृ० २५३, मार्च १९५०   २. तुलसीदास, पृ० ४४, ५३,५९

३. श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत, सरस्वती भाग ४१ संख्या १, पृ० ३६

४. श्री गोसाईं चरित्र, दासान्यदास विरचित

५. श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत, सरस्वती पृ० ३६, भाग ४१, संख्या १

परिचय हिन्दी जगत् के समक्ष विचारार्थ उपस्थित किया है। अतएव कुछ निवेदन है।

तुलसी-वृत्त की मुख्य बातें—मिश्र जी ने तुलसीदास-सम्बन्धी वृत्तान्त की कुछ बातें इस प्रकार अभिव्यक्त की हैं :—

(१) काशी में शिव केदार के समीप आनन्द कानन ब्रह्मचारी रहते थे, उनके यहाँ 'गौतम चन्द्रिका' के (तथा-कथित) रचयिता कृष्णदत्त मिश्र भी पढ़ते थे। वर्षा ऋतु में, एक बार तुलसीदास आये और उन्होंने ब्रह्मचारी जी के चरणों में प्रणाम कर अपने गुरु नरहरि का एवं अपना वृत्तान्त बताया। (२) नरहरिजी अयोध्या से नर्मदा-तट चले गये थे, और तुलसीदासजी ने यमुना तटपर यमुना नाम की किसी स्त्री से विवाह कर लिया था। (३) कृष्णदत्त ने तुलसीदास को अपना परिचय दिया और माता-पिता के स्वर्गवासी होने की बात कही, जिससे वे दुःखी हुए। (४) बाढ़ आने पर तुलसीदासजी ने गंगा जी को शान्त किया। (५) उजैनीदास ने सूर और मीरा के कृष्णभक्ति-सम्बन्धी पद गाये, और इस पर तुलसीदासजी ने भी कृष्ण की प्रशस्ति के पद गाये। (६) कृष्ण की कीर्त्ति-ध्वजा फहरा कर तुलसीदासजी 'गोसाईं' हो गये; लोगों ने उन्हें ढोंगी, पतित, कुजाति आदि कहना आरम्भ किया, जिस पर उन्होंने राम के पतित-पावन बाने की बात कही। (७) तुलसीदासजी ने एक बार मिथिला में जाकर विद्यापति के वंशज रमाबन्धु ठाकुर के किसी व्यंग्य के प्रत्युत्तर में कहा था कि आप तो श्री जानकी जी के नाते हमारे मामा हैं और मिथिला मेरी ननसाल है। (८) तुलसीदासजी के सत्संगी ये थे : काशीनाथ पंडित, समरसिंह राजपूत, गंगाराम सत्संगी, कैलासकवि, उजैनीदास संगीतज्ञ, भजनग्वाला, जयराम नगरसेठ, सियाराम तमोली, नाथू नाऊ, रामू मल्लाह, खेलावन रैदास, बोधी गोड़, हरि हरवाह, मीर ढ़ाढी, जसन जुलाहा, भगवान् ब्राह्मण, तोडर, कमच्छा के मेघा भगत आदि। (९) सरयू-घाघरा के संगम पर शूकरक्षेत्र में, जो शाण्डिल्य ऋषि का आश्रम है, नरहरि स्वामी रहते थे, जो शाण्डिल्य गोत्र के और तुलसीदास के गुरु थे, और जो परिणत वय में नर्मदा से रामेश्वर होते हुए शूकरक्षेत्र लौटे और बुढ़ापे के कारण काशी आ बसे तथा कैलास-बासी हुए; उनका श्राद्ध तुलसीदासजी ने किया। (१०) तुलसीदासजी २८ वर्ष की अवस्था में (जबकि कृष्णदत्त १८ वर्ष के थे), काशीनाथ पंडित, कैलास कवि, मेघाभक्त तथा अन्य लोगों के साथ मानसरोवर की यात्रा को गये और उन्होंने ३१ वर्ष के वय में लौटकर अयोध्या में 'रामचरित मानस' का निर्माण किया। (११) उन्होंने नैमिषा-रण्य, गंगासागर और जगन्नाथ की यात्रा की; रामेश्वर में गंगाजल चढ़ाया; तथा द्वारका, प्रभास, कुरुक्षेत्र, वृन्दावन, नर्मदातट की यात्रा के अनन्तर काशी आकर रामायण के किसी व्यास को वाल्मीकि मानकर पूजन और रामराज लीला का विस्तार किया। (१२) तोडर की मृत्यु पर गोस्वामीजी उनके लिए दुःखी हुए। उन्हें (संवत् १६६८ के पश्चात्) आधे आषाढ़ में बाहु पीड़ा हुई, जो आधे श्रावण में दूर हो गयी थी। तदनन्तर तोडर के पुत्र अनंदराम तथा रामभद्र के पुत्र कन्हईराम के झगड़े में गोस्वामीजी ने पंच बनकर काजी से समुचित निर्णय कराया। (१३) (संवत् १६६८ के पश्चात्) रुद्रबीसी और मीन की सनीचरी में काशी की भयावह स्थिति हो गयी थी, किन्तु रामभजन के द्वारा गोस्वामीजी ने महामारी को शान्त कर दिया। (१४) संवत्

१६८० में तुलसीदासजी ने श्रावण कृष्णा तीज को ८० वर्ष की ग्रायु पाकर गंगा लाभ किया। (१५) तुलसीदासजी की रचना का अष्टांग योग है : रामगीतावली, पदावली, कृष्णगीतावली, बरवै, दोहावली, सुगुन (सगुन=शकुनावली=रामाज्ञा प्रश्न), कवितावली, सोहिलो मंगल।

साधारण विमर्श—जिस प्रकार 'घटरामायन' में तुलसीदासजी का जीवन-वृत्त पुस्तक की समाप्ति पर दिया गया है, ठीक उसी प्रकार 'गौतम चन्द्रिका' में भी वह अन्त में दिया गया है, और जिस प्रकार पहला वृत्त भ्रामक है वैसा ही दूसरा भी। 'गौतम चन्द्रिका' की भाषा भी कहीं-कहीं ऐसी लचर है कि यह स्पष्ट नहीं होता कि लेखक क्या कहना चाहता है। अस्पष्टता कभी-कभी सुचिंतित भी होती है, जिससे मनमाना अर्थ ग्रहण किया जा सके। एक अंग्रेजी उक्ति के अनुसार महान् वह है जिसकी बात समझ में कम आवे। इससे गौतमचन्द्रिका-कार को महाकवि कह देना स्यात् अनुचित न होगा। स्थाली पुलक न्याय से

'हमहूँ गुरु आश्रम करि वासा। विधिवत करहुँ वेद अभ्यासा।'

इस उद्धरण में 'हमहूँ······करहुँ' को आर्ष (आर्केइक) प्रयोग मान लेना चाहिए, क्योंकि लेखक 'सामग' तो थे ही, वे स्वयं कहते हैं : 'सामग कृष्णदत्त मम नाऊँ'। कतिपय खटकने वाले उल्लेख तथा प्रबल अन्तःसाक्ष्य 'गौतम चन्द्रिका' की चन्द्रिका का अपहरण कर लेते हैं, जिनकी चर्चा अभी की जायगी।

लिपिकरण की विलक्षणता—श्री चौधरी छुन्नीसिंह ने 'गौतम चन्द्रिका'-प्रदत्त तुलसी-विवरण को अपनी बहियों के दाएँ-बाएँ पार्श्वों पर नकल किया था। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने चौधरी जी से पूछा था कि आपने बहियों पर क्यों लिखा? चौधरी जी ने उसका जो उत्तर दिया वह जचता नहीं। क्योंकि यदि पाण्डुलिपि ग्रन्थ-स्वामी के द्वारा दी गयी थी, तो उसकी अनुपस्थिति में पुस्तक की प्रतिलिपि बहियों के हाशियों पर ही क्यों? वह तो यथावत् की जा सकती थी। यदि ग्रन्थ-स्वामी वहाँ उपस्थित रहता था और उसे यह अभीष्ट न था कि ग्रन्थ की प्रतिलिपि की जाय, जैसा कि चौधरी जी का कथन है, तो वह उसे बही पर भी क्यों नकल करने देता? क्या ग्रन्थ-स्वामी धोखा खाता रहा, और बहुत समय तक?

निर्माण काल—'गौतम चन्द्रिका' में उल्लेख है कि यह पुस्तक गो० तुलसीदास की वर्षी के दिन, अर्थात् श्रावण कृष्णा तृतीया को संवत् १६८१ में, पूर्ण हुई। 'मूल गोसाईं चरित' में लिखा है :

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।

इसके अनुसार तुलसीदासजी का स्वर्गारोहण श्रावण कृष्णा तृतीया शनिवार को संवत् १६८० में हुआ। 'गौतम चन्द्रिका' स्यात् रूपान्तर से इसी का समर्थन इस प्रकार करती प्रतीत होती है :

संवत सोरह सै एकासी, तुलसी वरषी असी प्रकासी।
सावन कृष्णा तीजि तिथि पाई, यहु गौतम चन्द्रिका पुराई।

उक्त उद्धरण में वार का उल्लेख नहीं हुआ है, अतएव इस तिथि के सत्यापन का प्रश्न

ही नहीं उठता। किन्तु 'मूल गोसाईं चरित'-प्रदत्त तुलसी-निधन-तिथि तो गणना से अशुद्ध सिद्ध है, जैसा कि निवेदन किया जा चुका है।

पूर्वापर-हीनता—'गौतम चन्द्रिका' में पूर्वापर-सम्बन्ध का निर्वाह नहीं है, अतएव घटनाओं के इधर-उधर हो जाने का उत्तरदायित्व किस पर हो ?

> **पूर्वापर संगति रहित सब्द करत मति आन।**
> **स्रवन वदन दृग जोरि मति सोधु सब्द अनुमान।।**

उक्त 'चन्द्रिका' के ग्रन्थकार कृष्णदत्त मिश्र तो गोस्वामीजी के समकालीन ही नहीं, गुरु-भाई भी थे। यदि वे गोस्वामीजी के विषय में 'प्रत्यक्ष' के आधार संगति-पूर्वक पूर्वापर का निर्वाह कर देते तो लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष के पश्चात् किसी अनुसंधित्सु को 'अनुमान' की क्या आवश्यकता पडती ? अनुमान तो अनुमान ही है।

गुरु-भ्रातृत्व—तुलसीदास जी को कृष्णदत्त मिश्र ने अपना गुरु-भाई बताया है। काशी में शिव-केदार के निकट आनन्द कानन नामक वेदान्ती ब्रह्मचारी रहते थे; उन्हीं से कृष्णदत्त पढ़ते थे। गोस्वामीजी भी यमुना तटस्थ यमुना नामक पत्नी को छोड़कर ब्रह्मचारी जी की शरण आकर और 'अपुत्रो गुरु हम कहँ प्रतिपालइ' कहकर उनके शिष्य वन गये।

'आनन्द कानन' कौन ?—पर 'आनन्द कानन' से क्या तात्पर्य ग्रहण किया जाय ? क्या यह नाम 'गौतम चन्द्रिका' के लेखक कृष्णदत्त मिश्र के गुरु का द्योतक है अथवा किसी बाग़-पार्क का ? गुरु-रूप से परिचय इस प्रकार है :

> **ब्रह्मचर्य व्रत महत वद्धिनी द्विज कुलदीप।**
> **नामानँद कानन लसत सिव केदार समीप।।**
> **सुद्ध वेद वेदांग के पारंगत श्रीमान।**
> **ब्रह्मसूत्र ज्ञाता परम मानत सबहि समान।।**

× × ×

> **बहुतक सिष्य ब्रह्मचारीके। सुमति सुसील सकल सुठि नीके।।**
> **पूर्व मध्य उत्तर मीमांसा। सूत्रहिं सरुझावहिं गुरु पासा।।**
> **पाइ विपुल विद्या फल दानहिं। गुरु आनन्द काननहिं मानहिं।।**
> **हमहूँ गुरु आस्रम करि वासा। विधिवत करहूँ वेद अभ्यासा।।**

जब तुलसीदासजी के पहले गुरु नरहरि नर्मदा से काशी आये, तो कृष्णदत्त के शब्द हैं :

> **अघ गज गंजन नरहरी सूकरखेत विहाइ।**
> **आरन्यक सुषमा भरी कासी पहुंचे आइ।।**
> **रमि रमाय आनंदबन गए महा सिव लोक।**
> **गुरुपद उत्तर कृत्य करि तुलसी भए असोक।।**

अतएव संदेह होता है कि 'आनन्द कानन' किसी व्यक्ति का नाम है अथवा किसी बन का ? यदि कहा जाय कि आनन्द बन में निवास करने वाले व्यक्ति का, तो प्रश्न उठता है कि क्या काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान मधुसूदन सरस्वती का ही दूसरा नाम आनन्द-कानन है, क्योंकि 'गौतम चन्द्रिका' में निम्नलिखित श्लोक आनन्द कानन जी के मुख से निःसृत हुआ है :

"सुनि आनन्द काननहु भावे। नंदन बन जेहि पद अभिलावे ॥
आनंद कानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसी तरुः
कविता मंजरी यस्य राम-भ्रमर-भूषिता।"

जनश्रुति के अनुसार तो यह श्लोक मधुसूदन सरस्वती जी के मुख से तुलसीदासजी की प्रशंसा में अभिव्यक्त हुआ था, जिसका उल्लेख अनेक विद्वानों ने किया है, रामदास गौड़जी ने भी *। जो हो, 'गौतम चन्द्रिका' में तुलसी प्रशंसक मधुसूदन सरस्वती का उल्लेख विवरण-बाहुल्य में विद्यमान नहीं। उनके श्लोक को अन्य व्यक्ति के मुख से कहलाने का क्या अभिप्राय है यह कृष्णदत्त मिश्र जानते होंगे।

सरयू-घाघरा पर नरहरि—'गौतम चंद्रिका' के अनुसार तुलसीदासजी के पहले गुरु शाण्डिल्य-गोत्रीय नरहरि स्वामी थे जो सरयू-घाघरा के संगम पर वराहक्षेत्र में निवास करते थे। इन्होंने नर्मदा तट, रामेश्वर आदि तीर्थों में विचरण किया और अन्त में काशी में आकर मोक्ष लाभ। उसी समय कृष्णदत्त मिश्र के गुरु भी ब्रह्म-पद लीन हो गये और तुलसीदासजी ने भी उनके चरणों की विधिवत् सेवा की थी।

सरऊ अपर घाघरी दोऊ। संगम तीर्थराज सम सोऊ
धवलि जेठि एकादसि माही। तहाँ विपुल नरनारि नहाही
तहँवा सकल लोक विख्याता। सुखद भक्तिसूत्र निर्माता
सांडिल रिषि आस्रम थल पाता, जहँ-तहँ सरुवारिन्ह कर वासा
राम-प्रदत्त भूमि अधिकारी। खलदल दलन धर्म धनुधारी
सांडिल गोत्रज नरहरि स्वामी। ज्ञान निधान भक्ति पथ गामी
रमि नर्मदा कुटी अगराए। रामेस्वरहिं पूजि पुनि आए
चउथ पनास्रम धर्म विसर्जन। चाहे करन भक्ति फल अर्जन
अघ गज गंजन नरहरी सूकर खेत विहाइ
आरन्यक सुषमा भरी कासी पहुँचे आइ
रमि रमाय आनंदवन गए महा सिवलोक
गुरु पद उत्तर कृत्य करि तुलसी भए असोक
मम गुरु माधव कृष्ण लहि भए ब्रह्मपद लीन
तिन्ह पद की अराधना तुलसिहुँ विधिवत कीन।

इन उद्धरणों में वराह-क्षेत्र की स्थिति सरयू-घाघरा के संगम पर बताई गयी है, और नरसिंहजी को शाण्डिल्य गोत्र का। सोरों-सामग्री के अनुसार सूकरक्षेत्र गंगातट पर और नरसिंहजी वसिष्ठ गोत्रीय और गृहस्थ थे। कृष्णदत्त अपने गुरु की महिमा के लिए विशेष चिंतित और स्यात् तुलसीदास जी के द्वारा उनका चरण-स्पर्श कराके आनन्द लाभ करते-से प्रतीत होते हैं: एक स्थान पर वे लिखते हैं:

हेरेउँ गुरु पद खोजि न पाएउँ। तकि तव चरन सरन में आएउँ।
अब एहि छन कछु वातिन चालहु। अपुओ गुरु हम कहँ प्रतिपालहु ॥

---

१. 'रामचरित मानस की भूमिका' में तुलसी चरित चन्द्रिका, पृष्ठ १६

अन्यत्र वे लिखते हैं :

मम गुरु माधव कृष्ण लहि, भए ब्रह्म पद लीन ।
तिन्ह पद की आराधना तुलसिहुँ विधिवत् कीन ।।

उस समय तुलसीदासजी २८ वर्ष के थे और उन्होंने तब तक रामायण का निर्माण नहीं किया था, क्योंकि कृष्णदत्त के अनुसार 'राम चरित मानस' के रचना-काल के समय गोस्वामीजी ३१ वर्ष के थे । सूकर-क्षेत्र की स्थिति को सरयू-घाघरा के संगम पर बताना, उसका अन्य परिचय देना, वहाँ सरयूपारीणों की बस्ती का उल्लेख करना और उस भूमि को राम-प्रदत्त बताना 'गौतम चन्द्रिका'-कार की दूरदर्शिता को प्रकट करता है, क्योंकि उनके इस लेख से तुलसी के सम-सामयिक कवि केशव का (कविप्रिया, २, १-३ में) यह लेख झूठा सिद्ध हो जाता है कि सनाढ्य ब्राह्मण रामचन्द्रजी के पुरोहित थे और उन्हें उनसे बहत्तर ग्राम दान में प्राप्त हुए थे; एटा जिले के गंगातीरस्थ सूकरक्षेत्र का भी निराकरण स्वतः हो जाता है !!!

गौतम ब्राह्मण ?—कहीं तुलसीदासजी कृष्णदत्त मिश्र के कोई सगे-सम्बन्धी तो न थे ? क्योंकि प्रथम मिलन के अवसर पर जब तुलसीदासजी को कृष्णदत्त के वंश का परिचय मिला तो तुलसीदासजी व्याकुल होकर बोल उठे थे—

हम कर जोरे सीस नवाए, नाऊँ गोत कुल गाँउँ बताए
सुधी सहिदानी बानी सुनि, तुलसी व्याकुल बोल उठे पुनि
हा कुलदेव गोतमी माता, तोहि ग्रसि काल ग्रसेउ कुल नाता ।

यहाँ 'गोतमी माता' से क्या तात्पर्य है ? क्या गोतमी तुलसीदासजी की माता थीं ? स्यात् नहीं, क्योंकि कृष्णदत्त आगे लिखते हैं :

राम कृपा हुलसी जनित, तुलसी बिरवा सोइ
लै हुलरावति सुरधुनी, जल अंचल में गोइ ।

तो क्या गोस्वामीजी गौतम ब्राह्मण थे ? कृष्णदत्त मिश्र ने स्पष्ट तो कुछ नहीं लिखा । किन्तु यदि ऐसा है तो यह कथन सोरों-सामग्री और राजापुर-सामग्री दोनों के ही विरुद्ध पड़ता है ।

तीर्थाटन—जब कृष्णदत्त और तुलसीदासजी का प्रथम साक्षात्कार हुआ तो उनमें से एक तो १८ वर्ष के थे और दूसरे २८ के :

तुलसी बय अठवीस बताई, मम बय दस अरु आठ गनाई ।

एक ने गृहस्थाश्रम सँभाला, तो दूसरे ने तीर्थाटन के लिये प्रस्थान किया :

द्वितीयाश्रम आस्रित हम भए, तुलसी तीर्थाटन पथ गए ।

यदि गोस्वामीजी २८ वर्ष की अवस्था में आनन्द काननजी की शरण में आये और अनेक सुदूर तीर्थों में घूमने चले गये, तो उन्हें गुरूपदेश के लिए अवसर बहुत कम प्राप्त हुआ होगा । तीर्थाटन में उन्हें एकान्त भी बहुत कम प्राप्त हुआ होगा, जो तुलसी-जैसे सन्त के लिए परम आवश्यक था । 'गौतम चन्द्रिका' के अनुसार तो मार्ग में भजन-कीर्तन, कथा-वार्त्ता, वादविवाद सभी कुछ होता था और तीर्थाटन में उनके साथ अनेक व्यक्ति भी रहते थे । अस्तु, केवल तीन वर्षों में, उन्होंने हरिद्वार, नर-नारायण, शिव-केदार, गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी, कैलास, मानसरोवर आदि दुर्गम

तीर्थों के दर्शन कर डाले, और लौटकर ३१ वर्ष की अवस्था में, अर्थात् संवत् १६३१ में, 'रामचरित मानस' की रचना की। तदनन्तर वे प्रयाग, नैमिषारण्य, काशी, गंगासागर, रामेश्वर, कन्याकुमारी, द्वारका, प्रभास, सुदामाधाम, स्यमन्तक, कुरुक्षेत्र, और पुष्कर पधारे थे। वे पुष्कर से वृन्दावन, नर्मदातट और गया होते हुए काशी लौट गये।

वल्लभ-प्रभाव—पुष्कर से तुलसीदास जी वृन्दावन आये थे।

तहँ ते चलि वृन्दावन आए, तुलसी रति जमुना उमगाए
छवि सिंगार घन दामिनि सोभा, निरखत वृन्दावन मन लोभा।

यमुना के लिए 'रति' शब्द का प्रयोग कितना भावपूर्ण है! कृष्णदत्त के अनुसार 'यमुना' गोस्वामीजी की पत्नी थी जो यमुना-तट की रहने वाली थी। पता नहीं कृष्णदत्त क्या समझाना चाहते हैं वह राजापुर की थी अथवा वृन्दावन की? जो हो। गोस्वामीजी वृन्दावन में 'वल्लभ-भक्ति' और 'भागवत' से परिपुष्ट हुए; किन्तु गोस्वामीजी तो पहले से ही इन दोनों से प्रभावित हो चुके थे, जैसा कि 'रामचरित मानस' की रचना से भी स्पष्ट है। सोरों-सामग्री के अनुसार वल्लभाचार्यजी, तुलसी के बचपन में एक-दो बार सोरों पधारे थे। कृष्णदत्त मिश्र ने इस आख्यायिका को भूल से अथवा जान बूझ कर छोड़ दिया है कि उनके निमित्त कृष्णमूर्ति ने राम के रूप में दर्शन दिया था। अस्तु। तुलसीदासजी वृन्दावन से काशी लौट गये, और वहाँ उन्होंने (स्यात् कृष्णलीला के प्रचलन पर) रामलीला का प्रचार किया। वे भगवान् शिव, कार्त्तिकेय, विंदुमाधव, और हनुमान्‌जी की पूजा करते थे, और जब वे दीपावली की शोभा का गान करते तो कृष्णदत्त मिश्र नगाड़ा बजाते थे:

दीपावलि सजि, तुलसी गावत, कृष्णदत्त दुन्दुभी बजावत।

अन्यत्र तो कृष्णदत्त मिश्र ने अपने लिए उत्तम पुरुष का प्रयोग किया है।

सत्संगी—तीर्थाटन में गोस्वामी जी के साथ कई व्यक्ति रहते थे।

पंडित कासी कवि कैलासू, मेघा भगत उजेनी दासू
साधु वृद्ध अरु जुवा अनेका, तुलसी संग लगे गहि-टेका।

तुलसीदासजी के सत्संगियों की सूची इस प्रकार है:

पंडित कासीनाथ महामति। समरसिंह रजपूत ग्रामपति
गंगाराम परम सतसंगी। कवि कैलास कवित्त उमंगी
उज्जेनी संगीत प्रवीना। भजन गोप हरिवंस कुलीना
नगर सेठ जैराम उजागर। तांबूली सियराम गुनागर
नाथू नापित, केवट रामू। अरु रैदास बेलावन नामू
बोधी गोड़, हरी हरवाहू। धाड़ी मीर, जसन जोलहाहू
कहाँ कहाँ लगि नाम गनाई। कासी विस्वनाथ प्रभुताई।

तुलसी साहब ने भी तुलसीदासजी के कुछ सत्संगियों का उल्लेख 'घट-रामायन' में किया है, जो 'गौतम चन्द्रिका' में नहीं है। इस विषय में दोनों के उल्लेख नितान्त भिन्न हैं। तुलसी साहब ने तुलसीदास के पट्ट शिष्य काशी-निवासी 'हिरदे अहीर' का उल्लेख 'घट-रामायन' में इस प्रकार किया है:

हिरदै अहीर कासी का वासी, रहे राजापुर नोकर पासी।
वोहू प्रति दिन दरसन को आवे, प्रीति बड़ी हित कहा न जावे।
राति दिवस दिन-दिन रहे पासा, तुलसी बिना और नहिं आसा।
एक दिवस भइ ऐसी रीती, कासी गये बहुत दिन बीती
हमरा चित हिरदै में वासी, हम चलि गये नग्रमहँ कासी।

किन्तु 'गौतम चंद्रिका में 'हिरदे अहीर' का कोई उल्लेख नहीं, और तदुल्लिखित सत्संगियों का 'घट-रामायन' में नहीं, यद्यपि दोनों नामावलियों का सत्य होना भी असंभव नहीं।

असंगति—एक बार जब गंगाजी में बाढ़ आई थी, तो, कृष्णदत्त मिश्र के अनुसार, तुलसीदासजी ने अपनी प्रार्थना के द्वारा उसे शान्त किया था, इससे गोस्वामी जी का गौरव बढ़ गया था। अतएव कोई आश्चर्य नहीं, यदि तोडर और कृष्णदत्त के पिता भगवान् भी गोस्वामीजी के भक्त और सत्संगी थे :

ब्राह्मन कासीवार जो मम पितु तनु भगवान
तोडर सदन समान सो तुलसी बाग वितान।

कहने का तात्पर्य है कि पिता-पुत्र दोनों ही तुलसीदासजी के भक्त थे। पर भगवान् कब और कैसे भक्त हुए? तुलसीदासजी तो सीधे यमुनातट से काशी आये थे और वहाँ उनका और कृष्णदत्त का जो वार्त्तालाप हुआ उससे स्पष्ट है कि कृष्णदत्त के माता-पिता मर चुके थे :

हम लखि तुलसी पूछन लागे।
कुलपति आस्रम सेवा बालक। तुम केहि कुलपालक के बालक।
हम कर जोरे सीस नवाए। नाउँ गोत कुल गाँउँ बताए।
सूधी सहिदानी बानी सुनि। तुलसी ब्याकुल बोलि उठे पुनि।
हा कुल देव गोतमी माता। तोहि ग्रसि काल ग्रसेउ कुल नाता।
पितु सपना सुषुमि महू माई। श्रुति परिवात सिमृति बनि आई।

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्द हैं, "श्री कृष्णदत्त ने अपना परिचय दिया और माता-पिता के स्वर्गवासी होने की बात कही", जो कृष्णदत्त मिश्र के उक्त उद्धरण को स्पष्ट करते हैं कि साक्षात्कार के तुरन्त पश्चात् कृष्णदत्त मिश्र और तुलसीदासजी का परिचय हुआ और कृष्णदत्त मिश्र ने उन्हें अपने माता-पिता के दिवंगत होने की सूचना दी। यदि यह बात ठीक है तो कृष्णदत्त के पिता भगवान् किस प्रकार और कब तुलसीदासजी के सत्संगी सिद्ध होते हैं? किन्तु कृष्णदत्त ने अपने पिता की गणना तुलसीदासजी के सत्संगियों में की है; वे लिखते हैं :

तुलसी सतसंगी बहुतेरे। सुकृती सकल राम के चेरे
ब्राह्मन कासीवार जो मम पितु तनु भगवान्
तोडर सदन समान सो तुलसी बाग वितान।

यदि कल्पना की जाय कि प्रथम साक्षात्कार से पूर्व ही कृष्णदत्त के पिता भगवान् तुलसीदासजी के भक्त हो गए थे, तो कब? कृष्णदत्त उनसे नितान्त अपरिचित क्यों रहे? तब तक गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' भी नहीं लिखा था; वे तो सीधे

यमुना तटस्थ यमुना नामक पत्नी को छोड़ कर आये हुए थे। अतएव द्वितीय कल्पना असम्भव-सी प्रतीत होती है।

'मानस' की प्राप्ति—दूसरी आपत्ति और है। वह यह है कि न पिता ने और न सुपठित पुत्र ने ही 'रामचरित मानस' की प्रतिलिपि को, तुलसीदासजी के जीवन काल में, लेने की चिन्ता की। वे कैसे भक्त थे? वह रचना तो ऐसे सन्त की थी जिसकी प्रार्थना से गंगाजी की बाढ़ भी शान्त हो गयी थी और जिसके साथ उनकी घनिष्ठता भी थी। आश्चर्य है कि कृष्णदत्त मिश्र को 'रामचरित मानस' की उपलब्धि के लिए तोडर (टोडर) का घर टटोलना पड़ा।

तोडर घर ते पुस्तक पाई, रामचरित मानस अपनाई।

यह द्राविडी प्राणायाम क्यों? उसकी प्राप्ति गोस्वामीजी से सीधे क्यों नहीं?

भ्रान्त संवत्—कृष्णदत्त मिश्र ने लिखा है कि १६६८ वि० के पश्चात् तुलसीदासजी को बाहु-पीड़ा हुई थी। किन्तु, तुलसीदासजी के ही शब्दों में, यह पीड़ा उन्हें रुद्रविंशति के अन्तर्गत मीनस्थ शनि में हुई :

बीसीं बिस्वनाथ की बिसाद बडो बारानसीं। क० ७, १७०
एक तो कराल कलिकाल सूल मूल तामें
कोढ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की। क० ७, १७७

गणना से सिद्ध है कि तुलसीदासजी का यह संकट-समय संवत् १६२३ से १६४२ तक बीस वर्ष रहा और इसी में मीन के शनि भी थे। कृष्णदत्त मिश्र तो गोस्वामी जी के गुरु भ्राता और सजातीय होने का दावा करते हैं, उनकी उक्ति तथ्य-पूर्ण होनी चाहिए थी; किन्तु उनके अनुसार १६६८ वि० के पश्चात्

गई रुद्र बीसी बिधि ओरी, भई सनि मीन वसंतक होरी।

जो ठीक नहीं है।[1] घनिष्ठता का यह कैसा दावा?

मौन?—दीर्घ और घनिष्ठ परिचय होने पर भी कृष्णदत्तजी गो० तुलसीदास के जन्म-स्थान, पितृ-नाम और वंश-परिचय के सम्बन्ध में नितान्त मौन हैं; यद्यपि उन्होंने अन्य विवरणों के उपस्थित करने में कोई संकोच नहीं किया है।

विवेचन का निष्कर्ष—'गौतम चंद्रिका' के तुलसी-विवरण की उपलब्धि संदेहातीत नहीं है। 'गौतम चंद्रिका'-कार ने बड़ी समझ से काम लिया है। उन्होंने संवत्, पक्ष और तिथि का प्रयोग केवल एक बार किया है, उसमें भी 'वार' का वारण किया है। बुद्धिमत्ता की दूसरी बात यह है कि उन्होंने घटनाओं के पूर्वापर-सम्बन्ध के उत्तरदायित्व का भार ही अपने शिर से हटा दिया। फिर भी भूल से उन्होंने यह लिख ही दिया कि सं० १६६८ के पश्चात् रुद्रबीसी और मीन की सनीचरी का अवसान हुआ; यह प्रमाद-राहु 'चन्द्रिका' को ग्रस कर आत्मसात् कर लेता है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए अध्याय 'पाठान्तर और रचना-समय'

(च) तुलसी-प्रकास

(सोरों-सामग्री का दिठौना)

परिचय—'तुलसी-प्रकास' की मूल पाण्डु प्रति मुझे देखने को नहीं मिली। हाँ, उसके कुछ छन्द कुरानशरीफ की आयतों की भाँति मुझे खंडशः मिलते रहे, जिन्हें मैं यथा-समय प्रकाश में लाता रहा। सन् १९४८ ई० में कुछ तो 'नवीन भारत' में प्रकाशित हुए और कुछ 'विशाल भारत' में भी। तब तक प्राप्य सभी छन्द 'तुलसीदास का घरबार' नामक ग्रन्थ में सन् १९४९ ई० में संकलित हुए।

उक्त सभी छन्द मुझे श्री भद्रदत्त शर्मा से प्राप्त हुए थे, और उन्हीं से सुना भी कि 'तुलसी-प्रकास' की प्रति किन्हीं साधु रामदास ब्रह्मचारी के पास है जो गंगा तीरस्थ गढ़िया रसूलपुर (जिला बदायूँ) में आते रहते थे। तब तक प्रकाशित सभी छन्द एटा के स्व० बाँकेलाल जी से भद्रदत्त जी को उपलब्ध हुए थे, जिसका उल्लेख मैं यथा-समय करता रहा हूँ। पर इस प्रश्न का समाधान अभी तक नहीं हो पाया कि बाँकेलाल जी ने इतने ही छन्दों का संग्रह क्यों किया और गोस्वामी तुलसीदास के जन्मस्थान एवं जन्म-काल आदि महत्त्वपूर्ण बातों को क्यों छोड़ दिया। इसी बीच में, गोस्वामीजी के दार्शनिक विचारों के अनुसन्धान में मेरे दत्तचित्त होने से वह जिज्ञासा शान्त सी हो गयी।

किन्तु वैद्यभूषण पं० भद्रदत्त शर्मा का एक लेख १७ अगस्त १९५३ को 'नवीन भारत' में प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने राजापुर की नीम डाली'। उसमें आशा के विरुद्ध अविनाशराय का १६६ वाँ छन्द 'राजत राजा कुटी······गढ़ी है' नया दृष्टिगोचर हुआ। अतः मैंने वैद्यभूषण जी से आग्रहपूर्वक कहा कि आप समस्त पुस्तक को क्यों नहीं प्रकाशित कर देते, सोरों-सामग्री तो पहले से ही बदनाम है, और अकारण कलंकित होगी। फलतः 'तुलसी-प्रकास' का पूर्णावतार हुआ।

बाह्य परीक्षण—उक्त 'तुलसी-प्रकास' के दो संस्करण लक्ष्मी प्रेस कासगंज से मुद्रित हुए हैं। इसका प्रथम संस्करण आयुर्वेदाचार्य श्री वेदव्रत शर्मा ने दिसम्बर १९५३ में प्रकाशित किया। लगभग एक मास पश्चात् उसके द्वितीय संस्करण का आगमन हुआ। सोरों की तुलसी-समिति ने इसका प्रकाशन और श्री भद्रदत्त शर्मा ने सम्पादन किया, तथा श्री गोविंद वल्लभ भट्ट ने इसका परिचय दिया। जहाँ तक इस पुस्तक के संस्करणों का सम्बन्ध है वहाँ तक भूमिकादि और शीर्षक पृष्ठों को छोड़कर दोनों में कोई अन्तर नहीं। वे एक ही संस्करण के दो विभाजन हैं।

पाठ-भेद—पुस्तक का प्रथम संस्करण १९५३ ई० के दिसम्बर मास में और उसके तथाकथित द्वितीय संस्करण का सूत्रपात श्री गोविंदवल्लभ भट्ट की परिचयात्मक भूमिका के अनुसार १ जनवरी, १९५४ को हो चुका था। पुस्तक के दोनों ही मुद्रित संस्करणों तथा उसकी पाण्डु-लिपि से श्री भद्रदत्त जी का सम्बन्ध रह चुका था। परन्तु इन तथाकथित संस्करणों में और तुलसी-प्रकास की पाण्डु-लिपि के संयुक्त अनुसन्धाता पं० भद्रदत्त शर्मा के उन लेख-वर्ती पाठों में अन्तर है जो 'तुलसी-प्रकास'

के सम्बन्ध में पीछे प्रकाशित हुए। शर्मा जी का एक लेख था 'गोस्वामीजी ने राजापुर बसाया', दूसरा था 'गोस्वामी तुलसीदास के जीवन से सम्बन्धित तिथियाँ'। ये दोनों लेख 'विशाल भारत' के फरवरी और मई १९५४ ई० के अंकों में प्रकाशित हुए हैं। पहले लेख को 'व्रज भारती' में भी स्थान मिला है। शर्मा जी के उक्त प्रथम लेख में गोस्वामी तुलसीदास और अविनाशराय की भेट का शक संवत् इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

नन्द चन्द तत्व ईस ऊर्ज सित नौमि जीव
फेरि किय संग एक मास अविनास राय।

किन्तु 'तुलसी-प्रकास' के मुद्रित संस्करणों में यह पाठ इस प्रकार है—

नन्द चन्द तत्व ईस उर्जसित नौमि कच्छ
जीव फेरि कीय संग १ मास अविनास राय।

और इसका भी पाठान्तर दोनों संस्करणों की पाद टिप्पणियों में इस प्रकार है—

नन्द चन्द तत्व सोम कातिक अछय नौमि
सोम फेरि कीन संग मास अविनासराय।

पाठ-भेद की संगति नहीं मिलती। 'तुलसी-प्रकास' के मुद्रित तथाकथित दोनों संस्करण तो जनवरी १९५४ ई० तक प्रकाशित हो चुके थे। प्रथम लेख में जो फरवरी १९५४ में प्रकाशित हुआ था, और दूसरे लेख में भी, जो 'तुलसी-प्रकास' से सम्बन्ध रखता है, पाठ-भेद की ओर कोई संकेत नहीं किया गया। शुद्ध पाठ कौनसा है—पहला कि पिछला ? यदि पहला, तो पिछले का क्या आधार; यदि पिछला, तो पहला कहाँ से प्राप्त हुआ ? पहला पाठ तो प्राप्य असल की नकल है। प्रेस की भूल हो, ऐसा संभव नहीं, क्योंकि 'विशाल भारत' और 'व्रज भारती' दोनों में ही एकसा पाठ है, और वेदव्रतजी से जो पाठ मुझे २६ फरवरी, १९५४ के पश्चात् प्राप्त हुआ था वह भी पिछले के ही अनुसार है। पाठान्तर वाली दो मूल प्रतियों का कहीं उल्लेख नहीं। अतएव यह पाठ-भेद पाठकों के लिए प्रहेलिका है।

तिथि-समारोह—अविनाशराय ने चौबीस तिथियाँ शक संवत् में दी हैं। पच्चीसवीं 'तुलसी-प्रकास' के प्रतिलिपिकार की है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) तुलसी जन्म : श्रावण शुक्ला सप्तमी शुक्रवार १४३३, अर्थात् १ अगस्त, १५११ ई०

(२) गुरु नृसिंह-दर्शन : आषाढ़ शुक्ला १५ बुधवार, १४४१

(३) तुलसी विवाह : कार्तिक शुक्ला ११ गुरुवार १४५४ अर्थात् ७ नवम्बर, १५३२ ई०

(४) पितामही-मृत्यु : फाल्गुन शुक्ला १३, शुक्रवार १४६२

(५) तारक-जन्म : कार्तिक शुक्ला १० बुध, १४६४ अर्थात् १८ अक्तूबर, १५४२ ई०

(६) रत्नावली के भ्राता का आगमन : १४६९ शक संवत्

(७) गृह-त्याग : भाद्रपद कृष्णा ३ शुक्रवार १४६९ अर्थात् २ सितम्बर, १५४७ ई०

(८) रत्नावली का योगमार्गवास : वैशाख शुक्ला ३ शुक्रवार १४७६ अर्थात् २ अप्रैल १५५७

(९) तुलसीदास का द्वितीय बार अयोध्यागमन : चैत्र शुक्ला ५ गुरु १४८० अर्थात् २४ मार्च १५५८ ई०

(१०) नन्ददास-वैराग्य-सूचना : ज्येष्ठ शुक्ला ७ गुरु १४८३, अर्थात् ३१ मई १५७१ ई०

(११) तुलसी की मथुरा-यात्रा : माघ शुक्ला ५ मंगलवार, १४६३

(१२) तुलसी का प्रयाग और अयोध्या में भ्रमण : १४६५

(१३) रामचरितमानस प्रारम्भ : १४६६ चैत्र शुक्ला ६ मंगल अर्थात् ३० मार्च १५७४ ई०

(१४) रामचरितमानस की पूर्ति : ज्येष्ठ कृष्णा ३ शुक्रवार १५००, अर्थात् २३ मई १५७८ ई०

(१५) चित्रकूटवास : ज्येष्ठ १५०६

(१६) राजासाधु की कुटी में निवास : ज्येष्ठ शुक्ला ७ शनिवार १५०६ अर्थात् ३ जून १५८७

(१७) अविनाशराय का राजासाधु की कुटी में प्रवेश : माघ कृष्णा ५ रविवार १५१७, अर्थात् ८ फरवरी १५६६ ई०

(१८) राजासाधु की मृत्यु : फाल्गुन शुक्ला २ शुक्रवार १५१७, अर्थात् २० फरवरी १५६६ ई०

(१९) अविनाशराय का पुनर्मिलन : कार्तिक शुक्ला ६ गुरुवार १५१६

(२०) अविनाशराय का पुनर्मिलन : श्रावण कृष्णा ३० सोमवार १५२२

(२१) अविनाशराय की तीर्थयात्रा : भाद्रपद शुक्ला १५ शनिवार १५२८ अर्थात् ६ सितम्बर १६०६ ई०

(२२) अविनाशराय का तारी में आगमन : कार्तिक शुक्ला १५ गुरुवार १५३४, अर्थात् २६ अक्तूबर १६१२ ई०

(२३) हरसिंह का देह-त्याग : वैशाख कृष्णा ७ शनिवार १५३५, अर्थात् १ मई १६१३ ई०

(२४) 'तुलसी-प्रकास' की पूर्ति : पौष कृष्णा २ शुक्रवार १५४२

(२५) ज्येष्ठ कृष्णा ३० अमावास्या सोमवार १५५६ वि० अर्थात् २८ जून १८०२ ई०

तिथि-प्रक्षेप—अविनाशराय-प्रदत्त चौबीस तिथियों में से तीन में तिथिवार नहीं दिये गये अतएव उनके सत्यापन का प्रश्न नहीं उठता। शेष इक्कीस में से छः तिथियाँ सत्यापित नहीं होतीं। जिस तिथि-वार को अविनाशराय ने गोस्वामी तुलसीदास से भेंट की, वह गणना से अशुद्ध है, क्योंकि उस दिन सोमवार था, गुरुवार नहीं। आश्चर्य है कि जो व्यक्ति औरों के सम्बन्ध में तिथि-वार दे वह स्वयं अपने सम्बन्ध में भूल करे। इसके अतिरिक्त जैसा कि निवेदन किया जा चुका है, पाँच और तिथियाँ गणना से ठीक नहीं। इनमें से एक है आषाढ़ पूर्णिमा बुधवार शक संवत् १४४१,

अर्थात् जिस दिन गोस्वामीजी को अपने गुरु नृसिंह के दर्शन हुए। दूसरी है फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी शुक्रवार शक संवत् १४६२ अर्थात् जिस दिन गोस्वामीजी की पितामही का देहावसान हुआ। तीसरी है माघ शुक्ला पचमी मंगलवार शक संवत् १४६३ अर्थात् जिस दिन गोस्वामीजी मथुरा पधारे थे।

उक्त अन्तिम तीनों तिथियाँ प्रचलित संवत्-प्रणाली के, और अन्य सब विगत प्रणाली के, अनुसार हैं। अतएव यह विचारणीय है कि कोई लेखक अपने उसी ग्रन्थ में विगत और प्रचलित दोनों ही परिपाटियों का आश्रय लेकर संवतों का उल्लेख करे। अविनाशराय को पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि वे शक संवतों का उल्लेख करते समय विगत प्रणाली का आश्रय लेते अथवा प्रचलित का। किन्तु उन्हें यह उचित न था कि संवतों के उल्लेख में कभी इसका आश्रय लेते और कभी उसका।

चौथी अशुद्ध मिति को अविनाशराय का गोस्वामीजी से पुनर्मिलन हुआ। पाँचवीं अशुद्ध मिति वह है जिस दिन अविनाशराय ने अपनी रचना 'तुलसी-प्रकास' को पूर्ण किया। वह है पौष कृष्णा द्वितीया शुक्रवार शक संवत् १५४२। ये तिथियाँ तभी ठीक मानी जा सकती हैं जब सवत् को पूर्णिमान्त मानें। किन्तु आपत्ति होगी कि अन्य सब तिथियों के सम्बन्ध में संवत् को अमान्त क्यों माना जाय? एक ही स्थान और युग के संवतों के निर्धारण में पूर्णिमान्त अथवा अमान्त किसी एक ही प्रणाली का अवलम्बन संगत प्रतीत होता है।

डायरी की भूल-चूक—सुनते हैं कि भारतीयों में डायरी अर्थात् दैनन्दिनी रखने की प्रथा न थी। जो हो, अविनाशराय ने इस भ्रम को दूर करने का प्रयास किया है। उन्होंने तिथियों का बाजार लगा दिया है और गोस्वामीजी के सम्बन्ध में संवत्, तिथि और वार दिये हैं, और कभी-कभी तो वे नक्षत्र का उल्लेख करने से भी न चूके। तुलसीदासजी का लल्ला कब उत्पन्न हुआ, कब दिवंगत? उनकी दादी ने कब स्वर्ग-लाभ किया? तुलसीदासजी और नन्ददासजी ने यात्रा के लिए कब प्रस्थान किया? आदि छोटी-छोटी घटनाओं को भी वे नहीं भूले। किन्तु उन्हें नन्ददास और रत्नावली के जन्म-मृत्यु के, तथा 'रामचरित मानस' और 'कृष्ण गीतावली' को छोड़ अन्य सब रचनाओं से सम्बन्ध रखने वाले, संवत् कैसे विस्मृत हो गये? आश्चर्य है कि उन्होंने अपने से सम्बन्ध रखने वाली तिथियों में भी भूल की। इस उल्लेख की विशेष आवश्यकता भी क्या थी कि वे अमुक तिथियों को गोस्वामीजी से और अमुक को राजा साधु से मिले। जैसे बाजार में सभी के मतलब की सभी प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध रहती हैं, वैसे ही अविनाशराय ने तिथियों का जो बाज़ार लगाया है उसमें प्रचलित, विगत, अमान्त, पूर्णिमान्त संवत्प्रणालियों का नयनाभिराम प्रदर्शन है।

अभीष्ट-साधन—अविनाशरायजी गोस्वामी तुलसीदास का जन्म-स्थान सोरों के योग मार्ग मोहल्ले में स्थापित कर कुछ व्यक्तियों की साभिप्राय कल्पना की पुष्टि अवश्य करते हैं। किन्तु सोरों की जो सामग्री 'तुलसी-प्रकास' के उद्भव से पूर्व प्रकाशित हो चुकी थी उसके अनुसार गोस्वामीजी का निवास तो सोरों के योगमार्ग मोहल्ले में अवश्य था, पर उनका जन्म-स्थान, उस सामग्री के अनुसार रामपुर नामक ग्राम था जो सोरों से लगभग दो मील पूर्व है। इस विषय में मुरलीधर चतुर्वेद के

निम्नलिखित वे वचन स्पष्ट हैं जो उन्होंने १८२९ वि० में लिखे थे—

तबहि मीत इक दई ग्रास गुरु नृसिंह के जाउ पास ।।५६।।
स्मारत वैष्णव सो पुनीत सकल वेद ग्रागम ग्रधीत ।।६०।।
चक्र तीर्थ ढिग पाठशाल तहीं पढावत विपुल बाल ।।६१।।
तहाँ रामपुर के सनाढ्य सुकुल वंशधर द्वै गुनाढ्य ।।६२।।
तुलसिदास ग्ररु नंददास पढत करत विद्या विलास ।।६३।।
एक पितामह पौत्र दोउ चंद्रहास लघु ग्रपर सोउ ।।६४।।
तुलसी ग्रात्माराम पूत उदर हुलासो के प्रसूत ।।६५।।
गये दोउ ते ग्रमर लोक दादी पोतहिं करि ससोक ।।६६।।
वसत जोग मारग समीप विप्रवंश कर दिव्यदीप ।।६७।।

(रत्नावली-चरित)

छप्पै—एक पितामह सदन दोउ जनमे बुधि रासी ।
दोउ एकहि गुरु नृसिंह बुध ग्रन्तेवासी ।
तुलसिदास नन्ददास मते द्वै मुरलीधारे ।
एक भजे सियराम एक घनश्याम पुकारे ।
एक बसे सो रामपुर एक श्यामपुर में रहे ।
एक राम गाथा लिखी एक भागवत पद कहे ।।१।।
एक पिता के पूत दोउ बल राम मुरारी ।
मुरलि चक्र इक धर्यो एक हल मूशल धारी ।
नीलांबर तनु एक एक पीतांबर धारी ।
दोउन चरित उदार रह्यो मत न्यारो-न्यारो ।
इमि कर्तव्य रुचि मत प्रकृति जन-जन कीन समान जग ।
जनमि एक हू गृह गहैं निज स्वभाव ग्रनुरूप मग ।।२।।

—रतनावलीचरित (परिशिष्ट)

'तुलसी-प्रकास' ग्रथवा 'तुलसीतत्व प्रकास' ?—ग्रविनाशराय की रचना का वास्तविक नाम क्या है—'तुलसी प्रकास' ग्रथवा 'तुलसी तत्त्व प्रकास' ? सन् १९३६ ई० के ग्रक्तूबर में, 'कल्याण' में एक लेख प्रकाशित हुग्रा था, जिसका शीर्षक था 'श्री गोस्वामीजी के नामराशि' ग्रौर लेखक थे ग्रयोध्यावासी म० बालकराम विनायक। उसमें विनायकजी ने किसी 'तुलसी तत्व प्रकाश' का उल्लेख किया था। 'तुलसी-प्रकास' के दोनों संस्करणों के सम्पादकों ने उस ग्रोर इंगित किया है। 'तुलसी प्रकास' के १९८वें छन्द में 'तुलसी प्रकास' का ग्रौर १९९वें में 'तुलसी-तत्व प्रकास' का स्पष्ट नामोल्लेख हुग्रा है। यदि वाल्मीकिजी रामजन्म से पहले ही रामगाथा लिख सकते थे तो क्या ग्रविनाशरायजी म० विनायकराव के जन्म से पहले शतियों पूर्व विनायकरावजी की पुष्टि न कर सकते थे। पता नहीं द्वय-नामकरण की क्या ग्रावश्यकता पड़ी।

नवीन पुरातन का मिश्रण—हो सकता है 'तुलसी-प्रकास' नितान्त नवीन रचना न हो, नवीन-पुरातन का सम्मिश्रण हो। पर कितना नवीन ग्रौर कितना

[पु]रातन, यह तो उन वैद्यभूषण और आयुर्वेदाचार्य की ऐतिहासिकता का थर्मामीटर [ब]ता सकता है जिनके परामर्श से राजा साधु राजापुर की पर्णकुटी के रोगियों की [चि]कित्सा और परिचर्या करते थे। १५८वें छन्द में लिखा है—

भिच्छा गहि लावै जदि साधु आइ जाये कोउ
नेह सों जिमावै भलें आपु वरत उपास
रोगी होइ साधु कोउ तासु उपचार करै
बूझि बूझि वैदनु घोटि प्यावै अनेक घास।

१७२ वें छंद का निम्नलिखित पाठान्तर भूलसुधार के निमित्त स्पष्ट प्रक्षेप है :

नन्द चन्द तत्व सोम कातिक अछय नौमि
सोम फेरि कीन संग मास अविनासराय।

तुलसीदासजी का एवं अपना परिचय देने के पश्चात् अविनाशराय के निम्नलिखित छन्द को अप्रकरण प्रक्षेप ही कहा जा सकता है—

नन्द दास चंद्रहास सुत कृष्णदास ब्रज चंद
गए बुलावन बार बहु श्री तुलसिहि नंदनंद ॥१९२॥

इसी प्रकार पुष्पिका के अन्त में १९९, २०० और २०१ संख्यक छंद अनावश्यक प्रक्षेप हैं जो 'तुलसी-प्रकास' और 'तुलसी तत्व प्रकास' के तादात्म्य को सिद्ध करने के निमित्त निर्मित प्रतीत होते हैं। महाकवि कालिदास की उक्ति है कि पुरानी सभी बातें भली नहीं होतीं और न नवीन सभी बातें अवद्य होती हैं। अविनाशरायजी ने भी यह अच्छा ही किया कि उन्होंने एक ऐसे काव्य की सृष्टि कर डाली जो नवीन होता हुआ भी पुरातन है और पुरातन होता हुआ भी नवीन है। उन्होंने एक ऐतिहासिक महापुरुष का जीवन-वृत्त ऐसे रूप में उपस्थित किया है जो कालदिक् की उपेक्षा कर सकता है। अविनाशराय ने 'तुलसी चरित' के कर्त्ता बाबा रघुवरदास तथा 'मूल गोसाईं चरित' के रचयिता बाबा वेणीमाधवदास को भाषा, शैली और इतिहास-व्यतिक्रम में जो करारा मात चखाया उसके लिए वे आश्चर्य के पात्र हैं।

साम्याभास—'रामचरित मानस' में गोस्वामीजी ने भरतजी की प्रशस्ति में जो स्मरणीय शब्द लिखे हैं वे हैं :

जो न होत जग जन्म भरत को, सकल धरम धुर धरनि धरत को
(२, २३२, १)
होत न भूतल भाउ भरत को, अचर सचर चर अचर करत को।
(२, २३७, ४)

सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को।
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।
(अयोध्या कांड का अन्तिम छंद)

बस अविनाशराय ने भी गोस्वामीजी के लिए लिख दिया :

होत न जो तुलसी जग में हिंदुआन की कानहि को धरतो।

वेद पुरानन की चरचा अरचा अविनास को आचरतो ।
मोहमयी मदिरा मद मत्त अचेतन चेतन को करतो ।
मानस राम पियूष पिआइ सो जीवन-जीवन को धरतो ।।१६४।।

अविनाशराय को यह गौरव प्राप्त था कि वे अकबर जैसे सम्राट् के काल में विराजमान थे । वे लिखते हैं—

अविनास अकब्बर से अवनीस रहे जिनकी जग कीर्ति कहानी ।।१६५।।

हिन्दुत्व के हामी और अकबर के प्रशंसक अविनाशराय की उक्त प्रशस्ति में पाठकों को विरोधाभास अथवा नवीनताभास भले ही मिले, किन्तु उन्हें इस बात से संतोष होना चाहिए कि साम्य का आधार तो प्राचीन है । स्यात् अविनाशराय को इस 'क्रेडिट्' की आशा रही होगी कि उन्होंने गोस्वामीजी को जो 'ट्रिब्यूट्स' अर्पित किये हैं वे उनके कल्पना-जगद्विहारी उत्तर-कालीन आलोचकों के लिए पथ-प्रदर्शक रहेंगे ।

'सूर सूर तुलसी ससी' के आलोचक से कदाचित् पहले ही अविनाशराय ने लिख दिया था—

छहरै छबीलो छिति क्षेत्र में छपाकर सो ।।१६८।।

गोस्वामीजी की गणना आजकल विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जा रही है । उनके रामचरितमानस का अनुवाद ग्राउज़, हिल और ऐटकिंस अंग्रेजी में कर चुके हैं और एलेक्सी वारान्निकोव ने रूसी भाषा में किया है । ग्रियर्सन ने तथा अन्य अनेक विदेशियों ने तुलसी के गीत गाये हैं । इस प्रकार गोस्वामीजी की रचनाओं का मूल्य यूरोप और अमरीका में आँका जा रहा है । किन्तु अविनाशराय तो शताब्दियों पूर्व गोस्वामीजी के लिए भविष्यवाणी कर गये हैं :

धनि धन्य भए तुलसी जग में कल कीरति जासु रहे चिर थाई ।।१६६।।

अतएव कहा जा सकता है कि अविनाशराय केवल डायरी-कार और कुशल पद्यकार ही नहीं थे, किन्तु ज्योतिष के चमत्कार से भी चमत्कृत थे, और आज उनकी रचना सोरों की सामग्री में दिठौना के रूप से सुशोभित है ।

निष्कर्ष—उक्त कारणों से मैं 'तुलसी-प्रकास' को अप्रामाणिक ही समझता हूँ । इसके कुछ अंश अवश्य प्राचीन लगते हैं, पर पुस्तक में मिलावट अवश्य है । इसका कितना अंश प्रामाणिक और कितना अप्रामाणिक है, इसे छाँट देने में मैं इस समय अपने को असमर्थ पाता हूँ । इसमें तुलसीदासजी की जो जन्म-तिथि दी गयी है वह गणना से तो ठीक है जिसकी चर्चा किंचित् विस्तार से इसी ग्रंथ में अन्यत्र की जायगी । इसके अतिरिक्त इसमें कुछ ऐसी सूचनाएँ भी हैं जिनसे तुलसी-जीवन पर विशेष प्रकाश पड़ने की सम्भावना है । आशा है, विद्वानों के गंभीर विवेचन के निमित्त 'तुलसी-प्रकास' पुस्तक का सार दे देना तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के आगामी पृष्ठों में उसके कतिपय स्थलों का यथा-स्थान तुलनात्मक उल्लेख कर देना अवांछनीय न होगा ।

'तुलसी-प्रकास' का सार—अविनाशराय के अनुसार, गोस्वामी जी के नाना अयोध्यानाथ दुबे गंगा के दक्षिण तट पर स्थित तारी ग्राम में निवास करते थे । गोत्र था कौंडिन्य और व्यवसाय ज्योतिष । पत्नी दिवंगत हो चुकी थी पर उनकी जरठ विधवा

भगिनी सरस्वती साथ रहती थी। पुत्र तो कई हुए पर हुलसी कन्या ही जीवित रही, जिसका विवाह आत्माराम सुकुल से हुआ। विवाह के कुछ वर्ष पश्चात् ज्योतिषी जी ने अपने जामाता को बुलवाया और उन्हें अपनी सम्पत्ति अर्पण कर स्वर्गारोहण किया।

आत्माराम जी के पिता पं० सच्चिदानन्द भारद्वाज गोत्रीय सुकुल-सनाढ्य ब्राह्मण शेष सनातन-वंश के, तथा तारी और सोरों के निकट रामपुर ग्राम के निवासी थे; वे अपने छोटे पुत्र जीवाराम का विवाह करने के पश्चात् दिवंगत हुए। जीवाराम की माता और पत्नी चम्पा में एक दिन वाग्युद्ध हो गया, जिसके फलस्वरूप माता ने शपथ-पूर्वक निश्चय किया कि मैं अब चम्पा के साथ न रहूँगी।

सोरों के योगमार्ग मोहल्ले में आत्माराम की ननसाल का गृह सूना पड़ा हुआ था, वह राजोरियों का घर कहलाता था। आत्माराम अपनी माता और पत्नी के सहित वहाँ जा बसे और सम्पन्नता-पूर्वक रहने लगे। कुछ ही दिन पीछे वहाँ १४३३ शक श्रावण शुक्ला सप्तमी भृगुवार को विशाखा नक्षत्र के द्वितीय चरण में तुलसीदास का जन्म हुआ। समारोहपूर्वक उत्सव मनाया गया। कुल-गुरु भीमशंकर ने आवश्यक संस्कार कराये। आत्माराम जी के पेट में तीन दिन बड़ी पीड़ा रही, पर भगवान् रामचन्द्र की कृपा से शान्त हो गयी। पीड़ा-शान्ति के पश्चात् प्रात काल तारी में सरस्वती को बधाई भेजी गयी और उसने प्रसन्नतापूर्वक पारितोषिक भेजा।

शुभ दिन नामकरण हुआ। माता हुलसी तुलसी जी की पूजा किया करती थी अतएव बालक का नाम तुलसीदास रखा गया। जब तुलसीदास दश मास के हुए तो कुछ शब्द बोलने लगे।

इधर तारी में सरस्वती की मृत्यु हो गयी। सूचना पाकर दम्पति वहाँ गये, श्राद्ध तथा ब्राह्मण-भोजन कराया। लौटने का विचार हो रहा था कि हुलसी को अचानक हैज़ा (विषूचिका रोग) हो गया और वह चल बसी। आत्माराम जी उसका भी संस्कार कर पुत्रसहित सोरों लौट आये।

शोकाकुल तो थे ही, आत्माराम को ज्वर हो आया, और अर्धमास दुःख में काट वे भी चल बसे। उन की माता, भाई तथा चम्पा सभी दुःखी थे। जीवाराम ने माता से रामपुर चलने के लिए कहा और चम्पा ने क्षमा माँगी, पर माता सहमत न हुई। अतएव जीवाराम नित्य सोरों आकर तुलसीदास को खिलाकर माता का कुशल-क्षेम ले जाते थे। ३॥ वर्ष पश्चात् चम्पा ने नन्ददास को जन्म दिया। नामकरण हुआ और तुलसीदास की पट्टी भी पुजी। इसके दो वर्ष दस मास पश्चात् चन्द्रहास संसार में आये, पर जीवाराम जी रोगी हो क्षय से पंचत्व को प्राप्त हुए। उनकी मृत्यु के पश्चात् घोर दारिद्र्य ने परिवार को आ घेरा, खेती-बारी, धन-धान्य पूर्व-वैभव सब नष्ट हो गया। चाचा की मृत्यु से तुलसीदास को बड़ा शोक हुआ। दादी उन्हें सान्त्वना देती कि राम भला करेंगे तू राम को भज। तुलसीदास राम-राम कहते, जिससे लोग उन्हें राम-बोला कहने लगे। जो कभी अच्छा भोजन किया करते थे, उन्हें अब कभी-कभी अधपेट ही भोजन मिलता; वे फटे-पुराने कपड़े पहनते, यात्रियों से याचना करते, पर कोई धैर्य न देता।

शक सं० १४४१ की आषाढ़ पूर्णिमा बुधवार को गंगा किनारे नृसिंह जी ने

तुलसी को दयनाय दशा में देखा तो वे परिचय प्राप्त कर उन्हें अपने यहाँ लिवा लाये, उनको पढ़ाया और उनकी जीविका का प्रबन्ध भी कर दिया। नन्ददास भी साथ पढ़ने लगे। सीताराम जी के मन्दिर में हरिहर स्वामी रहते थे, उनसे तुलसीदास और नन्ददास ने गानवाद्य और रागरागिनियों का ज्ञान प्राप्त किया।

दोनों भाई व्युत्पन्न हो गये, उनका मान बढ़ने लगा। वे खेती कराते और पुराणों की कथा भी बाँचते। तारी के भूपसिंह, हुलसी के नाते, तुलसीदास का बड़ा आदर करते। गंगा के पश्चिम तीर बदरिका ग्राम के निवासी वसिष्ठ गोत्रीय दीनबन्धु पाठक ने बारह वर्ष की अपनी कन्या रत्नावली का विवाह शक संवत् १४५४ की देवोत्थान एकादशी गुरुवार को उन से कर दिया। पाठक जी की पत्नी का नाम दयावती था और उनके तीन पुत्र थे—शिव, शंकर और शंभु। पाँचवें वर्ष रत्नावली का गौना हुआ। रत्नावली की सेवा से दादी संतुष्ट थी। रत्नावली की अभिरुचि काव्य-पुराणों में थी।

दादी के प्रस्ताव पर तुलसीदास जी घर पर चन्द्रहास को छोड़ दादी, नन्ददास तथा रत्नावली को लेकर १४६२ शक संवत् में अयोध्या का दर्शन करने गये। चैत्र शुक्ला नवमी को सरयू में स्नान कर उन्होंने अयोध्या में सीताराम जी के दर्शन किये और परिक्रमा की। वहाँ कुछ दिन निवास के उपरान्त प्रयाग के लिए प्रस्थान हुआ; और वहाँ कुछ दिवस त्रिवेणी-स्नान भी। काशी जाकर उन्होंने विश्वनाथ जी के दर्शन किये। वहाँ बघेला-वासी हरसिंह देव निवास करते थे; उन्हें जब तुलसीदास जी का परिचय मिला, तो उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की और दशाश्वमेधघाट पर तुलसीदास जी से श्रावण-भर 'शिवपुराण' श्रवण कर बहुल धन दिया। कथा में श्रोताओं की भीड़ रहती थी। काशी में मणिराम नाम के अग्रवाल वैश्य रहते थे, वे तुलसीदास की कथा से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भाद्रपद मास में वाल्मीकि रामायण की कथा तुलसीदास जी से अपने घर एक मास तक सुनी।

इतने में नन्ददास ने एक दल द्वारका जाते देखा और वे भी वहाँ जाने के इच्छुक हुए। तुलसीदास जी ने समझाया, पर नन्ददास जी अनुनय-विनय कर पाँच मास के भीतर लौट आने का वचन दे चले गये।

तुलसीदास जी क्वार में श्राद्ध और कार्तिक में स्नान-व्रत श्रद्धापूर्वक करते रहे। जब अगहन बीतने लगा और नन्ददास की कोई सुधि न मिली तो तुलसीदासजी व्यग्र हुए। वे यात्रियों से नन्ददास जी के बारे में पूछते, पर कोई संतोषजनक उत्तर न मिलता था। अन्त में एक व्रजवासी ने उन्हें बताया कि नन्ददास तो गो० विट्ठलनाथ के शिष्य हो गये हैं और गोकुल में निवास करते हैं; इस पर तुलसीदास जी ने नन्ददास को पत्र लिखा, उसका उत्तर मिला। माघ में वे सब घर चले गये।

१४६२ शक के फाल्गुन में घर लौट कर हवन और ब्राह्मण-भोज कराकर तुलसीदास जी की दादी त्रयोदशी शुक्ला फाल्गुन शुक्रवार को स्वर्ग सिधार गयी। नन्ददास जी घर पर नहीं थे, अतएव चन्द्रहास को उन्हें लिवाने गोकुल भेजा गया। विट्ठलनाथ जी की आज्ञा लेकर नन्ददास तुरन्त सोरों आये। उन्होंने भाई को प्रणाम किया और अपना वृत्तान्त सुनाया। उनकी पत्नी कमला को बड़ी प्रसन्नता हुई। दशाह, एकादशाह, द्वादशाह और त्रयोदशाह विधिविधान-पूर्वक सम्पन्न हुए।

तुलसीदास जी रामभक्त थे और नन्ददास जी कृष्ण-भक्त। दोनों ही अपनी रुचि के अनुसार भगवद्भजन करते, कविता करते, तथा दोनों ही पुराण बाँचते और कृषि कराते। कार्तिक शुक्ला दशमी बुधवार शक सं० १४६४ के पूर्वाभाद्र नक्षत्र में तुलसीदास जी के पुत्र तारापति का जन्म हुआ। वह बड़ा द्युतिमान्, बुद्धिमान्, हँसमुख और गौरवर्ण था, किन्तु तीन वर्ष और दो मास की आयु पा दिवंगत हो दम्पति को शोक-सागर में निमग्न कर गया।

समय पाकर दुःख जाता रहा और तुलसीदास जी अपनी रूपवती गौरवर्णा पत्नी में इतने अनुरक्त हो गये कि सीताराम जी को भी भूल गये। १४६९ शक संवत् के श्रावण में रत्नावली का भाई शम्भुनाथ अपनी भगिनी को लिवाने आया। तुलसीदासजी की आज्ञा पाकर इधर तो रत्नावली अपने भाई के साथ बदरी गयी और उधर दूसरे दिन तुलसीदास जी भी रथ में बैठकर अन्य ग्राम में कथा बाँचने चले गये। जब ग्यारहवें दिन सायंकाल को तुलसीदास जी घर लौटे तो उन्हें पत्नी से मिलने की उत्कट अभिलाषा हुई, और वे गंगा पार कर ससुराल जा पहुँचे। उस समय भाद्रपद मास की अन्धकारमयी रात्रि थी, काली घटाएँ आकाश में छायी हुई थीं और मन्द-मन्द बूँदें पड़ रही थीं; पर जिस प्रकार हनुमान् जी राम को हृदय में रख समुद्र को लाँघ गये, उसी प्रकार तुलसीदास जी भी पत्नी को हृदय में रख गंगाजी को पार कर गये। श्वसुरालय के कपाट खुलवाये। रत्नावली के भ्राता उठे, और उन्होंने, कुशल प्रश्नान्तर, सूखे वस्त्र पहनाकर उन्हें सेज पर सुला दिया।

एकान्त देख कर रत्नावली आयी। उसने प्रणाम कर पूछा: 'प्राणनाथ, अर्ध-रात्रि को कैसे? गंगाजी कैसे पार की?' तुलसीदास बोले कि 'मैं राम-कथा पूर्ण कर आज सायंकाल ही लौटा। पर तुम्हारे बिना जी अकुलाने लगा, और मैं तुम्हारे प्रेम रूपी पोत में बैठ कर गंगाजी को पार कर आया हूँ।' रत्नावली पुलकित हो कर बोली: 'मेरे शरीर के प्रेम के द्वारा आपने गंगाजी पार कर ली, अवश्य ही मनुष्य भगवत्-प्रेम के द्वारा संसार-सागर को पार कर जाते होंगे। प्रेम की महिमा ऐसी ही है। मेरे बड़े भाग्य हैं कि आप जैसे पति मिले।'

ये शब्द सुनकर तुलसीदास जी के नेत्र मुँद गये। वे सोचने लगे कि मेरा वय तो बिना राम-प्रेम के बीता चला जा रहा है। रत्नावली पैर दबा रही थी, उसने सोचा कि पति-देव को नींद आ गयी है। होनहार थी कि वह सोने चली गयी और तुलसीदास जी रात में ही उठ कर चुपके से चले गये। उस दिन भाद्रपद कृष्णा तीज भृगुवार १४६९ शक सं० था। प्रातःकाल बड़ी ढूँढ हुई, पर कहीं भी उनका पता न चला।

वियोग में रत्नावली ने तपस्विनी का-सा जीवन व्यतीत किया। कभी भाइयों के साथ बदरिका रहती तो कभी नन्ददास जी के पास रहती। किन्तु उसने वैशाख सुदी तीज शुक्रवार १४७९ शक संवत् से योगमार्ग में निवास किया।

वैराग्य ले, भगवान् राम को मन में धारण कर तुलसीदास जी अनेक नगर, ग्राम व वन में विचरण करते सीधे अयोध्या पहुँचे। वहाँ उन्होंने सरयू में स्नान कर मन्दिर में भगवान् राम के और तत्पश्चात् राम से सम्बद्ध तत्रस्थ अनेक स्थलों के भी दर्शन किये। इस प्रकार दो मास तक अयोध्या में रहकर वे तीर्थराज प्रयाग पहुँचे,

त्रिवेणी में स्नान कर उन्होंने भरद्वाज जी के आश्रम का अवलोकन किया। वहाँ से वे चित्रकूट पहुँच कर राम के भजन में लवलीन हो गये। उन्होंने राम-भक्ति के निमित्त काशीपुरी में भगवान् शंकर के दर्शन किये, तत्पश्चात् अनेक गिरि-वनों में बैठ कर सीताराम का भजन किया, अनेक व्रत-जप-तप साधे एवं शीतोष्ण का सहन किया।

चैत्र शुक्ला ५ गुरुवार १४८० शक को गोस्वामी जी पुनः अयोध्या पधारे, सात मास वहाँ निवास कर पुनः तीर्थाटन के लिए चल दिये और १४८५ शक में काशी लौट आये। वे अपने निवास-स्थान पर कभी राम-कथा कहते और कभी शिव-कथा। यद्यपि वे कभी चित्रकूट, कभी अयोध्या और कभी प्रयाग चले जाते, पर वे अधिकतर काशी में ही निवास करते थे। सत्संग के लिए सन्तों और भक्तों की भीड़ लगी रहती थी।

ज्येष्ठ शुक्ला ७ गुरुवार १४९३ शक को किसी यात्री ने कहा कि नन्ददास जी ने वैराग्य ले लिया है और वे घर छोड़ कर व्रज में रहने लगे हैं। यह सुन तुलसीदास जी प्रसन्न हुए। उनके मन में इच्छा हुई कि नन्ददास को कभी जाकर देख आऊँ, और वे माघ शुक्ला ५ मंगलवार १४९३ शक को मथुरा पहुँचे। वहाँ नन्ददास जी ने उन्हें सूरदास जी के दर्शन कराये और तुलसीदास जी ने उन्हें प्रणाम किया। फिर नन्ददास जी तुलसीदास जी को लेकर गोवर्द्धन गये और वहाँ तुलसीदास जी ने भगवान् कृष्ण को भगवान् राम के रूप में देखा। तदनन्तर वे दोनों श्री विट्ठल जी के दर्शन के लिए गोकुल गये और उन्हें अभिवादन किया। गोसाईं जी ने भी उनका आदर-सत्कार किया। विट्ठल जी के पुत्र का नाम था रघुनाथ और पुत्र-वधू का जानकी; तुलसीदास जी ने उन्हें अपने इष्टदेव के नाम-राशि समझ कर प्रसन्नतापूर्वक अपना मस्तक नवाया। तदनन्तर नन्ददास जी ने भगवान् कृष्ण से सम्बद्ध अनेक सुन्दर स्थल दिखाये, जिन्हें देखकर तुलसीदास जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। तुलसीदास जी ने 'कृष्ण पदावली' की रचना की और तदनन्तर वे काशी चले गये। शक १४९५ की मकर संक्रान्ति में उन्होंने प्रयाग में स्नान, और वहाँ से अयोध्या आकर चैत्र शुक्ला नवमी मंगलवार शक १४९६ को 'रामचरित मानस' का प्रारम्भ किया और शक १५०० की ज्येष्ठ-कृष्णा ३ शुक्रवार को उस की पूर्ति की। इस बीच में वे कभी काशी और कभी अयोध्या आते-जाते रहे। पाँचवें वर्ष में उनके 'रामचरित मानस' की ख्याति होने लगी। श्रोतागण बढ़ने लगे। तुलसीदास जी कभी काशी, कभी अयोध्या, कभी प्रयाग और कभी चित्रकूट रहते।

शक १५०९ के ज्येष्ठ मास में गोस्वामी जी चित्रकूट में निवास कर रहे थे कि वहाँ राजा नाम का भक्त आया। वह नन्द बाबा का वंशज, जाति का अहीर था; किन्तु वह साधुओं का सेवक और अवगासी का वासी था। उस का नाम था राजवीर, किन्तु लोग उसे राजा साधु कहते थे। उस का रंग श्यामल था, उसके गले में तुलसी की माला शोभित रहती। वह शिर पर जटा, कटि में कौपीन और मस्तक पर ऊर्ध्व पुंड्र धारण करता और तुलसीदास जी के श्रीमुख से श्रद्धापूर्वक राम-कथा सुनता था।

एक दिन वह प्रातःकाल गोस्वामी जी से बोला कि मेरी कुटी पर पधारिये और मुझे कृतार्थ कीजिये। उसकी पर्ण-कुटी अरण्य में पयस्विनी और यमुना के संगम

के दक्षिण तट पर थी। अनेक पेड़ों से घिरा वह स्थान बड़ा रमणीक था। जो कोई वहाँ आता राजा साधु उसका बड़ा सत्कार करता और जो कोई रोगी होता उसकी औषधि का भी प्रबन्ध कर देता। वह बड़े सरल स्वभाव का था, कभी क्रोध न करता।

प्रार्थना स्वीकार कर गोस्वामी जी ने उक्त संवत् की ज्येष्ठ शुक्ला ७ शनिवार को राजा साधु की कुटी में पदार्पण किया। स्थान रमणीक था, तुलसीदास जी का मन लग गया। वे वहाँ यमुना जी में स्नान करते और सीताराम का भजन। वे राम-कथा कहते और राजा साधु सुनता। वहाँ गोस्वामी जी का निवास सुनकर और लोग भी आने लगे। तुलसीदास जी का शरीर गौर और सुन्दर किन्तु स्थूल था। वे आजानु-बाहु थे और गले में माला, कटि में श्वेत अधोवास और यज्ञोपवीत, मस्तक पर तिलक धारण करते, तथा शिर और मूंछ मुंडित रखते। उन्होंने राजा साधु की सेवा से प्रसन्न हो राजापुर बसा दिया। उनका व्यक्तित्व भव्य था। शक १५१७ की माघ कृष्णा ५ रविवार को उक्त स्थल पर अविनाशराय तुलसी के भक्त-दरबार में उपस्थित थे।

किन्तु फाल्गुन शुक्ला द्वितीया शुक्रवार १५१७ शक को राजा साधु अचानक परमधाम सिधार गये। कुटी में अपार शोक छा गया। चारों दिशाओं के ग्रामवासियों ने एकत्र होकर उसका विमान निकाला और दाह-संस्कार किया। तुलसीदास जी ने समारोह-पूर्वक उसका भण्डारा किया और उसकी प्रस्तर-मूर्ति गढ़ाकर हनुमत्मन्दिर में स्थापित कर दी।

अविनाशराय ने गो० तुलसीदास का दर्शन सर्वप्रथम चित्रकूट में; तदनन्तर राजा साधु की कुटी में किया। गोस्वामी जी ने बड़े प्रेम से उसका परिचय लिया, छाती से लगाया और अपना भी परिचय दिया। राजा साधु की मृत्यु के समय गोस्वामी के दर्शन अविनाशराय को पुनः प्राप्त हुए। कार्तिक शुक्ला ६ गुरुवार १५१६ शक को एक मास तक वे तुलसीदास जी के साथ रहे। तदनन्तर सोमवती अमावस्या श्रावण १५२२ शक को सत्संग की अभिलाषा से वे गोस्वामी जी के पास गये और ढाई मास उनके पास रहे। गोस्वामी जी भी उसी वर्ष कार्तिक में काशी में चले गये और फिर अविनाशराय को उनके दर्शन न मिल सके। अविनाशराय भी भाद्रपद शुक्ला १५ शनिवार १५२८ शक को सिहुड़ा छोड़कर, तीर्थाटन के लिए, भारत के दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में गये और कार्तिक शुक्ला १५ गुरुवार १५३४ शक को अपने घर ताली में लौट आये। यात्रा में पहाड़ का पानी लगा, अतएव वे ढाइ वर्ष तक अस्वस्थ रहे, किन्तु फिर ठीक हो गये। ताली के अधिपति हरसिंह वैशाख कृष्णा ७ शनिवार १५३५ शक को स्वर्ग सिधारे और उनके सुयोग्य पुत्र कर्णसिंह ने कार्य-भार संभाला। कर्णसिंह ने अविनाशराय को धन-धरित्री के साथ सम्मान प्रदान किया और तब से अविनाशराय ताली छोड़कर कहीं जाते न थे। वहाँ उनके लघु भ्राता और पुत्र भी थे। ताली की भूमि धन्य है जिसमें तुलसी-जैसे चारु-चरित्र दौहित्र हुए, हुलसी जैसी भक्त-प्रसविनी और दुर्गा जैसी कर्णसिंह की वीर-जननी हुई। नन्ददास जी के पुत्र कृष्णदास और चन्द्रहास जी के पुत्र ब्रजचन्द थे। कृष्णदास तुलसीदास जी को बुलाने कई बार गये थे। यदि तुलसीदास जी न होते तो हिन्दुओं के मान और मर्यादा की रक्षा कौन करता ?

अविनाशराय की तरुणावस्था बुन्देल खण्ड में व्यतीत हुई। उन्होंने कालिंजर में और सिहुड़ा में निवास किया। उन्हें बहुत दान, मान और प्रेम भी प्राप्त हुआ। किन्तु उन्हें ओरछा-नरेश के समान गुणज्ञ, केशव के समान कवि, राजा के समान साधु, कहीं देखने को न मिला। सम्राट् जहाँगीर के एवं कर्णसिंह सौरंकी के समय में, अविनाश-राय ने पौष कृष्णा द्वितीया शुक्रवार १५४२ शक को कविचन्द्र गो० तुलसीदास जी का चरित जैसा गुरुजनों से सुना और स्वयं देखा, लिख दिया।

सूकर-क्षेत्र

प्राक्कथन

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के बालकाण्ड में सूकर-क्षेत्र का उल्लेख इस प्रकार किया है :

मैं पुनि निजगुरु सन सुनी कथा सु सूकर खेत

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी की शिक्षा-दीक्षा बाल्यकाल में 'सूकर खेत' में हुई थी। किन्तु यह सूकर-क्षेत्र कहाँ है—इस विषय में कुछ मत-भेद है। कुछ के अनुसार यह एटा ज़िले का सोरों है, दूसरों के अनुसार यह सरयू-घाघरा के संगम पर पसका नामक ग्राम है। आवश्यक अनुसधान के पश्चात् प्रथम मत परम पुष्ट प्रतीत होता है जिसकी रूपरेखा आगामी पृष्ठों में दी जा रही है।

सूकर-क्षेत्र कहाँ ?

निरूपण की आवश्यकता—कुछ आधुनिक लेखकों ने सोरों और सूकर क्षेत्र के तादात्म्य पर शंका उपस्थित की है। अतएव इसका विवेचन आवश्यक है।

यूरोपीय विद्वानों का दृष्टिकोण—युरोपीय विद्वानों ने सोरों और सूकर-क्षेत्र के तादात्म्य को स्वीकार किया है। उदाहरणतः रैवरेंड एडविन ग्रीव्ज़ अपने एक लेख में जो १८७६ ई० में लिखा गया और जो १९२३ ई० में 'तुलसी ग्रन्थावली' में प्रकाशित हुआ था, लिखते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास अपने गुरु के साथ सूकर-क्षेत्र में निवास करते थे जो प्राचीन काल में ऊकल क्षेत्र और वर्तमान काल में सोरों नाम से विख्यात है। एफ० एस० ग्राउज़ महोदय ने भी अपने 'द प्रोलोग टु द रामायण ऑव तुलसीदास : ए स्पैसिमन ट्रांसलेशन' नामक लेख में सूकरखेत को सोरों माना, जो बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की पैंतालीसवीं जिल्द में, सन् १८७६ ई० में, प्रकाशित हुआ था। उस लेख में उन्होंने यह निर्देश किया है कि 'सोरों' 'सूकर-ग्राम' का वर्तमान अपभ्रंश है। उनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है : सूकर ग्राम = सुअर गाँव = सुअराँव = सोरों। किन्तु सूकरक्षेत्र के पर्याय 'सौकर' और 'सौकरव' से 'सोरों' शब्द की निष्पत्ति अधिक संगत है। ग्राउज़ ने गोस्वामीजी के दोहे का इस प्रकार अर्थ किया है "मैंने पुनः अपने गुरु से सूकर खेत अर्थात् सोरों में राम-कथा सुनी थी, पर मैं उस समय अबोध बालक होने के कारण उसके तात्पर्य को नहीं समझ पाया। मुझ जैसा जड़ और सांसारिक अपवित्रताओं से संकुल जीव भला भगवान् राम की गूढ़ कथा को कैसे समझ सकता था, जिसके श्रोता और वक्ता दोनों ही ज्ञान के सागर हैं।" श्री ग्राउज़ ने अन्यत्र लिखा है कि गोस्वामीजी ने सोरों में अध्ययन किया और अयोध्या में लिखना प्रारम्भ किया। ग्रियर्सन महोदय ने भी अपने उन 'नोट्स ऑन तुलसीदास' में, जो इण्डियन एण्टीक्वेरी में १८९३ ई० में प्रकाशित हुए, लिखा है कि गोस्वामीजी ने अपने बचपन में सूकर-क्षेत्र में अध्ययन किया था जिसे आजकल सोरों कहते हैं। इन उक्तियों से यह स्पष्ट है कि ग्राउज़,

ग्रौज़ और ग्रियर्सन के समय में सोरों और सूकर-क्षेत्र एक ही स्थान समझे जाते थे; और कारपेंटर, मैकफ़ी और हिल ने भी उनका अनुसरण किया।

लाला सीताराम का मत—सोरों और सूकरक्षेत्र के तादात्म्य में राय बहादुर लाला सीताराम का अविश्वास था। उन्होंने अपने 'राजापुर के अयोध्या काण्ड की भूमिका' में, जो १९०२ में प्रकाशित हुई थी, 'श्री अवध की झाँकी' में जो १९३३ में प्रकाशित हुई थी, और अपने 'सिलेकशंस फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर, तृतीय पुस्तक : तुलसीदास' नामक ग्रंथ में उल्लेख किया है कि तुलसीदास जी साधुओं के दल में सम्मिलित होकर सूकर क्षेत्र अर्थात् वराहक्षेत्र चले गये और यह खेत एटा जिले का सोरों नहीं है जैसा कि ग्राउज़ महोदय समझते हैं, किन्तु यह गोंडा जिले में सरयू-घाघरा के संगम पर स्थित है। यहाँ गोस्वामीजी ने नरहरिदास से वैष्णव धर्म में दीक्षा ली और रामायण की कथा सुनी थी।

गोसाईं चरित में सूकर खेत—'मूल गोसाईं चरित' १९२५ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ। उसके निर्माता ने कदाचित् लाला सीतारामजी के उक्त अनुसन्धान से अथवा भवानीदास के 'गोसाईं चरित्र' से प्रेरित होकर लिख दिया कि—

> **"कहत कथा इतिहास बहु, आए सूकर खेत।**
> **संगम सरयू घाघरा, संत जनन सुख देत॥"**

इस दोहे में 'सूकर खेत' की स्थिति सरयू-घाघरा के संगम पर प्रकट की गयी है।

डॉ० दास का झुकाव—डॉ० श्यामसुन्दर दास और पं० रामचन्द्र शुक्ल के प्रभाव से इस मत का प्रचार हुआ, किन्तु जैसा कि मैं पीछे के अध्यायों में लिख चुका हूँ, डॉ० दास ने अपने उस 'रामचरितमानस' की भूमिका के तेरहवें पृष्ठ पर जो सन् १९१५ ई० में प्रकाशित हुआ था और उसी ग्रन्थ के उन्नीसवें पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में सोरों का सूकर खेत से तादात्म्य किया था। पुनश्च उस 'रामचरितमानस' की भूमिका के बाइसवें पृष्ठ पर जो १९२२ ई० में प्रकाशित हुआ था उन्होंने जिस सोरों का उल्लेख किया था वह कदाचित् एटा जिले का था। किन्तु पीछे से उन्होंने अपनी धारणा बदल दी और वे सूकर क्षेत्र को सरयू-घाघरा के संगम पर मानने लगे जैसा कि उनके उस ग्रन्थ 'गोस्वामी तुलसीदास' के उनतालीसवें पृष्ठ से स्पष्ट है जो १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ। वे इस विषय में शुक्ल जी से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने १९४० के 'रामचरितमानस' के संस्करण के सोलहवें और सत्रहवे पृष्ठ पर शुक्ल जी के कथन को उद्धृत किया है, जिसका तात्पर्य है कि 'सूकर क्षेत्र' सोरों नहीं है।

शुक्लजी और सूकर खेत—'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के १५९वें पृष्ठ पर शुक्ल जी लिखते हैं :—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' को लेकर कुछ लोग एटा जिले के सोरों नामक स्थान तक सीधे पश्चिम दौड़े हैं। पहिले पहल इस ओर इशारा लाला सीताराम ने अयोध्या काण्ड के स्वसंपादित संस्करण की भूमिका में दिया था। उसके बहुत दिनों पीछे उसी इशारे पर दौड़ लगी और अनेक प्रकार के कल्पित प्रमाण सोरों को जन्म-स्थान सिद्ध करने के लिए तैयार किये गये। सारे उपद्रव की जड़ है सूकरखेत जो भ्रम से सोरों समझ लिया गया। सकरक्षेत्र गोंडा

जिले में सरयू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है। यहाँ आस-पास के कई जिलों के लोग स्नान करने जाते हैं और मेला लगता है।" डॉ० दास ने शुक्लजी का समर्थन किया और डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी के कथन को इस प्रकार और अधिक स्पष्ट किया : "पहले पहल लाला सीताराम ने अपने संपादित राजापुर वाले अयोध्या काण्ड के संस्करण में यह इशारा किया था कि सूकर खेत या सोरों तुलसीदास की जन्मभूमि हो या नहीं वहाँ वे रहे जरूर थे।" पर लाला सीतारामजी के सम्बन्ध में शुक्लजी और द्विवेदीजी द्वारा जो उल्लेख किया गया है वह तथ्य से दूर है, क्योंकि लालाजी ने तो सूकर खेत को गोंडा जिले में सरयू-घाघरा के संगम पर माना और इस बात का खण्डन किया कि सोरों ही सूकर क्षेत्र है जैसा कि उन्होंने राजापुर वाले अयोध्याकाण्ड के संस्करण में तथा अपनी अन्य कृतियों में व्यक्त किया है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि १९२५ ई० से पहले जब 'मूल गोसाईं चरित' का आविर्भाव नहीं हुआ था शुक्ल जी को संगम वाले सूकरखेत का पता न था अन्यथा वे १९१५ ई० और १९२२ ई० में डॉ० दास की आलोचना अवश्य करते जिन्होंने सोरों को सूकरक्षेत्र समझा था, और वे संयुक्त-सम्पादक के रूप से 'हिन्दी शब्द सागर' के ३६३६वें पृष्ठ पर सोरों और सूकरक्षेत्र का तादात्म्य न करते। इसके अतिरिक्त शुक्ल जी राखालदास वंद्योपाध्याय के 'शशांक' का अनुवाद करते समय कुछ तो लिखते जबकि राखाल जी ने सूकरक्षेत्र की स्थिति कन्नौज के पश्चिम में गंगा के किनारे बतायी थी; और वे पं० महादेव प्रसाद त्रिपाठी को भी आड़े-हाथ ले सकते थे जिन्होंने अपने 'भक्तिविलास' में सूकर क्षेत्र और सोरों का तादात्म्य किया है जिसका उल्लेख शुक्ल जी ने स्वयं 'तुलसी ग्रन्थावली' के तृतीय भाग की प्रस्तावना में किया जो काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा के द्वारा सर्वप्रथम १९८० वि० में प्रकाशित हुआ था।

'पसका' की व्युत्पत्ति—डॉ० भगवती प्रसाद सिंह ने, जून १९४३ की सरस्वती में, 'सूकरखेत' नामक लेख में सरयू-घाघरा-संगमस्थ 'पसका' ग्राम को सूकरक्षेत्र सिद्ध करने के लिए 'पसका' शब्द की व्युत्पत्ति की है कि पसका=पसु+का=पशु (वराह) का=वराह क्षेत्र; अथवा पसका=पशुकः=पशु इव इति (पशु प्रधान)=कुत्सितः पशुः। किन्तु व्युत्पत्ति इस प्रकार भी तो हो सकती है : पसका=पास+का, अर्थात् गोंडा वालों के लिए पासका वराह तीर्थ क्योंकि सोरों वाला दूर पड़ता है। पर क्या इस प्रकार की व्युत्पत्तियाँ प्रामाणिक हैं ?

संगमवाला वराहतीर्थ—मैंने गोंडेवाले सूकरक्षेत्र के सम्बन्ध में सरकारी अधिकारियों से जो पत्र व्यवहार किया उसका निष्कर्ष इस प्रकार है : गोंडा जिले में सूकर क्षेत्र है जो पसका के निकट सरयू-घाघरा के संगम पर स्थित है। वहाँ एक मन्दिर है जो वराह जी का कहा जाता है और यह भी कहा जाता है कि वहाँ उनका अवतार हुआ था। कहते हैं कि मन्दिर तीन सौ वर्ष प्राचीन है, इस मन्दिर से पहले भी एक मन्दिर था किन्तु अब उसके कोई चिह्न नहीं हैं। पौष मास में वहाँ मेला लगता है, किन्तु मन्दिर की अपेक्षा अधिकतर संगम के उपलक्ष्य में ही। इस सूकरक्षेत्र का उल्लेख 'अयोध्या माहात्म्य' में उपलब्ध है। उक्त सूचना तबरगंज गोंडा के सबडिवीजनल ऑफिसर श्री बी० बी० सहाय से प्राप्त हुई थी। हमारी समझ में यह बातें विचार-

णीय है कि उक्त सूचना के अनुसार प्राचीन मन्दिर के भग्नावशेष अब विद्यमान नहीं और यह भी कि वार्षिक मेला मन्दिर की अपेक्षा संगम के उपलक्ष्य में लगता है। ऐसा कहना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि उक्त 'अयोध्या-माहात्म्य' में यह उल्लेख नहीं है कि वराह भगवान् का जन्म उक्त संगम पर हुआ और न 'सूकरखेत' अथवा 'सूकरक्षेत्र' शब्द का ही उल्लेख है क्योंकि वराह तीर्थ तो मथुरा आदि अनेक स्थानों में मिलते हैं जैसा कि वराह पुराण (६७-२३) में लिखा है और पण्डित भद्रदत्त शर्मा का आग्रह[1] भी है :—

तत्र कृत्वा च हेरण्या मूर्त्तयश्च चतुर्विधाः
तीर्थे वराहसंज्ञेतु मथुरायां व्यवस्थितः ॥

अयोध्या माहात्म्य में उल्लेख—अयोध्या माहात्म्य के कुछ आवश्यक उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :—

ततः पश्चिमदिग्भागे योजनद्वयसम्मिते । ३५ ।
संगमो वर्त्तते देवि सर्वपापप्रणाशनः ।

× × ×

संगमे सलिले तस्मिन् नरः स्नात्वा विधानतः ।
संतर्प्य पितृ देवांश्च दत्वा दानं च शक्तितः । ४३ ।
हुत्वा वैष्णव मन्त्रेण विष्णु लोकं व्रजेन्नरः
पौषे मासि विशेषेण स्नानं बहुफलप्रदम् । ४४ ।

× × ×

विष्णुं सम्पूज्य विप्रांश्च देयं स्वर्णादि शक्तितः
गावश्चान्नं च वासांसि तुरंगगजमुत्तमम् ।५३ ।
संगमे विधिवद् दत्वा संयाति परमां गतिम्
वर्षे वर्षे तु कर्त्तव्या यात्रा धर्मार्थितत्परैः ।५४ ।
सर्व तीर्थावगाहस्य फलं यादृक् स्मृतं क्षितौ
तादृक् फलं नृणां सम्यक् भवेत्संगम-मज्जनात ।५५ ।
पुरा कृतयुगे देवि पृथिव्युद्धरणं कृतम्
तत्र निष्पादितं तीर्थम् वराहेण महात्मना ।५६।
हत्वा दुष्टं हिरण्याक्षं पृथिवीस्थापनं कृतम्
अत्र देवाः सगन्धर्वाः हर्षनिर्भरमानसाः ।५७।
समागम्य स्तुतिं चक्रुर्यज्ञ वाराह-तुष्टये ।५८।

देवा ऊचुः

देवाधिदेवाय नमो नमो विभो
श्री यज्ञवाराह भयापह प्रभो

१ वास्तविक सूकरक्षेत्र (नवीन भारत, जनवरी १९४१) और सूकरखेत (व्रज भारती, फाल्गुन २०११ वि०)

स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य मही-प्रवर्तिने
कृपा-समुद्राय वर प्रदायिने ।५९।

श्री वराह उवाच

किं वो मनसि भो देवा मत्तस्तत्प्रार्थ्यतां ध्रुवम्
संगमेऽत्र महाक्षेत्रे भुक्ति-मुक्ति-प्रदायके ।६०।

देवा ऊचुः

शत्रुतो न भयं तस्य न चैवेष्ट-वियोजनम्
सगमे मज्जनात् पुंसो गर्भ-वास-क्षयो भवेत् ।६१।

श्री वराह उवाच

एवमस्तु सदा देवाः संगमः पापनाशनः
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तिस्तत्र न संशयः ।६२।

श्री शंकर उवाच

इति श्रुत्वा तदा देवा गंधर्वमुनयस्तदा
तत्रैव निवसन्तिस्म सभां कृत्वा विधानतः ।६३।

(रुद्रयामल, हरगौरी संवाद, अयोध्या खण्ड, अध्याय २९)

'अत्र' और 'तत्र'—उक्त श्लोकों से स्पष्ट है कि सरयू-घाघरा का संगम पौष मास में वार्षिक स्नान-दान के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है और सत्ययुग में देवता उन भगवान् वराह की स्तुति करने के लिए यहाँ एकत्र हुए जिन्होंने अन्यत्र हिरण्याक्ष दैत्य को समाप्त कर पृथ्वी का उद्धार किया था। उक्त श्लोकों में 'तत्र' और 'अत्र' सार्थक हैं। इनमें से एक का अर्थ है 'अन्यत्र' अर्थात् वह स्थान जिसका 'संवाद' में निश्चित उल्लेख नहीं है, स्यात् उसका तात्पर्य सोरों से है; दूसरे का तो निश्चय ही उक्त संगम से तात्पर्य है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'अत्र' से अभीष्ट स्थान है सरयू-घाघरा का संगम, एवं 'तत्र' से सोरों।

प्रो० रामनारायण का सन्देह—कदाचित् यह वार्ता रोचक प्रतीत होगी कि बरेली कालिज के श्री रामनारायण ने उक्त छप्पन से अट्ठावन तक के श्लोकों का अनुवाद आंग्ल भाषा में किस प्रकार किया था जो इण्डियन एण्टिक्वेरी में १८७५ ई० में प्रकाशित हुआ था। वह अनुवाद इस आशय का है: "सत्ययुग के प्रारम्भिक काल में भगवान् वराह रूप में अवतीर्ण हुए। उन्होंने हिरण्याक्ष को मारा और भूतल को दुष्टों से मुक्त किया। वे आये और यहाँ रहे और उन्होंने तीर्थ की स्थापना की। देवता, गन्धर्व और मुनि हर्ष-पूर्वक इस प्रकार स्तुति करने लगे।" यह अनुवाद समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि यह अभिव्यक्ति कि 'वे आये और यहाँ रहे', निराधार प्रतीत होती है। वे इस आशय से लिखते हैं कि "महाराज मानसिंह के अनुसार 'अयोध्या माहात्म्य' सूर्य-वंशी इक्ष्वाकु की रचना है। अयोध्या और सरयू की सत्ता उनके आध्यात्मिक गुरु श्री वशिष्ठ मुनि के कारण है जिन से अयोध्या के वाशिष्ठ ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है। इसकी सृष्टि त्रेता युग में हुई थी और यह श्री रामचन्द्र के सुदर्शन चक्र पर स्थित है। किन्तु श्री उमादत्त पंडित के अनुसार

अयोध्या माहात्म्य तो स्कन्द और पद्म पुराणों का अंश मात्र है और अवध के किसी राजा की रचना नहीं है।" अतएव यह निश्चय कर लेना अच्छा ही होगा कि क्या अयोध्या माहात्म्य वास्तव में स्कन्द और पद्म पुराणों का अंग है। हमें तो स्कन्द पुराण और पद्मपुराण में उक्त उद्धरण प्राप्त नहीं हुए। स्कन्द पुराण के अयोध्या खण्ड में उक्त संगम की महिमा तो है, किन्तु उसका सम्बन्ध किसी भी रूप में भगवान् वराह से नहीं। जो हो, 'अत्र-तत्र' अर्थात् 'यहाँ-वहाँ' के भेद को स्मरण रखना चाहिए।

लाला जी का आधार—ज्ञात नहीं कि स्वर्गीय रायबहादुर लाला सीताराम ने अपनी 'अवध की झाँकी' में घाघरा नदी की व्युत्पत्ति सूकर के 'घुरघुर' शब्द से किस पुस्तक के आधार पर की है; यह भी ज्ञात नहीं कि उनकी सम्मति में किस आधार पर सरयू-घाघरा-संगम पर ही पृथ्वी तरलावस्था से स्थूलावस्था को प्राप्त हुई और वहीं भगवान् वराह ने हिरण्याक्ष को मारकर भूमि को मुक्त कर दिया। 'अयोध्या माहात्म्य' तो इन कल्पनाओं का समर्थन नहीं करता जिन्हें आधार मानकर उन्होंने ग्राउज़ महोदय की इस बात का खण्डन किया कि गोस्वामी तुलसीदास का शिक्षा-स्थान सूकर क्षेत्र सोरों ही था। सम्भव है भवानीदास-कृत 'गोसाईं चरित्र' लालाजी का आधार हो। उसमें लिखा है, जैसा कि श्री चन्द्रबली पांडे का उद्धरण है—

> **दुतिय वास अघनास किय, पावन सूकर खेत।**
> **त्रय जोजन जो अवध ते, दास दरस सुख हेत।१।**
> **श्री नारायन जगतपति, जगहित जक्त अधार।२।**
> **धारो बपु बाराह जब, आदि पुरुष औतार।३।**
> **सब्द घुरुघुरा ते भयो, घाघर सरित प्रवाह।**
> **देव जक्ष गंधर्व सब अस्ति प्रलोवत ताह।४।**
> **षट जोजन है अवध ते, पसका सो परमान।**
> **वास कछुक दिन करि तहाँ, चरचा वेद पुरान।८।**

किन्तु यह 'गोसाईं चरित्र' कतिपय कारणों से सन्देह-निवृत्त नहीं।[1]

संगम वाले सूकरखेत पर गज़टियर चुप—यह भी ध्यान देने योग्य है कि सरयू-घाघरा-संगम वाले सूकर-खेत का उल्लेख गोंडा ज़िले के गज़टियर में अथवा किसी प्राचीन सरकारी विवरण में नहीं है। अतएव प्रतीत होता है कि यह स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण न रहा होगा; और किसी भी दशा में इतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना सोरों। यह भी उल्लेखनीय है कि 'हिन्दी-विश्व-कोष', 'हिन्दी-शब्द-सागर' जैसे महाकोषों के रचयिताओं, पुरातत्व-वेत्ताओं तथा 'रामचरित मानस' के अधिकांश टीकाकारों ने सूकरखेत का तादात्म्य सोरों से ही किया है।

एटा ज़िले का सूकर क्षेत्र—अब हम अपना ध्यान एटा जिले के सूकर क्षेत्र की ओर आकर्षित करते हैं जो आजकल सोरों नाम से अभिज्ञात है। इस सम्बन्ध में त्रिविध प्रमाण हैं: तुलसी-पूर्व, तुलसी-कालीन, एवं तुलसी-पश्चात्।

---

१. तुलसीदास (डॉ० माताप्रसाद गुप्त), तृतीय संस्करण, पृ० ४४
दे० प्रस्तुत ग्रंथ का द्वितीय अध्याय

(१) तुलसी-पूर्व प्रमाण—सूकर क्षेत्र की स्थिति पर वराह पुराण, ब्रह्म पुराण, हरिवंश, गर्ग संहिता, पृथ्वीराज रासो उपलब्ध प्रमाण हैं। इनकी चर्चा अलगशः की जा रही है। क्षेत्र की स्थिति पर प्राचीनतम प्रमाण वराह पुराण और ब्रह्म-पुराण हैं। वराह पुराण के कुछ आवश्यक उद्धरण निम्नलिखित हैं—

(क) वराह पुराण—शृणु मे परमं गुह्यं यत्त्वया पृच्छितं मम
मम क्षेत्र परं चैव शुद्धं भागवत-प्रियम् ॥५॥
परं कोका मुखं स्थान तथा कुब्जाभ्रकम् परम्
परमं सौकरवं स्थानं सर्व संसार-मोक्षणम् ॥६॥ (अ० १३७)

भगवान् वराह भूदेवी से कहते हैं, "तुमने मुझसे परम महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछा है। सुनो, मेरे भक्तों को मेरा स्थान बहुत पवित्र और प्रिय है। मुक्ति देने वाले तीन स्थानों में से प्रथम कोकामुख, द्वितीय कुब्जाभ्रक और तृतीय सौकरव है। यद्यपि सौकरव का उल्लेख अन्त में हुआ है किन्तु वह महत्त्व की दृष्टि से कम नहीं। वराह भगवान् ने कहा है कि भक्त लोग पृथ्वी के सब तीर्थों में कुब्जाभ्रक को श्रेष्ठ समझते हैं, किन्तु सौकरव तीर्थ उससे भी बढ़ कर है। यह चर्चा वराह पुराण के १७९ अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में है जो इस प्रकार है :

पृथिव्याम् यानि तीर्थानि आसमुद्र सरांसि च ॥२८॥
कुब्जाभ्रकं प्रशंसन्ति सदा मद्भाव भाविता:
तस्मात् कोटि गुणं गुह्यं सौकरम् तीर्थमुत्तमम् ॥२९॥

भगवान् वराह ने सौकरव की स्थिति भूदेवी को वराह पुराण के १३७ वें अध्याय के सातवें श्लोक में इस प्रकार निरूपित की है :—

यत्र संस्था च मे देवि ह्युद्धृतासि रसातलात् ।
यत्र भागीरथी गंगा मम सौकरवे स्थिता ॥७॥

अर्थात् 'हे भूदेवि, मैं उस स्थान पर रहता हूँ जहाँ भागीरथी गंगा बहती हैं और जहाँ मैंने तुम्हारा उद्धार रसातल से किया था।' भगवान् वराह गंगासागर के संगम पर सूकरक्षेत्र में मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी को एकाकी थे, जैसा कि निम्न श्लोक में संकेतित है—

एकाहम् मार्ग शीर्ष्यां च द्वादश्यां सित वैष्णवम् ।
गंगा सागरिकं नाम पुराणेषु च पठ्यते ॥३०॥ (अध्याय १७९)

सोरों में मार्गशीर्ष का मेला—यहाँ यह लिख देना अनुचित न होगा कि सोरों में प्रति वर्ष आठ-दस दिन तक मेला लगता है जिसका मुख्य दिवस मार्ग-शीर्ष शुक्ला द्वादशी है। सहस्रों यात्री वराह कुंड (हर की पैरी) में स्नान कर भगवान् वराह की मूर्ति के दर्शन करते और सूकरक्षेत्र की परिक्रमा करते हैं।

सूकर क्षेत्र गंगा तट पर—वराह पुराण में और भी स्थल हैं जिन से यह प्रकट है कि सौकरव गंगा तट पर था और इसलिए पवित्र था कि लोग सूकर-क्षेत्र में आकर गंगा में स्नान कर अपनी शक्ति के अनुसार पाप-निवृत्ति के निमित्त ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को दीपदान और वित्तदान करते हैं :—

संवत्सरस्य मध्ये तु तीर्थे सौकरवे मम
कृतोपवासः स्नानेन गंगायां शुद्धिमाप्नुयात् । (व० पु० १७६,२४)
ये मृतास्तस्य क्षेत्रस्य सौकरस्य प्रभावतः
शंख चक्र गदा पद्म धनुर्हस्तांश्चतुर्भुजाः । (व० पु०, १३७, १७)

(ख) **ब्रह्मपुराण**—वराह-पुराण के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सूकर-क्षेत्र और गंगाजी का सम्बन्ध है। ब्रह्मपुराण की निम्नलिखित पंक्तियों में यह निहित है कि भगवान् वराह हिरण्याक्ष से पृथ्वी का उद्धार करके लौटे और उन्होंने अपने रक्त-रंजित शरीर को गंगाजी में प्रक्षालित किया। वह स्थान जहाँ उन्होंने ऐसा किया 'वाराह कुण्ड' नाम से विख्यात है जिसकी महिमा स्नान, दान, यज्ञ और तर्पण के लिए बतायी गयी है। अध्याय ७६ के श्लोक ये हैं—

पथस्तस्माद् विनिःसृत्य गंगास्रवणमभ्यगात् ।१७।
प्राक्षालयच्च स्वांगानि असृग्लिप्तानि नारद ।
गंगाम्भसा तत्र कुण्डं वाराहमभवत्ततः ।१८।
वाराह-रूप मभवदेवं वै कारणान्तरात् ।२०।
तस्मात् पुण्यतमं तीर्थं वाराहं सर्वकामदम्
तत्र स्नानंच दानंच सर्वक्रतु फल-प्रदम् ।२१।
तत्र स्थितोऽपि यः कश्चित् पितृन् स्मरति पुण्य कृत्
विमुक्ताः सर्व-पापेभ्यः पितरः स्वर्गमाप्नुयुः ।२२।

सूकरक्षेत्र के अन्तर्गत तीर्थ—वराह पुराण (अ० १३७) में भी सूकरक्षेत्र के अन्तर्गत अनेक पवित्र स्थलों का वर्णन है, यथा चक्र-तीर्थ, योग-तीर्थ, वैवस्वत-तीर्थ, सोमतीर्थ, गृध्रवट-तीर्थ, शाकोटकतीर्थ, और ये सभी तीर्थ सोरों में विद्यमान हैं। भगवान् वराह भूदेवी से कहते हैं—

यत्र यानि च तीर्थानि मम संस्थान संस्थिताः ।११।
शृणु पुण्यं महाभागे मम क्षेत्रेषु सुन्दरि ।१२।
प्राप्नुवन्ति महाभागे गत्वा सौकरवं प्रति ।१२।
× × ×
चक्र तीर्थं महाभागे यत्र चक्रं प्रतिष्ठितं ।१६। अध्याय १३७
× × ×
योग नाथो जगच्छ्रेष्ठः सर्व योगीश्वरेश्वर ।३६। अध्याय १३७
× × ×
एतच्चिह्नं महाभागे पुण्ये सौकरवे मम
सोम तीर्थे विशालाक्षि येन मुच्यंति जन्तवः । १३७,५५
× × ×
तस्य पूर्वेण पार्श्वेन तीर्थं गृध्र-वटं स्मृतम्
यत्राकामो मृतो गृध्रो मनुजत्वमुपागतः ।५६। अध्याय १३७
× × ×

पीत्वा सा सलिलं तत्र वृक्षं शाकोटकं गता। अ० १३७,७२

वराह-पुराण के उक्त अध्याय में सूकरक्षेत्र का और भी परिचय मिलता है। काम्पिल्ल अर्थात् फर्रुखाबाद जिले के कम्पिला नामक स्थान में ब्रह्मदत्त नाम का राजा था। उसका पुत्र राजकुमार सोमदत्त एक दिन अपने पिता के लिए आखेट को बन में गया किन्तु उसे कुछ मिला नहीं। जब वह राजकुमार वन में घूम रहा था तो अकस्मात् उसका तीर एक शृगाली के जा लगा जो दक्षिण की ओर भागी जा रही थी। आहत होकर वह शाकोटक वृक्ष के निकट पहुँची और पानी पीकर सोमतीर्थ पर मर गई। इसी बीच में राजकुमार भी भूखा-प्यासा वहाँ आ पहुँचा और उसने गृध्रवटतीर्थ में आराम किया। मूल वचन इस प्रकार हैं:—

तत्र राजा महाभाग: स्वधर्मकृत-निश्चय:
ब्रह्मदत्तेति विख्यात: पुरं काम्पिल्लमास्थित: ।६७। अध्याय १३७
तस्य पुत्रो महाभाग: सर्वधर्मेषु निष्ठित:
सोमदत्तेति विख्यात: कुमार: शुभलक्षण: ।६८।
पित्रर्थे मृगयां यातो मृगलिप्सुर्वने तदा
अरण्ये स तदा गत्वा व्याघ्र-सिंह-निषेविते ।६९।
न तत्र लभते किंचित् पितृकार्ये नराधिप:
एवंहि भ्रमतस्तस्य शृगाली दक्षिणे तथा ।७०।
अंग-मध्येतु विद्धा सा स्फुरंती सर्व-मंगला
तथा सा बाण-संतप्ता व्यथया च परिप्लुता ।७१।
पीत्वा सा सलिलं तत्र वृक्षं शाकोटकं गता
आतपेन परिप्लान्ता वाण-विद्धातुरा भृशम् ।७२।
अकामा मुंचती प्राणांस्तीर्थं सोमात्मकं प्रति
एतस्मिन् अन्तरे भद्रे राजपुत्र: क्षुधार्दित: ।७३।
प्राप्तो गृध्र वटं तीर्थं विश्रामं तत्र चाऽकरोत् ।७४।

उपर्युक्त पंक्तियों में शाकोटक तीर्थ, सोम तीर्थ और गृध्रवट तीर्थ का उल्लेख है। ये सभी तीर्थ सोरों में हैं जो फर्रुखाबाद ज़िले के कम्पिला नाम नगर से लगभग २२ मील दूर है।

(ग) हरिवंश—हिरण्याक्ष का ज्येष्ठ भ्राता हिरण्यकशिपु गंगा-यमुना के अंतर्गत प्रदेश में रहता और यज्ञ करता था जैसा कि महाभारत के हरिवंश की निम्नलिखित पंक्तियों में सन्निहित है:

जनमेजय उवाच
कथं कालस्य महतो हिरण्यकशिपुस्तदा
यजते ब्रह्मण: क्षेत्र प्राप्तैश्वर्य: सकामद:।
वैशम्पायन उवाच
यजेत बहु सुवर्णेन राजसूयेन पार्थिव
क्रतुना दानव श्रेष्ठो वसुधायां महाफल:
गंगा-यमुनयोर्मध्ये यद्भूद्विपुलं तप:। हरिवंश, भविष्यपर्व, अ० ३१

संकल्प—वराह भगवान् का अवतार गंगा-यमुना के अंतर्वेद में हुआ होगा, यही कारण है कि सोरों के पाधा-पण्डित धार्मिक कृत्य के पूर्व संकल्प में इस प्रकार कहते हैं :

आर्यावर्त्तान्तर्गते आदि वराह श्री सूकरक्षेत्रे ।

(घ) 'गर्ग संहिता' में सूकरक्षेत्र की स्थिति—गर्ग संहिता के मथुरा खंड के चौबीसवें अध्याय में सूकरक्षेत्र का उल्लेख रामतीर्थ अर्थात् रामघाट (जिला बुलन्द-शहर) की स्थिति बतलाने के निमित्त हुआ है। राजा बहुलाश्व ने नारदजी से पूछा था कि रामतीर्थ किस स्थान पर और कौशाम्बी से कितनी दूर है और नारदजी ने उत्तर दिया कि रामतीर्थ कौशाम्बी (कोल-अलीगढ़) से ईशान-दिशा में चार योजन, सूकरक्षेत्र से वायव्य दिशा में चार योजन, एवं कर्णक्षेत्र (कर्णवास) से छः कोस, और नलक्षेत्र से आग्नेय दिशा में पाँच कोस है। श्लोक इस प्रकार है :

यत्र रामेण गंगायां कृतं स्नानं विदेह-राट्
तत्र तीर्थं महापुण्यं राम तीर्थं विदुर्बुधाः ।

× × ×

बहुलाश्व उवाच
कौशाम्ब्येश्च कियद्दूरंस्थले कस्मिन् महामुने
रामतीर्थं महापुण्यं मह्यं वक्तुं त्वमर्हसि ।
नारद उवाच
कौशाम्बेश्च तदीशान्यां चतुर्योजनमेव च
वायव्यां सूकरक्षेत्रात् चतुर्योजनमेव तत् ।
कर्णक्षेत्राच्च षट् क्रोशैर्नलक्षेत्राच्च पंचभिः
आग्नेय्यां दिशि राजेन्द्र राम तीर्थं वदन्तिहि ।

गर्गसंहिता के मथुरा खण्ड के चौबीसवें अध्याय के श्लोक छ्यासी-अठासी में सूकरक्षेत्र का और भागीरथी गंगा का सान्निध्य स्पष्ट है। राजा जनमेजय यज्ञ करने के पश्चात् सूकरक्षेत्र में जाकर एक मास रहा था और वहाँ ब्राह्मणों को विविध दान देकर गंगा-तीरस्थ स्थानों को देखता हुआ अहार लौट गया। वचन इस प्रकार हैं—

स गतः सूकरक्षेत्रं मास मेकं स्थितो भवेत् ।८६।

× × ×

ततस्तस्मात् स्थलात् सोऽपि निवर्त्य गुरुणा सह
गंगा तीर स्थलान्पश्यन्नागमिष्यति सुव्रतः ।८८।

उक्त पौराणिक उद्धरणों से स्पष्ट है कि जिसे हम आजकल सोरों कहते हैं वह अत्यन्त प्राचीन काल में 'ऊकल क्षेत्र' तत्पश्चात् 'सौकरव', 'सूकरक्षेत्र' आदि नामों से अभिहित है। यह भी स्पष्ट है कि सौकरव अथवा सूकरक्षेत्र भागीरथी गंगा के किनारे तथा रामतीर्थ कौशाम्बी और कर्ण-क्षेत्र के निकट है। कौशाम्बी, जैसा कि निर्देश किया जा चुका है, अलीगढ़ जिले का 'कोल' है, 'रामतीर्थ' बुलन्दशहर

जिले का रामघाट और 'कर्णक्षेत्र' बुलन्दशहर जिले का कर्णवास है। ये सभी स्थान सरयू घाघरा के संगम से सैंकड़ों मील दूर हैं।

(ङ) १०४३ वि० का मण्डकिलाताल शिलालेख—भारतीय पुरातत्त्वविभाग के संयुक्त डाइरेक्टर जेनरल डॉ० ब० चं० छाबड़ा ने एपिग्रेफिका इण्डिका के लिए उक्त शिलालेख का परिचय प्रस्तुत किया है। यह लेख वैशाख सुदी ३ विक्रम संवत् १०४३ का है। नन्दन ने हरि (विष्णु), शंकरनारायण (हरिहर) और सूर्य के उपलक्ष्य में एक मन्दिर बनवाया और उनतीसवें श्लोक के अनुसार उसने भागीरथी के तट पर सौकरतीर्थ में प्राण त्यागे थे। वह श्लोक है :

वृत्ति चासौ स्थापिवानां विधाय भागीरथ्यां सौकरे तीर्थ वर्ये
श्वेतद्वीपं मानसेनावधार्य प्राणानौऽझत्यक्त संसार बंधः ॥

इससे स्पष्ट है कि सौकर तीर्थ भागीरथी गंगा के तट पर स्थित है। डॉ० छाबड़ा ने भी इसका तादात्म्य सूकरक्षेत्र अर्थात् सोरों से किया है।

(च) १२४५ वि० का स्तम्भ लेख—दयाराम साहनीजी को सोरों के सीताराम मन्दिर में जो लेख मिला वह इकत्तीस पंक्ति का, छंदोबद्ध श्लोकों में है और पश्चिमी प्राचीर में सटे हुए एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण, लगभग सवा सातसौ वर्ष प्राचीन है—

ओम् श्री यज्ञ वराहाय नमः ॥
उद्धृत्य लीलयाक्षोणीं योऽन्तर्लीनामनुप्रयन् ।
अन्वंगं मूर्तिमद्विभ्रद्वराहः स पुनातु वः ॥१॥
श्री मन्मदन पालस्य राज्ये वश्यद सेविनि ।
आसीद बादामयूभूम्यां विप्रो गौड़ कुलोद्भवः ॥२॥
कौन्तहाल शुभे ग्रामे गांगेयो नामतोऽपिच ।
श्रौतकर्मरतः शास्ता राजउ तस्याभवत् प्रिया ॥३॥
सोभावयत् सुतं.........काल्हूकं शुद्ध चेष्टितम् ।
उद्ग्राहि स्वत्व वशतः.........पितृ......तः ॥४॥
उपचरताः प्रासादं जीर्णं......ततः ।
अतीते शरदां पंच वेद हंस समन्विते ॥५॥
..... शनौवारे वैशाखस्यामलस्य च ।
द्वादश्यां कृतकृत्योऽभूत्सिद्धि विन्निज धर्मतः ॥६॥
.........................महायशः ।
कीर्तिस्तस्य स्थिरा भूयाबाचन्द्रार्कं सतारकम् ॥७॥

इति संवत् १२४५ वै० शु० १२ ॥

उक्त लेख के आरम्भ में श्री यज्ञ वराहजी की वन्दना है जिन्होंने पृथ्वी का उद्धार किया था। यह वन्दना महत्त्वपूर्ण है। तत्पश्चात् जो पंक्तियाँ हैं उनसे विदित है कि राजा मदनपाल के शासन काल में बादामयू (बदायूँ) के कौन्तहाल नामक ग्राम में गांगेय नाम का गौड़ ब्राह्मण था, जिसकी पत्नी का नाम राजउ और पुत्र का नाम कोल्हूक था, जिसने अपने पिता की प्रेरणा से मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए धन-संग्रह

किया और वह जीर्णोद्धार शनिवार वैशाख शुक्ला द्वादशी को संवत् १२४५ वि० में पूर्ण हुआ।

(छ) **पृथ्वीराज रासो और सोरों**—और भी कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनमें सोरों वाले सूकरक्षेत्र के अन्तर्गत तीर्थों या मुहल्लों के नामों का उल्लेख मिलता है। पृथ्वीराज रासो के इकसठवें समय में, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है, सोरों के योगमार्ग मोहल्ले का उल्लेख है। इस में योगेश्वरजी का मन्दिर है, जिसका उल्लेख, सौकरव के वर्णन में, वराह पुराण में किया गया है। निम्न लिखित उद्धरण से विदित होता है कि जयचन्द्र की पुत्री का हरण करके पृथ्वीराज कन्नौज से दिल्ली जाते समय सोरों के योगमार्ग मोहल्ले में टिके थे। वहाँ उन्हें युद्ध करना पड़ा था जिसका वर्णन चन्दवरदाई ने इस प्रकार किया है—

जुरि जोग मग्ग सोरों समर चवत जुद्ध चन्द : कहिय (२४०१)
पुर सोरों गंगह उदक जोग मग्ग तिथ वित्त
अद्भुत रस असिवर भयो वंजन वरन कवित्त (२४०२)

× × ×

वेद कोस हरसिंघ उभं त्रियत्त बड गुज्जर
काम बान हर नयन निडर निड्डर भुमि सुझ्झर।
छगन पट्ट पलानि कन्ह बंचिय ढ़ग पालह
अल्ह वाल द्वादसह अचल बिग्धा गनिका लह।
शृंगार विभ्भ सलषह सुकथ लषन पहारति पंच चयं
इतने सूर सथ जुझ्झ तहं सोरों पुर पृथिराज अय (२४०३)
परयो पेषि माहार राज कम घज्ज कोप किय
पहु सोरों पृथिराज निकट दिव्यो सुचित्ति हिय (२४०४)

(२) **तुलसीकालीन प्रमाण**—गो० तुलसीदास के समय में सूकरक्षेत्र की स्थिति गङ्गातट पर मानी जाती थी और वह स्थान सोरों है। इस विषय में मुख्य प्रमाण हैं : वीर मित्रोदय और आईने अकबरी।

(क) **वीर मित्रोदय**—'वीर मित्रोदय' के लेखक-सम्पादक वीरमित्र हैं, जिनका सम्बन्ध बुन्देलखण्ड से रहा और जिन्होंने वहाँ के महाराज की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का निर्माण प्राचीन प्रमाणों के आधार पर किया। इन्होंने सूकरक्षेत्र के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है :

"अथ सूकरक्षेत्र माहात्म्यम्। वराह पुराणे वराह उवाच
परं कोका मुखं स्थानं स्थानं कुब्जाभ्रकं परम्
परं च सौकरं स्थानं सर्व-संसार मोचकम्।
यत्र संस्था मया देवि ह्युद्धृतासि रसातलात्
तत्र भागीरथी गंगा मम शौचार्थ मागता॥
ये मृतास्तत्र सुश्रोणि क्षेत्र शूकरके मम
तारिताः सर्व संसारात् श्वेत द्वीपाय यान्ति ते।

(वीर मित्रोदय तीर्थप्रकाश पृ० [illegible])

(ख) अबुल फज़ले अल्लामी ने 'आइने अकबरी' में लिखा है कि 'हिरण्याक्ष नाम के एक दैत्य ने बहुत काल तक भगवद्भक्ति और तपस्या की। एक दिन भगवान् दृश्य-विग्रह में आविर्भूत हुए और उससे बोले कि तू क्या चाहता है? इन कृपापूर्ण शब्दों से हृष्ट हो, दैत्य ने बहुत से हिंस्र पशु गिनाये और प्रार्थना की कि मैं उनकी हानि से मुक्त रहूँ और अखिल विश्व का सम्राट् बन जाऊँ। तत्पश्चात् शीघ्र ही अभीष्ट की प्राप्ति कर, उसने इन्द्र से स्वर्ग का आधिपत्य छीन लिया और उसे अपने किसी सम्बन्धी को दे दिया। देवगण और ब्रह्माजी सहायतार्थ विष्णुजी के निकट गये। (दैत्य की) प्रार्थना में सूकर का नाम रह गया था, अतएव (भगवान् से) उत्तर मिला कि मैं उस रूप में प्रकट होकर उसके प्राण हरूँगा। तदनन्तर तुरन्त विष्णुजी ने, उस रूप में आविर्भूत हो और उसकी राजधानी में प्रवेश कर, उसका संहार कर दिया। यह (घटना) सोरों नामक स्थान में हुई बतायी जाती है।"[1] कर्नल एच० एस० जैरट, सर यदुनाथ सरकार तथा जगदीश मुख्योपाध्याय आदि उक्त ग्रन्थ के टीकाकारों ने एवं गजटियरों के लेखकों ने उक्त सोरों को उत्तर प्रदेश के एटा जिले में माना है।

३. **अन्य प्रमाण**—इनके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रमाण हैं, यथा : विष्णु स्वामि चरितामृत, वल्लभदिग्विजय, बिलराम का शिलालेख, सूकरखेत माहात्म्य भाषा, रत्नावली चरित।

(क) **विष्णुस्वामिचरितामृत**—हरिहर भट्ट कृत 'विष्णुस्वामी चरितामृत' में विष्णुस्वामीजी की जीवनी और यात्राओं का वर्णन है। इनका नाम रवि माधव भी है। इनके पौत्र ने गोकुल के श्री वल्लभाचार्य की पौत्री से विवाह किया था। एक बार विष्णु स्वामीजी ने अपने शिष्यों के साथ मुरादाबाद जिले के संभल से एटा जिले के सहसवान में सप्तस्रोत तक यात्रा की और वहाँ से वराह क्षेत्र पहुँचे। इस क्षेत्र में गुलाल नामक किसी सनाढ्य ब्राह्मण को दीक्षा देकर वे आगरा जिले में यमुना तीरस्थ वटेश्वर पहुँचे थे जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट है—

ततो जगामाशु रविर्नृपस्य सहस्रबाहोः किल तीर्थं मुख्यम्।
यत्रार्जुनो दिग्विजयं च कृत्वा चकार राज्यं बलि कार्त्तवीर्यः ।१२।
सप्तस्रोतस्तीर्थमुख्यं तु यत्र स्रोतोभिः स्यात्स्वर्धुनीसप्तभिःसा।
सप्तानां या प्रीतये भार्गवानां स्वच्छन्दानां पर्णशाला गतानाम् ।१३।
बभूव यत्या सुबलस्य पुत्री सती पुरागत्य सुदेव तीर्थम्।

× × ×

दृष्ट्वा प्रयास्यन्ति समस्तकामान् पीत्वा पुनीताश्च (भवन्ति) सर्वतः।
सुस्नान्ति यस्मिन् किल सोमवासरे यास्यन्ति वैकुण्ठपुरं परात्परम् ।१५।

× × ×

---

१. आइने अकबरी ऑव अबुल फज़ले अल्लामी, जिल्द ३, जैरट-सरकार का संस्करण, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, १९४८, पृष्ठ ३१७।

क्षेत्रं वराहस्य हरेर्जगाम ददर्श गंगां स च दुःखहारिणीम् ।
गुलाल नाम्नापि सनाढ्य आराद्दृष्ट्वा रवि श्याम तनुं तदागात् ।२०।
× × ×
ततो जगामाशु वटेश्वरं रविर्ददर्श तीर्थं तु कलिन्दजा तटे ।।२२।।
(उल्लास १४)

सूकरक्षेत्र और सनाढ्य ब्राह्मण—जिस वराह-क्षेत्र का उल्लेख ऊपर हुआ है वह सोरोंवाला ही सूकरक्षेत्र है जहाँ आज भी अधिकांश में सनाढ्य ब्राह्मण निवास करते हैं। यह गंगा के किनारे है और सहसवान से सात मील है। उपर्युक्त विष्णु-स्वामी-चरितामृत के तीसवें अध्याय में उस यात्रा का वर्णन है जो विष्णुस्वामी के पौत्र गोस्वामी रघुनन्दन ने की थी। ये गोस्वामीजी सात वर्ष तक प्रयाग में रहे और रणपाल के पुत्र से सवा लाख मुद्राओं की भेंट स्वीकार कर अपने पुत्र, कलत्र तथा परिवार के सहित मथुरा के लिए चले। वे प्रयाग से काशी, अयोध्या और नैमिषारण्य पहुँचे। मार्ग में गोमती, रामगंगा और भागीरथी गंगा के दर्शन कर और उन्हें पार कर वे मैनपुरी, कन्नौज, कम्पिल और वहाँ से वराह तीर्थ पहुँचे; वराह तीर्थ में गंगा-स्नान कर और निर्धनों को दान दे, मथुरा के लिए प्रस्थित हुए और दाऊजी तथा महावन के दर्शन कर अन्त में गोकुल जा पहुँचे, जहाँ वल्लभाचार्यजी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने कुछ समय तक उनका सत्कार किया। वचन इस प्रकार हैं :—

इत्थं प्रयागे रघुनन्दनस्तु उवास वर्षाणि च तत्र सप्त ।
× × ×
ततो मिलित्वा रणपालपुत्रं भेटं गृहीत्वा च सपादलक्षम् ।
पुत्रैः कलत्रैः किल जातिमुख्यैर्जगाम गोस्वामिसुतो मधोः पुरीम् ।। २ ।।
काशीं च गत्वा किल बिन्दुमाधवं विश्वेश्वरं वीक्ष्य गणेश कर्णिकाम् ।
ययावयोध्यां नगरीं ददर्शह .... रघुनन्दनस्ततः ।। ३ ।।
श्री नैमिषं तत्र पुनर्विलोकयन् सगोमतीं रामनदीं च जाह्नवीम्
उत्तीर्य गत्वा च मनोःपुरीं परां ददर्श मार्गे किल कान्यकुब्जकम्
स कम्पिलां तत्र पुनर्विलोक्य तीर्थे वराहस्य ततो जगाम
स्नात्वा च गंगां स ततो द्विजेभ्यः दत्त्वा सुवर्णं प्रययौ मधोः पुरीम्
संकर्षणं वीक्ष्य बृहद्वनं च श्री गोकुलाख्ये नगरे गतः सः ।
गोस्वामिना वल्लभनन्दनेन सुपूजितस्तत्र निवासितश्च ।
(श्री विष्णुस्वामी चरितामृत, उल्लास ३०)

(ख) **वल्लभदिग्विजय**—वल्लभ दिग्विजय[1] के अनुसार वल्लभाचार्यजी ने हरिद्वार से सूकरक्षेत्र तक यात्रा की और वहाँ से वे कन्नौज होते हुए प्रयाग पहुँच गये, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है :

ततः प्रचलिताः हरिद्वारोपमार्गेण शूकर-क्षेत्रं समायाताः । तत्र कृष्णाय गुरुदर्शनाज्ञां दत्वा कान्यकुब्जाध्वना प्रयागं समागताः । (पृष्ठ ४६)

(ग) **बिलराम का शिलालेख : ७८२ वर्ष प्राचीन**—कासगंज से सोरों तो

१. सुदर्शन-यन्त्रालय, नाथद्वारा, १९७५ वि०।

आठ मील और बिलराम ढाई मील है। एक शिलालेख से* ऐसा विदित होता है कि बिलराम का शुद्ध नाम बलराम है। बलरामसिंह नाम का एक चौहान था जो कन्नौज की राज-सभा का सदस्य था। अपने नाम पर उक्त नगर बसा कर वह १०९५ शक संवत् में पंचत्व को प्राप्त हुआ। जहाँ उसने प्राण त्यागे, वह स्थान था सूकरक्षेत्र अर्थात् सोरम। राजपूताने से आने वाले यात्री भी सोरो को सोरम कहते हैं। निम्नलिखित शिलालेख में जो मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी, संवत् १०९५ शक का है, सोरों और सोरम का तादात्म्य ध्यान देने योग्य है :

कालीसरिद्वनदविभवभूविभागे, प्राकारि येन नगरं बलराम संज्ञम्।
स्वर्गम् गतो······म धर्म भृतां वरिष्ठः चौहानवंशतिलको बलरामसिंहः।
श्रीकान्यकुब्ज-नरपाल-सभा-सदस्यः श्रेष्ठाश्रयश्च सुधियां विबुधां कवीनाम्।
येन स्वकीययशसा धवलीकृता भूः स्वर्गन् गतः स नृपतिर्बलरामसिंहः॥
बाणांकशून्यशशिभिः प्रमिते शकाब्दे, शुक्लेऽग्रहायण दले च तिथौ दशम्याम्।
श्री सोरमे प्रथितसौकरवे सुतीर्थे, स्वर्ग गतः स नृपतिर्बलरामसिंहः॥

(घ) **कवि कृष्णदास**—महाकवि नन्ददास के पुत्र कवि कृष्णदास ने भी अपनी रचनाओं में सूकरक्षेत्र पर प्रचुर प्रकाश डाला है क्योंकि वे स्वयं सूकरक्षेत्र के निवासी थे। उन्होंने वर्षफल की रचना १६५७ वि० में की थी जिसमें उन्होंने रामपुर-श्यामपुर का तादात्म्य, और श्यामायन मन्दिर और श्यामसर तथा रत्नावली की जन्मभूमि बदरी का उल्लेख किया है जो उक्त संवत् में गंगा के प्रवाह में डूब गयी थी। उन्होंने यह भी बताया है कि बदरी गंगा-तीर पर थी। उनके वचन हैं :

कीरति की मूरति जहाँ राजै भगीरथि की
तीरथ वराह भूमि वेदनु जे गाई है।
आइ धाम रामपुर श्याम सर कीनो तात
श्यामायन श्यामपुर वास सुखदाई है।

× × ×

बीतत असाढ़ बाढ़ आई बढ़ि देवधुनि
बूड़ी जल जन्मभूमि रत्नावली माता की।
नारी-नर बूड़े कछु शेष बड़ भाग रहे
चिह्न मिटे बदरी के दुखद कथा ताकी।

'सूकरक्षेत्र महात्म्य' में सूकर-क्षेत्र के इतिहास और माहात्म्य पौराणिक आधार पर बताये गये हैं। वराह भगवान् क्षोणी से कहते हैं :—

छेत्र सोकरव वेद बखानो, भगति मुकति दायक तेहि जानो।
जल बूड़ी लखि तुमहि दुलारी, जहाँ रसताल सों उद्धारी।
जहाँ त्रिपथगा देवि सुहावे, सोई सोकर क्षेत्र कहावे।
जोजन पाँच तासु विस्तारा, जहँ निज रूप वराह पसारा।

कृष्णदासजी ने उक्त महात्म्य में चक्रतीर्थ, योगतीर्थ, सोमतीर्थ आदि का वर्णन किया है और अनेक प्रकार से सूकर-खेत की महिमा गायी है। वे कहते हैं :

---

* दे० सूकर खेत (प० भद्रदत्त शर्मा) व्रजभारती, फाल्गुन २०११ वि०

सूकरखेत सुरसरी माहीं, पितर अस्थि जे लाइ सिराहीं।
तासु पितर गन सदगति पावें ते धनि पूत-सपूत कहावें।

(ङ) रत्नावली-चरित में सूकरक्षेत्र का वर्णन—श्री मुरलीधर चतुर्वेदी ने १७४६ वि० में 'रत्नावली-चरित' लिखा और उसमें सूकर-क्षेत्र तथा बदरी का अच्छा वर्णन किया है :

विदित वेद अघ हरन हारि, पतितनु पावन करन हारि।
सुरसरिता के दछिन कूल, धन्य धरनि मांगल्य मूल।
निज स्वभाव बस जगत नाह, हरि प्रगट्यो जहँ वपु वराह।
तासों जं वराह खेत, भइ भूमि भव तरन सेतु॥
तीरथ सूकरखेत नाम भयो विदित जन मुकति धाम।
बहु तीरथ जहँ रहे राजि सेवत अघ गन जात भाजि।

× × ×

आदि तीर्थ जे जगत माँहि, सब तीरथनु फल है जहाँहि।
सुरसरि पुनि वराह खेत, मधुर ऊख पुनि फलहु देत।
जहँ वराह प्रभु सदनु एक, सोहत सुर सदनहुँ अनेक।

× × ×

जहँ सुरसरि की बहति धारि, जनु वराह पद रही पखारि।
सोरंकी नृप सोमदत्त, भयो जहाँ श्रुति धर्म मत्त।
तासु दुर्ग अवसेस माँहि, कछुक चिह्न ताके लखाँहि।

× × ×

ताके पच्छिम दिसि कछार, बहत पुरातनि गंगधार।
तासु प्रतीची तीर धाम, कबहुँ रह्यो नयनाभिराम।
नाम बदरिका वन प्रसिद्ध, होत मृगादि न जहाँ विद्ध।

× × ×

सोइ कालवस मुनिन धाम बन्यो गृहस्थिनु वास धाम।

'रत्नावली-चरित' को सम्पूर्ण करते समय श्री मुरलीधर चतुर्वेद ने बताया है कि उन्होंने रत्नावली की कथा सूकर तीर्थ में वृद्धों से जैसी सुनी, वैसी लिख दी। चतुर्वेद जी ने द्वादशश्रेणी जाति का इतिहास भी लिखा है और उसमें उन्होंने अपने को सूकरखेत-निवासी सनाढ्य ब्राह्मण बताया है, जिससे सिद्ध होता है कि 'सूकर तीर्थ', वराह तीर्थ', 'सूकर खेत', 'सूकर क्षेत्र' और 'सोरों क्षेत्र' पर्यायवाची शब्द हैं।

(च) चालुक्य वंश प्रदीप—'चालुक्य वंश प्रदीप' से भी सूकरक्षेत्र पर प्रकाश पड़ता है। इसे भीमदेव बघेला ने रचा था जो अतिरंजीपुर के रहने वाले थे और जो जैसा कि कहा जाता है, आमेर के राजा मानसिंह की सेवा में थे। इसमें लिखा है कि आदि चौलुक्य राजा हारीतदेव अर्बुद (अर्थात् आबू) से आकर सोरों में गंगा के तट पर बस कर उग्र तप के निमित्त कुछ समय तक तो दस चुल्लू जल पीकर ही रहे। तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उन्हें चौलुक्य पद प्रदान किया और जिस स्थल पर उन्होंने तपस्या की थी वह चुलुका नाम से अभिहित हुई। हारीत देव की संतति

चौलुक्य कहलायी। उसका पुत्र बड़ा यशस्वी हुआ जिसने दो दुर्ग बनवाये, जिनमें से एक तो सोरों है दूसरा अतिरंजी। भीमदेव बघेला के शब्द इस प्रकार हैं :

सोरम गंगा निकट सुभट निज कुटी बनाई,
करन लग्यो बसि तहाँ उग्र जप तप अधिकाई।
कर्‌यो साग आहार पियो दस चुलुक गंग जल,

× × ×

बीते बारह बरस जब प्रगटे विधि द्विज रूप धरि।
चुलुक पान करि तप कर्‌यो तासों चौलुक भयो।
तपो भूमि चुलुका भई इमि वर दे निज थल गयो।

× × ×

चौलुक देव भुग्राल पूत नृप बेन प्रतापी,
अतरंजीपुर दुग्ग नींव तिन हित करि थापी।
तिनहिं सोरम तीरथ दुग्ग विढ़ विब्य बनायो,
चहुँ दिसि देसन जीति राज्य चौलुक्य बढ़ायो।
रहि वराह पद भगति रत परजा सुख करि जस लह्यो।
काल चक्र बस दुग्ग तिहि आजु रूप खेरा भयो।

(छ) 'शशांक'—श्री राखालदास बंद्योपाध्याय ने, जैसाकि निर्देश किया जा चुका है, 'शशांक' नाम का ऐतिहासिक उपन्यास लिखा जिसे पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अनूदित किया और काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा ने १९२२ ई० में प्रकाशित किया। इस पुस्तक के पच्चीसवें से बत्तीसवें पृष्ठ तक इस बात का वर्णन है कि स्थाण्वीश्वर-नरेश राज्यवर्द्धन की मृत्यु गौड़ के शशांकगुप्त-द्वारा ६०६ ई० में गंगा जी के तट पर सूकरक्षेत्र में हुई। उपन्यासकार के अनुसार सूकर-क्षेत्र गंगाजी के पश्चिम में वह स्थान है जहाँ भगवान् वराह का अवतार हुआ था। यह अत्यन्त प्राचीन तीर्थ है जहाँ यात्री आते रहते हैं। कुरुक्षेत्र की भाँति यह भी युद्धस्थल रहा है जिसने मध्यदेश के शासकों के भाग्य का निर्णय किया है। यह वही सूकर-क्षेत्र है जहाँ महाराजा जयचन्द ने मुहम्मद गोरी का साम्मुख्य किया। सूकर-क्षेत्र में शशांक को यह सूचना मिली कि राज्यवर्द्धन मालवा की ओर बढ़ रहा है अतएव अनेक चर भेजे गये। राज्यवर्द्धन मथुरा पहुँचा तो शशांक ने उसके पास अपना दूत भेजा जो अपमानित होकर लौटा। अतएव अनन्तवर्मा और माधववर्मा ने यह प्रस्ताव किया कि उसे यमुना जी पर ही रोक दिया जाय, किन्तु शशांक सहमत नहीं हुआ। अन्त में जब सूकर-क्षेत्र में राज्यवर्धन का ससैन्य प्रवेश हुआ तो उसका और शशांक का सखड्ग द्वन्द्व-युद्ध हुआ। शशांक के कई घाव आये, किन्तु सहसा उसका खड्ग राज्यवर्द्धन की ग्रीवा पर जा पड़ा और उसका शरीर धूलि में लोटने लगा। राज्यवर्द्धन की मृत्यु का समाचार सुनते ही स्थाण्वीश्वर की सम्पूर्ण सेना भाग खड़ी हुई और कान्यकुब्ज लौट गयी। 'शशांक' के उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह सूकरक्षेत्र जहाँ यह युद्ध हुआ था कान्यकुब्ज और मथुरा के बीच गंगा-तट पर स्थित था, अतएव उसका तादात्म्य सोरों से करना चाहिए।

(ज) **श्री वडेर**—श्री वी० एच० वडेर ने 'कल्याण' के रामायणांक में एक लेख देखा जिसका शीर्षक था 'रामायणकालीन स्थान-परिचय'। इस लेख में उन्होंने उकल क्षेत्र और सोरों का तादात्म्य किया है पर सोरों को शुक्र क्षेत्र बतलाया है। वे लिखते हैं :—"यह स्थान एटा से सत्ताइस मील उत्तर-पूर्व की ओर है। कहते हैं इसी स्थान पर हिन्दी के पूजनीय महाकवि तुलसीदास का बाल्यकाल में पालन-पोषण हुआ था"। वडेरजी ने तो विषय को बिल्कुल स्पष्ट कर किया, क्योंकि उनके अनुसार गोस्वामी तुलसीदास जी का न केवल अध्ययन अपितु पालन-पोषण भी वहाँ हुआ।

(झ) **श्री नन्दलाल दे**—श्री नन्दलाल दे ने 'द ज्यॉग्रॉफिकल डिक्शनरी ऑव एंशेंट एण्ड मिडिवल इण्डिया' १८९९ ई० में प्रस्तुत की और उसके ८९वें पृष्ठ पर लिखा कि सूकर-क्षेत्र में हिन्दी के विख्यात कवि तुलसीदासजी का, माता-पिता द्वारा परित्यक्त होने पर बाल्यकाल में, पालन-पोषण हुआ था।

(ञ) **श्री जगदीश मुख्योपाध्याय**—श्री जगदीश मुख्योपाध्याय ने १८९८ ई० में 'आईने अकबरी' का जो संस्करण निकाला था उसके ७९८ वें पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में लिखा है कि सोरों एटा जिले का एक नगर है। इसे सूकरक्षेत्र कहते हैं। सोरों की 'बुढ़ गंगा' तो 'वृद्ध गंगा' का विकृत रूप है, क्योंकि बुढ़ गंगा भागीरथी गंगा का पुराना भंडार है, गंगाजी वहाँ से हट गयी हैं।

(ट) **श्री चन्द्रबली पांडेजी**—ने राधाकृष्णदास के 'नागर समुच्चय' जीवन-चरित्र के पृष्ठ २१ से नागरीदास जी के यात्रा-विवरण को इस प्रकार उद्धृत किया है कि "वहाँ से श्री जमुना जी का स्नान करके सोरूँ में आकर रहे। यह स्थान जिला एटा में है। यहाँ बुढ़ गंगा जी का स्नान किया। यहीं भगवान् का श्री वराहवतार हुआ है। हिरण्याक्ष को मारा है। इसका उपनाम उकलक्षेत्र और दूसरा शूकरक्षेत्र है।"

(ठ) **कुछ पुष्पिकाएँ**—कुछ ऐसी पुस्तकें विद्यमान हैं जो सूकरक्षेत्र में अथवा उसके निकट लिखी गयीं। उन की पुष्पिकाओं से सोरों और सूकरक्षेत्र का तादात्म्य स्पष्ट है। पुष्पिकाएँ इस प्रकार :

(अ) ज्ञान स्वरोदय। इति श्री चरनदास कृत ज्ञान स्वरोदय सम्पूर्णम्। श्री शुभमस्तु संवत् १९०३ शाके १७६८ तत्र वैशाख मासे शुक्ल पक्षे तिथौ अक्षय तृतीयायां भौम वासरे लिखितं ब्राह्मण सदारामेण ग्राम कासगंज मध्ये श्री सोरों शूकर क्षेत्र समीपे।

(आ) केशवी पद्धति सोदाहरण। संवत् १८९८ शाके १७६३ तत्र वर्षे माघ मासे कृष्ण पक्षे तिथौ ६ षष्ठ्याम् भौमवासरे लिखितं विप्र सदारामेण कासगंज मध्ये श्री शूकरक्षेत्र समीपे। शुभमस्तु।

(इ) सर्वतोभद्र। इति श्री सर्वतोभद्रंसमाप्तम्। मंगलमस्तु लिखितं विप्र सदा रामेण ग्राम कासगंज मध्ये श्री शूकरक्षेत्र समीपे संवत् १८९८ फाल्गुण कृष्णा ५ भौम-वासरे। श्री रामाय नमः।

(ई) जातकाभरण। इति श्री दैवज्ञ ढुंढिराज विरचिते जातकाभरणे स्त्री जातकाध्यायः। ३१। १७३८। शुभमस्तु। कल्याणमस्तु। संवत् १८६३ वत्सरेऽग्नि नवनाग भ्रमिते श्रावणे सित द्वितीयगा तिथौ। यौनिमेऽर्क दिवसे शिवान्विते लिख्यते

द्विजवरैश्च माधवैः । १ । कासगंज पुरे सूकरक्षेत्र समीपे श्री हरेः प्रसादात् समाप्तिमगात् ग्रन्थ जातकाभरणाख्यं मंगलाय भवतु ।

उपर्युक्त पुष्पिकाओं से स्पष्ट है कि चारों पुस्तकें कासगंज में लिखी गयीं जो सूकरक्षेत्र अर्थात् सोरों के निकट है। ये कल्याण संस्कृत विद्यालय के पण्डित कृष्णदत्त गौड़ के पास कासगंज में विद्यमान हैं। आज तो कासगंज सोरों से भी बड़ा नगर है, जिसमें कासगंज सिटी और कासगंज जंकशन नामक नॉर्थ ईस्ट रेलवे के दो स्टेशन हैं। सोरों भी रेल का स्टेशन है और कासगंज से लगभग आठ मील है।

(ड) **श्री मेवाराम मिश्र**—यह कह देना असंगत न होगा कि आज से ३०० वर्ष से अधिक पूर्व श्री मेवाराम मिश्र ने 'वैद्यकौस्तुभ' नाम का चित्र-काव्य लिखा था। उनके पुत्र गणपति मिश्र सनाढ्य ब्राह्मण थे और उनकी संतति आज भी सोरों में गनीमिश्र कहलाती है। 'वैद्यकौस्तुभ' का प्रकाशन काशीय संस्कृत कॉलिज के रजिस्ट्रार डॉ० मंगलदेव शास्त्री के सहयोग से पटना के श्री हरिनारायण शर्मा ने १६२८ ई० में किया था। मेवाराम जी ने अपना निवास सूकर-क्षेत्र में बताया है और संपादकों ने इस क्षेत्र का तादात्म्य सोरों से किया है। उद्धरण इस प्रकार हैं :

"वैद्यकौस्तुभ नामायं ग्रन्थः सूकरक्षेत्र (सोरों, जि० एटा यू० पी०) वासिना भिषग्वरेण श्री मेवाराममिश्रेण विरचित इति ग्रंथसमाप्तौ ८७ तमात् श्लोकादवगम्यते ··· अस्य निर्माणं प्रायेण शत-त्रय वर्षेभ्यः पूर्वमेवाभूदिति"

'श्री मेवाराम मिश्रेण शूकरक्षेत्र वासिना ।
सतां प्रीत्यै चित्रकाव्यः कृतोऽयं वैद्यकौस्तुभः ।। ८७ ।।"

(ढ) **मानस की टीकाएँ**—रामचरितमानस के कुछ टीकाकारों ने सूकरखेत का तादात्म्य सोरों से किया है। हिन्दू प्रेस के छपे हुए 'रामचरित मानस' के दो सटीक संस्करण कासगंज में विद्यमान हैं। एक तो १६१७ वि० का और दूसरा १६२८ वि० का है। पहले में सूकरखेत का अर्थ सोरों और दूसरे में सोरों गंगाघाट बताया गया है। १६२८ वि० वाले संस्करण में बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, लंकाकाण्ड, उत्तरकाण्ड, शंकावली और कोष विद्यमान हैं। उसके बालकाण्ड के चतुर्थ पृष्ठ पर 'नररूपहरि' का अर्थ करते समय 'नरहरिदास वाराह क्षेत्र निवासी और गोस्वामी तुलसीदास का गुरु' और छब्बीसवें पृष्ठ पर सूकर-खेत की व्याख्या इस प्रकार है : 'सूकर खेत=गंगातीर सोरों घाट जहां वराह अवतार भयो'। बाबू किशनलाल ने भी बम्बई से प्रकाशित अपनी टीका में सूकरखेत का अर्थ सोरों ही किया है जो १६५६ वि० में छपी थी।

(ण) **सरकारी विवरण**—ब्रिटिश कालीन निम्नलिखित कतिपय सरकारी विवरणों के अनुसार भी जो समय-समय पर प्रकाशित होते रहे, सूकरखेत का तादात्म्य सोरों से होता है :—

(अ) प्राचीनतम सरकारी विवरण 'आर्केलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया' है, जो १८७१ ई० में प्रकाशित हुआ। उसके २६६वें पृष्ठ पर लिखा है कि सोरों एक बड़ा कस्बा है जो गंगाजी के दक्षिण अथवा पश्चिमी तट पर बरेली-मथुरा के राज-पथ पर स्थित है। यह स्थान पहले ऊकलक्षेत्र कहा जाता था किन्तु वराहावतार द्वारा

दैत्य हिरण्याक्ष के वध के पश्चात् इसका नाम सूकर-क्षेत्र अर्थात् सुकर्म-क्षेत्र पड़ गया। सोरों में बहुत मन्दिर हैं, उनमें से कतिपय प्राचीन हैं। किन्तु महत्त्वपूर्ण मन्दिर तो सीतारामजी का है जो खेड़े पर है और वराहजी का भी जो नगर के उत्तर-पश्चिम में विद्यमान है। द्वितीय मन्दिर के निकट मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को एक बड़ा वार्षिक मेला लगता है और इस मन्दिर में लक्ष्मी-वराह की प्रतिमाएँ हैं।

(आ) **स्टेटिस्टिकल डिस्क्रिप्टिव एण्ड हिस्टोरिकल अकाउंट**—इसी प्रकार का विवरण 'स्टेटिस्टिकल डिस्क्रिप्टिव एण्ड हिस्टोरिकल अकाउंट' (एन० डब्ल्यू० पी० आगरा डिवीजन की चतुर्थ जिल्द में) १८७६ ई० में, तथाच, कुछ अधिक सूचनाओं के साथ, 'द इम्पीरियल गज़टियर ऑव इण्डिया' में प्रकाशित हुआ। इस गज़टियर का द्वितीय संस्करण १८८५ ई० में और नवीन संस्करण १९०८ ई० में हुआ था। द्वितीय संस्करण के सत्तावनवें पृष्ठ पर विवरण उपलब्ध है। नवीन संस्करण की तेइसवीं जिल्द से निम्नलिखित कुछ उद्धरण रुचिकर प्रतीत होंगे:

सोरों उत्तर प्रदेश के एटा जिले की कासगंज तहसील में एक कस्बा है जो वृद्धगंगा के तट और २७.५४'३० तथा ७८.४५' पू० अक्षांशों पर स्थित है। १९०१ की जन-संख्या १२१७४ है। सोरों अत्यन्त प्राचीन स्थान है। जनश्रुति के अनुसार इसका नाम उकलक्षेत्र था किन्तु विष्णुजी के वराहावतार-द्वारा हिरण्यकश्यप नामक दैत्य के वध के पश्चात् उसका नाम बदल कर सूकर-क्षेत्र रख दिया गया। 'सूकर' जंगली सूअर का पर्याय है। खेड़े पर सीतारामजी का मन्दिर और मुसलमान फकीर शेख़ जमाल की समाधि है। औरंगजेब के शासन-काल में यह मन्दिर नष्ट कर दिया गया, किन्तु गत शती के अन्त में एक धनी वैश्य ने इसका पुनरुद्धार कर दिया। सत्रहवीं शताब्दी तक गंगाजी उसी मार्ग से बहती थीं जिसे अब बूढ़ी गंगा कहते हैं। यात्री लोग मथुरा-दर्शन के पश्चात् सोरों में स्नान के निमित्त आते हैं। यहाँ सरोवर, सुन्दर मन्दिर और घाट बने हुए हैं। आजकल इस सरोवर में बम्बे से जल आता है, किन्तु महत्त्वपूर्ण स्नान तो गंगाजी में ही होता है जो सोरों से चार मील उत्तर है।

(इ) **इम्पीरियल गज़टियर आदि**—यह बात द्रष्टव्य है कि पहले दो विवरणों में 'सूकर' का अर्थ भ्रम से सुकृत कर दिया गया था किन्तु यह भूल तीसरे विवरण में सुधार दी गई गयी अर्थात् 'सूकर' का अर्थ 'सूअर' कर दिया गया है, किन्तु अन्तिम दो मे एवं एटा-जिला गज़टियर में भी भूल से हिरण्याक्ष के स्थान पर हिरण्यकश्यप लिख दिया गया है, यद्यपि आर्कोलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया में शुद्ध रूप ही था। इम्पीरियल गज़टियर के द्वितीय संस्करण में लिखा है कि सोरों का विशेष महत्त्व धार्मिकता, यात्रा और मेले से सम्बद्ध है।

(ई) **एटा डिस्ट्रिक्ट गज़टियर**—१८७६ ई० में ई० टी० एटकिंसन ने एटा डिस्ट्रिक्ट गज़टियर प्रस्तुत किया, और १९११ में ई० आर० नीव ने एच० ओ० डब्ल्यू रॉबर्टस के बन्दोबस्त-विवरण तथा कतिपय जिलाधिकारियों की संगृहीत सामग्री के आधार पर उसका संशोधन भी। जैसा कि होना चाहिए, इस संशोधित संस्करण में सोरों का इतिहास तथा अन्य विवरण अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से दिया गया है।

२२३वें से २२६वें पृष्ठ तक जो विवरण दिये गये हैं उनका कुछ आशय नीचे दिया जाता है :

सोरों का मूल नाम उकल क्षेत्र था जो विष्णुजी के वराहावतार-द्वारा हिरण्यकश्यप के वध के पश्चात् सूकरक्षेत्र (अर्थात् वन्य सूअर का स्थान) नाम में परिवर्तित हो गया। प्राचीन कस्बा तो दुर्ग के खेड़े पर बसा हुआ है। यह नगर गंगाजी के प्राचीन ऊँचे तट पर स्थित है जहाँ कि, कहते हैं, यह नदी ढाई सौ वर्ष पहले बहती थी। इस खेड़े पर सीतारामजी का मन्दिर और शेख जमाल की समाधि विद्यमान है। यह मन्दिर बड़े आकार की भग्न इष्टिकाओं से परिपूर्ण है, और प्राचीरों की नींव सब दिशाओं में लक्षित होती है। जनश्रुति है कि ये राजा सोमदत्त के दुर्ग के अवशेष हैं। मूल वसति तो उनसे भी प्राचीनतर उस राजा बेन चक्रवर्त्ती की है जिसके विषय में उत्तर बिहार, अवध और रुहेलखंड में गाथाएँ प्रचलित हैं। सोलंकियों की अनुश्रुति के अनुसार उसका स्थापक उन्हीं का एक नेता सोनमत्ती था। यद्यपि बहुत से मन्दिर अत्यन्त प्राचीन कहे जाते हैं, तथापि सीतारामजी के, एवं नगर के ईशान में स्थित वराहजी के, मन्दिर की विशेष महत्ता है। इस मन्दिर में लक्ष्मी-वराह की प्रतिमाएँ स्थापित हैं और भगवान् वराह की स्मृति में मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को यात्रियों की भीड़ दर्शनार्थ आती है।'कहा जाता है कि सीतारामजी के मन्दिर को औरंगजेब ने नष्ट कर दिया और १८०७ में एक धनाढ्य वैश्य ने स्तम्भों को स्थापित कर और धवल भित्ति बनवाकर उसका पुनरुद्धार कर दिया था। इन स्तम्भों की पद्धति वैसी ही है जैसी दिल्ली में कुतुब मसजिद के अग्नि कोणस्थ स्तम्भों की। एक स्तम्भ पर प्राचीन और स्पष्ट संवत् १२२६ उत्कीर्ण है, अतएव मन्दिर का निर्माण १००० ई० के पश्चात् नहीं होना चाहिए। जनरल कनिंघम ने उन पर यात्रियों के इन उत्कीर्ण लेखों के सम्बन्ध में लिखा है कि यद्यपि ये साधारणतः संक्षिप्त और रुचिहीन हैं, तथापि संख्या में अड़तीस से कम नहीं हैं, और उन पर जो संवत् पड़े हैं वे ११६९ ई० और १५११ ई० के अन्तर्गत हैं। अतएव मन्दिर के इतिहास का पता लगाने के लिए इनका महत्त्व है। मुसलिम-विजय के पश्चात् सब से पहला विवरण सन् १२४१ ई० का है, और तब से लेकर १२९० ई० तक कम से कम पन्द्रह ऐसे विवरण हैं जिनमें संवतों का उल्लेख है। अतः अवश्य ही गोरी वंश काल में, जिसका अंत १२८९ ई० में हुआ था, अधिक यात्री सोरों आते रहे होंगे। किन्तु उसके पश्चात् खिलजी और तुगलकों के शासन-काल का केवल एक उत्कीर्ण लेख १३७५ ई० का है जो फीरोज-कालीन है। इस काल के आधे भाग में निर्दय और निरंकुश अलाउद्दीन खिलजी ने एवं नृशंस उन्मत्त मुहम्मद तुगलक ने शासन किया था। अतएव ऐसी कल्पना उचित प्रतीत होती है कि मुसलमान शासकों के अत्याचार से धार्मिक यात्राओं में अड़चन पड़ी। दूसरा लेख १४२९ ई० का है और तब से १५११ ई० तक सोलह संवत्-लेख मिलते हैं। इनमें से तेरह बहलोल लोदी के शासन-काल के हैं। अतएव कनिंघम का अनुमान है कि सैयद-वंश का शासन हिन्दुओं की धार्मिक यात्राओं के पक्ष में न था। यह भी अनुमान है कि यह मन्दिर असहिष्णु सिकन्दर लोदी के शासन में नष्ट कर दिया गया होगा, क्योंकि लेखों का क्रम १५११ ई० में अर्थात् उसके शासन

के अन्त से ठीक छः वर्ष पूर्व समाप्त हो जाता है। यदि यह मन्दिर सहिष्णु अकबर, उदासीन जहाँगीर और राजनीतिज्ञ शाहजहाँ की शती में विद्यमान होता तो निश्चय ही यात्रा-सम्बन्धी कुछ विवरण मन्दिर के स्तम्भों पर उत्कीर्ण होता। इस कारण कनिंघम की धारणा है कि सोरों के विशाल मन्दिर का विनाश असहिष्णु औरंगजेब से पूर्व ही मानना चाहिए।

(उ) **ट्रैवलर्स कम्पेनियन**—रेलवे बोर्ड ने सन् १९१३ तक शोध कर 'ट्रैवलर्स कम्पेनियन' प्रकाशित की। इसमें सोरों का इतिहास उसी प्रकार दिया गया है जिस प्रकार डिस्ट्रिक्ट गजटियर में। इसमें भी धर्मशाला, सराय, प्रस्तर, पीपल, पंडे आदि का एवं सोरों की भागीरथी गुफा का उल्लेख मिलता है।

(ऊ) **एन्युअल प्रोग्रेस रिपोर्ट १९१९ ई० : मन्दिर की प्राचीनता**—हिन्दू और बौद्ध भवनों के अधीक्षक राय बहादुर दयाराम साहनी ने ३१ मार्च, १९१९ को समाप्त होने वाले सन् की 'एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट' में सोरों के सीताराम मन्दिर के ६६ उत्कीर्ण लेखों की सूची दी है। उनके विचार से सोरों का सर्वप्राचीन मन्दिर सीतारामजी का है। भवन रूप में मंडप विद्यमान है। देवायतन इसके पश्चिम में था जिसके अवशेष जनरल कनिंघम के समय में तो थे परन्तु अब लुप्त हो गए हैं, यद्यपि खनन से नींव तो दृष्टिगोचर होती है। कनिंघम के विवरण से विदित होता है कि मंडप का पुनरुद्धार १८६७ में हुआ था। अब केवल एक छत अपने मौलिक रूप में विद्यमान है। उस पर चित्रकारी का विषय शिवलिंगोपासना है। इसमें सन्देह नहीं कि यह मन्दिर मूलतः शैव-परिवार का होगा। उसका नाम "सीतारामजी का मन्दिर" आधुनिक है जिसका मूल मन्दिर से कोई सम्बन्ध नहीं। मन्दिर के उत्कीर्ण लेख से यह प्रतीत हो सकता है कि यह मन्दिर वराहजी का होगा। साहनीजी कहते हैं कि पहले तो मैं उक्त वैष्णव लेख से छत वाले अंकित शैव दृश्यों का समन्वय नहीं कर सका; किन्तु मेरा सन्देह इस बात से दूर हो गया कि जिस स्तम्भ पर वैष्णव लेख है वह मूलतः मन्दिर से बाहर की वस्तु है जो जीर्णोद्धार के समय १८६७ ई० में वहाँ लगा दिया गया होगा। साहनीजी ने कनिंघम की इस धारणा को दूर किया है कि यह मन्दिर सिकन्दर लोदी के समय में नष्ट किया गया था। इसका कारण यह है कि साहनीजी को १६२१ विक्रम संवत् का स्तम्भ-लेख प्राप्त हुआ है जो अकबर के काल का है। अतएव साहनीजी की सम्मति में यह मन्दिर अकबर के काल तक विद्यमान था जो संभवतः औरंगजेब के द्वारा नष्ट किया गया होगा, जैसा कि सोरों-निवासी भी कहते हैं। मैं साहनीजी से सहमत हूँ कि मन्दिर मूलतः शैवों का रहा होगा क्योंकि जैसा कि 'चालुक्य वंश प्रदीप' में लिखा है सोरों और अतिरंजी दोनों को ही चौलुक नरेश ने बसाया था और अतिरंजी में चार बहुत बड़े और प्राचीन शिवलिंग विद्यमान हैं।

सूकर-क्षेत्र की स्थिति—सूकरक्षेत्र की स्थिति पुराणों के अनुसार भागीरथी गंगा के तट पर बतायी गयी है। 'गर्ग संहिता' ने उसे कौशाम्बी, रामतीर्थ और कर्ण-क्षेत्र के निकट बताया है। 'श्री विष्णुस्वामी चरितामृत' में वह स्थान संभल और बटेश्वर के बीच तथा कन्नौज, कम्पिला और मथुरा के निकट बताया गया है। १०९५ शक वाले

शिलालेख से विदित होता है कि वह बिलराम और कालीनदी के पास है। कम्पिल निवासी तोष निधि ने 'दीनविंगशत' में सूकरखेत को कम्पिल पुरी के निकट माना है।

पांचाली की टेर सुनि आय बढ़ायो चीर,
हौं हूं तो पांचाल हरि क्यों न हरत मो पीर।
समुहें सूकरखेत सुचि पाछें सोंगी ग्राम,
मध्य लसे कम्पिल पुरी जन्मभूमि अभिराम।

सूकरक्षेत्र में चौलुक्य, सोरंकी और बघेले—सोरों में लोग चुलुकिया अथवा चिलकिया नामक स्थान का निर्देश करते हैं। यह स्थान सोरों में उस स्थान के निकट है जहाँ एक टीले पर महाप्रभु वल्लभाचार्य की बैठक विद्यमान है और जहाँ उन्होंने कई बार भागवत की कथा बाँची थी। इन आचार्यजी के सोरों पधारने के उल्लेख श्री वल्लभ-दिग्विजय में हैं। '—सम्प्रदाय कल्पद्रुम' के पृष्ठ ३० और ३६ से भी स्पष्ट है कि ये आचार्य १५४६ वि० एवं १५५६ वि० में सोरों पधारे थे। चुलुकिया पर प्राचीन काल में एक क्षत्रिय ने गंगाजी के किनारे निराहार केवल दस चुलुक जल पीकर बारह वर्ष तक घोर तपस्या की थी। जनश्रुति है कि चक्रवर्त्ती राजा वेन ने गंगाजी के किनारे सोरों में और कालीनदी के किनारे अतिरंजी में दो दुर्ग बनवाये। इस जनश्रुति का उल्लेख 'एटा गज़टियर' में है। 'नवीन भारत' में २३ सितम्बर १६४२ के लेख और तत्पश्चात् प्रकाशित 'चालुक्य वंश प्रदीप' से विदित होता है कि भीमदेव बघेला आमेर के राजा महाराज मानसिंह की सेवा में थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् अपनी जन्मभूमि में जो कालीनदी के तीर पर स्थित अतिरंजी खेड़े के निकट थी, बस गये। बघेलाजी ने 'कच्छवाह कुल प्रदीप' और 'चौलुक्य वंश प्रदीप' नाम की दो पुस्तकें लिखीं। उनके लेख से स्पष्ट है कि चौलुक्यों की एक शाखा गंगा तीरस्थ सोरम के नाम पर सोरंकियों की शाखा बन गई, और उनकी एक उपशाखा 'बघेला' नामक ग्राम के नाम पर 'बघेला' नाम से विख्यात हुई। कुछ लोगों की कल्पना है 'सोरंकी' शब्द 'सोरों' के सम्बन्धकारक का स्त्रीलिंग रूप है—सोरों+की। उनके लेख से यह भी स्पष्ट है कि आदि चौलुक का, जिसे ब्रह्माजी ने वरदान दिया था, वेणु नाम का पुत्र था जिसने सोरों और अतिरंजी में दुर्ग बनाये। बघेलाजी के समय में भी अतिरंजी खेड़ा इसी प्रकार विद्यमान था जैसा आज है। इतिहास साक्षी है कि चालुक्यों ने अपने राज्य का विस्तार दक्षिण भारत तक किया। उनके झण्डों में गंगा, यमुना और वराहजी की आकृतियाँ रहती थीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि दक्षिण भारत में दोनों वंशों की मुद्राओं पर भी भगवान् वराह की आकृति रहती थी।

सूकरक्षेत्र का विस्तार—काल-गणना के अनुसार हिन्दु आजकल श्वेत-वराह-कल्प में जीवन-यापन करते हैं। सूकरक्षेत्र का विस्तार सोरों से अतिरंजी, एटा, मथुरा और स्यात् अलीगढ़ तक है। अलीगढ़ का प्राचीन नाम कोइल संस्कृत के 'कोल' शब्द का स्मरण दिलाता है जिसका अर्थ वराह है। अलीगढ़ में मंकारी नाम का एक ग्राम है जहाँ से एक नवीन प्रकार की प्रतिमा प्राप्त हुई, जिसका चित्र इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के अलीगढ़-सम्मेलन के विवरण में १६४३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस विग्रह में विष्णु, नृसिंह और वराह की त्रिमूर्ति का समावेश है। सूकरक्षेत्र का

विस्तार समय पाकर केवल पाँच योजन रह गया जैसा निम्नलिखित श्लोक से विदित होता है :—

> **पंच योजन विस्तीर्णे शूकरे मम मन्दिरे ।**
> **अस्मिन्वसति यो देवि गर्दभोऽपि चतुर्भुजः ।६।**
> **त्रीणि हस्तसहस्राणि त्रीणि हस्तशतानि च ।**
> **त्रयो हस्त विशालाक्षि परिमाणं विधीयते ।७।**

(पद्म पुराण, उत्तरा खण्ड, अ० १२१)

सूकरक्षेत्र का विस्तार, कहते हैं, पूर्व में गणेशपुर (सहावर), पश्चिम में परमोरा (वरवारा), दक्षिण में कासगंज और उत्तर में सहसवान तक है। किन्तु आजकल सामान्यतः उसका विस्तार सोरों कस्बे तक ही है। गोस्वामी तुलसीदास की जन्मभूमि रामपुर (अर्थात् श्यामपुर एवं श्यामसर) वराहजी के मन्दिर से दो मील है, अतः सूकरक्षेत्र के अन्तर्गत है। इस विषय में गोस्वामीजी की पत्नी रत्नावली की उक्ति कितनी सार्थक है :

> **प्रभु बराह पद पूत महि जनम-मही पुनि एहि ।**
> **सुरसरि-तट महि त्याग अस गए धाम पिय केहि ।२२।**
> **तीरथ आदि वराह जे तीरथ सुरसरि धार ।**
> **याही तीरथ आइ पिय भजहु जगत करतार ।२१।**

जन्म-स्थान

प्राक्कथन

तुलसीदासजी के जन्मस्थान के विषय में मतभेद है। हाजीपुर, हस्तिनापुर, राजापुर, काशी, अयोध्या, तारी और सोरों के योगमार्ग मुहल्ले का उल्लेख किया जाता है, किन्तु हम देखेंगे कि सोरों के रामपुर ग्राम का पक्ष अत्यन्त प्रबल है।

फ्रांसिस बुचानन ने काशी को[1] और एच० एच० विल्सन ने 'स्केच ऑव द रिलिजस सेक्ट्स ऑव द हिन्दुज़' में चित्रकूट के निकट हाजीपुर को जन्मस्थान लिखा; तदनन्तर, तदनुसार, गार्सां द तासी ने भी ऐसा ही बताया,[2] और एफ० एस० ग्राउज़[3] एवं जॉर्ज आर्थर ग्रियर्सन ने भी[4] उसका उल्लेख कर दिया है। इस विषय में संदिहान प्रो० रामबहोरी शुक्ल कहते हैं कि "कुछ लोग चित्रकूट के पास हाजीपुर को उनका जन्म-स्थान मानते हैं। फ्रांसीसी विद्वान् तासी और अंगरेज़ लेखक विल्सन ने इस मत का प्रवर्तन किया है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है ऐसा कोई स्थान आजकल तो है नहीं। सम्भव है उन्होंने राजापुर को भ्रमवश हाजीपुर लिख दिया हो।" यों तो भारत में अनेक हाजीपुर हैं, किन्तु प्रतीत होता है कि विल्सन ने गोस्वामीजी के विषय में जहाँ अनेक भ्रान्त बातों की चर्चा की वहाँ हाजीपुर की भी की।

ग्राउज ने लिखा है कि 'भक्तिसिंधु' के अनुसार गोस्वामीजी का जन्म हस्तिनापुर में हुआ था; किन्तु उन्होंने इसे महत्त्व प्रदान नहीं किया।[5] ग्रियर्सन ने इस विषय में बृहद् रामायण[6] माहात्म्य का और उल्लेख किया; किन्तु वे तारी और राजापुर की ओर ही अधिक झुके। ला० सीताराम के शब्दों में "कोई कहता है उनका जन्म राजापुर के पास हस्तिनापुर में हुआ था जिसे अब हस्तनाभ कहते हैं।"[7] लालाजी तो स्वयं तारी के पक्ष में थे। हस्तिनापुर की स्थिति तो गणमुक्तीश्वर (मेरठ) के निकट मानी जाती है, यद्यपि चार्ल्स जोपिन ने एक जर्मन ग्रन्थ के आधार पर उसे काली नदी के तट पर माना है।

राजापुर, काशी, अयोध्या, तारी आदि के सम्बन्ध में अलग-अलग और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा है, जो इस प्रकार है :

---

१. An Account of the district Purnea in 1809-10, पृ० १७६

२. Tulsidas etait un Brahmane de la branche des Serwariah et natif de Hajipur pres de Chitrakuta'—Histoire de la Litterature Hindoui et Hindustani.

३. रामायण ऑव तुलसीदास

४. द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान, ४३-४४

५. रामायण ऑव तुलसीदास, ४-१२

६. द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान, ४३ ४४

७. अयोध्याकाण्ड (राजापुर)

राजापुर की सामग्री

समालोचनात्मक विवरण

सिंहावलोकन—राजापुर से गोस्वामी तुलसीदास का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए निम्नलिखित सामग्री का उल्लेख किया जा सकता है :

(क) 'तुलसीचरित', 'मूल गोसाईं चरित', और 'घटरामायन' का परिशिष्ट
(ख) अयोध्याकाण्ड का तापस-प्रकरण
(ग) अयोध्याकाण्ड की हस्त-लिखित प्राचीन प्रति
(घ) शासकीय विवरण
(ङ) मन्दिर और प्रतिमाएँ
(च) माफी की दो सनदें
(छ) शर्त वाजिबुल अर्ज
(ज) जनश्रुति

उपरिलिखित सामग्री का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

तीन अप्रामाणिक पुस्तकें—राजापुर-पक्ष के समर्थक तीन ग्रन्थों को प्रमाणस्वरूप उपस्थित करते हैं, जो सत्य की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इनकी विस्तृत आलोचना द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है, यहाँ उनका परिचय-मात्र अभीष्ट है।

प्रथम है 'मूल गोसाईं चरित' जिसकी श्री श्रीधर पाठक, रायबहादुर शुकदेव बिहारी मिश्र, श्री मायाशंकर याज्ञिक, डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त आदि विद्वानों ने खुली निन्दा की है, एवं इसकी तिथि-सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर संकेत किया है जिनसे यह परिपूर्ण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल १९४० में प्रकाशित अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के पृष्ठ १५० व १५१ पर लिखते है कि 'मूलगोसाईं चरित' का निर्माण अयोध्या के कनक-भवन में हुआ था। पं॰ रामनरेश त्रिपाठी ने भी अपने सटीक 'रामचरित मानस' की प्रस्तावना तथा 'तुलसीदास एवं उनकी कविता' के प्रथम भाग (१९३७ ई॰) के पृष्ठ ७६-७७ पर इसी तथ्य की सूचना दी है।

दूसरा है 'तुलसीचरित' जो बाबू शिवनन्दनसहाय, पं॰ रामस्वरूप मिश्र, डा॰ श्यामबिहारी मिश्र, रायबहादुर प॰ शुकदेव बिहारी मिश्र, पं॰ रामनरेश त्रिपाठी, डॉ॰ श्यामसुन्दरदास प्रभृति विद्वानों के द्वारा अप्रामाणिक सिद्ध किया जा चुका है। जब मैंने स्वयं उल्लिखित हस्तलिपि के प्रकाशित भाग का निरीक्षण किया तो उसे सत्य की कसौटी पर खरा नहीं पाया। स्वय अन्तःसाक्ष्य इसके विपरीत हैं। इतिहास-व्यतिक्रम के उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित वर्णन को लिया जा सकता है। 'तुलसी-चरित्र' के अनुसार तुलसीदासजी ने अपना समस्त अध्ययन तीन वर्षों में समाप्त कर लिया था। एक वर्ष मे उन्होंने वेदों का अध्ययन समाप्त कर लिया था, दूसरे वर्ष में समस्त पुराणों का ज्ञान प्राप्त किया। तृतीय वर्ष में वे दीक्षित, कौस्तुभ तथा शेखर आदि व्याकरण-ग्रन्थों में पारंगत हो गये। इतने बृहद् ज्ञान को तीन वर्षों में प्राप्त कर लेना आश्चर्यजनक है। अस्तु, विवाद-रक्षार्थ इसे स्वीकार किया जा सकता है; परन्तु कठिनता यह है कि दीक्षित ने अपना व्याकरण तुलसीदासजी की मृत्यु के सात

वर्ष पश्चात् प्रकाशित किया था। 'परिभाषेन्दुशेखर', 'बृहच्छब्देन्दुशेखर' तथा 'लघु शब्देन्दुशेखर' का प्रणयन १८ वीं शताब्दी में हुआ था। कोई व्यक्ति कितना भी भोला क्यों न हो, इस अतथ्य पर विश्वास नहीं कर सकता कि तुलसीदास ने अपने बाल्यकाल में उन ग्रन्थों का अध्ययन किया था जो उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाश में आये।

तृतीय ग्रंथ और है जिस पर राजापुर-पक्ष के कुछ समर्थक विश्वास करते हैं; यह पुस्तक सपरिशिष्ट 'घटरामायन' है जिसका सम्बन्ध किन्हीं तुलसीसाहब से स्थापित किया जाता है। उनके कुछ शिष्यों ने उन्हें गो० तुलसीदास का अवतार मानकर उनके महत्त्व को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। यह कहा जाता है कि 'घट-रामायन' की रचना स्वयं गो० तुलसीदास की थी; परन्तु उन्होने स्वय ही इसे दबा दिया, क्योंकि काशी के निवासियों ने इसे आदर की दृष्टि से नही देखा और उन्हें धोखा देने के लिए 'रामचरितमानस' लिख डाला। विद्वानों ने इसकी परीक्षा की है, और जहाँ तक इसका सम्बन्ध गो० तुलसीदास से है, उन्होंने इसे मिथ्या ही माना है। श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने स्पष्टतया इसकी प्रामाणिकता के विरुद्ध निर्णय दिया है और इसमें दोष निकाले हैं। मैंने स्वयं इसके अनेक ऐतिहासिक व्यतिक्रमों की ओर संकेत किया है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि यह तुलसीदासजी की रचना नहीं है। तुलसीदासजी के जीवन-सम्बन्धी परिशिष्ट का निर्माण तो तुलसीसाहब के किसी अनन्य भक्त की रचना है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसकी ओर झुके हैं, यद्यपि सम्पूर्ण हृदय से नहीं, क्योंकि उन्होने स्वयं इसमें कुछ विरोधी बातें पायी हैं। परन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी तथा डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपनी-अपनी रचनाओं में, 'उत्तर भारत की सन्त परम्परा' पृष्ठ ६४८ पर तथा 'हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय' अध्याय २, के पृष्ठ ६० पर इसके विपरीत निर्णय दिया है।

उक्त पुस्तकों में पारस्परिक विरोध—स्पष्टतया उपर्युक्त तीनों पुस्तकों में सामंजस्य नहीं है। तुलसीदासजी की जाति, कुल एवं विवाह-सम्बन्धी विवरण परस्पर प्रतिकूल हैं। गोस्वामीजी के माता-पिता तथा पत्नी के नामों में भी अनुकूलता नहीं है। गोस्वामीजी के जन्म-संवत् के विषय में मत-भेद है किन्तु जन्म-स्थान के सम्बन्ध में साम्य है, जो कदाचित् घुणाक्षर-न्याय से हो।

तापस-प्रकरण—अयोध्या काण्ड की निम्नलिखित पंक्तियाँ तापस-प्रसंग के नाम से ख्यात हैं :

तेहि अवसरु एकु तापसु आवा, तेज पुंज लघु बयसु सुहावा।
कबि अलखित गति बेषु बिरागी, मन क्रम बचन राम अनुरागी।
सजल नयन तन पुलकि निज इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि।
राम सप्रेम पुलकि उर लावा, परम रंक जनु पारस पावा।
मनहुँ प्रेमु परमारथ दोऊ, मिलत धरें तनु कह सब कोऊ।
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा, लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा।
पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा, जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा।

कीन्ह निषाद दंडवत तेही, मिलेउ मुदित लखि राम सनेही।
पियत नयन पुट रूपु पियूषा, मुदित सुग्रसनु पाइ जिमि भूखा।

(रा० २, १०९-११०)

श्री विजयानन्द त्रिपाठी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री रामबहोरी शुक्ल आदि अनेक विद्वानों ने अयोध्याकाण्ड के तापस-प्रकरण पर आग्रह किया है। उसके आधार पर उन्होंने तापस को गोस्वामी तुलसीदास मानकर जिस स्थान की ओर इंगित किया है उसे राजापुर समझ कर गोस्वामीजी का जन्मस्थान घोषित किया है।

श्री चन्द्रबली पांडे किंचित् भिन्नता से लिखते हैं कि, "इस जन का सदा से ही विचार रहा है कि वास्तव में तुलसीदास ने अपने आपको ही एक तापस के रूप में अंकित किया है। किन्तु अब इसका विचार रंचक भी यह नहीं रहा कि इस प्रसंग का कारण है राजापुर तुलसी का जन्मस्थान होना। कारण है यह कि यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता कि राम ने राजापुर के सामने जाकर जमुना को पार किया और पार कर पुरवासियों का सुख भोगा। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि यदि 'राम' को राजापुर जाकर चित्रकूट जाना इष्ट होता तो प्रयाग से सीधे जलमार्ग से प्रस्थान करते और सखा निषाद की सहायता से बड़ी सरलता से वहाँ पहुँच जाते। परन्तु उन्होंने किया इसके विपरीत ही।"[१]

अन्य विद्वान् 'तापस' से नितान्त अन्य तात्पर्य ग्रहण करते हैं, यथा : (१) तापसी रूप से रावण-वध का सदेह संकल्प, (२) अग्नि, (३) चित्रकूट में निवास करने वाला अगस्त्य ऋषि का शिष्य, (४) स्वयं कामदनाथ चित्रकूट वन।[२]

कुछ ऐसे विद्वान् भी हैं जो तापस-प्रसंग को अप्रामाणिक समझते हैं। तापस-प्रसंग प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है, किन्तु श्री शम्भुनारायण चौबे ने ऐसी प्राचीन तेरह छपी हुई पोथियों का उल्लेख किया है (जिनमें से एक तो सौ वर्ष से भी अधिक पुरानी है) जिनमें तापस-प्रसंग नहीं है। चौबेजी तापस-प्रसंग को प्रक्षिप्त मानने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं :—

(१) यह प्रकरण सर्वथा अप्रासंगिक और असंगत है।

(२) किसी पौराणिक कथा से इसकी पुष्टि नहीं होती।

(३) सम्पूर्ण 'रामचरित मानस' की ग्रन्थ-संख्या मिलाते समय इसको ग्रहण करने से प्रामाणिक प्रतियों की ग्रंथ संख्या में अन्तर पड़ता है।

चौबेजी की सम्मति में 'तापस' को गो० तुलसीदास मानने में खटकने वाली बात यह है कि गोस्वामीजी तापस वेश में राम, सीता, लक्ष्मण सबसे स्वयं मिले, किन्तु निषादराज से, जो भगवान् के साथ में था, तब मिले जब कि पहले निषाद ने दण्डवत् किया और गोस्वामीजी ने उसे राम-स्नेही जान लिया। 'सिया राम मय सब जग जानी' जिसका यह सिद्धान्त हो वह निषादराज से मिलने में संकोच करे !! किन्तु जो तुलसी निम्नलिखित पंक्तियाँ लिख सकता है वह, भला, स्वाभिमानी किस प्रकार हो सकता है :

---

१. तुलसी की जीवन-भूमि, पृष्ठ १२१

२. 'रामचरितमानस के प्राचीन क्षेपक', पृष्ठ २५२, नागरी प्रचारिणी पत्रिका ४६।३

तुलसी जाके बदन तें धोके हु निकसत राम,
ताके पग की पगतरी मेरे तन को चाम ।। वै० ३७
आपु आपुने तें अधिक जेहि प्रिय सीताराम,
ताके पग की पानही तुलसी तनु को चाम ।। दो० ५६

इसके अतिरिक्त 'तेज पुंज' और 'मिलेउ मुदित' अहंमन्यता-सूचक शब्द गोस्वामीजी अपने लिए न लिखते। काव्य की दृष्टि से 'रंक' और 'पारस' शब्दों का प्रयोग भी उचित प्रतीत नहीं होता। भक्त 'पारस' कदापि नहीं हो सकता और भगवान् के लिए 'रंक' शब्द का प्रयोग भी चिन्त्य है।[1] विवेचन का निष्कर्ष यह है कि तापस-प्रकरण प्रक्षेप है, और यदि वह प्रक्षेप नहीं भी है तो यह आवश्यक नहीं कि 'तापस' से 'गोस्वामी तुलसीदास' का ही तात्पर्य ग्रहण किया जाय।

राजापुर का अयोध्याकाण्ड—राजापुर में 'रामचरितमानस' का अयोध्याकाण्ड है। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने इसे स्वयं अपने हाथ से लिखा था। पहले यह सातों काण्डवाली रामायण की पोथी थी जो तुलसी-मन्दिर में रखी रहती थी। एक बार एक पुजारी इसे चुराकर ले भागा तो गोस्वामीजी के शिष्यों को रात में स्वप्न हुआ। प्रातःकाल शिष्यों ने उसका पीछा किया। पुजारी पुस्तक ले नाव पर गंगा पार कर रहा था। उसी समय नाव लौटाने के लिए भेजे हुए व्यक्तियों ने मल्लाह को पुकारा। पुजारी सब बात समझ गया और उसने रामायण को गंगाजी के मध्य में डाल दिया। जब यह समाचार कालाकांकर के महाराज को मिला तो उन्होंने जाल छुड़वाकर पुस्तक को निकलवा लिया, और काण्ड तो गल गये केवल अयोध्याकाण्ड बच गया।

जनश्रुति इस प्रकार भी है कि गोस्वामी तुलसीदास ने काशी जाने से पहले गणपति शिष्य को अपने हाथ से लिखी रामायण की पुस्तक प्रदान की। एक दुष्ट साधु उस पोथी को ले भागा और जब उसका पीछा किया गया तो उसने उसे यमुना जी में डाल दिया। सम्पूर्ण पुस्तक में केवल अयोध्याकाण्ड शेष रहा है।

श्री चन्द्रबली पांडे उक्त जन-श्रुतियों के विषय में लिखते हैं कि "घटना कुछ भी घटी हो पर पकड़ की बात है केवल अयोध्याकाण्ड का बचा रहना जो किसी प्रकार संभव नहीं दिखाई देती। स्मरण रखने की बात यह है कि इसके सभी पन्ने अलग-अलग हैं। अतएव इसकी संभावना कैसे की जाय कि बीच में होने के कारण इसका एक काण्ड बच गया? पानी में नीचे का भाग पहले डूबता है, पत्रे काठ की पट्टियों के बीच में बेठन से बँधे रहते हैं। अतः किसी ग्रन्थ का सर्वथा जल-मग्न होना कठिन होता है। हम जानना चाहते हैं कि क्या उक्त तुलसी-हस्तलिखित काण्ड में कोई भी चिह्न ऐसा है जिससे हम उसे अलग एक स्वतन्त्र काण्ड न मान किसी सम्पूर्ण ग्रन्थ का अंग मानें।"[2]

मैं पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि उक्त दोनों

---

१. रामचरितमानस के प्राचीन क्षेपक, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पृ० २३०-२३१, वर्ष ४६, अंक ३, कार्तिक १६६८ वि०।

२. तुलसी की जीवन-भूमि, पृ० ६०-६२।

जनश्रुतियों में से जिसका उल्लेख श्री चन्द्रबली पांडे ने किया है, एक में गंगाजी का उल्लेख है, दूसरे में यमुनाजी का। पर सोरों और काशी में गंगाजी हैं, राजापुर में यमुनाजी।

उक्त अयोध्याकाण्ड के विषय में डॉ० माताप्रसाद गुप्त सूचित करते हैं कि यह प्रति "पं० मुन्नीलाल उपाध्याय के पास है। इनका मकान तुलसीदास के मन्दिर के पास ही है। कहा जाता है कि पहले प्रति मन्दिर ही में रक्खी रहती थी। बाद को चोरों के डर से उपाध्यायजी इसे अपने घर में रखने लगे। प्रति में कोई पुष्पिका नहीं है, इसलिए लिपि-काल के सम्बन्ध में कहना कठिन है। हस्त-लेख के सम्बन्ध में जनश्रुति यह है कि इसके लिपिकार तुलसीदासजी ही थे। प्रति हाथ के बने सफेद कागज पर है, जो पुराना होने के कारण कुछ भूरा पड़ गया है, और स्याही काली है। प्रति साधारणतः अच्छी हालत में है, केवल कागज के किनारों पर पानी से भीगने के दाग बने हुए हैं।'[1] किन्तु यह 'तुलसीदास' की स्वहस्त-लिखित नहीं है।[2]

श्री शंभु नारायण चौबे के विचार से भी राजापुर की प्रति गोस्वामीजी के हाथ की लिखी नहीं है। इसके लिए वे दो प्रमाण उपस्थित करते हैं। प्रथमतः, इस प्रति में 'तापस-प्रकरण' विद्यमान है जिसे तुलसीदाम जी जैसे निरभिमान व्यक्ति नहीं लिख सकते थे। द्वितीयतः, निम्नलिखित अर्द्धालियाँ राजापुर की प्रति में विद्यमान नहीं हैं यद्यपि वे अन्य सभी प्राचीन प्रामाणिक प्रतियों में तो हैं।

१. सकल सुकृत मूरति नर नाहू। राम सुजस सुनि अतिहि उछाहू ।।२।१।२।।
२. प्रमुदित मोहिं कहेउ गुरु आजू। रामहिं राय देहु जुवराजू ।।२।४।३।।
३. कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। फिरि न नवै जिमि उकठि कुकाठू।। २।१६।४।।
४. सहज सनेह बरनि नहिं जाई। पूँछी कुशल निकट बैठाई ।। २।८७।४।।
५. राम सनेह सुधा जनु पागे। लोग बियोग बिषम बिष दागे ।।२।१८३।१।।
६. कह गुरु बादि छोभ छल छांडू। इहाँ कपट कर होइहि भांडू ।।२।२१७।२।।
७. ....। अरघ तर्जाह बुध सर बसजात ।।
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिय लखन सहित रघुराई ।।
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। २, २५५, २-४ ।।
८. ....। जनु महि करत जनक पहुनाई ।।
तब सब लोग नहाइ नहाई।............................।। २।२७८।५
९. ....। रिषि धरि धीर जनक पहिं आए ।।
राम बचन गुरु नृपहि सुनाए।............................।। २।२९०।५

जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि राजापुर का अयोध्याकाण्ड प्राचीन है और प्रमाणाभाव में प्राचीन जनश्रुति की अवहेलना उचित नहीं। यदि राजापुर की प्रति तुलसीदास जी के हाथ की नहीं है तो भी तत्सम आदरणीय है। हाँ, यह बात अवश्य है कि राजापुर में उसकी केवल विद्यमानता इस बात का कोई स्वतः साक्ष्य नहीं कि तुलसीदास जी राजापुर में जन्मे थे।

---

१. तुलसीदास—माताप्रसाद गुप्त, पृ० १९६।
२. वही। पृ० १४८।

शासकीय विवरण—गोस्वामी तुलसीदास के विषय में राजापुर इतिहास के निम्नलिखित चार शासकीय विवरण अत्यन्त स्पष्ट हैं, जिनका उल्लेख किया भी जा चुका है :—

(अ) इनमें प्राचीनतम है 'स्टैटिस्टिकल डिस्क्रिप्शन एण्ड हिस्टोरिकल एकाउंट ऑव द नार्थ वेस्टर्न प्राविंसज ऑव इण्डिया' जिल्द प्रथम बुन्देलखण्ड, जो कि एडविन टी० एटकिंसन के द्वारा सम्पादित तथा १८७४ ई० में प्रयाग से प्रकाशित है। इसके पृष्ठ ५७२-७३ पर ऐसा लिखा है—जनश्रुति है कि अकबर के शासन काल में एक पवित्रात्मा, जो कि एटा जिले के अलीगंज परगने में सोरों नामक स्थान का निवासी था, यमुना के किनारे उस जंगल में आया जहाँ आज राजापुर स्थित है। उसने एक मन्दिर बनवाया और वह प्रार्थना एवम् ध्यान में दत्तचित्त रहने लगा। उसकी साधुता ने शीघ्र ही अनुयायियों को आकृष्ट किया और वे उसके चारों ओर बस गये। जैसे-जैसे उनकी संख्या बढ़ती गई, उन्होंने आश्चर्यजनक सफलता से अपने को व्यापार तथा धर्म में लगाया। वहाँ कुछ विचित्र स्थानीय परम्पराएँ हैं जिनका सम्बन्ध तुलसीदास जी से है।

(ब) 'इम्पीरियल गज़टियर ऑव इंडिया' जिल्द १, डब्ल्यू-डब्ल्यू हंटर द्वारा अनूदित १८८६ ई० में प्रकाशित दूसरे संस्करण के पृष्ठ ३८५-८६ पर वही तथ्य इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—सोरों के सन्त तुलसीदास द्वारा अकबर के शासन-काल में राजापुर बसाया गया। उन्होंने एक मन्दिर का निर्माण कराया तथा अनेक अनुयायियों को आकर्षित किया।

(स) 'इम्पीरियल गज़टियर ऑव इंडिया' यू० पी० सैकिंड प्राविंशियल सीरीज़, १९०८ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित पृष्ठ ५० पर लिखा है कि राजापुर कस्बे का नाम है और मँझगाँव उस मौजे अथवा ग्राम-मण्डल का जिसके समीप यह स्थित है। जनश्रुति के अनुसार यह कस्बा रामायण के प्रसिद्ध रचयिता तुलसीदास जी के द्वारा बसाया गया था, जिनका निवास-स्थान अभी तक दिखाया जाता है।

(द) 'डिस्ट्रिक्ट गज़टियर ऑव बाँदा', १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ। उसके पृष्ठ २८५-८६ पर लिखा है:—कहा जाता है कि अकबर के शासन-काल में तुलसीदास नामक एक भक्त, जो एटा जिले की कासगंज तहसील में सोरों का निवासी था, यमुना तट के उस जंगल में आया जहाँ आजकल राजापुर स्थित है और प्रार्थना तथा तप करने लगा। ये वे ही तुलसीदास हैं जो रामायण के रचयिता हैं, जिनका घर कस्बे में अभी तक दिखाया जाता है।

प्रथम शासकीय लेख १८७४ ई० में प्रकाशित हुआ था तथा अन्तिम १९०९ ई० में। ये सब इस बात को स्पष्टतः प्रकाशित करते हैं कि तुलसीदास एटा जिले में सोरों नामक स्थान के निवासी थे, तथा उन्होंने अकबर के शासन-काल में बाँदा जिले में राजापुर की नींव डाली। यह अविश्वसनीय है कि कोई व्यक्ति अपने जीवन-काल में किसी नगर को बसाये और उसी में उत्पन्न भी हो।

राजापुर की स्थापना—उक्त गज़टियरों से स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास सोरों से आये और उन्होंने राजापुर की नींव डाली। श्री अयोध्या प्रसाद पाँडे कतिपय

धार्मिक पुस्तकों की पुष्पिकाओं के आधार पर कहते हैं कि 'राजापुर का प्राचीन नाम विक्रमपुर था और कालान्तर में रजियापुर अथवा राजापुर हुआ'।[1] किन्तु श्री चन्द्रबली पाँडे इस पर आपत्ति करते हैं कि उन पुष्पिकाओं में न तो राजापुर का नाम मिला और न राजापुर और विक्रमपुर का साथ-साथ उल्लेख ही। 'यमुना के दक्षिण तट पर क्या एकमात्र राजापुर बसा है जो उसी को विक्रमपुर मान लें।'[2]

श्री राम बहोरी शुक्ल ने 'तुलसी चरित' में इलाहीं सन् ३ अर्थात् १६१६ संवत् के शाही फ़रमान की प्रतिलिपि दी है। फ़रमान फ़ारसी में है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उक्त फ़रमान का हिन्दी रूपान्तर अपने 'तुलसीदास' में इस प्रकार दिया है—

सही फ़रमान ता० २५ माह आवान इलाही सन् ३ यह है कि साहबे सूबा और इलाहाबाद के हाल और मुस्तकबिला मुतसद्दी शाही इनायत के उम्मीदवार होकर जानें कि इस वक्त ऊधो वल्द गनपत ने हुजूर के दरबार में हाज़िर होकर इस्तग़ासा दिया और फ़रियाद चाही है कि हुक्काम परगना गहौरा जक़ात व दूसरे उठा दिये गये सायरों की इल्लत में, जो कि हुजूर की सल्तनत में मुआफ हैं मौजा विक्रमपुर के रहने वालों से और परगना मज़कूर के दूसरे रहने वालों से वसूल कर रहे हैं और उन लोगों की हालत में मुजाहिमत कर रहे हैं। चाहिए कि मामले की हक़ीकत को समझ कर जिस तरह काम हो रहा है उसे न होने दे, ताकि परगने मज़कूर के हाकिमों और आमिलों में से कोई भी उन कामों को जो मना कर दिए गए हैं न करने पाए और लालच में आकर किसी किस्म की बेजा माँग न करे। इस बाबत निहायत ताकीद की जाती है और जो कुछ हुक्म दिया गया है उसके खिलाफ न जावें। तारीख सदर मज़कूर सन् इलाही।

श्री अयोध्याप्रसाद पाँडे ने एक पट्टे की प्रतिलिपि की है जिसे डॉ० माताप्रसाद गुप्त इस प्रकार देते हैं—

'श्री महाराज मैंमांर श्री दिवान हिन्दुपति जू देव येते पं० सीवाराम को पटौ कर दियौ। आगे के पटे पर हुकुम आपर मौजे विक्रमपुर में जो कुछ साबिक दस्तूर पाई आये होइ सो हमेशा पाओं जाहु। हुकुम हजूर माह सुदि ६ सुके १८१२ मुकाम मसौनी।"

डॉ० गुप्त एक और पट्टे की प्रतिलिपि उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है—

"श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा अमानसिंह जू देव येते पं० श्री उपाध्या सीवाराम कौ सनधि कर दई जी आपर मौजे मझिगवाँ में कस्बा राजापुर बसतु है सु आगें ते ये उहाँ की राह रकम हाटफंट कौ पाइ आये होइ सु पाओं जाइ पुरानी सनधि वर हुकुम हाल कोऊ आमिलु मैंमार जिमीदार मुजाहिम न होइ हुकुम हुजूर पोष सुदि १५ स० १८१३ मु० लुड़वारौ।"

उक्त फ़रमान और पट्टों से डॉ० गुप्त, श्री अयोध्याप्रसाद पाँडे की भाँति, इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विक्रमपुर और राजापुर एक ही हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि संवत् १८१२-१३ में कस्बे का नाम विक्रमपुर से बदल कर राजापुर हो गया,

१. तुलसी की जीवन-भूमि, पृष्ठ ११५।

२. वही, पृष्ठ ११७।

यद्यपि प्राचीनता के पोषक पण्डित लोग कुछ पीछे तक पुराने ही नाम का उपयोग करते रहे। किन्तु इस विषय में प्रथमतः यह आपत्ति हो सकती है कि यदि संवत् १८१२-१३ में विक्रमपुर का नाम राजापुर कर दिया गया तो राजकीय पत्रों में इसका उल्लेख अवश्य होता। १८१२ और १८१३ दोनों ही संवतों के पट्टों में पण्डित सेवाराम का उल्लेख है। भाषा का साम्य भी है। पट्टा देने वाले अधिकारी तो भिन्न हैं ही। पर एक में विक्रमपुर का उल्लेख है तो दूसरे में राजापुर का। यदि विक्रमपुर का नाम राजापुर कर दिया गया होता तो उसका उल्लेख पट्टे में अवश्य होना चाहिए था। ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमपुर और राजापुर भिन्न-भिन्न स्थान हैं और पट्टा देने वाले भी। इस अनुमान का कोई आधार नहीं कि विक्रमपुर ही राजापुर नाम से अभिहित हुआ। द्वितीयतः यह भी विचारणीय है कि खटवारा निवासी श्री बलदेव प्रसाद की रचना "कानूनगोय कायस्थ वंशावली" भी राजापुर नाम की ओर झुकती है, यद्यपि खटवारा से प्राप्त यह वंशावली प्राचीन रचना नहीं और डॉ० गुप्त की सम्मति में भी यह "हाल की ही रचना ज्ञात होती है, क्योंकि उसमें अँग्रेजों तक का उल्लेख हुआ है : शाह सुर की बुन्देल अंग्रेजहु। अभी तक केवल ग्यारह पंक्तियाँ इस वंशावली की प्रकाशित हुई हैं।"

मन्दिर और प्रतिमाएँ—राजापुर में गोस्वामी तुलसीदास की स्थापित की हुई संकटमोचन नामक हनुमान्‌जी की मूर्त्ति विद्यमान है। एक कच्चे घर को गोस्वामीजी का निवास-स्थान बताया जाता है। यहाँ एक मूर्त्ति भी है जो लगभग पचास वर्ष पूर्व यमुनाजी के सैकत-पुलिन से प्राप्त हुई थी, जिसे लोग तुलसीदासजी की बताते हैं। परन्तु यह काले पत्थर की बनी हुई है अतः गौरांग तुलसीदासजी का ठीक प्रतिनिधित्व नहीं करती। सामान्यतः श्वेत प्रतिमा गौरवर्ण की प्रतीक होती है और कृष्ण प्रतिमा श्यामवर्ण की। अतः मेरे विचार से वह प्रतिमा राजा नामक एक साधु की है जिसके नाम पर गोस्वामीजी ने राजापुर का नामकरण किया था, जैसा कि उनके समकालीन अविनाश राय भट्ट के एक पद से प्रकट होता है, अथवा वह प्रतिमा भक्तराज छीतूदास की हो जैसा श्री चन्द्रबली पाँडे समझते हैं।[1] यह स्वीकार करने पर भी कि वह प्रतिमा तुलसीदास की है उसका अस्तित्व केवल इस बात का यथेष्ट प्रमाण नहीं है कि उनका जन्म राजापुर में हुआ था। महात्मा गांधी की प्रतिमाएँ तो भारत के अनेक नगरों में विद्यमान हैं, किन्तु इससे उनका जन्म उन सभी नगरों में नहीं माना जा सकता।

राजापुर की सनदें—राजापुर निवासी श्री रामबहोरी शुक्ल ने माफ़ी की दो सनदों का उल्लेख किया है जो राजापुर में उस सरयूपारीण ब्राह्मण वंश के पास है जो अपने को गो० तुलसीदास के शिष्य गणपति उपाध्याय की सन्तति कहता है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त को यह शिकायत है कि जब वे एक बार राजापुर गये थे तो उन्हें ये सनदें नहीं दिखायी गयीं, अपितु सनद-वालों ने उनके वर्तमान अस्तित्व से इन्कार कर दिया था, किन्तु पीछे श्री रामबहोरी शुक्ल ने 'वीणा' में उनका विवरण दिया था।

---

१. तुलसी की जीवन-भूमि, पृष्ठ १००-१०१।

मैं स्वभावतः किसी वस्तु को तब तक असत्य अथवा अप्रामाणिक नहीं ठहराता जब तक उसके विरोध में सबल प्रमाण उपस्थित न हों। अतः मेरी विनीत सम्मति में उन दोनों सनदों को वास्तविक मान लेने में कोई हानि नहीं, जिन्हें गोस्वामीजी के शिष्य-वंश उपस्थित करते हैं। किन्तु उन दोनों सनदों को वास्तविक और प्रामाणिक मान लेने से भी गोस्वामी तुलसीदास के जन्म-स्थान पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

एक सनद पन्ना नरेश श्री हिन्दुपति की दी हुई बताई जाती है, जिस पर १८१३ संवत् पड़ा हुआ है। इसमें गोस्वामी तुलसीदास का नाम तक नहीं है और न इसमें यह लिखा है कि इसे अकबर या जहाँगीर ने प्रदान किया था। इससे यह तनिक भी सिद्ध नहीं होता कि गोस्वामी तुलसीदास के जन्म से पहले भी राजापुर विद्यमान था। यह सनद गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में सर्वथा चुप है। अतः प्रामाणिक हो अथवा अप्रामाणिक, यह गोस्वामीजी के जन्म-स्थान निर्णय के सम्बन्ध में अन्यथा-सिद्ध है।

दूसरी सनद फ़ारसी लिपि में लिखी हुई है। बीच-बीच में कागज़ कई जगह फट गया है। इससे जो कुछ पढ़ा जा सका है उसकी प्रतिलिपि श्री रामबहोरी शुक्ल के अनुसार नीचे दी जाती है :

"आमिलान हाल इस्तकबाल परगनै गहोरा सिरक कालींजर सूबे इलाहाबाद के······आगे प······मदारीलाल······साईं तुलसीदास के······समै का महमूल साइर वा तिहवा तिहाव······जी वा कलारी वा गुजर श्री जमुनाजी राजापुर अमलै पर बामूजब सनद बादशाही व सूबेदारान व राजा बुन्देलखण्ड···है सो सिरकार में हाल है सो हसब मुवान के अमल सौ मुजाहिम ना हूजे हरसाल नई सन मा गयो ता० २१ सावान सन् १२।

"सन् १७१९ बमुकाम बाँदा।"

इस सनद पर एक कोने में डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के हस्ताक्षर हैं, जो बहुत धूमिल होने से पढ़े नहीं जाते और उनके ऊपर उर्दू में लिखा है 'हुक्म हुआ २७ दिसम्बर सन् १८४१।"

सनद पर डॉ० गुप्त की आपत्तियाँ—उक्त सनद के विषय में डॉ० माताप्रसाद गुप्त इस प्रकार विचार करते हैं कि उत्तर प्रदेश में 'पं० मदारीलाल गोसाईं तुलसीदास' नाम का कोई एक व्यक्ति नहीं हो सकता। अतः पं० मदारीलाल और गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध को सूचित करने वाला कोई शब्द अवश्य आना चाहिए था जैसा कि सनदों में हुआ करता है; और दूसरे 'के······समै' का सम्बन्ध 'पं० मदारीलाल' से होना चाहिए, न कि 'साईं तुलसीदास' से; और तीसरे यदि पं० मदारीलाल का वंश राजापुर में चलता है तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि गोसाईं तुलसीदास का वंश भी राजापुर में चलता रहा। मैं अपनी ओर से यह कहूँगा कि श्री रामबहोरी शुक्ल ने 'के······समै का' के बीच में 'वं' की पूर्ति अपनी ओर से सुझायी है। किन्तु 'वंश' शब्द ठेठ संस्कृत का है और सनद के सभी प्रधान शब्द फारसी के हैं। अतएव शुक्लजी का सुझाव संगत नहीं।

सनदें अन्यथा-सिद्ध हैं—प्रथमतः, यह बात ध्यान देने की है कि गोस्वामीजी के तारापति नाम का पुत्र हुआ जो बचपन में ही जाता रहा, जिसका उल्लेख सोरों-सामग्री

के अतिरिक्त सर जॉर्ज ए० ग्रियर्सन ने भी उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों की जनश्रुतियों के आधार पर किया है। अतएव गोस्वामीजी के औरस वंशज संसार में कहीं नहीं मिलने चाहिएँ। हाँ, सोरों-सामग्री के अनुसार गोस्वामीजी के चचेरे भाई महाकवि नन्ददास और चन्द्रहास के सन्तानें थीं और आज भी उनके वंशज सोरों में विद्यमान हैं।

द्वितीयतः, राजापुर में सनद वाले महानुभाव स्वयं अपने को गोस्वामीजी के शिष्य का वंशज बताते हैं। इस पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? गोस्वामीजी के तो अनेक स्थानों पर अनेक शिष्य रहे होंगे। हो सकता है कि श्री गणपति उपाध्याय पट्ट शिष्य रहे हों और इस कारण वे गोस्वामीजी की तथाकथित राजापुर-वाली सम्पत्ति और अधिकार के उत्तराधिकारी रूप से आज भी विद्यमान हैं। इस वार्ता से बड़ी प्रसन्नता है, किन्तु शिष्य-वंश की उपस्थिति से भला गुरु का जन्म-स्थान अपने आप किस प्रकार सिद्ध हो सकता है?

तृतीयतः, यदि यह सुझाया जाय (जिसका कि शुक्लजी ने प्रयत्न किया है) कि गोस्वामीजी से संबद्ध राजापुर वाली सम्पत्ति पहले गोस्वामीजी की सन्तान को मिली और उसके नष्ट हो जाने पर वह गोस्वामीजी के शिष्य के वंश को प्राप्त हुई, तो यह सुझाव उपहासास्पद होगा क्योंकि हिन्दू-कानून के अनुसार साधु-संन्यासी की सम्पत्ति सीधे पट्ट शिष्य को मिल सकती है। इस कारण यदि गोस्वामीजी की सम्पत्ति सीधे श्री गणपति उपाध्याय को प्राप्त हुई तो न्याय-संगत है और तब से अब तक वह गोस्वामीजी के शिष्य-वंशजों के अधिकार में ही होनी चाहिए। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यदि सम्पत्ति गोस्वामीजी के किसी भी प्रकार के खानदानी की हो जाती, तो उनके खानदान के नष्ट हो जाने पर वह गोस्वामीजी के शिष्यों को प्राप्त नहीं हो सकती थी। वह तो गोस्वामीजी के दूर के रिश्तेदारों को ही पहुँचती और उन रिश्तेदारों के अभाव में सरकार को मिलती।

चतुर्थतः, किसी भी सनद से यह तनिक भी प्रकट नहीं होता कि ये सनदें अकबर या जहाँगीर की प्रदान की हुई थीं, और उनसे यह भी सिद्ध नहीं होता कि गोस्वामीजी के जन्म से पहले राजापुर विद्यमान था, क्योंकि स्वयं राजापुर के इतिहास बताने वाले सभी सरकारी गजटियरों में यह स्पष्टतः लिखा है कि रामायण के रचयिता और सोरों के निवासी गोस्वामी तुलसीदास ने अकबर के समय में राजापुर की नींव डाली।

हमें सनदों पर किसी प्रकार के आक्षेप करने की आवश्यकता नहीं यद्यपि श्री चन्द्रबली पाण्डे के अनुसार सन् और मास अशुद्ध पढ़ लिये गये हैं[1] जिससे सौ वर्ष का अन्तर हो जाता है। जब वे ही लोग जिनके पास सनदें हैं, स्वयम् अपने को गोस्वामीजी के शिष्य का वंशधर बताते हैं तो उनकी बात मान लेनी चाहिए। वे और उनकी सनदें हमारे लिए गौरव की वस्तु हैं, यद्यपि वे गोस्वामीजी के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में नितान्त चुप हैं। सनदें राजापुर गजटियरों का विरोध भी नहीं करतीं। अर्थात्

---

१. तुलसी की जीवन भूमि, पृ० ८०।

उनका इस तथ्य से कोई विरोध नहीं कि 'रामचरितमानस' के कर्त्ता गोस्वामी तुलसीदास ने अकबर के समय में राजापुर की नींव डाली और वे सोरों के रहने वाले थे।

शर्त वाजिबुलअर्ज—मौज़ा मझगवाँ उर्फ राजापुर की शर्त वाजिबुलअर्ज १६ मार्च १८७६ ई० को प्रस्तुत की गयी, जिसकी आवश्यक प्रतिलिपि, नागरी लिपि में, परिशिष्ट रूप से दी जा रही है। उसकी अन्तिम कतिपय पंक्तियों से स्पष्ट है कि गोसाईं तुलसीदास के चेले रामजियावन, गयादीन, रामलाल, व्रजलाल माफ़ीदार हैं और कटरा, वजाजा, बाजार, अंधई तथा गिरहाई से ६८८।।।=) हक पाते हैं। इस लेख से उन लोगों के कथन की पुष्टि होती है जो अपने को गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य गणपति उपाध्याय का वंशज बताते हैं।

जनश्रुति– राजापुर के बड़े-बूढ़े यह कहते रहे हैं कि गोस्वामी तुलसीदास सोरों या उसके समीपवर्ती किसी स्थान के निवासी थे और उनका जन्म राजापुर में नहीं हुआ था। जनश्रुति का उल्लेख गजटियरों में हुआ है और अनेक विद्वानों ने भी इस प्रकार किया है:

श्री सीताराम शरण भगवान् प्रसाद १६१३ ई० में लिखते हैं: "राजापुर आपका जन्म-स्थान नहीं। श्री गोस्वामीजी का जन्म-स्थान श्री गंगा वाराह-क्षेत्र (सोरों) के प्रान्त अन्तर्वेद में तरी नामक ग्राम या तारी था। आपने राजापुर में विरक्त होने के पीछे निवास कर भजन किया, इसी से वहाँ गोस्वामीजी की विराजमान की हुई संकटमोचन श्री हनुमान्‌जी की मूर्त्ति है और श्री रामायण अयोध्याकाण्ड भी है। यह वार्त्ता वहाँ जाके भली प्रकार निश्चय की है।"[१]

रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज़ १८६८ ई० में लिखते हैं: "पर जन्म कहाँ हुआ? पर लोग बतलाते हैं, राजापुर उनकी जन्मभूमि है। इस बात के विरुद्ध और लोग कहते हैं कि नहीं, उनका जन्म वहाँ नहीं हुआ, पर गुसाईंजी ने वहाँ एक मन्दिर बनवाया या गाँव बसाया। फिर हस्तिनापुर उनकी जन्म-भूमि बतलाई गई और हाजीपुर भी (जो चित्रकूट के पास है); पर इन बातों का कुछ प्रमाण नहीं। फिर औरों ने कहा, वह ताड़ी में जन्मे, दूसरे लोग कहते हैं,—नहीं, उनके माता-पिता वहाँ रहते थे, पर यह तुलसीदास के उत्पन्न होने के पहले था।"[२]

श्री शिवनन्दन सहाय १६२३ ई० में लिखते हैं: "जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी अभी तक ठीक निर्णय नहीं हुआ। राजापुर तथा तारी के बीच झगड़ा है। यद्यपि राजापुर में आपका स्मारक निर्मित हुआ था तथापि वहीं के कुछ बूढ़े लोग कहते हैं कि वह गोसाईंजी का जन्मस्थान नहीं। विरक्त होने पर वह कुछ दिन रहे अवश्य थे, और प्रायः जाया करते थे।"[३] १६१६ ई० में उन्होंने लिखा था "जिन कारणों से लोग राजापुर को इनका जन्मस्थान होना बताते हैं उनसे यह बात प्रमाणित नहीं होती। परन्तु राजापुर गोस्वामीजी को अपनाने की चेष्टा में बहुत तत्पर है। बहुत लोगों को

---

१. श्री भक्तमाल सटीक वार्तिक प्रकाशयुक्त, पृ० ७४१।
२. तुलसी ग्रन्थावली, निबन्धावली, पृ० ४५०।
३. माधुरी, अगस्त १६२३, पृ० २४।

निज पक्ष का प्रतिपादक बनाता जाता है और उसने अपने निकटवर्ती खटवार ग्राम-निवासी बलदेव कवि से अपने माहात्म्य की कविता में अपने यहाँ यमुना के तट पर गोस्वामीजी का 'आगार' होना कहलाया है।"[1]

पण्डित गोविन्द बल्लभ भट्ट १६२६ ई० में लिखते हैं : "श्री तुलसी-स्मारक सभा, राजापुर के एक अधिकारी से जब इसी जन्म-स्थान के विषय में पत्र-व्यवहार किया, तो उत्तर में उन्होंने प्राइवेट शब्द के साथ इस बात को स्वीकार किया कि गोस्वामीजी का जन्म-स्थान सोरों या उसी के आस-पास कहीं होना चाहिए।"[2]

निष्कर्ष—राजापुर-सामग्री से इतना स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास सोरों के निवासी थे, उनका जन्म-स्थान भी सोरों या सोरों के आस-पास कोई स्थान था। विरक्त होने पर उन्होंने राजापुर की स्थापना की, जहाँ आज भी उनके शिष्य निवास, और कुछ माफ़ी का उपभोग, तथा 'रामचरितमानस' के अयोध्याकाण्ड की अति प्राचीन प्रति की संरक्षा, करते हैं।

---

१. श्री गोस्वामी तुलसीदास जी (१६१६ ई०), पृ० ५।

२. माधुरी, १६२६ ई०।

काशी का पक्ष

जन्म-स्थान : गंगाजी के निकट—फ्रांसिस बुचानन ने तुलसीदासजी को काशी का सारस्वत ब्राह्मण लिखा है।[1] श्री रजनीकान्त शास्त्री के मत से भी गोस्वामी जी की जन्म-भूमि काशी थी। अपने मत की पुष्टि में वे तुलसीदासजी के लेखों का निम्नलिखित प्रमाण देते हैं :

> **दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।**
> **जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को ।।**
> **यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।**
> **तेरी कुमति कायर कलप बल्ली चहति विषफल फली।।** वि० १३५ (१)

'विनय-पत्रिका' के उक्त भजन का अर्थ शास्त्रीजी इस प्रकार करते हैं : "गोसाईंजी अपने मन को समझाते हैं : "रे मन, भगवान् रामचन्द्र ने मुझे अपने कुल में जन्म तथा सुन्दर शरीर दिया है जो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति का कारण है तथा जिसको पाकर पंडितगण महादेव और विष्णु का उच्च-पद पाते हैं। फिर भरतखंड जैसी पवित्र भूमि और भगवती जाह्नवी का सामीप्य है और यहाँ की संगति भी अच्छी है। परन्तु हे कायर, तेरी दुर्बुद्धि रूपी कल्पबेलि जन्म-मरण-रूपी जहरीला फल फला चाहती है।"

इस उद्धरण से शास्त्रीजी को स्पष्ट है कि गोसाईंजी का जन्म गंगाजी के पास कहीं पर हुआ था, न कि यमुना नदी के तट पर बसे हुए राजापुर में, जैसा कि अधिकांश लोग आजकल माना करते हैं। पर इस भजन से यह नहीं विदित होता कि गंगाजी के पास वह कौन सा स्थान था जिसे गोस्वामीजी की जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

काशी का उल्लेख—इस विषय में 'रामचरितमानस' के किष्किन्धा काण्ड का प्रथम सोरठा शास्त्रीजी की कुछ सहायता करता प्रतीत होता है। वह यह है :—

> **मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानि कर।**
> **जहँ बस संभु भवानि सो काशी सेइय कस न ।।**

शास्त्रीजी इस सोरठे का अर्थ इस प्रकार करते हैं :—"मोक्ष और (मेरे) जन्म की भूमि, ज्ञान की खान और पापों का संहार करने वाली जो काशी पुरी है, जहाँ शिव और पार्वती निवास करते हैं, उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिए।"

सोरठे का नवीन अर्थ—तत्पश्चात् शास्त्रीजी का तर्क इस प्रकार है : "इस सोरठे" में मुक्ति-जन्म-महि का अर्थ है 'मोक्ष और (मेरे) जन्म की भूमि', न कि 'मोक्ष की जन्म-भूमि'। जन्म और मरण से निवृत्त हो जाने का ही नाम मुक्ति है, तो फिर मुक्ति का जन्म-मरण कैसा ? यदि मुक्ति जन्म लेती है वह मरती भी जरूर होगी। काशी तो उसकी जन्म-भूमि हुई, पर उसकी मरण-भूमि कहाँ है ? क्या मुक्ति कोई प्राणी है जो जन्म लेती और मरती है ? इस तर्क शैली से स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति-जन्म में द्वन्द्व समास (मुक्ति और जन्म) है, न कि षष्ठी तत्पुरुष (मुक्ति का

---

१. एन आकाउंट ऑव द डिस्ट्रिक्ट पूर्णिया इन १८०९-१०, पृ० १७३।

जन्म) है जैसा कि भूल से लोग माना करते हैं। उक्त दोनों उद्धरणों ('विनय पत्रिका' का 'दियो सुकुल जन्म' वाला भजन तथा 'रामचरितमानस' का 'मुक्ति-जन्म-महि' वाला सोरठा) को एक में मिला कर पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोसाईंजी का जन्म-स्थान गंगाजी के समीप अर्थात् गंगाजी के तट पर काशी पुरी थी"।

ऊहापोह—अपने तर्क की पुष्टि में शास्त्रीजी 'कवितावली' से निम्नलिखित उद्धरण उपस्थित करते हैं :

देव सरि सेवौं वामदेव गाउँ रावरेहीं
नाम रामही के माँगि उदर भरत हौं।
दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक
लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं।
एते पर हूँ जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै
ताको जोर देव दीन द्वारें गुदरत हौं।
पाइ के उराहनो न दीजो मोहि
काल कला कासी नाथ कहें निबरत हौं ॥ क १६५ उ० ॥

अर्थात् हे शिवजी, मैं आपके गाँव काशी में गंगा का सेवन करता हूँ, और रामचन्द्र के नाम से भीख माँग कर पेट पालता हूँ। तुलसीदास कहते हैं कि अगर मुझे किसी को देने की योग्यता नहीं है तो मैं किसी से कुछ लेता भी तो नहीं हूँ। और यदि मेरे भाग्य में किसी की भलाई करना नहीं लिखा है तो मैं किसी की बुराई भी तो नहीं करता। इतने पर भी अगर आपका कोई भक्त मुझे कष्ट दे तो हे देव मैं दीन होकर आपके ही पास उसका कष्ट देना निवेदन किए देता हूँ। यह उलाहना मैं आपको इस लिए देता हूँ कि इसे पाकर आप यह नहीं कहने पाएँगे कि तुमने मुझ से क्यों नहीं कहा। अतः हे काशीनाथ, मैं कलिकाल की इस करनी को आपकी सेवा में निवेदन कर अपनी जवाबदेही से निवृत्त हो जाता हूँ।

"पर क्या कारण है", शास्त्रीजी का तर्क चलता है, "कि काशी वालों ने आप को इतना तंग किया कि आपको काशी से भागना ही पड़ा। कारण ढूँढ़ने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। कहावत प्रसिद्ध है कि ओल्ती तले का भूत सात पुश्त का नाम जाने, मैं गोसाईंजी के लेखों के आधार पर पूर्व में कह आया हूँ कि आपका जन्म बनारस-भूमि में कहीं पर हुआ था और आपने अपने बाल्यकाल को रामबोला के नाम से वहाँ के अथीथ बालकों की तरह दर-दर भीख माँग कर अपना पेट पालते हुए बिताया था। अतः काशी वालों को आपकी जन्म-कहानी तथा आपका हेय प्रारम्भिक जीवन-काल बखूबी मालूम थे। पर घर-घर का टुकड़ा खाने वाला वही रामबोला अब अपना नाम तुलसीदास रखकर और महात्मा बन जाने का स्वांग रच कर, उन्हीं ओल्ती तले के भूतों के ऊपर अपनी महात्मागिरी की धाक जमाने आया, जो उनके लिए असह्य हो गया। काशी की जनता न ऐसी है और न कभी ऐसी थी कि कोई जाना हुआ व्यक्ति उस पर सहसा रोब गाँठ सके। सारांश यह कि गोसाईंजी स्वकालीन जनता की दृष्टि में कभी भी प्रतिष्ठा के पात्र नहीं रहे। वह आपकी जाति-पाँति के विषय में सदा संदिग्ध रहती थी तथा आपको पोच, धूर्त,

अज्ञाति आदि कहा करती थी" ।

तर्क का प्रथम समाधान—शास्त्रीजी के उपर्युक्त तर्कों के उत्तर में इस प्रकार निवेदन किया जा सकता है :—

गोस्वामीजी के कतिपय लेखों के आधार पर शास्त्रीजी की धारणा है कि गोस्वामीजी किसी नीच कुल में उत्पन्न जारज सन्तान थे । केवल दो दशाएँ हैं । गोस्वामीजी के लेखों पर विश्वास किया जाय अथवा न किया जाय । यदि गोस्वामीजी ने समाज को धोखा देने के अभिप्राय से अपने विषय में यदा-कदा लिखा है तो उनके उन लेखों को प्रमाण न माना जाय, और यदि उनके लेखों में श्रद्धा है तो जो कुछ उन्होंने लिखा है वह ठीक मान लिया जाय । यदि गोस्वामीजी के लेख अविश्वसनीय हैं तो विचार का प्रश्न ही नहीं उटता । यदि वे लेख विश्वसनीय हैं तो विचार-धारा इस प्रकार प्रवाहित होती है :—

शास्त्रीजी ने 'विनय पत्रिका' का जो उद्धरण उपस्थित किया है उसमें गोस्वामीजी ने अपने लिए 'सुकुल' शब्द का प्रयोग किया है । उक्त भजन का अर्थ करते समय शास्त्रीजी ने 'सु' और 'स्व' में भेद नहीं माना है । 'सुकुल' शब्द का अर्थ है 'अच्छा' अर्थात् 'उच्च कुल' अथवा 'सुकुल नामक ब्राह्मण अल्ल' । दोनों ही अर्थों से इस निराधार धारणा का निराकरण हो जाता है कि गोस्वामीजी नीच कुल के थे । काशीवाले गोस्वामीजी का तिरस्कार इसलिए नहीं करते थे कि वे नीच कुल के थे, किन्तु इस कारण कि वे अपनी विद्वत्ता, रचना तथा सौजन्य के कारण ख्याति लाभ कर रहे थे, जो तत्कालीन तथाकथित लब्ध-प्रतिष्ठ कतिपय व्यक्तियों को असह्य प्रतीत होती थी । गोस्वामीजी की रचनाएँ तो अहम्मन्यता से सर्वथा शून्य हैं । पर असूया आदि कुत्सित प्रवृत्तियाँ भी तो मानव-स्वभाव में विद्यमान रहती हैं और अकारण शत्रु भी संसार मे रहते हैं । अतएव यदि गोस्वामीजी को कुछ लोगों ने अकारण कष्ट पहुँचाया तो कोई आश्चर्य न होना चाहिए । जनता को सदा अधिकार रहा है कि भगवान् कृष्ण को बाण से आघात पहुँचाय, ईसामसीह को फाँसी पर लटकाय, हजरत मोहम्मद को इधर-उधर भटकाय, तथा सांख्य-शास्त्र-प्रणेता को कपिल, वैशेषिक दर्शनकार को कणाद, न्यायशास्त्रकार को गौतम, छन्दःशास्त्र के आचार्य को पिंगल आदि हेय शब्दों से अभिहित करे ।

द्वितीय समाधान—शास्त्रीजी का कथन है कि गोस्वामीजी काशी में अथवा उसके निकट किसी स्थान में उत्पन्न हुए थे क्योंकि 'विनय-पत्रिका' के उक्त भजन में 'समीप सुरसरि थल' शब्दावली का प्रयोग हुआ है । अपने मत की पुष्टि में शास्त्रीजी ने 'रामचरितमानस' के किष्किन्धा काण्ड का प्रथम सोरठा उद्धृत किया है और 'मुक्ति-जन्ममहि' का तात्पर्य समझाने के लिए 'मुक्ति-जन्म' में द्वन्द्व समास का आश्रय लिया है, यद्यपि 'मानस' के सभी प्रसिद्ध टीकाकारों ने काशी को 'मुक्ति की जन्म-स्थली' माना है । शास्त्रीजी को यह आलंकारिक भाषा काव्य में निराधार खटकती है ।

शास्त्रीजी की इस धारणा का पूर्ण निराकरण करने के निमित्त डॉ० माताप्रसाद गुप्त निम्नलिखित पंक्तियाँ कवितावली उत्तर काण्ड से उद्धृत करते हैं—

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर ।
पायँ तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं ॥१६६॥
जीवे की न लालसा दयालु महादेव मोहि ।
मालुम है तोहि मरबेहु को रहत हौं ॥१६७॥

अर्थात् हे शंकर भगवन्, मैं महाराज राम का दास हूँ, आपका सुयश सुनकर आपके चरणों में गंगाजी के तट पर आ बसा हूँ। हे दयालु महादेव, मुझे जीवित रहने की इच्छा नहीं है, आप जानते ही हैं कि मैं तो मरने के लिए (काशीपुरी में) रहता हूँ। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गोस्वामीजी कहीं से आकर काशी में वास करने लगे थे, जिस से यह स्वतः सिद्ध होता है कि वे वहाँ उत्पन्न नहीं हुए थे।

तृतीय समाधान—यदि शास्त्रीजी के इस सुझाव को थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि गोस्वामीजी काशी में उत्पन्न हुए थे, तो श्री चन्द्रबली पाण्डे गोस्वामीजी की अन्य उक्ति की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं, वह यह है :—

बानर विभीषन की ओर के कनावड़े हैं
सो प्रसंग सुनें अंग जरै अनुचर को।
राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजै, बलि
तुलसी तिहारो घर जायो है घर को ॥क, ७ १२२॥

अर्थात् आप सुग्रीव के ऋणी हैं, यह बात सुनकर दास का अंग-अंग जलता है (कि आप मुझ पर ऐसी कृपा क्यों नहीं करते ?)। अतः मैं आपकी बलिहारी जाता हूँ, अपने प्रण की रक्षा करके आपसे जो बने वही कीजिये। यह तुलसीदास तो आपके घर का घर-जाया सेवक है। इस छन्द में गोस्वामीजी ने अपनी जन्म-भूमि का निदश किया है जो स्पष्टतः काशीपुरी नहीं हो सकती।

निष्कर्ष—पाण्डेजी गोस्वामीजी के जन्म-स्थान को अयोध्या समझते हैं, हम रामपुर, जो गंगा तीरस्थ सूकर क्षेत्र (सोरों) से दो मील था। हमारी धारणा के अनुसार तो गोस्वामीजी के सभी उपर्युक्त उद्धरणों का समाधान हो जाता है कि सुकुल आस्पद तुलसीदास श्री गंगा तीरस्थ भगवान् राम के पुर के जन्म-जात एवं निवासी थे और वृद्धावस्था में काशी सेवन करने लगे थे, जिससे कतिपय पण्डितम्मन्य आशङ्कित हो उन्हें कुछ समय तक कष्ट देते रहे। सोरों-सामग्री के अनुसार गोस्वामी जी पुराणों की कथा बाँच कर अपना निर्वाह करते थे, अतः शास्त्रीजी ने भविष्य पुराण की जो निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं वे संगत ही हैं :—

वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति
रामचन्द्रकथां साध्वीं भाषारूपां करिष्यति
विख्यातस्तुलसी शर्म्मा पुराण-निपुणः कविः। ३,२२

काशी की सामग्री—गोस्वामीजी का सम्बन्ध काशी से घनिष्ठ रहा, यह निर्विवाद है, और जैसा कि 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' से स्पष्ट है, उनका वार्द्धक्य वहाँ बीता। तुलसी-घाट असी और गंगाजी के संगम पर है। इस घाट के सन्निकट एक पुराना भवन है जिसकी एक कोठरी में हनुमान्जी की प्राचीन मूर्ति है। यहाँ लकड़ी का एक खण्ड भी है जो गोस्वामीजी की उस नौका का अवशेष

कहा जाता है जिसमें वे गंगा-पार जाया करते थे। एक जोड़ी खड़ाऊँ की और एक चित्र भी विद्यमान हैं जिन्हें गोस्वामीजी का बताया जाता है। गोपाल मन्दिर के अहाते में एक नीची कोठरी है जिसमें, कहते हैं, गोस्वामीजी ने विनय पत्रिका के कुछ पदों की रचना की थी। प्रह्लाद घाट पर गंगारामजी ज्योतिषी का स्थान है। जब गोस्वामीजी सर्वप्रथम काशी गये तो वहाँ ठहरे थे। गोस्वामीजी ने इनकी ज्योतिष-सम्बन्धी सहायता की थी तब से वे गोस्वामीजी के मित्र बन गये। इस स्थान पर गोस्वामीजी का एक चित्र भी है जिसे, कहते हैं, जहाँगीर सम्राट् ने बनवाया था, यद्यपि रायकृष्णदासजी की सम्मति से वह सं० १६५५ का नहीं है।[1] इस सामग्री के अतिरिक्त काशी में हस्तलिखित सामग्री भी है। १६६६ वि० का पंचायतनामा जो पहले असीघाट के निवासी टोडर के उत्तराधिकारियों के पास था अब काशीराज के यहाँ है। टोडर गोस्वामीजी के मित्र थे जिसका उल्लेख इन पंक्तियों में हुआ है:

तुलसी उरथाल विमल टोडर गुनगन बाग
ये दोउ नैनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग।
चार गाँव को ठाकुरो मन को महा महीप
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप।
तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार।
राम धाम टोडर गए तुलसी भए असोच
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच ।।[2]

टोडर और राजा टोडरमल विभिन्न व्यक्ति हैं। टोडर के दो पुत्र थे: आनन्दराम और रामभद्र। सं० १६६९ में जब रामभद्र मर चुके थे तो आनन्दराम और (रामभद्र के पुत्र) कंधई में झगड़ा हुआ। जमींदारी में पाँच ग्राम थे—भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतपुर और लहरतारा, जो काशी के ही मुहल्ले हैं। बँटवारे का झगड़ा हुआ तो दोनों दलों ने गोस्वामीजी को पंच बनाया और पंचनामा १६६९ वि० आश्विन शुक्ला त्रयोदशी को काजी के समक्ष लिखा गया। पंचनामा तो फारसी के अक्षरों में है पर, कहते हैं, सर्व-प्रथम जो श्लोक है वह गोस्वामीजी के ही कर-कमलों के द्वारा लिखा गया है। ११ पीढ़ियों तक तो यह पंचनामा टोडर के वंश में रहा, तदनन्तर पृथ्वीपालसिंहजी ने इसे काशी-नरेश को सौंप दिया और अब तक वह वहाँ सुरक्षित है। काशी के सरस्वती भवन में बाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड की एक प्रति विद्यमान है जो १६४१ वि० की लिखी हुई है, इसकी पुष्पिका में 'लि० तुलसीदासेन अंकित है।' १६६६ वि० में लिखी 'विनय-पत्रिका' की एक प्रति रामनगर के चौधरी छुन्नीसिंह के पास है। कहते हैं कि इस प्रति में जो संशोधन किये गये हैं वे स्वयं तुलसीदासजी के हाथ के हैं।

इस प्रकार कह सकते हैं कि यद्यपि काशी गोस्वामीजी की जन्म-भूमि नहीं है तथापि उनके निवास और मोक्ष की भूमि होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

१. तुलसीदास, ८६-८७।

२. श्री रामचरितमानस की भूमिका, पाँचवाँ खण्ड, ३३-३४।

अयोध्या

प्राक्कथन—गोस्वामी तुलसीदास के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में पण्डित चन्द्रबली पांडे ने अयोध्या की ओर इंगित किया है। उन्होंने जो प्रमाण संग्रह किया है उसका द्विविध विभाजन हो सकता है--बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत हैं अनन्य कवि की रचना, तुलसी चौरा, मोहन साईं का ख्याल, तथा भवानीदास का लेख, और अन्तःसाक्ष्य के आधार हैं स्वयं गोस्वामी तुलसीदास जी के 'रामचरित मानस', 'कवितावली' और 'गीतावली'। पांडेजी का प्रयास प्रशंसनीय है, यद्यपि रूपान्तर से उनके द्वारा सोरों-सिद्धान्त का ही समर्थन हो जाता है।

१. बहिः साक्ष्य

(क) **व्रजनिधि का पद**—जयपुराधीश्वर श्री सवाई प्रतापसिंहजी देव ने (जिनका उपनाम व्रजनिधि है) किन्हीं अनन्य नामक कवि के पदों का संग्रह किया। इन व्रजनिधि की अन्य रचनाओं के साथ इन पदों का संकलन पुरोहित हरिनारायण शर्मा के द्वारा हुआ और उन्हें काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने संवत् १९९० में प्रकाशित किया। महाराज प्रतापसिंह (व्रजनिधि) का जीवन-काल है संवत् १८२१ से १८६० वि० तक। अनन्य कवि कौन थे इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। चाहे वे अक्षर अनन्य हों अथवा अनन्य माधव अथवा अन्य कोई अनन्य हों इस से कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं। किन्तु उनकी रचना का संग्रह-संकलन व्रजनिधि जी ने स्वयं किया अथवा उनके किसी उत्तराधिकारी ने यह स्पष्ट नहीं। अस्तु, अनन्यजी ने गोस्वामी तुलसीदास की प्रशस्ति इस प्रकार की है :—

जय जय तुलसीदास गुसाईं। सिया राम दृग दाई बाई
रघुवर की बर कीरति गाई। जं अनन्य तिनके मन भाई ॥८४॥
भाई अनन्य मनहिं सुकीरति बिमल रघुबर राय की।
अति बिचित्र चरित्र बानी प्रकट कीनी भाय की।
कुटिल कलि के जीव तिन पै अति अनुग्रह तुम कर्‌यो।
त्रिबिध ताप संताप हिय को दया करि सब को हर्‌यो ॥८५॥
जं जं श्री तुलसी तरु जंगम राजई
आनन्द बन के माँहि प्रगट छबि छाजई
कविता मंजरी सुन्दर साजं।
राम-भ्रमर रमि रह्यो तिहि काजं ॥८६॥
रमि रहे रघुनाथ-अलि ह्वै सरस सौंधा पाइके
अति ही अमित महिमा तिहारी कहौं कैसे गाइके
तुलसी सु वृन्दा सखी को निज नाम तें वृन्दा सखी
दास तुलसी नाम की यह रहसि मैं मन में लखी ॥८७॥

कोसल देस उजागर कीनो। सबहिन को अद्भुत रस दीनो।
छिन-छिन उमगे प्रेम नबीनो। उमड़ि-घुमड़ि झर लाइ रंगीनो ॥८८॥
रंग की बरखा करी बहु जीव सन्मुख करि लिए।
जनक नंदिनि-राम-छवि में भिजे भिजे दीने जन हिये।
बस निरन्तर रहत जिनके नाथ रघुबर जानकी।
ते दास तुलसी करहु मो पर दया दंपति दान की ॥८९॥
सुन्दर सिया राम की जोरी। वारों तिहि पर काम करोरी।
दोउ मिलि रंग महल में सोहैं। सब सखियन के मन को मोहैं ॥९०॥
सकल सखियन में सिरोमनि दास तुलसी तुम रह्यो।
करो होवन रुचिर रुचि सों सुजस को बानी कह्यो।
दास यह तुव अनन्य तापर रीझि चरनन तर परी।
अहो तुलसीदास तुम्ह ही कृपा करि अपनी करी ॥९१॥'

उक्त प्रशस्ति में 'कोसल देस उजागर' कीनो शब्दावली ध्यान देने योग्य है। पाण्डेजी की समझ में यह अर्थ भासता है कि कोसल देश में जन्म लेकर तुलसी ने उसे धन्य कर दिया।[2] इसमें कोई सन्देह नहीं, सभी जानते भी हैं कि तुलसीदासजी अयोध्या में रहे थे और वहीं उन्होंने अपने 'रामचरितमानस' का प्रारम्भ किया था। उनकी उस रचना से देश का कल्याण हुआ अतः कोसल देश धन्य है जहाँ उन्होंने कुछ काल तक निवास किया। पर 'कोसल देस' का तात्पर्य केवल अयोध्या नगरी से हो यह आवश्यक नहीं, और केवल 'उजागर कीनो' से यह तात्पर्य ग्रहण नहीं किया जा सकता कि वहाँ उनका जन्म हुआ, जबकि भिन्न साक्ष्य भी उपलब्ध हो।

(ख) तुलसी-चौरा—अयोध्या में तुलसी चौरा नामक स्थल है जिसका उल्लेख मोहन साईं नाम के पुण्यात्मा ने एक गीत में किया है। उसका आशय यह है कि जहाँ आज तुलसी-चौरा है वहाँ वट वृक्ष के नीचे एक योगिराज ने आसन जमाया था और जब गोस्वामी तुलसीदास काशी से वहाँ पधारे तो उसने योगबल से गोस्वामीजी का महत्त्व जान कर उन्हें सब कुछ सौंप कर योगद्वारा अग्नि उत्पन्न की और अपना शरीर त्याग दिया। जब संवत् १६३१ आया तो गोस्वामीजी ने रामगाथा लिखी और भगवान् विष्णु, सीता, राम लक्ष्मण और हनुमान्‌जी की मूर्तियाँ स्थापित कीं। राजा मानसिंह ने वहाँ फर्श और छत्री बनवा दी। गीत सुन्दर है, वह इस प्रकार है—

अवध की भूमी पवित्र सब है,
पवित्रतम उसमें है तुलसी चौरा।
तवाफ करते हैं रोज जिसका
विरंचि नारद महेश गौरा ॥१॥
वह घड़ी अजब थी कि जिस घड़ी, वह दरख्त बट का उगा यहाँ।
उसी शब में बढ़ के बुलन्द शुद, उसे कैसे कोई करे बयाँ।

---

१. ब्रजनिधि-ग्रन्थावली (हरिपद संग्रह), पृष्ठ २७४-७६।
२. तुलसी की जीवनभूमि, पृष्ठ ११४।

हैरां हुए सब देखकर कुदरत इलाही दर जहां ।
न खुला मुग्रम्मा किसी से भी पोशीदा इसरारे निहां ।
सुना न देखा किसी ने पहले बना दिया इसने सब को बौरां ।।२।।
अवध की भूमी०

जमाया आसन उसी के नीचे, प्रसिद्ध मुनि योगिराज जी ने ।
वे जानते मर्म भीतरी थे, बता दिया था उन्हें किसी ने ।
यहां पै काशी से जब गुशाईं पधारे श्री राम रस से भीने ।
सुनाके आदेश अपने गुरु का उन्हें ही सौंपा सब उस यती ने ।
जला के तन योग अग्नि में तब सिधारा गुरु पाद पद्म भौंरा ।।३।।
अवध की भूमी०

लगी जब इकतीसी राम नौमी गुशाईं जी ने कलम उठाई ।
उछाह से राम ब्याह तेंतिस समाप्ति तिथि मानसी सुहाई ।
हुई जो पूजा की धूम सुरगन ने राम गाथा ये थी बढ़ाई ।
सुदिव्य मनि तीन शुचि अलौकिक सुघरता जिनकी कही न जाई ।
खींचा था उनमें समेत परिकर के रामजी का शबीह औरा ।।४।।
अवध की भूमी०

थी एक पर विष्णु जी की झांकी व दूसरे पर थी राम सी की ।
व तीसरे पर अनुज हनुमत विराजती मूर्ति सीय पी की ।
उन्हीं की पूजा वहां पै होती चलाई मानों गुशाईं जी की ।
बना दिया मिरजा मानसिंह ने फरश जमुर्रद व छत्रि ही की ।
बहुत दिनों तक चहल-पहल थी पलट गया फिर समय का दौरा ।।५।।
अवध की भूमी०

चढ़ा था शैतान सूबा के सिर कि ताजपोशी की की तयारी ।
उपाट कर फर्श तख्त साजा दुखा के दिल औ रुला के भारी ।
वह तख्त पर बैठने न पाया पहुंच के नौरंग ने जान मारी ।
मुगल के घर रत्न फर्श छत्री गुनाह व लज्जत उसने चक्खा ।
किए का फल हाथों हाथ धारी पहुंच गए दिल्लियां पियौरा ।।६।।
अवध की भूमी०

रहा सहा वृक्ष वेदिका युत जो था ही जिन्दा गवाह सब का ।
बचा न वह भी बचे तो कैसे कि हिल गए जब कि सातों तबका ।
वह कैसा संवत् था बेवफ़ा का कि नाम बारह खबास रब का ।
वो जन्म त्रेता का कैसे माने कि छयकरी तिथि हमन को जंचका ।
अब ईंट की वेदिका बची है उसी पै सिर हम पटकते धोरा ।।७।।
अवध की भूमी०

ए पाक बट मैं तो खाके तन हूं बहुत ही ना पाक नजसे दामन ।
मगर तुम्हारे ही साये में तो हुआ है मेरा हमेशः पालन ।
इसी से छूने का हक़ है हासिल छिमा करो पितृदेव भगवन् ।

कपीस के कुंड में सिवारूं तुम्हारा तन को बने न इंधन।
तुम्हारी आसक्ति घेरती है हृदय हमारा मचाके होरा ॥८॥
अवध की भूमी०

तुम्हीं तो त्रेता के सोमवट हो तुम्हीं तो द्वापर के वंशीवट भी।
तुम्हीं बने कलि में बोध बिरवा वो मानसी वट यहाँ प्रकट भी।
तुम्हीं अक्षय वट तुम्हीं अचल वट तुम्हीं हो कैलास तरु मुकुट भी।
तुम्हीं हो नटराज वट वपुष में तुम्हीं मेकल सुता के तट भी।
तुम्हारा गुन गावे साईं मोहन बनेगा जब तक अजल का कोरा ॥९॥
अवध की भूमी०

श्री चन्द्रबली पाण्डे की कल्पना है कि उक्त गीत में जिस छत्री का उल्लेख है वह तुलसीदासजी के माता-पिता की होगी और यह चौरा ही तुलसीदासजी का जन्म-स्थान है। किन्तु उक्त गीत से ऐसी कल्पना को बल नहीं मिलता। उसमें स्पष्ट लिखा है कि गोस्वामीजी काशी से उस स्थान पर आये थे। छत्रियाँ तो स्थान को महत्त्व प्रदान करने के लिए अथवा निर्माता की अपनी ही स्मृति को बनाये रखने के लिए बनवा दी जाती हैं। सोरों में, उदाहरणतः, वराह-मन्दिर के समीप हर की पैरी पर अनेक सुन्दर प्रस्तरमयी छत्रियाँ विद्यमान हैं जिन्हें राजाओं ने स्मृति-चिह्न-स्वरूप बनवाया था।

(ग) भवानीदास का 'तुलसी चरित्र'—पाण्डेजी ने भवानीदास कृत 'तुलसी चरित्र' में से कुछ उद्धरण दिये हैं। वे ये हैं:—

(अ) तहाँ ते चलि आए बहुरि, खैराबाद सुजान
सकल सराहै भाग निज, करि आदर सनमान ॥४॥
मिलि तह साथ सहेत करि, दीन वचन बहु भाखि
लीन प्रेम ह्वै अति सुफल, माथ चरन तर राखि ॥५॥
दै करि आसिरबाद तिन आए घाघर तीर।
जानि अवध सनबंध जिय, नैनन्ह आयो नीर ॥६॥
अवध रूप छायो द्रिगन, उमग्यो प्रेम अपार।
मगन ध्यान रस दंड युग, दसा सरीर विसारि ॥१॥
पूजि विविध करि आरती, अति ही प्रेम अधीर।
वस्तु भावना भवन भरि, चले नगर रघुवीर ॥२॥ (पृ० १०७)
आगे दई चलाइ वस्तु भरि दुइ जल जाना
सह समाज चढ़ि चले करत रघुपति गाना।
सै लख को एक ग्राम रामपुर नाम है ताको
रोकि आगमनी नाव अटालो है यह काको।
अब बिन जगाति नहिं छूटि है
कह्यो बहुत तिन मान नहिं
जम जाति कुजाति जगाति के
काहू की जेहि कान नहि ॥१॥

असवारी की नाव जबै पहुँची तेहि ठाऊँ
साधन हूँ बहु कह्यो बतायो जद्यपि नाऊँ
ताहूपर नहिं मान तबै तिन पूँछ गोसाई
कहा ग्राम को नाम कौन भुइधर यहि ठाई
कह्यो हृदेराम को ग्राम यह
नाम रामपुर बिस्व भन।
छत्री जाति तन तदपि है
रामदास मम नाम जन ॥२॥
तब निज मन अनुमान किय अब ऐसे शुभ ठौर
आव वस्तु जो काम तो हमहि न चाहिय और ॥१॥
वस्तु अनेक अमोल अति अरु बहु जिनिस सुदेस
सब छाड़ै ज्यों भेट किय साध नरेश धनेश ॥२॥(पृष्ठ १०६-७)

इन उद्धरणों का तात्पर्य है कि गोस्वामी तुलसीदास को अयोध्या से बड़ा प्रेम था और उसके नाममात्र से उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु आ जाते थे और वे स्वयं विभोर हो जाते थे। एक बार यात्रा करते वे एक ग्राम में पहुँचे जिसका नाम रामपुर था, किन्तु वे उसे पहचानते न थे। वह न तो अयोध्या था और न सोरों वाला रामपुर ही क्योंकि यदि वह इनमें से कोई होता तो वे उसे अवश्य पहचान लेते।

रामपुर यात्रा का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है। श्री खेमराज श्री कृष्णदास ने अपने श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से संवत् १९५० अर्थात् १८९४ ई० में 'तुलसीकृत रामायणम्' प्रकाशित किया, प्रारम्भ में तुलसीदासजी का जीवन-चरित पद्य में दिया गया है, उसमें तुलसीदासजी को राजापुर-निवासी बताया गया है और उक्त यात्रा का वर्णन पृष्ठ ९-१० पर इस प्रकार है—

एक समय श्री अवध को लै संग संत समाज।
नावहि नावहि चलत भये नाव भराये साज ॥१८॥
सरयू गंगा संगम जहँई पहुँचे जबै गोसाई तहँई
भूप घाट घाटी अरु ग्रामा पूछयो तुलसी चारिहु नामा
कहे लोक चलिके शिर नावत रामसिंह इत नृपति कहावत
रामदास घाटी कर नाऊँ तथा रामपुर बाजत गाऊँ
रामघाट यह गुण्यो गोसाँई लगत जगात इतै वरि आई
बिन कर दै कोउ जान न पावै तुमहुँ को देव उचित इत भावै
राम भये गुणि नाम सबन के सजल कोर भे प्रभु नयन के
तुलसिदास बोले मुसकाई दै जगात है मोर जवाई
सुन्यो गोसाँई आगम राजा आयो तुरतहि सहित समाजा
वंद्यो तुलसिदास पदकंजन लिय उपदेश कुमति दृग अंजन
विनय कियो भरि आनँन मारा होय नाथ इतही भंडारा
मेरे कंठ देहु प्रभु कंठी कीजै मोहि बसिद बिकुंठी।

तुलसीदास करिकै कृपा भंडारा तहँ तीन
भूपहु द्रव्य लगाय के अति उत्सव तहँ कीन ॥१६॥
तुलसिदास उपदेशते भूप सहित सब देश
रघुपति भक्त अनन्य भो सेयो संत हमेश ॥२०॥
तुलसिदास की पादुका धर्यौ भूप गृह माँहि
इष्ट देव सम पूजिकै पायो मोद सदाँहि ॥२१॥
एक दिना निवसत तेहि काशी एक चरित्र भयौ सुखराशी ॥"

रामपुर-यात्रा के वर्णन की समानता रखते हुए भी यह भिन्न है। एक में रामपुराधिपति का नाम हृदयराम और दूसरे में रामसिंह दिया गया है। जगाति की बात और घाटी का नाम रामदास दोनों में दिया गया है, किन्तु इस यात्रा-प्रकरण से भी गोस्वामीजी के जन्म-स्थान पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में कोई प्रकाश नहीं पड़ता। पांडेजी ने निम्नलिखित उद्धरण और दिया है :—

ग्राम एक जै रामपुर मिसिरिष पूरब भाग
भूमिपाल तेहि ग्राम को मिलो सो बड़ अनुराग ॥१॥
नाम सुनत जैरामपुर कियो गोसाईं छोह
तब तिन अपने दुख कह्यो मरहि तुरुक के ग्रोह ॥२॥
पति महा दारुण दुखद रहत हमारे ग्राम
चरण धारिए कृपा करि पूजे सब मन काम ॥३॥
लखि सो प्रीति को भाव नाम को नातो मान्यौ।
पर दुख दुखी दयाल सहज तहँ कीन्ह पयानौ।
वृन्दावन जब रहे तहाँ एक सहज सुभाए
सूखि डार वट छरी सो प्रभु सहज हि रखवाए
कहि वंसीवट परसाद सो गाड़ि जमायो दियो जल
तह कर्‌यो थापना वट रुचिर व्याधि नास हित करि अचल ॥४॥
अगहन सुकुला पंचमी राम व्याह उत्साह
सदा रहस वट तर करेहु होइहि सब सुख लाह ॥५॥
एक दिन रहि तह कीन्ह पयानो वट साखानि विघ्नहरि आनो
पलुहै लाग सो वृक्ष सुपासा अलपकाल बढ़ि लाग अकासा
प्रीति पेखि दुख दूर पराने मिटे ताप परिताप पराने
वट बढ़ि भो विस्तार अति छाया विसद गभीर
श्रुति आज्ञा तेहि तर अजहु होत रह सकी भीर ॥६॥ (पृष्ठ १०५-६)

उक्त उद्धरण का आशय है कि गोस्वामी तुलसीदास वृन्दावन (मथुरा) से वंशीवट की शाखा लाये। वह सूख गई थी किन्तु उन्होंने उसे जयरामपुर में यों ही गाड़ दिया और उसमें पानी लगाया। समय पाकर वह शाखा उग आयी और अब वट वृक्ष के रूप में गोस्वामीजी के स्मारक-स्वरूप से विद्यमान है। गोस्वामीजी के इस चमत्कार के सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं कहना, किन्तु इससे गोस्वामीजी के जन्म-स्थान पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। इसका केवल इतना साक्ष्य है कि गोस्वामीजी कभी

मिसरिक भी गये थे जिसके लिए ऊहापोह की विशेष आवश्यकता नहीं।

२. तथा-कथित अन्तःसाक्ष्य

पाण्डेजी ने अपने मत की पुष्टि में गोस्वामीजी की रचना के कुछ ऐसे स्थलों की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिनसे अनुमान होता है कि उनका सम्बन्ध उनके इष्टदेव भगवान् रामचन्द्र की जन्म-भूमि अयोध्या से था, यथा—

१. (क) सखि नीके कै निरखि कोऊ सुठि सुन्दर बटोही।
मधुर मूरति मदन मोहन जोहन-जोग
बदन सोभासदन देखिहौं मोही॥
साँवरे गोरे किसोर सुर मुनि चित्त चोर
उभय अंतर एक नारि सोही।
मनहुँ वारिद विधु बीच ललित अति
राजति तड़ित निज सहज विछोही॥
उर धीरजहि धरि, जन्म सफल करि
सुनहि सुमूखि जनि बिकल होही।
को जानै कौने सुकृत लह्यो है लोचन लाहु
ताहि तें बारहि बार कहति तोही॥
सखिहि सुसिख दई प्रेम मगन भई
सुरति बिसरि गई आपनी ओही।
तुलसी रही है ठाढ़ो पाहन गढ़ी सी काढ़ी
न जानै कहाँ ते आई कौन की को ही॥
(गीतावली, अयोध्याकाण्ड १९, १०४)

(ख) राम-राज भइ कामधेनु महि सुख संपदा लोक छाए
जनम-जनम जानकी नाथ के गुनगन तुलसीदास गाए।
(गीतावली, लंकाकाण्ड २३)

(ग) निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥
(रामचरित मानस ४, २६)

(घ) भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात
बोल घन घोर से बोलता थोर-थोर हैं।
सनमुख सबहि बिलोकत सबहि नीके
कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं।
(गीतावली, बालकाण्ड ७३, ६)

(ङ) भरत राम रिपुदवन लषन के चरित सरित अन्हवैया
तुलसी तब के से अजहुँ जानिवे रघुवर नगर बसैया।
(गीतावली, बालकाण्ड, ९, ६)

उपर्युक्त उद्धरण [संख्या क)] का उद्देश्य यह है कि तुलसीदासजी ने स्वयं

अपने किसी पूर्व-जन्म में सीता-राम-लक्ष्मण के दर्शन किये। उस समय वे तो बटोही थे और तुलसीदास सखी थे। ऐसी कुछ लोगों की कल्पना है और पाण्डेजी की भी। अन्यथा उक्त उद्धरण के चतुर्थ छन्द का अर्थ एक टीका में इस प्रकार है जो समीचीन प्रतीत होता है: "इस प्रकार सखी को सुशिक्षा दे वह प्रेम में डूब गयी और उसे अपनी सुधि जाती रही। तुलसीदास कहते हैं फिर तो वह पत्थर में गढ़ कर काढ़ी हुई मूर्ति के समान ज्यों की त्यों खड़ी रह गयी। फिर यह कौन जाने कि वह कहाँ से आयी थी और किसकी कौन लगती थी ?" यदि तुलसीदासजी को अपने पूर्व जन्म का ज्ञान होता तो वे यह न लिखते कि 'यह कौन जाने कि वह कहाँ से आयी थी और किसकी कौन लगती थी।' अतएव ऐसा अनुमान केवल क्लिष्ट कल्पना हैं कि तुलसीदास ने यह अपने ही विषय में लिखा है। सूरदासजी ने भी तो लिखा है:

हौं तो तेरे घर को ढाढ़ो, सूरदास मोहिं नाऊं ॥३५॥
मैं तेरे घर को हौं ढाढी, मो सरि कोउ न आन ॥३८॥[1]

तुलसीदासजी ने सूरदासजी की शैली का कुछ विषयों में अनुकरण किया है। उन्होंने बाल-राम का वर्णन ठीक उस प्रकार किया है जिस प्रकार सूरदासजी ने बालकृष्ण का। साम्य इतना अधिक है कि साहित्य-स्तेय का आभास होता है। किन्तु तुलसीदासजी भगवद्भक्त थे, उन्हें सांसारिक यशोलाभ की लिप्सा न थी और उनकी अपनी मौलिक रचनाएँ ही क्या कम थीं। उन्हें सूरदासजी से प्रेरणा मिली और उसके सुन्दर उपयोग के द्वारा उन्होंने सूर को चिरन्तन श्रद्धांजलि अर्पित की।[2]

(ख), (ग) और (घ), संख्यक उक्त उद्धरणों का तात्पर्य यह प्रदर्शित करने का है कि गोस्वामी तुलसीदास और भगवान् रामचन्द्र का सम्बन्ध तो जन्म-जन्मान्तरों का सम्बन्ध है। इस विषय में भी गोस्वामीजी को सूरदासजी से प्रेरणा मिली है। सूरदासजी भी तो भगवान् कृष्ण के प्रति कहते हैं:

हौं तेरो जनम-जनम को ढाढ़ी सूरज दास कहाउँ ॥३६॥[3]

दार्शनिक दृष्टिकोण से तो प्रत्येक मानव का भगवान् से जन्म-जन्मान्तरों का सम्बन्ध है ही। इस दृष्टिकोण से सूर-तुलसी की कल्पनाएँ मनोरम तो हैं, इतिहासमय नहीं।

(घ)-संख्यक उद्धरण में तो तुलसीदासजी भगवान् रामचन्द्र के निकट जनकपुरी में विद्यमान हैं; अतः कल्पनाएँ हो सकती हैं कि गोस्वामीजी उस समय एडिकोङ् अथवा जर्नलिस्ट अथवा मिथिला-जात सम्भ्रान्त नागरिक के रूप में थे, किन्तु ये तीनों ही कल्पनाएँ क्लिष्ट हैं और ऐसी ही जैसी 'तापस-प्रकरण' के 'तापस' की।

(ङ)-संख्यक उद्धरण का तात्पर्य यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी भगवान् राम के नगर के वासी न केवल पूर्व-जन्मों में ही थे किन्तु वर्तमान जन्म में भी। किन्तु कुछ टीकाओं में इस बात का उल्लेख नहीं। इस उद्धरण का अर्थ इस प्रकार किया गया :

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पृ० ३५-३६।

२. सूर को तुलसी की श्रद्धांजलि, रामदत्त भारद्वाज, 'देश बन्धु', पष्ठ २८।

३. सूर सागर, १०,३६।

तुलसीदासजी कहते हैं कि राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के चरित रूप सरिता में स्नान करने वाले जैसे तत्कालीन अवधवासी थे वैसे ही आज के भी समझने चाहिए। इससे तो कोई पता नहीं चलता कि तुलसीदासजी रघुवरनगर से अपने किसी सम्बन्ध की चर्चा कर रहे हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि गोस्वामी तुलसीदास का सम्बन्ध अयोध्या से था, तो उसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? उन्होंने अयोध्या में निवास और 'रामचरित मानस' का आरम्भ किया। 'रघुवर नगर बसैया' से 'रघुवर नगर' में जन्म सिद्ध नहीं होता।

२. अन्य प्रकार

श्री चन्द्रबली पाण्डे ने एक अन्य प्रकार से तुलसीदासजी के ही लेख से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि गोस्वामीजी अयोध्या में उत्पन्न हुए थे :

सुनु कपीस अंगद लंकेसा, पावन पुरी रुचिर यह देसा
जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना, वेद पुरान विदित जगु जाना
अवधपुरी सम प्रिय नहि सोऊ, यह प्रसंग जाने कोउ कोउ
जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि, उत्तर दिसि बह सरजू पावनि
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा, मम समीप नर पावहिं बासा
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी, मम धामदा पुरी सुखरासी
हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी, धन्य अवध जो राम बखानी

रा, ७, ११, २-७

पाण्डेजी के मतानुसार, इन पंक्तियों में, गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् रामचन्द्र के मुख से अपनी जन्म-भूमि की प्रशंसा सांकेतिक रूप से करायी है। अतः उनकी दृष्टि में वस्तुतः अवधपुरी ही तुलसी की जन्म-भूमि और अवध ही उनका जन्म-देश है।[1] किन्तु अन्य अनेक कवियों ने भी इसी प्रकरण में इसी प्रकार लिखा है। सूरदासजी लिखते हैं—

हमारी जन्म भूमि यह गाउँ।
सुनहु सखा सुग्रीव-बिभीषन, अवनि अयोध्या नाउँ।
देखत बन-उपवन-सरिता-सर, परम मनोहर ठाउँ।
अपनी प्रकृति लिए बोलत हौं, सुरपुर मैं न रहाउँ।
ह्याँ के बासी अवलोकत हौं, आनन्द उर न समाउँ।
सूरदास जो बिधि न संकोचै, तो बैकुण्ठ न जाउँ ॥१६५॥[2]

अध्यात्म रामायण-कार युद्धकाण्ड में लिखते हैं—

एषा भागीरथी गंगा दृश्यते लोकपावनी
एषा सा दृश्यते सीते सरयू र्यूप मालिनी ॥ (१४, १३)
एषा सा दृश्यतेऽयोध्या प्रणामं कुरु भामिनि
एवं क्रमेण सम्प्राप्तो भरद्वाजाश्रमं हरिः ॥ (१४,१४)

---

१. तुलसी की जीवन भूमि, पृष्ठ १२६।

२. सूरसागर, नवम स्कन्ध, १६५, दूसरा खण्ड, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण १९९३ वि०।

महर्षि वाल्मीकिजी रामायण के युद्धकाण्ड में लिखते हैं :

एषा सा दृश्यते सीते राजधानी पितुर्मम ।
अयोध्यां कुरु वैदेहि प्रणामं पुनरागता । (१२३, ५२)

किंचित् अन्तर से तुलसीदास, सूरदास, व्यास, वाल्मीकि सभी का भावसाम्य है, हाँ गोस्वामीजी की उक्ति सब से अधिक भावुकतापूर्ण है, क्योंकि 'यद्यपि बैकुण्ठ की महिमा सब लोग जानते हैं और वेद-पुराण में भी उसके माहात्म्य का वर्णन है तथापि वह बैकुण्ठ भी मुझे (राम को) इतना प्यारा नहीं जितनी अयोध्या, इस बात को सब नहीं जानते कोई-कोई ही जानता है।' यह है गोस्वामी तुलसीदास का वर्णन अपने इष्टदेव की जन्म-भूमि के प्रति प्रेम का। नायक की घटना-भावना का आरोप ग्रन्थकार पर करना सदैव युक्ति-संगत नहीं होता। कवि तो तन्मय होकर लिखा करता है।

३. वास्तविक अन्तःसाक्ष्य

सागर में गोता लगाने वालों को कभी न कभी मोती मिल ही जाता है। श्री चन्द्रबली पाण्डे ने भी तुलसी-रचना-सागर में गोता लगाकर एक रत्न ढूंढ़ ही लिया। उन्होंने गोस्वामीजी की 'कवितावली' में से एक ऐसी पंक्ति खोज ली जिसमें कवि ने अपनी जन्म-भूमि की ओर महत्त्वपूर्ण इंगित किया है। वह इस प्रकार है :—

तुलसी तिहारो घर जायो है घर को। (१२२)

गोस्वामीजी भगवान् रामचन्द्र को उपालम्भ दे रहे हैं कि आप हनुमान् सुग्रीव, अंगद, विभीषण आदि वानर-राक्षसों पर जो बाहर वाले हैं आरम्भ से ही अहसान करते रहे हैं, किन्तु आपने मुझ पर अपनी कोई कृपा नहीं की। मैं तो आपके घर का घरजाया नौकर हूँ। पाण्डेजी की खोज की उपेक्षा-सी करते हुए डॉ० माताप्रसाद गुप्त संत कबीर की निम्नलिखित पंक्ति का स्मरण दिलाते हैं :—

कहि कबीर गुलाम घरका जी आइ भावै मारि।

किन्तु जैसा कि पाण्डेजी लिख चुके हैं कबीर और तुलसी की उक्तियों में अन्तर है। तुलसी ने 'घर' शब्द की द्विरुक्ति की है, कबीर ने नहीं। कबीर के उपास्य हैं निर्गुण ब्रह्म जिसका न कोई घर है न कोई गुलाम, किन्तु तुलसी के उपास्य हैं सगुण ब्रह्म श्री रामचन्द्र जिनके अनेक घर और नौकर-चाकर हैं। अतएव दोनों कवियों की उक्ति में भाव-साम्य नहीं।

'तुलसी तिहारो घर जायो है घर को'

इस पंक्ति के आधार पर पाण्डेजी घोषणा करते हैं कि तुलसीजी का जन्म-स्थान अयोध्या था। वे इस प्रकार अर्थ लगाते हैं : आपका अर्थात् राम का घर अयोध्या है और तुलसीदास उस घर में उत्पन्न हुए घर के दास हैं अतएव तुलसीदास अयोध्या में जन्मे थे। हमारा दृष्टिकोण तनिक भिन्न है : राम का घर रामपुर में, और तुलसीदास वहाँ के घरजाये घर के दास, अतएव तुलसीदास भी रामपुर में उत्पन्न हुए।

रामपुर की तत्ता ?

तो रामपुर कहाँ ? क्या वह अयोध्या नहीं है ? 'रामपुर' नामक स्थान तो अनेक हैं, और अयोध्या को भी रामपुर कहते हैं। स्वयं गोस्वामीजी ने अयोध्या के लिए रामपुर शब्द का प्रयोग किया है, यथा—

मुनि सुर सुजन समाज के सुधारि काज
बिगारि बिगारि जहाँ जहाँ जाकी रही है
पुर पाउँ धारि हैं उधारि हैं तुलसी से जन
जिन जानि के गरवी गाढ़ी गही है।

(गीता० अयो० ४१, ४)

उक्त पुर 'रामचरित मानस' में स्पष्ट हो गया है :

पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन
भूप द्वार तिन्ह खबरि जनाई। दशरथ नृप सुनि लिए बोलाई॥

(बालकाण्ड २८६, १-२)

जब-जब अवधपुरीं रघुबीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा।
तब-तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसुलीला बिलोकि सुख लहउँ॥

(रा० ७, ११३ ख, १२-१३)

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म-स्थान भी रामपुर है और वहीं उनके पूर्व पुरुष रहते थे। किन्तु दोनों 'रामपुर' भिन्न स्थान हैं। भगवान् रामचन्द्र का जन्म-स्थान रामपुर अर्थात् अयोध्या है और गोस्वामीजी का जन्म-स्थान रामपुर ग्राम है। वह सोरों से दो मील पूर्व था। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन "रामपुर" नामक आगामी अध्याय में किया जायगा। सोरों-सामग्री में 'रामपुर' का उल्लेख श्री चन्द्रबली पाण्डे की भव्य कल्पना से पूर्व ही प्रकाशित हो चुका था। परन्तु पाण्डेजी के अनुसन्धान से सोरों-सामग्री को और अधिक स्पष्टता और पुष्टता प्राप्त हुई है, जिसके लिए हिन्दी-संसार उनका ऋणी रहेगा।

तारी : तुलसी की जन्मस्थली

अविनाशराय की सूचना—कविराज अविनाशराय ने सन् १६२० ई० में 'तुलसी प्रकास' नाम की पुस्तक लिखी थी जिस पर द्वितीय अध्याय में विचार हो चुका है। उसमें अविनाशराय ने अपनी जन्म-भूमि तारी का, अपने वंश का, एवम् गोस्वामी जी की माता हुलसी का जो परिचय दिया, वह इस प्रकार है :—

गंगा दच्छिन कूल इक, तारी गाम सुथान।
सोरंकी हरसिंह जहं, भूमिपाल मतिमान।
तहँ बसत भूभुज भूरि, कछु लसत भूसुर सूरि।
कछु दास जन सुखकारि, लघु गाम पै मन हारि।
जनिभूमि मेरी जेइ, आनंद सुरग सम देइ।
सिवराय जू कविराय, मेरे जनक सुखदाइ।
कौंडिन मुनि गोती दुबे, तहाँ विप्र सिरमौर।
बसत अजुध्यानाथ बुध, एहि सम गनक न और।

पूत न कोउ जियौ उनको, दुहिता हुलसी बहु जत्न भई।
ब्याहन जोग भई जब ही, वर ढूंढन में चितवृत्ति दई॥
सूकर खेत समीप तबै, वर रामपुरै मधि देखि लयौ।
आतमराम सुकुल्लहि के, कर में हुलसी कर दान दयौ॥

आत्माराम वर हाथ, मातुहीन हुलसी सुता।
दई अजुध्यानाथ, लोक वेद कुल रीति करि।
जामातहिं बुलवाइ, बरस गए कछु ब्याह सों।
निज सरवस्स गहाइ, तारी तजि सुरपुर गए।
तारी महँ बसि बरस इक, पंडितु आत्माराम।
जाइ बसे हुलसी सहित, सुखद रामपुर गाम।

उक्त उद्धरणों से पता चलता है कि अविनाशराय के समय में गंगा के दक्षिण किनारे तारी नाम का ग्राम था, जहाँ हरसिंह सोलंकी शासन करता था। यह ग्राम छोटा तो था, किन्तु मनोहर था। यह अविनाशराय का जन्म-स्थल था, जिनके पिता का नाम शिवराय था। इन्होंने अपने पिता को कविराय बतलाया है, जिससे यह अनुमान होता है कि यह ब्रह्मभट्ट होंगे। इस ग्राम में अयोध्यानाथ नाम के ज्योतिषी भी रहते थे, जो अल्ल के दुबे और गोत्र के कौंडिन्य थे। उनका कोई पुत्र जीवित न रहा। इनकी पुत्री का नाम हुलसी था। विवाह-योग्य होने पर उन्होंने समीपस्थ सूकरखेत के रामपुर में आत्माराम सुकुल के साथ विधिपूर्वक विवाह कर दिया। विवाह के कुछ वर्ष पीछे अयोध्यानाथ जी ने अपने जामाता पण्डित आत्माराम सुकुल को बुलाकर अपना सब-कुछ सौंपकर स्वर्ग-लोक को गमन किया। पण्डित आत्माराम तारी में एक वर्ष रहे, तत्पश्चात वे हुलसी के साथ अपने ग्राम रामपर में जा बसे।

कान्हराय का लेख—शाहजहाँ के शासन-काल में कान्हराय नाम के एक ब्रह्म-भट्ट थे, जिनका जन्म-स्थान भी तारी था। उन्होंने 'कर्ण विलास' नामक ग्रन्थ में तारी का परिचय दिया है, कर्णसिंह सोलंकी की प्रशंसा की है और हुलसी की जन्म-भूमि का उल्लेख किया है। कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं जो २३ सितम्बर, १६४२ के 'नवीन-भारत' में प्रकाशित हुए थे :—

तारी करन ताल तीर बाटिका विसाल सोहै,
मोहै मन पंथिन को देति विसराम है।
करन की सरन आय वैरी हू निर्भै होत,
करन की गढ़ी मानों कल्प तरु ललाम है॥
भूखे को भोजन जहाँ कविजन कों मान मिलै,
विप्रन कों दान मिलै पूजै मन काम है।
साहिजहाँ राज सब सुखारी हैं 'कान्हराय',
त्योंही करन राज में तारी सुख धाम है॥
जाके दिसि उत्तर में गंग जुग राजि रहीं,
दक्खिन कछु कोस पै करै केलि काली है।
तुलसी-मात हुलसी की जननी जे ताली भूमि,
भूपसिंह पाली जासु रच्छक कपाली है॥
करनसिंह ज्ञानी अब दानी है करन जैसो,
धर्म धुरधारी धीरवीर बलसाली है।
जाही को वासी नित कवित करै कान्हराय,
रैन दिन चैन करै दै दै कर ताली है॥
एक ही प्रहार में संघारति अनेक मुंड,
सत्रु झुंड देखि देखि करत पयान है।
कराल महाकाल सी काली सी सुब्याली सी,
जासों करि ढिठाई होत जम को महिमान है॥
दामिनि सी दमदमाति देखि बीर थरहरात,
कायर लुकाय जात जानत जहान है।
सत्रुदल करतनी धीर धीर हरनी त्यों,
बरनी जे 'कान्हराय' करन कृपान है॥
झूमत गयंद वृन्द हींसत तुरंग जूथ,
स्यंदन झंकार जहाँ परति सुनाई है।
जूझत अखारे में जुझारे बल धाम तहाँ,
होति नित राम कथा सन्त सुखदाई है॥
बड़े बड़े पंडित गुन मंडित कान्हराय,
आवें नित जाके द्वार पावें पहुनाई है।
सोरंकी करन जैसो देख्यो ना उदार बीर,
बैरी हू बरने जासु नीति निपुनाई है॥

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि तारी के किनारे कर्णताल और कोई विशाल वाटिका थी। उस समय तारी का शासक कर्णसिंह नाम का कोई सोलंकी था, जो ज्ञानी, दानी और धर्म-धुरन्धर था। उसकी गढ़ी सुन्दर थी। उन दिनों सम्राट् शाहजहाँ का राज था। तारी के उत्तर में दोनों गंगाएँ शोभा देती थीं और दक्षिण में कुछ कोस पर काली नदी बहती थी। भागीरथी गंगा और वृद्ध गंगा (बुढ़ गंगा) और काली नदी आज भी विद्यमान हैं। बुढ़ गंगा तो भागीरथी गंगा का प्राचीन प्रवाह-मार्ग है, जहाँ आज भी क्षीण धारा बहती है और भागीरथी गंगा कुछ हटकर बहने लगी है। यह तारी तुलसीदासजी की माता हुलसी की जन्म-भूमि है।

भ्रम क्यों?—जैसे-जैसे समय बीतता गया, हुलसी की जन्मस्थली तारी की वास्तविक स्थिति को लोग इधर-उधर बताने लगे; क्योंकि एक ही नाम के अथवा समान नाम के ग्राम और कस्बे होते हैं, जिनसे भ्रम का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। फिर भी सत्य नहीं छिपता। तारी को कुछ लोगों ने स्वयं गोस्वामीजी की जन्म-भूमि माना है। भ्रम में भी सत्य छिपा रहता है। सर जी० ए० ग्रियर्सन ने १८९३ ई० में 'नोट्स ऑन तुलसीदास' नामक लेख प्रकाशित कराये, जो 'इण्डियन एण्टीक्वैरी' की २२वीं जिल्द में समाविष्ट हैं। ग्रियर्सन महोदय लिखते हैं—"गोस्वामीजी की जन्म-भूमि होने का दावा कई स्थान करते हैं; यथा: तारी जो दुआब में है, हस्तिनापुर, चित्रकूट-निकटस्थ हाजीपुर और बाँदा जिले में यमुना के किनारे वाला राजापुर। इनमें से तारी का दावा सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। अपने बचपन में गोस्वामीजी ने सूकर-क्षेत्र अर्थात् वर्तमान सोरों में अध्ययन किया था।"

संस्कृत भक्त माला—संवत् १९८३ वि० में श्री क्षेमराज श्रीकृष्णदास ने श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई में मुद्रण कर "संस्कृत भक्त माला" प्रकाशित की। उसमें गोस्वामीजी के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। उसके कुछ श्लोक ये है:—

गंगा यमुनयोर्मध्ये देशः पुण्यतमो महान्।
अंतर्वेदिरिति ख्यातो मुनिभिः परिसेवितः॥१।२।
तत्रैकोऽस्ति तरी नाम्ना ग्रामो ब्राह्मण संकुलः।
तत्रासीत् तुलसी नामा शुक्ल इत्युपनामकः॥३।
कारयित्वा तद्विवाहं पिता तस्य दिवं गतः।
माताऽप्यनुययौ तस्य स्वपति सत्य-तत्परा॥४।
अथो स तुलसी नामा स्वपत्न्या सह नित्यशः।
रेमे पितृधनं प्राप्य दानभोग-समन्वितः।५।
कालेन तस्य पुत्रोऽभूद् दृष्ट्वा तं चाति हर्षितौ।
तुलसी तस्य पत्नी चेत्युभौ पूर्ण मनोरथौ॥६।
एकदा तस्य पत्नी तु समीपे मातृ मन्दिरे।
तमनुक्त्वा गता चाथ सोऽप्य दृष्ट्वा गृहे च ताम्॥७।
ययौ तदैव श्वशुरगेहे पत्नीं ददर्श ह।
दृष्ट्वा तमागतं पत्नी भर्त्सयन्ती वचोऽब्रवीत्॥८।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि तारी की स्थिति गंगा-यमुना के अन्तर्वेद में थी और

निकट ही गोस्वामीजी का श्वशुरालय भी था।

रेवरेण्ड ग्रीव्ज़—रेवरेण्ड एडविन ग्रीव्ज़ ने 'तुलसी ग्रन्थावली' के ४५वें पृष्ठ पर लिखा है : "पर जन्म कहाँ हुआ ? कुछ लोग बतलाते हैं कि राजापुर उनकी जन्म-भूमि है। पर इस बात के विरुद्ध और लोग कहते हैं कि उनका जन्म वहाँ नहीं हुआ। पर गोसाईं ने वहाँ एक मन्दिर बनवाया या गाँव बसाया। फिर हस्तिनापुर उनकी जन्म-भूमि बतलाई गई और हाजीपुर भी 'जो चित्रकूट के पास है', पर इन बातों का कुछ प्रमाण नहीं है। फिर औरों ने कहा कि वह ताड़ी में जन्मे, पर दूसरे लोग कहते हैं कि उनके माता-पिता वहाँ रहते थे, पर यह तुलसीदास के उत्पन्न होने से पहले था। इन सब बातों से अनुमान होता है कि अब लौं ठीक-ठीक निर्णय नहीं हुआ कि तुलसीदास का जन्म कहाँ हुआ।"

श्री सीतारामशरण भगवान् प्रसाद—सन् १९१३ ई० में श्री अयोध्याजी प्रमोदवन कुटिया के निवासी श्री सीतारामशरण भगवान्प्रसाद ने अपने सटीक वार्त्तिक-प्रकाश-युक्त भक्तमाल के ७४१वें पृष्ठ पर लिखा है—"जन्म-स्थान भी लोग कई ठिकाने लिखते हैं। बाँदा जिले में यमुना-तीर को बहुत लोग कहते हैं, परन्तु राजापुर आपका जन्म-स्थान नहीं है। श्री गोस्वामीजी का जन्म-स्थान श्री गंगा वाराह क्षेत्र (सोरों) के प्रान्त अन्तर्वेद में 'तरी' नाम ग्राम या 'तारी' था। आपने राजापुर में विरक्त होने के पीछे निवास कर भजन किया है। इसीसे वहाँ श्री गोस्वामीजी की विराजमान की हुई संकटमोचन श्री हनुमानजी की मूर्ति है और श्री रामायण अयोध्याकाण्ड भी है। यह वार्त्ता वहाँ जाके भली प्रकार निश्चय की गई है।"

श्री शिवनन्दन सहाय—श्री शिवनन्दन सहाय ने अगस्त १९२३ ई० में 'माधुरी' के २४वें पृष्ठ पर लिखा है—"जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी अभी तक ठीक निर्णय नहीं हुआ। राजापुर और तारी के बीच झगड़ा है। यद्यपि राजापुर में आपका स्मारक निर्मित हुआ है, तथापि वहीं के कुछ बूढ़े लोग कहते हैं कि वह गोस्वामीजी का जन्म-स्थान नहीं है। विरक्त होने पर वह कुछ दिन वहाँ रहे अवश्य थे और प्राय: जाया करते थे।"

तुलसी स्मारक सभा राजापुर का पत्र—पण्डित गोविन्दवल्लभ भट्ट ने १९२९ ई० की 'माधुरी' में अपने पत्रोत्तर का उल्लेख इस प्रकार किया है—"श्री तुलसी स्मारक सभा, राजापुर के एक अधिकारी से जब इसी जन्म-स्थान के विषय में पत्र-व्यवहार किया था, तो उत्तर में उन्होंने प्राइवेट शब्द के साथ इस बात को स्वीकार किया है कि गोस्वामी जी का जन्म-स्थान सोरों या उसी के आस-पास कहीं होना चाहिए।"

तारी कहाँ ?—ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि भ्रम में भी कितना सत्य छिपा रहता है। रायबहादुर लाला सीताराम ने उक्त अन्तर्वेद वाली तारी से उस ताड़ी को समझ लिया, जो राजापुर से आठ कोस यमुना किनारे बतायी जाती है। वे लिखते हैं—"गोस्वामीजी के जन्म-स्थान के विषय में मतभेद है। कोई कहता है कि उनका जन्म राजापुर के पास हस्तिनापुर में हुआ था, जिसे अब हस्तनाभ कहते हैं। कोई राजापुर को ही यह गौरव देते हैं। पर अधिक छानबीन से यह सिद्ध हुआ

है कि राजापुर से आठ कोस पूर्व में यमुना तट पर ताड़ी गांव ने यह बड़ाई पाई थी। इस ग्राम की स्थिति विचित्र है। कभी यमुना इसके उत्तर बही, कभी दक्खिन। इसी से लोगों ने इस ग्राम को दुआबे में लिख दिया। आजकल इसके डेढ़ कोस पर मऊ तहसील है पर उस समय में राजापुर ही उस प्रान्त का बड़ा नगर था। राजापुर अब तक व्यापार का केन्द्र था। रेल-मार्ग बन जाने से उसका व्यापार घट गया है। इससे हम अनुमान करते हैं कि राजापुर में निवास के कारण लोग इसी को जन्म-भूमि मानने लगे।"

लालाजी के मत की आलोचना—लाला सीतारामजी ने तुलसीदास के विषय में जो परिश्रम किया है, वह सराहनीय है; किन्तु सूकरखेत और तारी की वास्तविक स्थिति बताने में वे सफल नहीं हो पाये। उन्होंने माना है कि गोस्वामीजी का जन्म सनाढ्य कुल में हुआ था और इनके माता-पिता का नाम हुलसी और आत्माराम था। उनके शब्द इस प्रकार हैं—"उनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम आत्माराम और माता का हुलसी प्रसिद्ध है।······माता-पिता उनको बचपन में ही छोड़कर मर गए।······युवावस्था के आरम्भ में ही उनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली के साथ हुआ था।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गोस्वामीजी सनाढ्य ब्राह्मण थे, जो एटा जिले में अधिक मिलते हैं, किन्तु राजापुर के आसपास तो कान्यकुब्ज या सरयूपारीण ब्राह्मण ही अधिक मिलने चाहिए। उनके माता-पिता, श्वशुर और पत्नी के नाम ग्रियर्सन की खोज के आधार पर ही हैं। ग्रियर्सन ने जिस जनश्रुति का उल्लेख किया है, वह सोरों-सामग्री के अनुकूल है। अतएव यमुना किनारे वाली तारी को खींचतान से दुआब में सिद्ध करने की चेष्टा समुचित प्रतीत नहीं होती, जबकि दुआब वाली तारी आज भी विद्यमान है और जिसके लिए सबल प्रमाण भी हैं।

मेरी तारी-यात्रा—तारी के विषय में मनन करके, मुझे प्रबल इच्छा हुई कि एक बार उसे स्वयं देख आऊँ। मैंने सुन रखा था कि वहाँ ब्राह्मणों का अब कोई घर नहीं, अतएव मुझे आशा न थी कि वहाँ तुलसी-हुलसी के विषय में कोई प्रमाण मिलेगा। फिर भी पुण्यभूमि के केवल दर्शन की इच्छा से कासगंज के पं० भद्रदत्त शर्मा और श्री कृष्णलाल लवानिया, सहावर के विद्यार्थी रामभरोसे लाल और पटियाली-निवासी विद्यार्थी जानकीप्रसाद गोले के साथ २२ फरवरी, १६५३ को प्रातः ५-५५ की रेल-द्वारा कासगंज जंकशन से सहावर पहुँचा और वहाँ से तारी, और उसी दिन रात को ६ बजे की गाड़ी से कतिपय व्यक्तियों और स्थानों के चित्र लेकर लौटा।

अन्तर्वेद वाली तारी का परिचय—ताली, ताड़ी, तरी आदि नामों से तारी का उच्चारण और उल्लेख किया जाता है। वहाँ ताल है, तराई है और ताड़ के पेड़ भी हैं। किन्तु एटा जिले में ताली और तारी ये दोनों रूप अधिक प्रचलित हैं। तारी गाँव के लोग उसे ताली कहते हैं। अविनाशराय ने तारी शब्द का प्रयोग किया है और कान्हराय ने सुविधानुसार तारी और ताली दोनों रूपों का उपयोग किया है। मेरी यात्रा आशातीत सफल रही, उसका परिचय रुचि-प्रेरक है, जो इस प्रकार है:—

एटा जिले के सहावर कस्बे से तारी सवा दो मील उत्तर-पूर्व है। सहावर से

तारी, लखमीपुर और याकूतगंज होती हुई सोरो तक जो कच्ची सडक जाती है, वहाँ पहले कभी गंगाजी बहती थी, जिसके एक किनारे पर कभी कोई भव्य नगर बसा था और दूसरे पर तारी लखमीपुर आदि ग्राम।

तारी के सामने सडक-पार जो डूंग है, वह अनुमान से डेढ मील लम्बा और एक फर्लाङ् चौडा है। उस पर अब खेती होने लगी है, फिर भी उसका बहुत सा अनजुता भाग विद्यमान है, जो पक्की मिट्टी के झाड-खण्ड से परिपूर्ण है। हमे उस डूंग अथवा टीले पर घूमने का पर्याप्त समय नही मिला, किन्तु मेरा अनुमान है कि वह पुरातत्त्व की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके सामने गगा किसी समय उसी प्रकार बहती थी, जिस प्रकार आज यमुना मथुरा के सम्मुख। डूंग के नीचे ककैया ईंटो का सुन्दर अष्टकोण कूप बना है, जिसे लोग न जाने क्यो, 'नौकोना' कहते है।

तारी और लखमीपुर मे प्राचीनता के कोई विशेष चिह्न नही मिले। गगा की बाढो के कारण तारी बहती और बसती रही होगी। वहाँ सभी घर कच्चे है। तारी की चौपाल अथवा ग्राम-पचायत दफ्तर मे 'रामचरितमानस' की दो फटी पोथियाँ हैं—एक तो ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका है, जो १६७० वि० मे गगाविष्णु श्रीकृष्ण दास के लक्ष्मी वेकटेश्वर प्रेस बम्बई मे, और दूसरी है ज्वालाप्रसाद सारस्वत की टीका जो १६३६ ई० मे गया मे छपी थी।

आजकल तारी कहार-मल्लाहो की बस्ती है। चमार और भगी के भी एक-एक घर है। कहते है, यहाँ के कुछ ब्राह्मण लखमीपुर (जिसका लोग लखनीपुर उच्चारण करते है) तथा अन्यत्र बस गये। अब तारी मे न कोई ब्राह्मण रहता है और न वहाँ कोई मन्दिर है, किन्तु उसके निकटस्थ लखमीपुर मे मन्दिर है और कुछ अपढ ब्राह्मण भी रहते हैं।

तारी मे कुछ पेड और वहाँ की ग्राम-देवी (माता) अवश्य तारी की प्राचीनता के द्योतक है। तारी मे फूलू नाम के एक अन्ध वृद्ध है, जिनकी अवस्था पचहत्तर वर्ष के लगभग बताई गयी। फूलू ने बताया कि उनके बाबा का नाम मगली था, जिन्हे गाँव के सभी लोग वृद्धावस्था के कारण बाबा कहते थे और जो १६५३ ई० से लगभग २० वर्ष पूर्व ११० वर्ष की आयु पाकर दिवगत हुए। मगली के भतीजे झम्मन भी १०० वर्ष की आयु प्राप्त कर १६५२ से पूर्व पचत्व को प्राप्त हुए। फूलू ने यह भी बताया कि मगली बाबा और झम्मन दोनो ही यह कहा करते थे कि यहाँ तुलसीदास जी की ननिहाल थी, जैसा कि उन्होने अपने पुरखो से सुन रखा था।

मेरा निष्कर्ष—मेरा विनम्र निष्कर्ष है कि उक्त तारी गोस्वामीजी की जन्म-स्थली नही, हुलसी की है। किन्तु इस बात की अधिक सम्भावना है, जैसा श्री महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा भी है, कि तारी मे गोस्वामीजी की गर्भस्थिति हुई थी। ग्रीव्ज़ के शब्दो से स्पष्ट है कि गोस्वामीजी के माता-पिता उनके जन्म से पहले वहाँ रहे थे, जिसकी पुष्टि 'तुलसी-प्रकास' से होती है। इस 'प्रकास' मे तुलसीदासजी की गर्भस्थिति का उल्लेख नही है, अतः इस विषय मे श्री त्रिपाठीजी का उल्लेख परम सभाव्य प्रतीत होता है।

तारी की महत्ता—तुलसी-हुलसी से सम्बद्ध होने के कारण तारी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका गौरव अविनाशराय के शब्दों में, इस प्रकार है—

तार्यो तें सुकुल वंश तार्यो ते दुविन-वंस,
सास ससुर तारे तें तारी महतारी है।
कहै अविनासराय आपु तरी तार्यो बापु,
तार्यो पति रामपुर तारी तारी है॥
अजहुँ हुलसात लै हुलसी जन तेरो नाम,
तुलसी सो जायो पूत धर्म अवतारी है।
धन्य मात हुलसी तें मोच्छद्वार-तारे की,
मुमुच्छुन हाथ दई तुलसी रूप तारी है॥

रामपुर

तुलसीदासजी का जन्म-स्थान

महत्तम प्रमाण—गोस्वामीजी के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में सब से बड़ा अन्तः साक्ष्य सर्वप्रथम श्री चन्द्रबली पाण्डे ने खोजकर उपस्थित किया है, इसका उल्लेख अयोध्या की चर्चा करते समय हो चुका है। पुनर्विचार के हेतु वह यह है :

बानर बिभीषण की ओर के कनावड़े हैं
सो प्रसंगु सुने अंगु जरे अनुचर को।
राखे प्रीति आपनी जो होइ सोई कीजै बलि
तुलसी तिहारो घर जायो है घर को।। क० १२२।।

अन्तिम पंक्ति में तुलसीदासजी ने अपने को राम के घर का घरजाया माना है। किन्तु यह अयोध्या है अथवा अन्य कोई स्थान? श्री चन्द्रबली पाण्डे का अभिप्राय अयोध्या से है जहाँ भगवान् रामचन्द्र का जन्म हुआ था।

पाण्डेजी के पक्ष में—पाण्डेजी के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी ने 'रामपुर' शब्द का प्रयोग अयोध्या के लिए 'विनयपत्रिका' और 'रामचरितमानस' में एक दो बार किया और मुरलीधर चतुर्वेद ने भी इसका प्रयोग अयोध्या के लिए और 'श्यामपुर' का मथुरा के लिए अर्थ-गाम्भीर्य के साथ किया है, यथा :

राम-सम्राज-सोभा-सहित सर्वदा तुलसिमानस-रामपुर-बिहारी।। वि० २७
पहुँचे दूत रामपुर पावन, हरषे नगर बिलोकि सुहावन।। रा १,२८६,१
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ सिसु लीला बिलोकि सुख लहऊँ।। रा७,११३ख,१३
तुलसीदास नन्ददास मते द्वै मुरली धारे।
एक भजे सियराम एक घनश्याम पुकारे।
एक बसे सो रामपुर एक श्यामपुर में रहे।
एक रामगाथा लिखी एक भागवत पद कहे।। १ मुरलीधर

परन्तु तुलसीदासजी ने 'रामपुर' का प्रयोग गंगातीरस्थ रामपुर के लिए भी किया है और मुरलीधर चतुर्वेद ने भी इसका प्रयोग सूकरक्षेत्रान्तर्गत गंगातीरस्थ रामपुर के लिए किया, जैसा कि आगामी पंक्तियों से स्पष्ट होगा।

अन्य साक्ष्य—पर अन्य साक्ष्य के आधार पर रामपुर का तात्पर्य सूकरक्षेत्र के रामपुर नामक ग्राम से है, जहाँ तुलसीदासजी के पूर्व पुरुष रहते और नन्ददासजी उत्पन्न हुए थे। इस विषय में नन्ददासजी पर नाभादासजी की प्रशस्ति है—

लीला पद रस रीति ग्रन्थ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस ज्ञान उजागर।
प्रचुर पयधलों सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित भक्त पद रेनु उपासी।

चन्द्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पय में पगे।
श्री नन्ददास आनन्द विधि रसिक सुप्रमुदित रंग मगे ॥

प्राणेश कवि के अष्टसखामृत में उल्लेख इस प्रकार है—

रामभगत तुलसी अनुज नंददास व्रज ख्यात।
वुज सनौढिया सुकुल कवि कृष्ण भगत अवदात ॥१॥
कर्यो राम तें स्याम निज वदलि इष्ट अरु गाम।
रच्यो स्यामसर बाछरू हरि बलदाऊ धाम ॥३॥
सौंपि अनुज चंदहास कर सुत दारा धन धाम।
आये सूकरखेत तजि व्रज वसि सेवत स्याम ॥४॥
कृष्ण राम के रूप भये नन्ददास मन आनि।
लखि तुलसी मन चलि रहे प्रान जोरि जुग पानि ॥७॥
रामायन भाषा विरचि भ्राता करी प्रकास।
देखि रची श्री भागवत भाषा श्री नंददास ॥८॥

काका वल्लभजी महाराज ने 'भगवदीय नाम मणिमाला' में लिखा है कि—

नंददास सखा रामपुरी कहीयेरे
सात्विक चंपक लता चंद्रलेखा लहिये रे ॥२०८॥

'भावप्रकाश' में हरिराय जी लिखते हैं—

'ये नन्ददास जी लीला में श्रीठाकुर जी के भोज सखा अंतरंग, तिनको प्राकट्य हैं।...सो ये पूरब में रामपुर गाम में जन्मे।'

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', काका वल्लभजी के 'बावन वचनामृत', और गोकुलनाथजी के 'वचनामृत' में गोस्वामी तुलसीदास और महाकवि नन्ददास के भ्रातृत्व का स्पष्ट उल्लेख है। यह सब साहित्य १६४७ वि० और १७७२ वि० के मध्य का है। गोकुलनाथजी के वचनामृत की प्रति १७९६ वि० की है। 'श्री गुसाईंजी के सेवक चारि अष्टछापी तिनकी वार्ता' इसकी एक प्रति संवत् १६९७ वि० की विद्यमान है। उसमें लिखा है : "श्री गुसाईंजी के सेवक नन्ददास सनोढिया ब्राह्मण तिनके पद गाइयत है। सो वे पूर्व में रहते तिनकी वार्ता। सो वे नन्ददास और तुलसीदास दोइ भाई हते तामें बड़े तो तुलसीदास छोटे नन्ददास।" इस प्रकार उक्त प्राचीन प्रमाणों से स्पष्ट है कि ये दोनों कवि भाई-भाई थे और रामपुर के निवासी थे।

रामपुर कहाँ ?—उक्त १६९७ वि० की प्रति में दोनों कवियों के भ्रातृत्व का उल्लेख तो है, पर निवास के सम्बन्ध में इतना ही सूचित किया गया है कि वे पूर्व में रहते थे। यदि तुलसीदासजी और नन्ददासजी अयोध्या के होते तो नगर का उल्लेख अवश्य होता, पर रामपुर तो एक छोटा सा ग्राम सूकरक्षेत्र के अन्तर्गत था, अतएव उसका नामोल्लेख आवश्यक न समझा गया। 'अष्ट सखामृत' में 'पूर्व' को अवश्य स्पष्ट कर दिया गया है। 'पूर्व' शब्द श्री चन्द्रबली पाण्डे तथा अन्य कतिपय विद्वानों को खटका और रामपुर का तादात्म्य अयोध्या से करने के लिए उन्हें इस शब्द का बल मिला। 'अष्टसखामृत' में जिसमें केवल आठ ही वैष्णवों की चर्चा है, नन्ददास का विवरण देते समय, रामपुर का निर्देश हुआ है। तन्निर्दिष्ट श्यामसर बाछरू आज भी

सूकरक्षेत्रान्तर्गत रामपुर में विद्यमान है। 'अष्टसखामृत' और नाभादासजी के पद में नन्ददासजी के छोटे भाई चन्द्रहास का भी उल्लेख है। सनाढ्य जाति का उल्लेख तो १६९७ वि० की प्रति से लेकर पीछे की सभी वार्ताओं और वचनों की प्रतियों में विद्यमान है। तुलसी और नन्द का भ्रातृत्व एवं 'चन्द्रहास', 'सनाढ्य', 'रामपुर', 'सूकर-क्षेत्र' आदि शब्द-समष्टि सूकरक्षेत्र के अन्तर्गत रामपुर की ही पुष्टि करती है। उक्त 'वार्ता' 'वचनामृत' आदि की रचना करने वालों ने सोरों से क्या उत्कोच ग्रहण किया था कि वे जन्मस्थान और जाति-विषयक उल्लेख में सोरों का पक्षपात करते ? वैष्णव वार्ताओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी की चर्चा है। जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण था उसे कान्यकुब्ज, जो सारस्वत था उसे सारस्वत, जो सनाढ्य था उसे सनाढ्य, और जो गौड़ था उसे गौड़ ब्राह्मण लिख दिया गया। हाँ, इतना माना जा सकता है कि सम्प्रदाय की महत्ता-वृद्धि के निमित्त नन्ददासजी का उत्कर्ष तुलसीदासजी की अपेक्षा वैष्णवग्रन्थों में अधिक दिखा दिया गया हो, किन्तु नाम, जाति और स्थान के उल्लेख में पक्षपात के लिए कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

रामपुर की स्थिति : तुलसीदासजी का प्रमाण—तुलसीदासजी ने विनयपत्रिका में अपने जन्मस्थान की स्थिति भागीरथी गगा के तट पर बतायी है—

दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को।
यह भरत खण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलप वल्ली चहति विष फल फली ॥ १३५ ॥

उनकी यह इच्छा बनी रही कि जब-जब उनका जन्म हो तो गंगाजी के तीर ही हो :—

बरु बारहि बार शरीर धरों
रघुबीर को ह्वं तब तीर रहोंगो ॥ क ७, १४७

जब घर के गंगातट को त्याग कर, अनेक गिरि-काननों में घूमने से भी शान्ति न मिली तो उन्हें कुछ पश्चात्ताप हुआ होगा, अतएव लेखनी से नि.सृत हुआ :—

तृषावन्त सुरसरि विहाय सठ
फिरि फिरि विकल अकास निचोयो ॥ विनय० २४५

यही कारण है कि उन्होंने विरक्त होकर स्थायी निवास के निमित्त गंगातटस्थ काशी को ही मनोनीत किया—

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर
पायँ तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं।
जीवे की न लालसा दयालु महादेव मोंहि
मालुम है तोहि मरबेई को रहत हौं ॥

कविता ७, १६६, १६७

उक्त उद्धरणों से प्रतीत है कि तुलसीदासजी का जन्मस्थान गंगाजी के किनारे था और काशी में उन्होंने मोक्षलाभ किया।

नन्ददासजी के पुत्र का लेख—नन्ददासजी के पुत्र कवि कृष्णदास ने रामपुर

की स्थिति गंगाजी के किनारे और सूकरक्षेत्र के समीप बतायी है, तथा उसमें अपने वंश के निवास का उल्लेख किया है :—

खेत वराह समीप शुचि गाम रामपुर एक।
तहं पंडित मंडित वसत सुकुल वंस सविवेक ॥१॥
(कृष्णदास वंशावली)

कीरति की मूरति जहाँ राजै भगीरथ की
तीरथ वराह भूमि वेदनु जे गाई है
ताही धाम रामपुर स्यामसर कीने तात
स्यामायन स्यामपुर वास सुखदाई है
सुकुल विप्रवंस भे विग्य तहाँ जीवाराम
तासु पुत्र नंददास कीरति कविपाई है ॥ (वर्षफल)

अयोध्या तो सरयू के, और रामपुर गंगाजी के किनारे है। इस सब बातों से यही सिद्ध होता है कि अपने जन्मस्थान के सम्बन्ध में गोस्वामीजी के लेख का अभिप्राय गंगातीरस्थ रामपुर से था।

रत्नावली का साक्ष्य—रत्नावली के दोहों से भी स्पष्ट है कि गंगाजी के किनारे सूकरक्षेत्र में उसके पति तुलसीदासजी की जन्म-भूमि थी। नन्ददास उसके देवर लगते थे और तुलसीदासजी की अनुपस्थिति में रामपुर श्यामपुर बन गया।

प्रभु वराह पद पूज महि जनम मही पुनि एहि
सुर सरि तट महि त्यागि अस गए धाम पिय केहि ॥२२॥
मोहि दीनो संदेस पिय अनुज नंद के हाथ
रतन समुझि जनि पृथक मोहिं जो सुमिरति रघुनाथ ॥२७॥
सनक सनातन कुल सुकुल गेह भयो पिय स्याम
रतनावलि आभा गई तुम बिन बन सम गाम ॥१७॥

मुरलीधर चतुर्वेद की स्पष्ट उक्ति—मुरलीधर चतुर्वेद ने १८२६ वि० में जो लिखा वह विषय को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है—

स्मारत वैष्णव सो पुनीत सकल वेद आगम अधीत।
चक्र तीर्थ ढिग पाठशाल तहीं पढावत विपुल बाल।
तहाँ रामपुर के सनाढ्य सुकुल वंशधर द्वै गुनाढ्य।
तुलसीदास अरु नन्ददास पढत करत विद्या विलास।
एक पितामह पौत्र दोउ चंद्रहास लघु अपर सोउ।
(रत्नावली चरित, ६०-६४)

तुलसी और नन्द दोनों एक ही बाबा के पौत्र थे। नन्द और चन्द्र दोनों सगे भाई थे। उनके पूर्व पुरुष रामपुर में रहते थे। बाबा के घर में ही तुलसीदास और नन्ददास का जन्म हुआ था, जैसा कि मुरलीधर के इस छप्पय से स्पष्ट है —

एक पितामह सदन दोउ जनमें बुधिरासी।
दोऊ एकहि गुरु नृसिंह बुध अन्तेवासी।

तुलसीदास नन्ददास मते द्वै मुरली धारे।
एक भजे सियराम एक घनश्याम पुकारे।
एक बसे सो रामपुर एक श्यामपुर महँ रहे।
एक राम गाथा लिखी एक भागवत पद कहे ।।१।।

मुरलीधर को रामपुर की इदन्ता के विषय में भ्रान्ति रही हो, यह बात नहीं। उन्होंने स्वयं (अपने हाथ से) कृष्णदास वंशावली की प्रतिलिपि की थी जो उनकी 'रत्नावली चरित' नामक पुस्तिका के साथ एक ही जिल्द में सम्मिलित है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, कृष्णदासजी ने रामपुर ग्राम की स्थिति गंगातीरस्थ वराह क्षेत्र के निकट बतायी है।

रामपुर-यात्रा—यद्यपि मैं श्यामायन के दर्शन दो बार कर चुका था, तथापि श्यामपुर तक (जिसे पहले रामपुर कहते थे) आगे बढ़ने का अवसर दोनों बार मुझे प्राप्त न हो सका। अतएव अपने पूर्वविद्यार्थी श्री भगवानसिंह को साथ लेकर, मैं २ जून, १९५४ को कासगंज से सोरों रेल के द्वारा और वहाँ से पैदल दो मील के लिये चल दिया। बीच में श्यामायन और श्यामसर का साधारण निरीक्षण करते हुए श्यामपुर पहुँचकर हमने जनसम्पर्क किया। श्यामपुर में पं० रामसहायजी रहते हैं, उनके चार पुत्र हैं। पहले पं० सूबेदार, दूसरे प० हरप्रसाद, तीसरे पं० रामस्वरूप, चौथे पं० रामभरोसे हैं। प्रथम दोनों पुत्र अपने पिता के पास श्यामपुर ही रहते हैं। संयोगवश रामसहायजी उस समय बाहर गये हुए थे। सूबेदारजी और हरप्रसादजी ने बताया कि गोस्वामी तुलसीदास इसी ग्राम के रहने वाले थे और यही उनकी जन्म-भूमि है, जैसा कि उन्होंने अपने पिताजी से सुन रखा था। उनका तथा अन्य कतिपय श्यामपुर-निवासियों का जो चित्र लिया गया उसमें यज्ञोपवीत धारण किये हुए श्री सूबेदार हैं और अँगोछेवाले श्री हरप्रसाद हैं।

निष्कर्ष—सोरों-कासगंज के मित्र-त्रय[1] की धारणा है कि गोस्वामीजी सूकर-क्षेत्र में उत्पन्न हुए। सूकरक्षेत्र का क्षेत्र पंचयोजन चारों ओर है, और इस प्रकार रामपुर ग्राम जो सोरों से डेढ़ दो मील है उसके अन्तर्गत है। किन्तु यदि सूकरक्षेत्र का तात्पर्य केवल सोरों की वर्तमान बस्ती अथवा उसके योगमार्ग मोहल्ले से है, तो धारणा ठीक नहीं। सोरों का महत्त्व बढ़ाने के लिए 'तुलसी प्रकास' में तुलसीदासजी का जन्म सोरों के योगमार्ग मोहल्ले में बताया गया है। मुरलीधरजी के छप्पय में 'सदन' शब्द का अर्थ 'घर' वा 'मकान' न करके 'घराना' अथवा 'वंश' किया जाता है। यह उचित नहीं। मुरलीधरजी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, जैसा कि उनके संस्कृत श्लोकों से विदित है। वे 'सदन' शब्द का अर्थ खूब समझते थे। श्री महादेव प्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है कि तुलसीदासजी की गर्भ-स्थिति तारी में हुई थी, यह उन्होंने किसी प्राचीन जनश्रुति के आधार पर लिखा है और ठीक भी प्रतीत होता है। 'तुलसी प्रकास' के अनुसार भी गोस्वामीजी की माता हुलसी लगभग पाँच मील की दूरी पर तारी ग्राम की पुत्री थी और उनके पिता आत्माराम एक वर्ष तारी में रहे

---

१. पं० गोविन्दवल्लभ भट्ट, पं० भद्रदत्त शर्मा, एवं पं० वेदव्रत शर्मा।

भी, अतएव वहाँ गर्भ-स्थिति असम्भव नहीं। तुलसी के नाना की मृत्यु के पश्चात् तुलसी के माता-पिता रामपुर चले आये, वहाँ उनका जन्म हुआ। जन्म होने के पश्चात् गोस्वामीजी सोरों के योगमार्ग मोहल्ले में चले गये। पं० गोविन्दवल्लभ भट्ट को तुलसी-स्मारक सभा (राजापुर) के अधिकारी ने जो निजी पत्र भेजा था उसमें लिखा है कि 'गोस्वामीजी का जन्म-स्थान सोरों या उसी के आस-पास कहीं होना चाहिए'। डॉ० भगीरथ मिश्र का निष्कर्ष ठीक ही है कि 'जन्मभूमि न तो राजापुर ही है और न सोरों ही, वरन् सोरों या सूकरक्षेत्र के पास कोई स्थान गोस्वामीजी की जन्मभूमि हो सकती है।'[1] वह स्थान सोरों के निकट रामपुर है।

सोरों वाला रामपुर ही क्यों? उत्तर में निवेदन है कि स्वयं गोस्वामीजी की उक्ति-समष्टि का निर्णय। गोस्वामीजी का उल्लेख है कि मैंने गंगाजी के तट पर राम के घर जन्म लिया। उनकी कामना रही कि जब जब मेरा जन्म हो तो गंगाजी के किनारे और राम-भक्ति प्राप्त हो। राम-जन्म-स्थल-वाहिनी सरयू से उन्हें इतनी ममता नहीं थी। रामलला नहछू में भी गंगाजल के प्रति ही उनकी बाल्यकाल-निगूढ-श्रद्धा यों ही प्रस्फुटित होती है:—

कनक कलसां गंगाजल भरी लाइअ।
चंदन चौका पुराऐ प्रभु को नहवाइअ॥

उन्होंने कवितावली में प्रकट किया—

तुलसी तिहारो घर जायो है घर को॥७,१२३॥

और विनयपत्रिका में स्पष्ट किया—

दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारिको
जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि मुरारि को
यह भरत खण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली॥१३५॥

जब कभी तुलसीदासजी ने 'रामपुर' का उल्लेख स्वयं किया अथवा उन्हें अन्य किसी रामपुर नामक स्थान के दर्शन करने का अवसर मिला, तो उन्हें किसी निगूढ़ हर्ष सुख अथवा किसी सात्विक भाव का अनुभव अवश्य हुआ। 'विनय पत्रिका' और 'बरवै रामायण' में तुलसी की भावना गंगा-तीर और रामपुर के लिए कैसी उत्कट है—

मरत कहत सब-सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम॥
तुलसी रामनाम सम मित्र न आन।
जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान॥
नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु।
जनम-जनम रघुनंदन तुलसिहिं देहु॥
जनम-जनम जहँ-जहँ तनु तुलसिहिं देहु।
तहँ राम निवाहिब नाम सनेहु॥ बरवै ७, ६५-६६
बरु बारहिं बार सरीर धरौं।
रघुबीर को ह्वै तब तीर रहौंगो॥ क ७, १४७

---

१. तुलसी रसायन, पृष्ठ ३६।

यदि सरयू और अयोध्या से गोस्वामीजी का इतना गहरा लगाव होता, तो वे गृहत्याग के उपरान्त १६३१ वि० में 'रामचरितमानस' का प्रारम्भ अयोध्या में कर, वृद्धावस्था व्यतीत करने और मरने के लिए काशी का सेवन न करते। सोरों और तन्निकट रामपुर में पुनः आ बसने में तो लोकाचार सम्बन्धी झेंप का जटिल प्रश्न उत्पन्न हो सकता था, किन्तु अयोध्यावास करने में तो कोई आपत्ति न होनी चाहिए थी। वातावरण जैसा काशी का वैसा अयोध्या का था, स्यात् अयोध्या का अपेक्षाकृत अनुकूल भी। जब जीवन-काल में ही वे अपना शरीर अयोध्या को भेंट न कर सके तो मृत्यु के पश्चात् उसे वहाँ पहुँचवा देने की लालसा असंगत प्रतीत होती है। तुलसीदासजी का राम-प्रेम संकीर्ण न था, उनके राम तो अयोध्यावासी दशरथ-नन्दन और भगवान् विष्णु के अवतार ही नहीं अपितु निर्गुण-सगुण एवं तदतीत परमातिपरम सत्ता हैं, जो अयोध्या में रहते हुए भी भगवान् शिव के हृदय में एवं अन्यत्र सर्वत्र विराजते हैं। वे शिव-हृदयासीन राम को गंगाजी के किनारे अधिक चाहते थे। यदि सोरों में गंगातट पर सोमेश्वर नाथ के हृदय में राम विराजते थे, तो काशी में गंगातट पर विश्वनाथजी के हृदय में राम थे। तुलसी के लिए दोनों स्थान पवित्र थे, एक का लगाव था जन्म से तो दूसरे का मरण से। तुलसीदासजी अपनी पत्नी, भाई और भतीजे के आग्रह को टालते रहे। उन्हें अपने आवेश पर कुछ पश्चात्ताप भी हुआ होगा जैसा कि उनके उन कतिपय वचनों से विदित होता है जिनकी चर्चा अन्यत्र की गयी है। पर जो हो गया वह हो गया। सोरों में रामपुर नामक अपनी जन्मभूमि को न लौट आने के लिए वे लोकाचार के कारण विवश थे, पर उनका शव तो कल्पना के द्वारा ही आ सकता था। पण्डित जवाहर लाल नेहरू की धर्मपत्नी का देहान्त हुआ योरुप में, और अन्तिम संस्कार तीर्थराज प्रयाग के त्रिवेणी तट पर। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं जब उसकी स्मृति जन्मस्थान और बाल्यकाल की घटनाओं की ओर ललचाती है। अतएव गोस्वामीजी के द्वारा गंगातीरस्थ रामपुर का उल्लेख मार्मिक एवं स्वाभाविक है।

आविर्भाव-तिरोभाव

(क) जन्म-संवत् : षडुल्लेख

गोस्वामी तुलसीदास के जन्म-संवत् के विषय में निम्नलिखित छः उल्लेख हैं :—

१५५४ वि०—'मूल गोसाईं चरित' के कर्ता वेणीमाधवदासजी गोस्वामीजी की जन्म-तिथि लिखते हैं—

पन्द्रह सौं चउवन विषे कालिंदी के तीर ।
सावन शुक्ला सत्तमी तुलसी धरेउ शरीर ।।

इसमें तिथि के साथ वार का उल्लेख नहीं है अतएव इसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता था । परन्तु वेणीमाधवजी आगे लिखते हैं—

तिनके घर द्वादस मास परे
जब कर्क के जीव हिमांशुचरे
कुज सप्तम अष्टम भानुतनय
अभिजीवित शनि सुन्दर साँझ समय ।

इस पर दो आपत्तियाँ हैं : प्रथम तो यह कि गोस्वामीजी हुलसी के गर्भ में द्वादश मास नहीं केवल दश मास ही रहे । तुलसीदासजी स्वयं विनयपत्रिका में लिखते हैं:—

गर्भ-वास दस मास पालि पितु मात रूप हित कीन्हों ।।१७१।।

दूसरे तिथि का जो विस्तार दिया गया है वह शुद्ध नहीं उतरता, जैसा कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने गणना करके बताया है ।[१]

'मानस मयंक' के रचयिता ने भी उक्त संवत् इस प्रकार माना है :—

४ ५ ५ १
मन ऊपर सर जानिये सर पर दीन्हें एक ।
तुलसी प्रकटे रामवत राम जनम की टेक ।।[२]

यदि १५५४ वि० ठीक मान लिया जाय तो गोस्वामीजी की आयु १२६ वर्ष होती है । उन्होंने 'रामचरितमानस' १६३१ वि० में अर्थात् सतहत्तर वर्ष की अवस्था में लिखा जो पं० रामनरेश त्रिपाठी और डॉ० माताप्रसाद गुप्त को असम्भव सा लगता है ; इसी प्रकार १६६९ वि० में अर्थात् एक सौ पन्द्रह वर्ष की अवस्था में पंचायत नामे पर मंगलाचरण लिखना भी । १२६ वर्ष की अवस्था असम्भव तो नहीं, बाहर के देशों में १५० वर्ष के कुछ लोग जीवित सुने गये हैं । जिला बुलन्दशहर के अनूप-शहर में श्री तोताराम और उनकी पत्नी क्रमशः ११९ और १०० वर्ष के जीवित थे, जैसा कि मई १९५७ की 'चेतावनी' से विदित हुआ है । गोला गोकर्णनाथ के तीर्थ

---

१. तुलसीदास, पृ० १३९, तथा ५०२-५११, तृतीय संस्करण ।
२. तुलसी और उनका काव्य, पृष्ठ ८६ ।

मोहल्ले में, मेरे सन्निकट धर्मशाला के अध्यक्ष श्री जिन्द बाबा १९५८ ई० में ११० वर्ष के थे। मुझे उनके दर्शन करने का सौभाग्य हुआ, वय के देखे उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था; वे पैदल चलते-फिरते और भजन करते थे। इगलैंड के स्व० बर्नार्ड शॉ तो नब्बे वर्ष की अवस्था में लिखते-पढ़ते थे। यदि गोस्वामीजी ने १२६ वर्ष की अवस्था पायी तो यह असम्भव नहीं। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि इतनी दीर्घ आयु बहुत कम होती है, अतएव सम्भावना न्यूनातिन्यून है। परन्तु जब सं० १५५४ वाली जन्म-तिथि ही अशुद्ध है तो सम्भावना का और भी अधिक ह्रास हो जाता है। श्री शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में जन्म-संवत् १५८३ वि० माना है और १५५४ वि० का उल्लेख नहीं किया, यद्यपि उनकी सूचना का आधार तो गोसाईं-चरित्र है जिससे उन्होंने एक उद्धरण भी उपस्थित किया है। अतएव १५५४ की धारणा भ्रान्त और स्वतः विरोधात्मक है।

१५६० वि०—स्व० जगन्मोहन वर्मा ने गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५६० माना है। उनके मत का आधार है राममुक्तावली की निम्नलिखित पंक्ति :—

पवन तनय मो सन कह्यो पांच बीस अरु बीस।

इसको जन्म-संवत् मान लेने से गोस्वामीजी की आयु १२० वर्ष की होती है। यह भी दीर्घ आयु है जिसके सम्बन्ध में वैसी ही सम्भावना-न्यूनता है जैसी कि १५५४ वि० के विषय में। डॉ० माताप्रसाद ने 'राममुक्तावली' का निरीक्षण भली-भाँति किया है और उसकी शैली, विचारधारा और छन्दोयोजना के आधार पर उनका विश्वास है कि वह गोस्वामीजी की कृति नहीं है। इसके अतिरिक्त 'पाँच बीस अरु बीस' का अर्थ ५+२०+२०=४५ हो सकता है। यदि इसका अर्थ २०×५+२०=१२० किया जाय तो डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार, यह पंक्ति गोस्वामीजी ने १२० वर्ष की अवस्था के पश्चात् लिखी होगी।[1] अतएव इस जन्म-संवत् का उल्लेख केवल अनुमान के बल पर है।

१५८३ वि०—शिवसिंह सेंगर ने गोस्वामीजी का जन्म-संवत् १५८३ माना है। वे 'शिवसिंह सरोज' में लिखते हैं: 'यह महाराज सं० १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे'।[2] सेंगरजी ने अपनी सूचना का आधार 'गोसाईं चरित्र' लिया है, और उससे एक उद्धरण भी दिया है। 'गोसाईं चरित्र' में तो १५५४ वि० दिया है, अतएव इसका उल्लेख न कर उन्होंने १५८३ वि० का उल्लेख क्यों किया? हो सकता है कि उन्होंने १५५४ वि० को उचित न समझकर उसे त्याग दिया, अथवा उनके सामने 'गोसाईं चरित्र' का कोई पुराना संस्करण रहा हो जिसमें जन्म-संवत् का उल्लेख न किया गया था और जिसका अद्यतन (अप्टुडेट) संस्करण 'मूल गोसाईं चरित्र' के नाम से पीछे हुआ हो। अस्तु, सं० १५८३ वि० का उल्लेख किसी जनश्रुति के अथवा अनुमान के आधार पर हो सकता है जिसकी पुष्टि किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती। इस संवत् के सम्बन्ध में वे तथाकथित असम्भावनाएँ नहीं हैं जो पहली और दूसरे के सम्बन्ध में दीर्घ आयु के कारण थीं।

---

१. तुलसीदास, पृ० १२६।
२. शिवसिंह सरोज, पृ० ४२७।

१५८९ वि०—ग्रियर्सन ने 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' में १५८९ संवत् का उल्लेख इन शब्दों में किया है कि 'सब से अधिक विश्वस्त विवरणों से यह बात प्रकट होती है कि कवि का जन्म १५८९ वि० में हुआ'। पर उन्होंने यह नहीं बताया कि वे विश्वस्त विवरण कौन से हैं। 'तुलसी ग्रन्थावली' के तृतीय भाग के पृष्ठ १८ पर उल्लेख है कि स्व० रामगुलाम द्विवेदी अपने को गोस्वामीजी की शिष्य-परम्परा में और वे १५८९ वि० को उनका जन्म संवत् मानते थे। ग्रियर्सन की पुष्टि तुलसीसाहब की 'घट रामायन' से भी होती है। यदि ग्रियर्सन महोदय को घटरामायन-प्रदत्त जन्म-तिथि का ज्ञान होता तो वे पूरी जन्मतिथि और उसके आधार का उल्लेख करते, अतएव उनका आधार जनश्रुति रही होगी। तो क्या 'घटरामायन' के उल्लेख का आधार ग्रियर्सन का लेख है? हो सकता है, क्योंकि 'घट रामायन' की प्राचीनतम पाण्डुलिपि १८४२ संवत् अर्थात् १८९९ ई० की है। 'घट रामायन' में लिखा है :—

संवत् पंद्रा से नवासी। भादों सुदी मंगल एकादसी (पृ० ४१५)

इस पुस्तक में सात तिथियों का उल्लेख है जिन में से चार में वार का उल्लेख नहीं, अत. उनका परीक्षण नहीं हो सकता। अन्य तीनों में वार का उल्लेख है, इस से उनका परीक्षण हो सकता है। डॉ० माताप्रसाद ने सब का परीक्षण स्वयं किया है और उनकी गणना से जन्मतिथि को छोड़ कर अन्य दोनों तिथियाँ विगत वा वर्तमान किसी भी प्रणाली से शुद्ध नहीं। जन्म-तिथि भाद्रपद शुक्ला ११ मंगलवार सं० १५८९ शुद्ध अवश्य है।[१] पर यह विचारणीय है कि सभी परीक्षणीय तिथियों में मंगलवार का ही उल्लेख है और अनेक विद्वान् 'घट रामायन' के उस परिशिष्ट को, जिसमें तुलसीदासजी का विवरण दिया गया है, प्रक्षिप्त मानते हैं।

श्री चन्द्रबली पाण्डे का झुकाव १५८९ के पक्ष में है। वे लिखते हैं: 'उपलब्ध सामग्री में मूँड मारने से जो कुछ सूझ पड़ा उसका निष्कर्ष यह निकला कि तुलसी का आविर्भाव हुमायूँ के शासन में सं० १५८९ में अयोध्या में हुआ'। पाण्डेजी ने अपने कथन की पुष्टि में लिखा है कि १५८३ में बाबर का सिक्का भारत में चला; राणा साँगा की हार के कारण भगवान् राम के जन्म-स्थान पर बाबरी मसजिद का निर्माण हुआ जिसमें गोस्वामीजी कभी लेटे हों जैसा कि उन्होंने लिखा है :—

माँगिकै खैबो मसीत को सोइबो
लेबो को एक न देबो को दोऊ ॥ क ७,१०६ ॥

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं पाण्डेजी को अपने तर्क पर विश्वास कम था। उनके वचन हैं 'कोई चाहे तो १५८३ को भी तुलसीदास की जन्मतिथि मान सकता है अन्यथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त को मान्य है सं० १५८९ ही'। पर गोस्वामीजी का जन्म अयोध्या में नहीं अन्यत्र हुआ था जैसा कि अन्यत्र विवेचन हुआ है। सोरों में मुसलमानों का सान्निध्य था और वहाँ भी मसजिदें उपलब्ध थीं। अतएव पाण्डेजी के विश्वास में और भी न्यूनता हो जानी चाहिए थी।

१६०० वि०—'ए स्केच ऑव द रिलिजस सेक्ट्स ऑव द हिन्दूज' में विलसन

---

१. तुलसीदास, पृ० ६३ और ५१६-५१९।

का लेख है कि तुलसीदासजी ने इकत्तीस वर्ष की अवस्था में 'रामचरितमानस' का लिखना आरम्भ किया।[1] तर्क कुछ इस प्रकार हो सकता है: १६३१—३१=१६०० अर्थात् १६०० वि० में गोस्वामीजीका जन्म होना चाहिए। गार्सां द तासी ने भी इस विषय में विलसन का अनुसरण किया है। गौतम चन्द्रिका के अनुसार १६०० वि० उपलब्ध होता है।[2] पर डॉ०माताप्रसाद गुप्त को यह संवत् इसलिए ठीक नहीं प्रतीत होता कि केवल ३१ वर्ष की अवस्था में 'रामचरित मानस' जैसे विद्वत्तापूर्ण गहन ग्रन्थ का प्रणयन असम्भव जान पड़ता है। महापुरुषों के लिए ऐसी बात असम्भव तो नहीं, क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने तो, कहते हैं, सब कार्य ३१ वर्ष की अवस्था तक कर डाला था और 'गौतम चन्द्रिका' का प्रामाण्य सन्देहातीत नहीं।[3] पर सं० १६०० हमें भी ग्राह्य नहीं क्योंकि अन्य प्रमाणों से इस संवत् की संगति नहीं बैठती। सोरों-सामग्री के अनुसार, गोस्वामीजी १६०४ वि० में सोरों छोड़ कर चले गये थे जबकि उनकी पत्नी २७ वर्ष की थी। अतएव उसके अनुसार उस संवत् में तुलसीदास को भी कम से कम २७ वर्ष का होना चाहिए।

१५६८ वि०—जन्म-संवत् के सम्बन्ध में छठा उल्लेख अविनाशराय के 'तुलसीप्रकास' में इस प्रकार है:—

राम राम सागर मही सक सित सावन मास
रवि तिथि भृगु दिन दुतिय पद नषत विसाषा वास ॥२५॥

इसके अनुमार तुलसीदासजी का जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी शुक्रवार शक संवत् १४३३ (तदनुसार १ अगस्त, १५११ ई०) में हुआ। उस समय विशाखा नक्षत्र का द्वितीय चरण था। तिथि वार, नक्षत्र आदि गणना से शुद्ध हैं। परन्तु, जैसा कि मैंने 'तुलसी-प्रकाश' की आलोचना में प्रकट किया है, यह पुस्तक सक्षेपक है और इसकी कुछ तिथियाँ अशुद्ध भी हैं। अतएव यह प्रमाण भी सर्वथा निर्भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। इसके मान लेने से गोस्वामीजी की आयु ११२ वर्ष की बैठती है। 'रामचरितमानस' त्रेसठ वर्ष की अवस्था में लिखा गया होगा और पंचायतनामे की शीर्ष-पंक्तियाँ निन्यानवें वर्ष की अवस्था में।

यद्यपि मुझे 'तुलसीप्रकास' का प्रामाण्य सर्वथा स्वीकृत नहीं, तथापि मैंने उटकमण्ड के सरकारी एपिग्रैफ़िस्ट से विदित किया कि श्रावण शुक्ला सप्तमी शुक्रवार १५६८ वि० को ग्रहों की स्थिति इस प्रकार थी:—सप्तमी का प्रारम्भ गुरुवार को ·१८ पर और अवसान शुक्रवार को ·२४ पर हुआ था। उस दिन मघा नक्षत्र में सिंह

१. पृ० ४१।

२. (क) हिन्दी साहित्य का उद भव और विकास, पृ०२०४, रामबहोरी शुक्ल और भगीरथ मिश्र, कृत, हिन्दी भवन, १९५६।

(ख) सोरह अनुगन असी बय, तुलसी सहित हुलास। राम राम कहि विदा है असी गंग किय वास ॥

संवत सोरह सौ एकासी, तुलसी वरषी असी प्रकासी। सावन कृष्ण तीज तिथि पाई, यह गौतम चन्द्रिका पुराई। गौतम चन्द्रिका में तुलसीदास का वृत्तान्त, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २०, २२।

३. गौतम चन्द्रिका का अप्रामाण्य द्वितीयाध्याय में प्रकट किया गया है।

राशि पर सूर्य १·५° चल चुका था ; चन्द्रमा विशाखा नक्षत्र में तुला के २१·६° पार कर चुका था। मंगल पुष्य में कटक के ८·६५°, बुध वक्री होकर मघा में सिंह के १०·२°, गुरु वक्री होकर शतभिषा में कुम्भ के ७·२°, शुक्र पूर्वाफाल्गुन में सिंह के १५·८°, और शनि चित्रा में कन्या के २७·७° पार कर चुका था।

जन्म के समय विशाखा नक्षत्र का द्वितीय चरण था। अतएव उक्त आधार पर तीन जन्मपत्रियाँ सम्भव हैं, जिनमें से तीसरी तुलसी की जीवन घटनाओं का समर्थन करती है:—

तीसरी कुण्डली में नीच के मंगल ने गोस्वामीजी के माता, पिता और पुत्र का अपहरण कर लिया। पंचम स्थान में गुरु और ग्यारहवें में शुक्र विद्या और काव्यशक्ति प्रदान करते हैं और शुक्र दीर्घ जीवन भी प्रदान करता है।

इसके अतिरिक्त एक विचित्र संयोग का उल्लेख करने के लिए मुझे आन्तरिक प्रेरणा हो रही है। वह यह है: यदि तुलसीदासजी का जन्म-संवत् वास्तव में १५६८ वि० था तो उनकी निम्नलिखित उक्ति उन्हीं के जीवन पर यथार्थ घटती भी है:

जगतें रहु छत्तीस ह्वै रामचरन छहतीन
तुलसी देखु विचारि हिय है यह मतो प्रवीन ॥

सोरों-सामग्री के अनुसार गोस्वामीजी ने सं० १६०४ में गृह-त्याग किया, तब वे (सं० १६०४—१५६८ अर्थात्) ३६ वर्ष के थे। जब उन्होंने अयोध्या में भगवान् राम के चरणों में बैठकर 'रामचरित मानस' का प्रारम्भ किया तो वे (सं० १६३१—१५६८ अर्थात्) ६३ वर्ष के थे।

(ख) मृत्यु : १६८० वि०

गोस्वामीजी के देहावसान का संवत् १६८० है। इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। श्रावण मास में वे दिवंगत हुए यह बात भी मतभेद रहित है। पर श्रावण के किस पक्ष में और किस तिथि को, इस विषय में मतभेद अवश्य है।

श्रावण कृष्णा तीज—'मूल गोसाईं चरित' में वेणीमाधवदासजी गोस्वामीजी की मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में लिखते हैं:

संवत सोलह से असी असी गंग के तीर
सावन स्यामा तीज शनि तुलसी तजे शरीर

'गौतम चन्द्रिका' में लिखा है—

सोरह असु गन असी वय, तुलसी सहित हुलास।
राम राम कहि विदा ह्वै, असी गंग किय वास ॥

और उक्त 'गौतम चन्द्रिका' में तुलसीदासजी की वर्षी के विषय में, मूल गोसाइँ चरित की पुष्टि का आगे यह उल्लेख है :

सवत सोरह सौ एकासी, तुलसी वरषी असी प्रकासी
सावन कृष्न तीजि तिथि पाई, यहु गौतम चन्द्रिका पुराई ।।

'गौतम चन्द्रिका' के लेखक ने वार का उल्लेख कहीं नहीं किया, अतएव इस तिथि का परीक्षण सम्भव नहीं। परन्तु जैसा कि द्वितीयाध्याय में बताया जा चुका है, वार का अनुल्लेख सुचिन्तित है। अस्तु। तुलसीदासजी ने सं० १६८० की श्रावण कृष्णा तीज शनिवार को स्वर्गलाभ किया। श्री विजयानन्द त्रिपाठी अपने मानस की भूमिका में सूचित करते हैं कि गोस्वामीजी के मित्र टोडर के उत्तराधिकारी, गोस्वामीजी की स्मृति में, इस तिथि को सीधा बाँटते और वर्षी मनाते हैं, यद्यपि गणना से उन्होंने यह तिथि अशुद्ध ही मानी है।[१] श्री रजनीकान्त शास्त्री भी स्वतन्त्र गणना कर के इसी निश्चय पर पहुँचे हैं।[२] मैंने इस तिथि का परीक्षण भारतीय पुरातत्त्व विभाग के उप-कर्णधार डॉ० एन० पी० चक्रवर्ती से कराया और उन्होंने भी यही निर्णय दिया कि यह तिथि गणना से ठीक नहीं उतरती।

श्रावण शुक्ला सप्तमी—प्रचलित तिथि निम्नलिखित जनश्रुति में विद्यमान है—

संवत् सोलह से असी असी गंग के तीर
श्रावण शुक्ला सत्तमी तुलसी तज्यो शरीर ।।[३]

इस तिथि का उल्लेख 'श्रावण श्यामा तीज शनि' की अपेक्षा प्राचीनतर है, पर वार का उल्लेख न होने से इसका परीक्षण नहीं हो सकता। लोक में यह बात प्रचलित है कि गोसाइँजी की जो मृत्यु-तिथि है वही उनकी जन्म-तिथि भी थी। बाबा वेणी माधवदास और अविनाशराय दोनों के ही अनुसार जन्म-तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी है।

पंद्रह से चउवन विषे कालिन्दी के तीर
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी धरेउ शरीर ।। मूल गो०।।
राम राम सागर मही शकसित सावन मास
रवि तिथि भृगु दिन दुतिय पद नषत विसाषा मास ।। तु० प्र० ।।

और अनुश्रुत दोहार्द्ध है

श्रावण शुक्ला सत्तमी तुलसी तज्यो शरीर ।

एक ओर जनश्रुति की रक्षा और दूसरी ओर टोडर-कुटुम्ब की परम्परा। व्यक्ति तो विस्मृति आदि के कारण इतने लम्बे काल में धोखा खा सकता है पर जनश्रुति तो बहुत से लोगों की जिह्वा पर विराजती रहती है। अतएव मेरा झुकाव 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' की ओर ही है।

---

१. तुलसीदास, पृ० १८६ और ५१४-१५।

२. मानस मीमांसा, पृ० ८३-८४।

३. 'श्री गोस्वामी तुलसीदास कृत रामायणम्' में श्री रघुवंश शर्मा-कृत श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत, पृ० ४३।

आकृति-प्रकृति

(क) वर्णाकृति

गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' में अपने सम्बन्ध में लिखा है—

दियो सुकुल जनम शरीर सुन्दर, हेतु जो फल चारि को ।।१३५।।

हौं सुवरन कुवरन कियो, ।।२६६।।

इन । पंक्तियों से स्पष्ट है कि तुलसीदासजी शरीर से सुन्दर और गौर वर्ण के थे मुरलीधर चतुर्वेद ने उनके विषय में रत्नावली-चरित में लिखा है कि वे गौर वर्ण के थे :

गौर वरन विद्या निधान । विविध शास्त्र पंडित महान ।।६६।।

'प्रेम रामायण' भी ऐसा ही कहती है :—

गौरं 'रा' पदमात्र संश्रवणतोऽप्युद् भूतरोमाङ्कुर
वक्ष: श्री तुलसी प्ररूढ गुटिका मालं पटी शालिनम्
वारंवारमिदं पदं 'भरतु भे ठाढे'ऽति गाढं स्वरम्
गायन्तं नर रूपिणं कमपितं वंदे ऽनवद्ये हितम् ।।[1]

अविनाशराय ने 'तुलसी प्रकास' में शिशु तुलसीदास के विषय में लिखा है :—

गोरो तन मुष मार छबि, सुनयन बाहु विसाल ।।२६।।

और राजापुर में निवास करते हुए वीतराग तुलसीदासजी का चित्रण उक्त 'प्रकास' में इस प्रकार हुआ है :—

सुन्दर सुजान मतिमान आजान बाहु
भगत जन प्रधान तेहि गले माल मानिये ।।
गान परवीन हरि ध्यान लवलीन कवि
विषय विकार हीन छीन सिष जानिये ।।.
मुंडित सीस मुच्छ सो सेत सेत केस वेस
पीन देह सूत्र कटि गौर त्यों वषानिये ।।
कहै अविनास भाल तिलक तुलसिदास
सेत कटि अधोवास तासु पहचानिये ।।१६३।।

गौतम चन्द्रिका' के अनुसार :—

असन मधुकरी कपिस पट सिषा सूत्र संधान ।
उरसि तुलसिका माल सुचि रुचि रुचि लेषनी प्रधान ।।

---

१. 'मानस' की रूसी भूमिका, पृष्ठ ३० ।

(ख) चित्र

गोस्वामी तुलसीदासजी के उपलब्ध सभी चित्र उक्त चित्रण के अनुरूप हैं। कुछ चित्र ऐसे भी हैं जो कला की दृष्टि से अथवा अन्य किसी कारण से, प्रामाणिक नहीं समझे जा सकते। अतएव इस विषय में कुछ विवेचन वांछनीय प्रतीत होता है।

मुख्य चित्र—वाराणसी के भारत-कला-भवन के उपाध्यक्ष श्री उदयशंकर शास्त्री ने, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के द्वारा, गोस्वामी तुलसीदास के चित्रों के सम्बन्ध में बहुमूल्य परामर्श दिया। वे संख्या (१) से (८) तक इस प्रकार सूचित करते हैं—

(१) प्रह्लाद घाट पर गोस्वामीजी का एक प्राचीन चित्र है जो सम्राट् जहाँगीर का बनवाया हुआ बताया जाता है। शैली के अनुसार तो वह चित्र जहाँगीर कालीन नहीं होना चाहिए, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ का अवश्य है। उस्ताद रामप्रसाद ने उसकी एक प्रतिकृति प्रस्तुत की जो रायकृष्णदास जी के निजी संग्रह में है और इसी की प्रतिकृति उत्तर प्रदेश के संग्रहालय में भी है।

(२) उक्त चित्र से मिलता-जुलता एक चित्र कला-भवन में है जो सत्रहवीं शती के अन्त, एवं अधिक से अधिक अठारहवीं शती के आरम्भ से इधर, का नहीं हो सकता। यह चित्र और प्रथम संख्यक चित्र दोनों एक ही मूल पर अवलम्बित हैं।

(३) याज्ञिक-बन्धुओं के संग्रह में भी एक चित्र है जिसका समय अठारहवीं शती के पश्चात् नहीं हो सकता। वह भी चित्र-संख्या एक या दो के मूल पर अवलम्बित है। इस प्रकार ये तीनों ही चित्र किसी एक मूल की परम्परा में हैं।

(४) भारत-कला-भवन में जो सचित्र किन्तु अपूर्ण 'बाल-काण्ड' है और जिस का समय अठारहवीं शती का प्रारम्भ है उसमें गोस्वामीजी का जो चित्र है उसका साम्य चित्र संख्या एक और दो से है।

(५) काशीराज के यहाँ 'रामायण' की एक सचित्र प्रति है जो अठारहवीं शती की है। इस में गोस्वामीजी का जो चित्र है वह संख्या एक और दो के समान है। काशी में अठारहवीं शती की लिथो की छपी हुई 'रामचरित मानस' की कई प्रतियों में तथा अन्य ग्रंथों में भी, उसी अनुहार के चित्र मिलते हैं।

(६) सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'रामचरितमानस' के अपने सम्पादित संस्करण में गोस्वामीजी का जो चित्र दिया है, वह उन्हें अयोध्या के किसी अखाड़े से प्राप्त हुआ था। यह चित्र उसी समय का प्रतीत होता है जिसका सम्बन्ध उपर्युक्त पाँचों चित्रों से है।

त्याज्य चित्र—(७) असी घाट पर गोस्वामी तुलसीदास के निवास-स्थान में एक दाढ़ी वाला चित्र मिलता है, किन्तु वह आधुनिक है जिसे पिछले चालीस वर्ष के भीतर उस्ताद रामप्रसाद के भतीजे ने उस स्थान के महन्त स्वामी नाथजी की इच्छानुसार, जिन से चित्रकार की मैत्री थी, बनवाया था। उन्हीं के देने से प्रतीत चित्रकार ने संख्या १ पर दाढ़ी का आरोपण कर दिया था। ध्यान देने से प्रतीत

होगा कि इस दाढ़ी वाले चित्र के भीतर वही हनु सन्निहित है जो चित्र संख्या एक में विद्यमान है। इस प्रकार दाढ़ी की यह कल्पना चालीस वर्ष के भीतर की है, अतएव गोस्वामीजी के चित्रों पर विचार करते समय सर्वथा त्याज्य है।

व्यंग्य चित्र—(८) डॉ० कुमार स्वामी ने इण्डियन ड्राइंग्ज नामक अपनी पुस्तक में एक व्यंग्य चित्र दिया है जिसमें कई वैष्णव हैं। उस में गोस्वामीजी का जो चित्र है वह चित्र संख्या १ का विडम्बन है।

छपे चित्र—(९) (क) डॉ० श्यामसुन्दरदासकृत और इण्डियन प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हिन्दी भाषा और साहित्य में एक चित्र है, जिसमें गोस्वामीजी अधेड़ अवस्था के प्रतीत होते हैं। वे गले में कण्ठी और दो मालाएँ, कन्धे पर लम्बा यज्ञोपवीत और दुपट्टा, दाहिने हाथ में एक माला, मस्तक, वक्षःस्थल, उदर और भुजाओं पर केवल एक-एक तिलक तथा कटि में अचला धारण किये, पेड़ के नीचे, कुशासन पर, सुखासन-पूर्वक, श्मश्रु-रहित विराजमान हैं।

(ख) डॉ श्यामसुन्दर दास और डॉ० पीतम्बर बड़थ्वालकृत तथा हिन्दुस्तानी एकादमी द्वारा प्रकाशित 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक के चित्र में गोस्वामीजी के सिर पर घनी चोटी है, दाढ़ी, मूछ नहीं है। वे गले में एक कण्ठी और दो मालाएँ, दाहिने हाथ में माला, दक्षिण स्कन्ध पर दुपट्टा, बायें पर लम्बा यज्ञोपवीत, मस्तक उदर और वक्षःस्थल पर एक-एक और भुजाओं पर दो-दो तिलक, तथा कटि में अचला धारण किए हुए, खुले स्थान में पेड़ के नीचे, कुशासन पर विराजमान हैं। गोस्वामीजी की अवस्था अपेक्षाकृत कम है।

श्री उदयशंकर शास्त्री की धारणा है कि डॉ० श्यामसुन्दरदास की पोथी का चित्र उक्त चित्र संख्या १ पर अवलम्बित एक तैल-चित्र की प्रतिकृति है। परन्तु डॉ० श्यामसुन्दरदास ने मुझे लिखा था कि 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'गोस्वामी तुलसीदास' में जो चित्र दिये गये हैं वे दोनों एक ही हैं केवल ब्लॉक में अन्तर होने से भिन्न जान पड़ते हैं। ये चित्र उस चित्र के फोटो से बने हैं जो पण्डित गंगाराम के यहाँ हैं। इन्हीं गंगारामजी के लिए गोस्वामीजी ने 'राम शकुनावली' लिखी थी और वे प्रायः नित्य उनसे मिलते थे।

(१०) श्री रामनरेश त्रिपाठीकृत और हिन्दी-मन्दिर द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' के प्रथम संस्करण की भूमिका के पूर्व एवं तुलसी और उनकी कविता के प्रथम भाग में गोस्वामीजी के तीन चित्र हैं :—

(क) पहले चित्र में गोस्वामीजी के सिर के बाल श्वेत हैं और दाढ़ी भी श्वेत तथा छोटी है। वे मस्तक, वक्षःस्थल और भुजाओं पर एक-एक और पेट पर तीन तिलक, गले में एक कण्ठी और दो मालाएँ, लम्बा यज्ञोपवीत, दाहिने कंधे पर दुपट्टा, और कटि में आधी धोती धारण किए, तकिए के सहारे, चार खाने के आसन पर (कदाचित् गृह के खुले भाग में) विराजमान हैं। यह चित्र काशी में प्राप्त एक प्राचीन प्रति की नकल है।

(ख) दूसरा है: संवत् १६५५ का कहा जाने वाला चित्र। यह अधेड़ किन्तु रुग्ण अवस्था का प्रतीत होता है। इसमें घर का स्थान अधिक सुन्दर है, गद्दा तकिया

बूटेदार हैं, तिलक-भेद अस्पष्ट है। यज्ञोपवीत नहीं है। यह प्रह्लादघाट निवासी श्री रणछोर लाल के पास है। रायकृष्णदासजी इस चित्र को इसकी इमारत के कारण बहुत पीछे का मानते हैं। इस से मिलते-जुलते कई चित्र विभिन्न संग्रहों में मिलते हैं। उनमें से एक तो प्रसिद्ध पुस्तक संग्रहीता मायाशंकर याज्ञिक के पास है, और एक भारत-कला-भवन, काशी में है।

(ग) तीसरा चित्र, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। यह खड्ग विलास प्रेस से प्रकाशित और ग्रियर्सन महोदय के अनुसंधान का फल है। इसमें गोस्वामीजी के केश लम्बे और पीछे की ओर को पड़े हैं। उनके मस्तक पर मोटी बिन्दी सी प्रतीत होती है। गले में दो कंठियाँ तथा कलाइयों मे मालाएँ हैं। दक्षिण स्कन्ध पर दुपट्टा है और कटि में पूरी धोती। गोस्वामीजी कालीन पर, बिना यज्ञोपवीत और उपधान के, किन्तु दोनों हाथ जोड़े, बैठे हैं।

तथाकथित समकालीन चित्र—(११) 'भारत में अंग्रेजी राज्य' (१९३८ ई० का संस्करण) के पृ० १०१ के सामने गोस्वामीजी का रंगीन चित्र है जो श्री बहादुर सिहजी सिंधी, कलकत्ता, की कृपा से नवाब मुर्शिदाबाद के यहाँ की एक हस्तलिखित फ़ारसी रामायण के समकालीन चित्र से उपलब्ध हुआ है। इसमें गोस्वामीजी भव्य गृह के सामने, सफेद तकिया लगाये, गले में मालाएँ डाले, बगलबन्दी पहने और उसी पर यज्ञोपवीत धारण किये, टोपी लगाये, गोमुखी में हाथ डाले, टिखटी पर बाँह रखे हुए हैं। बाईं ओर चौकी पर खुली पुस्तक और दाहिनी ओर ऊँची गर्दन का (कदाचित् पीतल का) कमण्डलु है।

कल्पित चित्र—(१२) मिश्रबन्धु-कृत 'हिन्दी नवरत्न' के प्रारम्भ में तुलसीदासजी का एक चित्र लगा हुआ है। इसमें गोस्वामीजी खड़ाऊँ, तूंबा और पोथी हाथ में लिये, मृगछाला बगल में दबाये—रामनामी दुपट्टा ओढ़े, गले में मालाएँ डाले, पूरी किनारीदार धोती काछे, मस्तक पर रामानन्दी तिलक लगाये, श्वेत और लम्बी दाढ़ी, मूंछ एवं धवल कचों का जूड़ा धारण किये पत्थर की सीढ़ियों से घाट पर उतर रहे हैं। आकृति सौम्य है। डॉ० श्यामबिहारी मिश्र से पूछने पर विदित हुआ कि यह चित्र काल्पनिक है, जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक के लिए बनवाया था।

(१३) 'कल्याण' के मानसांक में गोस्वामीजी का रंगीन चित्र उपर्युक्त चित्र संख्या एक और दो से मेल खाता है। आकृति अपेक्षाकृत दुबली है, अवस्था भी कम प्रतीत होती है। गले में दो कण्ठियाँ और दो मालाएँ सुशोभित हैं। गले की मालाएँ भिन्न हैं। आसन गलीचे के समान बेल-बूटों से युक्त हैं। गोस्वामीजी आधी धोती काछे, पेड़ के अधिक निकट, बिना दाढ़ी-मूंछ के हैं। विशेषता यह है कि वे यज्ञोपवीत धारण किए हुए नहीं हैं। पूछने पर, 'कल्याण' के सम्पादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार ने स्पष्ट किया कि यह चित्र नागरी प्रचारिणी सभा के चित्र के आधार पर तैयार कराया गया था।

(१४) गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'रामायणांक' के सादे चित्र में गोस्वामीजी की दाढ़ी काली और लम्बी है। सामने छोटी चौकी पर खुली पुस्तक रखी है। उसके कुछ पत्र बायें हाथ में पढ़ने के लिए विद्यमान हैं, किन्तु दक्षिण हस्त

में माला भी है। गोस्वामीजी नाभिपर्यन्त यज्ञोपवीत धारण किये और आधी धोती पहने नदी-तट के समीप शीतल पट्टी पर विराजमान हैं। बायीं ओर तूंबा है, कन्धे पर दुपट्टा नहीं है। मस्तक, वक्षःस्थल और उदर पर एक-एक तथा भुजाओं पर दो-दो तिलक सुशोभित हैं। श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार का कहना है कि काली दाढ़ी वाला यह चित्र, मथुरा के एक सज्जन को प्राप्त, किसी प्राचीन चित्र के आधार पर बनवाया गया था। उन्होंने इस चित्र को प्राप्त करके उसके आधार पर श्री गोस्वामीजी की मूर्ति संगमरमर की बनवायी थी। यह बात आज से लगभग २८ वर्ष पहले की है। पोद्दारजी को उन सज्जन का नाम स्मरण नहीं रहा। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने मुझे लिखा कि 'असी घाट वाले चित्र के विषय में मैं नहीं जानता। एक काली दाढ़ी वाला चित्र बनावटी है। जिन्होंने उसे बनवाया था, उन्होंने मुझसे कहा था'।

कल्पित विक्रय-चित्र—(१५) श्री मदनमोहन शर्मा के उद्योग से तुलसी सेवक समाज (गीता मन्दिर, मथुरा) से जो रंगीन चित्र प्रकाशित हुआ था, वह चित्र संख्या चौदह से बहुत कुछ मिलता है। इसमें गोस्वामीजी लाल रंग की आधी धोती काछे, एक कण्ठी पहने, दाहिने हाथ में माला लिये, सुखासन से जप कर रहे हैं। उनका बायाँ हाथ बायें घुटने पर स्थित है, सिर की जटा सुव्यवस्थित, दाढ़ी काली, और मूंछें घनी हैं। शीतल पट्टी कुछ भिन्न है, कमण्डलु दरियाई है, मस्तक, वक्षःस्थल और उदर पर एक-एक, तथा भुजाओं पर दो-दो तिलक अंकित हैं। शर्माजी ने कहा कि यह चित्र किशनगढ़ राज्य में किसी सुरक्षित चित्र की प्रतिलिपि का परिवर्द्धित संस्करण है, और मूल चित्र की एक प्रति काशी नरेश के यहाँ तथा गोस्वामीजी की उस बैठक में है जो काशी में असी घाट पर है, और जिसमें उनकी माला खड़ाऊँ आदि सुरक्षित हैं। श्री रायकृष्णदास की सम्मति में काशी के अस्सी घाट वाले तुलसीदास के स्थान में उनका दाढ़ी वाला जो चित्र है वह एक आधुनिक चित्रकार की कृति है और सर्वथा कृत्रिम है।

पूछ-ताछ—श्री मदनमोहन शर्मा से यह भी विदित हुआ कि सन् १९२३ में अयोध्या के डिप्टी कमिश्नर होबर्ड के संरक्षण में तुलसी-सेवा समिति नाम की एक संस्था इसलिए स्थापित हुई कि वह तुलसीदासजी के उस स्थान का जीर्णोद्धार कराये जहाँ उन्होंने 'रामचरितमानस' की रचना प्रारम्भ की थी। इस संस्था के मुख्य कार्य-कर्ता थे स्वर्गीय रामरघुबीर लालजी रईस, फैजाबाद। संस्था के निमित्त धन एकत्र करने के लिए उक्त शर्माजी ने देशी राज्यों में भ्रमण किया था, जिसके फलस्वरूप उन्हें गोस्वामीजी का एक चित्र किशनगढ़ नरेश से देखने को मिला, और उसके अनु-सार जयपुर सरकार ने स्कूल ऑव आर्ट, जयपुर में, गोस्वामीजी की एक मनुष्याकार ऐसी पाषाण-प्रतिमा बनवाकर इन्हें प्रदान की थी, जो प्रह्लादघाटस्थ गोस्वामि-प्रतिमा से भिन्न है। शर्माजी ने थोड़ा-थोड़ा करके पाँच-छः सहस्र रुपया भी एकत्र किया था जिसमें से अधिकांश उक्त रामरघुवीरलालजी के द्वारा इलाहाबाद बैंक में जमा कर दिया गया था, और जयपुर से प्राप्त मूर्ति भी जो साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर भरतपुर भेज दी गयी थी उन्हीं के यहाँ विद्यमान है। कुछ रुपया शर्माजी के पास भी रहा। इस सम्बन्ध में अयोध्या के महात्मा श्री पंडित रामवल्लभ शर्मा की अध्यक्षता

में सभा की एक बैठक हुई और निश्चय हुआ कि एक उपसमिति तुलसी-चौरा के अध्यक्ष से उस स्थान का जीर्णोद्धार कराने के लिए अनुमति प्राप्त करे। तब से फिर न जाने इस संस्था का क्या हुआ। उक्त विवरण कहाँ तक ठीक है यह नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त चित्र और प्रतिमा के विषय में शर्माजी को जो पत्र जयपुर और किशनगढ़ राज्य से अंग्रेजी में प्राप्त हुए थे उनका हिन्दी में अनुवाद नीचे दिया जा रहा है :—

पत्र-व्यवहार

महकमा खास, जयपुर

प्रस्ताव संख्या ६, जो १५ नवम्बर, १६२४ को मुबारक महल में, महकमा खास की बैठक में स्वीकृत हुआ।

तुलसी-सेवा-समिति के अवैतनिक संयुक्त मंत्री का आवेदन-पत्र गोस्वामी तुलसीदास स्मारक के निमित्त दान के लिए पढ़ा गया। निश्चय हुआ कि अधिक से अधिक २५०) रुपए संगमरमर की मूर्ति के लिए स्वीकृत किया जाय यदि वह स्कूल ऑव आर्ट के द्वारा जयपुर में ही बने।

सं० २४५६। मिति जयपुर २४ नवम्बर ई०। इस प्रस्ताव की एक प्रति पं० मदनमोहन शर्मा, अवैतनिक संयुक्त मंत्री, तुलसी-सेवा-समिति, एडवर्ड मेमोरियल, जयपुर के पास सूचनार्थ भेजी जाती है।

एस० सी० मजूमदार
मंत्री, महकमा खास, जयपुर।

मेमोरेंडम नं० ८७

प्रेषक	सेवा में
प्रिंसिपल, स्कूल ऑव आर्ट, जयपुर	पं० मदनमोहन शर्मा तुलसी-सेवा समिति, जयपुर

ता० २४ अक्तूबर १६२५ ई०। विषय: गोस्वामी तुलसीदास की श्वेत प्रस्तर मूर्ति।

प्रिय महोदय,

काउंसिल आव स्टेट, जयपुर के फारिन एण्ड होम डिपार्टमेंट के मंत्री के इसी मास के पत्र नं० ५१ के अनुसार मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अपनी सुविधा के अनुसार शीघ्र पधार कर मूर्ति को ले लेने की कृपा करें।

भवदीय,
एच० राय चोधरी, प्रिंसिपल।

फूल महल, किशनगढ़, राजपूताना
१४ जनवरी, १६२५ ई०

प्रिय पण्डितजी,

तुलसी-सेवा-समिति के कोष के निमित्त श्रीमन् महाराज प्रदत्त १००) रु०

का पे-आर्डर नत्थी है। कोष के अधिकारी को आदेश दे दिया गया है कि वह गो० तुलसीदासजी का अभीष्ट चित्र आपको दिखला दे। आपका परिचय कराने के लिए एक परिपत्र भी सब विभागों के अध्यक्षों के पास भेज दिया गया है। अब आप घूमकर चन्दा इकट्ठा कर सकते हैं।

भवदीय,
सोहनलाल, निजी सचिव

यहाँ मैं यह निवेदन कर देना आवश्यक समझता हूँ कि शर्माजी ने किशनगढ़ के मूल चित्र की प्रतिलिपि मुझे नहीं दिखायी क्योंकि वह, जैसा कि वे कहते हैं, उनसे खो गयी है। मैंने इस विषय में और अन्वेषण करना चाहा, अतः पहले किशनगढ़ और फिर वाराणसी राज्य को लिखा। वाराणसी से मुझे अंग्रेजी में यह उत्तर मिला था :—

प्रासाद सदस्य सं० २०१ किला रामनगर य० रि०
बनारस रियासत ता० अक्तूबर २५, १९४०

प्रिय महाशय,

आपका पत्र ता० २ सितम्बर, १९४० का हि० हा० महाराजा साहब बहादुर बनारस के लिए। मुझे यह सूचित करते खेद है कि गोस्वामी तुलसीदास का चित्र इस सरस्वती भंडार में अप्राप्य है। कृपया इसे नोट कर लें। मुझे वास्तव में खेद है कि आपको निराश होना पड़ा।

भवदीय
जे० पी० एन० सिंह, प्रासाद सदस्य

किशनगढ़ को लिखने पर एक ही चित्र की दो परिवर्द्धित फोटो प्रतिलिपियाँ मूल्य से प्राप्त हुई जो चित्र संख्या १४-१५ से सर्वथा भिन्न हैं। वहाँ से एक पत्र भी अंग्रेजी में प्राप्त हुआ जिसका अनुवाद नीचे दिया जाता है :—

प्रेषक	सेवा में
चीफ मेम्बर काउंसिल	पं० रामदत्त भारद्वाज
किशनगढ़	कासगंज

सं० १३५२ एम० १९४०। किशन गढ़, ३० अगस्त १९४०।
विषय : गोस्वामी तुलसीदासजी के मूल चित्र की प्रतिलिपि।
प्रकरण : आपके पत्र ९ जुलाई और ३ अगस्त १९४० के।

प्रिय महोदय,

मैं यह कहने के लिए लिखता हूँ कि जो सूचना आप चाहते हैं वह नीचे दी जाती है :—

१. मूलचित्र पोस्ट कार्ड के आकार का है और रंगीन नहीं है;

२. यह ज्ञात नहीं कि इस चित्र का बनाने वाला कौन था और यह राज्य कोष में किस प्रकार आया;

३. राज्यकोष में गोस्वामीजी के और कोई चित्र नहीं हैं, न कोई चित्र दाढ़ी वाला ही है।

भवदीय
जी० आर० गुप्त
कृते चीफ मेम्बर ऑव काउंसिल, किशन गढ़

किशनगढ़ वाला चित्र—(१६) किशनगढ़ से जो चित्र मुझे प्राप्त हुआ है वह लगभग १२'८ इंच की परिवर्द्धित फ़ोटो प्रतिलिपि है। इसमें गोस्वामीजी की आकृति चित्र-संख्या १० ख अर्थात् १६५५ वि० के कहे जाने वाले चित्र की आकृति से बहुत कुछ मिलती है। उसमें गोस्वामीजी पूर्वाभिमुख हैं तो इसमें पश्चिमाभिमुख। उसमें दो कंठियाँ और दो मालाएँ हैं, तो इसमें एक कंठी और एक माला है। इसमें यज्ञोपवीत है, उसमें नहीं। इसमें पेट विशेष निकला हुआ प्रतीत होता है। उसमें कोई पुस्तक नहीं थी, इसमें एक पुस्तक गलीचे से हटकर चौकी पर और दूसरी कपड़े में लिपटी और बँधी गलीचे पर है। दोनों में गोस्वामीजी जप कर रहे हैं, नेत्र खुले हुए हैं, सामने की ओर दृष्टि है। उसमें तकिया, कालीन और इमारत का अंश था, इसमें केवल एक गलीचा है जो उस कालीन से भिन्न है। गोस्वामीजी का अँचला भी भिन्न है। दोनों में गोस्वामीजी घुटमुण्ड किन्तु शिखा-युक्त हैं, चन्दन-चिह्नादि एक से हैं। बैठने का ढंग समान है, चरण की बनावट भी। इस चित्र का शीर्षक है : तुलसीदासजी गुसाईं श्री रामावृत्त।

निष्कर्ष—उक्त सभी चित्रों के विमर्श से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चित्र संख्या १ तथा उसी वर्ग वाले सभी चित्र गोस्वामीजी के वास्तविक चित्र हैं। इनका मूल अवश्य उनका समकालीन रहा होगा। काशी में प्रह्लाद घाट के जिन ब्राह्मण के पास यह चित्र संख्या १ है उन्होंने अपने उद्योग से उसी चित्र के आधार पर जो एक मर्मर प्रस्तर की मूर्त्ति बनवायी है, वह अनेक अंशों में सन्तोषजनक प्रति-कृति कही जा सकती है। विभिन्न चित्रों को देखने के पश्चात् भारत पुरातत्व विभाग के कर्णधार रायबहादुर काशीनाथ नारायण दीक्षित के परामर्श से, सोरों में वराह-मन्दिर के सम्मुख हर-की-पेरी नामक ताल में, गोस्वामीजी की मानवाकार प्रतिमा, उच्च पीठिका पर, १६४३ ई० में एटा ज़िलाधीश श्री जे० एम० लोबो-प्रभु ने स्थापित की थी। यह प्रतिमा मर्मर-प्रस्तर की लगभग सात फीट ऊँची है। इसमें गोस्वामीजी का वय उस समय का अंकित किया गया है जब उन्होंने सोरों को छोड़ा था। प्रतिमा के एक हस्त में 'रामायणम्' सुशोभित है, दूसरा उपदेश मुद्रा में है। तुलसीदासजी पंडित-वेश में धोती काछे, दुपट्टा ओढ़े, वैष्णव तिलक लगाये, कमल माल्य धारण किये हुए, सुन्दर आकृति के हैं।

(ग) स्वभाव और चरित्र

दयालु और परोपकारी—गोस्वामी तुलसीदास प्रकृति से दीनों के प्रति दयालु थे। वे अपने बाल्यकाल में कष्ट और संकटों का पर्याप्त अनुभव कर चुके थे, अतएव वे

यह भली-भाँति जानते थे कि कष्ट कितने दुःखद होते हैं और विपत्ति में सान्त्वना-सहानुभूति का क्या महत्त्व है। वे वीतराग थे, उदासीन थे; अतएव यदि वे दूसरों के पूर्वकृत कष्टों को देखकर आँख मींच लेते अथवा उन कष्टों के कारणों को भगवदिच्छा अथवा पाप कह कर टाल देते तो क्या था? पर उनका हृदय तो कोमल और दयामय था। यद्यपि काशीवालों ने उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाये थे, तथापि जब काशी में महामारी का प्रकोप हुआ और उन्होंने अपनी आँखों से बहुत से व्यक्तियों को मृत्यु के घाट उतरते देखा तो उनका हृदय द्रवित हो गया। वे इतने करुणापूर्ण हुए कि उन्होंने उस प्रलयंकरी महामारी की शान्ति के लिए भगवान् शंकर की आराधना की। वे यदि कभी किसी के भविष्य पर प्रकाश डालते और 'रामाज्ञा प्रश्न' से समाधान करते, तो कभी किसी हत्यारे को और किसी वेश्या को पाप से निवृत्त करते थे। यदि कोई दरिद्र अपनी कन्या के विवाह के लिए द्रव्य चाहता तो वे उसके लिए धन की कोई व्यवस्था कर देते। जब अनेक लोग अपनी-अपनी कामनाएँ लेकर आस-पास से तदनन्तर दूर-दूर से आते और राम-भजन में अधिक बाधा पहुँचती तो वे गुफा में चले जाते। फिर भी वे किसी की प्रेत-बाधा को दूर करते, किसी की पुत्री को पुत्र बनाते और किसी के पति को प्राणदान देते थे। उनके मूल मंत्र थे :

हित सों हित रति राम सों, रिपु सों बैर बिहाउ
उदासीन सब सों सरल, तुलसी सहज सुभाउ ॥ दो० ९३
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥ वि० १७२

मृदुल—गोस्वामीजी ने मृदुलता का परिचय अपनी रचनाओं में भी दिया है। पाठकों को पात्रों के चरित्र में जो उग्रता वाल्मीकि और व्यास के द्वारा मिलती है वह तुलसी के द्वारा नहीं। उदाहरणरूप से निवेदन है कि वाल्मीकि रामायण में श्रीराम से वनवास की सूचना मिलने पर माता कौशल्या के उद्गार बड़े स्वाभाविक हैं :—

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पति-पौरुषे।
अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया ॥ २, २०, ३८

सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम्।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती ॥ २, २०, ३९

अतो दुःखतरं किंनु प्रमदानां भविष्यति।
मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः ॥ २, २०, ४०

त्वयि सन्निहितेऽप्येवमहमासं निराकृता।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव मे ॥ २, २०, ४१

अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता
परिवारेण कैकेय्याः समावाप्यथवाऽवरा ॥ २, २०, ४२

यो हि मां सेवते कश्चिदथवाऽप्यनुवर्तते।
कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ॥ २, २०, ४३

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम्
विहाय शोक-संतप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ।। २, २१, २२

किन्तु तुलसीदासजी कितने कोमल हो गये हैं :

राखौं सुतहि करौं अनुरोधू । धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू
कहौं जान बन तौ बड़ हानी । संकट सोच बिबस भइ रानी ।
तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका । पितु आयसु सब धरम क टीका
जौं केवल पितु आयेसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ माता
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ।।२, ५४, ५५

सुमन्त के लौटने पर, वाल्मीकिजी कौशल्या से दशरथ के प्रति कहलाते हैं : महाराज यह दूत दुष्कर कार्यकर्त्ता रामचन्द्र का सन्देश लाया है । इससे आप क्यों नहीं बोलते ? पहले भीषण अपराध करके अब आप इतने क्यों दु:खित हो रहे हैं ? जिसके डर के मारे आप रामचन्द्र के समाचार नहीं पूछते वह कैकेयी यहाँ नहीं है । आप किसी बात की शंका मन में न रखें, जो कुछ कहना चाहें कहें (२. ५८, २९-३१) । पर तुलसीदासजी कहलाते हैं—

नाथ, समुझि मन करिअ विचारू । राम वियोग पयोधि अपारू
करनधार तुम्ह अवध जहाजू । चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू
धीरज धरिअ त पाइअ पारू । नाहिं त बूडिहि सबु परिवारू
जौं जिय धरिअ विनय पिय मोरी । रामु लखन सिय मिलहिं बहोरी ।।
(२, १५३, ४-७)

वाल्मीकिजी के अनुसार मारीच ने मरते समय 'हा सीता, हा लक्ष्मण' कहा था । आश्रम में सीताजी ने ज्योंही वह आर्तनाद सुना तो उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा 'वत्स लक्ष्मण, दौड़ो । ज्ञात होता है कि आर्यपुत्र पर कोई संकट आया है, और वे तुम्हें पुकार रहे हैं । जाओ दौड़कर उनकी रक्षा करो' । पर रामाज्ञा का स्मरण कर लक्ष्मण अपने स्थान से विचलित नहीं हुए । तब सीताजी ने अत्यन्त क्रोध से कहा— 'लक्ष्मण, जान पड़ता है कि तुम्हारे मन में मेरे विषय में कोई पाप है, इसी कारण तुम श्रीराम की रक्षा के लिए नहीं जा रहे हो । उन पर जो संकट आया है, प्रतीत होता है, तुम उस से प्रसन्न हो, इसलिए चुपचाप बैठे हो ।' तुलसीदासजी ने इस घटना का उल्लेख केवल इतना किया है :—

मरम बचन जब सीता बोला । हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ।। ३, २७, ५

कैकेयी के मरणोपम वचनों को सुनकर श्रीराम ने वन जाने के लिए वचन दे दिया किन्तु कहा 'देवि, मुझे एक बात खटकती है कि राजा ने अभी तक अपने श्रीमुख से यह नहीं कहा कि मैं भरत को राज्याभिषेक देने के लिए प्रस्तुत हूँ ।'

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ।। २, १९, ६

पर आगे चलकर कुछ उष्णता से राम बोले कि 'हे देवि, मैं साधारण मनुष्यों की भाँति अर्थ-लोभी नहीं, मुझे ऋषियों के तुल्य शुद्ध धर्म पर अटल जानो ।' (२, १९, २०) पर मृदुल-स्वभाव तुलसीदासजी श्रीराम के मुख से कहलाते हैं :—

पूछी मधुर बचन महतारी ।
मोहि कहु मात-तात दुख कारन । करिअ जतन जेहि होइ निबारन
× × ×
मन मुसुकाइ भानुकुल भानू । रामु सहज आनन्द निधानू
बोले बचन बिगत सब दूषन । मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन
सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी । जो पितु मातु वचन अनुरागी
तनय मातु पितु तोषनि हारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा
मुनि गन मिलनु बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ।।
भरतु प्रान प्रिय पार्वाहि राजू । विधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ।।
(रा २, ३९-४२)

कहने का तात्पर्य है कि चाहे वाल्मीकि रामायण में अथवा अध्यात्म-रामायण में जहाँ-जहाँ कटु प्रसंग आये हैं, वहाँ-वहाँ तुलसीदास-द्वारा या तो उनका उल्लेख छोड़ दिया गया है, अथवा कटुता को सिता से आवृत कर दिया गया है । यदि वाल्मीकि-जी और व्यासजी ने वास्तविकता को चित्रित किया तो तुलसीदासजी ने आदर्श को उपस्थित किया है, क्योंकि राम के अनन्य भक्त होने के कारण वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि कौशल्या, राम, सीता आदि के मुखारविंद से ऐसा कोई शब्द निःसृत हो जो आदर्श से नीचा उतरे ।

श्रद्धालु—अपने गुरु, माता और पिता में गोस्वामीजी को बड़ी श्रद्धा थी । अनेक बार स्पष्ट और गुप्त रूप से गुरु नरसिंह और माता हुलसी का तथा कूट-द्वारा पिता आत्माराम का उल्लेख हुआ है । इसी प्रकार वल्लभाचार्यजी का भी । गुरु को मानस में प्रणाम किया गया है और 'विनय' में ब्रह्मा-विष्णु की पंक्ति में माता-पिता की चर्चा की गयी है, जिससे विदित होता है कि तुलसीदासजी इन औपनिषद वाक्यों का पालन करते थे : आचार्य देवो भव, पितृ देवो भव । सूकरखेत का स्पष्ट और स्यात् तारी का कूटोल्लेख हुआ है ।[१]

मातृ-देव—गोस्वामीजी ने कौशल्या, सुमित्रा, सीता, अनसूया आदि नारियों की चर्चा बड़े आदर-भाव से की है । तुलसी का नारी-चरित-चित्रण इतना उग्र नहीं है जितना कि 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण' और 'हनुमन्नाटक' में उपलब्ध है । तथापि उनकी कुछ उक्तियाँ नारी-जाति के विरोध में अवश्य हैं । पार्वतीजी स्वीकार करती हैं कि स्वभावतः नारी मूर्ख और ज्ञान-रहित है (रा १, १४३, २) । इसी प्रकार अनसूयाजी सीताजी से कहती हैं कि नारी स्वभावतः अपवित्र है (रा ३, ८) शबरी भी मानती है कि नारी नीचातिनीच है (रा ३, ४३, १-२) । ये उक्तियाँ स्वयं नारियों के मुखों से निःसृत हुई हैं । पुरुषों में, रावण ने मन्दोदरी को नारी के दोष गिनाये है (रा ५, ३६, १, ६, २२, १-२) । पर वे मूलतः इस प्राचीन श्लोक पर

---

१. रा० १, ३० क; १, ११३, १

आधारित हैं :—

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ शुक्रनीति ३, १६३

स्वयं भगवान् राम ने नारी के अवगुणों की ओर ध्यान आकर्षित कर उसे सब दोषों की खान बताया है (रा ३, ५६-५७)। कहते हैं कि तुलसीदासजी को पत्नी से डाँट मिली अतएव उन्होंने नारी चरित्र को कुत्सित रूप में चित्रित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने 'दोहावली' (२६८) में लिखा है कि नारी कलह और मृत्यु का कारण है और कदाचित् इसी कारण जन्म-पत्री में उसका स्थान शत्रु और मृत्यु के मध्य पड़ता है और वह भगवद्भक्ति में बाधा पहुँचाती है (रा ३, ६०)। किन्तु तुलसीदासजी, नारी के प्रति ऐसी भावना के लिए दोषी नहीं हैं। वे तो अपने समय के प्रतिनिधि हैं। उनके पीछे स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने कामिनी-काँचन-त्याग पर आग्रह किया, और उनसे पूर्व कबीर भी कुछ ऐसा ही लिख चुके थे। योगवासिष्ठ के अनुसार हम अपने अज्ञान के कारण नारी को सुन्दर समझते हैं, (१, २१, ८) और भगवद्गीता में उसका उल्लेख पाप योनियों में (अथवा उनके साथ) हुआ है (९, ३२-३३)। गोस्वामीजी ने समुद्र के मुख से कहला दिया कि 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी' (रा ५, ५८, ६)। यह उक्ति भी 'गर्ग संहिता' के इस श्लोक का अक्षरशः अनुवाद है :—

दुर्जनाः शिल्पिनो दासाः दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः
ताडिता मार्दवं यान्ति नैते सत्कारभाजिनः।

उनके समकालीन महाकवि शेक्सपीयर ने सहस्रों मीलों की दूरी पर नारी की जो अभद्र तुलना की है उसका तो उल्लेख भी अवांछनीय है। अतएव गोस्वामीजी को दोषी ठहराने से पूर्व कई बार विचार कर लेना श्रेयस्कर होगा। गोस्वामीजी ने अपनी माता का उल्लेख त्रिमूर्त्ति के साथ किया, अतएव वे यह उपदेश करते प्रतीत होते हैं कि मातृ देवो भव। नारी के विषय में तुलसी-भावना पर अधिक विवेचन अन्तिम अध्याय में किया जायगा।

निष्ठावान्—'आराध्य की ऐसी एकनिष्ठ भक्ति, ऐसा अनन्य विश्वास और इतनी अखण्ड आस्था संसार के इतिहास में दुर्लभ है,'[1] जितनी गोस्वामीजी में। एक स्त्री ने नदी में स्नान करते समय उन्हें राम की शपथ दिलाकर कहा था कि जब तक मैं न कहूँ तब तक पीठ फेरे खड़े रहो, और वे प्रातःकाल से सायंकाल तक जल में पीठ फेरे खड़े रहे। राम के नाम पर वे क्या नहीं कर सकते थे? यदि चमत्कारों में आस्था कर ली जाय तो कहा जा सकता हैं कि अनन्य विश्वास के कारण ही उन्हें हनुमद्दर्शन, शिवदर्शन और रामदर्शन हुए तथा उनके ग्रन्थ पर दिव्य 'सही' पड़ी। उन्हें अपने किसी सम्बन्धी, अपने किसी सुकृत अथवा अपने शरीर पर भरोसा न था :—

याग न बिराग त्याग तीरथ न तन को
भाई को भरोसो न खरो सो बैर बैरी हू सो
बल अपनो न हित जननी जनक को ॥ क ७, ७७

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० २२७।

पर उन्हें राम का भरोसा अवश्य था।

भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।। क ७, १०७

विनयशील—वे विनय के तो मानो अवतार थे। 'विनय पत्रिका' विनय-प्रार्थनाओं से परिपूर्ण है। अन्य सभी ग्रन्थों में यत्र-तत्र विनीतता का परिचय मिलता है। यद्यपि उनके कुछ पदों में उपालम्भ भी है जो सख्य-भक्ति का द्योतक है तथापि उनकी रचना दास्य से ओत-प्रोत है। वे इतने नम्र हैं कि अपने को कवि नहीं समझते और बार-बार घोषित करते हैं: कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ (रा १, ११, ६), कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू, सकल कला सब विद्या हीनू (रा १, ८, ८), निज बुधिबल भरोस मोहि नाहीं (रा १, ७ख, ४), छमिहहिं सज्जन मोर ढिठाई (रा १, ७घ; ८), कवित्त विवेक एक नहिं मोरे (रा १, ८, ११), भाषाभनिति भोरि मति मोरी, (रा १, ८, ४)। 'सीय राम मय सब जग' को जानकर वे हाथ जोड़ कर सब को प्रणाम करते हैं: इष्ट देव को, पंचदेवों को, संतों को और खलों को भी। यजुर्वेद में कुत्स ऋषि ने भी शिव के दर्शन कुछ इसी प्रकार किये थे: नमो वंचते परिवंचते स्तेयानां पतये नमो नमो निषंगिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघाँसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमो सिमद्भ्यो नक्तं चरदभ्यो विकृन्तानां पतये नमः।।१६, २१।।

भावुक—गोस्वामीजी बड़े भावुक और रसिक थे। पत्नी में उन्हें गाढ़ आसक्ति थी और भावावेश में वे गंगाजी को अर्द्धरात्रि के समय पार कर उससे मिलने श्वशुरालय पहुँचे थे। पत्नी के उपदेश से उस आसक्ति का मार्गान्तरीकरण हो गया, रति भक्ति बन गई। वे बड़े रसिक थे पर उनका रसास्वाद संयत रहता था। शृंगार में अश्लीलता से दूर रहते, पर उत्सवों पर स्त्रियों की गालियाँ सुनने के रसिक भी थे और उन्होंने अनेक स्थलों पर स्त्रियों के गाली गाने का रसद उल्लेख किया है। वे विनोदप्रिय भी थे और अवसर आने पर मीठी चुटकी लेने से चूकते न थे। विन्ध्याचल के तपस्वियों पर कैसा मधुर व्यंग्य कसा है। कवि और संगीतज्ञ[1] प्रायः भावुक, रसिक और विनोदी होते ही हैं, तुलसीदासजी ऐसे ही थे पर साधुता और संयम के साथ।

आत्म-परीक्षक—ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी जो कार्य करते थे उसे कर लेने के पश्चात् उसके औचित्य और अनौचित्य पर विचार करते होंगे। पत्नी के उपदेश से वे घर छोड़ बैठे थे, उन्होंने आवेश में ऐसा किया था। इससे उन्हें तो कष्ट मिले ही, उनकी पत्नी भी दुःखी रही। क्या घर छोड़े बिना वे रामभक्ति न कर सकते थे, क्या ऐसा किये बिना तुलसीदास तुलसीदासजी न बन सकते थे? मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग तो सपत्नीक उच्चतम जीवन व्यतीत करते थे। कदाचित् गोस्वामीजी को पश्चात्ताप रहा होगा कि उनके विरक्त हो जाने से उनकी अपुत्रा पत्नी रत्नावली को कितना दुःख हुआ था? अतएव 'दोहावली' में जहाँ पत्नी की एक उक्ति उल्लिखित है वहाँ उन्होंने लिखा है कि घर पर रह कर ही भगवद्भक्ति श्रेयस्कर है (२५५, २५६)।

---

१. तुलसीदासजी संगीतज्ञ थे जैसा कि उन राग-रागिनियों से स्पष्ट है जिनका उपयोग 'विनय-पत्रिका' और 'गीतावली' में हुआ है।

एक बार विरक्त हो जाने पर घर लौट कर आ जाना लोकापवाद-जनक था। रत्नावली को पत्रोत्तर में लिखा था कि यदि तू राम का भजन करती है तो मुझे अपने से पृथक् मत समझ (र० च० २७) अपने विषय में उनकी कुछ उक्तियाँ हैं जिनसे विदित होता है कि वे आत्म-परीक्षण करते रहते थे :—

किए अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को ।। क०
तुलसी से कूर को कहत जग राम को ।। क०
अपनायो तुलसी सों धींग धमधूसरो ।। क०
मोसे दीन दूबरे कुपूत कूर काहली ।। क०
स्वारथ को साज न समाज परमारथ को ।। क०
मोसो दगाबाज दूसरो न जग जाल है ।। क०
धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को ।। क०
राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो ।। वि०
राम सों खरो है कौन मोसों कौन खोटो ।। वि०

सम-व्यवहारी—गोस्वामीजी और उनकी पत्नी ने जो कुछ लिखा है उससे विदित होता है कि वे दोनों लोक-व्यवहार से सुपरिचित थे। किन्तु दोनों ही ने अपने व्यवहार में अतिक्रमण किया, क्योंकि दोनों ही कवि अतएव भावुक थे। गोस्वामीजी चाटुकारिता से दूर, स्पष्टवादी थे। कदाचित् इन दोनों गुणों के कारण वे बार-बार संघर्ष में आकर संकटापन्न होते रहे, यद्यपि अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता और साधुता के कारण उन्हें रामप्रसाद प्राप्त था और तज्जन्य सुरक्षा और सफलता भी। मित्र गंगाराम और टोडर को छोड उन्होंने किसी व्यक्ति का उल्लेख तक न किया, यहाँ तक कि अपने गुरु और माता-पिता का भी स्मरण कूट-द्वारा ही किया है। वे नर-प्रशंसा से दूर रहे, कदाचित् इस कारण उनकी कविता को और भी सौष्ठव प्राप्त हुआ। राग-द्वेष से रहित वे सबसे समान व्यवहार करते थे—

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार
राग न रोष न दोष दुख दास भये भव पार ।। दो० ९४

गुणग्राही—तुलसीदासजी गुणग्राही थे। उन्होंने बौद्ध और जैन धर्मों की उचित प्रशंसा की है, यों उन्होंने मतभेद भी प्रदर्शित किया है। पुष्टिमार्ग से उन्होंने भगवान् के बालरूप के महत्त्व को ग्रहण कर, उसका वर्णन 'रामचरितमानस', 'कवितावली' और 'गीतावली' में किया है। सूरदास के कतिपय कृष्ण-परक पद 'गीतावली' में राम-परक हो गये हैं (१, ३१, ४०)। यह साहित्य स्तेय नहीं क्योंकि उसके द्वारा उन्हें न तो धन का अर्जन करना था और न प्रतिष्ठा की प्राप्ति। यह तो महाकवि सूरदास के प्रति उनकी चिरस्मरणीय श्रद्धांजलि है।

तीव्रालोचक—गोस्वामीजी प्रायः अपनी ही बात कहते थे और दूसरों पर आक्षेप न करते थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे कभी-कभी दूसरे का खण्डन करने के लिए बाध्य भी हो जाते थे। सैयद सालार जंग मसऊद गाजी की दरगाह पर उनका व्यंग्य है :

लही आँखि कब आँधरे बाँझ पूत कब ल्याइ
कब कोढ़ी काया लही जग बहराइच जाइ ।। दो० ४९६

'दोहावली' (१९) और 'तुलसी सतसई' (४, ४९) में 'अलख-अलख' कहने वाले फ़कीर को कड़ी डाट पिलायी गयी है। इन्द्र की तुलना श्वान से की गयी है (रा०, १, १२५, २, ३०१, ८)। जो राम का भजन नहीं करते, वे शृंग-पुच्छ-रहित पशु हैं (दो० १३८)। जो दूसरे की कीर्ति को मिटा कर स्वयं प्रसिद्ध होना चाहते हैं उनके मुख पर कालिमा पुतेगी (दो० ३८९)। गोसाईं चरित्र में लिखा है कि उन्होंने लाला भीखमसिंह से अप्रसन्नता प्रकट की और एक चेटकी के गर्व का खण्डन किया।

प्रकृति-प्रेमी और आदर्श-वादी—गोस्वामीजी भक्त-कवि थे अतएव वे प्रकृति को भी 'सियाराममय' के चश्मे से देखते थे। हिमगिरि, चित्रकूट, प्रयाग, अयोध्या तथा पुष्प-वाटिका, वर्षा, और शरद के वर्णन अत्यन्त सुन्दर हैं। गंगाजी से तो वे बड़े प्रभावित थे। कमल, चातक, चक्रवाक, चकोर, मृग, मीन और खंजन का उपयोग उपमा देने के लिए अधिकतर हुआ है, किन्तु परम्परागत पद्धति के अनुसार। बहुधा 'फूले फले न वेत' के तथ्य पर आपत्ति उठायी गयी है और 'वेत' को 'वियत्' (आकाश) का अपभ्रंश मान कर कुछ टीकाकारों के द्वारा पाठ का समाधान किया गया है। उनके समय में वर्णाश्रम की क्या दशा थी उसका वर्णन यथावत् हुआ है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामीजी मानव-स्वभाव के विशेषज्ञ थे। उनके पात्र राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, दशरथ, कौशल्या, कैकेयी, सीता, हनुमान्, रावण, सुग्रीव आदि के चरित्रों का चित्रण कितना मनोमोहक और आदर्श कितना उन्नायक हुआ है, इस पर दो सम्मतियाँ नही हो सकतीं। वे आदर्शवादी ही नहीं, आदर्श-स्रष्टा भी थे।

स्पष्टवादी और निर्भीक—भगवान् राम ने अयोध्या के पुरजनों को बताया कि मैं उस व्यक्ति को अपनाता हूँ जो कुटिलता का त्याग कर स्वाभाविक सरलता से व्यवहार करता है (रा ७, ४५, २)। गोस्वामीजी भी सरल प्रकृति के थे। उन्होंने अपने बचपन के दैन्य और तारुण्य के दोषों का स्पष्ट उल्लेख 'कवितावली', 'बाहुक' और 'विनयपत्रिका' में अनेक स्थलों पर किया है। प्रायः सरल व्यक्ति स्पष्टवादी, और स्पष्टवादी निर्भीक होते हैं। अयोध्या और काशी में, वैरागियों और पण्डितों से, एवं ठगों और चोरों से अनेक बार संकट उपस्थित हुए। पर वे निडर होकर डटे रहे। मानव-हृदय ही तो था, एकाध बार वे घबड़ाये भी। पर विकट परिस्थिति में उनका विश्वास और प्रपदन उनकी सहायता करते, एवं यदा-कदा हनुमान् जी, शिवजी और रामजी भी। अतएव उन्हें था

लोक को न डरु परलोक को न सोचु ।। क० ७, ७७
कौन की त्रास करैं तुलसी जो पै राखिहैं रामु तो मारि हैं कोरे ।।
क० ७, ४८

मेरें तो न डरु रघुवीर सुनो साँची कहौं ।।क० ७, ७१
हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै
तुलसिदास रघुवीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै ।। वि० १३७

दृढ संकल्प—गोस्वामीजी जो विचार लेते उस पर दृढ़ रहते थे। गृह-

त्याग कर देने पर वे पुनः लौट कर नहीं आये, यद्यपि उनकी पत्नी ने उनके पास संदेश भेजे और उनके भाई-भतीजे ने रामपुर-सोरों में पधारने की प्रार्थना की। अधिकारियों के, स्यात् सम्राट् के, आग्रह पर भी वे चमत्कार दिखाने के लिए प्रस्तुत न हुए। उन्होंने बंधन का कष्ट तो सहा, किन्तु जो मुख से निकल गया उस पर अटल रहे। रामानन्दियों एवं पुष्टि-सम्प्रदाय वालों के प्रलोभनों और वैरागियों एवं तथा-कथित पंडितों के उत्पीड़नों के मध्य अपने सिद्धान्त पर अटल रहने के लिए उनमें दृढ़ संकल्प की सत्ता थी। गोस्वामीजी के हठयोगी होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। वे कहते हैं :

जाप कीन तप खप कियो न तमाई जोग ।। क० ७, ७७

पर वे ज्ञान-योगी और राजयोगी अवश्य थे।

अगाध पण्डित—दीर्घ जीवन के अनुभव, पर्यटन, और सत्संग के कारण गोस्वामीजी बहुश्रुत थे। उनका अध्ययन भी विशाल था। गृहत्याग से पूर्व वे कर्मकाण्डी पुरोहित और कथावाचक थे : उनकी रचनाओं में जो अन्तःकथाओं का बहुल निर्देश है उससे प्रतीत होता है कि वे पुराणों में निष्णात थे। उनकी सूक्तियाँ श्रुति-स्मृति-परक हैं। उनके दर्शन की गूढ़ता से प्रकट है कि वे तत्कालीन आचार्यों के मतों से अवगत थे। 'राम-चरित मानस' के प्रारम्भिक सप्तम श्लोक में उन्होंने स्पष्ट किया है कि मेरी रचना अनेक पुराण, आगम, निगम तथा अन्य ग्रन्थों पर आधारित है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे, वे हैं :

दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढहिं जनु बटु समुदाई ।। रा० ४, १४, १

यह पंक्ति ऋग्वेद (७, १०३, १-१०) का स्मरण दिलाती है। उन्होंने रामनाम-महिमा स्कन्द पुराण के नागर खण्ड से गायी, और राम की व्युत्पत्ति 'रामनाम चन्द्रिका',[१] 'राम पटल'[२] और 'महारामायण'[३] के आधार पर की। राम की उच्चात्युच्च कल्पना 'रामपूर्व तापिनी', 'रामोत्तर तापिनी', 'रामरहस्य', और 'कलिसंतरण' आदि उपनिषदों से प्राप्त की; सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा का आधार 'कादम्बरी' से लिया। गोस्वामीजी ने कथावस्तु के लिए 'पद्मपुराण'[४] 'विष्णुपुराण', 'महाभारत', 'मूल रामायण,' 'संक्षेप रामायण', 'अगस्त्य संहिता',[५] 'भुशुण्डिरामायण',[६] 'बालरामायण' और 'उत्तर रामचरित' को देखा होगा, किन्तु 'हनुमन्नाटक',[७] 'प्रसन्नराघव',[८] और 'रघुवंश'[९] का कुछ उपयोग भी किया है। यह तो निश्चय है कि गोस्वामीजी के सम्मुख आदर्श-रूप से 'वाल्मीकि रामायण' उपस्थित थी, किन्तु उपयोग के लिए 'अध्यात्मरामायण' को ही अधिक अपनाया गया। सीताजी को आद्याशक्ति मानने का आधार 'अद्भुत रामायण'[१०], प्रतीत होता है। वेदान्त-सम्बन्धी झुकाव के लिए गोस्वामीजी 'योगवासिष्ठ' के अधिक

१-२-३ तुलसी-दर्शन, पृष्ठ २८९-२९२।

४. वही, पृष्ठ २९०।

५-६. एन आउटलाइन ऑव द रिलिजस लिटरेचर ऑव इंडिया, पृष्ठ १८९-१९०, २४९-२५१, ३२८।

७, ८, ९. तुलसीदास, पृष्ठ ३१६, ३२९-३३०।

१०. अद्भुत रामायण, २३, ४३, २४, २-४, २५, २।

ऋणी प्रतीत होते हैं, जिसका पठन-पाठन तब और अब भी विरक्त पुरुषों में प्रचलित है। भक्ति के विषय में उन पर गीता और भागवत का, और वात्सल्योपासना में वल्लभाचार्यजी के पुष्टिमार्ग का प्रभाव पड़ा। गोस्वामीजी दैवज्ञ भी थे जैसा कि 'रामाज्ञा प्रश्न', 'दोहावली' और 'तुलसी सतसई' से विदित होता है।

प्रतिभाशाली—तुलसीदासजी को जो 'अभूतपूर्व सफलता'[1] मिली उसका कारण है उनकी "अपूर्व समन्वय शक्ति"[2]। "उनकी रचनाओं में विशेषकर 'रामचरितमानस' में लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, अपितु वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिंतन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पंडित और अपंडित का समन्वय है।"[3] श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह ने अपने ग्रन्थ 'गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-साधना' के द्वितीय भाग में उनके साध्य-समन्वय, साधन-समन्वय, उपास्य-गुण-समन्वय, उपासक-गुण-समन्वय, वृत्ति-समन्वय, मार्ग-समन्वय, सर्वदेव-समन्वय, दर्शन-समन्वय, द्वैताद्वैत-समन्वय, निर्गुण-सगुण-समन्वय की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। प्राचीन काल में भी यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति कुछ पुराणों और महाभारत में तथा पृथ्वीराज-रासो में भी मिलती है, तुलसीदासजी ने विष्णु-शिव, ज्ञान-भक्ति और निर्गुण-सगुण के सामंजस्य पर पुनः आग्रह कर लोक-कल्याण किया। भावों के अतिरिक्त भाषा में भी उनकी प्रतिभा अप्रतिहत है। उनकी 'भाषा विषयानुकूल तथा वक्ता और बोद्धा के अनुसार हो जाती है। परिचारिका की भाषा और रानी की भाषा में अन्तर है, निषाद की भाषा जितनी ही सरल और अकृत्रिम है, वशिष्ठ की भाषा उतनी ही वैदग्ध्यमंडित और परिष्कृत। तुलसीदास के पहले किसी हिन्दी कवि ने इतनी मार्जित भाषा का प्रयोग नहीं किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने में तो वे कमाल करते हैं। उनकी विनय-पत्रिका में भाषा का जैसा जोरदार प्रवाह है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है, वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गंभीर होती है, वहाँ पाठक का मन चील की तरह मंडरा कर प्रतिपादित सिद्धान्त को ग्रहण कर लेता है'।[4] गोस्वामीजी की संतुलित प्रतिभा ने वह महान् साहित्य दिया जो संसार के इतिहास में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता।[5]

---

१. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २३३। २. वही, २३५। ३. वही, २३५। ४. वही, पृष्ठ २३९-२४०। ५. वही, पृष्ठ २४१।

सोरों-सामग्री

प्रथम भाग : सिंहावलोकन

सोरों-सामग्री का अर्थ—सोरों-सामग्री इस शब्द-द्वय का अभिप्राय उस सामग्री से है जो सोरों में अथवा उसके निकटवर्ती स्थानों से उपलब्ध तथा संगृहीत है और जो गोस्वामी तुलसीदास, साध्वी रत्नावली और नन्ददासजी के जन्मस्थान, वंश और रचनाओं पर प्रकाश डालती है, एवं वह सामग्री जो उक्त सामग्री का समर्थन करती है। प्रथम प्रकार की सामग्री पर अनेक आक्षेप हैं, जो अन्ततोगत्वा उपादेय ही सिद्ध हुए हैं। जिस प्रकार अग्नि में तपने से स्वर्ण का मल हट जाता है और उसकी कान्ति बढ़ जाती है, ठीक उसी प्रकार आक्षेपों से सत्यशोध को सहायता ही प्राप्त हुई। आलोचन और प्रत्यालोचन से पूर्व, सोरों-सामग्री का वर्तमान रूप उपस्थित करना अभीष्ट है।

सोरों-सामग्री के दो रूप—सोरों-सामग्री के दो रूप हैं : (क) गृह्य और (ख) बाह्य। गृह्य सामग्री प्रचुर तथा षड्विध है। भवन, वंशज, जनश्रुति, भाषाशैली, गोस्वामीजी के वचन, और अन्य कवियों की पाण्डु-लिपियाँ इस सम्बन्ध में प्रबल साक्ष्य उपस्थित करती हैं। बाह्य सामग्री भी न्यून नहीं। इसके अन्तर्गत हैं—विकीर्ण जन-श्रुतियाँ जो पूर्वी जिलों में प्राप्त हैं; ग्रियर्सन, ग्राउस, ग्रीव्ज़ आदि यूरोपीय विद्वानों की गवेषणाएँ; वैष्णव वार्ताएँ; तथा अन्य लेख जिनसे सोरों की गृह्य-सामग्री की पुष्टि होती है।

(१) गृह्य-सामग्री

(क) भवन साक्ष्य

इस विषय में निम्नलिखित साक्ष्य उल्लेखनीय हैं :—

(१) **रामपुर** नामक ग्राम सोरों से डेढ़ मील पूर्व स्थित था और है। इसके निकट एक टीले पर बलरामजी का मन्दिर बना हुआ है जिसकी भित्तियों में कहीं-कहीं अंकित कंकड़-प्रस्तर चिने हुए हैं, जो गोस्वामीजी से भी कहीं पुराने भवनों के अवशेष हैं। प्रतीत होता है कि बलरामजी के उपलक्ष्य में ग्राम का नाम रामपुर रखा गया। मन्दिर के समक्ष एक पक्का सरोवर था, जिसकी बहुत सी ईंटें लोग अपने घर बनाने के लिए उखाड़ कर ले गये हैं, किन्तु तनिक ध्यान देने पर घाट का अवशिष्ट भाग लक्षित हो सकता है। वर्षा ऋतु में अब भी उसमें जल भर जाता है जैसा कि उस चित्र से भी प्रकट है जो चौदह वर्ष पूर्व मैंने लिया था। वहाँ बलदेव-छट को मेला लगता है और निकटवर्ती ग्रामों के निवासी दर्शन करने आते हैं। नन्ददासजी ने कृष्ण-भक्ति के आवेश में रामपुर का श्यामपुर, मन्दिर का श्यामायन और सर का श्यामसर नाम रख दिया। इस नामकरण का उल्लेख कृष्णदासजी के 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' 'कृष्णदास वंशावली' और 'वर्षफल' में, रत्नावली की 'दोहा रत्नावली' में, और बाल-

कृष्ण की 'भ्रमर-गीत' वाली प्रति की पुष्पिका में हुआ है। यह रामपुर तुलसीदास और नन्ददास दोनों की जन्म-भूमि है।

(२) **नृसिंह मन्दिर**—यह स्थान गोस्वामी तुलसीदास और नन्ददासजी के गुरु नृसिंहजी का विद्याभवन था, जो सोरों के चक्रतीर्थ मोहल्ले में आज भी विद्यमान है। इसमें पहले हनूमान्‌जी की मूर्ति भीतर थी जिसे पीछे से बाहर लाकर इसके चबूतरे पर प्राचीन वटवृक्ष के नीचे स्थापित कर दिया गया। जिस अधिकारी ने ऐसा किया वह, इस कुकृत्य के कारण, अन्धा हो गया था, ऐसी लोक-श्रुति है। इसी हनुमत्प्रतिमा की अर्चना नन्द, तुलसी और उनके गुरुदेव करते थे। गुरुदेव के वंशज अब भी विद्यमान हैं। मन्दिर के सम्मुख गली के कोने पर एक कूप है जो नृसिंहजी का कहलाता है। लगभग बारह वर्ष हुए मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ जिससे उसके पूर्व रूप में अन्तर हो गया है जो चित्रों से स्पष्ट है। भीतर का भाग प्राचीन है।

(३) **वराह मन्दिर और घाट**—वहाँ गोस्वामीजी के समय में और पीछे तक गंगाजी बहती थी, जिसका साक्ष्य रम्य-भव्य घाट आज भी दे रहे हैं, यद्यपि गगाजी अब वहाँ से चार मील दूर हट गयी हैं। नवीं शताब्दी में वहाँ सोलंकी राजा सोमदत्त राज्य करते थे। कुछ ध्वंसावशेष अभी तक पाये जाते हैं। राजा टोडरमल, महाराणा उदयपुर, अलवर नरेश, एवं अनेक सेठों के बनवाये पक्के घाट, छतरियाँ, कुंज और धर्मशालाएँ हैं। वराहजी का मन्दिर पीछे का निर्माण है और श्वेत-प्रस्तर-निर्मित भगवान् वराह की प्रतिमा भी अपेक्षाकृत नयी है। सूकरक्षेत्र का माहात्म्य 'ब्रह्म पुराण', 'वराह पुराण', 'गर्गसंहिता' आदि पुराणों में वर्णित है। श्री नन्ददास-पुत्र कृष्णदासजी ने भाषा में 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' लिखा है। सूकर-खेत (सोरों) का उल्लेख 'आइने अकबरी' और 'पृथ्वीराज रासो' में भी मिलता है। वहाँ प्रतिवर्ष वराह भगवान् के उपलक्ष्य में मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी से पूर्णिमा तक लक्खी मेला लगता है। सूकरक्षेत्र का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में किया जा चुका है।

(४) **तुलसीदास गृह**—सोरों के योगमार्ग मोहल्ले में तुलसीदासजी का निवास था। पहले इस घर में तुलसीदासजी की दादी की ननसाल थी और इसको राजौरियों का घर कहा जाता था। गृह-कलह से पीड़ित हो, दादी और माता-पिता शिशु तुलसी को लेकर उसमें जा बसे थे। आज यह घर कच्चा, टूटा-फूटा है, न जाने तब से कितनी बार नया बन गया होगा। पहले यह गलकटियों के बीच स्थित था और अब मुसलमानों के अधिकार में है। रत्नावली विवाहित हो यहाँ रही थी, उसकी और उसके पति की पवित्रता के कारण लोग अब भी कनवर रोग की शान्ति के लिए इसकी दीवाल को खुर्च कर मिट्टी ले जाया करते हैं, जिसका उल्लेख मुरलीधर चतुर्वेद ने 'रत्नावली चरित ५८' में किया है। इस घर से कुछ हटकर अलग घर में नन्ददासजी के वंशज रहते हैं।

(५) **सीतारामजी का मन्दिर**—यह बहुत प्राचीन भवन है। इसका विवेचन सूकरक्षेत्र नामक अध्याय में किया गया है। वहाँ हरिहर स्वामी नाम के साधु रहते थे जिन्होंने तुलसीदासजी और नन्ददासजी को संगीत की शिक्षा दी थी।[1]

---

१. तुलसी प्रकास ६२।

(६) सोरों के सामने पक्के सरोवर के पार बदरिया नामक छोटा सा ग्राम है, जिसमें तुलसीदासजी का श्वशुरालय था। श्वशुरालय वाला घर जो रामनरेश त्रिपाठीजी ने देखा था अब एक मंदिर के रूप में है। १६५७ वि० में गंगाजी में बाढ़ आयी थी जिसमें बदरिया डूब गयी, अतः वर्तमान मकान को प्रतीक-मात्र समझना चाहिए।

(ख) वंशज

(अ) **गुरु नरसिंहजीके वंशज**—गुरु नरसिंहजी की पाठशाला के सन्निकट एक भव्य गृह है जिसमें आज भी नरसिंहजी की सुसम्पन्न संतति निवास करती है। नरसिंहजी वसिष्ठ-गोत्री और विर्थरिया चौधरी आस्पदीय सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनकी वंशावली इस प्रकार है :—

होडिलजी, तारनजी, दामोदरजी, और धाराजीतजी चार भाई थे। होडिलजी के नाम पर होडलपुर ग्राम बसा जो सोरों के निकट है। उनके वंशज होडलपुर के चौधरी कहे जाते हैं। तारनजी की संतति मिश्र ब्राह्मणों के यहाँ दत्तक होने से मिश्र हो गयी। धाराजीतजी के दो पुत्र हुए, जिनमें एक घमनावत ब्राह्मण वंश के प्रवर्तक हुए, दूसरे वरवारिया वंश में चले गये।

दामोदरजी के पुत्र चक्रपाणिजी, उनके श्रीधरजी, और उनके वंशीधरजी हुए जो अनेक राजाओं के द्वारा सम्मानित रहे। वंशीधरजी के तीन पुत्र हुए—हरिहरजी, नरसिंहजी और हरिसुखजी। हरिहरजी भागीरथ मंदिर के अधिकारी थे, फ़रीदनगर की जमींदारी चौधरी वंश के अधिकार में थी। हरिसुखजी के वंश के विषय में कोई उल्लेख नहीं।

नरसिंहजी महाराज ने तुलसीदासजी और नन्ददासजी का संरक्षण और अध्यापन किया। ये जयपुर आदि अनेक राजाओं के तीर्थ-गुरु एवं सर्व-सम्मानित रहे। इनके पुत्र थे श्रीकरजी, उनके मुकुन्दजी, उनके गणेशजी, और उनके फूलचन्दजी। फूलचन्दजी के तीन पुत्र थे—उत्तमचन्दजी, डालचन्दजी, और दीपचन्द जी।

डालचन्दजी के पुत्र राधाकृष्णजी, उनके भोलानाथजी और मुरलीधरजी, भोलानाथजी के पुत्र अंगदरामजी और उनके पूषे। मुरलीधरजी के दो पुत्र हुए—देवरियाजी और फ़कीरचन्दजी, और फ़कीरचन्दजी के दो पुत्र गंगानाथजी और रणछोड़जी, इनमें रणछोड़जी के पुत्र प्यारेलालजी और उनके रामनिवासजी थे।

दीपचन्दजी के तीन पुत्र हुए, एक से इमलिया के नगला का चौधरी वंश चला, दूसरे से चुपरे चौधरी वंश, और तीसरे से होली का रामनारायणजी का चौधरी वंश।

उत्तमचन्दजी के पुत्र जवाहरलालजी थे, और उनके चार—प्रसादीलालजी, भूपालीरामजी, शिवदानजी और शिवनारायणजी। प्रसादीलालजी के पुत्र मनसुखजी और छोटेलालजी; और छोटेलालजी के लक्ष्मणजी, गणेशजी और रामलालजी। रामलालजी के हरिवल्लभजी, उनके निमाई रामगोपालजी (कोलवासी) और उनके श्रीनाथजी (लल्ले) और पईजी ; श्रीनाथजी के पुत्र प्रेमनाथजी हुए।

भूपाली रामजी के पुत्र जगन्नाथजी थे।

शिवदानजी के पाँच पुत्र हुए—बदरीनाथजी, बैजूजी, दुर्गीजी, चतुर्भुजजी, और हरदेवजी। इनमें बदरीनाथजी के पुत्र मनोहरजी, और उनके सामनलालजी जिन के दो पुत्र प्रेमीजी और नारायणजी हुए। दुर्गीजी के दो पुत्र थे—गोविंदरामजी और दामोदरजी। गोविंदरामजी के चार पुत्र हुए–गोपीनाथजी, सीतारामजी, किशनलालजी और हरनाथजी। किशनलालजी के हुए शिवस्वरूपजी, पातूजी, गन्नूजी और वल्लभजी। वल्लभजी के प्यारेलालजी और उनके लल्लाजी। हरनाथजी के दो पुत्र हुए टीकारामजी और रणछोड़जी, जिनमें टीकारामजी के सियारामजी और श्यामलालजी और रणछोड़जी के गंगानाथ (छऊ)।

जवाहरलालजी के पुत्र नारायणजी का वंश इस प्रकार चला : नारायणजी के तीन पुत्र थे—बलदेवजी, फूलनाथजी, निम्बुरामजी। बलदेवजी के पुत्र थे गौरीशकर, और उनके रामरत्न। फूलनाथजी के दो पुत्र हुए—द्वारकानाथजी और जुगलकिशोर जी। द्वारकानाथजी के तीन पुत्र हुए—रंगनाथजी, दीनूजी और रामाजी; और रगनाथजी के पुत्र हैं—दशरथ चौधरी (पिस्ते) जी। जुगलकिशोरजी के हुए भीष्म। जवाहरलालजी के पुत्र निम्बुरामजी के तीन पुत्र थे—किशनजी, जंगीजी और मंगलजी।

नरसिंह पाठशाला के प्रथम चित्र में रंगनाथजी, जो अब दिवगत है, तिदरी के प्रथम द्वार के आगे मुंडासा बाँधे बैठे हैं, गुरु नरसिंहजी इनके पिता से दशमी पीढ़ी में थे।

(आ) **नन्ददासजी के वंशज**—इस समय इस वश में श्री कल्लू सुकुल के पौत्र और श्री थानसिंह के पुत्र पण्डित बाबूराम शुक्ल और उनके भतीजे अर्थात् स्व० पं० मुरारीलाल शुक्ल के पुत्र श्री शिवनारायण शुक्ल वर्तमान हैं। उसकी वंशावली अभी तक मुझे प्राप्त नहीं हो सकी है, किन्तु सुना गया है कि वह विद्यमान है।

(ग) जनश्रुति

सोरों में जनश्रुति है कि रत्नावली जिस घर में निवास करती थी उसकी रज धारण करने से आरोग्य लाभ होता है। कवि मुरलीधर चतुर्वेद ने भी 'रत्नावली चरित' में लिखा है:—

चरन सदन रज जासु कोइ। धरत देह रुज रहित होइ ॥१५८॥

एक लोक-चर्चा यह है कि गोस्वामीजी का घर कसाइयों के निकट था :

तुलसी तेरी झोंपड़ी गलकटियन के पास
जौन करे सोई भरे तू कत होत उदास'

नरसिंह मन्दिर के विषय में लोग कहते हैं कि इस में नरसिंहजी की पाठशाला थी। तारी (एटा) में यह जनश्रुति है कि वहाँ गोस्वामीजी की ननसाल थी, जिसका उल्लेख कुछ विस्तार से अन्यत्र किया गया है।

(घ) भाषा-शैली

गोस्वामीजी के 'रामचरितमानस' की भाषा और शैली का साम्य सोरों के

१. तुलसी और उनका काव्य, पृ० ७१।

तत्कालीन अन्य कवियों की भाषा और शैली से है। महाकवि नन्ददास और कवि कृष्णदास ने भी जो क्रमशः गोस्वामीजी के चचेरे भाई और भतीजे लगते थे, चौपाई-दोहों में रचना की है और वह भाषा-शैली की दृष्टि से न तो तत्कालीन ठेठ व्रज ही है और न अवधी ही, किन्तु व्रजावधी है। तुलसी-पत्नी के उन दोहों की जो उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों में जनश्रुति के रूप में मिले हैं, तथा 'दोहारतनावली' की रचना व्रजावधी है। कवि मुरलीधर चतुर्वेद की व्रजभाषा भी अवधी से संमिश्रित है। सोरों की विशेषतः उसके आस-पास के ग्राम-वासियों की भाषा भी व्रजावधी है। पं० गोविंद वल्लभ भट्ट और पं० रामनरेश त्रिपाठी तुलसीदासजी के कुछ ऐसे शब्दों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जिनका प्रयोग उनकी समझ से सोरों में ही होता है, अन्यत्र नहीं। वे शब्द ये हैं: तायो (जाँचा), और को (आदि का), चकडोरि, कुटिलकीट (केंकड़े की जाति का एक कीड़ा जिसे सोरों में कुटीला कहते हैं, यह कीट अपनी माँ के पेट को फाड़ कर निकलता है और वह उसके जन्म लेते ही मर जाती है), और तिजरा (इसका अर्थ कुछ टीकाकारों ने तिजारी ज्वर किया है, पर सोरों में यह शब्द पसली चलने के रोग को कहते हैं और इसकी शान्ति के निमित्त लोग आटे का पुतला बनाकर चौराहे पर डाल कर चले जाते हैं और उसे फिर नहीं देखते।) उक्त शब्दों से सम्बद्ध वचन इस प्रकार हैं :

स्रवन नयन मन लग लगे सब थलपति तायो (विनय)
हौं तो बिगरायल और को (विनय)
खेलत अवध खोरि गोली भँवरा चकडोरि (गीतावली)
तनु जनेउ कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिताहू (विनय)
स्वारथ के साथिन तज्यो
तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो (विनय)

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भौंरा और चकडोरी के सम्बन्ध में अपनी शंका की है कि 'जैसा हमने देखा है, राजापुर के समर्थक कहते हैं कि ये खेल राजापुर में ही विशेष प्रचलित हैं। साथ ही यदि आज इन खेलों का प्रचार उपर्युक्त स्थानों में अत्यन्त कम हो—अथवा न हो—तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि तुलसीदास के समय में भी इन स्थानों में उपर्युक्त खेलों की परिस्थिति यही थी'।[1] गुप्तजी का कथन सत्य हो सकता है, यद्यपि उनके तर्क के पूर्वापर वाक्य विरोधात्मक प्रतीत होते हैं। 'तायो' 'और को', 'तिजरा' तथा 'कुटिल कीट' के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं।

त्रिपाठीजी ने कुछ और शब्दों का उल्लेख किया है, जिनका प्रयोग मारवाड़ में होता है, यथा माय-जायो, मींजो (हाथ फेरा), मैन (मैण, मोम), मोखे (झरोखे) माठ (घड़ा), मौंगी (चुप), मूकी (छोड़ी), बियो (दूसरा, गुजराती बीजा), म्हाको (मुझको) दारू (बारूद), नारि, नार (नाड़ गर्दन)। तुलसीदासजी की पंक्तियाँ ये हैं—

तोसे माय जायो को (विनय०)। **मींजो गुरु पीठ** (विनय०)

मैन के दसन कुलिस के मोदक (श्रीकृष्ण गी०)
नयन बीस मन्दिर के मोखे (गीतावली)
पिघले हैं आँच माठ मानौ घिय के (गीता०)
मोंगी रहि समुझि प्रेमपथ न्यारो (गीता०)
मन मानि गलानि कुबानि न भूकी
कहाँ रघुबीर सो बीर बियो है (कविता०)
मन्द मति कन्त सुन मन्त म्हाको (कविता०)
काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल (दोहा०)
जियत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि (दोहा०)

उपर्युक्त मारवाड़ी शब्दों में से अनेक तो आज भी सोरों, कासगंज, हाथरस, मथुरा में बोले जाते हैं। सोरों और मथुरा में राजपूताने से यात्री आते रहते हैं। कुछ शब्दों का प्रयोग नन्ददासजी ने भी अपनी रचनाओं में किया है। अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग-बाहुल्य से त्रिपाठीजी ने यह अनुमान किया है कि गोस्वामीजी पश्चिमी प्रान्त के निवासी थे।[१] राजापुर पक्ष के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन में राजापुर अथवा उसके आस-पास प्रयुक्त होने वाले इन शब्दों का उल्लेख करते हैं: फुर, पनही, गभुआर, महतारी, फरसा, कदराहू, किधौं, पुचकारे, ओहार, कुराई, बिआना, समेटा, माहुर, चिराव, इत्यादि।[२] पर 'किधौं' का प्रचुर प्रयोग तो सूरदासजी की रचनाओं में भी है, और पनही, महतारी, फरसा, ब्याना, समेटा, पुचकारे का प्रयोग जनभाषा में दिल्ली तक मिलता है। गोस्वामीजी लगभग ३६ वर्ष की अवस्था में सोरों को त्याग कर पूर्वी जिलों में परिव्रज्या, तथा अयोध्या, राजापुर, चित्रकूट और काशी में निवास, करते रहे। उन्होंने अपनी आयु के लगभग ६६ वर्ष पूर्व में व्यतीत किये। इतने दीर्घ काल में यदि उन्होंने कतिपय अवधी-मैथिली शब्दों को अपना लिया तो क्या आश्चर्य? कुछ विद्वानों के मतानुसार गोस्वामीजी की इष्टभाषा (इष्टदेव की भाषा) अवधी भले ही हो पर उनकी अपनी भाषा व्रजी ही थी जिसका उपयोग उन्होंने विनयपत्रिका में अपने हृदय की आर्त्त भावना को स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त करने में किया है। तर्क के निमित्त यदि उन्हें जन्मत: राजापुर या अयोध्या का मान लिया जाय तो यह आपत्ति हो सकती है कि गोस्वामीजी पश्चिमी प्रान्त में तो कुछ ही समय के लिए पधारे थे, वह भी व्रज-यात्रा करने, अतएव इतने थोड़े समय में वे मारवाड़ी, ब्रजी और अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग कैसे करने लगे? यद्यपि गोस्वामीजी की केवल भाषा यह निर्णय नहीं कर सकती कि वे कहाँ उत्पन्न हुए थे, तथापि कारण-समष्टि में भाषा का साक्ष्य सहयोग-दायक अवश्य है।[३]

(ङ) गोस्वामीजी का आत्मपरिचय

गोस्वामीजी के कुछ वचन और कूट आत्मपरिचयात्मक समझे जाते हैं, जिनका विवरण नवम अध्याय में यथास्थान उपलब्ध है।

---

१. तुलसी और उनका काव्य, पृ० ७६।
२. तुलसीदास, माताप्रसाद गुप्त, पृ० १५०।
३. अधिक विवेचन के लिए देखिये अध्याय १० क, ग, घ।

(च) पाण्डुलिपियाँ

पण्डित दशरथ शास्त्री[1] एवं उनके शिष्य पण्डित गोविन्दवल्लभ भट्ट को तथा अन्य कतिपय व्यक्तियों को भी कुछ हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त हुईं, जिनसे तुलसीदास, रत्नावली, नन्ददास, और कृष्णदास की जीवनियों और रचनाओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ये पुस्तकें मुख्यतः एटा और बदायूं जिलों से प्राप्त हुई थीं और सर्वथा अज्ञात रहीं। सन् १९३९ ई० के फ़रवरी और जून के 'विशाल भारत' में मुझे रत्नावली और नन्ददास पर कुछ लिखने का सौभग्य प्राप्त हुआ था। तब से हिन्दी-जगत् की विशाल जनता को इनका आभास सर्वप्रथम मिला। उस समय से कतिपय और भी पाण्डुलिपियाँ मेरे देखने में आयी हैं। उन सबका समालोचनात्मक विवरण आगामी अध्याय में दिया जायगा। उसमें जिन हस्त-लिखित पुस्तकों का निर्देश है, उनमें से ६ और ७ संख्यक पुस्तकें कासगंज के हरगोविन्दजी पण्डा से और ८ संख्यक पुस्तक पं० वेदव्रत शर्मा से प्राप्त हुई थी। मुझे तो अन्य सभी का यथेच्छ दर्शन पण्डित भद्रदत शर्मा के प्रभूत साहाय्य से हुआ।

(२) बाह्य सामग्री

निम्नलिखित सामग्री ऐसी है जो भारत में यत्र-तत्र बिखरी हुई है और गोस्वामीजी विषय में सोरों-सामग्री पर प्रकाश डालती अथवा उसका समर्थन करती है, यथा:—

(क) नन्ददास का विनय-पद

इस पद में नन्ददासजी ने अपने बड़े भाई तुलसीदासजी की वन्दना की है। इससे प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी शेष-सनातन वंश के थे और नन्ददासजी के समय में ही संत-जन उन्हें वाल्मीकि का अवतार कहने लगे थे। 'रामचरितमानस' का बड़ा आदर हो चला था। भगवान् शिव ने उनकी पुस्तक पर 'सही' लिख दिया और भगवान् कृष्ण ने उन्हें भगवान् राम के रूप में दर्शन दिये तथा नन्ददासजी पर तुलसीदासजी का बहुत प्रभाव पड़ा था। पद इस प्रकार है

श्रीमत्तुलसीदास स्व गुरु भ्राता पद वन्दे।
शेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनन्दे॥
रामचरित जिन कीन्ह तापत्रय कलिमल हारी।
करि पोथी पर सही आदरेउ आप पुरारी॥
राखी जिनकी टेक मदन मोहन धनुधारी।
वाल्मीकि अवतार कहत तेहि सन्त प्रचारी॥
नन्ददास के हृदय नयन को खोलेउ सोई।
उज्जवल रस टपकाय दियो जानत सब कोई॥

श्री रामचन्द्र वैद्य शास्त्री इस वन्दना को अप्रामाणिक समझते हैं। उन्होंने यह जानकारी प्राप्त की कि यह वन्दना १९८७ वि० में रामायणांक के एक लेख में प्रकाशित हुई जिसे बालकराम विनायक जी ने लिखा था। तदनन्तर 'मानसांक' के मुखपृष्ठ पर

१. नवीन भारत, २९-१०-१९५२।

यह कविता प्रकाशित हुई थी। वैद्यशास्त्री जी की आशंका है कि इस वन्दना में तुलसीदास जी को नन्ददासजी का गुरु-भ्राता 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर लिख मारा है। 'गुरु-भ्राता' का अर्थ है गुरु-भाई अर्थात् गुरुजी का पुत्र जो साथ रहा या पढ़ा हो। दूसरी आपत्ति है 'शेष सनातन' की विद्यमानता पर, क्योंकि 'मूल गोसाईं चरित' में इन्हें तुलसीदासजी का गुरु माना गया है[1]। सोरों-सामग्री के अनुसार शेष और सनातन गोस्वामी के पूर्वज[2] थे और 'गुरु' शब्द का अर्थ है 'बड़ा' और उस समय भी इसका इस अर्थ में प्रयोग प्रचलित रहा है। वन्दना की भाषा भी व्रजावधी है। रत्नावली ने भी लिखा है :

शेष सनातन कुल सुकुल गेह भयो पिय स्याम।१७।

फिर भी कुछ विद्वानों की धारणा है कि नन्ददास ग्रन्थावली में अनुपलब्ध होने के कारण यह पद अप्रामाणिक है, मुझे भी इस पद पर कोई आग्रह नहीं।

(ख) नाभादासजी की प्रशस्तियाँ

नाभादासजी ने भक्तमाल में तुलसीदासजी और नन्ददासजी पर जो प्रशस्तियाँ लगभग १६६० वि० में लिखीं वे सोरों-सामग्री का समर्थन करती हैं।[3] तुलसी-प्रशस्ति में तुलसीदासजी को वाल्मीकि का अवतार बताया गया है, जिससे नन्ददास जी के उपर्युक्त पद की पुष्टि होती है। वह है :

त्रेता काव्य निबन्ध करी शत कोटि रमायन।
इक अक्षर उच्चरें ब्रह्म हत्यादि परायन।
अब भक्तन सुख देन बहुरि लीला विस्तारी।
राम-चरन-रस मत्त रहत अह निशि व्रतधारी।
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौको लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।।

इस पर प्रियादास जी ने अनेक छन्दों में टीका की है। एक यह है :

तिया सो सनेह बिन पूछे पिता गेह गई।
भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आये हैं।
वधू अति लाज भई रिस सों निकस गई।
प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाये हैं।।

उक्त छन्द में 'वाही ठौर' को स्पष्ट करते हुए सेवादासजी अपनी टीका में इस प्रकार लिखते हैं :

सूनो लखि गेह उमड्यो तिय-सनेह जिय
रत्नावली दर्श हेत नैन अकुलाये हैं।
भादों की अरध राति चंचला चमकि जाति
मन्द मन्द बिन्दु परें घोर घन छाये हैं

---

१. तुलसी सत्स्वरूप दर्शन अथवा माया विनाश, पृ० ८४-८६।
२. कृष्णदास वंशावली।
३. 'दो सौ बावन वैष्णव वार्ता' में विश्लेषणात्मक अध्ययन, पृ० ६।

ऐसे में तुलसी खेत सूकर सों मोद भरे
चपल चाल चलत जात गंगधार धाये हैं।
शव पै सवार ह्वै गंगधार पार करी
बदरी ससुरारि जाय पौरिया जगाये हैं ।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पत्नी के पीहर चले जाने पर तुलसीदास जी सूकर-क्षेत्र से गंगाजी पार कर अपनी पत्नी रत्नावली से मिलने ससुराल बदरिया पहुँचे थे। उस समय भादों की अर्द्ध-रात्रि थी और मन्द-मन्द वर्षा हो रही थी। नाभाजी ने नन्ददास जी के विषय में भी निम्नलिखित षट्पदी उपस्थित की है :

लीला पद रस रीति ग्रन्थ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस ज्ञान उजागर।
प्रचुर पयधलों सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित भक्त पद रेनु उपासी।
चन्द्रहास अग्रज सुहृद प्रेम पय में पगे।
श्री नन्ददास आनन्द निधि रसिक सुप्रमुदित रंग मगे ।।

इससे स्पष्ट है कि महाकवि नन्ददास बड़े विद्वान् थे और रामपुर ग्राम के निवासी सुकुल आस्पदी तथा चन्द्रहास के बड़े भाई थे। अतएव यह सूचना सोरों-सामग्री के अनुकूल पड़ती है। उक्त षट्पदी के आरम्भ में सेवादास ने लिखा है : 'तुलसीदास जी कही व्रज में मति जाहि। जब विधि चुके फिरि आयवो जायवो कहाँ तुलसीदासजा को उत्तर दीयो।'

(ग) अष्ट सखामृत

राम भगत तुलसी अनुज नन्ददास व्रजख्यात।
दुज सनौढिया सुकुल कवि कृष्ण भगत अवदात ।। १
कर्यौ राम तें स्याम निज वदलि इष्ट अरु गाम।
रच्यौ स्याम सर बाछरू हरि बलदाऊ धाम ।। ३
सोंपि अनुज चन्दहास कर सुत दारा धन धाम।
आये सूकर खेत तजि व्रज वसि सेवत स्याम ।। ४
कृष्ण राम के रूप भए नन्ददास मन आनि।
लखि तुलसी मन चलि रहे प्रान जोरि जुग पानि ।। ७
रामायन भाषा विरचि भ्राता करी प्रकास।
देखि रची श्री भागवत भाषा श्री नन्ददास ।। ८

प्राणेश कवि के[1] उक्त लेख से स्पष्ट है कि नन्ददासजी रामभक्त तुलसीदासजी के अनुज, जाति से सुकल आस्पदीय सनाढ्य ब्राह्मण, तथा सूकर-क्षेत्रान्तर्गत रामपुर ग्राम के निवासी थे। उनके इष्टदेव पहले राम थे, फिर कृष्ण हो गये, और उन्होंने कृष्ण-भक्ति के आवेग में अपने ग्राम का नाम भी परिवर्तित कर दिया। सूकरक्षेत्र को

१. ब्रजभारती, माघ २००० वि०, ३-४।

त्याग और घर का सब भार छोटे भाई चन्द्रहास को सौंप, वे व्रज में निवास करने लगे। जब देखा कि बड़े भाई तुलसीदासजी ने हिन्दी भाषा में 'रामचरितमानस' लिखा है तो उन्होंने भी 'भागवत' के अंश का हिन्दी रूपान्तर कर दिया। प्राणेश कवि ने नाभादासजी का अनुमोदन और भी अधिक सूचना के साथ किया है। 'अष्ट सखामृत' की एक प्रति चैत्र शुक्ला ५ शुक्रवार १८६५ वि० की पं० रमणलाल वैद्य गोकुल से प्राप्त है। गणना से यह तिथि १ अप्रैल १८०८ ई० है। इसकी एक प्रति पौष कृष्णा ३० शनिवार सं० १७६७ को, गोवर्द्धन में, वैष्णव ग्वालदास ने की जो अब बम्बई के गोस्वामी गोकुलनाथजी महाराज (बड़ा मन्दिर) के पास है।

(घ) भारतेन्दु का पद

श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जो भक्तमाल लिखा है उसमें नन्ददासजी की इन प्रशस्तियों से प्रकट है कि नन्ददासजी तुलसीदासजी के छोटे भाई एवं श्री विट्ठलनाथजी के सेवक थे, और उन्होंने भागवत का भाषानुवाद किया जिसको उन्होंने गुरुजी के कहने से और ब्राह्मणों की आजीविका-नाश के भय से जल में प्रवाहित कर दिया।

तुलसीदास के अनुज मदा विट्ठल पदचारी।
अन्तरंग हरि सखा नित्य जेहि प्रिय गिरधारी॥
भाषा में भागवत रची अति सरस सुहाई।
गुरु आगे द्विज कथन सुनत जल माँहि डुबाई॥
पंचाध्यायी हठ करि रखी तब गुरु घर द्विज भय हरत।
श्री नन्ददास रस रास रत प्रान तज्यो सुधि सो करत॥८०॥ उत्तरार्द्ध[1]
श्री तुलसीदास प्रताप तें नीच ऊँच सब हरि भजे
नन्ददास अग्रज द्विज कुल मति गुन गन मंडित
कबि हरिजस गायक प्रेमी परमारथ पंडित
रामायन रचि राम-भक्ति जग थिर करि राखो
थोरे में बहु कह्यो जगत सब थाको साखो
जग लीन दीन हू जा कृपा बल न रामचरित हि तजे
श्री तुलसीदास॥ १७२[2]

(ङ) वैष्णव वार्ताएँ और वचनामृत

भारतेन्दुजी के 'भक्तमाल' से भी कहीं प्राचीनतर साक्ष्य वैष्णव वार्त्ताओं और वचनामृतों का है। वार्त्ताओं में चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ताएँ हैं। वचनामृतों में उल्लेखनीय हैं श्री गोकुलनाथ जी के और काका वल्लभजी के। इस 'अक्षयनिधि के संचय एवं परिदर्शन का श्रेय जहाँ श्री गोकुलनाथजी को दिया जा सकता है, वहाँ उसके वर्गीकरण और सज्जीकरण का श्रेय हरिरायजी महानुभाव

१-२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग उत्तरार्द्ध भक्तमाल. ना० प्र० सभा, २०१० वि०, एवं उत्तरार्द्ध भक्तमाल, प्रकाशक रा० ब० श्री रामरण विनयसिंह, खडग विलास प्रेस, १९२७, हरिश्चन्द्राब्द ४३।

को समधिगत होता है'।[1] वार्त्तामृतों से तुलसीदासजी और नन्ददासजी का भ्रातृत्व स्पष्ट है और यह भी विदित होता है कि नन्ददासजी सनाढ्य ब्राह्मण थे और रामपुर नामक ग्राम मे जन्मे थे। उक्त वैष्णव साहित्य से आवश्यक उद्धरण नीचे दिए जा रहे है :—

(१) **अष्टछापी वार्ता**—श्री गोकुलनाथजी के समकाल की सबसे प्राचीन प्रति विद्या-विभाग कॉकरौली मे उपलब्ध है।[2] चौरासी वैष्णव वार्तान्तिर्गत 'गोसाईंजी के सेवक चारि अष्टछापी तिनकी वार्ता' की प्रतिलिपि चुन्नीलाल नामक सनाढ्य ब्राह्मण ने गोकुल मे यमुना तट पर चैत्र सुदी ५ को १६६७ वि० मे की थी। इसमे लिखा है : "अब श्री गुसाईंजी के सेवक नन्ददास सनौढिया ब्राह्मण तिनके पद गाइयत है सो वे पूर्व मे रहते तिनकी वार्ता॥ सो वे नन्ददास और तुलसीदास दोइ भाई हते॥ तामे बडे तो तुलसीदास छोटे नन्ददास॥ सो वे नन्ददास पढे बहुत हते॥ और तुलसीदास तो रामानन्दी के सेवक हते॥ सो नन्ददासजी को हू रामानन्दी के सेवक कीए हते। सो नन्ददास को तो लौकिक विषे बहुत आसक्ति हुती। सो जो कहूँ भवैया नाचते सो तहाँ जाय देखते॥ और जो कोऊ गावते तहाँ जाइकें सुनते॥ अपनो काम काज छोडि के राग-रंग सुनते॥ तब बडे भाई तुलसीदास बहुत समझावते और कहते जो तू जहाँ तहाँ भटकत फिरत है सो आछो न्ाही॥ परि नन्ददासजी माने नाही।" इस अष्टछापी वार्त्ता के अनुसार तुलसीदासजी बडे भाई थे और नन्ददासजी छोटे। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे, नन्ददास बहुत पढे-लिखे थे। वे पहले पूर्व मे रहते थे। इस 'पूर्व' शब्द को लेकर कुछ लोगो की कल्पना की उडान अयोध्या या काशी तक जा पहुँचती है, किन्तु सूरदासजी ने गोकुल की गोपियो के द्वारा 'पूर्व' का प्रयोग 'मथुरा' के लिए करवा दिया है : जब हरि गवन कियौ पूरवलौ तब लिखि जोग पठायौ।[3] इस 'पूर्व' का स्पष्टीकरण उपर्युक्त एवं नीचे के भी कतिपय उद्धरणो तथा विचार-विमर्श मे उपलब्ध है।

(२) **संवत् १७५२ को 'भाव प्रकाश' वाली वार्ता**—यह प्रति परीख द्वारकादास के पास है।[4] इसमे लिखा है : "अब श्री गुसाईंजी के सेवक नन्ददासजी सनाढ्य ब्राह्मण रामपुर मे रहते जिनके पद अष्टछाप मे गइयत है तिनकी वार्ता। सो वे तुलसीदासजी के भाई सनोढिया ब्राह्मण हते। सो तुलसीदासजी तो बडे भाई और छोटे भाई नन्ददासजी है। सो वे नन्ददासजी पढे बहुत हते। और तुलसीदास तो रामानन्दीन के सेवक हते।"

(३) **भाव प्रकाश**—श्री हरिरायजी (१६४७-१७७२ वि०) ने दो सौ बावन वैष्णव वार्ताओ का सम्पादन किया और यत्र-तत्र भाव को स्पष्ट करने के लिए अपनी ओर से स० १७२९ के पश्चात् टीका लिखी। नन्ददासजी की वार्ता पर वह टीका इस प्रकार है—

---

१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, प्रथम खण्ड, आमुख, श्री कण्ठमणि शास्त्री।

२. वही।

३. भ्रमर गीतसार, पद १०४।

४. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, खण्ड १, श्री कण्ठमणि शास्त्री।

"अब श्री गुसाईंजी के सेवक नन्ददासजी सनाढ्य ब्राह्मन रामपुर में रहते जिनके पद अष्टछाप में गाइयत है तिनकी वार्ता को भाव कहत हैं :—

भाव प्रकाश—ये नन्ददासजी लीला में श्री ठाकुरजी के 'भोज' सखा अंतरंग तिनको प्राकट्य हैं। सो दिवस की लीला में तो ये 'भोज' सखा हैं, और रात्रि की लीला में श्री चन्द्रावलीजी की सखी 'चन्द्र रेखा' इनको नाम है। सो 'चन्द्ररेखा' 'चंपकलता' तें प्रगटी है। तातें उनके सात्विक भावरूप है। सो ये पूरव में 'रामपुर' गाम में जन्मे।[1]

औरंगजेब के उपद्रव के कारण श्रीनाथजी का देवविग्रह व्रज से मेवाड़ ले जाया गया था। उसी समय हरिरायजी भी मेवाड़ चले गये। 'भाव प्रकाश' का निर्माण मेवाड़ में हुआ और 'रामपुर' मेवाड़ से पूर्व में है ही।

(४) **'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'**—इसका सम्पादन गोस्वामी हरिरायजी ने १७३० वि० के लगभग किया।[2] इसकी दो सौ इकतालीसवीं वार्ता नन्ददासजी की है और उसमें तुलसीदासजी का भी उल्लेख, नन्ददासजी के भाई के नाते, अनेक स्थलों पर हुआ है, जिनसे विदित होता है कि नन्ददासजी और तुलसीदासजी भाई-भाई और सनाढ्य ब्राह्मण थे। तुलसीदासजी नन्ददासजी के लिए चिन्तित रहते; नन्ददासजी ने उन्हें कृष्णजी के दर्शन भगवान् राम के रूप में कराये। दोनों भाइयों का पत्र-व्यवहार बड़ा मनोरम है। 'वार्त्ता' के आवश्यक उद्धरण इस प्रकार हैं :

"सो वे तुलसीदासजी के भाई सनोढिया ब्राह्मन हते। सो तुलसीदासजी तो बड़े भाई, और छोटे भाई नन्ददासजी हते। सो वे नन्ददासजी पढ़े बहुत हते। तुलसीदासजी रामानंदीन के सेवक हते। सो नंददास हू कों रामनंदीन को सेवक करवायो। उन नंददास कों लौकिक विषय में प्रीति बोहोत हती। जो कहूँ भवैया नाँचे तो तहाँ जाय कैं ठाढ़े रहें, सुनवे लगें। सो तुलसीदासजी नन्ददास कों बोहोत समुझावें जो जहाँ तहाँ तू मति बैठ्यो करे। सो वे नन्ददास मानते नाहीं।

"सो कछुक दिन में एक संग पूरव को चल्यो तहां तें, श्री रनछोड़जी के दरसन कों श्री द्वारकाजी कों चल्यो। तब नंददास ने मन में बिचारी, जो बने तो मैं ऐसे संग में श्री रनछोड़जी के दरसन करि आऊँ। तब नन्ददास ने तुलसीदासजी सों कह्यो, जो तुम कहो तो मैं या संग में श्री रनछोड़जी के दरसन करि आऊँ। तब तुलसीदासजी ने नन्ददास कों बोहोत समझाये, जो कहूँ मति जाय, मारग में दुःख बोहोत हैं। अनेक दुःसंग हैं। जो जायगो तो तू भ्रष्ट होय जायगो। तातें तू श्री रनछोड़जी ताईं न पहुँच सकेगो, बीच ही में रहेगो। तातें श्री रघुनाथजी को स्मरन कर और अपने घर में बैठ्यो रहे। तब नन्ददास ने तुलसीदासजी सों कह्यो जो मेरे तो श्री रघुनाथजी हैं, परि मैं एक बार श्री रनछोड़जी के दरसन कों अवश्य करि के जाऊँगो। तुम कोटि उपाय करो पर मैं न रहुँगो। तब तुलसीदाजी ने जान्यो, जो

१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० २५६, शुद्धाद्वैत एकेडमी, कांकरौली।

२. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खण्ड, पृ० १५६-२८०; हरिराय-प्रणीत, सम्पादक : गो० श्रीव्रजभूषण शर्मा और द्वारकादास परीख, प्रकाशक : शुद्धाद्वैत एकेडमी, कांकरौली, प्रथम संस्करण, २०१० वि०।

यह न रहेगो, तब संग में जो मुखिया सिरदार हतो, ताके पास नंददास कों ले कै तुलसीदासजी गये। और मुखिया सों नंददासजी की मलामन तुलसीदासजी ने दीनी, जो यह नंददास तुम्हारे संग आवत है। तातैं तुम मारग में याकी खबरि राखियो। ऐसो करियो, जो इहाँ फेरि नंददास आवे, काहु गाम में रहि न जाय। तब वा मुखिया ने कह्यो जो आछो, या बात की चिन्ता मति करो। ता पाछे वह संग चल्यो सो वाके संग नंददास हू चले···।। (वार्ता प्रसंग १)

"और एक समय श्री मथुराजी को संग पूरब कों चल्यो, गयाश्राद्ध करिबे कों। ता संग में दस पाँच वैष्णव हू हते। तत्र तुलसीदास ने सुन्यो जो संग आयो है। तब वा संग में तुलसीदासजी ने आइ कै पूछी, जो एक नंददास ब्राह्मन इहाँ तें गयो है सो मथुराजी में सुन्यो है। सो तुम ने कहूँ देख्यो होय तो कहो। तब एक वैष्णव ने कही, जो तुलसीदासजी एक नंददास तो श्री गुसाईंजी को सेवक भयो है। सो वह नंददास पहले तो अत्यन्त विषयी हतो, सो अब तो बड़ा ही कृपापात्र भगवदीय भयो है। तब तुलसीदासजी अपने मन में विचारे, जो ऐसो तो वही नंददास है, सो श्री गुसाईंजी को सेवक भयो है। जो अब तो उनको मेरी शिक्षा न लगेगी। तब तुलसीदासजी ने उन वैष्णवन सों कह्यो, जो मैं तुम कों एक पत्र देऊँ, ताको जुवाब तुम मोकों मँगाय देउगे ? तब उन वैष्णवन ने तुलसीदासजी सों कही, जो काल्हि मेरो मनुष्य श्री गोकुल को चलेगो। जो तुम को पत्र देनो होय तो लिख के वेगि तैयार करियो। तब तुलसीदासजी ने ताही समें पत्र लिखि कै तैयार कियो। तामें लिख्यो, जो तू पतिव्रत धर्म छोड़ि व्यभिचार धर्म लियो, सो आछो नाहीं कियो। अब तू आवे तो फेरि तोकों पतिव्रत धर्म बताऊँ। सो यह पत्र तुलसीदासजी ने वा वैष्णव के हाथ दियो। सो वह पत्र अपने पत्रन में धरिकै वा वैष्णव ने कासिद के हाथ दियो। सो वह पत्र लेकै श्री गोकुल आयो। तब कासिद ने दंडवत् करि कै वे पत्र श्री गुसाईंजी के आगे धरे। तब उन पत्रन में नन्ददास के नाम को जो पत्र हतो सो निकस्यो। तब श्री गुसाईंजी ने वह पत्र वांचिकै नंददास कौं बुलाय कै दियो। तब नंददास ने वह पत्र लेके बाँच्यो। पाछे वा पत्र को प्रति उतर लिख्यो, जो मेरे तो प्रथम रामचन्द्र जी सों विवाह भयो हतो। सो बीच में श्री कृष्ण दौरि आइ कै लूटि ले गये। सो रामचन्द्रजी में जो बल होतो तौ मोकों श्री कृष्ण कैसे ले जाते ? और श्री रामचन्द्रजी तो एक पत्नीव्रत हैं। सो दूसरी पत्नी कों कैसे संभार सकेंगे ? एक पत्नी हू बराबरि सँभारि न सकें, सो रावण हरि कै ले गयो। और श्री कृष्ण तो अनन्त अबलान कै स्वामी हैं, और इनकी पत्नी भये पाछें कोई प्रकार कौ भय रहे नाहीं है। एक कालावच्छिन्न अनन्त पत्नीन कों सुख देत हैं। जासों मैंने श्री कृष्ण पति कीने हैं। सो जानोगे। सो मैं तो अब तन मन धन यह लोक परलोक श्री कृष्ण को दीनो है। (और) अब तो मैं परवस होइ कै पर्यो हूँ। ऐसो नंददास ने तुलसीदासजी कों पत्र लिख्यो। तामें एक पद यह लिख्यो। सो पद—

राग आसावरी

कृष्ण नाम जब तें श्रवन सुन्योरी आली भूली री हों तो बावरी भई री।
भरि-भरि आवैं नैन चित्त न परत चैन मुख हू न आवे बैन।

तन की दसा कछू और ही भई री।
जेतेक नेम धरम व्रत कीनेरी मैं बहु विधि अंग अंग भई हों तो श्रवन गई री।
'नददास' जाके श्रवन सुने यह गति माधुरी मूरति के धौं कैसी दई री॥

"यह कीर्तन नंददास ने पत्र में लिखिके वह पत्र कासिद को दियौ। सो वह कासिद कितेक दिनन में आयो। सो वे पत्र सब वैष्णव को दिये। तब उन वैष्णव ने वह नंददास को पत्र बाँचि के तुलसीदास कों बुलाय कै दीनो। पाछें तुलसीदास ने नंददास कौ पत्र बाँचि के अपने मन में जान्यो, जो अब नंददास इहाँ कबहू न आवेगो। ऐसो जानि कै तुलसीदासजी अपने घर आए।"......(वार्ता प्रसंग ३)

उक्त वार्त्ता-प्रसंग १ और ३ उस समय के प्रतीत होते हैं जब गोस्वामीजी 'तुलसी-प्रकास' (७९-९४) के अनुसार, चन्द्रहास को घर पर छोड़ अपनी दादी, पत्नी और नंददासजी को लेकर अन्य लोगों के साथ १५९६ वि० में तीर्थ-यात्रा के निमित्त काशी पधारे और वहीं से नन्ददासजी द्वारका के लिए एक संग में चल पड़े थे। पर वे व्रज में रम गये और जब पाँच मास पश्चात् उनका पत्र मिला तो तुलसीदासजी फाल्गुन में सोरों लौट आये। उसी मास दादी के देहान्त पर, चन्द्रहासजी नंददास को लिवा लाये, और तदनन्तर तुलसी एवं नन्द दोनों ही साहित्य-सर्जन और कथा-कथन आदि में दत्त-चित्त रहे।

"और एक समैं तुलसीदासजी ने विचार कियो, जो नंददास श्री गोकुल में है सो मैं जाइ कै लिवाय लाऊँ। यह विचारि कै तुलसीदास काशी तें चले, सो कितेक दिन में श्री मथुराजी में आइ पहोंचे। तब श्री मथुराजी में पूछे, जो इहाँ नंददास ब्राह्मन काशी तें आयो है, सो तुम जानत होउ तो बताओ, जो वह कहाँ होयगो? तब काहू ने कह्यो, जो एक नंददास तो आइ कै श्री गुसाईंजी को सेवक भयो है, सो तो गोकुल होयगो, कै गिरिराज होयगो। तब तुलसीदासजी प्रथम तो श्री गोकुल आये। सो श्री गोकुल की सोभा देखि कै तुलसीदास कौ मन बोहोत ही प्रसन्न भयो। पाछें तुलसीदासजी मन में विचारें जो ऐसो स्थल छोड़ि कै नन्ददास कैसे चलेगो? तब तुलसीदास ने तहाँ पूछ्यौ, जो एक नंददास ब्राह्मन है, सो कहाँ होयगो? तब काहू ने कही, जो एक नन्ददास तो श्री गोसाईंजी कौ सेवक भयो है। सो तो श्री गुसाईंजी श्री नाथजी द्वार गये हैं, सो उहाँही होयगो। तब तुलसीदासजी फेर मथुरा में आय कै श्री जमुनाजी के दरसन करे, पाछें तहाँ ते श्री गिरिराजजी गये। सो उहाँ परासोली में तुलसीदासजी नन्ददासजी कों मिले। तब तुलसीदासजी ने नंददास सों कही, जो तुम हमारे संग चलो। सो गाम रुचे तो अयोध्या में रहो, पुरी रुचे तो कासी में रहो, पर्वत रुचे तो चित्रकूट में रहो, बन रुचे तो दंडकारण्य में रहो। ऐसे बड़े-बड़े धाम श्री रामचन्द्रजी ने पवित्र करे हैं। तब नन्ददास ने उत्तर देयवे को यह पद गायो। सो पद—

राग सारंग

जो गिरि रुचे तो बसो श्री गोवर्द्धन, गाम रुचे तो बसो नंदगाम
नगर रुचे तो बसो श्री मधुपुरी सोभा-सागर अति अभिराम॥ १॥

सरिता रुचे तो बसो श्री यमुना तट, सकल मनोरथ पूरन काम।
नंददास कानन रुचे तो बसो भूमि वृन्दावन धाम ।। २ ।।

पाछें नन्ददास सूरदासजी सों मिलि के श्री नाथ जी के दर्शन करवे कों गये। तब तुलसीदासजी हू उनके पाछें पाछे गये। जब श्री गोवर्द्धन नाथ जी के दरसन करे तब तुलसीदासजी ने माथो नँवायो नाहीं। तब नन्ददास जानि गये, जो ये श्री रामचन्द्र जी बिना और दूसरे को नहीं नमे है। तब नन्ददास ने मन में विचार कीनो, जो यहाँ और श्री गोकुल में इनकों श्री रामचन्द्रजी के दरसन कराऊँ। तब ये श्री कृष्ण को प्रभाव जानेगे। पाछें नन्ददास ने श्री गोवर्द्धन नाथ जी सों विनती करी। सो दोहा—

कहा कहों छवि आज की भले बने हो नाथ
तुलसी मस्तक तब नमे धनुष बान लेहु हाथ ।।

यह बात सुनि के श्री नाथ जी कों श्री गुसाईं जी की कानि तें विचार भयो, जो श्री गुसाईं जी के सेवक कहे सो हमको मान्यो चाहिए। पाछे श्री गोवर्द्धन जी ने श्री रामचन्द्र जी को रूप धरि के तुलसीदासजी कों दरसन दिये। तब तुलसीदास ने श्री गोवर्द्धन नाथ जी कों साष्टाँग दंडवत् करी। जब पाछें तुलसीदासजी दरसन करि के बाहर आये तब नन्ददास जी श्री गोकुल चले। तब तुलसीदास जी हू संग सग आये। तब आय के नन्ददास ने श्री गुसाईं जी के दरसन करि। साष्टाँग दडवत् करि। और तुलसीदासजी ने दंडवत् करी नाहीं। पाछें नंददास कों तुलसीदास ने कही, जो जैसे दरसन तुमने वहाँ कराये वैसे ही यहाँ करावो। तब नन्ददास ने श्री गुसाई जी से विनती करी, ये मेरे भाई तुलसीदास है, सो श्री रामचन्द्र जी बिना और को नहीं नमे हैं। तब श्री गुसाईं जी ने कही जो तुलसीदासजी बैठो। ता समै श्री गुसाईं जी के पाँचमें पुत्र श्री रघुनाथ जी वहाँ ठाड़े हुते और उन दिनन में श्री रघुनाथ जी को विवाह भयो हुतो। तब श्री गुसाई जी ने कही, जो श्री रामचन्द्र जी तुम्हारे सेवक आये हैं, इन को दरसन देहु। तब श्री रघुनाथ लाल जी ने तथा श्री जानकी बहूजी ने श्री रामचन्द्र जी को तथा श्री जानकी जी को स्वरूप धरि के दरसन दिये। तब तुलसीदासजी ने साष्टाँग दंडवत् करी। पाछें तुलसीदासजी दरसन करि कै बोहोत प्रसन्न भये। और यह पद गायो। सो पद—

राग सारंग

बरनौं अवध श्री गोकुल गाम।
उत विराजत जानकी वीर इतहि स्यामा स्याम ।।
उहाँ सरजू बहत अद्भुत इहां श्री जमुना नीर
हरत कलि मलि दोउ मूरत सकल जन की पीर ।।
मनि जटित सिर क्रीट राजत संग लक्ष्मन बाल ।।
मोर मुकुट रु बैन कर इहाँ निकट हलधर ग्वाल ।।
उहाँ केवट सखा तारे विहंसि कै रघुनाथ।
इहाँ नृग जदुनाथ तार्यो कूप गहि निज हाथ ।।
उहाँ सिबरी स्वर्ग दीनो सील सागर राम।
इहाँ कुब्जा त्याय चंदन किये पूरन काम ।।

भक्त हित श्री राम कृष्ण सु धर्यो नर अवतार।
दास तुलसी दोउ आसा कोउ उबारो पार॥

ता पाछें तुलसीदासजी ने श्री गोसाईं जी सों दंडवत् करि के कह्यो, जो महाराज नन्ददास तो पहले बड़ो विषयी हतो, सो अब तो या कों बड़ी अनन्य भक्ति भई है, ताको कारन कहा है ? तब श्री गुसाईं जी ने तुलसीदासजी कों कह्यो जो नन्ददास उत्तम पात्र हुते, यातें पुष्टिमार्ग में आय कै प्रवृत्त भये। और अब व्यसन अवस्था याकों सिद्ध भई है। सो अब वे दृढ़ भये हैं। तब श्री गुसाईं जी के श्री मुख के वचन सुनिकै तुलसीदासजी प्रसन्न होय श्री गुसाईं जी कों दंडवत् करि कै पाछें आप विदा होय कासी आये"......॥ (वार्त्ता प्रसंग ४)

यह वार्त्ता प्रसंग सं० ४ लगभग १६२६ वि० का प्रतीत होता है। श्री गोकुलनाथ वचनामृत के अनुसार तुलसीदासजी ने गोस्वामी विट्ठलनाथ के १५ वर्षीय पुत्र रघुनाथ जी को प्रणाम किया था जो १६११ वि० में जन्मे थे। १६२६ वि० के लगभग नन्ददास जी विरक्त हो कर सूकरक्षेत्र से पुनः व्रज में पधारे। अविनाशराय ने नन्द-दास की विरक्ति का संवत् १६२८ दिया है जो संगत नहीं, किन्तु जिस से यह अनुमान होता है कि तुलसीदास जी व्रज में दो वर्ष रहे होंगे। उस समय तक उनकी विशेष ख्याति नहीं हो पायी थी।

"सो एक दिन नन्ददास के मन में ऐसी आई, जो जैसे तुलसीदासजी ने रामायण भाषा किये हैं। तैसे हमहू श्री भद्भागवत भाषा करें। पाछें नन्ददास ने श्रीमद्भागबत दशम भाषा संपूरन कियो। तब मथुरा के सब पण्डित मिलिकै श्री गुसाईं जी सों विनती कीनी, जो महाराज हम श्रीभागवत की कथा कहि कै निरवाह करत हते। सो तुम्हारे सेवक नन्ददासजी ने भाषा में भागवत कही है। सो अब हमारी कथा कोई न सुनेगो, तातें अब हमारी जीविका तो गई। सो अब आपके हाथ उपाय है। तब श्री गुसाईं जी ने नन्ददास को बुलाय कै कह्यो जो नन्ददास तुमने जो श्रीमद्-भागवत भाषा में कीनो है सो इन ब्राह्मन की जीविका में हानि होत है। तासों तुम व्रज लीला तो पंचाध्याई ताँई की राखो, और श्री जमुनाजी में पथराय देउ। सो नन्ददास ने श्री गुसाईंजी की आज्ञा प्रमान मानि कै व्रज लीला ताई (भागवत) राखी, और सब श्री जमुनाजी में पथराय दीनो। सो वे नन्ददास जी श्री गुसाईं जी के ऐसे आज्ञाकारी और बड़े कृपा पात्र हते"॥ (वार्त्ता प्रसंग ५) इस प्रसंग संख्या ५ से अनुमान होता है कि गो० तुलसीदास, 'रामचरितमानस" की पूर्ति के पश्चात् (जो अविनाशराय के अनुसार १६३५ वि० में हुई थी), द्वितीय वार व्रज में पधारे और नन्ददास जी को 'रामचरितमानस' से 'भागवत' के भाषानुवाद की एवं तुलसीदासजी को 'रुक्मिणीमंगल' से 'पार्वती-जानकी-मंगलों' की प्रेरणा मिली। अतएव डॉ० दीनदयालु गुप्त का यह अनुमान कि गोस्वामीजी १६३६ वि० में मथुरा पधारे थे ठीक प्रतीत होता है।[1]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २१८।

५. **श्री गोकुलनाथजी के वचनामृत**—१७९६ वि० की इस हस्तलिखित प्रति से भी तुलसीदासजी और नन्ददासजी के भ्रातृत्व की पुष्टि होती है। लेख है—

"एक बार श्री मुखैं वातन प्रसंगे आज्ञाकारी जो तुलसीदास मर्यादा मार्गी हते। पर टेक कैसी हती ते ऊपर दोहो कह्यौ ।। दोहा ।। वनैं तौ रघुवर ते वनैं। विगरें तौ भरपूर ।। तुलसी औरन के वनै ता वनिबे में धूर ।। १ ।। जीव कों सर्वथा अनन्यता चहिये। ते तुलसीदास श्री गोकुल आये हते ।। ता दिन श्री रघुनाथ जी को विवाह हतौ ।। सो ठौर ठौर आनन्द होय रह्यौ हतौ ।। तब तुलसीदासजी नें पूछो जो कहा है ।। ठौर ठौर, आनन्द दीसत है ।। तब कोई व्रजवासी वोल्यौ ।। जो जानैं नाही जो श्री रघुनाथ जी कौ विवाह है ।। तब तुलसीदास नै कही जो कौन से विवाह है श्री रघुनाथजी कौ ।। तब व्रजवासी नैं कह्यौ जो श्री जानकीजी सौं विवाह है ।। सो तुलसीदास श्री रघुनांथ जी और जांनकी जी कौ नाम सुनिकै विह्वल है गये ।। कह्यौ श्री रघुनांथ और जांनकी कहाँ ।। तब काहू व्रजवासी नैं श्री गुसाईं जी कौ घर बतायौ ।। सो उहाँ चले आये तब श्री गुसाईं जी नै श्री रघुनाथ जी सौं कह्यौ देषियौ जौ तुलसीदास आवत है तिन कौ अनन्य व्रत न जाय ।। तब श्री रघुनाथ जी नै तुलसीदास कौं श्री रामचन्द्र जी के दर्शन दीये ।। तब दर्शन होत मात्र साष्टाँग दंडवत कीये ।। ता समैं श्री रघुनाथ जी वर्ष पद्रैं के हते ।। सो पचीस वर्ष की बात श्री रघुनाथ जी नै तुलसीदास कौं श्री रामचन्द्र जी के दर्शन दीये ।। तब दर्शन होत मात्र साष्टांग दडवत् कीये ।।····· श्री रघुनाथ जी नें तुलसीदास सौं कहीं ।। जो फलाँने फलाँने दिन अयुध्या में तैंनें हम कौं सांमिग्री समर्पी हती सौ तौं कौं इहाँ दे हैं तब तुलसीदास विस्मै होय गये ।। कह्यौ जो मैं जाकों परम तत्व जांनत हो ।। सो तौ श्री गुसांईं जी के घर सहज ही दर्शन भए ।। तब एक बधाई करि कैं गाई ।। वरनौं अवध गोकुल गाम ।। नंददास जी अष्ट काव्य वारे सो तुलसीदास के छोटे भाई ।। तुलसीदास बड़े भाई ।। सो नंददास जी जब श्री गुसाईं जी के सेवक भये ।। तब तुलसीदास नैं कह्यौ ।। भाई तैंनै विभीचार कीयौ ।। तब नंददास जी नैं कह्यौ ।। विभीचार तौ कियौ परंतु सुख बहुत पायौ" ।। २३० ।। (पृष्ठ ५३-५५)।[1]

६. **श्री काका वल्लभजी महाराज का साक्ष्य**—(क) इन महाराज का प्राकट्य संवत् १७०३ वि० है।[2] इन्होंने अपने पचासवें वचनामृत में गोस्वामी तुलसीदास और नन्ददास का उल्लेख किया है, उस से भी दोनों के भ्रातृत्व की प्रबल पुष्टि होती है—

"जो मर्यादा मार्ग में श्री रामचन्द्र जी के भक्त तुलसीदास बहोत वड़े वैष्णव हते ताके अनेक पद हैं। रामायण ग्रन्थ पद्यबन्ध कवित बन्ध चौपाई बन्ध ऐसे अनेक कीने हैं······उन के भाई नन्ददास जी बहोत विषयी हते······श्री गोकुल आये के श्री गुसाँई जी की शरण आये और अष्ट छाप में प्रख्यात भये······पिछे तुलसीदासजी

१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में प्रकाशित श्री गोकुल नाथ जी वचनामृत के ब्लॉक सं० ५, ६ और ७ से अविकल उद्धरण। शुद्धाद्वैत एकेडमी, काँकरोली।

२. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, खण्ड ३, प्रथम संस्करण, (विश्लेषणात्मक अध्ययन) पृ० ७।

भाई की खबर लेवे व्रज में आये। सो एतो राम उपासी हते और व्रज में तो सब ठिकाणे कृष्ण कृष्ण की धुनि सुनी। तब तुलसीदास ने एक साखी कही····· पाछे भाई सों मिले तब कह्यो जो तैंने व्यभिचार धर्म क्यों कीनो अपने प्रभून को छोड़ि अन्य धर्म के आचरण क्यों करत है। अब पिछों चालि'' ।।

(ख) काका वल्लभजी महाराज ने 'भगवदीय नाम मणिमाला' लगभग पौने तीन सौ वर्ष पूर्व लिखी, जिसमें २५२ वैषणवों का नामोल्लेख गुजराती धौलों में किया है, और इस में नन्ददासजी के विषय में इस प्रकार लिखा है—

नंददास सखा रामपुरी कहीये रे, सात्विक चंपकलता चंदलेखा लहिये रे[1] ।।३०८।।
स्पष्टतः नन्ददासजी के जन्म-स्थान रामपुर का उल्लेख कर महाराजजी ने 'अष्टसखामृत', 'भाव प्रकाश' आदि की सूचनाओं का समर्थन किया है।

वार्ता-प्रामाण्य—भगवान् कृष्ण ने तुलसीदासजी को भगवान् राम के रूप में दर्शन दिये। किसकी इच्छा से ? कहते हैं कि जब मसखरों ने तुलसीदासजी की खिल्ली उड़ाई कि तुम रामभक्त होकर कृष्णजी के दर्शन करने क्यों आये तो तुलसीदासजी भी अड़ गये, और कृष्णजी को उनकी हठ पूरी करनी पड़ी, भगवद्भक्त तो थे ही। स्यात् तथ्य यही हो, जो वार्ताओं और वचनामृतों में किंचित् फेर से है, अर्थात् नन्ददासजी की प्रार्थना से कृष्णजी ने तुलसीदासजी को राम के रूप में दर्शन दिये और गोकुलनाथ जी के पुत्र रघुनाथजी और जानकीजी को तुलसीदासजी ने प्रणाम किया, इन दोनों बातों में सम्प्रदाय की गंध आ सकती है। एक और तीसरी उक्ति यह है कि महाराष्ट्र के संतजन जसवंत की प्रार्थना पर कृष्णजी ने राम के रूप में तुलसीदासजी को दर्शन दिये।

तीसरी उक्ति असंगत सी है। भगवान् राम की आज्ञा से जसवंतजी तुलसीदासजी को गुरु बनाने पंचवटी से काशी पधारे और उन्होंने गुरु-मन्त्र लिया। कहा जाता है कि इन्होंने अपने गुरु तुलसीदासजी के साथ मथुरा की यात्रा की। मथुरा पहुँच कर जसवंत ने तुलसीदास से श्रीकृष्ण के दर्शन की प्रार्थना की तब तुलसीदास ने कहा—

मेरो नेम सुनो जसवंता मेरो मन और नहिं लुभंता
राम बिना दर्सू नहिं कोई, राम बिना पर्सू नहिं कोई
फोर नयन औ जो दर्सू काटूं कर और जो स्पर्सूं।

इस पर जसवन्त ने मराठी में उत्तर दिया—

जो राम तो कृष्ण बसे, यांत कांही संशय नसे ।।

अर्थात् जो राम है वही कृष्ण है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। जसवन्त ने यह भी कहा कि मैं आप को श्रीकृष्ण के मंदिर में ही राम के दर्शन कराऊँगा। इतना कह कर जसवंत तुलसीदासजी को कृष्ण मंदिर में ले गये, वहाँ जसवंत ने प्रार्थना की—

---

१. वही, प्रारम्भिक पृष्ठ ६।

मोर मुकुट नीचे धरो, (और) किरिट मुकुट धरो शीस।
धनुष बाण करमो धरो, (गुरु) तुलसी नमावत शीस ॥

जसवन्त की इस प्रार्थना पर श्रीकृष्ण और राधाजी ने श्रीराम और सीताजी का रूप धारण कर तुलसीदासजी को दर्शन दिये। इसके पश्चात् गुरु-चेले गोकुल, वृन्दावन, जगन्नाथपुरी आदि स्थानों के दर्शन कर अयोध्या पहुँचे, जहाँ चार महीने रहकर पुनः काशी लौटे। कुछ समय व्यतीत होने पर तुलसीदासजी ने जसवंत को घर लौट जाने की आज्ञा दी, साथ ही अपने गले की माला और हनुमान्‌जी की एक मूर्ति प्रदान की, और जसवन्त गुरु-प्रसाद लेकर घर लौट गये।[1] गुरु गुड़, और चेला शक्कर। जसवन्त ने भगवान् राम की आज्ञा से तुलसीदासजी को गुरु बनाया था, पर शिक्षा दी शिष्य ने गुरु को। इसको क्या कहा जाय—सम्प्रदाय भावना या आत्मश्लाघा? हाँ, यह सम्भव है कि जब गोस्वामीजी मथुरा गये थे तो जसवंत भी उनके साथ दर्शक-रूप में रहे हों।

न जाने गाजरों में गुठली किसने मिलायी। अस्तु। पं० रामचन्द्र शुक्ल[2] और पं० चन्द्रबली पाण्डे ने[3] वार्ताओं को सन्देह की दृष्टि से देखा है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा को (चौरासी वार्ता को छोड़कर) दो सौ बावन वार्ता के श्रीगोकुलनाथ कृत होने में सन्देह है।[4] किन्तु श्रीद्वारकादास परीख, श्रीकण्ठमणि शास्त्री, और डा० दीनदयालु गुप्त उसे प्रामाणिक मानते हैं। इन्होंने इसकी प्रामाणिकता के विषय में जो तर्क दिये हैं उनका उल्लेख श्री प्रभुदयाल मित्तल ने कुछ इस प्रकार किया है[5] :—

(१) वार्ताओं की सभी प्रतियों में जो उपलब्ध हुई हैं ऐसा लिखा मिलता है: 'श्री गोकुलनाथजी रचित', 'श्री हरिरायजी कृत'। किसी तीसरे व्यक्ति के नाम का उल्लेख नहीं।

(२) 'चौरासी वार्ता' की जो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें चैत्र शुक्ला पंचमी सं० १६९७ की लिखी हुई सब से प्राचीन है और काँकरोली विद्याभवन में विद्यमान है। यह प्रति श्री गोकुलनाथजी के दिवंगत होने से एकादश मास पूर्व उनके जीवन काल में लिखी गयी थी अतएव प्रामाणिक है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये वार्ताएँ १६९७ वि० तक लिखित रूप में प्रकाशित हो चुकी थीं।

(३) 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' पर 'भावप्रकाश' नामक टीका भी प्राप्त है। 'भावप्रकाश' को हरिरायजी ने लिखा, और हरिरायजी गोकुलनाथजी के बड़े भाई के पौत्र होने के नाते अंतेवासी और समकालीन थे। 'भावप्रकाश' की रचना का अनुमान १७२९ और १७५० वि० के मध्य समझा जाता है। सं० १७५२ की लिखी चौरासी और अष्टसखान की वार्ता की भावना-संयुक्त प्रति पाटन से मिल

---

१. तुलसीदास के महाराष्ट्रीय शिष्य-संतजन जसवंत, डॉ० विनयमोहन शर्मा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका पृ० ३-४, संवत् २०१३ वर्ष १, अंक १।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४०,-३५२।

३. विचार विमर्श में वैष्णवन की वार्ता लेख, पृ० १०५-१३७।

४. हिन्दुस्तानी पत्रिका, १९३२ ई०।

५. अष्टछाप परिचय, पृ० ९१-९२, अग्रवाल प्रेस मथुरा, द्वितीय संस्करण, २००६ वि०।

चुकी है, अतएव यह स्वयंसिद्ध है कि १७५२ वि० तक 'भाव प्रकाश' की रचना अवश्य हो गयी थी।

(४) श्री गोकुलनाथजी के समकालीन श्री देवकीनन्दनकृत 'प्रभुचरित्र चिन्तामणि' में वार्ताओं का उल्लेख है। चौरासी वार्ता का 'सस्कृत मणिमाला' नामक संस्कृतानुवाद उपलब्ध है जो अनुमानत: १७२७ वि० के लगभग रचा गया होगा।

(५) हरिरायजी के शिष्य विट्ठलनाथ भट्ट ने सं० १७२६ मे 'सम्प्रदाय कल्प-द्रुम' रचा। इसमें गोकुलनाथजी के रचे हुए ग्रन्थों में वार्ताओं का उल्लेख इस प्रकार है—

वचनामृत चौबीस किय, दैवी जन सुखदान।
वल्लभ विट्ठल वारता, प्रकट कौन नृप मान।।

इसके अतिरिक्त गोकुलनाथजी के समय में लिखी हुई 'चौरासी वार्ता' की प्राचीन प्रति मिली है। उसमें सं० १७५२ लिखा हुआ है और 'भावप्रकाश' भी प्राप्त है।

"उपयुक्त विवेचन से वार्ताओं की प्राचीनता और प्रामाणिकता के अतिरिक्त उनका गोकुलनाथजी एवं हरिरायजी द्वारा रचित होना भी सिद्ध है"।[1] अतएव जीवन-घटनाओं के सम्बन्ध में उनका उपयोग होने में आपत्ति न होनी चाहिए। यह माना जा सकता है कि सम्प्रदाय के नाते उनमें नन्ददासजी को तुलसीदासजी की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया गया हो। किन्तु अब से शताब्दियों पूर्व, जबकि तुलसीदास और नन्ददास के जन्म-स्थान के सम्बन्ध मे कोई विवाद उपस्थित न था वार्ताकारों और वचनामृत पिलाने वालों को क्या पड़ी थी कि व्यक्तियों की जाति-स्थान आदि के विषय मे मिथ्या प्रचार करते? ऐसा करने में उनका क्या स्वार्थ था?

(च) स्फुट समर्थन

'रामचरित मानस' की कतिपय टीकाओं में, एवं अन्यत्र, कुछ ऐसे वचन विकीर्ण और प्रच्छन्न मिलते हैं जिनसे सोरों-सामग्री की पुष्टि हो जाती है, यथा :—

(अ) **रियासत सरीला जिला हमीरपुर की श्रीमती रानी कमल कुंवरि देवजू** ने गोस्वामी तुलसीदास का जीवन चरित लिखा। इसकी १९५२ वि० की छपी हुई प्रति का उल्लेख श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'तुलसी और उनका काव्य' के पृ० ४९ पर किया है। रानी ने जीवन चरित चौपाई दोहों मे दिया और नन्ददास को तुलसीदास का गुरुभाई लिखा है। 'गुरुभाई' का उल्लेख मिथ्या नहीं क्योंकि तुलसीदास और नन्ददास दोनों ही गुरु नृसिंहजी से पढ़ते थे और ताऊ-चचा-जात भाई भी थे। त्रिपाठीजी ने जो पक्तियाँ उद्धृत की हैं वे हैं—

द्विज सनौढिया पावन जानौ राजापुर में जन्म बखानौ
पंद्रा सै तेरासी जन्म भयो सुभजान सोरा सै अस्सी बरस हो गए अन्तरधान।
बनिता से अति प्रेम लगायो नैहर गई सोच उर छायो
सुरसरि पार गये घबराई एक मुरदा की नाव बनाई।

इस उद्धरण में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि तुलसीदासजी सनाढ्य ब्राह्मण थे

---

१. अष्टछाप परिचय, पृ० ९२।

और गंगाजी को पार कर ससुराल गये थे। पर राजापुर में गंगाजी कहाँ ? सत्यांश छिपा हुआ है।

(आ) टीकाकार और जीवनीकार (१) रामायण बालकाण्ड १। दर मतब हिंदू प्रेस लाला प्यारेलाल के एतमाम से छपी सं० १६२८ वि०। इसमें 'नर रूप हरि' का अर्थ 'नर हरि दास वाराह क्षेत्र निवासी' पृष्ठ ४ पर; और 'सूकर खेत' का अर्थ 'गंगा तीर सोरों घाट जहाँ बारह अवतार भया' पृष्ठ २६ पर किया गया है।

(२) लखीमपुर-खीरी के पण्डित सीताराम मिश्र ने गोस्वामी तुलसीकृत रामायण की टीका में लिखा है—

"नन्ददास सनोढिया ब्राह्मण तुलसीदास के छोटे भाई पूर्व देश के रहने वाले थे। गोस्वामीजी का विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या से हुआ था। तारक नाम का पुत्र हुआ था।"

(३) श्री सूरजभान अग्रवाल ने 'रामचरित मानस रामायण टीका सहित' में लिखा कि 'तुलसीदास ने अपना विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या से कर लिया।'

(४) पं० रामेश्वर भट्ट ने १६०२ में 'तुलसीकृत रामायण' में लिखा कि 'दीनबन्धु पाठक ने गुसाईंजी को एक सुयोग्य भक्त जानकर अपनी गुणवती कन्या का विवाह इनके साथ कर दिया।'

(५) विद्यावारिधि पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने तुलसी-कृत रामायण की अपनी संजीवनी टीका में लिखा कि 'इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ।'

(६) पं० बाबूराम मिश्र 'रामचरितमानस सटीक' में लिखते हैं कि 'वे (तुलसीदास) स्मार्त वैष्णव थे।'

(७) इसी प्रकार डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस उक्ति की पुष्टि की कि 'तुलसीदासजी के गुरु स्मार्त वैष्णव थे।'

(८) लखीमपुर-खीरी के निवासी और रामायण के टीकाकार पं० नारायण प्रसाद मिश्र के १६३० ई० के वचन हैं कि 'प्रसिद्ध है कि दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से इनका (तुलसीदास का) विवाह हुआ था, जिसके तारक नाम का एक पुत्र भी हुआ था।'

(९) संवत् १६५६ वि० की ज्ञानसागर प्रेस बम्बई में छपे 'रामचरित मानस' के प्रारम्भ में प्रदत्त जीवन-चरित के पृष्ठ ३ और ४५ पर 'सूकर खेत' का अर्थ 'गंगा किनारे का सोरों' किया गया है।

(१०) 'मानस' के अनन्य प्रेमी रायबहादुर लाला सीतारामजी ने तुलसीदास-जी को तारी में उत्पन्न सनाढ्य ब्राह्मण माना है,[1] यद्यपि तारी की सत्ता के विषय में उनकी धारणा निर्भ्रान्त नहीं रही। महात्मा रूपकलाजी ने भी उनका जन्म तारी में माना है।[2]

---

१. राजापुर का अयोध्याकाण्ड, भूमिका।

२. तुलसी, रामबहोरी शुक्ल, पृ० ६।

(११) तुलसी के अनन्य भक्त रामदासजी गौड़ भी गोस्वामीजी को तारी-जात समझते थे।

(१२) पण्डित गोविन्द वल्लभ भट्ट ने १६२६ ई० की 'माधुरी' में जो लेख लिखा था उसमें इस बात का उल्लेख है कि 'श्री तुलसी-स्मारक-सभा, राजापुर के एक अधिकारी ने जब इसी जन्म-स्थान के विषय में पत्र-व्यवहार किया, तो उत्तर में उन्होंने प्राइवेट शब्द के साथ इस बात को स्वीकार किया कि गोस्वामीजी का जन्म-स्थान सोरों या उसी के आस-पास कहीं होना चाहिए।'

(१३) शिवनन्दन सहायजी ने अगस्त १६२३ में 'माधुरी' के २४ वें पृष्ठ पर अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है: "जन्म-स्थान के सम्बन्ध में अभी तक ठीक निर्णय नहीं हुआ। राजापुर तथा तारी के बीच झगड़ा है। यद्यपि राजापुर में आपका स्मारक निर्मित हुआ था, तथापि वहीं के बड़े बूढ़े लोग कहते हैं कि वह गोसाईंजी का जन्म-स्थान नहीं। विरक्त होने पर ये कुछ दिन वहाँ रहे अवश्य थे, और प्रायः जाया करते थे।"

(१४) अब से लगभग अर्द्ध शताब्दी पूर्व श्री अयोध्याजी प्रमोदवन-कुटिया-निवासी श्री सीतारामशरण भगवान् प्रसाद का सटीक वार्तिक प्रकाश युक्त श्री भक्त-माल, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से १६१३ ई० में प्रकाशित हुआ। उसके ७४१ वें पृष्ठ पर उन्होंने अपने अनुसन्धान का निष्कर्ष इस प्रकार दिया है:

"जन्मस्थान भी लोग कई ठिकाने लिखते हैं। बाँदा जिले में यमुना तीर राजापुर को बहुत लोग कहते हैं, परन्तु राजापुर आपका जन्मस्थान नहीं है। श्री गोस्वामीजी का जन्मस्थान श्री गंगावाराह क्षेत्र (सोरों) के प्रान्त अन्तर्वेद में तरी नामक ग्राम या तारी था। आपने राजापुर में विरक्त होने के पीछे निवास कर भजन किया, इसी से श्री गोस्वामीजी की विराजमान की हुई संकटमोचन श्री हनुमान् जी की मूर्ति है और श्री रामायण अयोध्याकाण्ड भी है। यह वार्ता वहाँ जा के भली प्रकार निश्चय की है, राजापुर में श्री गोस्वामीजी आज्ञा कर गये हैं कि देव-मंदिर छोड़ अपने रहने को पक्का गृह कोई न बनवावे, ऊपर खपड़े ही छवावे और वेश्या नहीं नचावे"—इत्यादि।

(छ) **विदेशी अनुसंधान**—(१) अंग्रेजों ने १८५७ ई० के पश्चात् अपनी राज्य-सत्ता को सुदृढ़ करके भारत के विभिन्न स्थान, प्रान्त, मंडल, जिले आदि के विवरण, लेख, जनश्रुति आदि के आधार पर प्रस्तुत किये.। १८७४ ई० में श्री एड-विन टी० एट्किंसन ने 'स्टेटिस्टिकल डिस्क्रप्शन एण्ड हिस्टोरिकल अकाउण्ट ऑव द नार्थ प्रॉविंस आव इण्डिया' बुन्देलखण्ड, जिल्द १ सम्पादित की। १८८६ ई० में डब्ल्यू० डब्ल्यू० हण्टर ने 'इम्पीरियल गजटियर ऑव इंडिया', जिल्द ११ का सम्पादन किया। १६०८ ई० में 'इम्पीरियल गजटियर ऑव इंडिया यू० पी०', २ प्रॉविंशल सीरीज़ और १६०६ ई० में बाँदा ज़िले का 'गज़टियर' प्रकाशित हुआ। इन के उपयुक्त उद्धरण अन्यत्र यथास्थान दिये जा चुके हैं, जिनका सार यह है कि सम्राट् अकबर के काल में 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदासजी सोरों के निवासी थे; उन्होंने

वहाँ से आकर राजापुर की नींव डाली और जनता को भगवद्भक्ति की ओर प्रेरित किया।

(२) सर ज्योर्ज ए० ग्रियर्सन ने, महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी आदि कतिपय भारतीय विद्वानों के साहाय्य से, गोस्वामीजी की जीवनी और रचना पर स्वयं अनुसंधान कर इस ओर भारतीय तथा अभारतीय विद्वानों को प्रेरित किया। उनका अनुमान था कि गोस्वामीजी का जन्मस्थान वह तारी ग्राम था जो अंतर्वेद (दुआब) में स्थित है। राजापुर के निकटवाला तारी ग्राम अंतर्वेद में नहीं है, परन्तु सोरों के निकट वाला तो है, वहाँ सोरों-सामग्री के अनुसार गोस्वामीजी की ननसाल थी। ग्रियर्सन महोदय की गवेषणा के अनुसार, गोस्वामीजी के पिता आत्माराम, माता हुलसी, गुरु नृसिंह, श्वशुर दीनबन्धु पाठक, पत्नी रत्नावली, और पुत्र तारक था जो उन्हीं के समय दिवंगत हो गया था। श्री एफ० एस० ग्राउज़ ने १८७६ में लिखा कि गोस्वामीजी की शिक्षा सोरों में हुई। तदनन्तर अनेक विदेशी लेखकों ने गोस्वामीजी की जीवनी के सम्बन्ध में इन्हीं दोनों का न्यूनाधिक अनुसरण किया है।

(ज) जनश्रुति

पूर्वी जिलों से प्राप्त निम्नलिखित जनश्रुति है, जिसका उल्लेख ग्रियर्सन कर चुके हैं:—

दुबे आत्माराम है पिता नाम जग जान
माता हुलसी कहत सब तुलसी के सुन कान।
प्रह्लाद उद्धरण नाम करि गुरु को सुनिये साधु
प्रगट नाम नहि कहत जग कहे होत अपराधु।
दीन बन्धु पाठक कहत ससुर नाम सब कोइ।
रत्नावलि तिय नाम है सुत तारक गत होइ॥

सोरों-सामग्री

द्वितीय भाग : हस्तलिखित प्रतियों का विवेचन

प्राक्कथन—एटा-बदायूं जिलों से कुछ पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका उल्लेख सोरों-सामग्री के अंतर्गत होता है। वे गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-चरित पर प्रचुर प्रकाश डालती हैं। अतएव तत्सम्बन्धी चौदह हस्तलिखित पोथियों का समालोचनात्मक विवरण दिया जा रहा है।

(१) **रत्नावलीचरित—(क) मुरलीधर चतुर्वेद की प्रति**—'रत्नावली चरित' को मुरलीधर चतुर्वेद ने स्वयं अपने हाथ से लिखा है। यह छोटी सी जिल्द है जिस में लेखक की अन्य रचनाएँ भी सम्मिलित हैं। पुस्तक का प्रारम्भ संस्कृत में गणेश-स्तव से होता है, इस के निमित्त पूर्ण पृष्ठ पर सात पंक्तियों का उपयोग हुआ है। अगले पृष्ठ पर श्री गणपति और सरस्वतीजी के लिए प्रणति और संस्कृत में तुलसीदासजी के लिए प्रशस्ति है। तत्पश्चात् १०॥ पृष्ठों, १०१ पंक्तियों एवं १६३ हिन्दी-पद्यों में रत्नावली का जीवन-चरित है। फिर छः छप्पय हैं, जिन में से दो में श्री तुलसीदास और नन्ददासजी के जन्मस्थानादि का उल्लेख है, तीन में चतुर्वेदजी के जन्मस्थान सूकरक्षेत्र की महिमा है, और अन्तिम में उनकी जरावस्था का वर्णन तथा आयु के ८१ वें वर्ष में प्रवेश का उल्लेख है। छप्पय-षट्क में १८ पंक्तियाँ हैं। तत्पश्चात् दस पंक्तियों में कृष्णदासकृत वंशावली के दस दोहे हैं।

अन्त में, छप्पय-चतुष्टय में वर्ष के वार और इष्ट के घटीपल निकालने की क्रिया का वर्णन है। साथ ही चतुर्वेदजी ने कार्तिक शुक्ला १० बुधवार संवत् १८२९ को अपने ८१वें वर्ष में जो प्रवेश किया उस का लग्नचक्र और पंचवर्गी चक्र, तथा चन्द्र-गणना के सम्बन्ध में संस्कृत की दो पंक्तियाँ दी गयी हैं।

यह पुस्तक सिली हुई तथा कत्थई रंग के देशी कपड़े की जिल्द से युक्त है। इसमें दस पत्र और अठारह लिखित पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ का आकार ८·६ × ५·० इंच और लिखित अंश ६·७ × ३ ३ इंच है। सामान्यतः प्रत्येक पृष्ठ में १० पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में १६ शब्द हैं। आदि और अन्त गवेरिक से घर्षित हैं। आद्यन्त पृष्ठों को छोड़कर सभी पर एक एक काली रेखा के दो हाशिए हैं। कागज देशी और टिकाऊ, तथा मसि काली और चमकीली है। यद्यपि पुस्तक भले प्रकार रखी हुई प्रतीत होती है तथापि उस पर काल की छाप और दीमक के कुछ छिद्र लक्षित होते हैं। इसकी वर्तमान दशा बुरी नहीं कही जा सकती।

लिपि देवनागरी है और अपने समय की अन्य लिपि के समान है। 'ख' के स्थान पर 'ष' का प्रयोग हुआ है, पर संस्कृत-छन्दों में 'ख' का भी। अधिकांश अक्षर आकर्षक हैं किन्तु निम्नलिखित अक्षरों के रूप विशेषतः द्रष्टव्य हैं : र, रु, त्र, च और ष्ण। शब्द परस्पर सटे हुए हैं, उनमें व्यवधान नहीं। विराम-चिह्न

द्विविध है—एकाकी खड़ी पाई और खड़ी पाई का युग्म। जहाँ-कहीं कोई अक्षर अथवा शब्द छूट गया है वहाँ हंसपद (केरेट) का प्रयोग हुआ है और छूटा हुआ शब्दाक्षर उसके ऊपर लिख दिया गया है।

गणेशस्तव तो संस्कृत के महाकवि जयदेव का स्मरण दिलाता है। 'रत्नावली चरित' में जो छन्द प्रयुक्त है वह लघु किन्तु सप्रवाह है। छप्पय का भी उपयोग हुआ है। चरित की भाषा ब्रजावधी है पर छप्पयों की ब्रजभाषा, जो नितान्त सरल और स्वाभाविक है।

पुष्पिका केवल 'रत्नावली चरित' में विद्यमान है। वह इस प्रकार है : 'इति श्री रत्नावली चरित संपूर्णम् शुभम्। संवत् १८२९ श्रावण शुक्ल १ प्रतिपदायाम् शुक्र वासरे लिखितम् चतुर्वेद मुरलीधरेण सोरों क्षेत्र शुभ भवतु'। परीक्षा से उक्त तिथि को ३१ जुलाई १७७२ ई० संगत है।

(ख) रामवल्लभ की प्रति—उक्त 'रत्नावली चरित' की प्रतिलिपि 'रत्नावली' शीर्षक से भी उपलब्ध है। पुष्पिका से विदित है कि मुरलीधर चतुर्वेद के शिष्य रामवल्लभ मिश्र ने सोरों में मार्गशीर्ष शुक्ला ६ शनिवार १८६४ वि० तदनुसार ५ दिसम्बर १८०७ को यह प्रतिलिपि प्रस्तुत की थी। मिति-वार गणना से ठीक हैं।

पाण्डुलिपि में ९ पत्र अथवा १७ पृष्ठ हैं, जिनमें एक शीर्षक पृष्ठ भी सम्मिलित है। पृष्ठ का आकार है ९·० इंच × ६·५ इंच और लिखित भाग है ६·५ × ६·७ इंच। सामान्यतया प्रत्येक पृष्ठ में ११ पंक्तियाँ, और प्रत्येक पंक्ति में ९ शब्द हैं।

पत्र देशी और मसि असित है। किनारे घिसे हुए हैं। प्रारम्भिक प्रणति, पुष्पिकांश, तथा अधिकांशतः द्वय विराम चिह्नों के निमित्त रक्तमसि का प्रयोग हुआ है। बीच के पृष्ठ पर विराम नहीं हैं। सभी पृष्ठों पर रक्त त्रिरेखाओं के दो-दो हाशिए हैं।

देवनागरी लिपि सुवाच्य है। प्रत्येक अक्षर स्पष्ट और अलग है यद्यपि शब्द परस्पर संलग्न हैं। लिपिकार ने मूल प्रति के क्ष, श, ज्ञ, क्र, त्न, स्व को छ, स, ग्य, कर, तन आदि कोमल ध्वनियों में परिवर्तित कर लिया है। कुछ अपवाद भी हैं जो अधिक नहीं। बहुधा मूल 'इ' को 'य' में कर दिया गया है, यथा जाइ=जाय। प्रायः 'ष' को 'ख' कर दिया गया है जो तत्कालीन परिपाटी के विरुद्ध प्रतीत होता है। यद्यपि 'त्र' और 'च' तो अपने आधुनिक रूप में हैं, तथापि 'सु' को 'स्र' लिखा गया है।

यह पुस्तक अलीगढ़ की तहसील सिकन्दरा राउ के अन्तर्गत पोरहा ताल ग्राम के निवासी पण्डित युगल किशोर पोद्दार को उड़ेसरी ग्राम से माघ शुक्ला १० सं० १९९३ वि० तदनुसार २० फरवरी १९३७ ई० को प्राप्त हुई।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि शिष्य ने गुरुदेव की कृति पर कलम चलाने की अक्षम्य धृष्टता की है। अक्षरों में, जैसा कि निर्देश किया जा चुका है, परिवर्तन किया गया। लिपिकार मूल प्रति की १५८वीं पंक्ति को अर्थात् 'चरन सदन रज जासु कोइ। धरन देहरुज-रहित होइ' लिखना भूल गया है। यही नहीं, शिष्य ने संस्कृत के छन्द तथा गुरुदेव के कतिपय छप्पयों को भी छोड़ दिया। भूल से अथवा जानबूझकर? उन्होंने गुरुजी के तृतीय, चतुर्थ और पंचम छप्पय तो ग्रहण कर लिये और प्रथम,

द्वितीय तथा षष्ठ छोड़ दिये। षष्ठ का सम्बन्ध गुरुदेव के व्यक्तिगत जीवन से था, अतः वह कदाचित् शिष्य को अग्राह्य रहा। अस्तु। किन्तु प्रथम और द्वितीय छप्पय शिष्य को क्यों अग्राह्य हुए ? स्यात् इसलिए कि लिपिकार को गोस्वामीजी की अपेक्षा सोरों के माहात्म्य में अधिक रुचि थी, पर कहीं इसलिए तो नहीं कि रामपुर का उल्लेख उसकी समझ में सोरों की अभीष्ट महत्ता को, अतएव पण्डाओं की आय को भी, कुछ न कुछ कम कर देने की आशंका प्रदान करता हो।

ब्राह्मणों की आजीविका-नाश के भय से नन्ददासजी को भागवत का अनुवाद रोक देना पड़ा और रामायण को हिन्दी में उपस्थित करने के कारण गोस्वामीजी को कष्ट सहना पड़ा था। अतएव रामवल्लभ मिश्रजी अपनी 'दूर-दर्शिता' से प्रेरित प्रतीत होते है।

(२) **रत्नावली के दोहे**—रत्नावली के दोहों के दो संस्करण हैं अर्थात् रत्नावलीकृत—'दोहा रतनावली' और 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह'। पहले की दो प्रतियाँ और दूसरे की भी दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जिनका परिचय नीचे दिया जा रहा है :—

(क) **गोपालदास की प्रति**—'दोहा रत्नावली'—यह रत्नावली के २०१ दोहों का संग्रह है। पुष्पिका के अनुसार गोपालदास ने मुंशी माधोराय के लिए उसकी प्रतिलिपि भाद्रपद अमावस्या, सोमवार १८२४ वि० अर्थात् २४ अगस्त १७६७ ई० को पूर्ण की। गणना से यह तिथि ठीक है। पुष्पिका के नीचे उर्दू में लिखा है कि मुंशी माधोराय इस प्रति के स्वामी थे जो जाति के सक्सेना कायस्थ एवं बदायूँ नगर के निवासी थे। यह प्रति बदायूँ के पं० शिवनारायण (लल्ला) वैद्यराज से बाबू गयाप्रसाद गुप्त को प्राप्त हुई थी।

इसमें १६ पत्र अथवा ३० पृष्ठ हैं जिनमें आवरण-पृष्ठ भी सम्मिलित है। श्वेत और टिकाऊ कागज के बने प्रत्येक पत्र का माप है ८·६ इंच × ६·३ इंच और लिखितांश है ६·५ इंच × ४·५ इंच। प्रत्येक पृष्ठ में १२ पंक्तियाँ और दो रक्त रेखाओं के दो-दो हाशिए हैं, तथा प्रत्येक पंक्ति में ९ शब्द हैं। मंगलाचरण, पुष्पिकांश एवं विराम-द्वय चमकीली लाल मसि के हैं, शेष पुस्तक चमकीली काली मसि में है। प्रति की दशा बुरी नहीं है। लिपि देवनागरी स्पष्ट है, जिसका प्रत्येक अक्षर पृथक् है यद्यपि शब्द व्यवधान रहित हैं, अक्षरों की शिरोरेखाएँ ऊर्मिल हैं। कुछ अक्षरों की बनावट जटिल अथवा आकर्षक है, यथा ज, ल, त्त, ज्ञ, थ, रु, रू, की। ध्यानाकर्षक बात यह है कि पृष्ठ ७ में शिरोरेखा पर विलोम हंसपद विद्यमान है और छूटा हुआ शब्द हाशिए पर लिखा गया है।

(ख) **गंगाधर की प्रति**—'दोहा रत्नावली'—दो-सौ एक दोहों के संग्रह की यह प्रतिलिपि गंगाधर ब्राह्मण ने की। इसकी पुष्पिका है : "इति श्री साधवी रत्नावली की दोहा रतनावली संपूरनम् शुभम् संवत् १८२९ भादों शुदि ३ चन्द्रे लिपितम् गंगाधर ब्राह्मण जोग मारग समीपे वाराह क्षेत्रे श्रीरस्तु शुभमस्तु।" उक्त तिथि शुद्ध है, वह ३१ अगस्त १७७२ ई० को पड़ी थी।

इस पाण्डुलिपि में १० पत्र अथवा १८ पृष्ठ हैं। मुख पृष्ठ पर कुछ वर्ष हुए श्वेततर कागज सुरक्षा के निमित्त चिपका दिया गया था। प्रति में देशी टिकाऊ कागज

का उपयोग हुआ है। इसकी दशा बुरी नहीं है। प्रत्येक पृष्ठ पर दोनों ओर दो-दो रेखाओं के हाशिए हैं। विराम-द्वयों के, तथा कतिपय हाशियों की रेखाओं के, निमित्त कदाचित् पीछे से लाल मसि का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु वह इतनी फीकी हो गई है कि काली सी प्रतीत होती है और काली भी फीकी पड़ गई है। मंगलाचरण एवं पुष्पिका गैरिक से घर्षित हैं।

पत्र का आकार १०·६ इंच × ६·३ इंच और लिखितांश का ६ इंच × ४·३ इंच है। प्रत्येक पृष्ठ में लगभग १२ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में लगभग १४ शब्द हैं। अन्तिम पृष्ठ पर, पुष्पिका के पश्चात्, लाल-सी मसि में किन्तु भिन्न सुलेख में मुरलीधर चतुर्वेद-कृत संस्कृत छन्दों में तुलसीदासजी की प्रशस्ति है। इसे (मोहल्ला चौंसठ सोरों के निवासी) पं रामस्वरूप निभेरिया ने अपने कागजों में से ढूँढ़कर प्रदान किया। इन्हीं से अयोध्या काण्ड और सुन्दर काण्ड के भी कुछ अंश चैत्र कृष्णा ११ गुरुवार तदनुसार १६ मार्च १६३६ को मिले।

देवनागरी लिपि घसीट है किन्तु पर्याप्त रूप से पढ़ी जा सकती है। शब्दाक्षर परस्पर सटे हुए हैं। लिपिकार ने जकार और उकार की पुच्छों को बहुत बढ़ाया है जो पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि लिपिकार ने रत्नावली के ४२वें दोहे के द्वितीय शब्द को अशुद्ध पढ़ा। उसने दक्षिण हाशिए पर 'ससि' शब्द के 'सि' के लिए 'सी' लिखा है। प्रतीत होता है कि उसे स्वयं दोहे के संवत् का निश्चय करने में सन्देह रहा होगा, और ऐसा ही सन्देह उसके पाठकों को भी। किसी पाठक ने तो कदाचित् उसे शोधने के निमित्त षकार को ककार में परिवर्तित करना भी चाहा, हाँ कुछ सावधानी एवं संकोच के साथ, क्योंकि 'षर' का कुछ अर्थ नहीं निकलता। मसि से प्रतीत होता है कि ककार की पुच्छ पीछे की बनी है। यदि षकार को ककार में परिवर्तित कर दिया जाय तो संवत् १६२४ का अर्थ भासित होने लगेगा। पर यह संवत् ठीक नहीं। गोपालदास का प्राक्तन पाठ शुद्ध है जो इस प्रकार है :

सागर ष रस ससी रतन
संवत भो दुषदाइ
पिय वियोग जननी मरन
करन न भूल्यो जाइ ॥४२॥

यहाँ ससी = १, रस = ६, ष = ०, और सागर = ४, अतएव गोस्वामी तुलसीदास के गृह-त्याग का संवत् १६०४ वि० था।

(ग) **रामचन्द्र की प्रति**—'रत्नावली लघु दोहा संग्रह'—अर्थात् रत्नावली के बनाये १११ दोहों का छोटा संग्रह। इसकी प्रतिलिपि बदरिया ग्राम में पंडित रामचन्द्र ने चैत्र कृष्णा १३ शुक्रवार, १८७४ वि० को की।

इस प्रति में १२ पत्र अथवा २४ पृष्ठ हैं जिनमें से अन्तिम तो कोरा है और प्रथम मुखपृष्ठ है जिस पर, कहते हैं, अंगदरामजी शर्मा के हाथ से लिखा है 'दोहा रत्नावली' और संवत् १६२५ वि० भी पड़ा है। लिपि देवनागरी है।

पत्र देशी और टिकाऊ है जिसका आकार है ६·१ इंच × ६·३ इंच और पृष्ठ

का लिखितांश है ४·१ इंच × ४·० इंच। पृष्ठ में लगभग ११ पंक्तियाँ और पंक्ति में लगभग ८ शब्द हैं। कुछ पत्रों को दीमक ने भेद डाला है, अन्यथा प्रति की अवस्था ठीक है। पुष्पिका के कुछ भाग और दोहों की संख्याओं को गेरु से रंग दिया गया है।

इस प्रति के विषय में तीन आपत्तियाँ उपस्थित हैं। प्रथमतः इसकी लिखावट सुन्दर, पर आधुनिक, है। प्रत्येक पृष्ठ के हाशियों पर रक्तासित मसि से चारों ओर बेलबूटे बनाये गये है, जिनसे पुरातत्त्व के कर्णधार रा० ब० काशीनाथ नारायण दीक्षित को इसके तत्कालीन होने में सन्देह हुआ था। द्वितीयतः, यद्यपि आरम्भिक शब्दावली 'अथ रतनावली कृत दोहा लिष्यते' म खकार के स्थान में षकार विद्यमान है, तथापि पीछे अनेक स्थलों में खकार खकार ही लिखा गया है जो तत्कालीन तथा तत्स्थानीय प्रथा के विरुद्ध था। तृतीयतः, जिस तिथि को यह प्रतिलिपि समाप्त हुई वह गणना से अशुद्ध है, क्योंकि उस दिन शुक्रवार नही, सोमवार था। अतएव यह प्रति अमान्य है।

(घ) **ईश्वरनाथ की प्रति**—'रतनावली लघु सग्रह'—की एक और प्रति है जिसमें १११ दोहे है। लिपिकार है ईश्वरनाथ पंडित। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है: "इति श्री रतनावली लघ दोहा सग्रिह सम्पूरनम ।।लिषितम् ईसुरनाथ पडीत सोरों जी मिती माह सुदी तेरसि १३ सोमवार सवतु १८७५ म ।।गग।।" यह तिथि गणना से ठीक है, उस दिन ८ फरवरी १८१९ ई० थी।

इस पाण्डुलिपि मे १० पत्र अथवा २० पृष्ठ है, जिनमे से प्रथम और अन्तिम पर पुस्तक का नाम है और पत्र-सख्या भी। प्रथम से यह भी विदित होता है कि लिपिकार इसके स्वामी थे।

इसका पत्र देशी और टिकाऊ हे, आकार है, ८·७ इच × ५·४ इंच और पृष्ठ का लिखित भाग ६·० इंच × ४ ३ इच हे। प्रत्येक पृष्ठ मे सामान्यतया १० पक्तियाँ और प्रत्येक पक्ति मे ९ शब्द है। प्रत्येक पृष्ठ पर दोनो ओर तीन-तीन रेखाओं के हाशिए है, जिनमें से मध्य रक्त, और शेष दो असित है। प्रति के किनारे घिसे है, अन्यथा उसकी दशा ठीक है।

लिपि तो देवनागरी है, किन्तु इतनी भद्दी कि देखनेमात्र से जी ऊब जाय; अवाच्य तो नही, किन्तु इसके वाचने म परिश्रम अवश्य करना पडता है। सभी अक्षर और शब्द एक दूसरे से सटे हुए है। सप्तम पृष्ठ पर एक शब्द लिखने से छूट गया था जो भिन्न हस्त के द्वारा रक्तिम मसि से लिख दिया गया है, मूल मसि चमकीली काली है। दो बातें विशेष द्रष्टव्य है। प्रथम तो यह है कि प्रथम पृष्ठ की आठवी पक्ति में दो शब्द छूटे है। छूटे हुए स्थानो पर हंसपद लगाकर हाशियो मे शब्द लिख दिये गये है। दूसरी बात यह है कि यकार के नीचे प्रायः बिन्दु लगाया गया जो बंगला भाषा के 'य' का स्मरण दिलाता हे। यह प्रति पण्डित-पाड़ा (सोरो) के पण्डित वशीधर पचौरी के प्रपौत्र और श्री गोपालजी के पुत्र प० प्यारेलाल वैद्य के पुस्तकालय से पौष शुक्ला १४ मंगलवार अर्थात् ७ जनवरी, १९३६ को प्राप्त हुई।

(३) **रामचरित मानस**—ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' की दो प्रतियाँ अपने भतीजे कृष्णदास को भेंट की थी, जिनमें से स्यात् एक

रत्नावली के निमित्त थी। दोनों के एक-एक काण्ड शेष हैं, वे भी खण्डित रूप में। वे हैं :—

(क) **बालकाण्ड**—यह पाण्डुलिपि देशी कागज पर लिखी हुई है, जिसका आकार ११ इंच × ५·४ इंच है। प्रत्येक पृष्ठ में १२ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में सामान्यतः ३७ अक्षर हैं। विषय सुवाच्य है। लिखने के लिए काली मसि का, और विराम चिह्नों के लिए लाल का प्रयोग हुआ है। किनारे दग्ध है। इस काण्ड के ३१ पत्र नन्ददासजी के वंशज मुरारीलालजी के वहाँ से सोरों में कार्तिक शुक्ला ६, शनि १९९२ वि० तदनुसार २ नवम्बर, १९३५ को प्राप्त हुए थे। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है : "इति श्री रामचरित मानमे सकल कलि कलुप विध्वंसने विमल (वै) राग्य संपादिनी नाम १ सोपान समाप्तः संवत् १६४३ शाके १५०८······वासी नंददास पुत्र कृष्नदास हेत लिपी रघुनाथ दास ने कासी पुरी मे।" यह पुस्तक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण है और इसमें दीमक ने यत्र-तत्र छिद्र कर दिये है। इसका पाठ परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

(ख) **अरण्य काण्ड**—यह प्रति देशी पत्र पर है जिसका आकार है ११·३ इंच × ५·७ इंच। इसके अक्षर काले हैं और छन्दोनाम रक्त है। सामान्यतः प्रत्येक पृष्ठ में दश पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ३७ अक्षर है। किनारे घिसे हुए है। लिपि सुवाच्य है। इसका पूर्ण पाठ परिशिष्ट-रूप से दिया जा रहा है। यह प्रति गोस्वामी तुलसीदास के आदेशानुसार सोरों-निवासी उनके भतीजे कृष्णदास के लिए काशी में गोस्वामीजी के शिष्य लक्ष्मणदास ने, आषाढ़ शुक्ला ४ शुक्रवार १६४३ वि० तदनुसार १० जून, १५८६ ई० को, प्रस्तुत की थी। गणना से तिथि शुद्ध है। इस प्रति के १३ पत्र उक्त बालकाण्ड के साथ उपलब्ध हुए थे।

(४) सूकरक्षेत्र माहात्म्य—(क) **मुरलीधर चतुर्वेद की प्रति**—मुरलीधर चतुर्वेद ने यह प्रतिलिपि १८०९ वि० में की। इसके केवल दो पत्र ८·७५ इंच × ४·२५ इंच के उपलब्ध हैं। प्रारम्भ के पृष्ठ पर निम्नांकित कोष्ठकों के अन्तर्गत अंश को छोड़ कर यह लिखा हुआ है।

> गनपति गिरा गिरीश गिरिजा गंगा गुरु चरन
> वंदहुँ पुनि जगदीश छबि वराह महि उद्धरन ॥१॥
> वंदहुँ तुलसीदास पितु बड़ भ्राता पद जलज।
> जिन निज बुद्धि विलास रामचरित मानस रच्यौ ॥२॥
> सानुज श्री नंददास पितु की वंदहुँ चरन रज
> कीनो सुजस प्रकास रास पंच अध्याय भनि ॥३॥
> वंदहुँ कृपा निकेत पितुगुरु श्री नर सिंह पद
> वंदहुँ शिष्य समेत वल्लभ आचारज सुषद ॥४॥
> वंदहुं कमला मात वंदहुँ पद रतनावली
> जासु चरन जल जात सुमिरि लहहिं तिय सुर थली ॥५॥
> सुकुल वंश द्विज मूल पितरन पद सरसिज (नमहुं
> रहहिं सदा अनुकूल कृष्णदास निज अंस गनि ॥६॥)

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि सुकुल ब्राह्मणवंशीय तुलसीदासजी रामचरितमानस के

कर्त्ता, नंददासजी के ताऊ के पुत्र, और स्वयं कृष्णदास के ताऊ थे। कृष्णदास की रत्नावली ताई, और कमला माता, लगती थी। नन्ददासजी ने रास पंचाध्यायी लिखी थी। तुलसीदास और नन्ददास दोनों के गुरु नरसिंहजी थे। ग्रन्थकर्त्ता कृष्णदासजी की पुष्पिका से प्रकट है कि वे सूकर क्षेत्र के निकट रामपुर ग्राम में रहते थे जिसका नाम पीछे से नन्ददासजी ने श्यामपुर रख दिया था।

(ख) **शिवसहाय की प्रति**— यह प्रति शिवसहाय कायस्थ ने सोरों में कार्तिक बदी ११ बुधवार १८७० वि० अर्थात् १७ नवम्बर, १८१३ ई० को नकल की। इसके पृष्ठ में सामान्यतया १४ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ३४ अक्षर हैं। देवनागरी लिपि स्पष्ट और सुपाठ्य है। इसमें प्रथम पाँच छप्पय मुरलीधर चतुर्वेद के भी सम्मिलित हैं। इसके सम्बन्ध में आपत्ति यही है कि इसकी लिखावट आधुनिक सी है।

(५) **कृष्णदास वंशावलि**—नन्ददासजी के पुत्र कृष्णदास ने अपनी वंशावली दस दोहों में लिखी थी। इनको मुरलीधर चतुर्वेद ने रत्नावली चरित के, और शिवसहाय कायस्थ ने सूकरक्षेत्र माहात्म्य के अन्त में, सम्मिलित कर लिया है। ये दसों दोहे परिशिष्ट में यथास्थान सन्निहित हैं। इनसे ज्ञात होता है कि वराह क्षेत्र के निकट रामपुर नाम का एक ग्राम था। वहाँ पण्डित नारायण सुकुल के चार पुत्र हुए—श्रीधर, शेषधर, सनक, और सनातन। सनातनजी के पुत्र परमानन्द और उनके पुत्र सच्चिदानन्द हुए। सच्चिदानन्दजी के दो पुत्र आत्माराम और जीवाराम हुए। आत्मारामजी के पुत्र तुलसीदास, और जीवारामजी के पुत्र नन्ददासजी तथा चन्द्रहासजी हुए। नन्ददासजी के कृष्णदास, और चन्द्रहासजी के व्रजचन्द्र उत्पन्न हुए। तुलसीदासजी ने रामचरितमानस लिखा, तो नन्ददासजी ने वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हो भागवत-रास रचा।

(६) **भ्रमर गीत**—नन्ददासजी ने 'भ्रमर गीत' लिखा था। उसकी प्रतिलिपि उनके पुत्र कृष्णदासजी के शिष्य बालकृष्ण ने भी सोरों में की। इस प्रति के केवल अन्तिम दो पत्र अर्थात् चार पृष्ठ कासगंज के हरगोविन्दजी पंडा से मुझे उपलब्ध हुए थे जिन्हें मैं कासगंज छोड़ते समय पं० वेदव्रत शर्मा को दे आया था। एक पृष्ठ तो अत्यन्त अस्पष्ट है और पढ़ने में नहीं आता। दो पृष्ठों का सम्बन्ध 'भ्रमर गीत' से है और दो का तुलसीदास और नन्ददास के वंश से। दोनों पत्र फटे-घिसे और भंगुर हैं और कहीं-कहीं मसि भी धूमिल हो गई है, उनकी हालत बड़ी नाजुक है। पत्र का आकार ५·४ इंच × ४·१ इंच है, और पृष्ठ के लिखितांश का ४·४ इंच × ३·० इंच। प्रत्येक पृष्ठ में लगभग ९ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में लगभग ६ शब्द हैं। देवनागरी लिपि सुवाच्य नहीं है, कठिनता से ही उखाड़ी जा सकती है। पाण्डु लिपि में माघ सोमवार १६७२ वि० संवत् का उल्लेख है। तिथि-पक्ष दोनों ही काल-ग्रस्त हो गये। तिथि की अस्पष्ट मात्रा से दोज या तीज दोनों ही संभव है, पर गणना से माघ कृष्णा ३ सोमवार १६७२ वि० तदनुसार ६ फरवरी, १६१५ ई० संगत है। पुष्पिका इस प्रकार है:—

न कियो सो यह गाइ पाइ रस पुंजना
बंदौ तुलसीदास के चरना
सानुज नन्ददास दुख हरना

जिन पितु आत्माराम सुहाए
जिन सुत राम कृष्ण जस गाए
(नं)द सुवन मम गुरु प्रवीना
दास कृष्ण मम नाम सो चीना
शुक्ल सनाढ्य तेज गुण रासी
धर्मधुरीण श्याम सर वासी
बालकृष्ण में उन कर दा(सा)
(सू)कर क्षेत्र जान मम वासा···भ्र

···भ्रमरगीत सम्पुरनम्...नंददास भ्राता तुलसीदास के स्यामसर वासी सोरों जी मध्ये लिखितं कृष्णदास सिष्य वालकृष्ण आज्ञानुसार गुरु कृष्णदास बेटा नन्ददास नाती जीवाराम के शुक्ल श्यामपुरी सनाढ्य······(भ)रद्वाज गोती सच्चिदानन्द के वेटा आत्माराम(ति)नके वेटा रामायन के करता तुलसीदास दूजे (के वे)टा नंददास चंद्रहास तिनके वेटा कृष्णदास ·····स के वेटा व्रजचंद पोथी लिखी माघ·····ीज चंद्रवार संवत् १६७२ शुभम्

उक्त पुष्पिका और पद्य से प्रकट है कि सच्चिदानन्द के दो पुत्र हुए—आत्माराम और जीवाराम। आत्माराम के पुत्र तुलसीदास हुए और जीवाराम के दो पुत्र नन्ददास और चन्द्रहास, तथा नन्ददास के पुत्र कृष्णदास थे और चन्द्रहास के पुत्र व्रजचन्द्र। बालकृष्ण कृष्णदास के शिष्य और सूकर-क्षेत्र के निवासी थे, उनके गुरु शुक्ल सनाढ्य भारद्वाज-गोत्री तथा श्यामसर-वासी थे।

(७) **वर्षफल**—यह कृति कृष्णदास की है जिसे उन्होंने नभ कृष्ण १३ शनिवार १६५७ वि० अर्थात् २८ जून १६०० ई० को पूर्ण किया। इसका आरम्भ इस प्रकार है :

"श्री गणेशायनमः। अथ वर्षफल लिष्यते। कवित्त

गनपति गिरीस गंग गौरी गुर गीरवान
गोप वेस गोकुलेस गोपीगुन गाइके
भूमि देव देव दिवि गाम धाम देवी देव
तात मात पाद कंज मंजु सीस नाइके
सूर सोम भौम सोम देवगुरु दैत्यगुरु
शुक्र शनि राहु केतु षेट मन लाइके
बाल वोध आस कवि दास दास कृष्णदास
भाषतु हौं वर्षफल वर्षग्रंथ ध्याइके।

अथ सूर्यफल दोहा

वर्ष लगन रवि वात पित रुज विवाद तिय रोग
कृष्ण चित्त चिंताकुलित करत हरत सुष भोग
तात अनुज चंदहास वुधवर निरदेसहिधारि
लिष्यौ जथामति वर्षफल बालबोध संचारि।"

इसका अंत इस प्रकार है :

कीरति की मूरति जहाँ राजे भगीरथ की
तीरथ वराह भूमि वेदनु जे गाई है
जाही धाम रामपुर स्याम सर कीने तात
स्यामायन स्यामपुर वास सुखदाई है।
सुकुल विप्रवंस मे विग्य तहाँ जीवाराम
तासु पुत्र नंददास कीरति कवि पाई है।
ता सुत हौं कृष्णदास वर्षफल भाषा रच्यौ
चूक होइ सोधें मम जानि लघुताई है ॥१॥
सोरह सौ सत्तावनि विक्रम के वर्ष माझ
भई अति कोपदृष्टि विस्व के विधाता की
बीतत अषाढ बाढ लाई बढि देव धुनी
बूड़ी जल जन्म भूमि रत्नावलि माता की
नारी नर बूड़े कछु सेस बड़ भाग रहे
चिन्हमिटे बदरी के द्रुपद कथा ताकी
आजु नभ कृष्ण मास तेरसि शनि कृष्णदास
वर्षफल पूर्यो भई दया बोध-दाता की ॥२॥

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि फलित ज्योतिष की इस पुस्तक को कृष्णदासजी ने अपने विद्वान् पितृव्य चन्द्रहास की इच्छा से लिखा था। पुस्तक को समाप्त करने से पूर्व उन्होंने अपने वंश के विषय में संकेत किया है कि मैं उन नन्ददासजी का पुत्र हूँ जो जीवारामजी शुक्ल ब्राह्मण के पुत्र थे, और मेरे पिता ने अपने ग्राम का नाम रामपुर से बदलकर श्यामपुर रख लिया था। उन्होंने दुःख के साथ इसका भी उल्लेख किया है कि रत्नावली की जन्मभूमि बदरी को गंगाजी की उस बाढ़ ने नष्ट कर दिया जो १६५७ वि० के आषाढ़ मास के अन्त में आई थी। उपर्युक्त तिथि वार गणना से शुद्ध हैं।

इस वर्षफल की प्रतिलिपि जो उपलब्ध है रुद्रनाथ ने की थी। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है : "इति श्री कवि कृष्णदास विरचित भाषावर्ष फल सम्पूर्णम् संवत् १८७२ मार्गसिर कृष्णा तृतीया ३ गुरु बासरे सहसवान नगरे। शुभम्। शुभम्।" इसके अन्तिम अर्थात् १८वें पन्ने पर यह पुष्पिका है : "इति मुग्धा दशा विचार। गुरुवर भानुदत्त शिष्येन उपाध्याय सोमनाथ पुत्रेन रुद्रनाथेन लिखितम्। सं० १८७२ मार्गसिर कृष्णा ४ पितृबासरे"। कदाचित् उक्त रुद्रनाथ को अपने गुरु भानुदत्त और पिता सोमनाथ के नामानुसार गुरुबासर और पितृबासर शब्दों से रविवार और सोमवार अभीष्ट थे।

इस पाण्डु लिपि में १८ देशी पत्र हैं। यह जल-प्रभावित प्रतीत होती है। इसकी जिल्द कभी नहीं बँधी, यद्यपि ऐसा करने का विचार रहा होगा ऐसा प्रतीत होता है। इसके पत्र ६·७ इंच × ४·५ इंच और लिखित अंश ४·५ इंच × ३·३ इंच हैं। इसके प्रत्येक पृष्ठ में सामान्यतः ६ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में सात शब्द। दो-दो लाल रेखाओं के हाशिए दोनों ओर हैं। द्वय-विरामचिह्नों के निमित्त रक्तमसि का उपयोग

हुआ है। पृष्ठ १५ और १६ पर कुछ शब्द और पृष्ठ १७ पर अन्तिम शब्द लालमसि के हैं। मंगलाचरण, शीर्षक और लिपिकार की पुष्पिका पर गेरू फेर दिया गया है।

लिपि देवनागरी है जो नितान्त सुवाच्य है। शिरोरेखाएँ ऐसी ही ऊर्मिल हैं, जैसी कि 'रत्नावली चरित' की उस प्रति में जो गोपालदास के द्वारा प्रस्तुत है। प्रथम पृष्ठ पर विलोभित हंसपद के द्वारा घकार के स्थान घकार ऊपर लिख दिया गया है। असंख्यात-द्वितीय पृष्ठ पर अशुद्ध रुकार के ऊपर शुद्ध रिकार लिखा गया है। कभी-कभी हाशिए का उपयोग छूटे हुए शब्दों के लिए हुआ है। एक स्थल पर विकृताक्षर पर गुणा का चिह्न अंकित कर दिया गया है और उसका उचित रूप हाशिए पर लिखा गया है। पृष्ठ १७ पर छूटा हुआ सकार विलोम हंसपद के साथ हाशिए में लिख दिया गया है और उस स्थल पर शिरो रेखा के निकट विलोम हंसपद दे दिया गया है।

(८) **सेवादास की टीका**—नाभादास कृत 'भक्तमाल' पर प्रियादास ने 'भक्तिरस बोधिनी' टीका की, उस पर सेवादास ने अपनी टीका मार्गशीर्ष शुक्ला १० वृहस्पतिवार सं० १८९४ वि० तदनुसार ७ दिसम्बर १८३७ ईसवी को पूर्ण की जो गणना से ठीक है।

पाण्डुलिपि में पृष्ठ के दोनों ओर तीन-तीन रक्त रेखाओं के हाशिए हैं। निर्देश चमकीली रक्त मसि में लिखे गये हैं, शेष पुस्तक काली मसि में है। प्रधान विषय तो पृष्ठ के मध्य में दिया गया है और टीकाएँ मूल के ऊपर-नीचे हैं। अधिक टिप्पणियाँ छोटे अक्षरों में हाशिए पर लिखी गयी हैं।

जिस कागज का उपयोग हुआ है वह देशी और टिकाऊ है। सब मिलाकर २१८ पत्र हैं; १२२, १६२, १९५ और १९६ संख्यक पत्र विद्यमान नहीं हैं। प्रथम और अन्तिम पृष्ठों पर, सुरक्षा के हेतु, कागज चिपका दिया गया है। पत्र का आकार १२·७ इंच × ९·७ इंच है और लिखितांश का १०·० इंच × ५·० इंच। सामान्य रूप से प्रत्येक पृष्ठ में १६ से २० तक पंक्तियाँ, और प्रत्येक पंक्ति में लगभग १९ शब्द हैं।

लिपि देवनागरी है, शब्दाक्षर सटे हुए हैं। इस प्रति के १४३वें पृष्ठ पर नन्ददासजी का, और १६३वें पृष्ठ पर तुलसीदासजी का उल्लेख है। वर्तनी की भयंकर किन्तु मनोरम भूलें विद्यमान हैं यथा 'ऐसे' के लिए 'अैप'। मुम्बई के खेमराज श्री कृष्णदास ने १९५७ वि० में भक्तमाल सटीक प्रकाशित किया है, उसमें और प्रस्तुत प्रति में आश्चर्यजनक साम्य है किन्तु उस में सेवादास का नामोल्लेख नहीं है। प्रस्तुत पाण्डुलिपि श्रीवेदव्रत शर्मा आयुर्वेदाचार्य को पण्डित कुंजविहारीलाल वैद्य और सोरों के राजारामजी के द्वारा स्व० पण्डित अंगदराम शास्त्री के पूर्वज-प्राप्त पुस्तकालय से २५ जनवरी १९४० ई० को उपलब्ध हुई थी :

नाभादासजी ने 'भक्तमाल' में गोस्वामी तुलसीदास के विषय में केवल एक छंद लिखा है, वह यह है :

त्रेता काव्य निबन्ध करी शत कोटि रमायन
इक अक्षर उच्चरै ब्रह्म इत्यादि परायन
अब भक्तन सुख देन बहुरि लीला बिस्तारी
रामचरन रस मत्त रहत अहनिशि व्रतधारी

संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो।

इस पर टीका-रूप से प्रियादास ने अनेक छन्द लिखे हैं, एक इस प्रकार है :

तिया सो सनेह बिन पूछे पिता गेह गई
भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आये हैं
वधू अति लाज भई रिस सों निकस गई
प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाए हैं।

उक्त छंद में 'वाही ठौर' को स्पष्ट करते हुए सेवादास अपनी टीका में लिखते हैं :

सूनो लखि गेह उमड्यो तिय सनेह जिय
रतनावलि दर्श हेत नैन अकुलाये हैं।
भादों की अरध राति चंचला चमक जाति
मंद मंद बिंदु परें घोर घन छाये हैं।
ऐसे में तुलसी षेत सूकर सों मोद भरे
चपल चाल चलत जात गंगधार धाये हैं।
शव पै सवार ह्वै गंगधार पार करी
बदरी ससुरारि जाय पौरिया जगाये हैं।

नाभाजी ने नन्ददासजी के विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी थीं :

लीला पद रस रीति ग्रन्थ रचना में नागर
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस ज्ञान उजागर
प्रचुर पयधलों सुजस रामपुर ग्राम निवासी
सकल सुकुल संवलित भक्त पद रेनु उपासी।
चन्द्र हास अग्रज सुहृद परम प्रेम पय में पगे
श्री नन्ददास आनन्द निधि रसिक सुप्रमुदित रंग मग।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नन्ददासजी रामपुर ग्राम के रहने वाले, चन्द्रहास के बड़े भाई थे। सेवादास की टीका में नन्ददास का जो उल्लेख है उससे प्रकट है कि नन्ददास और तुलसीदास का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य था। सेवादास की टीका का आरम्भ इस प्रकार है :

"श्रीमते रामानुजाय नमः। श्री हरि गुरु वैष्णवेभ्यो नमः। अथ श्री भक्तमाल टीका सहित लिष्यते। तहाँ अर्थ भक्तमाल में लिष्या है। भक्तभक्ति भगवन्त गुरु। सो चारि सरूप लिषे हैं। तहाँ हरि का सरूप न लिष्यो जाय कठिन है।...इति श्री भक्तमाल टीका ...लिष्यते।

(चौ) पाई : श्री वृ...सवारा तामैं सन्त अनेक प्रकारा
वंसीवट गोपेश्वर पास ग्यान गूदरी आगें वास।
तहाँ छेतर रतलाम को जानौं सब सुष धाम सुवासहि मानौं।
मूरति तीस रहैं जहाँ छाये सुषप्रद वास जानि सब आये।
दोहा : तिन मधि संत सिरोमनी सब परिपूरन काम
सरणागत प्रतिपाल हैं नाम श्री १०८ साधूराम ॥१॥

तिनकी पाद त्राण को रक्षक सेवादास
जन्म-जन्म यह बंदगी दीजे और न आस ॥२॥
सदा जाय आनन्द में घड़ी पल छिन दिन रैन
कबहु दुष व्यापै नहीं रहत हैं सुष के अैन ॥३॥
सेवादास दसकत लिष तामे षोट अपार
पंडित सुरता संत जन लीजयो टुटि सुधार ॥४॥

संमत साल लिष्यते।

अगहन सुक्ला दशमी वार वृहस्पति जानि
संवत् १८ से लिषे साल चौरावणि मानि ॥
१ श्री हरि पुर सस्यांमजी म्हाराजि की कृपा प्रसाद है।
रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं
रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं

इस प्रकार उपर्युक्त पुस्तकें गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में भारत के विभिन्न स्थानों मे, तथा अनेक रूपों में, विद्यमान जनश्रुति और लेख पर समुचित प्रकाश डालती हैं, अतएव वे महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी प्रामाणिकता पर अनेक आक्षेप भी हुए हैं, जिनका विवेचन वांछनीय है।

सोरों-सामग्री

तृतीय भाग : प्रत्यालोचन

प्राक्कथन—'विशाल भारत' में तुलसी-सम्बन्धी लेखों को पढ़कर सोरों-सामग्री का अवलोकन करने लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ० दीनदयालु गुप्त १६३६ ई० में, तत्पश्चात् प्रयाग विश्वविद्यालय के डॉ० माताप्रसाद गुप्त उसी वर्ष, व्यक्तिगत रूप से सोरों-कासगंज आये। दीनदयालुजी एक वर्ष पश्चात् सोरों-सामग्री की परीक्षा करने के लिए पुनः आये और दोनों बार उन्हें सामग्री प्रामाणिक प्रतीत हुई, किन्तु माताप्रसादजी ने इस पर कुछ सन्देह प्रकट किये हैं। डॉ० उदय नारायण तिवारी, पं० चन्द्रबली पांडे आदि विद्वानों ने कतिपय शंकाएँ उठायी हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'सोरों में प्राप्त गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत्त से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री की 'बहिरंग परीक्षा' और 'सोरों में प्राप्त गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत्त से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री की अन्तरंग परीक्षा' नामक दो लेख लिखे जो 'सम्मेलन पत्रिका' में संवत् १६६७ वि० के श्रावण-भाद्रपद और फाल्गुन, चैत्र के अंकों में, तदनन्तर 'तुलसीदास' नामक उनके प्रबन्ध में भी, प्रकाशित हुए। अतएव उन एवं अन्य शंकाओं पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

(अ) अन्तरंग परीक्षा

गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी रत्नावली ने अपनी पुस्तक 'दोहा रतनावली' में ४२वाँ दोहा इस प्रकार दिया है—

सागर ष रस ससी रतन संवत भो दुषदाइ।
पिय वियोग जननी मरन करन न भूल्यो जाइ ॥४२॥

इस दोहे के प्रथम चरण में, ससी = शशि = १, रस = ६, ष = ख = आकाश = ०, सागर = ४। रत्नावली इस प्रकार अपने पति-वियोग और मातृ-मृत्यु का संवत् १६०४ वि० देती है। 'दोहा रतनावली' की दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, एक तो गोपालदास की जो १८२४ वि० की है, और दूसरी गंगाधर की जो १८२६ वि० की है।

गंगाधर ने उक्त दोहे के प्रथम चरण का जो पाठ दिया है वह इस प्रकार है—सागर षर रस ससि रतन।' उन्होंने पाठान्तर रूप से हाशिये पर 'ससि' का इकार दीर्घ कर दिया है। प्रतीत होता है कि उन्हें स्वयं संवत् अस्पष्ट था। किसी पाठक ने षकार में पूँछ लगाकर उसे ककार बनाने की चेष्टा की हैं, किन्तु कुछ हिचकिचाहट के साथ, जैसा कि स्याही से स्पष्ट है। प्रति की मूल स्याही काली है और पूँछ लाल-सी मसि में लगाई गयी है। गोपालदास का पाठ शुद्ध और स्पष्ट है, उनकी प्रति गंगाधर की प्रति से कुछ पुरानी है किन्तु वह कुछ पीछे मिली थी। 'तुलसी प्रकास' के एक छन्द में 'निद्धि रस सिन्धु इन्दु' संवत् का उल्लेख है; उसमें इन्दु = १, सिन्धु = ४, रस = ६,

निद्धि=निधि=९, अर्थात् १४६९। यह शक संवत् है और रत्नावली के दिये हुए १६०४ वि० संवत् से मेल खाता है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इटावा की छपी 'दोहा रतनावली' का उपयोग किया और उन्हें 'सागर कर रस ससी रतन' का अशुद्ध पाठ ग्रहण करना पड़ा। उन्होंने 'सागर' का अर्थ 'सात' किया है, 'चार' करना चाहिए था, अतएव उन्होंने सम्पूर्ण चरण से १६२७ वि० संवत् ग्रहण किया है। उनकी 'अंतरंग परीक्षा' का मूलाधार यह अशुद्ध संवत् ही है। रत्नावली ने जो संवत् दिया है वह वास्तव में १६०४ वि० है। मूल के शोध लेने पर 'अन्तरंग परीक्षा' के तर्क और कल्पना पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

(आ) बहिरंग परीक्षा

सोरों की दश-विध सामग्री पर डॉ० गुप्त ने विचार किया है। यद्यपि उन्होंने समस्त पुस्तकों की प्राचीनता को स्वीकार किया है और उन्हें उन्हीं शताब्दियों की लिखी बताया है जिनकी वे लिखी हुई हैं, फिर भी अनेक स्थलों पर उन्हें निम्न-लिखित सन्देह उपस्थित हुए हैं :—

(१) **रामचरितमानस का बालकाण्ड।** इसकी पुष्पिका इस प्रकार है— "इति श्री रामचरित्र मानसे सकल कलिकलुष विध्वंसने विमल···ग्य संपादिनी नाम १ सोपान समाप्त: संवत् १६४३ शाके···१५०८···वासी नन्ददास पुत्र कृष्नदास हेत लिषी रघुनाथदास ने कासीपुरी में।" डॉ० गुप्त मानते हैं कि देखने में प्रति इतनी काफ़ी पुरानी जान पड़ती है कि वह विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी की कही जा सके, फिर भी उन्हें ये तीन सन्देह उत्पन्न हुए हैं :—

(क) "पुष्पिका की अंतिम पंक्ति और अन्त से दूसरी पंक्ति के बीच में एक छोटी आड़ी रेखा इस प्रकार खींची गई कि उससे जान पड़ता है कि पुष्पिका उसके ऊपर ही समाप्त हो गई थी।" इस शंका के समाधान में कहा जा सकता है कि दो विषयों के पार्थक्य को दिखाने के लिए ही आड़ी रेखाएँ खिची प्रतीत होती हैं अर्थात् काण्ड की समाप्ति के और प्रतिलिपि के विवरण के पार्थक्य को। यदि पुष्पिका को आड़ी रेखा से पूर्व तक ही मान लिया जाय, तो भी प्रति १६४३ वि० अर्थात् १५०८ शक संवत् की लिखी हुई स्पष्ट है।

(ख) दूसरी शंका है कि 'अंतिम पंक्ति की लिखावट शेष प्रति और पुष्पिका की लिखावट से पूरा-पूरा मेल नहीं खाती।' यद्यपि 'अक्षरों के बीच के फ़ासले और उनकी बनावट में साम्य दिखाई पड़ता है' तथापि 'अन्तिम पंक्ति में अक्षरों के ऊपर स्याही फेरकर उन्हें बिगाड़ दिया है, अत: इन लिखावटों का मिलान गोलाई और खत की दृष्टियों से नहीं किया जा सकता।'

इसके समाधान में निवेदन है कि मैंने "बाल काण्ड" की उक्त प्रति के सभी उपलब्ध पृष्ठों को देखा है। उनमें अनेक स्थलों के अक्षर पुष्पिका की अन्तिम पंक्ति के अक्षरों के समान हैं। वैज्ञानिक किरणों के द्वारा विदित हुआ कि पुष्पिका की अन्तिम पंक्ति पर मसि फेरी हुई नहीं है। संदेह का कारण गेरु और जल का प्रभाव

हो सकता है। किरणों से यह भी प्रकट हुआ कि समग्र पुष्पिका के नीचे और कुछ लिखा हुआ नहीं, और न पहली किसी लिखावट को मिटा कर नयी ही लिखी गयी है। प्रधान बात तो यह है कि हस्तलेख के विशेषज्ञ की सम्मति में समस्त उपलब्ध काण्ड और उक्त दोनों पुष्पिकाएँ एक ही लेखक के हाथ की लिखी हुई हैं (देखिये परिशिष्ट)। इसी प्रकरण में यह कह देना आवश्यक है कि काशी के एक तथाकथित लिपि-विशेषज्ञ प्राध्यापक की आपत्ति है कि उन दिनों 'कृष्ण' और 'विष्णु' आदि शब्दों के 'ष्ण' को 'ष्न' नहीं लिखा जाता था; पर रामचरितमानस के प्रायः सभी प्रामाणिक छपे और हस्तलिखित संस्करणों में 'ष्न' विद्यमान है और अद्यावधि सर्वमान्य अयोध्या के 'बालकाण्ड' में भी। यह रूप 'सूरसागर' में भी उपलब्ध है, यथा: **अनाथ के नाथ प्रभुकृष्न स्वामी** (२१४); **कृष्न कृपा सब ही तें न्यारी** (३७२७)। अतएव आपत्ति नितान्त निराधार है।

(ग) शंकाकार को पुष्पिका में संवत् '१६४३' के '६' और '४' का एवं 'शाके' और '१५०८' के बीच के अन्तर अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं, किन्तु ध्यान देने की बात है कि पुस्तक में अन्य स्थलों पर इसी प्रकार के फ़ासले हैं। यदि ऐसे अन्तर पुस्तक के अन्य स्थलों में न होते और केवल पुष्पिका में ही होते तो बात विचारणीय थी। '६' श्रार '४' में इतना अन्तर रखने से लिपिकार का स्वार्थ-साधन भी क्या हो सकता था। विरल लेख तो उसका अभ्यास है। ऐसा प्रतीत होता है कि '१५०८' को 'शाके' से इतना हटा कर लिखते समय लिपिकार की मनोवृत्ति हाशिये तक पहुँचने की थी। यों तो वह इस निमित्त खड़ी पाइयों का भी उपयोग कर सकता था, किन्तु समय पर जो सूझ जाय वही ठीक है। उसे क्या पता था (और चिन्ता भी क्या थी) कि लगभग पौने-चार सौ वर्ष पश्चात् उसकी लिखावट पर सहानुभूति-रहित आक्षेप भी होगा।

(२) **रामचरित-मानस का आरण्य-काण्ड**। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है :

१. इति श्री रा

२. मायने सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल वैराग्ये संपादिनी षट सुजन संवादे राम वन चरित्र

३. बर्ननो नाम तृतियो सोपान आरंन्यकांड समाप्त ॥३॥ श्री तुलसीदास गुरु की आग्यासो उन

४. के भ्रातासुत कृष्णदास सोरों क्षेत्र निवासी हेत लिषितं लछिमनदास कासीजी मध्ये सं

५. वत् १६४३ असाढ़ सुद्ध ४ सुक्रे इति ॥

इस विषय में डॉ० गुप्त मानते हैं कि 'देखने में यह प्रति इतनी काफ़ी पुरानी जान पड़ती है कि विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी की कही जा सके' पर वे शंका करते हैं कि "इस पुष्पिका में यह ध्यान देने योग्य है कि 'इति' से '॥३॥' तक का अंश पहले लाल स्याही से लिखा हुआ था, पीछे से उस पर चमकदार स्याही फेरी गई है। इस पुनर्रञ्जन में केवल 'इति' और 'ग्ये' के एकार की मात्रा अपने पहले रंग में बने हुए हैं, शेष सभी काले कर दिये गए। इस अंश के अनन्तर 'श्री' से 'इति' तक का अंश

चमकदार काली स्याही से लिखा हुआ है। इस पर फिर स्याही नहीं फेरी गई है केवल संवत् का '१६४' पुनर्लेखन का परिणाम जान पड़ता है।" इसके अतिरिक्त शंका चलती है कि "श्री तुलसी' से लेकर अन्तिम 'इति' तक की लिखावट शेष प्रति और पुस्तिका की लिखावट से शैली, गति और अक्षरों के आकार के विषय में भिन्न ज्ञात होती है, यद्यपि वह गोलाई और ख़त, अक्षरों के बीच के फ़ासले और पंक्ति की सीधाई के सम्बन्ध में एकसी जान पड़ती है। 'क' 'ह' '१' और '६' की और इकार की मात्रा की बनावट में दोनों अंशों में कुछ अन्तर ज्ञात होता है।"

समाधान में कहा जा सकता है कि बात ऐसी नहीं है। 'श्री तुलसी' से लेकर अन्तिम 'इति' पर्यन्त शैली, गति और अक्षरों के आकार में भिन्नता नहीं जान पड़ती; और इतना तो शंकाकार भी मानते हैं कि लिखावट (गोलाई, ख़त, अक्षरों के बीच के फ़ासले और पंक्ति की सीधाई के सम्बन्ध में) एकसी जान पड़ती है। हस्तलेख-विशेषज्ञ की सम्मति में भी पुष्पिका और समस्त उपलब्ध काण्ड एक ही व्यक्ति के हाथ के लिखे हुए हैं (दे० परिशिष्ट)।

"इति" के देखने से ज्ञात होता है कि लाल मसि फीकी थी। अतः जान पड़ता है कि 'इति' को छोड़ पुष्पिका के समस्त लाल अक्षरों को पुनः काली स्याही से लिखा गया। 'वैराग्य' पर जो लाल मसि में भूल से एकार की मात्रा लग गयी थी वह काली स्याही के फेरते समय यों ही छोड़ दी गयी। वास्तव में, वहाँ 'ग्ये' अशुद्ध था और 'ग्य' शुद्ध है।

जब यन्त्र के द्वारा इस पुष्पिका का परीक्षण किया गया तो विदित हुआ कि लाल अक्षरों पर काली मसि से लिखा गया और यन्त्र से यह भी विदित है कि "श्री" से "निवासी" तक काले अक्षरों के सहारे लाल भी स्पष्ट हैं; किन्तु "हेत" से अन्तिम "इति" तक लाल अक्षर स्पष्ट नहीं और संवत् "१६४३" में से केवल '४' के नीचे लाल ४ भी चमकता है। वैज्ञानिक परीक्षक का अनुमान है कि रक्त मसि फीकी हो जाने के कारण पुनर्लेखन की आवश्यकता पड़ी होगी; मिटाया कुछ नहीं गया (दे० परिशिष्ट)।

हमारा तर्क है कि डॉ० गुप्त संवत् '१६४३' के '३' को तो ठीक ही समझते हैं। '४' के नीचे '४' यंत्र के द्वारा चमकता ही है। 'रामचरितमानस' १६३१ वि० में लिखा गया, और शंका सर्व-प्रथम १९९७ वि० में उत्पन्न हुई; अतएव '१' अपरि-हार्य है। इसमें संदेह नहीं कि '६' अपेक्षाकृत बड़ा है, यद्यपि लिपिकार '६' को बड़े आकार का भी लिखता था, जैसा कि पुस्तक के अन्य स्थल से स्पष्ट है।

यदि यह बात थोड़ी देर के लिए मान ली जाय कि '६' के स्थान पर कोई अन्य अंक था, तो यह जानना चाहिए कि उसके स्थान पर कौनसा अंक हो सकता था। यह तो असम्भव है कि '६' के स्थान पर '५' अथवा इससे भी पूर्व का और कोई अंक रहा हो क्योंकि 'मानस' १६३१ वि० में लिखा गया था। इसलिए १६३१ से पूर्व किसी भी संवत् की कल्पना निरर्थक है। '६' के स्थान में यदि हो सकता था तो वह अंक '७' '८' अथवा '९' होता। और यदि इनमें से कोई था, तो उससे बने संवतों की मिति, पक्ष, मास, वार आदि का मेल भी होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं

है। मुझे भारत-सरकार के एपिग्रेफ़िस्ट एवं पुरातत्व विभाग के संयुक्त-कर्णधार से विदित हुआ है कि पुष्पिका की मिति आषाढ़ शुद्ध ४ शुक्रवार सँवत् १६४३ गणना के अनुसार ठीक है, और १७०३, १७४३, १८०३, १८४३, १९०३ अथवा १९४३ संवत् में उक्त तिथि, पक्ष, मास, बार का योग न था, पर वह योग १६४३ में था। अतः उक्त पुष्पिका के संवत् में किसी प्रकार के संदेह का अवकाश नहीं।

इसके अतिरिक्त यह और ध्यान देने योग्य है कि उक्त पुष्पिका में "श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा सों" के नीचे भी लाल मसि के ये ही अक्षर, जैसा कि उल्लेख हो चुका है, यन्त्र-द्वारा स्पष्ट हैं। तुलसीदासजी की आज्ञा तो उन्हीं के जीवन काल में अर्थात् १६८० वि० तक प्राप्त हो सकती थी। अतः ये शब्द भी उक्त प्रति की प्रामाणिकता के द्योतक हैं।

"सुद्ध" शब्द को लेकर कुछ क्लिष्ट कल्पना कर डाली गयी है। उसका समाधान तो किसी भी कोश से हो सकता है। 'सुद्ध' का अर्थ है शुक्ल पक्ष। एक विद्वान् को, पुष्पिका में, "उनके" शब्द पर आपत्ति है कि खड़ी बोली का वह शब्द व्रजभाषा में क्यों आ विराजा ? निवेदन यह है कि वह शब्द चाहे व्रजभाषा का हो चाहे खड़ी बोली का; किन्तु उसका प्रयोग व्रजभाषा के 'जड़िया' एवं तुलसीदासजी के समकालीन महाकवि नन्ददास ने 'भ्रमर गीत' में इस प्रकार किया है :

"जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते"। (२०)

तुलसीदासजी ने भी स्वयं 'गीतावली' (२, ३१) में 'उनकी' को इस प्रकार प्रयुक्त किया है :

"उनकी कहनि नीकी रहनि लखन-सी की"

सूर और तुलसी दोनों ने ही "उन" का प्रयोग किया है, यथा—

"उन तो करी पाछिले की गति, गुन तोरो बिच धार" सू० सा० १,१७५

इस प्रकार यह पुष्पिका वैज्ञानिक एवं साहित्यिक परीक्षण से सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध होती है।

(३) सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा—डॉ० गुप्त को "देखने में प्रति इतनी पुरानी जान पड़ती है कि उसे विक्रमीय १६वीं शताब्दी का कहा जा सकें ;" किन्तु उसके प्रत्येक शब्द का दूसरे शब्द से अलग लिखा जाना, प्रत्येक शब्द में आने वाले अक्षर को शिरोरेखा के नीचे लिखा जाना और उन्हें प्रत्येक दूसरे शब्द के अक्षर-समूह से अलग रक्खा जाना खटकता है। प्रति का लिपि-काल संवत् १८७० दिया गया है, इस समय के लगभग की एक भी प्रति शंकाकार के देखने में नहीं आई है जिसमें उपर्युक्त लेखन-शैली वर्ती गई हो। उत्तर में यह निवेदन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस पुस्तक की एक और खण्डित किन्तु प्राचीनतर प्रति विद्यमान है, जिसे पण्डित मुरलीधर चतुर्वेद ने सं० १८०६ विक्रमी में नकल किया था और जिसकी लिपि-शैली निःसंदेह प्राचीन है। इसके अतिरिक्त कहा जा सकता है कि सूकरक्षेत्र माहात्म्य १६२७ वि० में अर्थात् आज से ६१ वर्ष पूर्व छप भी चुका था।

(४) रत्नावली—इसके विषय में डॉ० गुप्त मानते हैं कि "देखने में प्रति इतनी पुरानी अवश्य जान पड़ती है कि उसे विक्रमीय १६वीं शताब्दी की कही जा

सके।" फिर भी शंका चलती है कि "रत्नावली अब दो संस्करणों में प्रकाशित है। एक पं० भद्रदत्त जी वैद्यभूषण, कासगंज से प्राप्य है, और दूसरा पं० प्रभुदयालु शर्मा, शर्माभवन, इटावा से प्राप्य है। उसमें जो चौथा छप्पय दिया हुआ है वह अवश्य 'रत्नावली' प्रति में नहीं है।"

कथन वस्तुतः सत्य है, किन्तु शंकाओं के बीच वह कुछ भ्रमोत्पादक हो गया है। अतः इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। मुरलीधर चतुर्वेद ने 'रत्नावली चरित' लिखा था। उसकी नकल उनके शिष्य रामवल्लभ मिश्र ने की। जिस छप्पय का उल्लेख है वह चतुर्वेदजी की प्रति में अन्य अनेक छप्पयों के साथ विद्यमान है, किन्तु मिश्रजी ने 'रत्नावली' सम्पूर्ण करने के पश्चात् केवल तीन छप्पय दिये हैं, जिनमें यह नहीं है। वैद्यभूषण वाली 'रत्नावली' का संपादन श्री नाहरसिंह सोलंकी ने किया और उन्होंने उस छप्पय को भी सम्मिलित कर दिया। या तो उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था, अथवा उन्हें वहाँ पाद-टिप्पणी दे देनी चाहिए थी। शंकाकार ने इस ओर इशारा कर अच्छा ही किया। मैंने उचित समझा कि सोरों की सामग्री को मूल रूप में जनता के समक्ष रख दिया जाय। इसी दृष्टि से 'तुलसी-चर्चा' नामक पुस्तक में मई १९४१ तक की प्राप्त सभी आवश्यक सामग्री यथासम्भव ज्यों की त्यों मैंने उपस्थित कर दी थी और प्रस्तुत प्रबन्ध में भी वह सब एवं तत्पश्चात् प्राप्त अन्य सामग्री उपस्थित की जा रही है।

मुरलीधर चतुर्वेद की रचना-शैली के विषय में भी शंका इस प्रकार उठायी गयी है—"जब हम मुरलीधर चतुर्वेद-कृत 'रत्नावली' की जाँच करते हैं तो हमें एक बात उसमें खटकती है। वह है उसकी शैली और शब्द-विन्यास का अपेक्षाकृत आधुनिक होना। नीचे लिखी पंक्तियों में यह बात ध्यान देने योग्य है :

सीम प्रेम तुम करी पार नाथ प्रेम के तुम अधार
मम सुप्रेम निज हिये धार उतरे प्रिय सुरसरित पार।
जग अधार पद प्रेम धार जात मनुज भव उदधि पार
प्रेम हीन जीवन असार नाथ प्रेम महिमा अपार॥

शंकाकार ने यह निर्देश नहीं किया है कि उक्त उद्धरण में आधुनिकता किन कारणों से है, और न यह दिखाया कि अमुक शब्द, छन्द या भाव उन दिनों प्रयुक्त नहीं होता था जिन दिनों की यह कृति है। नीचे कुछ प्राचीन छन्द उद्धृत हैं, जिनकी शैली मिलती-जुलती है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ५६, अंक १, संवत् २००८) में श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज' नामक लेख में थेघनाथ या थेघू की कविता का कुछ अंश दिया है जिसका रचना-काल १५५७ वि० और लिपि-काल १७२७ वि० दिया गया है :—

इहि संसार न कोऊ रह्यौ। भान कुवरु थेघू सों कह्यो
माता पिता पुत्र संसारू। यहि सब दीसे माया जारू
जाहि नाम ना कलजुग रहै। जीवै सदा मुवौ को कहै
कहा बहुत करि कीजै आनु। जो जानै गीता को ग्यानु॥

उक्त पत्रिका के वर्ष ५७ अंक १ संवत् २००९ में, श्री वासुदेव गोस्वामी ने हरिराम

व्यास को सत्रहवीं शताब्दी का माना है और उनकी रचना में से निम्नलिखित त्रिपदियाँ उद्धृत की हैं—

कह्यौ भागवत शुक अनुराग
कैसे समझें बिनु बड़ भाग
श्री गुरु सकल कृपा करी ।।
व्यास आस करि बरनों रास
चाहत है वृन्दावन वास
करि राधे इतनी कृपा ।।
निजु दासी अपनी करि मोहि
नित प्रति श्यामा सेऊं तोहि
नव निकुंज सुख पुंज में ।।
हरि वंसी हरि दासी जहाँ
मुहि करुना करि राखौ तहाँ
नित्य विहार अधार है ।।
कहत सुनत बाढ़े रस रीति
श्रोतहिं वक्तहिं हरिपद प्रीति
रास रसिक गुन गाइहौ ।।३०।।

इसके अतिरिक्त महाकवि सूरदास के गीतानुवाद की छन्द-भाषा-शैली मुरलीधर चतुर्वेद की शैली से कितनी अधिक मिलती है। 'व्रज भारती' के वर्ष १०, संख्या ४-६ में श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'सूरगीता' का परिचय दिया था : उसमें

धृतराष्ट्र उवाच

अति धर्म्म छेत्र कुरु छेत्र मध्य। सुत मेरे अरु पांडव प्रसिद्ध ।।
जुध हेतु जुरे जे सरब आय। सो करत कहा संजय बताय ।।

संजय उवाच

देखी पांडव सेना उदार। करि व्यूह रचन सम्यक प्रकार ।।
दुरजोधन आचारज समीप। ए बाकि कहे सुनिये पृथीप ।।
पांडव सैना दीरघ विचारि। द्रौनाचारज लोचन निहारि ।।
है धृष्टिदुमन तब सिष बलिष्ठ। तिहैं करी बिहु रचना प्रतिष्ठ ।।
अति सूर धनुरधर बपु प्रचण्ड। अरजुन्न भीम जोधा अखण्ड ।।
जुजधान और भूपति विराट। संग्राम बिरारम सत्रु घाट ।।

इस शैली की तुलना 'रत्नावलि चरित' से कीजिये :

वन्दों बिकट वरास ईस। बन्दों सनकादिक मुनीस ।।
सती सारद हि सीस नाइ। सावित्री सिय गुनन गाइ ।।
अरुन्धती दमवन्ति नारि। अनसूया पुनि गान्धारि ।।
सती भई जे जगत धाम। तिनहिं सवनु कहूँ करि प्रनाम ।।

पार्वती-विवाह सम्बन्धी, सूरसागर की, निम्न लिखित पंक्तियों पर और विचार कीजिये :

सती हियें धरि सिव को ध्यान ।
दच्छ जज्ञ में छांड़े प्रान ॥ ४२

और अन्त में साम्यकेनिपत्ति, गोस्वामी तुलसीदास की ही शैली का अवलोकन कीजिये—

तब चले बान कराल । फुंकरत जनु बहु व्याल
कोपेउ समर श्रीराम । चले विसिख निसित निकाम
अवलोकि खरतर तीर । मुरि चले निसिचर बीर
भए क्रुद्ध तीनिउ भाइ । जो भागि रन से जाइ
तेहि बधव हम निज पानि । फिरे मरन मन ठानि
आयुध अनेक प्रकार । सनमुख ते करहिं प्रहार
रिपु परम कोपे जानि । प्रभु धनुष कर संधानि
छांडे बिपुल नाराच । लगे कटन बिकट पिसाच
उर सीस भुज कर चरन । जहँ तहँ लगे महि परन
चिक्करत लागत बान । धर परत कुधर समान
भट करत तन सत खंड । पुनि उठत करि पाषंड
नभ उड़त बहु भुज मुंड । बिनु मौलि धावत रुंड
खग कंक काक सृगाल । कट कटहिं कठिन कराल ।

रा ३, १६ ख, १-१३

(५) रत्नावली लघु दोहा संग्रह—इसकी दो प्रतियाँ हैं । एक तो पं० रामचन्द्र बदरिया वाले के हाथ की सं० १८७४ में लिखी हुई, और दूसरी ईश्वरनाथ पण्डित के हाथ की संवत् १८७५ की लिखी हुई । डा० गुप्त दोनों प्रतियों को इतनी पुरानी मानते हैं कि वे १६वीं शताब्दी की ही कही जा सकें । वे यह भी लिखते हैं कि "रत्नावली लघु दोहा संग्रह के सम्बन्ध में अवश्य हमें कोई सन्देहजनक बात ज्ञात नहीं होती ।" फिर भी उनकी शंका इस प्रकार प्रस्फुटित होती है—"पर सोरों में मिली हुई प्रत्येक अन्य सामग्री के सन्देहातीत न होने के कारण इस 'लघु दोहा संग्रह' के सम्बन्ध में भी यदि किसी को पर्याप्त विश्वास न हो तो कुछ आश्चर्य नहीं ।" इसके उत्तर में केवल यही निवेदन है कि यह शंका आशंका-मात्र है । इस लघु संग्रह के २, ४, ७, ६, ११, १५, १६, १७, ६८ और ६६ संख्यक दोहे ही रत्नावली-तुलसीदास के जन्म-स्थान तथा अन्य परिचय के लिये पर्याप्त हैं ।

(६) दोहा रत्नावली—डॉ० गुप्त लिखते हैं कि "दोहा रत्नावली" की यदि कोई प्राचीन प्रति है तो हमें देखने को नहीं मिली, इसलिए उसके सम्बन्ध में हम कुछ भी कहने में असमर्थ हैं ।" वे अन्यत्र कहते हैं कि पं० प्रभुदयाल वाले संस्करण का "आधार कोई हस्तलिखित प्राचीन प्रति है या नहीं यह कहना कठिन है ।"

यदि कोई वस्तु शंकाकार को देखने को न मिल सकी तो क्या वह संसार में ही नहीं थी ? लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ० दीनदयालु गुप्त उनसे पहले ही सोरों हो गये थे । तत्पश्चात् उन्होंने 'गुसाईं तुलसीदास की धर्मपत्नी रत्नावली', नाम का लेख लिखा जो जनवरी १६४० की 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में छपा । उस अंक के द्वितीय पृष्ठ पर वे लिखते हैं "रत्नावलि के दोहा संग्रहों में से एक में १११ दोहे हैं,

और दूसरे में २०१ दोहे हैं। इन्होंने महात्मा तुलसी के जीवन पर भी एक नया प्रकाश डाला है। इन ग्रंथों की प्रामाणिकता की मैंने सोरों जाकर जाँच की है और मुझे इन ग्रंथों की प्रामाणिकता पर सन्देह करने का विशेष कारण नहीं ज्ञात होता है। हिन्दी के विद्वानों से निवेदन है कि वे इस सामग्री की निष्पक्ष रूप से जाँच करें।" ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० दीनदयालु गुप्त के मन में किन्हीं लोगों ने कुछ सन्देह उत्पन्न किये, क्योंकि वे शंकाकार के एक वर्ष पश्चात् दोबारा सोरों-सामग्री की परीक्षा करने आये। किन्तु फिर भी उन्होंने सोरों-सामग्री को प्रामाणिक ही पाया। जनवरी १६४१ की 'हिन्दुस्तानी' में उन्होंने महाकवि नन्ददास का जीवन-चरित लिखा। उसके २६६वें पृष्ठ पर उन्होंने लिखा कि "मैंने दो बार सोरों जाकर इन ग्रन्थों का अवलोकन किया है। मुझे ग्रन्थ प्रामाणिक जान पड़े हैं।" 'दोहा रत्नावली' की एक और प्रति बदायूँ से प्राप्त हुई, जिसको गोपालदास नामक व्यक्ति ने गंगाधर से भी पहले १८२४ वि० में नकल किया था। इन दोनों की और लघु-दोहा-सग्रहों की प्रतिलिपियाँ पाठान्तर, सहित 'तुलसी चर्चा' में और प्रस्तुत प्रबन्ध में संकलित हैं।

एक विद्वान् को रत्नावली की रचना में "हृदयेश" और "वा" खटकते हैं। वे पहले शब्द को बँगला के, और दूसरे को आर्य समाज के, साहित्य से प्रेरित-प्रभावित मानकर उस रचना को रत्नावली के समय की नहीं समझते। समाधान-रूप से निवेदन किया जा सकता है कि जिन शब्दों का प्रयोग तुलसीदास जी ने किया है, क्या उनका प्रयोग उनकी पत्नी नहीं कर सकती थी ? तुलसीदास जी ने लिखा :

"अज अद्वैत अगुन हृदयेसा", रा ७, ११० घ, २
"तिन्ह के सम वैभव वा विपदा", रा ७, १३ख, ७

रत्नावली ने भी लिखा :

हाय सहज ही हौं कहो लह्यो बोध हिरदेस। दो० र० १
बिथत दुखित ह्वै चलि गये रतनावलि उर भूप। दो० र० २
जाके कर में कर दयो मात पिता वा भ्रात। दो० र० ११६

(७) **गोस्वामी तुलसीदास का घर**—"मुहल्ला जोग मारग (योग मार्ग) में बुद्धु गद्दी नामक एक मुसलमान ग्वाले (?) का कच्चा मकान है। कहा जाता है कि उसी मकान के स्थान पर पहले गोस्वामीजी का मकान था। यह मकान किसी पुराने मकान के अवशेष पर बनाया हुआ जान पड़ता है। चहार दीवारी का फाटक स्पष्ट ही किसी पुराने फाटक के भग्नावशेष पर बनाया हुआ है······मुसलमानों की एक बस्ती है जिसमें कसाई भी हैं।" "कवि के घर के सम्बन्ध में सोरों में एक जनश्रुति है : 'तुलसी घर मरघट्ट में गल कटियन के पास। अपनी करनी आप संग तू क्यों होय उदास।' ऊपर हमने जिस मकान की स्थिति देखी है उसके सम्बन्ध में यह जनश्रुति लागू हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं। इस मकान के साथ एक और परम्परा लगी चली आती है। सोरों के लोगों का यह विश्वास है कि इस मकान की मिट्टी कन्वर (कर्णमूल प्रदाह) नामक रोग में गुणकारी होती है, और इसीलिए वे अब भी इसे ले जाते हैं और उपर्युक्त रोग में इसका प्रयोग करते हैं।" इस विषय में डॉ० गुप्त की शंका है कि "इस

परम्परा से यह बात सिद्ध नहीं होती कि वह मकान, जिसकी मिट्टी लोग इस प्रकार ले जाते हैं तुलसीदास का था।" किन्तु इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि उक्त तथ्य निरी परम्परा ही नहीं, इसका उल्लेख मुरलीधर चतुर्वेद ने सं० १८२९ में, अर्थात् आज से १७९ वर्ष पहले, 'रत्नावली चरित' में इस प्रकार किया है—'चरन सदन रज जासु कोइ, धरत देह रुज रहित होइ।'

डॉ० गुप्त आगे लिखते हैं "इस मकान के सम्बन्ध में एक और बात है जिसे सोरों को तुलसीदास की जन्मभूमि मानने वाले लोग प्रकाश में नहीं लाते। मुझे स्थानीय जाँच से यह ज्ञात हुआ है कि उपर्युक्त मकान, उससे मिले-जुले कुछ मकान भी पहले राजोरियों के थे (शुक्लों के नहीं) और वे राजोरिया घराने भी धीरे-धीरे नष्ट हो गए हैं यह बात लेखक को कुछ कठिनाई के बाद ज्ञात हुई क्योंकि सोरों का अधिकांश जन-समाज यह चाहता है कि सोरों तुलसीदासजी की जन्म-भूमि मानी जाय, और यह बात कदाचित् उसके मार्ग में बाधक होती। फलतः जब तक इस बात का कोई यह विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिल जाता कि वह घर शुक्लों का था प्रस्तुत लेखक उसे राजोरियों का ही मानेगा।"

समाधान रूप से निवेदन है कि जब तुलसीदास सोरों के थे ही, तो सोरों का अधिकांश जन-समाज क्यों न चाहे कि सोरों गोस्वामी तुलसीदास की जन्मभूमि समझी जाय। यह इच्छा तो स्वाभाविक और उचित थी। योग-मार्ग के वे सभी मकान राजोरियों के थे शुक्लों के नहीं, यह तथ्य नहीं। उस मोहल्ले में तो और भी आस्पद वाले ब्राह्मणों के घर थे और हैं। शंकाकार कुछ दिन तक भाषा-विज्ञान के अनुसार 'राजोरिया' शब्द को 'राजापुरिया' का विकृत रूप समझते थे, किन्तु उन्होंने अपनी यह धारणा पीछे से बदल दी। शंकाकार ने स्वयं बताया है कि राजौरा आगरे जिले में आगरा शहर से बत्तीस मील की दूरी पर है, यद्यपि एटा जिले में भी राजौर नामक स्थान है। अतएव यदि राजोरियों का निकास राजौरा अथवा राजौर से मानें तो इसमें सिद्धांत की क्या हानि हुई? दिल्ली अथवा लखनऊ का रहने वाला कलकत्ते में भी बैठकर अपने को दहलवी अथवा लखनवी कहता है। आगरे के रहने वाले हमारे परिचित एक सुनार और एक खत्री अपने नाम के आगे राजौरा लगाते हैं। मथुरा का मूल-निवासी मथुरिया कहा जाता है, तो राजौरा अथवा राजौर का मूल-निवासी राजोरिया कहा जा सकता है। पर क्या यह नितान्त आवश्यक है कि राजोरिया शुक्ल नहीं हो सकता। क्या यह आवश्यक है कि राजोरिया ब्राह्मण ही हों, और क्या यह असम्भव है कि राजोरियों के मकान में शुक्ल नहीं रह सकते अथवा शुक्लों के घर में राजोरिया नहीं रह सकते? समय के बीतने पर राजोरियों का मकान शुक्लों का कहलाने लगता है, अथवा शुक्लों का मकान राजोरियों का।[1]

(८) **महाकवि नन्ददास का घराना।** इस विषय में डॉ० गुप्त इस प्रकार लिखते हैं:—"यहाँ पर सनाढ्य शुक्लों का एक घराना है, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह नन्ददास की वंशपरम्परा में है। इस समय इस कुल में एक पंडित बाबूराम हैं,

१. 'तुलसी प्रकास' के अनुसार, गोस्वामी तुलसीदास के पिता पंडित आत्माराम सुकुल रामपुर से आकर राजोरिया वंशीय ननसाल के सूने घर में सोरों आ बसे थे।

और उनका एक भतीजा है जो उनके भाई उन स्वर्गीय मुरारीलाल का पुत्र है जिनसे मानस की उपर्युक्त प्रतियों की प्राप्ति बताई जाती है।" शंका इस प्रकार है: "इस बात का यथेष्ट प्रमाण कोई नहीं है कि बाबूराम शुक्ल और उनके घर वाले नन्ददास के वंशज हैं। स्वर्गीय मुरारीलाल का कथन-मात्र इस सम्बन्ध में प्रमाण नहीं हो सकता। सोरों यात्रा में मैंने बाबूरामजी से मिलना चाहा, पर वे बाहर चले गये थे। इसलिए मिलना न हो सका। पर जो कुछ मैंने उनके सम्बन्ध में वहां सुना उससे मुझे सन्देह हुआ कि वे भी अपने को नन्ददास का वंशज कहते हैं या नहीं।"

गुप्तजी ने यह नहीं लिखा कि बाबूरामजी के विषय में उन्होंने क्या सुना, लिख देना उचित था। न जाने उनका 'यथेष्ट प्रमाण' से क्या तात्पर्य है? राजा-महाराजाओं एवं कुछ समृद्ध वंशों को छोड़कर बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने पुरखों की बीस-तीस पीढ़ियों का विवरण दे सकें। जनश्रुति में तो कुछ न कुछ विश्वास करना ही पड़ता है। गोस्वामीजी का जन्म-स्थान सोरों था, इसमें केवल जन-श्रुति ही तो प्रमाण नहीं है, स्वयं गोस्वामीजी की कृतियाँ एवं अन्य सामग्री भी है अतएव अनुकूल जनश्रुति तो प्रमाण ही समझी जायगी। हम कल्पना नहीं कर सकते कि बाबूराम जी के भाई स्व० मुरारीलाल जी का कथन क्यों प्रमाण नहीं हो सकता। और यदि बाबूरामजी उस समय जबकि शंकाकार सोरों आये थे, कहीं बाहर गये हुए थे, तो शंकाकार सत्यशोध के लिए और कुछ समय सोरों में ठहर सकते थे पण्डित बाबूराम तो अपने को नन्ददासजी का वंशधर बताते हैं और सोरों के बहुत से लोग इस कथन में विश्वास करते हैं—यह क्या कम बात है?

(६) **सोरों का नरसिंह मंदिर**। इसके विषय में शंकाकार लिखते हैं— "सोरों में चौधरियों के मुहल्ले में पक्के मकान का एक खँडहर है। यह नरसिंहजी के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्राचीन अंश पूर्व और पश्चिम का है, दक्षिण का अंश अपेक्षाकृत नवीन है, और उत्तर की ओर कोई बनावट नहीं रह गई है इसमें अब केवल हनुमानजी की एक मूर्ति है और कुछ नहीं।" शंकाकार को यह दिशा-भ्रम हुआ है। शंका आगे चलती है—"नरसिंहजी के मन्दिर के सम्बन्ध में जाँच करते हुए मैं उस स्थान के पटवारी मुन्शी गिरिजाशंकर से मिला, और उनसे मैंने उक्त मंदिर की खतौनी जमाबन्दी प्राप्त की। उस खतौनी में लिखा है 'मन्दिर नरसिंह जो महराज।' प्रश्न यह है कि क्या यह शब्दावली इस बात की सूचना देती है कि उक्त मन्दिर किन्हीं नरसिंह चौधरी का था? कम से कम प्रस्तुत लेखक तो इस शब्दावली का आशय यही लेगा कि यह मन्दिर नृसिंह भगवान् का, न कि किन्हीं नरसिंह चौधरी का था। 'जी' और 'महाराज' शब्द तो कम से कम इसी ओर संकेत करते हैं।"

गुप्तजी ने यह बहुत अच्छा किया कि उन्होंने पटवारी से यह सूचना प्राप्त की कि वह स्थान 'मन्दिर नरसिंह जी महाराज' के नाम से दर्ज है, नहीं तो यह सन्देह बना रहता कि कदाचित् वह मन्दिर ईश्वर के चतुर्थावतार नृसिंह भगवान् का ही हो। 'जी' का प्रयोग तो मनुष्य प्राय: एक-दूसरे के लिए करते हैं। यह शब्

आदरसूचक है, और क्या मनुष्य क्या देवता सभी के लिए प्रयुक्त होता है कदाचित् मनुष्यों के लिए अधिक, क्योंकि 'विष्णुजी' की अपेक्षा 'विष्णु भगवान् ऐसा कहना कहना अधिक आदर-पूर्ण प्रतीत होता है। और महाराज शब्द तो राजाओं के लिए प्रयुक्त होता है, यथा महाराज हर्षवर्धन, महाराज कश्मीर। 'महाराज' शब्द ब्राह्मणों के लिए भी प्रयोग में आने लगा और इतना अधिक कि अब तो वह शब्द रसोइया अथवा पानी पिलाने वाले ब्राह्मण का भी द्योतक है। 'जी' और 'महाराज' दोनों शब्द मिलकर इस बात के साक्षी हैं कि गो० तुलसीदास के गुरु नरसिंह (अथवा नृसिंह) जी एक आदरणीय ब्राह्मण व्यक्ति थे, जो अपने समाज में चौधरी समझे जाते थे।

एक बात और है। यदि यह मन्दिर नृसिंह भगवान् का होता तो इसमें नृसिंह भगवान् की मूर्ति भी होती। यह कैसे हो सकता है कि हनुमान्जी की मूर्ति तो बनी रहती और नृसिंह भगवान् की प्रधान मूर्ति जिनके नाम पर वह मन्दिर प्रख्यात होता वहाँ से हट जाती। अतः शंकाकार को इस विषय में फिर से विचार करना चाहिए।

(१०) सोरों में नरसिंहजी चौधरी के उत्तराधिकारी। गुप्त जी इस विषय में इस प्रकार लिखते हैं, "इसी मुहल्ले में चौधरियों के कुछ घर हैं जो हमारे कवि के गुरु नरसिंहजी चौधरी के वंशधर बताए जाते हैं। पंडित रंगनाथ आजकल इनके मुखिया हैं। अपनी सोरों यात्रा में मैं पंडित रंगनाथ चौधरी से मिला था। उनसे प्रश्न करने पर ज्ञात हुआ कि उन्हें केवल अपने आठ पूर्व-पुरुषों के नाम ज्ञात हैं, और इनमें से नरसिंह चौधरी नहीं हैं। उपर्युक्त मन्दिर अवश्य उनके घराने के अधिकार में चला आ रहा है। किन्तु केवल इतनी बात से यह सिद्ध नहीं होता कि उनके कोई पूर्व-पुरुष नरसिंह चौधरी नाम के थे जो तुलसीदासजी के समकालीन थे, या इतना भी कि मन्दिर का नाम 'नरसिंहजी महाराज का मन्दिर' उनके किन्हीं पूर्व-पुरुष के नाम से सम्बन्धित होने के कारण पड़ा। एक बात अवश्य है जिससे यह ज्ञात होता है कि पंडित रंगनाथ और पंडित बाबूराम के घरानों में कुछ पूर्व-काल से सम्बन्ध चला आ रहा है। भागीरथी गुफा में, जो मौजा होडलपुर में है, दोनों घरानों का हिस्सा है। पंडित बाबूराम उसके चढ़े हुए द्रव्य का तीन-चौथाई और पंडित रंगनाथ एक-चौथाई लिया करते है। यह बात प्रस्तुत लेखक को उस गाम के पटवारी मुंशी महावीर शंकर से भी ज्ञात हुई थी।"

उक्त शंकाओं के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि यह क्या कम है कि उस समय पंडित रंगनाथजी ने अपने आठ पूर्व-पुरुषों के नाम बता दिये थे। संसार में कितने व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें अपने से चार पूर्व-पुरुषों के नाम स्मरण हैं। सोचने की बात है कि गुरु नरसिंहजी का नाम रंगनाथजी की आठ-पीढ़ियों में कैसे हो सकता था, जिन्हें आज साढ़े-तीन सौ वर्ष से अधिक हो चुके हैं? अतएव रंगनाथजी ने अपने से आठ पूर्व पीढ़ियों में नरसिंहजी का उल्लेख नहीं किया तो उन्होंने सत्य का ही पालन किया। क्या रंगनाथजी अपने को नरसिंहजी का वंशधर नहीं मानते? यदि वे अपने को नरसिंहजी का वंशधर न मानते होते तो शंका की बात भी थी। किसी वंश में यदि कोई अत्यन्त प्रसिद्ध व्यक्ति हो जाता है तो उसमें उसकी चिरस्मृति 'प्रवर' रूप से बनी रहती है और यह आवश्यक नहीं कि उसके आगे-पीछे के सभी पुरुषों के

नाम स्मरण रहें। प्रकृत बात तो ऐसी ही है। शंकाकार बताते हैं कि पंडित रंगनाथ और बाबूरामजी के घरानों में सम्बन्ध भी चला आ रहा है। नरसिंहजी और नन्ददासजी का सम्बन्ध तो गुरु-शिष्य का था ही, अतः तब से अब तक वह सम्बन्ध रूपान्तर से बना हुआ है। इसमें न तो कोई आश्चर्य की और न किसी विशेष महत्त्व की बात है। महत्त्वपूर्ण बात तो यही है कि स्वयं पंडित रंगनाथजी अपने को गुरु नरसिंहजी का वंशधर मानते और कहते हैं और सोरों के अन्य व्यक्ति भी उन्हें उस गुरु का वंशज मानते हैं। इस बात में अविश्वास करने का कारण भी क्या, जब अन्य प्रमाणों से भी नरसिंहजी का सोरों में होना सिद्ध होता है? वस्तुस्थिति यह है कि सोरों के पण्डे अपनी सम्पत्ति के क्षेम के निमित्त अपनी पूर्ण वंशावली को प्रकट करने में आनाकानी किया करते हैं। आग्रह करने पर हमें जो पूर्ण वंशावली प्राप्त हुई वह यथास्थान दी जा चुकी है। अतएव गुरु नरसिंहजी के वंशजों के सम्बन्ध में उक्त शंका निराधार है।

(इ) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की आपत्तियाँ और उनका समाधान

पत्र संख्या २६७४ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
मिति सौर १३, १, संवत् २००५
ता० २६-४-१९४८

प्रियवर भारद्वाजजी,

सस्नेह नमस्कार !

आपका १८-४-४८ का कृपापत्र मिला। धन्यवाद। सोरों-सामग्री की विस्तृत जाँच प्रयाग विश्वविद्यालय के लेक्चरर तथा मेरे सहयोगी डा० माताप्रसाद गुप्त ने की है। अन्त में गुप्तजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह सामग्री जाली है। इसी सम्बन्ध में पं० चन्द्रबली पाण्डेय एम० ए० के भी कई लेख हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित होने वाली 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं, उन अकाट्य तर्कों को आप अपनी पुस्तिका में अन्यथा सिद्ध नहीं कर पाये हैं। ऐसी अवस्था में सोरों की सामग्री को जाली के अतिरिक्त क्या कहा जाय? मैं भाषा-शास्त्र का एक साधारण विद्यार्थी हूँ। मेरे अध्ययन का विषय भोजपुरी तथा अवधी है। रामायण की भाषा की परीक्षा के पश्चात् यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसके लेखक की मातृभाषा अवधी के अतिरिक्त दूसरी नहीं थी। सोरों तो स्पष्ट व्रजक्षेत्र में है। इस सम्बन्ध में पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल ने अपने इतिहास के नवीन संस्करण में जो प्रमाण दिए हैं, वे एक प्रकार से अकाट्य हैं।

परम्परा से गोस्वामीजी की जन्मभूमि राजापुर ही बतलायी जाती है। हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास लेखक गार्सी द तासी भी गोस्वामीजी की जन्म-भूमि बाँदा जिले ही में मानते हैं। यह पुस्तक उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक भाग में पैरिस में फ्रेंच भाषा में छपी थी। जब तक आप इन सब बातों को अन्यथा सिद्ध न कर दें तब तक गोस्वामीजी की जन्मभूमि आप सोरों सिद्ध नहीं कर सकते।

गोस्वामीजी इस देश के महान् व्यक्तियों में से थे। गांधीजी की भाँति यदि

प्रत्येक नगर में भी उनका स्मारक बनाया जाय तो वह थोड़ा ही होगा। ऐसी स्थिति में आप उनके स्मारक के लिए जो उद्योग कर रहे हैं उसके लिए आपको अनेक बधाइयाँ।

आशा है आप प्रसन्न हैं।

भवदीय,
उदयनारायण तिवारी,
एम० एम०, डी० लिट्,
प्रधान मन्त्री

उक्त पत्र पर विचार

१. (क) डॉ० माताप्रसाद गुप्त के लेख (सोरों सामग्री की परीक्षा पर) सम्मेलन-पत्रिका के कुछ अंकों (संवत् १९९७ वि०) में, तदुपरान्त 'तुलसीदास' नामक उनके शोध-प्रबन्ध मे प्रकाशित हुए थे, उनमें गुप्तजी ने सोरों-सामग्री पर कुछ सन्देह तो उपस्थित किये हैं, किन्तु उन्हें जाली नहीं बताया है,[1] प्रत्युत उसके कुछ अंश तो उन्हें ठीक भी लगे हें।

मैंने डॉ० गुप्त के लेखों की प्रत्यालोचना सम्मेलन-पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजी थी और उसमें मैंने उनके सभी सन्देहों का सविस्तर समाधान किया था, और यह भी बताया था कि गुप्तजी ने वे लेख किन परिस्थितियों में लिखे थे। किन्तु हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने मेरी वह प्रत्यालोचना नहीं छापी। इसकी भी एक कहानी है। नागरी-प्रचारिणी-सभा ने भी वह लेख, बिना कोई कारण दिये, लौटा दिया था। आलोचन और प्रत्यालोचन एक ही पत्र में छपने चाहिए थे। जब नहीं छपा, तो मैंने वह लेख 'नवीन भारत' में प्रकाशित करा दिया, उसका कुछ अंश १९४१ ई० में और कुछ १९४६ ई० में छपा था। प्रस्तुत प्रबन्ध में उसका केवल वह अंश है जिसका सम्बन्ध साहित्य से है, व्यक्तिगत आक्षेप और धाँधली से नहीं।

(ख) श्री चन्द्रबली पाण्डे ने सोरों की तुलसी-सामग्री का अवलोकन मूलरूप में कभी नहीं किया। उनकी आलोचना का मुख्य आधार डॉ० माताप्रसाद गुप्त के ही विचार हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा रत्नावली के दोहों की भावुकता से प्रभावित हुए हैं। डॉ० दीनदयालु गुप्त रत्नावली के दोहों में वियोग-वेदना की स्वाभाविक व्यंजना, सत्यता और शिवता का अनुभव करते हुए लिखते हैं कि "रत्नावली के काव्य की तुलना केवल मीरा के काव्य से ही की जा सकती है अन्य कवयित्रियों के जैसे दयाबाई, सहजोबाई, ताज आदि के काव्य उसके काव्य की तुलना में बहुत साधारण दर्जे के हैं।"[2] किन्तु श्री पाण्डेजी की राय में रत्नावली के दोहे कृत्रिम, नीरस और शुष्क हैं। उत्तर में निवेदन है : "जाकी रही भावना जैसी।"

मुझे आशंका है कि उस समय तक पूर्ण रूप से सोरों-सामग्री पाण्डेजी तक नहीं पहुँच पायी थी। 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' के विषय में यह स्मरणीय है कि वह १६७० विक्रम संवत् में कृष्णदास द्वारा लिखा गया, और १८७० ईसवी में, अर्थात् अब से लग-

---

१. इस शोध प्रबन्ध के प्रथम संस्करण में 'जाली' शब्द नहीं; किन्त तृतीय संस्करण में जो उक्त पत्र के पश्चात् प्रकाशित हुआ इसका उल्लेख है।

२. हिन्दुस्तानी, पृष्ठ १८, जनवरी १९४०।

भग ९० वर्ष पहले छप भी गया था । वह 'माहात्म्य' अकेला ही गोस्वामी तुलसीदास, नन्ददास, सूकरक्षेत्र (सोरों), गुरु नरसिंह, रत्नावली, रामपुर-श्यामपुर आदि के विषय में साक्ष्य रूप से पर्याप्त है। १८७४ ई० का छपा बाँदा गजटियर भी स्पष्ट रूप से बताता है कि गोस्वामी तुलसीदास सोरों (जिला एटा) के थे और उन्होंने राजापुर (जिला बाँदा) की नींव डाली थी, राजापुर के बड़े-बूढ़े भी ऐसा ही कह चुके हैं।

(ग) कदाचित् यह कहना अनुचित न होगा कि लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० दीनदयालु गुप्त सोरों-सामग्री की परीक्षा करने दो बार, एक बार डॉ० माताप्रसाद गुप्त से कुछ पहले और दूसरी बार उनसे एक वर्ष पश्चात्, पधारे थे; और दोनों बार उन्होंने उस सामग्री को प्रामाणिक समझा। सामग्री का जो भाग माताप्रसादजी को देखने को न मिल सका उसे दीनदयालुजी पहले ही देख चुके थे। अतः इस विषय में सन्देह के लिए कोई अवसर नहीं है।

२. "गोस्वामी तुलसीदास" नामक पुस्तिका का जो उल्लेख हुआ है, उसके विषय में केवल यह निवेदन है कि वह पुस्तिका तुलसी-स्मारक समिति कासगंज ने प्रकाशित करायी थी। उसमें तुलसीदासजी का, सोरों-सिद्धान्त के अनुकूल, सरल परिचय-मात्र था और टिप्पणी-रूप से उक्त सामग्री के कुछ प्रधान उद्धरण भी थे। वह पुस्तिका तो खण्डन-मण्डन से नितान्त दूर है। हाँ, 'तुलसी चर्चा' नामक पुस्तक में, जिसकी प्रति हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-प्रयाग के पुस्तकालय में पत्र से पहले ही विद्यमान थी, खण्डन-मण्डन अवश्य है; और विस्तृत खण्डन-मण्डन एवं अद्यतन अनुसन्धान का समावेश प्रस्तुत प्रबन्ध में भी हुआ है।

३. (क) सोरों की सामग्री इतनी प्रचुर है कि गोस्वामीजी के जन्म-स्थान-निर्णय के विषय में कोरी कल्पना को महत्त्व नहीं देना चाहिए। मेरी विनीत सम्मति में 'रामचरितमानस' की भाषा की वास्तविक परीक्षा के लिए, पहले उसका एक ऐसा संस्करण तैयार होना चाहिए जिसमें सभी प्रसिद्ध हस्त-लिखित प्रतियों के पाठान्तर और वर्तनी मिल सकें। मैंने जब सोरों के 'अरण्य काण्ड' की स्वयं नकल की और तत्पश्चात् उसका काशिराज की प्रति से मिलान किया तो मुझमें उपर्युक्त इच्छा का उदय हुआ। श्री शंभुनारायण चौबे ने अच्छा काम किया है, किन्तु इस दिशा में अभी बहुत कुछ शेष है। यदि 'रामचरितमानस' का ऐसा संस्करण तैयार हो जाय, तो तत्कालीन वर्तनियों और पाठान्तरों का ही नहीं अपितु गोस्वामीजी के मानसिक विकास का क्रमिक परिचय भी प्राप्त हो सकेगा, ऐसी मेरी प्रबल धारणा है। इस सम्बन्ध में मैं अपने कुछ विचार दशम अध्याय में व्यक्त कर रहा हूँ।

(ख) एक बात और है। मान भी लिया जाय कि 'रामचरितमानस' की भाषा अवधी ही है, तो इससे यह निर्णय नहीं हो जाता कि गोस्वामीजी का जन्म-स्थान एटा जिले में न था। सब लोग जानते हैं कि विश्वविद्यालय के छात्र कुछ वर्षों में ही भाषाओं में कितने पटु हो जाते हैं। तुलसीदासजी ने संवत् १६०४ वि० में सोरों को छोड़ा था और तब से वे अयोध्या, राजापुर, काशी आदि पूर्व के ही प्रदेशों में रहते रहे, और उन्होंने १६३१ वि० में 'रामचरितमानस' को प्रारम्भ किया, अर्थात् सोरों को छोड़ने के २७ वर्ष पश्चात्। इतने समय में उन्हें यदि अवधी पर भी अधिकार हो गया तो

इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। गोस्वामीजी की सर्वश्रेष्ठ रचना 'विनय पत्रिका' समझी जाती है, जो शुद्ध और उत्कृष्ट व्रजी में है, उनके लोक-प्रिय रामचरित मानस की भाषा व्रजावधी है, जो सोरों की भी है, और उनके पार्वतीमंगल और जानकी मंगल व्रजावधी में हैं। गोस्वामीजी को तो दोनों भाषा-बोलियों पर अधिकार था। श्री सर्वपल्ली राधा कृष्णन् अथवा डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अंग्रेजी भाषा पर जो अधिकार है या था, उसकी धाक स्वयं अंग्रेज विद्वान् भी मानते हैं, किन्तु कालान्तर में उनकी भाषा-मात्र के आधार पर उन्हें इंगलैंड-जात सिद्ध करने की चेष्टा कितनी उपहासास्पद होगी। अतएव किसी कवि के जन्मस्थान के निर्णय के निमित्त भाषा के अतिरिक्त अन्य साक्ष्यों पर भी विचार अपेक्षित हैं।

(ग) यदि पं० रामचन्द्र शुक्ल ने राजापुर के पक्ष में भाषा-सम्बन्धी सुन्दर और सतर्क कल्पनाएँ की हैं, तो साथ ही पं० गोविन्दवल्लभ भट्ट और पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने सोरों के पक्ष में अनेक शब्द और तर्क उपस्थित किये हैं। डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव अपने प्रबन्ध में लिखते हैं कि "भाषा के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि तुलसी जन्म-काल से बाल्यकाल तक सोरों या उसके आस-पास रहे"।[1]

(च) पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने रामायण के 'सूकर खेत' को सरयू-घाघरा-संगम पर माना है। उस विषय में उन्हें जितनी सूचना तब प्राप्त थी उससे अधिक का उल्लेख तो पूर्वपक्ष रूप से मैंने सूकरखेत-सम्बन्धी अध्याय में कर दिया है। किन्तु जिस सूकरखेत का उल्लेख 'रामचरित-मानस' में है उससे केवल सोरों का तात्पर्य है। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास के प्राचीन लेखों से यह बात स्पष्ट है कि सूकरखेत सोरों है, पं० शुक्ल और डॉ० दास 'मूल गोसाईं चरित' के आविर्भाव से पूर्व सूकरक्षेत्र को सोरों ही मानते रहे।[2] १९४४ की 'सरस्वती' में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन ने रामायण के सूकरखेत से सोरों का ही अर्थ ग्रहण किया है। पं० भद्रदत्त शर्मा ने 'तुलसी-चर्चा' में सूकरखेत का विशद विवेचन किया है, और मुझे भी 'तुलसी के घरबार' में और प्रस्तुत ग्रन्थ में और अधिक प्रकाश डालने का अवसर प्राप्त हुआ है।

(४) डॉ० उदयनारायण तिवारी ने गार्सा द तासी (१८३९ ई०) का उल्लेख किया है। सम्भवतः वे विलसन (१८३१ ई०) का उल्लेख करना भूल गये हैं, किन्तु उक्त दोनों लेखकों की कृतियाँ तो गोस्वामीजी का जन्मस्थान हाजीपुर बताती हैं, राजापुर नहीं। तिवारीजी को स्वयं उक्त कृतियों में आस्था नहीं; यदि होती तो वे गोस्वामीजी के जन्मस्थान-स्मारक का प्रस्ताव हाजीपुर के लिए करते, राजापुर के लिए नहीं। क्या हाजीपुर में गोस्वामीजी का जन्म-स्थान मान लेने से उनका जन्म-स्थान राजापुर में सिद्ध हो जाता है? विलसन ने तुलसीदासजी के विषय में जहाँ अनेक भ्रमात्मक बातों का उल्लेख किया है वहाँ उनका जन्मस्थान भी है। जो आधार न वादी के लिए प्रमाण है और न प्रतिवादी के लिए ही, उसके सिद्धासिद्ध करने से लाभ भी क्या?

---

१. तुलसीदास की भाषा, पृ० ३६५-३६७।

२. दे० तृतीयाध्याय।

राजापुर के सम्बन्ध में 'तुलसी चरित', 'मूल गोसाईं चरित' और 'घट रामायन' की छीछालेदर राजापुर का पक्ष लेने वाले डॉ० श्यामबिहारी मिश्र, पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी की है। वास्तव में ये तीनों पुस्तकें इतिहास की दृष्टि से एकदम अप्रामाणिक हैं, जैसा कि मैं भी इनकी विस्तृत आलोचनाओं में बता चुका हूँ।

सोरों की हस्तलिखित सामग्री विशाल है, प्रचुर है। इसका सविस्तर उल्लेख 'तुलसी-चर्चा', 'रत्नावली', 'तुलसीदास का घरबार' और प्रस्तुत प्रबन्ध में हो चुका है। इस सामग्री में ईसवी सन् १५८६, १६००, १६१५, १६४०, १७५२, १७६७, १७७२, १८०७, १८१५, १८१७, १८१८ की, एवं अन्य हस्तलिखित पुस्तकें हैं। प्रसिद्ध उल्लेखनीय पुस्तकों में हैं—वराह पुराण, ब्रह्म पुराण, गर्ग-संहिता, पृथ्वीराज रासो, आईन-ए-अकबरी। अंग्रेजी-काल की छपी पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं—१८७० ई० का छपा सूकर-क्षेत्र माहात्म्य, १८७४ ई० का बुन्देलखण्ड गजटियर, १८८६ ई० का इम्पीरियल गज़टियर, १६०८ ई० का इम्पीरियल गज़टियर (प्रोविंशल सिरीज़), १६०६ ई० का बाँदा ज़िले का गज़टियर। यह सब छपा साहित्य भी गोस्वामी तुलसीदास को सोरों (ज़िला एटा) का मानता है, और गज़टियर यह भी बताते हैं कि गोस्वामीजी ने राजापुर (जिला बाँदा) की नींव डाली।

राजापुर की प्राचीन परम्परा भी राजापुर के पक्ष में नहीं, सोरों के ही पक्ष में है। उक्त गज़टियर तो सोरों के पक्ष में हैं ही। रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज (१८६६ ई०), अयोध्यावासी श्री सीतारामशरण भगवान्प्रसाद (१६१३), और बाबू शिवनन्दनसहाय (१६१६ और १६२३ ई०) ने राजापुर में पूछ-ताछ करके लिखा कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर में नहीं हुआ, जैसा कि उन्हें वहाँ के बड़े-बूढ़ों से ज्ञात हुआ। राजापुर की तुलसी-स्मारक-समिति के भी एक कर्मचारी ने लिखा है कि "गोस्वामीजी का जन्मस्थान सोरों या उसी के आसपास कहीं होना चाहिए।"

सोरों-सामग्री

चतुर्थ भाग : यदि सोरों-सामग्री न होती, तो ?

प्राक्कथन—यदि गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-चरित के विषय में, निष्पक्ष निर्णय के निमित्त, उस समग्र सामग्री को विचार-क्षेत्र से बाहर रखें जो एटा-बदायूं ज़िलों से प्राप्त है और अब मुख्यतः सोरों-कासगंज में विद्यमान है, तो विचारधारा की दो दिशाएँ हैं—निषेधात्मक और भावात्मक। इन्हीं दो रूपों में अलगशः तुलसीदास जी के जीवन-चरित पर प्रकाश वांछनीय है।

(क) निषेधात्मक प्रामाण्य

निषेधात्मक प्रमाण निम्नांकित हैं:—

(१) राजापुर का समर्थन करने वाली हस्तलिखित पुस्तकें अप्रामाणिक हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'मूल गोसाईं-चरित' को, श्यामसुन्दरदास ने 'तुलसी चरित' को अप्रामाणिक बताया है और इसलिए गोस्वामीजी का जीवन-चरित विभिन्न रूप में उपस्थित हुआ है। पं० रामनरेश त्रिपाठी और मिश्रबन्धुओं को भी इन पोथियों में आस्था नहीं रही। मेरी समझ में भी ये दोनों ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं, क्योंकि दोनों में ही इतिहास के विरुद्ध अनेक भयंकर भूलें विद्यमान हैं, मैंने इन ऐतिहासिक व्यतिक्रमों का दिग्दर्शन इसी प्रबन्ध में अन्यत्र कराया है।

(२) श्री रामबहोरी शुक्ल ने कतिपय सरकारी सनद आदि के आधार पर कुछ युक्तियाँ उपस्थित की हैं, किन्तु राजापुर की किसी भी सनद में गोस्वामीजी की जन्म-भूमि का उल्लेख नहीं है, अर्थात् उक्त सनदों में—

(क) यह कहीं नहीं लिखा कि राजापुर गोस्वामीजी का जन्मस्थान है; और

(ख) उनसे यह भी विदित नहीं होता कि राजापुर गोस्वामीजी के जन्म से पहले विद्यमान था। निवास-स्थान और जन्मस्थान में तो बड़ा अन्तर है, बहुत से लोग कहीं पैदा होते हैं और ज़ीविकादि के निमित्त कहीं रहने लगते हैं। राजापुर में जो प्रमाण विद्यमान हैं, उनसे तो केवल यह सिद्ध होता है कि गोस्वामीजी ने राजापुर की नींव डाली। यह बात जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, बुन्देलखण्ड गज़टियर में (राजापुर के इतिहास का वर्णन करते समय) अब से चौरासी वर्ष पूर्व छपी हुई है और बांदा जिले के पीछे के प्रकाशित गज़टियरों में छपी मिलती है, और यही बात राजापुर के बड़े-बूढ़े भी कहते रहे हैं। १८२३ ई० तक इस प्राचीन जनश्रुति का प्रमाण है।

(३) पूर्वीय जिलों के कुछ सम्मान्य व्यक्ति अनुसंधान के निमित्त राजापुर गये और उन्हें यह पता चला कि तुलसीदासजी का जन्म राजापुर में नहीं हुआ था। इस विषय में प्रमाण ये हैं—

(क) श्री अयोध्याजी-प्रमोदवन-कुटिया-निवासी सीता-रामशरण भगवानप्रसाद विरचित श्री भक्तमाल सटीक वार्तिक प्रकाश युक्त, पृष्ठ ७४१, नवलकिशोर प्रेस

लखनऊ, १९१३ ई० ।

(ख) रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज़, तुलसी ग्रंथावली, निबन्धावली तीसरा खण्ड, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२३ ई० ।

(ग) शिवनन्दनसहायजी, माधुरी, पृष्ठ २४ अगस्त १९२३ ई० ।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि उक्त उल्लेख १९२९ ई० से पहले के हैं जबकि वर्तमान काल में सोरों सिद्धान्त का सूत्रपात भी नहीं हुआ था ; ग्राउज़ ने सूकरखेत को सोरों माना और स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दरदास अपने आद्य ग्रन्थों में सूकरखेत को सोरों ही मानते रहे ।

'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी' के पृष्ठ ७ पर शिवनन्दनसहायजी लिखते हैं कि "हमारे युवक मित्र बाबू गोकर्णसिंह २५वीं अक्तूबर से १० नवम्बर १९११ तक राजापुर में ठहरे थे । उनसे भी ज्ञात हुआ है कि राजापुर में कवि मंगलदीन शर्म्मा एवं कई एक वृद्धा स्त्रियाँ आज भी वर्तमान हैं जो राजापुर को गोस्वामीजी का जन्म-स्थान होना नहीं बतातीं । कई महीने हुए कि हमको आरा-निवासी बाबू सीताराम महाफ़िज दफ़्तर कलक्टरी के मकान पर राजापुर के पं० रघुनन्दनजी से भेंट हुई थी, वे भी कहते थे कि राजापुर में गोसाईंजी का जन्म नहीं हुआ था । इन्हीं सब कारणों से हम राजापुर को गोस्वामीजी का निवास-स्थान मानते हैं, जन्म-स्थान मानने को तैयार नहीं हैं ।"

(४) राजापुर की सामग्री, राजापुर को गोस्वामीजी का जन्म-स्थान मानने के लिए तनिक भी अवलम्ब नहीं देती । डॉ० माताप्रसाद गुप्त का झुकाव तुलसी साहब कृत 'घट रामायन' के साक्ष्य की ओर है । यद्यपि मैं 'घटरामायन' की परीक्षा अन्यत्र कर चुका हूँ, फिर भी निम्नलिखित पंक्तियाँ 'घट रामायन' के साक्ष्य को उचित रूप से आँकने में और सहायता देंगी ऐसी आशा है ।

(क) 'घट रामायन' के अन्त में तुलसी साहब ने लिखा है कि वे पूर्वजन्म में स्वयं गोस्वामी तुलसीदास थे, उन्होंने उस जन्म में जो 'घट रामायन' लिखी थी उसका जनता ने आदर न किया था, अत: लोगों को अंधा-अंधे-विधि भ्रम में डालने के लिए गोस्वामीजी ने 'रामचरित-मानस' की रचना कर डाली थी । किन्तु जैसा कि डॉ० बड़थ्वाल ने बताया है, 'घट रामायन' में ही तुलसी साहब ने स्पष्ट शब्दों में रामायण का रचयिता होना अस्वीकार किया है : राम रावन जुद्ध लड़ाई । सो मैं नहिं कीन बनाई ।। भाग २, पृष्ठ ११४ । यह विरोध कैसा ? 'घट रामायन', श्री लक्ष्मीनारायन सुधांशु के शब्दों में, 'गोस्वामीजी के पवित्र नाम में कलंक लगाने वाली है, वह गो० तुलसीदास की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें लिखित ऐतिहासिक व्यतिक्रम विद्यमान हैं :—(१) दरिया साहब का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है किन्तु दोनों दरिया साहब (मारवाड़ और बिहार वाले) गोस्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् संसार में थे । (२) गुरु गोविन्दसिंह का उल्लेख अनेक स्थलों पर है, किन्तु वे भी गोस्वामीजी के पीछे संसार में आये । (३) 'रामायन' की भाषा गोस्वामीजी की अन्य सभी कृतियों से मेल नहीं खाती । (४) 'घट रामायन' के विचार गो० तुलसीदास को ग्राह्य नहीं हो सकते । दार्शनिक सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर है । गोस्वामीजी ने

रावण को राम से और मंथरा को कौशल्या से श्रेष्ठ नहीं बताया। (५) तुलसी साहब ने अपने पूर्व जन्म का जो वृत्तान्त दिया है उसमें उन्होंने बताया है कि उनके पूर्व जन्म की जन्म-भूमि अमुक-अमुक स्थान से इतनी दूर थी। किन्तु वर्णन-बाहुल्य में उन्होंने अपने पूर्वजन्म के, माता, पिता, पत्नी, एवं 'रामायण' को छोड़ अन्य किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया, यह विचारणीय है। (६) तुलसी साहब ने अपने ग्रन्थ में तिथिवार और संवतों की भरमार की है। कुछ तिथियों की परीक्षा तो वार-पक्ष आदि के उल्लेखाभाव के कारण नहीं हो सकती, और जिनमें तिथि वार हैं वे प्रायः सभी गणना से अशुद्ध हैं। उदाहरणतः तुलसी साहब ने संवत् १६१८ भादों सुदी एकादशी मंगलवार को 'घटरामायन' का लिखना प्रारम्भ किया। यह तिथि गणना से अशुद्ध तो है ही, और तीन-चौथाई पुस्तक लिख लेने के पश्चात् वे लिखते हैं—'अब सोलह से सोलह जाना, बावे विधि कहूँ परमाना। जेते दिन बावे को बीता, सो विधि वतनि कहूँ सत रीता। पन्द्रह से अस्सी के माहीं, अब सोलह से सोलह भाई। छत्तिस बरस बावे विधि जाना।' अतः अंतःसाक्ष्य से तो १६१८ भी सिद्ध नहीं होता। तुलसी साहब का जो जीवन चरित्र प्रकाशक ने 'घटरामायन' के प्रारम्भ में दिया है वह आनुमानिक है, इतिहास से मेल नहीं खाता। ऐसी दशा में जन्म-मरण की उनकी तिथियों को प्रामाणिक मान कर गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं। (७) 'घट रामायन' में तुलसी साहब ने लिखा है—

> **पलक राम ये कैसी रीति साहिब जादे करें अनीती।**
> **लड़की मारि करें अजगूता यह हत्या आतम होई भूता।** (पृष्ठ ३७१)
> **सुनि साहिब जादों की रीती लड़की मारि करें अनीती।**
> **कन्या पाप जगत में भारी सो साधू करें विचारी॥** (पृष्ठ ३७७)
> **आज गृहस्थ लड़की जो मारे ताको जगत अधम करि डारे।** (पृष्ठ ३७२)

उपर्युक्त पंक्ति में आज शब्द किस काल का द्योतक है ? विसेंट स्मिथ 'दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव इंडिया' के पृष्ठ ६८६-६९० पर बताते हैं कि दुख्तर-कुशी का रिवाज[1] पंजाब, राजपूताना, मालवा, कछ, काठियावाड़ में तथा अन्यत्र भी था और लार्ड हार्डिङ् (१८४४-१८४८) ने देशी राज्यों में इन हत्याओं को निर्मूल करने के लिए उपायों का अवलम्बन किया। उक्त उद्धरणों में तुलसी साहब का 'आज' उसी समय की ओर संकेत कर रहा है। अतः स्पष्ट है कि 'घट रामायन' सन् १८४४-१८४८ में अथवा तत्पश्चात् किसी अन्य सन् में लिखी जा रही थी। भूमिका में तुलसी साहब का जो निधनकाल अनुमान के बल पर १९०० वि० अथवा १८४३ ई० बताया जाता है वह ठीक नहीं प्रतीत होता। (८) स्मरण रखना चाहिए कि विलसन ने तुलसीदास का जन्मस्थान हाजीपुर बताया और अपना ग्रन्थ १८३१ ई० में छपाया। स्पष्ट ही उनके ग्रन्थ की सामग्री १८३१ ई० से पहले की ही होगी। तुलसी साहब ने अपने पूर्व जन्म का जो वृत्तान्त 'घट रामायन' के पीछे जोड़ा वह तो १८४८ ई० से भी पीछे का होना चाहिए। ऐसी दशा में विलसन महोदय का यह उल्लेख कि गोस्वामीजी का जन्मस्थान हाजीपुर है तुलसी साहब के दावे से अधिक पुष्ट होना

---

१. पुत्री-घात-प्रथा।

चाहिए। (९) अभी लिखा जा चुका है कि तुलसी साहब का वृत्तान्त 'घट रामायन' के अन्त में मिलता है। वह उनके किसी भक्त की रचना है जो पीछे से जोड़ दी गयी है, क्योंकि 'घट रामायन' का रचना-प्रारम्भ-काल पुस्तक के भीतर १६१६ है और पुस्तक के अन्त में १६१८ है और भाषा शैली भी भिन्न है। यह भूल तुलसी साहब के किसी शिष्य की है ऐसी अधिक सम्भावना विद्वानों को प्रतीत होती है। (१०) प्रकाशक लिखते हैं कि तुलसी साहब अक्सर हाथरस से बाहर कम्बल ओढ़े दूर-दूर शहरों में चले जाया करते थे। यह सम्भव है कि वे कभी राजापुर या उसके निकट पहुँचे हों, और किसी से सुनकर ही यह जानकारी प्राप्त की हो कि गोस्वामी तुलसीदासजी राजापुर में रहे थे, अतः तुलसी साहब ने भूल से निवास-स्थान को जन्मस्थान समझ लिया हो। ऐसी भूल असम्भव नहीं, जबकि राजापुर में यह जनश्रुति थी कि तुलसीदास ने राजापुर को बसाया और वहाँ रहे थे। (११) तुलसी साहब हाथरस के मूल निवासी न थे और न इनका जन्म ही हाथरस में हुआ था, जैसा कि उनके उपलब्ध जीवन-चरित्र में लिखा हुआ है। वे कभी-कभी हाथरस आते रहते थे, किन्तु प्रायः घूमते रहते थे। (१२) हाथरस में कोई प्राचीन जनश्रुति ऐसी नहीं है कि गो० तुलसीदास का जन्म राजापुर में हुआ था। तुलसी साहब ने किसी जनश्रुति का उल्लेख 'घट रामायन' में नहीं किया, जो कुछ उन्होंने लिखा वह तथाकथित अपने पूर्व-जन्म की स्मृति के आधार पर लिखा। हाथरस के किसी भी अन्य व्यक्ति ने राजापुर को गोस्वामीजी की जन्मभूमि नहीं लिखा। किन्तु बाँदा गज़टियर में तो स्पष्ट उल्लेख है कि राजापुर की जनश्रुति के अनुसार गोस्वामीजी सोरों के थे और उन्होंने राजापुर की नींव डाली। यह प्राचीन जनश्रुति कम से कम १९२३ ई० तक विद्यमान रही। (१३) तुलसी साहब का उपदेश उन लोगों को होता था जो अपनी जीविका मस्तिष्क की अपेक्षा हाथ-पैर के परिश्रम से अधिकतर प्राप्त करते थे और जिनमें विद्या का प्रचार कम था। अतः उनकी बातों और धारणाओं के निराकरण और प्रतिवाद का अवसर ही न आता था; हाथरस का शिष्ट समाज उन्हें नहीं जानता और गज़टियर चुप हैं। (१४) तुलसी साहब की अपेक्षा बाँदा गज़टियर ही अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि वह किसी एक व्यक्ति की कल्पना पर आधारित नहीं है अपितु जनश्रुति के आधार पर है—ऐसी जनश्रुति के आधार पर जिसकी जाँच पीछे से विद्वानों के द्वारा कई बार हो चुकी है। कुछ और बातें भी विचारणीय हैं :

(क) तुलसी साहब के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त 'घटरामायन' के प्रायः अन्त में समाप्ति से कुछ पृष्ठ पूर्व है। सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय का प्रतिपादन करते समय जन्म-वृत्तान्त या तो पुस्तक के आरम्भ में होना चाहिए अथवा ठीक अन्त में। किन्तु यह वृत्तान्त न तो प्रारम्भ में है न ठीक अन्त में ही। वह निराधार क्षेपक है जैसा कि डॉ० बडथ्वाल समझते हैं।

(ख) पुस्तक की भीतर की भाषा से वृत्तान्त की भाषा और विशेषतः वे छन्द जिनमें संवतों का (विशेषतः जन्म के संवत् का) उल्लेख किया गया है शिथिल, गतिशून्य और अन्त्यानुप्रास-हीन हैं।

(ग) सभी गण्य मितियों के साथ मंगलवार जोड़ा गया है। अतः हो सकता है

कि जन्मतिथि घुणाक्षरन्याय से ठीक हो गई है ।

(घ) 'घटरामायन' की पांडुलिपि, जैसा कि मिश्रबंधुग्रों ने त्रैवार्षिक विवरण में उल्लेख किया है, १८४२ संवत् अर्थात् १८९९ ई० की है। किन्तु इससे पहले ग्रियर्सन के जो नोट्स १८९३ में प्रकाशित हुए थे उनमें गो० तुलसीदास के जन्म का सन् १५३२ (अथवा संवत् १५८९ वि०) दिया गया था। अतएव संभव है ग्रियर्सन के आधार पर, अथवा उन व्यक्तियों के आधार पर जिन से ग्रियर्सन ने १५८९ की सूचना प्राप्त की, तुलसी साहब के चेलों ने 'घटरामायन' के अन्त की ओर उक्त संवत् का उल्लेख कर दिया हो ।

(च) 'मूल गोसाईं चरित' नामक पुस्तक में गोस्वामी तुलसीदास का जन्म १५५४ वि० दिया गया है जो राजापुर का ही पक्ष लेने वाली सामग्री 'घटरामायन' के कथन से मेल नहीं खाती। सोरों-सामग्री के अनुसार सं० १५८९ विक्रम में रत्नावली का विवाह गो० तुलसीदास से हुआ था ।

(छ) 'घटरामायन' के उस अंश में जहाँ तुलसी साहब के पूर्व जन्म का वृत्त दिया गया है कहीं तो प्रथम पुरुष का और कहीं उत्तम पुरुष का प्रयोग हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि वह अंश तुलसी साहब के किन्हीं चेलों का प्रक्षेप है ।

(ख) भावात्मक प्रामाण्य

यदि गोस्वामी तुलसीदास से सम्बन्ध रखने वाली उस समग्र सामग्री को निष्पक्ष विचार के हेतु अलग रख दिया जाय जो एटा-बदायूँ जिलों से प्राप्त है और जो अब मुख्यतः सोरों-कासगंज में विद्यमान है, तो भी गोस्वामीजी के वास्तविक जीवन-चरित पर प्रकाश डालने वाली ऐसी प्रचुर सामग्री भारत के विभिन्न कोनों में विद्यमान है जो सोरों-सामग्री का समर्थन करती है। वह इस प्रकार है :—

(१) (क) नाभादास-कृत भक्तमाल। नाभादासजी गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। यह पुस्तक लगभग १६४२ वि० में लिखी गयी थी। इसके अनुसार गो० तुलसीदास राम-भक्त थे ।

(ख) उक्त भक्तमाल में नाभादास ने नन्ददास के विषय में लिखा है कि नन्ददासजी रामपुर ग्राम के निवासी और चन्द्रहास के बड़े भाई थे। ये सुकुल थे। सोरों-सामग्री के अनुसार नन्ददासजी चन्द्रहास के सगे बड़े भाई थे। गो० तुलसीदास जी उनके ताऊ के पुत्र और नन्ददास से बड़े थे। वे लोग रामपुर ग्राम में रहते थे जो सोरों से लगभग दो मील पूर्व की ओर है और वे सनाढ्य सुकुल ब्राह्मण थे ।

(२) 'श्री गुसाईंजी के सेवक चारि अष्ट छापी तिन की वार्ता' गोकुल में चैत्र सुदी ५, १६९७ वि० में लिखी गयी, जो अब विद्या-विभाग, काँकरोली में विद्यमान है। इसमें लिखा है कि नन्ददासजी सनाढ्य ब्राह्मण थे और गो० तुलसीदास के छोटे भाई थे। इस हस्तलिखित प्रति का अवलोकन डॉ० दीनदयालु गुप्त ने किया है और उन्हें इसकी प्राचीनता पर संदेह नहीं है। डॉ० हरिहरनाथ टण्डन के शोधानुसार "यह पुस्तक सर्वथा प्रामाणिक है"।[1]

---

१. वार्तासाहित्य का जीवनी-परक अध्ययन (डॉ० हरिहरनाथ टंडन), भाग १, पृ० १८१ ।

(३) श्री अष्टछाप की वार्ता श्री हरिरायजी-कृत भावप्रकाश वाली १७५२ वि० की प्रति, सिद्धपुर पाटन से प्राप्त अब काँकरोली में विद्यमान है। इसमें लिखा है कि नन्ददास सनाढ्य ब्राह्मण, रामपुर के रहने वाले, और तुलसीदासजी के छोटे भाई थे। तुलसीदासजी नन्ददास को वाद्य-नृत्य से विमुख कराने के लिए समझाते रहते थे। नन्ददास, श्री रणछोड़दासजी के दर्शन के लिए द्वारका जाना चाहते थे, तुलसीदासजी नाही करते थे, किन्तु नन्ददास ने उनकी बात नहीं मानी। जब देखा कि नन्ददास द्वारका जाये बिना नहीं मानेंगे तो यात्रा-संघ के मुखिया की देखभाल में नन्ददास को द्वारका भेज दिया। एक बार एक यात्रा-संघ मथुरा से गया जा रहा था, मार्ग में वह संघ काशी टिका, तुलसीदासजी को जब इस संघ का पता चला तो उन्होंने नन्ददास के बारे में पूछताछ की और उन्हें विदित हुआ कि नन्ददास तो वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हो गो० विट्ठलनाथ के कृपापात्र हो गये हैं। तब तुलसीदासजी ने संघ को नन्ददास के लिए पत्र दिया और वह पत्र वैष्णव, कासिद, और गोकुल के गुसाईंजी के द्वारा नन्ददास को मिला। उस पत्र में तुलसीदास ने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि नन्ददासजी राम को छोड़ कर कृष्ण के भक्त बन गये। नन्ददास ने अपनी कृष्ण-भक्ति के समर्थन में अपना उत्तर तुलसीदासजी को कासिद के हाथ काशी भेजा। तदनन्तर एक समय तुलसीदासजी नन्ददास से मिलने स्वयं काशी से मथुरा आये, और नन्ददास को पूछते-पूछते गोकुल भी। गोकुल की शोभा देखकर तुलसी बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें शोभा देख यह प्रतीत होने लगा कि नन्ददास ऐसे सुन्दर स्थान को छोड़ कर नहीं जायँगे। वहाँ से पता लगाते श्रीनाथजी के मन्दिर में आये। फिर उन्होंने मथुरा में आकर यमुनाजी के दर्शन किये, वहाँ से वे गिरिराजजी गये और अन्त में परासौली में नन्ददास से मिले। तुलसीदासजी ने नन्ददास से अपने साथ चलने के लिए कहा, किन्तु नन्ददास व्रज छोड़ने के लिए सहमत न हुए। तुलसीदास और नन्ददास के उत्तर-प्रत्युत्तर बड़े सुन्दर हैं। नन्ददास ने तुलसीदासजी को सूरदासजी से मिलाया। गोवर्द्धननाथजी के मन्दिर में पहुँचकर तुलसीदासजी ने भगवान् कृष्ण को माथा नहीं नमाया। तब नन्ददास की विनति पर भगवान् ने राम-रूप धारण किया और तुलसीदासजी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। नन्ददासजी तब तुलसीदासजी को गो० विट्ठलनाथ के दर्शन कराने गोकुल ले गये, परिचय कराया; और तुलसीदासजी की इच्छानुसार गो० विट्ठलनाथ ने अपने पाँचवें पुत्र रघुनाथजी और पुत्र-वधू जानकीजी के दर्शन कराये और तुलसीदासजी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। तदनन्तर गो० विट्ठलनाथजी से पुष्टि-मार्ग की महिमा सुनकर तुलसीदासजी काशी लौट गये। एक दिन नन्ददास के मन में आयी कि जैसे तुलसीदासजी ने भाषा में रामायण रची है वैसे ही मैं भी भाषा में भागवत रचूँ। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[1] और डॉ० दीनदयालु गुप्त, वार्त्ताओं को ऐतिहासिक अनुसन्धान के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

(४) श्री गोकुलनाथजी के वचनामृतों का संग्रह जतीपुरा की लगभग सं० १७०० की प्रति श्री द्वारकादास पुरुषोत्तम, काँकरोली के पास है। इससे स्पष्ट है कि

---

१. अष्टछाप, भूमिका।

जब नन्ददास गोस्वामी विट्ठलनाथ के सेवक बने थे तो गोस्वामी तुलसीदास ने नन्ददास से अपना मत-भेद प्रकट किया।

(५) बावन बचनामृत गो० श्री काका वल्लभजी महाराज-कृत। इससे प्रकट है कि तुलसीदास मर्यादामार्ग में श्री रामचन्द्रजी के भक्त वैष्णव थे, उन्होंने रामायण नामक ग्रन्थ पद्य-बद्ध चौपाई कवित्त में बनाया। उनके भाई नन्ददास थे, जो वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुए और रामपुर के निवासी थे। तुलसीदासजी नन्ददास की सुध लेने व्रज में आये, और उन्होने उन्हें कृष्ण-भक्ति से हटाकर राम-भक्ति की ओर लाना चाहा।

(६) 'भक्तिरस बोधिनी' अर्थात् 'भक्तमाल' पर प्रियादास की टीका जो उन्होंने १७६९ वि० में की। इससे विदित होता है कि गो० तुलसीदास अपनी सुसराल गये और पत्नी ने उन्हें जो वचन कहे वे उपदेशात्मक सिद्ध हुए। यह स्पष्ट है कि जब गोस्वामीजी ने वैराग्य लिया और वे अपनी सुसराल से सदा के लिए चले तो पत्नी से उनका वार्तालाप हो चुका था। सेवादासजी ने वृन्दावन में बैठकर मार्गशीर्ष शुक्ला १०, बृहस्पतिवार को सं० १८९४ वि० में प्रियादास पर जो टीका रची उसमें लिखा है कि गो० तुलसीदास भादों की अर्द्धरात्रि में अपनी पत्नी रत्नावली से मिलने गंगापार बदरी गये थे।

(७) 'अष्ट सखामृत'— गोस्वामी गोकुलनाथ-कालीन प्राणेश कवि कृत। यह पुस्तक श्री रमणलाल वैद्य के यहाँ है। इसका विवरण 'ब्रज भारती' (माघ २००० वि० ३,४) में छपा था। इसमें इस प्रकार लिखा है—ब्रज में यह बात प्रसिद्ध है कि कृष्ण-भक्त नन्ददास राम-भक्त तुलसीदासजी के छोटे भाई सनाढ्य ब्राह्मण सुकुल और कवि थे। नन्ददास के ग्राम का नाम रामपुर और इष्टदेव का नाम रामचन्द्र था किन्तु पीछे से उन्होंने ग्राम का नाम श्यामपुर और ग्राम के सरोवर का नाम श्यामसर बदल कर रख दिया और स्वयं कृष्ण भक्त बन गये, तथा चन्द्रहास को जो उनके छोटे भाई थे, अपनी पत्नी, पुत्र और मकान का भार सौंप कर सूकरखेत से जाकर ब्रज में रहने लगे। एक बार इनकी इच्छा से तुलसीदासजी को भगवान् कृष्ण ने राम के रूप में दर्शन दिये और तुलसीदास ने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया। यह देखकर कि भाई तुलसीदास ने रामायण को भाषा में लिखा है, नन्ददास ने भी भागवत को भाषा में रचा। सोरों-सामग्री में रामपुर का विवरण और भी अधिक विस्तार से है।

(क) 'अष्ट सखामृत'—प्राणेश कविकृत, १७६७ वि० की प्रति गोस्वामी श्री १०८ गोकुलनाथजी महाराज (बड़ा मन्दिर, भूलेश्वर, बम्बई) के पुस्तकालय में विद्यमान है। विषय उपर्युक्त है।

(८) 'दो सौ बावन वैष्णव वार्ता', सूरदास ठाकुरदास द्वारा संपादित जगदीश्वर छापाखाना बम्बई १९४७ वि०। इसमें इस प्रकार छपा है—नन्ददासजी तुलसीदासजी के छोटे भाई थे। ये जाति के ब्राह्मण थे। नन्ददास द्वारका जाना चाहते थे पर तुलसीदासजी श्री रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त थे इसलिए उन्होंने नन्ददास को द्वारका जाने की अनुमति नहीं दी। तो भी नन्ददास चले गये। जब तुलसीदासजी ने काशी में सुना कि नन्ददास गोसाइ विट्ठलनाथ के शिष्य हो गये हैं तो उन्होंने नन्ददास को

एक पत्र लिखा कि तुमने इष्टदेव को बदल कर अच्छा काम नहीं किया, इसका उत्तर नन्ददास ने तुलसीदासजी को भेजा, पत्र-व्यवहार पढ़ने के योग्य है। एक दिन नन्ददास के मन में आयी कि जैसे तुलसीदासजी ने भाषा में रामायण रची वैसी ही मैं भी भाषा में भागवत लिखूं; किन्तु परिस्थितिवश उन्हें यह विचार त्यागना पड़ा। एक बार तुलसीदासजी नन्ददास से मिलने काशी से आये और नन्ददास से काशी चलने के लिए आग्रह किया किन्तु नन्ददास सहमत न हुए। उत्तर-प्रत्युत्तर पठनीय है। नन्ददास ने तुलसीदासजी को गोवर्धननाथजी के दर्शन राम-रूप में कराये और तुलसीदासजी ने राम-रूप कृष्णजी को प्रणाम किया। गोकुल में आकर तुलसीदासजी ने गोस्वामी विट्ठलनाथ के दर्शन किये किन्तु उन्हें साष्टांग प्रणाम नहीं किया। जब गोसाईं विट्ठलनाथ को कारण का पता लगा तो उन्होंने अपने पांचवें पुत्र श्रीरघुनाथजी और पुत्रवधू जानकीजी के दर्शन कराये और तुलसीदास ने उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। दो सौ बावन वैष्णव वार्ता में, बड़ी हो जाने के भय से, अष्टछापी वैष्णवों के वृत्तान्त कुछ छोटे कर दिये गये हैं, जो स्वाभाविक ही था।

(९) 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' को श्री विट्ठलनाथ भट्ट ने १७२९ वि० में लिखा जो लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई) में १९५० विक्रम संवत् अर्थात् १८९३ ई० में छपा। इसमे लिखा है कि गो० तुलसीदासजी गो० विट्ठलेश को प्रभुता देखने के लिए १६२० वि० के लगभग ब्रज में आये, गोवर्द्धनधारी के दर्शन करने गये और उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि मेरा मस्तक तब नमेगा जब कृष्णजी राम-रूप में धनुष बाण हाथ में लेंगे। भगवान् ने तुलसी की इच्छा के अनुसार दर्शन दिया। तुलसीदासजी ने गो० विट्ठलनाथ से शरण-मन्त्र चाहा, पर उन्होंने तुलसीदासजी को रामभक्त समझ कर अपने पाँचवें पुत्र श्री रघुनाथ के पास भेज दिया। तुलसीदासजी ने जाकर उनके दर्शन किये और वे भक्ति की याचना कर अपने स्थान को चले गये। इस ग्रन्थ से यह भी पता चलता है कि श्री वल्लभाचार्यजी कम से कम दो बार, और विट्ठलनाथजी भी एक बार, सोरों में गंगा-पूजनादि के निमित्त पधारे थे।

(१०) 'भक्ति विलास' के लेखक श्री महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है कि तुलसीदासजी की गर्भ-स्थिति तारी में हुई थी।

(११) स्टेटिस्टिकल डिस्क्रप्शन एण्ड हिस्टोरिकल एकाउण्ट ऑव द नार्थ वेस्टर्न प्रोविंस ऑव इण्डिया। एडविन टी० एटकिनसन द्वारा सम्पादित, प्रथम जिल्द बुलेन्दखण्ड इलाहाबाद, १८७४ ई० का छपा। इसके पृष्ठ ५७२-३, पर लिखा है :—
ऐसी जनश्रुति है कि अकबर के शासन-काल में तुलसीदास नाम के एक महात्मा जो सोरों, परगना अलीगंज, जिला एटा के निवासी थे, यमुना किनारे उस जंगल में आये जहाँ अब राजापुर स्थित है। उन्होंने वहाँ एक मन्दिर बनवाया और वे स्वयं प्रार्थना-ध्यान में प्रवृत्त हो गये। उनकी धार्मिकता के कारण बहुत से अनुयायी आकर वहाँ बसने लगे, और जनसंख्या बढ़ने पर लोग धर्म और व्यापार दोनों की ओर प्रवृत्त हुए। तुलसीदास के उपदिष्ट नियमों का पालन आज भी राजापुर में होता है।

(१२) इम्पीरियल गजटियर, जिल्द एकादश, डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर कृत, द्वितीय संस्करण १८८६ ई०। इसके पृष्ठ ३८५-६ पर लिखा है कि अकबर के

शासन-काल में, तुलसीदास नामक एक भक्त ने सोरों से आकर राजापुर की नींव डाली, और बहुत से अनुयायियों को आकर्षित किया।

(१३) इम्पीरियल गजटियर ऑव इण्डिया, यू० पी० द्वितीय (प्रॉविंशल सिरीज) कलकत्ता १६०८। इसके पृष्ठ ५० पर लिखा है—ऐसी जनश्रुति है कि रामायण के प्रसिद्ध रचयिता तुलसीदास ने राजापुर की नींव डाली, और वहाँ उनका निवास-स्थान भी बताया जाता है।

(१४) डिस्ट्रिक्ट गजटियर्स ऑव दि यूनाइटेड प्रॉविंसेज, जिल्द २१, बाँदा, १६०६। इसके पृष्ठ २८५-६ पर लिखा है कि अकबर-काल में तुलसीदास नामक एक महात्मा, जो सोरों (तहसील कासगंज जिला एटा) के रहने वाले थे, यमुना किनारे उस जंगल में आये जहाँ अब राजापुर स्थित है...ये वे ही तुलसीदास हैं जिन्होंने रामायण लिखी है।

(१५) स्केच ऑव द रिलीजस सेक्ट्स ऑव दी हिन्दूज, एच० एच० विलसन-कृत, नवीन संस्करण, १८६१ ई०, पृष्ठ ६३-६४ पर लिखा है कि भक्तमाल के अनुसार तुलसीदास अपनी पत्नी में बड़े अनुरक्त थे और उसी के उपदेश से राम-भक्ति में प्रवृत्त हो संसार से विरक्त और वृन्दावन में नाभाजी से परिचित हुए।

(१६) 'द प्रोलोग टु द रामायण आव तुलसीदास', स्पेसीमेन ट्रांसलेशन एफ० एस० ग्राउजकृत, जर्नल आव एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, जिल्द ४५, १८७६ ई०। इसमें लिखा है कि गो० तुलसीदास ने सूकर खेत में शिक्षा पायी और यह भी बताया गया है कि सूकर खेत किस प्रकार 'सोरों' शब्द में परिवर्तित हो गया। रामायण के सम्पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद (पंचम संस्करण १८६१ ई०) की भूमिका में 'भक्ति-सिन्धु' का उल्लेख है जिसमें तुलसीदासजी के पिता का नाम आत्माराम लिखा है।

(१७) 'नोट्स ऑन तुलसीदास', जी० ए० ग्रियर्सनकृत; 'इंडियन एण्टि-क्वेरी' जिल्द २२, सन् १८६३ ई०। ग्रियर्सन महोदय ने जनश्रुति के आधार पर यह सूचना दी है जो सोरों-सामग्री से मुख्यतः मेल खाती है—गो० तुलसीदास के पिता थे आत्माराम, माता हुलसी, गुरु नरहरि, श्वशुर दीनबन्धु पाठक, पत्नी रत्नावली और पुत्र तारक। ग्रयिर्सन निम्नलिखित छन्द जनश्रुति के रूप में देते हैं :—

दुबे आत्माराम है पिता नाम जग जान।
माता हुलसी कहत सब तुलसी के सुन कान।
प्रह्लाद उद्धरण नाम करि गुर को सुनिये साधु।
प्रगट नाम नहिं कहत जग कहे होत अपराधु
दीनबन्धु पाठक कहत ससुर नाम सब कोइ
रत्नावलि तिय नाम है सुत तारक गत होइ।

उन्होंने सूकर क्षेत्र अर्थात् सोरों में शिक्षा पायी। जन्म-स्थान के लिए कई स्थान बताये जाते हैं यथा—तारी (दुआब में), हस्तिनापुर, हाजीपुर, (चित्रकूट के निकट) बाँदा जिले का राजापुर। किन्तु इन सब में तारी का दावा सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है—जैसा कि ग्रियर्सन लिखते हैं। (ध्यान देने की बात है कि गंगा-यमुना के दुआब में,

और काली नदी गंगा के भी बीच सहावर जिला एटा में तारी-नामक एक ग्राम विद्यमान है जहाँ सोरों-सामग्री के अनुसार गोस्वामी तुलसीदासजी की माता का जन्म हुआ था)। तुलसीदासजी ने अपने गुरु के नाम की ओर बालकांड में केवल संकेत किया है, क्योंकि गुरु का नाम नहीं लेना चाहिए। ग्रियर्सन ने जिस जनश्रुति का विवरण दिया है, वह पाठनीय है। यों तो जन-श्रुति में मिलावट हो जाया करती है और इधर की बातें उधर हो जाती हैं, फिर भी उक्त जनश्रुति में सत्य का भावपूर्ण आभास मिलता है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त जनश्रुतियों और गाथाओं का संकलन ग्रियर्सन महोदय ने अनेक विद्वानों के विशेषतः महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी और बाबू रामदीनसिंह के, परामर्श से किया जो उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों के निवासी हैं, किन्तु यह जनश्रुति उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में स्थित सोरों-सामग्री से अधिकांश में मेल खाती है।

ग्रियर्सन यह भी लिखते हैं कि तुलसीदासजी एक बार दिल्ली से वृन्दावन गये। वहाँ कृष्ण-भक्त नाभादासजी से उनकी भेंट हुई और वे एक दिन वहाँ कुछ वैष्णवों के साथ एक मन्दिर में गोपालकृष्ण के दर्शन करने गये। कुछ वैष्णवों ने व्यंग्य कसा कि तुलसीदासजी अपने इष्टदेव राम को छोड़कर अन्य देव के मन्दिर में दर्शनार्थ आये हैं। बस तुलसीदासजी बोल उठे—

का बरनौं छवि आज की भले बिराजो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लो हाथ।

तुलसीदासजी की अभिलाषा पूर्ण हुई और भगवान् कृष्ण ने राम के रूप में दर्शन दिये।

१८ (क)—ग्रियर्सन के उत्तरकालीन परिश्रमी लेखकों ने यथा जे० एम० मेक्फी (१९३० ई०) किसान कीने आदि ने उक्त जनश्रुति के ही आधार पर तुलसी का जीवन-वृत्तान्त दिया है।

(ख) स्वर्गीय मिश्रबन्धु भी तुलसीदास के सम्बन्ध में हुलसी और आत्माराम को माता-पिता, और रत्नावली को पत्नी मानते हैं।

(ग) गोस्वामी तुलसीकृत रामायण के टीकाकार पं० सीताराम मिश्र (लखीमपुर खीरी) लिखते हैं कि नन्ददासजी सनाढ्य ब्राह्मण और तुलसीदासजी के छोटे भाई थे। और गो० तुलसीदासजी का विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या से हुआ था और उनके पुत्र का नाम तारक था।

(घ) 'रामचरित मानस रामायण टीका सहित', टीकाकार सूरजभान अग्रवाल लिखते हैं कि तुलसीदास ने अपना विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या से कर लिया।

(ङ) तुलसीकृत रामायण, संजीवनी टीका में पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र १९०४ ई० में लिखते हैं कि तुलसीदास का विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ।

(च) तुलसीकृत रामायण, टीकाकार रामेश्वर भट्ट (१९०२ ई०) लिखते हैं कि दीनबन्धु पाठक ने गुसाईंजी को एक सुयोग्य रामभक्त जानकर अपनी गुणवती कन्या का विवाह इसके साथ कर दिया।

(छ) गोस्वामी तुलसीकृत रामायण। टीकाकार पं० नारायण प्रसाद मिश्र

(लखीमपुर खीरी) १९३० ई० में लिखते हैं कि तुलसीदास का विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ और उससे तारक नाम का एक पुत्र भी हुआ था।

(ज) रामचरित मानस सटीक। डॉ० श्यामसुन्दर दास लिखते हैं कि तुलसीदास के गुरु स्मार्त-वैष्णव थे। सोरों-सामग्री भी उन्हें स्मार्त-वैष्णव समझती है।

(झ) रामचरित मानस सटीक। टीकाकार पं० बाबूराम मिश्र (हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता) लिखते हैं कि तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे।

(ञ) बनारस कालिज के पं० रामजस ने १८६६ ई० में 'श्री तुलसीदासकृत रामायन' में तुलसी गुरु के नाम लिखे हैं : नरहरि, नरहरिदास, नृसिंह।

(ट) बैजनाथजी कुर्मी ने १८९० ई० में 'रामायण तुलसीकृत' के १६वें पृष्ठ पर गुरु नरहरि का और १६५वें पर माता हुलसी का उल्लेख किया है।

(ठ) 'मानस परिचर्य्या परिशिष्ट प्रकाश' (१८९८ ई०) के ३९वें पृष्ठ पर 'सूकरखेत' का अर्थ किया गया है 'सोरों घाट जहाँ वाराह अवतार भयो'।

(ड) 'मानस दर्पण' (१९१३ ई०) में श्री चन्द्रमौलि सुकुल ने सूकरक्षेत्र को सोरों माना और हुलसी, आत्माराम, दीनबन्धु आदि नामों का उल्लेख किया।

(ढ) दास पूरणभक्त श्री वास्तव ने 'श्री रामचरितमानस' (१९८६ वि०) में आत्माराम, हुलसी, नरहरिदास, दीनबन्धु, रत्नावली, तारक और सूकरखेत (=सोरों) का उल्लेख किया है।

(ण) रामचरित मानस सटीक। भूमिका में पं० रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं गो० तुलसीदास सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण थे।

(त) रासपंचाध्यायी। सम्पादक स्व० बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है कि दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में नन्ददासजी सनाढ्य ब्राह्मण और तुलसीदास के छोटे भाई थे।

(१९) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (१९०७-१९४२ वि०) ने भक्तमाल में नन्ददास को तुलसीदासजी का अनुज और गो० विट्ठलनाथ का सेवक बताया है, और यह भी लिखा है कि नन्ददास ने भाषा में भागवत रची किन्तु, गो० विट्ठलनाथजी के कहने से, उसे यमुनाजी में डाल दिया, जैसा कि वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों में भी लिखा है।

(२०) गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित, रानी कँवल कुवरि देवजूकृत रियासत सरीला, जिला हमीरपुर, १९५२ वि० में छपा था। उसके अनुसार तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे और अपनी पत्नी में अत्यन्त आसक्त होने के कारण गंगा को पार कर अपनी सुसराल पहुँचे थे। ध्यान देने की बात है कि राजापुर तो यमुना किनारे है, हाँ सोरों-सामग्री के अनुसार वे गंगा पार करके अपनी सुसराल बदरिया पहुँचे थे।

(२१) श्री अयोध्याजी, प्रमोद बन कुटिया निवासी सीतारामशरण भगवान प्रसाद-विरचित श्री भक्तमाल सटीक वार्तिक युक्त (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ) सन् १९१३ ई०। ७४१वें पृष्ठ पर वार्तिककार लिखते हैं : जन्म-स्थान भी लोग कई ठिकाने लिखते हैं बाँदा जिले में यमुनातीर राजापुर को बहुत लोग कहते हैं, परन्तु राजापुर

आपका जन्मस्थान नहीं। श्री गोस्वामीजी का जन्मस्थान गंगा वाराह क्षेत्र (सोरों के प्रान्त अन्तर्वेद में) तारी नामक ग्राम या तारी था...यह वोर्ता वहाँ जाके भली प्रकार निश्चय की है।

(२२) रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज (तुलसी ग्रन्थावली निबंधावली, पृष्ठ ४५ पर) लिखते हैं : पर जन्म कहाँ हुआ? लोग बतलाते हैं राजापुर उनकी जन्म-भूमि है। पर इस बात के विरुद्ध और लोग कहते हैं कि नहीं, उनका जन्म वहाँ नहीं हुआ, पर गुसाईंजी ने वहाँ एक मंदिर बनवाया या गाँव बसाया। फिर हस्तिनापुर उनकी जन्मभूमि बतलाई गई और हाजीपुर भी (जो चित्रकूट के पास है), पर इन बातों का कुछ प्रमाण नहीं। फिर औरों ने कहा, वह ताड़ी में जन्में, पर दूसरे लोग कहते हैं—नहीं उनके माता-पिता वहाँ रहते थे, पर यह तुलसीदास के उत्पन्न होने के पहले था। इन सब बातों से अनुमान होता है कि अब तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हुआ कि तुलसीदास का जन्म कहाँ हुआ?

(२३) शिवनन्दनसहायजी (माधुरी, पृष्ठ ४, अगस्त, १९२३ ई०) जन्मस्थान के सम्बन्ध में लिखते हैं कि अभी तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हुआ। राजापुर तथा तारी के बीच आग्रह है। यद्यपि राजापुर में आपका स्मारक निर्मित हुआ था तथापि वहीं के कुछ बूढ़े लोग कहते हैं कि वह गोसाईंजी का जन्म-स्थान नहीं। विरक्त होने पर ये कुछ दिन वहाँ रहे अवश्य थे और प्रायः जाया करते थे।

सहायजी यह भी सूचित करते हैं कि "किसी-किसी का मत है कि 'तारी' और 'सोरों' के बीच में कहीं पर गोसाईंजी का ससुराल था"।[1] इन शब्दों से स्पष्ट है कि सोरों-पक्ष नवीन नहीं, वह पहले से ही उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों में विद्यमान था।

(२४) लाला सीतारामजी मानते हैं कि गोस्वामीजी सनाढ्य थे और तारी में उत्पन्न हुए। ('अयोध्या काण्ड' में तुलसीदासजी का जीवन चरित्र, १९२१ ई०)।

(२५) श्री गोविन्दवल्लभ भट्ट, माधुरी १९२९। भट्टजी लिखते हैं—श्री तुलसी-स्मारक सभा राजापुर के अधिकारी[2] से जब इसी जन्म-स्थान के विषय में पत्र-व्यवहार किया तो उत्तर में उन्होंने 'प्राइवेट' शब्द के साथ इस बात को स्वीकार किया कि गोस्वामीजी का जन्म-स्थान सोरों या उसी के आस-पास कहीं होना चाहिए।

(२६) सोरों, सूकरखेत गंगा किनारे है इस विषय में प्रमाण हैं—गर्ग संहिता, वराह पुराण, ब्रह्म पुराण, पृथ्वीराजरासो, आइने अकबरी, वीरमित्रोदय, एट॰ गजटियर, आर्केलोजिकल सर्वे।

(२७) गो॰ तुलसीदास का अन्तःसाक्ष्य (आत्म-परिचय) निम्नलिखित तथ कतिपय अन्य वचनों में उपलब्ध है :—

(क) **दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर** (विनय पत्रिका)

(ख) **भलि भारत भूमि भले कुल जन्म**
समाज सरीर भलो लहिकै। (कवितावली)

---

१. श्री गोस्वामी तुलसीदासजी, १९१६ ई०, पृ० २२।
२. श्री गंगाप्रसाद जी, सेक्रेटरी, १० नवम्बर, १९१९ ई०।

(ग) रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी तुलसिदास हित हिंय
हुलसी सी। (रामचरित मानस)
(घ) जननि जनक तज्यो जनमि (विनय पत्रिका)
(ङ) राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम (विनय पत्रिका)
(च) राम बोला नाम हौं गुलाम राम साहिको। (कविता०)
(छ) बन्दौ गुरुपद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि (रामचरितमानस)
(ज) मैं पुनि निज गुरुसन सुनी, कथा सो सूकर खेत (रामचरितमानस)
(झ) तुलसी तिहारो घर जायो है घर को (कवितावली)
(ञ) वरु वारहिं वार सरीर धरौं
रघुवीर को ह्वं तव तीर रहौंगो (क०)
(ट) जो पहुँचाव रामपुर तन अवसान। (बरवै)
(ठ) जतन अनूपम जानु वर सकल कला गुन धाम
अविनासी अव्यय अमल भो यह तनु धरि राम। (तु० स०)[1]

(२८)—तुलसी तेरी झोंपड़ी गलकटियन के पास।
जौन करे सोई भरै तू कत होय उदास॥

श्री रामनरेश त्रिपाठी अक्तूबर १६३५ में सोरों पधारे थे। किन्तु उनको उक्त दोहा पहले से ही स्मरण था और सोरों आकर उन्हें पता चला कि तुलसीदासजी का घर सोरों के योगमार्ग मोहल्ले में कसाइयों के निकट था।

(२६) श्री रामनरेश त्रिपाठी और भट्टजी ने कुछ ऐसे शब्दों की ओर ध्यान दिलाया है जो सोरों में ही या उसके आसपास बोले जाते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें गुजरात, पंजाब और राजपूताना से आने वाले बोलते हैं, यथा—

केवल सोरों के : तायो, और को, भाँवरा चकडोरि, कुटिल कीट, तिजरा को सो टोटक।

पंजाबी-राजस्थानी-गुजराती : माय जायो, मीजो (हाथ फेरा), मैंन (मैंण, मोम), मोखे, माठ, मौंगी, मूकी, वियो (दूसरा), म्हाको, दारू (बारूद), नारि अथवा नार (गर्दन), खेरा (ग्राम), इत्यादि।[2]

डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव की सम्मति में, तुलसीदासजी की मुद्रालंकृत उक्तियों से 'राजापुर-विषयक जीवन-वृत्त की अपेक्षा सोरों-विषयक जीवन-वृत्त की अधिक पुष्टि होती है'[3], और डॉ० श्रीवास्तव के ही शब्दों में "भाषा के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि तुलसी जन्म-काल से बाल्यकाल तक सोरों या उसके आस-पास रहे।"[4]

(३०) गोस्वामी तुलसीदासजी ने जवासा शब्द का प्रयोग कई बार अपने कुछ ग्रन्थों में किया है, यथा: 'जिमि जवास परें पावस पानी',[5] 'अर्कजवास पात बिनु

---

१. इस विषय का सविस्तर प्रतिपादन नवम अध्याय में हुआ है।
२. भाषा-सम्बन्धी विशेष विवरण के लिए एकादशम अध्याय देखिये।
३ और ४. तुलसीदास की भाषा, पृ० ३६५-३६७।
५. रा २, ५४, २।

भयऊ',[१] 'जस सुराज खल उधम गयऊ'। (रा० भा० २, ५४,२)। जिलाधीशों से विदित हुआ है कि बनारस, गोंडा, बाँदा जिलों में जवासे का नाम नहीं। मैं नहीं जानता यह सूचना कहाँ तक ठीक है। पर एटा जिले में आक और जवासा प्रचुरता से मिलते हैं। यद्यपि इन शब्दों का प्रयोग स्वतः यह सिद्ध नहीं कर देता कि तुलसीदासजी पूर्व के नहीं किन्तु पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के थे, फिर भी प्रमाण-समष्टि में यह विचारणीय प्रश्न है।

सोरों-सामग्री की महत्ता यह है कि वह तुलसी-सम्बन्धी उपर्युक्त बिखरी सामग्री का समाधान करती हुई तुलसीदास के जीवन-सम्बन्धी व्यापक तथ्य पर प्रचुर प्रकाश डालती है।[२]

---

१. रा ४, १६, ३।

२. कदाचित् यही कारण है कि अब विद्वान् तथ्य की ओर प्रवृत्त हो चले हैं, यथा: डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूकरखेत को सोरों, नन्ददास को चचेरा भाई, नरसिंह चौधरी को गुरु और तारापति को पुत्र माना है।

रत्नावली : तुलसी की पत्नी

(क) आत्म-परिचय

नामोल्लेख—रत्नावली के २०१ दोहे प्राप्त हैं। उनमें से ८८ दोहों में 'रत्नावली' नाम का उल्लेख है, किन्तु ३१ दोहे बिना नाम के हैं। दोहों में कभी-कभी आत्म-परिचयात्मक संकेत भी हैं।

'रत्नावली' नाम का उल्लेख इस प्रकार है—

हाइ बदरिका बन भई हों बामा विस बेलि
रतनावलि हों नाम की रसहि दयो विस मेलि।३।

पति-नाम—पति का नाम लेने में भारतीय नारी को संकोच होता है, अतएव रत्नावली ने पर्यायोक्ति का आश्रय लेकर अपने पति तुलसीदास नाम को व्यक्त करने में कौशल का प्रयोग इस प्रकार किया है—

जासु दलहि लहि हरजि हरि हरत भगत भवरोग
तासु दास पद दासि ह्वै रतन लहत कत सोग।२६।

पितृ-नाम—इस विदुषी ने अपने पिता दीनबन्धु पाठक के नामोल्लेख में भी काव्य-चातुर्य व्यक्त किया है—

दीनबन्धु कर घर पली दीनबन्धु कर छांह
तौउ भई हों दीन अति पति त्यागी मो बांह।१६।

जन्मभूमि—रत्नावली ने उक्त दोहे (संख्या ३) में अपनी जन्मभूमि बदरिका (बदरिया) का इंगित किया है जो निम्नलिखित दोहे में स्पष्ट है :—

जनमि बदरिका कुल भई हों पिय कंटक रूप
बिधत दुखित ह्वै चलि गए रतनावलि उर भूप। २।

पति का जन्म-स्थान और देश—पति के जन्म-स्थान और कुल का उल्लेख किस कौशल से हुआ है—

सनक सनातन कुल सुकुल गेह भयो पिय स्याम
रतनावलि आभा गई तुम बिन बन सम गाम। १७।
प्रभु बराह पद पूत महि जनम मही पुनि एहि
सुरसरि तट महि त्यागि अस गए धाम पिय केहि। २२।

कृष्णदासजी ने जो वंशावली दी है उसके अनुसार नारायण शुक्ल के चार पुत्र थे : श्रीधर, शेषधर, सनक और सनातन। सनातनजी के पुत्र थे परमानन्द और परमानन्द के पुत्र हुए सच्चिदानन्द, और सच्चिदानन्द के दो पुत्र उत्पन्न हुए— आत्माराम और जीवाराम, जो क्रमशः तुलसीदासजी के पिता और पितृव्य तथा नन्ददास जी के ताऊ और पिता थे। रत्नावली ने अपने दोहे में केवल सनक और सनातन का उल्लेख किया जो तुलसीदासजी और नन्ददास से चार पीढ़ी पूर्व थे।

'सुकुल' और 'स्याम' द्विरर्थक हैं। सुकुल का अर्थ है शुक्ल (श्वेत) और सुकुल अथवा शुक्ल नामक आस्पद, तथा स्याम का अर्थ है श्याम अथवा असित तथा श्री कृष्ण। तुलसीदास के गृहत्याग के पश्चात् नन्ददासजी कृष्ण-भक्त हो गये थे और उन्होंने भक्ति के आवेग में अपने जन्म-ग्राम के नाम को रामपुर से श्यामपुर में परिवर्तित कर दिया। राम-भक्त पति की पत्नी के नाते रत्नावली को कदाचित् यह परिवर्तन अच्छा न लगा क्योंकि पति वियोग में तो पूर्वजों का शुक्ल घराना उसे श्याम सा प्रतीत होने लगा। वह कहती है 'यह सूकरक्षेत्री भूमि भगवान् वराह के चरणों से पवित्र और भागीरथी गंगा के तट पर है, यह आपकी जन्मभूमि भी है; न जाने आप इसको छोड़ कहाँ चले गये ?'

उपालम्भ और खेद—रत्नावली को खेद है कि गाजे बाजे तथा धूम-धाम के साथ मेरा विवाह हुआ और मैं पति-प्रिया भी थी; किन्तु एक दिन रात को सहसा बिना किसी आडम्बर के, मेरे प्राणनाथ मुझे सोती छोड़कर चले गये। पति-वियोग के विषय में उसका पश्चात्ताप उपालम्भपूर्ण है—

कर गहि लाए नाथ तुम बादन बहु बजवाइ
पदहु न परसाए तजत रतनावलिहि जगाइ। ३७।
सोवत सों पिय जगि गए जगिहु गई हों सोइ
कबहुँ कि अब रतनावलिहि आइ जगावहि मोइ। १६।[1]
रतन प्रेम डंडी तुला पला जुरे इकसार
एक वाट पीडा सहे एक गेह संभार। ४५।
दीनबन्धु कर घर पली दीनबन्धु कर छाँह
तौउ भई हों दीन अति पति त्यागी मो बाँह। १६।

काल-निर्देश—रत्नावली सूचित करती है कि मैं विवाह के समय द्वादश, द्विरागमन के समय षोडश, तथा पति-वियोग के समय सत्ताइस वर्ष की थी। संवत् १६०४ वि० मेरे लिए बड़ा अशुभ रहा क्योंकि उसी वर्ष मेरे पति ने गृह का और माता ने देह का त्याग किया—

बैस बारहीं कर गह्यो सोरहिं गवन कराइ
सत्ताइस लागत करी नाथ रतन असहाइ। ४१।
सागर षरस ससी रतन संवत भो दुखदाइ
पिय वियोग जननी मरन करन न भूल्यो जाइ। ४२।

पश्चात्ताप—रत्नावली ने पश्चात्तापपूर्वक लिखा है कि अप्रासंगिक शब्दों के कारण पति से मेरा वियोग हुआ था। किन्तु वास्तव में मैं निर्दोष थी :

सुभहु वचन अप्रकृत गरल रतन प्रकृत के साथ
जो मो कहं पति प्रेम संग ईस प्रेम की गाथ। ४।
कहि अनुसंगी वचन हूँ परिनति हिये विचारि
जो न होइ पछिताउ उर रतनावलि अनुहारि। ५।

---

१. समुझि सुनीति कुनीति रत जागत ही रह सोइ।
उपदेसिगो जगाइबो तुलसी उचित न होइ। (तु० स० ७,५८)
क्या इस दोहे में रत्नावली के उपालम्भ का उत्तर है ?

धिक मो कहँ भो बचन लगि मो पति लह्यो विराग
भई वियोगिनि निज करनि रहूँ उडावति काग । १० ।
हौं न नाथ अपराधिनी तऊ छमा करि देउ
चरनन दासी जानि निज बेग मोरि सुधि लेउ । ११ ।

देवर—रत्नावली ने अपने देवर नन्ददासजी का उल्लेख किया है जो वय में उसके पति से छोटे थे । राम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास ने उनके द्वारा रत्नावली के पास राम-भक्ति का सन्देश भेजा था—

मोहि दीनो संदेस पिय अनुज नन्द के हाथ
रतन समुझि जनि पृथक मोहि जो सुमिरति रघुनाथ । २७ ।

पति की राम-भक्ति—रत्नावली को ज्योंही खेद हुआ कि मेरे पति के हृदय में तो भगवान् रामचन्द्र ने मेरा स्थान ले लिया त्योंही स्वयं उसका समाधान हुआ कि मेरा भाग्य सुन्दर है; क्योंकि जिसके हृदय में राम वसते हैं उसका वास मेरे हृदय में है, अतएव मेरे हृदय में एक के निवास से दोनों का निवास है—

राम भगति भूषित भयो पिय हिय निपट निकाम
अब किमि भूषित होइ है तहँ रतनावलिहि बाम । २० ।
राम जासु हिरदै वसत सो पिय मम उर धाम
एक वसत दोऊ वसहिं रतन भाग अभिराम । २६ ।

वियोग की तीव्रता—रत्नावली ने पति-वियोग का तीव्र अनुभव किया जिसकी अभिव्यक्ति उसने न्यूनातिन्यून तेईस दोहों में की है—

हाइ सहज ही हौं कही लह्यो बोध हिरदेस
हौं रतनावली जचि गई पिय हिय काच विसेस । १ ।
जनमि बदरिका कुल भई हौं पिय कंटक रूप
बिंधत दुखित ह्वै चलि गए रतनावलि उर भूप । २ ।
हाइ बदरिका बन भई हौं बामा विस वेलि
रतनावलि हौं नाम की रसहि दयो विस मेलि । ३ ।
कहि अनुसंगी वचन हूँ परिनति हिये विचारि
जो न होइ पछिताउ उर रतनावलि अनुहारि । ५ ।
धिक मोकहँ मो वचन लगि मो पति लह्यो विराग
भई वियोगिनि निज करनि रहूँ उडावति काग । १० ।
जदपि गए घर सों निकरि मो मन निकरे नाहिं
मन सों निकरहु ता दिनहिं जा दिन प्रान नसाहिं । १२ ।
नाथ रहौंगी मौन हौं धारहु पिय जिय तोस
कबहुँ न दऊँ उराहनो देउँ कबऊँ ना दोस । १३ ।
छमा करहु अपराध सब अपराधिनि के आइ
बुरी भली हौं आपकी तजउ न लेउ निभाइ । १४ ।
कबहुँ कि ऊगे भाग रवि कबहुँ कि होइ विहान
कबहुँ कि विकसै उर कमल रतनावलि सकुचान । १८ ।

सुवरन पिय संग हों लसी रतनावलि सम कांचु
तिहि बिछुरत रतनावली रही कांचु अब सांचु । २४ ।
हों न उऋन पिय सों भई सेवा करि इन हाथ
अब हों पावहु कौन विधि सदगति दीनानाथ । ३९ ।
कबहुँ रह्यो नवनीत सो पिय हिय भयो कठोर
किमु न द्रवहि हिम उपल सम रतन फिरइँ दिन मोर । ३६ ।
असन वसन भूषन भवन पिय बिन कछु न सुहाइ
भार रूप जीवन भयो छिन छिन जिय अकुलाइ । ४० ।

वियोग का जीवन—वियोग में इस पतिव्रता ने अपना जीवन किस प्रकार यापन किया वह निम्नांकित पंक्तियों में निहित है। पतिपद-सेवा से विहीन हो उसने पति-पादुका-सेवा को अंगीकार किया। जलमग्न व्यक्ति को नौका-रज्जु जीवन का अवलम्ब देती है—

पति पद सेवा सों रहित रतन पादुका सेइ
गिरत नावसों रज्जु तेहि सहित पार करि देइ । ३४ ।

(ख) रत्नावली की शैली

रत्नावली का गौरव—रत्नावली ने अधिक नहीं लिखा, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके केवल २०१ दोहे और कतिपय पद उपलब्ध हुए हैं। उसने रचना के लिए दोहे नामक चार चरण वाले छन्द को अपनाया जिसके जगणारम्भ-हीन विषम चरणों में त्रयोदश और सम चरणों में एकादश मात्राएँ होती हैं तथाच सम चरणों के अन्तिम दो स्वर क्रमशः दीर्घ और लघु होते हैं। हिन्दी के उन कवियों में जिन्होंने शिक्षा-प्रद उद्देश्यों के निमित्त इस छन्द का सफलतापूर्वक उपयोग किया है वे हैं तुलसीदास, रहीम, बिहारी, वृन्द आदि। इस दिशा में रत्नावली का महत्त्व कम नहीं। उसकी लेखनी से कोई ऐसा निस्सरण न हुआ जिसे उसने माधुर्य प्रदान न किया हो।

वृत्त—छन्द परीक्षा की कसौटी पर उसका वृत्त ठीक उतरता है। हाँ, केवल चार स्थलों पर अर्थात् ८७, ११५, १२८ और १४४ संख्यक दोहों में प्र, प्रा, व्र नामक अक्षरों की ध्वनि को कोमलता प्रदान करने की आवश्यकता है; और लगभग उतने ही स्थलों में पूर्ण-बिन्दु का उच्चारण चन्द्र-बिन्दु-सम होना चाहिए। प्रथम प्रकार का व्यतिक्रम तो न्यूनाधिक प्रचलित है; द्वितीय तो वर्त्तनी का विषय है। उसकी रचना यतिभंग दोष से सर्वथा मुक्त है। अतएव यह कथन कि रत्नावली की रचना में छन्द-सम्बन्धी दोष नहीं है अत्युक्ति नहीं। यह बात बड़े गौरव की है कि वह ऐसे छन्द के उपयोग में सफल हुई है जो कदाचित् लघुतम, अतएव अभिव्यंजन में कठिनतम है। कुशल कवि ही गागर में सागर भर सकते हैं।

अर्थगाम्भीर्य—रत्नावली ने उच्च विचारों को थोड़े शब्दों में ही व्यक्त करने की प्रशंसा की है, सुकवि का आदर्श भी यही है। उसके शब्द हैं—

रतन भाव भरि भूरि जिमि कवि पद भरत समास
तिमि उचरहु लघु पद करहि अरथ गंभीर विकास ।१६२॥

इससे स्पष्ट है कि यह विदुषी शब्दबहुल वाक्य की अपेक्षा अर्थगम्भीर वाक्य को अधिक प्रशस्त समझती है। उसने स्वयं माधुर्यपूर्ण लघूक्ति को अपनाया है; उसे पादपूर्ति अथवा अन्त्यानुप्रास के निमित्त शब्दान्वेषण की आवश्यकता कभी न पड़ी। उसकी रचना में ऐसा कोई शब्द प्रवेश न कर सका जो व्यर्थ हो अथवा अनावश्यक। अतएव प्रतीत होता है कि छंद और कोश पर उसका अधिकार था; यह कोई कम बात नहीं।

भाषा—इसमें कोई मतभेद नहीं कि रत्नावली ने व्रजावधी में लिखा जो उसकी बोली थी। मैंने 'व्रजावधी' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि उसकी भाषा व्रजभाषा तो थी किन्तु वह व्रजभाषा ऐसी नहीं जैसी उसके समकालीन ठेठ व्रज के निवासी महाकवि सूरदास की थी। रत्नावली और तुलसीदास उस तीर्थ-स्थान के निवासी थे जहाँ व्रज और अवध निवासियों का सम्पर्क होता था अतः गोस्वामीजी का 'रामचरित मानस' और रत्नावली के दोहे व्रजावधी में हैं। कारक-चिह्नों और सर्वनाम के रूपों में इस भाषा का प्रभाव स्पष्ट है। उसने केवल दो तुर्की शब्दों का प्रयोग किया है अर्थात् 'तुपक' और 'चकमक' का, अन्यथा उसकी रचना विदेशी प्रभाव से विमुक्त है। हो सकता है उसे विदेशी शब्दों के प्रचुर प्रयोग का अवसर ही न मिला हो, क्योंकि उसका लालन-पालन कट्टर हिन्दु माता-पिता के द्वारा हुआ और विवाह भी ऐसे घराने में जो पौरोहित्य पर निर्भर था; इसके अतिरिक्त थी साहित्य में उसकी प्रवृत्ति, संस्कृत में दक्षता, और गंगा-तटस्थ तीर्थ में उसका निवास। यद्यपि उसके पति का गृह 'गलकटियों' अर्थात् कसाइयों के मध्य अथवा सन्निकट था, तथापि सम्भव है उसने उनके स्त्री-समाज से घनिष्ठ सम्पर्क को औचित्यहीन समझा हो। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे अपढ़ बूचड़ और उनकी स्त्रियाँ हिन्दू-वातावरण में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग करते भी थे।

हाँ, रत्नावली ने तद्भव अर्थात् संस्कृत के अपभ्रष्ट शब्दों का प्रयोग अवश्य किया है। प्रायः आधे शब्द इस प्रकार के हैं। अवशिष्टों में अधिकतर ऐसे हैं जिन्हें तत्सम कहा जाता है। अल्पसंख्यक ऐसे शब्द हैं जो स्थानीय, प्रान्तीय अथवा अनिश्चित व्युत्पत्ति के हैं। उदाहरणार्थ 'पुनीत' शब्द का प्रयोग हुआ है। वैयाकरणों की सम्मति से पवित्र के अर्थ में 'पूत' ही शुद्ध है, यद्यपि महाभारत में भी इसका प्रयोग हुआ है।

रीतिकालीन कुछ कवियों की भाँति रत्नावली शब्दाडम्बर में नहीं पड़ी। इस विषय में कदाचित् उसने जानबूझकर कोई प्रयत्न नहीं किया। उसके वाक्य व्याकरण से असम्मत नहीं। उनका लक्ष्य समासोक्ति है, अतएव 'होना' क्रिया के कुछ रूप तथा कतिपय संयोजक शब्द छोड़ दिये गये हैं, किन्तु इससे अर्थ अस्पष्ट नहीं होता।

रत्नावली का तर्क सादृश्यानुमान तथा स्वानुभव से प्रवाहित है, किन्तु अधिकतर प्रथम से ही। उसके तर्क में बल है और विश्वासोत्पादकता भी। उसकी शैली में है समासत्व किन्तु प्रसाद भी, लोकरुचि किन्तु भव्यता भी।

अलंकार—रत्नावली के दोहों में अलंकारों का अभाव नहीं। उसने अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है, किन्तु उसने अपने कवित्व को प्रकाशित करने की भावना से जान-बूझ कर ऐसा नहीं किया। उसकी भाषा पिष्ट (बैटर्ड ऑर्नेमेंट्स), अप्रयुक्त अथवा नितान्त नूतन प्रयोगों से रहित किन्तु सरल तथा प्रचलित है। इसमें सन्देह नहीं

कि उसकी रचना में अनेक सबल द्विरुक्तियाँ विद्यमान हैं किन्तु उनसे तो भाव को सुस्पष्टता ही प्राप्त होती है। उसके दोहों के द्वितीय और चतुर्थ चरणों में अन्त्यानुप्रास सदैव विद्यमान रहता है; अन्य प्रकार के अनुप्रास का स्वाभाविक प्रयोग भी बड़ा रुचिकर है।

विषय—रत्नावली के काव्य का विषय है अपने तथा अपने वंश के सम्बन्ध में आकस्मिक आत्मपरिचय तथा पति-वियोग-जन्य शोक का वर्णन। इसके अतिरिक्त उसके काव्य का विषय है—स्त्री-जाति को सतीत्व-सदाचार का उपदेश; गृहस्थ-सम्बन्धी आवश्यक सुझाव, एवं पति, माता-पिता, सम्बन्धी, मित्र, अज्ञात व्यक्तियों के प्रति व्यवहार। उच्चतम दर्शन, विश्वबन्धुत्व, और स्त्री-शिक्षा पर भी यदा-कदा विचार प्रकट किये गये हैं, जिनका विवरण अलग दिया जायगा।

रस—उसके प्रायः सभी दोहे, जिनका अपने व्यक्तित्व और वंश से, विशेषतया वियोग से सम्बन्ध है, 'करुण विप्रलम्भ' से ओतप्रोत है। जगन्नाथ पंडित के अनुसार यह रस पति-पत्नी के उस प्रेम में विद्यमान रहता है जिसमें जीवित पति अथवा पत्नी के वियोग से उत्पन्न शोक भी प्रधान मात्रा में विद्यमान हो। इसके उदाहरण हैं दोहे संख्यक १, २, ३, ८, १०, १५, २०, ३२। ये निस्सन्देह विप्रलम्भ के उदाहरण हैं। अतः इनकी गणना शृंगार रस में होनी चाहिए; किन्तु पति-मिलन के अनिश्चय एवं शोकातिरेक के कारण यह करुण की ओर प्रवृत्त हैं। मिलन की नितान्त अनिश्चितता तो प्रेमी की मृत्यु के ही समकक्ष है। फलतः इस रस को उक्त दोनों रसों का मिश्रण समझ कर 'करुण विप्रलम्भ' कहना उचित होगा। किन्तु कुछ ऐसे दोहे भी हैं जिनमें पति-मिलन की सुदूर आशा विद्यमान है, अतः १३, १४, २७, ३७, ४३ और ४४ संख्यक दोहों को शुद्ध विप्रलम्भ का उदाहरण समझना समीचीन रहेगा।

रत्नावली की रचना में एक और रस विद्यमान है जिसे शान्त रस कह सकते हैं। अभिनवगुप्त, जगन्नाथ और मम्मट ने भी इस रस को माना है। प्रथम पैंतालीस दोहों के अतिरिक्त शेष सभी इस रस से परिपूर्ण हैं। कदाचित् इस विषय में जगन्नाथ पण्डित का मतभेद हो, क्योंकि उनके मतानुसार इस रस की व्याप्ति तो प्रार्थना-मान द्वारा संसार-विरक्ति के चित्रण में होती है, अर्थात् उस शान्ति के वर्णन में जो वेदान्त तथा अन्य दर्शन-शास्त्रों के अध्ययन द्वारा नित्य और अनित्य के विवेचन से उपलब्ध होती है। किन्तु उक्त रस के विरोधी-उदाहरण से, जो उन्होंने उपस्थित किया है, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें भगवद्भक्ति को शान्त रस का अंग मान लेना अभीष्ट नहीं; रति में आचार-मिश्रण को तो और भी कम। अतः उनके मत से रत्नावली का अड़तालीसवाँ दोहा शान्त रस का उदाहरण नहीं होना चाहिए। किन्तु मेरी विनीत सम्मति में तो उसमें शान्त रस है, क्योंकि यदि यह रति का उत्पादक होता तो शृंगार रस होता किन्तु वह तो किसी संवेग को उत्पन्न नहीं करता। वह हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक नोदित करता है। अतः उस में जो स्थायी भाव है वह केवल भाव (फ़ीलिंग) है, संवेग नहीं। मेरी समझ में कोई भी स्थायीभाव स्थायीभाव नहीं कहा जा सकता, यदि वह तत्सम्बन्धी संचारी भाव को उत्पन्न न करे। अतएव रति तब तक रीति नहीं जब तक वह प्रेम के संचारी भाव को, थोड़े समय के लिए भी, प्रेरित न करे। वह शोक जो रुलाता नहीं

अथवा किसी प्रकार का खेद व मानसिक कष्ट नहीं देता करुण नहीं। यह आवश्यक है कि हास्य रस किसी पाठक, श्रोता अथवा द्रष्टा को हँसने-मुस्कराने का अवसर दे; हाँ, यदि वह व्यक्ति किसी कठोरतर पदार्थ का न बना हो अथवा अतिमानव वा उप-मानव न हो। इसी भाँति शान्त रस मानव को निर्वेद, आनुकूल्य, मानसिक सामंजस्य, स्थिरता और संवेगहीन-तल्लीनता प्रदान करता है। मेरी सम्मति है कि शान्त-रस में सभी प्रकार का वह काव्य सम्मिलित है जो उपदेश आदि के द्वारा शान्ति-समत्व को नोदित करता है। रत्नावली के लगभग एक सौ छप्पन दोहे शिक्षाप्रद हैं जिनमें शान्त रस निहित है।

कौशल—रत्नावली का कवित्व वास्तव में प्रतिभाशाली है। उसकी कल्पना और कला कवि-गुण के साक्षी हैं। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे। 'दीनबन्धु' उसके पिता का नाम था जिसका उसने एक ही दोहे में किस चातुर्य से दो बार उल्लेख किया है, जिसका अर्थ भगवान् भी होता है। 'तौउ' शब्द तो विरोधाभास-सूचक है। वह यमक का प्रयोग करती हुई कहती है कि यद्यपि दीनबन्धु के घर में मेरा पालन-पोषण हुआ तथापि मुझे इतना दीन होना पड़ा—

दीन-बन्धु कर घर पली दीनबन्धु कर छांह
तौउ भई हौं दीन अति पति त्यागी मो बांह।१६।

सत्रहवें दोहे के 'सुकुल' और 'स्याम' सम्बन्धी श्लेष कितने उत्कृष्ट हैं। रत्नावली के पति का जो कुल उनकी उपस्थिति में शुक्ल था वह उनके वियोग में उसे श्याम प्रतीत होने लगा; ग्राम बन तुल्य हो गया और रत्नों की अवलि कांति-हीन हो गयी। अपने इस भाव को प्रकट करते हुए उसने यह भी इंगित कर दिया है कि उसके पति के चले जाने के पश्चात् नन्ददासजी ने अपने जन्म-ग्राम 'रामपुर' का नाम श्यामपुर रख दिया था—

सनक सनातन कुल सुकुल गेह भयो पिय स्याम
रत्नावलि आभा गई तुम बिन बन सम गाम।१७।

पच्चीसवें दोहे में पति-नाम को किस कौशल से व्यक्त किया है। हिन्दु-नारी होने के नाते वह अपने पति का नाम सीधे नहीं लेती, किन्तु अपने काव्य में वह उस नाम को अमर कर देना चाहती थी अतएव उसने किस अनिद्य कौशल से पर्यायोक्ति का उपयोग किया है—

जासु दलहि लहि हरषि हरि हरत भगत भवरोग
तासु दास पद दासि ह्वै रतन लहत कत सोग।२५।

रत्नावली का वैदग्ध्य द्रष्टव्य है। वह अपने भाग्य की प्रशंसा करती है कि मेरे पति के हृदय में भगवान् राम विराजमान हैं और मेरे हृदय में पति-देव। अतः मेरे हृदय में दोनों हैं—राम और तुलसीदास।

राम जासु हिरदै वसत सो पिय मम उर धाम
एक वसत दोऊ वसहिं रतन भाग अभिराम।२६।

त्रपा का उल्लेख कितना प्रशस्त है। हिन्दु-पत्नी कितनी संकोचशीला होती है वह उसके व्यवहार से स्पष्ट है। स्त्री-सुलभ लज्जा के कारण वह संकोचपूर्ण थी,

अतएव पति के रहते वह उनकी यथेष्ट सेवा न कर सकी, और उनके चले जाने के पश्चात् तो अवसर ही न मिला—

पति सेवत रतनावली सकुची धरि मन लाज
सकुचि गई कछु पिय गए सज्यो न सेवा साज ।३३।

विवाह और अन्तिम विदाय के समय उसके प्रति तुलसीदासजी का व्यवहार कितना स्व-विरोधी रहा। उन्होंने विवाह के समय तो रत्नावली का पाणिग्रहण किया किन्तु विराग के समय वे चुपके से खिसक गये। पाणि-ग्रहण के समय तो गाजे-बाजे के साथ सबके समक्ष प्रथम हाथ बढ़ाने वाले पति देव थे, किन्तु विदाय के समय उन्होंने एकान्त में पत्नी को जगाकर पैर छूने का अवसर भी न दिया।

कर गहि लाए नाथ तुम वादन बहु बजवाइ
पदहु न परसाए तजत रतनावलिहि जगाइ ।३७।

रत्नावली का रूपक सुन्दर है। उसने अपने पिता की तुलना माली से, अपनी लता से, तुषार की वियोग से, और वसन्त की अभीप्सित सुख से की है—

मलिया सींचो विविध विधि रतन लता करि प्यार
नहिं वसंत आगम भयो तब लगि पर्यो तुसार ।३८।

रत्नावली ने नारी-जीवन की तुलना शाक से की है और पति-प्रेम की लवण से। जिस प्रकार लवण के बिना भाजी स्वाद-हीन होती है, उसी प्रकार नारी का जीवन भी पति-प्रेम के बिना निरानन्द होता है। वह कहती है—

तिय जीवन तेमन सरिस तौलों कछुक रुचै न
पिय सनेह रस राम रस जौलों रतन मिलै न ।४६।

४५वें दोहे के श्लेष मनोरम हैं। बाट के दो अर्थ होते हैं: मार्ग और तोलने के निमित्त लौह-प्रस्तर आदि का खण्ड। गृह-सम्भार भी द्विरर्थक है: घर की देख-रेख, तुलने वाले पदार्थ। विवाह-बन्धन की तुलना तुला से है और दम्पति की तुला-पट-द्वय से। तुला में दो पलड़े होते हैं, एक में बाटों का भार होता है, और दूसरे में गृहस्थी के पदार्थ का। विवाह के द्वारा तुलसीदास और रत्नावली का सम्बन्ध हुआ, दोनों वियोग-काल में पीड़ित हैं, एक तो मार्ग के कष्ट से और दूसरा गृह-व्यवस्था की चिन्ता से। रत्नावली के कल्पना-पक्षी का सुखद उड्डयन है:

रतन प्रेम डंडी तुला पला जुरे इकसार
एक वाट पीड़ा सहै एक गेह संभार ।४५।

पति के बिना पत्नी का जीवन वृथा है। ससार में पति-हीना की दशा ठीक वैसी है जैसी सागर में कर्णधार के बिना पोत की, अथवा उच्चारण में स्वर के बिना व्यजन की। रत्नावली कहती है—

नर आधार बिनु नारि तिमि जिमि स्वर बिनु हल होत
करनधार बिनु उदधि जिमि रतनावलि गति पोत ।१४६।

दुष्ट का संग करने की अपेक्षा एकाकी रहना अच्छा है। असमान व्यक्तियों को अलग ही रहना चाहिए। उसने वृक्ष और दीमक का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

भल इकिलो रहिबो रतन भलो न खल सहवास
जिमि तरु दीमक संग लहै आपन रूप विनास ।१६४।

इस उपदेश को हृदयंगम कर देने के निमित्त वह सवर्ण और असवर्ण का उदाहरण उपस्थित करती है। दो ह्रस्व स्वर मिलकर अपनी सत्ता को नष्ट किये बिना दीर्घ हो जाते हैं, अथवा सवर्ण व्यक्ति विवाहादि सम्बन्ध के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते हैं। परन्तु असवर्ण स्वर अपने स्वरूप को खोकर विकृत हो जाते हैं, अथवा असमान जाति-धर्म के व्यक्ति विवाह-मित्रता आदि सम्बन्ध के द्वारा अपने व्यक्तित्व को नष्ट कर देते हैं। रत्नावली कहती है—

सवरन स्वर लघु द्वै मिलत दीरघ रूप लखात
रतनावलि असवरन द्वै मिलि निज रूप नसात ।१८३।

रत्नावली ने भाग्य की तुलना सूर्य से की है। जिस समय सूर्योदय होता है, पादप की छाया बड़ी होती है, किन्तु जब वह अस्त हो जाता है तो छाया भी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जब किसी का भाग्योदय होता है तो उसके अनेक इष्ट-मित्र बन जाते हैं, किन्तु दुर्भाग्य के समय इष्ट-मित्र तो क्या शरीर भी साथ नहीं देता। रत्नावली लिखती है—

उदय भाग रवि मीत बहु छाया बड़ी लखाति
अस्त भए निज मीत कहँ तनु छाया तजि जाति ।१८२।[1]

(ग) रत्नावली के उपदेश

स्त्री-शिक्षा पर रत्नावली के विचार

नारी का आदर्श—रत्नावली ने, जैसा कि उल्लेख हो चुका है, कन्याओं और महिलाओं को सच्चरित्र एवं नम्रता, तथा सत्य-भाषण, दयालुता, धार्मिकता एवं कल्याणशीलता का उपदेश दिया है, और उसने आलस्य, क्रोध, लोभ, स्तेय, मद्यपान, द्यूत और व्यभिचार से बचते रहने का यदा-कदा आग्रह भी किया है।

उसका कलत्रादर्श अत्युच्च है। वह नारी प्रशंसनीय है जो अपने पति को मित्रवत् परामर्श देती, मातृवत् स्नेह करती, और दासीवत् उसकी सेवा करती है।

देति मंत्र सुठि मीत सम नेहिनि मातु समान
सेवति पति दासी सरिस रतन सुतिय धनि जान ॥१३७॥

स्त्री ही गृह की लक्ष्मी, ह्री और बुद्धि है। उसे अबला कहते हैं किन्तु सती होने पर वह सबला है :

तू गृह ह्री श्री धी रतन तू तिय सकति महान
तू अबला सबला बनें धरि उर सती विधान ॥८५॥

अतः स्त्री को चाहिए कि वह गृह-सुख के लिए लक्ष्मी, ज्ञान के लिए सरस्वती और दुष्ट-दमन के लिए काली बने :

---

१. दे० राम दूरि माया प्रबल घटत जानि मन माँह।
बढ़त भूरि रवि दूरि लखि सिर पर पग तर छाँह ॥ तु० स० १,४५

रतन रमा सी सुष सदन बनि सारद धरि ग्यान
षलन दलन हित कालिका बनि कर धारि कृपान ॥८६॥

गृह दक्षता—सुनारी गृहस्थ-कार्य में दक्ष होती है। उसको उचित है कि वह घर में सवप्रथम जागे और सबको सुलाकर सोवे। देवगण भी उस नारी की प्रशंसा करते हैं जो अपना शरीर, मन, भोजन, पात्र और गृह स्वच्छ रखती है। भली नारी मितव्यय, गृह-वस्तुओं का जीर्णोद्धार और वंश-परम्पराओं का पालन करती है, नाज फटकती और पति में अनुरक्त रहती है। वह उन वस्तुओं का विशेष ध्यान रखती है जिनका उपयोग उसका पति नित्यप्रति करता है, और वह उन्हें प्रतिदिन समय पर तुरन्त उपस्थित करना नहीं भूलती।

रतनावलि सबसों प्रथम जग उठि करि गृह काज
सबनु सुबाइहि सोइ तिय धरि संभारि गृह साज ॥८४॥
तन मन अन भाजन वसन भोजन भवन पुनीत
जो राषति रतनावली तेहि गावत सुर गीत ॥६८॥
धन जोरति मितव्यय धरति घर की वस्तु सुधारि
सूप करम आचार कुल पति रत रतन सुनारि ॥६६॥
पति बरतत जेहि वस्तु नित तेहि धरि रतन संभारि
समय समय नित दे पियहि आलस मदहि विसारि ॥१६५॥

रहस्य रक्षा—भली और बुद्धिमती नारी को उचित है कि वह अपने घर के रहस्य को प्रकट न करे और योंही मित्र न बनावे। जो स्त्री घर-घर घूमने वाली हो उससे कम बोलना चाहिए और घनिष्ठता नहीं बढ़ानी चाहिए। घर, शरीर, धन, रति, औषधि, खाद्य-पदार्थ, दान, आभार के सम्बन्ध में भेद नहीं बताना चाहिए।

घर घर घूमनि नारि सों रतनावलि मित बोलि
इनसों प्रीति न जोरि बहु जनि गृह भेदनु षोलि ।७३।
सदन भेद तन धन रतन सुरति सभेषज अन्न
दान धरम उपकार पर राषि बधू परछन्न ।६३।

भृत्यों के प्रति व्यवहार—यह अत्यन्त स्पृहणीय है कि सुगृहिणी अपना गौरव बनाये रखे और भृत्यों को सन्तुष्ट भी। तन्निमित्त उसे कर्मचारियों से यथावश्यकता ही बोलना चाहिए क्योंकि अनावश्यक प्रलाप सब अवगुणों का स्रोत है। पुराने कपड़ों को धुलवाकर यथावसर नौकरों को देते रहना चाहिए।

करम चारि जनसों भली जथा काज बतरानि
बहु बतानि रतनावली गुनि अकाज की षानि ।७६।
धरि धुवाइ रतनावली निज पिय पाट पुरान
जथा समय जिन दे करहु करमचारि सनमान ।८७।

सतर्कता—अज्ञात व्यक्ति और फेरीवाले से सतर्क रहना चाहिए। अज्ञात व्यक्ति पर विश्वास, उसकी दी हुई वस्तु का उपभोग, और उसे घर में टिकाना भयावह हो सकता है। फेरीवाले और भिक्षुकों का रूप धारण करने वाले भी बहुधा धोखा देते हैं।

अनजाने जन को रतन कबहु न करि विसवास
वस्तु न ताकी पाइ कछु देइ न गेह निवास ।७८।
बनिक फेरुआ भिच्छुकन जनि कबहूँ पतिआइ
रतनावलि जेइ रूप धरि ठग जन ठगत अमाइ ।७७।

पति के प्रति व्यवहार—नारी के लिए यह अनिवार्य-सा है कि वह शिष्टाचार और साधारण व्यवहार के नियमों से परिचित हो। पतिदर्शन सदा सस्मित-वदन-युक्त होना उचित है। जो स्त्री अपने पति के समक्ष प्रसन्न-वदना रहती और गृहकार्य में दक्ष होती है वह अपने पति को प्रसन्न रखने तथा स्वकुल और पतिकुल के गौरव को बनाये रखने में सफल रहती है। उसे ऐसे व्रत, ध्यान, उपवास और तीर्थाटन से बचना चाहिए जो पति के प्रति कर्त्तव्य में बाधक सिद्ध हों। पत्नी के लिए ऐसे व्रत या अन्य धार्मिक कृत्यों का विधान नहीं। यदि स्त्री पतिव्रता है तो पतिसेवा के द्वारा स्वतः उसे पूर्ण सुख और स्वर्ग-निवास की उपलब्धि हो जायगी। ज्योंही पत्नी को पति के चरित्र-सम्बन्धी कोई अवगुण विदित हो त्योंही वह उचित अवसर पाकर एकान्त में उचित शब्दों में उसे सचेत कर दे, किन्तु क्रोध और कठोर-शब्दों का प्रयोग इस निमित्त कदापि न होना चाहिए।

पति सनमुष हंसमुष रहति कुसल सकल गृह काज
रतनावलि पति सुषद तिय धरति जुगल कुल लाज ।११७।
उद्यापन तीरथ वरत जोग जग्य जप दान
रतनावलि पति सेव बिन सबहि अकारथ जान ।११६।
रतनावलि पति सों अलग कह्यो न वरत उपास
पति सेवति पिय सकल सुष पावति सुर पुर बास ।१२६।
पतिहि कुदीठि न लषि रतन जनि दुरवचन उचारि
पति सों रूठि न रोस करि तिय निज धरम संभारि ।१४५।

अन्य सम्बन्धियों के प्रति व्यवहार—माता-पिता, भाई-बहन, तथा पति के सम्बन्धियों के प्रति सन्नारी का व्यवहार आदर्शपूर्ण होना चाहिए। प्रातः तड़के जाग कर पति के माता-पिता का चरण-स्पर्श, उनकी सेवा-शुश्रूषा, उनकी आज्ञा तथा उपदेश का पालन करना उचित है। पति के तथा पति के माता-पिता के चरण तीर्थ-तुल्य पवित्र होते हैं। जो महिला उनकी सेवा करती है वह इस संसार में जीवन-पर्यन्त सुख और मृत्यु के उपरान्त पतिलोक प्राप्त करती है। पति, माता, पिता, सास, ससुर और ननद के शब्द औषधि के समान कटु किन्तु परिणाम में लाभप्रद सिद्ध होते हैं।

सासु ससुर पति पद परसि रत्नावलि उठि प्रात।
सादर सेइ सनेह नित सुनि सादर तेहि बात ।।८७।।
सासु ससुर पति पद रतन कुल तिय तीरथ धाम।
सेवहि तिय जग जस लहहि पुनि पति लोक ललाम ।।८८।।
मात पिता सासुहु ससुर ननद नाथ कटु बैन।
भेषज सम रतनावली पचत करत तन चैन ।।८६।।

किन्तु साथ ही रत्नावली सावधान करती है कि सुन्दर रमणी कदापि अपने युवा पिता, श्वशुर, भ्राता, देवर, पुत्र और जामाता की बात देर तक एकांत में न सुने।

रत्नावली का उपदेश चलता है : श्वश्रू को माता के, ननद को भगिनी के, देवर को पुत्र के तथा सपत्नी को मित्र के तुल्य समझना चाहिए। सपत्नी से कोई बात छिपानी उचित नहीं, उसकी सखी को अपनी सखी और उसके पुत्र को अपना पुत्र मानना ठीक है। गुरुजन, मित्र, आत्मीय तथा भृत्यों के प्रति उपहारादि के द्वारा यथोचित आदर-प्रदर्शन आवश्यक है। उच्च कुल की नारियाँ अपने पति, माता, पिता, मित्र, भ्राता, आत्मीय तथा पड़ोसियों का उचित ध्यान रखती हैं।

सासु जिठानिहि जननि सम ननदहि भगिनि समान।
रतनावलि निज सुत सरिस देवर करहु प्रमान॥८३॥
सौतिहि सखि सखि व्यवहरहु रतन भेद करि दूरि।
तासु तनय निज तनय गनि लहहु सुजस सुख भूरि॥६४॥
गुरु सखि बांधव भृत्य जन जथा जोग गुनि चित्त।
रतन इनहिं सादर सदा बरतहु वितरहु वित्त॥६५॥
पति पितु जननी बंधु हितु कुटुम परोसि विचारि।
जथाजोग आदर करहि सो कुलवन्ती नारि॥६६॥

इनके प्रति आदर सम्मान आदि की क्या मात्रा हो इस विषय में भी रत्नावली का परामर्श ध्यान देने योग्य है। वह कहती हैं : यदि पति से कोई व्यक्ति वय में अधिक है तो उसे पिता के तुल्य, समवयस्क है तो भ्राता के तुल्य, और छोटा है तो पुत्र के तुल्य समझना चाहिए।

रतनावलि पति छांडि इक जेते नर जग माँहि।
पिता भ्राता सुतसम लखहु दीरघ सम लघु आहिं॥६२॥

सतान लालसा—रत्नावली जानती थी कि स्त्रियाँ सन्तान धारण करने के लिए कितनी उत्सुक रहती हैं और वे इस निमित्त कभी-कभी कितने ही गर्हित उपायों का अवलम्बन भी करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि नारी में अन्य प्राणियों की भाँति मातृत्व की जन्म-जात प्रवृत्ति विद्यमान रहती है, किन्तु नारी का मातृत्व-प्राबल्य कभी-कभी पत्नीत्व को अधिकृत कर उसे अधम मार्ग का अनुसरण करने के लिए बाध्य कर देता है। इसी से रत्नावली को सावधानी और सतर्कता के निमित्त लिखना पड़ा कि जो नारी सन्तान की अभिलाषा से पर पुरुष का उपभोग करती है, अथवा तन्निमित्त जादू-टोनों के द्वारा दूसरों को क्षति पहुँचाती है वह अपयशोभागिनी तथा नरकगामिनी होती है। इस समस्या पर दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार सम्भव है जो सन्तानोत्पत्ति की प्रबल किन्तु अनुचित प्रवृत्ति पर तुषार-पात करता है। कौन कह सकता है कि जो सन्तान सब प्रकार के अनुचित साधनों का अवलम्बन करके प्राप्त की जाय वह भविष्य में निराशा और दुःख न देगी। अतएव रत्नावली की समझ में सौ दुष्ट पुत्रों को जन्म देने से बाँझ रहना कहीं श्रेयस्कर है, क्योंकि सन्तान-हीन नारी केवल एक दुःख का अनुभव करती है किन्तु अनेक दुष्टों की जननी असंख्य का। केवल संतानोत्पत्ति की भावना से अधिक संतान की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि केवल एक योग्य

पुत्र वंश की सभी नारियों को पुत्र-रूप से सुख पहुँचाता है। कहा है: अकेला चन्द्रमा संसार को प्रकाश प्रदान करता है, तारागण नहीं।

जो तिय संतति लोभवस करत अपर नर भोग।
रतनावलि नरकहिं परति जग निदरत सब लोग ॥११२॥
जो तिय संतति काज उर अहित धरहिं परकीय।
ते न लहहिं संतति रतन कोटि जनम लगि तीय ॥११३॥
रतन बांझ रहिवो भलो भलो न सौउ कपूत।
बांझ रहै तिय एक दुष पाइ कपूत अकूत ॥१६६॥
कुल के एक सपूत सों सकल सपूती नारि।
रतन एकुही चंद जिमि कर जगत उजियारि ॥१६७॥

स्त्री-शिक्षा—शिक्षण पर भी रत्नावली के कुछ विचार हैं। उसकी सम्मति में पति ही पत्नी का श्रेष्ठ अध्यापक है, यद्यपि वह अपने माता-पिता और बड़े भाइयों से भी पढ़ सकती है। यों तो वर्णों का गुरु ब्राह्मण होता है, पर पति ही पत्नी का अध्यापक एवं गुरु है। अध्यापक तथा उसकी योग्यता पर शिक्षा निर्भर रहती है। कहा है कि शस्त्र, शास्त्र, अश्व, वीणा, शब्द, पुरुष और नारी पुरुष-विशेष को पाकर योग्यायोग्य बनते हैं। बालकों को, बचपन में रुचि-विरुचि के रूढ़ होने से पूर्व ही, प्रशिक्षित करना चाहिए, जिससे वे बुरे अभ्यासों से बचे रहें। जो अभ्यास माता-पिता अपने बालकों में बनने देते हैं वे बड़े होने पर प्रयत्न करने पर भी नहीं छूट पाते। अतएव बालकों में बाल्यकाल से ही दयालुता, कर्त्तव्य, और वंश-प्रथा का बीजारोपण करना समीचीन है।

जननि जनक भ्राता बड़ो होइ जु निज भरतार।
पढ़इ नारि इन चारि सों रतन नारि हित सार ॥१६०॥
चतुर वरन कहं विप्र गुरु अतिथि सवन गुरु जानि।
रतनावलि जिमि नारि कहं पति गुरु कह्यो प्रमानि ॥१३५॥
सस्त्र सास्त्र बीना तुरग वचन लुगाई लोग।
पुरुष विसेसहिं पाइ जे बनत सुजोग अजोग ॥१७०॥[1]
बारेपन सों मातु पितु जैसो डारत बानि।
सो न छुटाये पुनि छुटत रतन भयेहुं सयानि ॥५८॥
बाल वैस ही सों धरो दया धरम कुल कानि।
बड़े भये रत्नावली कठिन परेगी बानि ॥५७॥

शिक्षा और परम्परा—रत्नावली सुधारक न थी। वह परम्पराओं का आदर करती थी अतः चाहती थी कि शिक्षा परम्पराओं का विरोध न करे। उसके गूढ़ मत से तो शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो जीवन में उपयोगी, उपदेशात्मक, चरित्र-निर्मात्री तथा मानव-समाज के लिए सहानुभूति-पूर्ण और कल्याणकारी सिद्ध हो। परम्परा गुरुजनों में आदर-भाव उत्पन्न करे। नारी को ऐसे प्रशिक्षण की आवश्यकता है जो

---

१. मन्त्र तन्त्र तन्त्री त्रिया पुरुख अस्त्र धन पाठ।
प्रति गुन जोग वियोग तें तुरत जाहिं ये आठ॥ तु० स० ७,२०

उसे अपने पति की सती साध्वी पत्नी बनने में तथा कुटुम्ब का उपयोगी अंग हो जाने में सहायक हो। शिक्षा ऐसी हो जो उसे सुयोग्य गृहिणी बनाये तथा भृत्य और अज्ञात व्यक्तियों से उचित व्यवहार करना बताये। अर्थात् स्त्री-शिक्षा ऐसी हो जिससे न केवल स्त्री के कुल का कल्याण हो अपितु उसके पड़ोस का और अन्त में विश्व का भी श्रेय हो।

शिक्षा का उद्देश्य—शिक्षा का उद्देश्य क्या है और बालक के साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाय इस विषय में रत्नावली का परामर्श चारु प्रतीत होता है। उसकी सम्मति में बालक का लालन-पालन इस प्रकार हो कि वह दुष्ट न बने, प्रत्युत वह दिन-प्रतिदिन गम्भीर होता जाय। शिक्षा उचित प्रणाली पर चल रही है या नहीं इसकी कसौटी यही है कि वह लोक-सम्मत हो। लोग छात्र को देखते ही प्रसन्नता से पुलकित हों और आशीर्वाद प्रदान करने लगें। जो शिक्षा किसी का उपकार नहीं करती और न लोक-समर्थन ही प्राप्त करती है वह वास्तव में नितान्त निरर्थक है। शिक्षा के द्वारा तो आत्म-कल्याण होना चाहिए और परिजनों का भला भी।

> **बालहि लालहु अस रतन जो न औगुनी होइ।**
> **दिन दिन गुन गुरुता लहै साँचो लालन सोइ ॥१६८॥**
> **बालहि सीष सिखाइ अस लषि लषि लोग सिहायँ।**
> **आसिष दें हरषें रतन नेह करें पुलकायँ ॥१६६॥**

मधुर भाषण—मधुर वाणी पर रत्नावली का आग्रह है। व्यंग्य अथवा कटु वचनों का प्रयोग न करना ही श्रेयस्कर है। जो भी शब्द मुख से निकलता है वह सुख या दुःख प्रदान करता है; मधुर शब्द सुख उत्पन्न करता है और कटु वचन, दुःख। मधुर भोजन देने की अपेक्षा मधुर वचन का उच्चारण अधिक अच्छा है, क्योंकि मिष्ट भोजन का सुख तो अस्थायी होता है किन्तु मिष्ट वचन का स्थायी। कटु वचन कण्टक से भी बुरा है, क्योंकि पहला तो चिकित्सक के चाकू से निकल जाता है, किन्तु दूसरा हृदय को सदा के लिए चीर डालता है।

> **मधुर असन जनि देउ कोउ बोलौ मधुरे बैन।**
> **मधु भोजन छिन देत सुष बैन जनम भरि चैन ॥१६०॥**
> **रतनावलि काँटो लग्यो बैदनु दयो निकारि।**
> **वचन लग्यो निकस्यो न कहुँ उन डारो हिय फारि ॥१६१॥**

सन्मित्र—सच्चे मित्र का लक्षण है उसका स्थैर्य। वे ही सच्चे मित्र हैं जो विपत्ति में भी साथ देते हैं, सम्पत्ति में तो सभी सगे बनते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जो आपत्ति काल में भी पुरानी मैत्री का निर्वाह करते है वे ही वास्तव में सच्चे हितैषी हैं। पर ऐसे लोग थोड़े होते हैं।

> **सोइ सनेही जे रतन करहिं विपति में नेह**
> **सुष सम्पत्ति लषि जन बहुत बनहिं नेह के गेह ।१५७**
> **विपति परे जे जन रतन निबहें प्रीति पुरानि**
> **हितू मीत सतिभाय ते पै न बहुत जिय जानि ।१५८**

अप्रासंगिक वार्ता की विषादता—तुलसी की विदुषी पत्नी ने ऐसे अनेक

विषयों का उल्लेख किया है जो साधारण जीवन में उपयोगी हैं। अप्रासंगिक वार्ता का उदर्क असुखकर होता है। अप्रासंगिक शब्द कितने ही भले क्यों न हों विषाक्त होते हैं, रत्नावली ने स्वयं दाम्पत्य प्रेम के समय भगवत्प्रेम का उल्लेख कर अपने पति को खो दिया था। प्रासंगिक बात भी परिणाम को भली-भाँति सोच-समझ कर कहनी चाहिए। शेक्सपीयर ने कहा है कि स्वीट आर द यूज़ेज़ ऑव एडवर्सिटी अर्थात् विपत्ति के लाभ सुखद होते हैं। समकालीना रत्नावली उसी उक्ति की दूसरे शब्दों में पुष्टि करती है। उसकी सम्मति में वह नारी सती और प्रशंसनीय है जिसका चरित्र विपत्ति में भी प्रोज्ज्वल है। मित्र और सम्बन्धियों में लेन-देन अप्रशस्त है, क्योंकि ऐसे व्यवहार का अवांछनीय प्रभाव पारस्परिक प्रेम और विश्वास पर पड़ता है।

सुभहु वचन अप्रकृत गरल रतन प्रकृत के साथ
जो मो कहँ पति प्रेम संग ईस प्रेम की गाथ।४
कहि अनुसंगी वचनहूं परिनति हिये विचारि
जो न होइ पछिताउ उर रतनावलि अनुहारि।५
विपति कसौटी पै विमल जासु चरित दुति होइ
जगत सराहत लोग तिय रतन सती है सोइ।५५
स्वजन सखी सों जनि करहु कबहू ऋन व्यौहार
ऋन सों प्रीति प्रतीति तिय रतन होति सब छार।६८

मितव्यय—रत्नावली समझाती है कि अपव्यय से निर्धनता होती है, और निर्धनता निराशा और दुःख की जननी है। जो व्यक्ति अपनी आय से अधिक व्यय करते हैं वे निर्धन हो जाते तथा दुःख और पश्चात्ताप को प्राप्त होते हैं।

जे न लाभ अनुसार जन मित व्यय करहिं विचारि
ते पाछे पछितात अति रतन रंकता धारि।१००

दुष्ट-त्याग—दुष्टा पत्नी, धूर्त मित्र, आज्ञोल्लंघी भृत्य, तथा सर्प-संकुल गृह को त्याग देना चाहिए अन्यथा मृत्यु-भय सदैव बना रहता है।

दुष्ट नारि जिमि मीत सठ ऊतर देनो दास
रतनावलि अहिवास घर अन्त काल जनु पास।१४६

कुसंग-त्याग—कुसंग का परिणाम भयानक होता है। दुष्ट जन चाहे कितना ही व्युत्पन्न हो, उसे मित्र नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि मणिधारी नाग भी डस लेता है। अतएव दुष्ट-संग की अपेक्षा एकाकी निवास कहीं अच्छा है। दीमक के संपर्क में वृक्ष अपनी सत्ता खो देता है।

भल इकिलो रहिबो रतन भलो न खल सहवास
जिमि तरु दीमक सँग लहै आपन रूप विनास।१६५

धन की गतियाँ—कृपणों को स्मरण रखना चाहिए कि धन की तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग और नाश। जो अपनी सम्पत्ति का न तो उपयोग करता है और न दान ही, वह उसे खो बैठता है।

दान भोग अरु नास जे रतन सुधन गति तीन
देत न भोगत तासु धन होत नास महँ लीन।१७४

व्यवहार निकष—नारियों को अपनी बड़ी-बूढ़ियों के अनुभवों से लाभ उठाना और उनके प्रति उचित आदर भाव बनाये रखना चाहिए।

बिरध सतिनु ढिग बैठि तिय तेहि अनुभौ धरि ध्यान
तेहि अनुसारहि बरति तेहि राषि रतन सनमान।१९६

कोई कार्य अच्छा है या बुरा इसकी कसौटी यह है : इस प्रकार कर्म करो कि सज्जन तुम्हारी प्रशंसा करें और तुम्हें देखकर प्रसन्न हों और तुम्हारी मृत्यु के पश्चात् शोक-सहित तुम्हारा गुण-गान करें—

असि करनी करि तू रतन सुजन सराहें तोइ
तुव जीवन लषि मुद लहहिं मरे करें दुष रोइ।१५६

(घ) रत्नावली के दार्शनिक विचार

भाग्यवाद—रत्नावली स्पष्ट रूप से भाग्यवादिनी है। मानव-भाग्य-नियन्ता अथवा मानव-कार्य के पथ-प्रदर्शक सत्व को संयोग, प्रसंग, अवसर अथवा भगवदिच्छा कहा जा सकता है। यह शक्ति अज्ञेय और अदृष्ट है। संयोगवश अमृत विष हो जाता है और विष अमृत; सरल विषम बन जाता है और विषम सरल। मनुष्य कुछ चाहता है, होता कुछ और है। भविष्य सर्वत्र पंच-पद आगे बना रहता है। हम भला चाहते हैं, होता बुरा है। रत्नावली पति-प्रेम में वृद्धि चाहती थी; किन्तु उसे पति-वियोग सहना पड़ा। आंगल कवि लौङ्गफ़ैलो कहते हैं कि भविष्य का कभी विश्वास न करो चाहे कितना ही सुखद क्यों न हो।[1] टॉमस ग्रे के अनुसार भी वंश, प्रभुत्व, सौंदर्य, धन और यश का मद मृत्यु-मुख में प्रवेश कर जाता है।[2] रत्नावली भी कहती है कि अपने शरीर, धन, भृत्य, सम्बन्धियों, बल और सौन्दर्य पर किसी को गर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि कौन जानता है कि भाग्य पलमात्र में तुम्हें कहाँ ले जाये ? दूसरों को न सताना चाहिए क्योंकि सताने वाले को क्या नहीं हो सकता ?

रतन दैव बस अमृत विस विस अमृत बनि जात
सूधी हू उलटी परै उलटी सूधी बात।६।
रतनावलि औरहि कछू चहिय होइ कछु और
पाँच पैंड आगै चलै होनहार सब ठौर।८।
भल चाहत रतनावली विधि बस अनभल होइ
हौं प्रिय प्रेम बढ्यो चह्यो दयो मूलतें षोइ।८१।
तन धन जन बल रूप को गरब करौ जनि कोइ
को जाने विधि गति रतन छन महं कछु कछु होइ।१८१।

---

१. ट्रस्ट नो फ्यूचर, हाउवर प्लैजेंट।
२. द बोस्ट ऑव हिरेल्डि एण्ड पॉम्प ऑव पॉवर,
एण्ड ऑल दैट ब्यूटि दैट वैल्थ एवर गेव
अवेट अलाइक दि इनएविटेब्ल आवर।
द पाथ्स ऑव ग्लोरि लीड बट् टु द ग्रेव।

करहु दुषी जनि काहु को निदरहु काहु न कोइ
को जानें रतनावली आपनि का गति होइ ।१७६।

कर्मण्यता—किन्तु रत्नावली आलस्यमय कालयापन का उपदेश नहीं देती। वह अकर्मण्यता को प्रशस्त नहीं समझती और न कष्ट-दुःख से बचने को ही। उसका झुकाव तो शिष्ट और कर्मण्य जीवन की ओर है, और उपदेश है : आलस्य त्याग कर अपना कर्त्तव्य निर्दिष्ट समय पर करो, अपना आसन्न कर्त्तव्य अभी करो, तभी सुख प्राप्त होगा; कष्ट-पीड़ा की चिन्ता न करो; यदि पाप किया हो तो उसका फल भोगो और पुनः निष्पाप बन जाओ क्योंकि ज्यों-ज्यों स्वर्ण तपता है त्यों-त्यों वह शुद्ध होता जाता है। रत्नावली का सपुरुषार्थ भाग्यवाद परम चिन्तन का निष्कर्ष प्रतीत होता है अर्थात् कल्पनागम्य परमसत्ता की सर्वव्यापिनी शक्ति का स्वतः परिणाम। उसका भाग्यवाद साधारण भाग्यवाद नहीं जो अकर्म और अनाचार को तथा अन्ततोगत्वा नितान्त अव्यवस्था को जन्म दे :

आलस तजि रतनावली जथा समय करि काज
अब को करिबो अबहि करि तवहि पुरें सुष साज ।८३।
स्रम सों वाढत देह बल सुष संपति धन कोष
विनु स्रम बाढत रोग तन रतन दरिद दुष दोस ।१८४।
दुषनु भोगि रतनावली मन महँ जनि दुषियाइ
पापनु फल दुष भोगि तू पुनि निर्मल ह्वै जाइ ।२८।
ज्यों ज्यों दुष भोगति तर्साहि दूरि होत तुव पाप
रतनावलि निरमल बनत जिमि सुवरन सहि ताप ।२६।

भोग-निन्दा—रत्नावली यौवन, प्रभुता और धन के दोषों से अवगत थी। भगवान् बुद्ध की भाँति वह समझती थी कि भोग से आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। यौवन, प्रभुत्व और धन अनेक दोषों के आगार हैं, क्योंकि अविवेकी नर पशु की भाँति सोचता और कार्य करता है। ये तीनों, और चौथा अविवेक, अलगशः अवगुणों को उत्पन्न करते हैं, समवेतरूप में चारों का तो कहना क्या ? वास्तव में भोग से विषय शान्त नहीं होते, प्रत्युत वे इस प्रकार बढ़ते रहते हैं जिस प्रकार घी से अग्नि। सादृश्यानुमान विश्वासोत्पादक प्रतीत होता है।

तरुनाई धन देह बल बहु दोसनु आगार
विनु विवेक रतनावली पसु सम करत बिचार ।१७५।
यौवन प्रभुता भूरि धन रतनावलि अविचार
एकु एकु अनरथ करें किमु समुदित जदि चार ।१८६।
रतनावलि उपभोग सों होत विसय नहिं सान्त
ज्यों ज्यों हवि होमें अनल त्यों त्यों बढ़त नितान्त ।१७७।

यम-नियम—अतएव यम-नियम की आवश्यकता है। अनियन्त्रित विषय नाशोन्मुख होते हैं। रत्नावली इस दिशा में एक सुन्दर रूपक का स्मरण दिलाती है। मानव-शरीर-रथ में इंद्रियाश्व जुते हैं; अत्यन्त चंचल होने के कारण वे रथ को पथ से हटा ले जाते हैं। जब मनःसारथी उन्हें रोकता है तब भय शान्त हो पाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि विषय उतने भयावह होते हैं जितने लाभकारी। उचित उपयोग से वे मित्रवत् और अनुचित से घातक सिद्ध होते हैं। रत्नावली ठीक कहती है कि जब नेत्र, जिह्वा, कर्ण और नासिकादि नियन्त्रण से बाहर हो जाते हैं, तो इनमें से कोई भी एक मानव के प्राण ले लेता है, और जब वश में होते हैं तो ये शक्ति और जीवन प्रदान करते हैं। सभी तत्ववेत्ता इस कथन से सहमत हैं कि इन्द्रियाँ ज्ञान का आधार हैं। अतएव उनके संयमन और सुमार्गीकरण की आवश्यकता है जिससे कल्याण की प्राप्ति हो।

पाँच तुरग तन रथ जुरे चपल कुपथ लै जात
रतनावलि मन सारथिहि रोकि रुकें उतपात।१६७।
मैन नैन रसना रतन करन नासिका साँच
एकहि मारत अवस ह्वै स्ववस जिआवत पाँच।१५१।

आत्म-सुधार—रत्नावलि दोष-चयन की भर्त्सना एवं अन्त:प्रेक्षण-द्वारा आत्मोन्नति की प्रशंसा करती है। दूसरों के दोष-दर्शन एवं रहस्योद्घाटन की अपेक्षा हमें अपने अवगुणों का निवारण करना चाहिए, क्योंकि जब लोग हमें निर्दोष देखेंगे तो वे अपने दोष भी दूर करने लगेंगे। नि:सन्देह उपदेश की अपेक्षा उदाहरण अधिक श्रेयस्कर है।

रतन न पर दूषन उगटि आपनु दोस निवारि
तो हि लखहिं निरदोस वे दें निज दोस बिसारि।१७८।

सदभ्यास—यम और आत्मोन्नति के निमित्त अच्छे अभ्यास डालने चाहिए। रत्नावली प्रारम्भिक जीवन के अभ्यासों का मूल्य समझती हुई बाल्यावस्था से ही दया-करुणा, कर्त्तव्य-पालन, वंश-परम्परा आदि के प्रति आदर-भाव प्रकट करने के पक्ष में है, क्योंकि बड़े होने पर अभ्यास में कठिनता होती है। माता-पिता बालकों को जो अभ्यास डालते हैं बड़े होने पर वह प्रयत्न करने पर भी नहीं छूट पाता। यही कारण है कि सती बनने के लिए जीवन-काल चाहिए, भ्रष्ट हो जाने के लिए समय की अपेक्षा नहीं, यथा सुमेरु पर्वत पर चढ़ना कठिन है, उससे गिर जाना ऐसा नहीं।

बाल बैस ही सों धरौ दया धरम कुल कानि
बड़े भए रतनावली कठिन परेगी बानि।५७।
बारे पन सों मातुपितु जैसी डारत बानि।
सो न छुटाए पुनि छुटति रतन भयेहुँ सयानि।५८।
सती बनत जीवन लगै असती बनत न देर
गिरत देर लागै कहा चढ़िबो कठिन सुमेर।५६।

सरल जीवन, उच्च-विचार—रत्नावली ने सरल जीवन और उच्च विचार का उपदेश दिया है।। स्वच्छ नेत्रों, सरल वाणी और निर्मल वस्त्रों को निम्न, नम्र और सुनिम्न; किन्तु विचारों और कार्यों को उच्च और उदार रखना चाहिए। सत्यनिष्ठा, विनम्रता और परहित सदा प्रशंसनीय है। जो सती शील, लज्जा और सत्यवादिता के भूषणों से विभूषित होती है, शोभा उसके अधीन रहती है। वचनों का पालन और असत्य का त्याग होना चाहिए क्योंकि मिथ्याभाषी की साख जाती रहती है। परन्तु मुख से जो सत्य नि:सृत हो वह मधुर भी हो। मधुर भोजन देने की अपेक्षा मधुर भाषण कहीं अच्छा है, क्योंकि मधुर भोजन से तो क्षणिक, पर मिष्ट वचन से

यावज्जीवन सुख होता है। उपर्युक्त तीन आभूषणों में से नम्रता श्रेष्ठ है। अनम्र नारी के सांसारिक आभूषण—यथा स्वर्णनिर्मित और रत्न-जटित हार आदि सब वृथा हैं। चरित्र-निर्माण अनुपम पारितोषिक है। कोई स्त्री कितने ही उच्च कुल में क्यों न उत्पन्न हुई हो, अथवा कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, यदि उसमें दया-करुणादि गुण और चरित्र विद्यमान नहीं तो कोई भी उसे अच्छा नहीं कहता। संसार के अनेक रत्नाभूषणों में चरित्र ही प्रधान है। जिसके नेत्रों से सौष्ठव प्रतिभासित होता है वह संसार का गौरव है, किन्तु जो कुत्सित प्रेम-कार्यों का चिन्तन करती रहती है वह प्रथम तो कोटि वर्षों तक नरक में निवास, तत्पश्चात् शुनी का जन्म धारण करती है। सती संसार का गौरव है :

नयन वचन तिय वसन निज निरमल नीचे धार
करतब रतन विचार तिमि ऊँचे राषि उदार।६१।
सत्य सरस बानी रतन सील लाज जे तीन
भूषन साजति जो सती सोभा तासु अधीन।६५।
वचन आपनो सत्य करि रतन न अनिरत भाषि
अनृत भाषिवो पाप पुनि उठति लोक सों साषि।१४२।
मधुर असन जनि देउ कोउ बोलो मधुरे बैन
मधु भोजन छिन देत सुष बैन जनम भरि चैन।१६०।
सुवरन मय रतनावली मनमुकता हारादि
एक लाज बिनु नारि कहँ सब भूषन जग बादि।६६।
ऊँचे कुल जनमें रतन रूपवती पुनि होइ
धरम दया गुन सील बिनु ताहि सराह न कोइ।६७।
भूषन रतन अनेक जग पै न सील सम कोइ
सील जासु नैनन वसत सो जग भूषन होइ।६४।
जो व्यभिचार विचार उर रतन धरै तिय सोइ
कोटि कलप वसि नरक पुनि जनमि कूकरी होइ।१०६।

अवगुण—सच्चरित्र के निर्माण में दया, करुणा, सत्य, लज्जा आदि गुणों की अपेक्षा, एवं दुर्गुणों के त्याग की आवश्यकता है। रत्नावली के मतानुसार नारी के षडवगुण हैं—मद्यपान, परगृहनिवास, भ्रमण, असमय में शयन, पति से पृथक् निवास, और कुसंग। क्रोध, द्यूत, व्यभिचार, गर्व, लोभ, चौर्य्य और मदकपान से अधःपतन होता है। अधिक हँसना, बढ़-बढ़कर बोलना, बात काटना, चुगली खाना, चटोरपन आदि नारी के दोष हैं। कन्या के लिए नृत्य, रति, रस, गीत, शृंगार और आलस्य वर्जित हैं। सन्त कहते हैं कि बालकों के साथ एकान्त में बैठने, खेलने एवं हास-परिहास करने से कन्या के चरित्र पर कलंक लगता है।

मदक पान पर घर वसन भ्रमन सयनु विनु काल
पृथक वास पति दुष्ट संग षट तिय दूषन जाल।७१।
क्रोध जुआ व्यभिचार मद लोभ चोरि मदपान
पतन करावन हार जे रतनावली महान।७४।

बहु हँसनी बहु बोलनो बतकट जिभचट नारि
बड़ बोलनि दूतिनि रतन लहतीं दूषन भारि ।७५।
नाच विषय रस गीत गँधि भूषन भ्रमन बिचारु
अंगराग आलस रतन कन्यहि हित न सिंगारु ।५६।
लरिकन संग षेलनि हँसनि बैठनि रतन इकंत
मलिन करन कन्या चरित हरन सील कहैं सन्त ।६०।

पातिव्रत का रूप—पातिव्रत के विषय में रत्नावली ने बारबार ध्यान आकर्षित किया है। सतीत्व के विषय में उसकी कल्पना इस प्रकार है : सती नारियों में वही श्रेष्ठ है जो अपने पति को ही पुरुष समझती, तथा मन से उसकी सेवा में सुख मानती है। जो अपने पति, पुत्र अथवा कुटुम्ब से अलग रहती है उसकी समृद्धि नहीं होती, वह तो दोनों कुल का नाश करती है। जिसके दो पति होते हैं वह धिक्कार योग्य है। जो अपने निर्धन अथवा अपाहिज पति को त्यागकर सुयोग्य वर ग्रहण करती है वह भ्रष्ट समझी जाती है। जार-सेविनी की निन्दा होती है, वह दोनों लोकों में कलंकित तथा विधवा होती है। रत्नावली की विचारधारा में नियोग को कोई स्थान नहीं, क्योंकि जो नारी सन्तान प्राप्ति के निमित्त पर-पुरुष को भजती है वह नरक और लोकनिन्दा को प्राप्त होती है।

तन मन पति सेवा निरत हुलसे पति लषि जोय
इक पति कहँ पूरुष गनै सती सिरोमनि सोय ।१०।
पितु पति सुत कुल पृथक पाव न तिय कल्यान
रतनावलि पतिता बनति हरति दोउ कुल मान ।१०३।
दीन हीन पति त्यागि निज करति सुपति परवीन
दो पति नारि कहाइ धिक पावति पद अकुलीन ।१०७।
धिक तिय सो पर पति भजति कहि निदरत सब लोग
बिगरत दोऊ लोक तेहि पावत विधवा जोग ।१०६।
जो तिय संतति लोभवस करत अपर नर भोग
रतनावलि नरकहि परति जग निदरत सब लोग ।११२।

पुरुष सम्पर्क—स्त्री को प्रलोभन के जाल-गर्त्त में डालने वाले हैं कुसंग और पुरुषों के साथ अबाध सम्पर्क। रत्नावली इनसे सतर्क रहने के लिए चेतावनी देती है। जिस प्रकार अणुमात्र स्फुलिंग कर्पास-राशि को क्षणमात्र में भस्मसात् कर देता है उसी प्रकार क्षण-मात्र का कुसंग भी स्त्री को सतीत्व से वंचित कर देता है। अतएव पल भर के लिए व्यभिचारिणी का संग न करना चाहिए। अपने भाव को स्पष्ट करने के हेतु रत्नावली एक सुन्दर उदाहरण का उपयोग करती है। चूने के तनिक सम्पर्क से हरिद्रा का रंग परिवर्तित हो जाता है। अतएव स्त्री-पुरुष का अनियन्त्रित सम्पर्क नितान्त अवांछनीय है। स्त्री तो घृत-घट है, पुरुष ज्वलदंगार; और घृताग्नि का सान्निध्य अस्पृहणीय है। रत्नावली स्त्री-पुरुष के अबाध सम्मिलन के विरोध में तो है ही, वह यह भी नहीं चाहती कि कोई स्त्री किसी भी सन्त से एकांत में मिले क्योंकि एकाकिनी को देखकर महात्मा भी अपने माहात्म्य को खो देता है। इस कथन में उपदेश

की गन्ध अवश्य आती है, किन्तु सतर्कता के निमित्त यह अत्यन्त उपयोगी है।

चिनगारिहु रतनावली तूलहि देत जराइ
लघु कुसंग जिमि नारि को पतिव्रत देत डिगाइ।१०४।
छ्वनहु न करि रतनावली कुलटा तिय को संग
तनक सुधाकर संग सों पलटति रजनी रंग।१०५।
घी को घट है कामिनी पुरुष तपत अंगार
रतनावलि घी अगिन को उचित न संग विचार।१११।
कबहुँ अकेलो जनि करहु संतहु निकट पयान
देखि अकेली तिय रतन तजत संतहू ग्यान।७२।

पति-महिमा—रत्नावली स्त्रियों से आग्रहपूर्वक कहती है कि पतियों का आदर करो, उन्हें सन्तुष्ट रखो और उनकी अर्चा भी करो। कारण यह है कि पत्नी के लिए पति ही अन्तिम गति है, वही धन, मित्र, गुरु और देव है; वह सर्वस्व है—संसार का सार है। पत्नी का वास्तविक अलंकार पति है, पति बिना अन्य सब आभूषण वृथा हैं। क्या अयोग्य और अपाहिज पति भी उतने ही आदर का पात्र है? रत्नावली का उत्तर है कि निश्चय ही सुपत्नी के लिए उसका पति देव-तुल्य और पूज्य है, भले ही वह कामी, दुश्चरित्र, निर्धन, गुणहीन अथवा स्नेह-रहित हो। नहीं, नहीं, जिस प्रकार माता अपने पुत्र का त्याग नहीं करती चाहे वह अन्ध, बधिर, पंगु और रुग्ण क्यों न हो, उसी प्रकार सती भी अपने पति को तलाक नहीं देती, वह कितना ही कुरूप और दुष्ट क्यों न हो। भली पत्नी तो अपने क्रूर, कुटिल, अलस और अकिंचन पति के साथ निर्वाह कर लेती है। क्या ऐसे पति से स्नेह करना अथवा उसकी पूजा करना सम्भव है जो कुपथगामी और सुधार के योग्य नहीं? रत्नावली का तुरन्त उत्तर है कि ऐसा करना सम्भव था और है भी। उसका सुझाव है: जिस प्रकार बन में बाघिनी घास नहीं चरती चाहे वह कितनी ही भूखी क्यों न हो, उसी प्रकार सती कष्ट तो सह लेती है किन्तु सुख के निमित्त अवगुणों का संचय नहीं करती। रत्नावली सुपत्नी से आशा करती है कि वह अपने पति से केवल प्रेम के निमित्त प्रेम करे अन्य किसी उद्देश्य से नहीं।

पति गति पति वित मीत पति पति गुर सुर भरतार
रतनावलि सरवस पतिहि बंधु बंद्य जगसार।४६।
पिय सांचो सिंगार तिय सब झूंठे सिंगार
सब सिंगार रतनावली इक पिय बिनु निस्सार।५०।
नेह सील गुन वित रहित कामी हू पति होइ
रतनावलि भलि नारि हित पुज्ज देव सम सोइ।५१।
अंध पंगु रोगी बधिर सुतहि न त्यागति माइ
तिमि कुरूप दुरगुनि पतिहि रतन न सती विहाइ।५२।
क्रूर कुटिल रोगी ऋनी दरिद मंदमति नाह
पाइ न मन अनपाइ तिय सती करति निरवाह।५३।

बन बाघिनि ग्रामिष भषति भूषी घासु न षाइ
रतन सती तिमि दुष सहति सुष हित ग्रघ न कमाइ ।५४।

तो क्या सुपत्नी को चाहिए कि वह अपने पति की अभद्र वासनाओं की भी पूर्ति करती रहे ? नहीं, रत्नावली इससे सहमत नहीं। इस विषय में उसका उपयोगी परामर्श है कि यदि देखो कि तुम्हारे पति का स्वास्थ्य ग्रौर चरित्र भ्रष्ट होता जा रहा है तो उपयुक्त ग्रवसर देखकर एकान्त में समुचित शब्दों में उपदेश करो।

दाम्पत्य-साम्यवाद—अनेक पत्नियाँ सती तो होती हैं किन्तु वे धार्मिक कृत्यों में इतनी व्यस्त रहती हैं कि वे उचित रीति से पतिसेवा की ग्रोर ध्यान नहीं दे पातीं। ग्रतएव रत्नावली का कथन है कि नारी के लिए पति से विभिन्न धार्मिक कृत्यों का विधान नहीं। यदि वह उसमें पूर्णतया ग्रनुरक्त है तो वह इस जन्म में सुख ग्रौर जन्मान्तर में स्वर्ग प्राप्त करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तीर्थ, स्नान, व्रत, उपवास, दान, पूजा, भजन ग्रादि से कोई लाभ नहीं यदि वे पति की इच्छा के विरुद्ध हों। जो ग्रपना कर्त्तव्य समझती ग्रौर निःस्वार्थ भाव से पति की सेवा करती है, वह घर बैठे ही समस्त तीर्थ-व्रतों का पुण्य-लाभ करती है। ग्रतः नारी को उचित है कि वह उन समस्त वस्तुग्रों को सावधानी से रखे जिनका उपयोग पति करता है ग्रौर उन्हें नित्यप्रति नियत समय पर प्रमाद रहित हो उपस्थित कर दिया करे। यदि पति भगवत्स्मरण करता है ग्रौर नारी पति की सेवा श्रद्धापूर्वक करती है तो पति की भजन-पूजा पत्नी की भी भजन-पूजा है। ग्रतएव पति को सदैव दान-दयादि के लिए प्रेरित करते रहना ग्रौर उसके सत्कार्यों को ग्रपने ही समझते रहना चाहिए। यह है रत्नावली के मतानुसार वैवाहिक जीवन में पति-पत्नीत्व का साम्यवाद।

ग्रनाचार धन नास रत निज पति रतन लषाहि
लहि ग्रौसर समुचित वचन रहसि बोधिये ताहि ।१५३।
रतनावलि पति सों ग्रलग कह्यो न बरत उपास
पति सेवति तिय सकल सुष पावति सुर पुर बास ।१२६।
तीरथ न्हान उपास व्रत सुर सेवा जप दान
स्वामि विमुष रतनावली निसफल सकल प्रमान ।१३६।
रतनावलि करतब समुझि सेइ पतिहि निषकाम
तप तीरथ व्रत फल सकल लहहि बैठि घर बाम ।१६४।
पति बरतत जेहि वस्तु नित तेहि धरि रतन संभारि
समय समय नित दै पियहि ग्रालस मदहि बिसारि ।१६५।
तुव पिय नित नित हरि भजत तू तिय सेवति ताहि
तासु भजन तिय तुव भजन रतन न मनहि भ्रमाहि ।१६८।
पुन्य धरम हित नित पतिहि रहि बढाय उतसाह
ताहि पुन्य निज गुनि रतन पुन्य करत जो नाह ।१६७।

रत्नावली ने दाम्पत्य प्रेम का उच्चतम ग्रादर्श उपस्थित किया है ग्रौर उस स्त्री की ग्रत्यन्त श्लाघा की है जो उसका पालन करती है। वह कहती है कि जो

नारी पति के जीवन-काल में, और उसकी मृत्यु के पश्चात् भी, पति की इच्छा के विरुद्ध आचरण नहीं करती वह इस संसार में यश और मृत्यूपरान्त सुलोक प्राप्त करती है। जब तक पति जीवित रहे, पत्नी को उसकी संरक्षा में भक्तिपूर्वक रहना चाहिए। पति के दिवंगत होने पर कन्द, मूल, फल, शाक का आहार, ब्रह्मचर्य का पालन, और भगवद्भजन करते रहना चाहिए। स्मरण रहे कि रत्नावली ने यम-नियम का पालन और पूजार्चादि का विधान केवल पति-संतोष के लिए किया है। नारी का प्रत्येक कार्य जो पति के जीवन काल में अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात् किया जाय वह भर्ता के निमित्त हो। रत्नावली उस सती की भूरि-भूरि प्रशंसा करती है जो पति के जीवन-पर्यन्त जीवित रहती और उसके देहावसान पर अग्नि में प्रवेश करती है; क्योंकि नारी का शरीर पति का ही तो है, उस पर उसका क्या अधिकार ? अतएव पति की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति में उसी की इच्छा के अनुसार जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर है। इससे अधिक महात्याग अथवा उत्कृष्ट समर्पण क्या हो सकता है ?

पति के जीवन निधन हूँ पति अनरूचत काम
करति न सो जग जस लहति पावति गति अभिराम ।१२५।
जीवत पति सासन गहै सेवहि ताहि सप्रेम
गए सतीव्रत अनुसरहि पति हित जप तप नेम ।१२८।
बिनु पति पति जगपति सुमिरि साक मूल फल खाइ
विरमचर्जव्रत धारि तिय जीवन रतन बनाइ ।१२७।
धन तिय सो रतनावली पति सँग दाहैं देह
जो लौं पति जीवत जियें मरत मरें पति नेह ।१२६।
रतन देह पति को भयो तोहि कहा अधिकार
पति समुहें पाछें रतन रहि पति चित अनुसार ।१३८।

दाम्पत्य के प्रतीक—दाम्पत्य प्रेम की चरम अभिव्यक्ति भगवान् विष्णु और भगवती लक्ष्मी में और उसका प्रतीक भगवान् शिव और भगवती पार्वती के अर्धनारीश्वर रूप में लक्षित होता है। रत्नावली कहती है कि विराग की बात मत सोचो, अपने-अपने पति के प्रेम में रंग जाओ, उमा और रमा तो बड़ी भाग्यशालिनी हैं, क्यों कि वे सदा अपने पति देवों के चरणों में अनुरक्त रहती हैं।

रतनावलि पति राग रँगि दै विराग में आगि
उमा रमा बड भागिनी नित पतिपद अनुरागि ।३५।

पति में पत्नी का लय—रत्नावली ऐसा प्रशस्त समझती है, शास्त्र का उपदेश भी है, कि पत्नी का व्यक्तित्व पति में लीन हो जाय। यही नारी जीवन की सार्थकता है। वह नारी प्रशंसनीय है जो पति के सुख से सुखी और पति के दुःख से विषण्ण रहती और अपने व्यक्तित्व को त्याग कर पति में लीन हो जाती है। लय दो प्रकार का होता है शारीरिक और आध्यात्मिक। एक की परिपूर्णता तो पति की चिता में दग्ध हो जाने से होती है, और दूसरे की पूर्णता तो जीवन-पर्यन्त दाम्पत्य

समानीकरण से। रत्नावली ने नारी का सायुज्य पति में दो आधारों पर माना है। प्रथमतः शास्त्रों ने आदेश किया है कि पत्नी सदैव पति के अनुकूल रहे क्योंकि पति में और पति के द्वारा ही नारी को मुक्ति प्राप्त होती है। रत्नावली के शब्दों में पति ही मोक्ष है। द्वितीयतः रत्नावली समझती है कि दाम्पत्य प्रेम सब प्रकार के अन्य प्रेमों का अतिक्रमण करता है और परमानन्द होने के कारण उद्देश्य भी है। बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं कि सब सुख ब्रह्मानन्द से कम हैं, किन्तु रत्नावली के अनुसार पत्नी के लिए तो ब्रह्मानन्द भी दाम्पत्य-प्रेम का पासंग नहीं। हो सकता है कि रत्नावली के ये शब्द साधारण विचारधारा के अनुसार अतिशयोक्ति-संकुल हों।

पति के सुख सुख मानती पति दुख देखि दुखाति
रतनावलि धनि द्वैत तजि तिय पिय रूप लखाति।४७।
पति गति पति वित मीत पति पति गुर सुर भरतार
रतनावलि सरवस पतिहि बंधु बंद्य जग सार।४६।
सब रस रस इक ब्रह्म रस रतन कहत बुध लोइ
पै तिय कहँ पिय प्रेम रस बिन्दु सरिस नहि सोइ।४८।

विश्व-बन्धुत्व—तो क्या रत्नावली ने संकीर्ण प्रेम का अर्थात् केवल दाम्पत्य प्रम का आदर्श उपस्थित किया है? नहीं, ऐसा नहीं है। उसने परहित की जो कि मानव-चरित्र का प्रधान अंग है, प्रचुर प्रशंसा की है। वह कहती है कि जो दूसरों के लिए जीता है वही वास्तव में जीता है, यों तो काक, कुक्कुर, कपि आदि भी अपने लिए जीते हैं। दूसरे के लिए क्षण भर जीना भी उचित है; जो दूसरों के लिए नहीं जीते वे मृतप्राय हैं। जो उपकार के विनिमय में अपकार करते हैं वे इस संसार में अपयश के भागी और मृत्यूपरान्त नरकगामी होते हैं।

परहित जीवन जासु जग रतन सफल है सोइ
निज हित कूकर काक कपि जीवहिं का फल होइ।१५३।
रतनावलि छनहूँ जियै धरि परहित जस ग्यान
सोई जन जीवत गनहु अनि जीवत मृत मान।१५४।
जो उपकारी को रतन करत मूढ़ अपकार
ते जग अपजस लहत पुनि मरें नरक अधिकार।१६१।

परहित स्वयं लक्ष्य है, इसको फल की आवश्यकता नहीं। रत्नावली कहती है कि दूसरों का उपकार करो पर बदला न चाहो। भले लोग प्रत्युपकार नहीं चाहते। क्योंकि यह ओछा व्यवहार है। अपितु जो उपकार किया जाय अथवा जो दया प्रकट की जाय, उसका उल्लेख भी आवश्यक नहीं। सज्जन दूसरों के प्रति जो उपकार करते हैं उसकी चर्चा नहीं करते, प्रत्युत उसे गुप्त रखते हैं; वे दूसरों के उपकारों का तो स्मरण रखते हैं किन्तु अपनों का विज्ञापन नहीं करते डोलते। रत्नावली परहित का संकुचित अर्थ नहीं करती यथा पक्षपात, साम्प्रदायिकता, जातिप्रेम। परहित इस सब से बढ़कर है, उसका क्षेत्र समग्र संसार है। रत्नावली की उदारता, विशालता और भव्यता मननीय है; वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उपदेश देती हुई कहती है कि लघु

जन तो मेरे-तेरे में भेद समझते हैं, किन्तु महापुरुष तो समस्त संसार को एक कुटुम्ब मानते हैं।

रतन करहु उपकार पर चहहु न प्रति उपकार
लहहिं न बदलो साधुजन बदलो लघु ब्योहार ।१५२।
परहित करि बरनत न बुध गुपत रखहिं दै दान
पर उपकृति सुमिरत रतन करत न निज गुन गान ।१६३।
जे निज जे पर भेद इमि लघुजन करत विचार
चरित उदारन को रतन सकल जगत परिवार ।१५५।

जीवन-गाथा

गोस्वामीजी ने यदा-कदा अपने विषय में कुछ कहा है जिससे उनके जीवन-चरित पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने जो कुछ कहा है वह क्रम-बद्ध तो नहीं है; केवल आत्मपरिचयात्मक वचन 'रामचरितमानस', 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' आदि अनेक ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होते हैं जिनका समालोचनात्मक विवरण दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। उनके वे वचन कभी स्पष्ट, कभी कूट हैं।

(क) आत्म-कथा

जन्म-स्थान—गोस्वामीजी अपने जन्मस्थान का निर्देश इस प्रकार करते हैं—

धर्म के सेतु जगमंगल के हेतु भूमि
भारु हरिबे को अवतारु लियो नर को।
नीति और प्रतीति-प्रीति पाल चालि प्रभु मानु
लोक-बेद राखिबे को पनु रघुवर को।
बानर विभीषन की ओर के कनावड़े हैं,
सो प्रसंगु सुनें अंगु जरै अनुचर को।
राखे रीति आपनो जो होइ सोई कीजै, बलि,
तुलसी तिहारो घर जायो है घर को॥ क० १२२॥

अर्थात् 'धर्म के सेतु भगवान् संसार का कल्याण करने के लिए और पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही मनुष्य के रूप में अवतीर्ण हुए। नीति, प्रीति और प्रतीति पालन करना प्रभु का स्वभाव है तथा लोक और वेद की मर्यादा रखना श्री रघुवर का प्रण है। आप सुग्रीव और विभीषण के ऋणी हैं, यह बात सुनकर दास का अंग-अंग जलता है (कि मुझ पर ऐसी कृपा क्यों नहीं करते?)। अतः मैं आपकी बलिहारी जाता हूँ, अपने प्रण की रक्षा करके आपसे जो बने वही कीजिये। यह तुलसीदास तो आपके घर का घरजाया है।' बरवै रामायण में 'रामपुर' का स्पष्ट उल्लेख है:

तुलसी रामनाम सम मित्र न आन। जो पहुँचाव रामपुर तन अवसान, ६७

राम के घर से तात्पर्य है रामपुर। महाकवि नन्ददास के पुत्र कृष्णदासजी ने और कवि मुरलीधर चतुर्वेद ने तुलसी का जन्म-स्थान सोरों के निकट रामपुर नामक ग्राम को लिखा है, किन्तु श्री चंद्रबली पाण्डे ने 'राम के घर' का अर्थ अयोध्या किया है जो समीचीन नहीं है जैसा कि इस पर चतुर्थ अध्याय में विचार हो चुका है। तुलसीदासजी के जन्म-स्थान वाला रामपुर कौन सा है इस विषय में तुलसीदासजी स्वयं निर्णय करते हैं।

जन्म-स्थान का परिचय—कवितावली में जन्म-स्थान की स्थिति इस प्रकार बतायी गयी है:—

बारि तिहारो निहारि मुरारि भएं परसें पद पापु लहौंगो।
ईसु ह्वै सीस धरौं पै डरौं, प्रभु की समता बड़े दोष दहौंगो।

बरु बारहिं बार शरीर धरौं, रघुबीर को ह्वै तव तीर रहौंगो।
भागीरथी बिनवौं कर जोरि, बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो।१४७।

अर्थात्, 'हे गंगे, तुम्हारे जल के दर्शन के प्रभाव से यदि मैं विष्णु हो गया तो अपने चरणों से तुम्हारा स्पर्श होने के कारण मुझे पाप लगेगा (क्योंकि तुम्हारा जन्म विष्णु भगवान् के चरणों से है, और यदि मैं भी विष्णु हो गया तो अपने चरणों से तुम्हारा स्पर्श होने के कारण मुझे पाप का भागी होना पड़ेगा), और यदि महादेव हो गया तो सिर पर धारण करने से मुझे डर है कि इस प्रकार अपने प्रभु भगवान् शंकर की समता करने के बड़े भारी अपराध से दुःख पाऊंगा। इसलिए, भले ही मुझे बारम्बार शरीर धारण करना पड़े, मैं तो श्री रघुनाथजी का दास होकर ही तुम्हारे तीर पर रहूँगा। हे भागीरथि, मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ—मैं वही बात कहूँगा जिससे फिर दोष न लगे। उक्त उद्धरण की अन्तिम दो पंक्तियों में यह ध्वनि है कि तुलसीदासजी का जन्म गंगा-तट पर हुआ था और वे कामना करते हैं कि उनके भावी जन्म भी गंगा-तट पर हों और वे रामभक्त बने रहें।

विनय-पत्रिका में गंगा की स्तुति करते समय गोस्वामीजी ने अपने जन्म-स्थान की ओर निर्देश इस प्रकार किया है :—

विमल विपुल बहसि बारि, सीतल त्रयताप-हारि,
भँवर वर विभंगतर तरंग मालिका।
पुरजन पूजोपहार, सोभित ससि धवल धार,
भंजनि भव भार, भक्त कल्प थालिका ।।१७।।

अर्थात् 'हे गंगाजी, आप अगाध निर्मल जल को धारण किए हुए हैं; वह शीतल है और तीनों तापों का हरने वाला है। आप सुन्दर भँवर और अति चंचल तरंगों की माला धारण किए हैं। नगर निवासियों ने पूजा के समय जो सामग्रियाँ भेंट चढ़ाई हैं उनसे आपकी चन्द्रमा के समान धवल धारा शोभित हो रही है। यह धारा संसार के जन्म-मरण-रूप भार को नाश करने वाली तथा मुझ भक्त के कल्प की स्थालिका है'।

उक्त वचन की पुष्टि तुलसीदासजी 'विनयपत्रिका' में अपने जन्म-स्थान, कुल आदि के प्रकरण में करते हैं :

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि हूँ सो तनु तोहिं दियो।।
दियो सुकुल जनम, सरीर सुन्दर, हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद, पावत पुरारि-मुरारि को।।
यह भरतखंड, समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलप बल्ली चहति विषफल फली।।१३५।।

अर्थात्, जिन्होंने तुझे देव-दुर्लभ मनुष्य शरीर दिया उन परम प्रेमी श्रीरामजी के साथ तूने प्रेम नहीं किया। उन्होंने सुकुल में जन्म और सुन्दर शरीर दिया है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का कारण है, जिसे पाकर ज्ञानी लोग भगवान् शिव अथवा कृष्ण के परमपद को प्राप्त करते हैं। फिर यह भारतवर्ष देश, पास ही देव

नदी गंगाजी, कैसा सुन्दर स्थान है। साथ ही सत्संग भी उत्तम है। इतने पर भी, अरे कायर, तेरी कुबुद्धि के कारण इन सब साधनों की कल्पलता भी (जन्म-मरण-रूपी) विषैले फल फलना चाहती है।'

जाति—गोस्वामीजी जाति के ब्राह्मण थे। कुछ व्यक्तियों ने भ्रमवश उन्हें नीच कुल का लिख दिया है, किन्तु कवितावली में गोस्वामीजी ने अपने को भले कुल, भले समाज और भले शरीर का लिखा है :—

भलि भारत भूमि, भले कुल जन्मु, समाजु सरीरु भलो लहि कै।
करषा तजि कै परुषा, बरषा, हिम, मारुत, घाम सदा सहि कै॥
जो भजै भगवानु सयान सोई, तुलसी हठ चातकु ज्यों गहि कै।
नतु और सबै बिष बीज बए, हर हाटक काम दुहा नहि कै॥७,३३॥

अर्थात्, भारतवर्ष की पवित्र भूमि है, उत्तम कुल में जन्म हुआ है, समाज और शरीर भी उत्तम मिला है। गोसाईंजी कहते हैं—ऐसी अवस्था में जो पुरुष क्रोध और कठोर वचन त्याग कर वर्षा, जाड़ा, वायु और घाम को सहन करते हुए चातक के समान हठ-पूर्वक सर्वदा भगवान् को भजता है, वही चतुर है, अन्यथा और सब तो सुवर्ण के हल में काम-धेनु को जोतकर (केवल) विषबीज बोते हैं। गोस्वामीजी धनी घर के और शरीर के सुन्दर और गौरवर्ण के थे जैसा कि विनय-पत्रिका के भजन २६६ में भी स्पष्ट है।

कवितावली में आगे चलकर 'भले कुल' को स्पष्ट करते हुए गोस्वामीजी अपने को मंगन कुल का बताते हैं :—

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परितापु पापु जननी-जनक को।
बारे ते ललात-बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को॥
तुलसी सो साहेब समर्थ को सुसेवकु है,
सुनत सिहात सोचु बिधि हू गनक को।
नामु राम रावरो सयानो किधौं बावरो,
जो करत गिरी तें गरु तृन तें तनक को॥७,७२॥

अर्थात्, मैं मंगन (ब्राह्मण) कुल में तो उत्पन्न हुआ, मेरे जन्म के उपलक्ष में बाजे बजवाये गये। बाजे सुनने के पश्चात् माता-पिता को परिताप और कष्ट हुआ। फिर मैं बालपन से ही अत्यन्त दीन होने के कारण द्वार-द्वार ललचाता और बिल-बिलाता फिरा, चने के चार दानों को ही अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष रूपी चार फल समझता था। वही मैं तुलसी अब समर्थ स्वामी श्री रामचन्द्रजी का सुसेवक हूँ—यह सुनकर ब्रह्मा जैसे गणक (ज्योतिषी) को भी चिंता और ईर्ष्या होती है। हे राम, न जाने आपका नाम चतुर है या पागल, जो तृण से भी तुच्छ पुरुष को पर्वत से भी भारी बना देता है।

उपर्युक्त छन्द का प्रथम चरण इस प्रकार है :—

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को।

किन्तु श्री रजनीकांत शास्त्री गोस्वामीजी को नीच जाति की जार-संतति सिद्ध करने के लिए उक्त चरण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :

जायो कुल मंगन बधावो न बजायो सुनि, भयो परिताप पाप जननी जनक को ।[1]

शास्त्रीजी तर्क करते हैं कि 'पुत्र जैसे रत्न की प्राप्ति पर तभी नहीं बधावा बजाया जाता तथा जननी जनक को तभी पाप का परिताप होता है जब दाल में कुछ काला रहता है । यह बात तो समझ में आ सकती है कि दरिद्रता के कारण बधावा नहीं बजाया गया, यद्यपि यह बात भी बिना ननु नच के नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि दरिद्र से भी दरिद्र माता-पिता पुत्र के जन्म होने पर अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार कुछ न कुछ अवश्य बधावा बजाते हैं । पर यदि केवल बधावा का नहीं बजाना होता तो कुछ रियायत की जाती । यहाँ पर तो एक दूसरा अड़ंगा भी है जो एक जबर्दस्त अड़ंगा है । वह है गोसाईंजी के जन्म होने पर आपके मां-बाप को पाप का परिताप होना । उन लोगों ने कौनसा पाप किया था जिसका उन्हें परिताप हुआ ? क्या दोनों के बीच कोई अवैध सम्बन्ध था ? क्या गोसाईंजी अपने माँ बाप की अवैध संतान थे ?'[2] शास्त्रीजी इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि गोस्वामीजी के परित्याग का कारण किसी लोकापवाद का भय था जिसका सामना करने में उनके जननी-जनक नितान्त असमर्थ थे ।[3]

शास्त्रीजी को उक्त चरण का पाठान्तर विदित है । वे लिखते हैं कि "कोई कोई 'जायो कुल मंगन' वाले छन्द में 'बधावो न बजायो, की जगह 'बधावनो बजायो' पाठ मानते हैं, जिसका अर्थ यह होता है कि गोसाईंजी के जन्म होने पर बधावा बजाया गया । पर ये पाठ बिल्कुल अस्वाभाविक तथा ऊटपटांग हैं जो 'भयो परिताप पाप जननी जनक को' के साथ फिट नहीं करता, कारण कि जिस संतान के जन्म लेने पर माता-पिता को अपने पाप का पछतावा होता हो, या जो संतान जन्म लेने पर अपने माता-पिता के लिए कष्ट और संताप का कारण हो गया हो, जैसा कि और लोग मानते है, वैसी संतान के जन्म होने पर बधावा का बजाया जाना बुद्धि कबूल नहीं करती, अतः बधावो न बजायो यही शुद्ध पाठ है ।"[4]

श्री गोकुलानन्द सहाय के लेख से शास्त्रीजी की उक्त धारणा और पाठांतर का निराकरण हो जाता है । सहायजी का एक लेख 'ट्रूथ अबाउट द लाइफ ऑव गोस्वामी तुलसीदास' नामक शीर्षक से ३० मई १९५४ ई० की 'सर्च लाइट' में प्रकाशित हुआ था । उसमें उन्होंने इस सम्बन्ध में मननीय विचार उपस्थित किये हैं । उनकी धारणा है कि गोस्वामीजी ने फारसी-अरबी के शब्दों का भी प्रयोग किया है, दुरुपयोग नहीं । भाषा पर गोस्वामीजी का अधिकार था और वे मुहावरे, शब्द, अलंकार आदि का प्रयोग उचित रूप में करते थे, मनमाना नहीं । 'बधावनो बजायो' ब्रज-भाषा का मुहावरा है जिसका अर्थ है 'बधाई', 'मुबारकवाद' अथवा 'साधुवाद' । 'बजायो' भूत-कालिक क्रिया है । इस बात का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि मौलिक अभिव्यक्ति 'बधावनो बजायो' के स्थान पर 'न बजायो' अथवा 'बधावने न बजायो'

---

१. मानस मीमांसा पृष्ठ ११ । २. वही पृष्ठ १२ ।
३. मानस मीमांसा, पृष्ठ १७ । ४. वही पृष्ठ २३ ।

लिख दिया जाय। इस पाठांतर को प्रेस अथवा लिपिकार की भूल नहीं समझा जा सकता। अतएव उसे प्रक्षेप ही समझना चाहिए। 'जायो कुल मंगन' से यह अर्थ किया जाता है कि तुलसीदासजी भिखारियों के कुल में उत्पन्न हुए। किन्तु यह धारणा गोस्वामीजी की इन उक्तियों के प्रतिकूल पड़ती है—'दियो सुकुल जनम शरीर सुन्दर', 'हों सुबरन कुबरन कियो', 'नृप ते भिखारि करि', 'भलि भारत भूमि भले कुल जन्मु समाजु शरीरु भलो लहिकै।'

सहायजी का तर्क है कि 'कुल मंगन' का अर्थ उसी परिपाटी से करना चाहिए जिससे कुल-गुरु, कुलदेवता, कुल-पुरोहित आदि शब्दों का किया जाता है। कुल-मंगन का अर्थ है कुल के मंगने अर्थात् वे व्यक्ति जो उत्सवादि के अवसर पर दान व नेग-जोग लेने के लिए उपस्थित रहते हैं, न कि मंगन का कुल अर्थात् भिखारी का कुल। उक्त चरण में 'कुल मंगन' 'बजायो' क्रिया का कर्त्ता है अर्थात् कुल के मंगनों ने बधाई के बाजे बजाये। 'सुनि' क्रिया का कर्म है 'जायो'। चरण का अन्वय इस प्रकार होना चाहिए : मैं (अर्थात् तुलसी) जायो सुनि (मेरे अर्थात् तुलसी के) कुल मंगन बधावनो बजायो, जननी जनक को परिताप पाप भयो। इस अन्वय का अर्थ इस प्रकार है : यह सुनकर कि मैं (तुलसीदास) उत्पन्न हुआ, मेरे (अर्थात् तुलसीदास के) कुल के नेगियों ने बधाई के बाजे बजाये। मेरे (अर्थात् तुलसीदास के) माता-पिता को कष्ट और परिताप हुआ।[1]

प्रस्तुत चरण से सहायजी का निष्कर्ष है कि जिसके जन्म के उपलक्ष्य में बधाई के बाजे बजें उसके माता-पिता तुरन्त पंचत्व को प्राप्त हो जायँ यह असम्भव है। अतएव यह निश्चय है कि तुलसीदासजी के माता-पिता की मृत्यु तुलसीदास के जन्म लेते ही नहीं हो गयी थी। तुलसीदासजी के जन्म के अवसर पर बधाई के बाजे बजाये गये। इससे यह सिद्ध है कि गोस्वामीजी अवैध सन्तान न थे। उनके माता-पिता अवश्य ही खाते-पीते सुसम्पन्न, मिलनसार और आदरणीय व्यक्ति रहे होंगे, क्योंकि ऐसे ही व्यक्तियों को समाज से बधाइयां प्राप्त होती हैं, और क्योंकि ये बधाइयां जन्म-काल के समय मिलीं अतएव नेगियों को अवश्य नेग-जोग का प्रबल लालच रहा होगा, जो कि दयालु और उदार व्यक्तियों से अधिकतर प्राप्त होता है। यह भी प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान थे जिस कारण प्रचुर बधाइयाँ प्राप्त हुईं।

रजनीकान्त शास्त्री जी की समझ में 'स्वारथ के साथिन तज्यो' 'तनु तजेउ कुटिल कीट', 'औचट उलटि न हेरो', आदि वचन एक ऐसे हृदय के उद्गार हैं जो अपने प्रति, अपने जननि-जनक के क्रूर तथा नृशंस व्यवहार को याद कर के सदा जलता रहता था।[2] सहायजी इस धारणा का भी निराकरण करते हैं। कारण कि 'रामचरित मानस' में पिता-पुत्र के आदर्श कर्तव्यों का चित्रण किया गया है। 'रामचरितमानस' भगवान् शिव से रूपान्तर से प्राप्त हुआ अतएव यह असम्भव है कि गोस्वामीजी ने उसका चित्रण यों-ही कर दिया होगा। गोस्वामीजी का भाव अपने माता-

१. सर्च-लाइट, २३-५-५४ और ७-६-५४।
२. मानस मीमांसा, पृ० १२।

पिता के प्रति कटु था, ऐसा कथन गोस्वामीजी के प्रति घोर अन्याय होगा, क्योंकि इस प्रकार की कटुता के लिए गोस्वामीजी के स्वभाव और संस्कृति में कोई गुंजाइश नहीं। प्रत्युत, उनके विचार अपने माता-पिता के प्रति अत्यन्त उच्च थे और वे उन्हें सीता-राम, भवानी-महेश और हनुमानजी की पंक्ति में बिठाते थे। 'विनय पत्रिका' का यह भजन इस विषय में निर्णायक है :

मातु-पिता, गुरु, गनपति सारद सिवा-समेत सम्भु, सुक, नारद।
चरन बंदि बिनवौं सब काहू देहु राम पद नेह निबाहू ॥ विनय० ३६ ॥'

सहायजी के तर्क से शास्त्रीजी की शंकाओं का समाधान अथवा उनकी धारणा का निराकरण सम्यक् रूप से हो जाता है, पर 'भयो परिताप पाप जननी जनक को' के लिए किंचित् और प्रकाश की अपेक्षा रहती है जिसका विवेचन इसी अध्याय के मातृ-पितृ वियोग नामक अगले प्रकरण में किया जायगा। यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी विनम्र थे और विनोदी भी। इसी से उन्होंने अपने को 'मंगन' और 'पाप' लिखा। श्री आदित्य नारायण सिंह शर्मा की धारणा है कि 'मंगन कुल' शब्द का प्रयोग नम्रता सूचक है।[२] भृगु-संहिता में ब्राह्मणों की जन्म-पत्रियों में जो शब्दावलि कभी-कभी उपलब्ध होती है वह है 'भिक्षुकस्य कुलेऽजनि'। गोस्वामीजी के समकालीन नरोत्तमदासजी तो गर्व से कहते हैं 'बाम्हन को धन केवल भिच्छा', 'कन माँगत बाम्हन लाज नहीं।'[३] गोस्वामीजी ने भी स्वयं कवितावली में स्पष्ट कर दिया है :—

भागिरथी जलुपान करौं, अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।
मोको न लेनो, न देनो कछू, कलि भूलि न रावरो ओर चितै हौं॥
जानि कै जोरु करौ, परिनाम तुम्हे पछितैहौ पै मैं न भितै हौं।
ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं त्यों हीं तिहारे हिएं न हितै हौं॥

(कविता० १०२)

अर्थात् 'मैं गंगाजल पीता हूं और नित्य राम के दो नाम लेता हूँ। हे कलिकाल, मुझे तुमसे कुछ भी लेना देना नहीं है, और मैं भूलकर भी तुम्हारी ओर नहीं देखूंगा। यदि तुम जान-बूझकर मेरे साथ जोर (अत्याचार) करोगे, तो परिणाम में तुम्हीं पछताओगे, मैं नहीं डरूँगा। जैसे गरुड़ ने ब्राह्मण को, न पचने के कारण, उगल दिया वैसे मैं भी तुम्हारे पेट में पचूंगा नहीं।'

आस्पद—विनयपत्रिका में सुकुल आस्पद का स्पष्ट उल्लेख हुआ है :—

दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को ॥१३५॥

सोरों-सामग्री में कृष्णदासजी और कवि मुरलीधर चतुर्वेद ने भी तुलसीदासजी के सुकुल आस्पद का उल्लेख किया है।

नाम—गोस्वामीजी का नाम तुलसीदास था इसका उल्लेख कवितावली में है :

---

१. सर्च लाइट १३-६-५४।
२. गोस्वामी तुलसीदास के विषय में कुछ निवेदन, सरस्वती, १ भाग १६।
३. सुदामा चरित, पृ० ३-४, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस।

नाम तुलसी, पै भोंडो भाग तें, कहायो दास
कियो अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को
साहेबु समर्थ दसरत्थ के दयाल देव
दूसरो न तो सो तुम्हीं अपने की लाज को ।।। १३।।

अर्थात् नाम तो (मेरा) तुलसी है पर हूँ मैं भाग का खोटा और कहलाने लगा दास और आपने ऐसे दगाबाज को भी अंगीकार कर लिया । हे दशरथ नन्दन, आपके समान कोई दूसरा स्वामी समर्थ अथवा दयालु नहीं है; अपने शरणागत की लज्जा रखने वाले तो आप ही हैं ।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त के विचार से गोस्वामीजी का नाम केवल तुलसी रहा होगा और इस नाम के साथ दास का प्रयोग बाद में हुआ होगा । श्री रजनीकांत शास्त्री ने भविष्य पुराण का जो उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी का नाम शर्मा था न कि तुलसीदास ।

आध्यात्मिक नाम—गोस्वामीजी का आध्यात्मिक नाम 'राम बोला' था ।

बाल पने सूधे मन राम सनमुख भयो,
राम नाम लेत मांगि खात टूकटाक हौं ।
परयो लोकरीति में पुनीत प्रीति राम राय,
मोह बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं ।।क, ७,४०

अर्थात् बालपन में मेरा भोला मन राम के सम्मुख हो गया और मैं राम नाम बोलकर, रोटियों के टुकड़े मांग-मांग कर खाया करता था । मैं राम का गुलाम हूँ । अतएव भगवान् राम की कृपा से मेरा नाम राम बोला पड़ गया । 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' के निम्नलिखित छन्द इस उक्ति की पुष्टि करते हैं :—

सुनिए कराल कलिकाल भूमिपाल तुम्ह
जाहि घालो चाहिए, कहौ धौं, राखै ताहि को ।
हौं तो दीन दूबरो, बिगारो-ढारो रावरो न
मैंहू तेंहू ताहि को, सकल जगु जाहि को ।।
कामु, कोह लाइकै देखाइयत आंखि मोहि,
एते मान अकसु कीबे को आपु आहि को ।
साहेबु सुजान, जिन्ह स्वानहू को पच्छु कियो,
राम बोला नामु, हौं गुलामु रामसाहि को ।।क, ७,१००।।

अर्थात् हे कराल कलिकाल महाराज, सुनो, जिसको तुम नष्ट करना चाहो उसकी रक्षा भला कौन कर सकता है । मैं तो दीन दुर्बल हूँ, और आपका कुछ भी बिगाड़ा-गिराया नहीं । मैं भी और तुम भी उसी (ईश्वर) के हैं जिसका यह सारा संसार है । तुम जो काम क्रोध को मेरे पीछे लगाकर मुझे आंखें दिखलाते हो सो तुम इतना विरोध करने वाले कौन हो ? मेरे स्वामी (रामचन्द्रजी) बड़े विज्ञ हैं. वे सब जानते हैं, उन्होंने श्वान का भी पक्ष किया था । मैं तो राम शाह का गुलाम हूँ और 'रामबोला' मेरा नाम है ।

'रामबोला' नाम किस प्रकार पड़ा इसका स्पष्टीकरण विनयपत्रिका में इस प्रकार है :

राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यो राम
काम यहै, नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं
रोटी-लूगा नीके राखै, आगे हू को वेद भाखै,
भलो ह्वै है तेरा, ताते आनन्द लहत हौं ।।७६,१।।

अर्थात् मैं राम का गुलाम हूं। लोगों ने मेरा नाम रामबोला रखा है। मैं रामजी का यही काम करता हूँ कि कभी-कभी इस नाम के दो अक्षर कह लेता हूँ।

माता हुलसी—गोस्वामीजी ने अपनी माता हुलसी का उल्लेख 'रामचरित-मानस' के बालकाण्ड में इस प्रकार किया है :

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी ।।

अर्थात् राम-कथा श्री रामजी को पवित्र तुलसी के समान प्रिय है और वह (मुझ) तुलसीदास का हित (माता) हुलसी के समान हृदय से करने वाली है।[1] इस उद्धरण से नितान्त स्पष्ट है कि तुलसीदासजी की माता का नाम 'हुलसी' था और उपर्युक्त पंक्ति में 'हुलसी' शब्द संज्ञा के ही रूप में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि म० बालकराम विनायकजी का सुझाव है।[2] सोरों-सामग्री में यह नाम 'हुलासो' रूप से आया है। जनश्रुति है कि जब तुलसीदासजी ने किसी ब्राह्मण-कन्या के विवाह के निमित्त अब्दुर्रहीम खानखाना को यह सिफारिश लिख भेजी कि 'सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होय', तो रहीमजी ने ब्राह्मण को प्रचुर धनराशि देकर गोस्वामीजी के दोहार्द्ध की पूर्ति इस प्रकार लिख भेजी थी : गोद लिये हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय।

गर्भ-वास काल

गर्भवास दस मास पालि पितु-मातु रूप हित कीन्हों
जड़हिं विवेक, सुसील खलहिं, अपराधिहिं आदर दीन्हों ।। १७१,२ ।।

विनय-पत्रिका के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने अपनी माता के गर्भ में दस मास निवास किया था।

मातृ-पितृ-वियोग—कवितावली और विनयपत्रिका में यह उल्लेख है कि जन्म के शीघ्र ही पश्चात् तुलसीदासजी का वियोग अपने माता-पिता से हो गया था :—

मातु पिता जग जाइ तज्यो, बिधि हूँ न लिखी कछु भाल भलाई ।
(कवितावली ५७)

जननी जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधिहु न सृज्यो अवडेरे ।।
(विनय० २२७)

तनु जन्यो कुटिलकीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ। (विनय० २७५)

---

१. दे० कूट और गूढ़ार्थ नामक अध्याय।

२. सरस्वती, पृ० १६, भाग १९, कवित्त रामायण में गोस्वामी तुलसीदास का आत्म-चरित्र, उत्तर पक्ष।

अन्तिम उद्धरण का तात्पर्य है कि मेरे माता-पिता ने मुझे जन्म देकर त्याग दिया अथवा मेरे माता-पिता ने मुझे जन्म देकर कुटिल कीट की तरह त्याग दिया। सोरों वाले 'कुटिल कीट' से 'कुटीला' नामक ऐसे कीड़े का आशय निकालते हैं जो सन्तान को जन्म देने के पीछे ही मर जाता है, और कहते हैं कि तुलसीदास के माता-पिता का देहान्त बालक के जन्म के कुछ ही समय पश्चात् हो गया था, इसलिए गोस्वामीजी ने ऐसा लिखा है। अविनाशराय के साक्ष्य के अनुसार तुलसीदासजी केवल दस मास के थे जब उनके माता-पिता का देहान्त हुआ था। सोरों-सामग्री के अनुसार जन्म के समय मूल नक्षत्र न था किन्तु विशाखा नक्षत्र का द्वितीय चरण था। अतएव माता-पिता के द्वारा शिशु-त्याग की कल्पना का अवसर ही नहीं। गोस्वामीजी ने यह लिखा है कि उनके जन्म के समय बाजे बजाये गये, इससे भी अमुक मूल की कल्पना का परिहार और साथ ही इस सुझाव का निरास होता है कि तुलसीदासजी पापकर्म की सन्तान थे। डॉ० माताप्रसाद ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि उक्त पंक्ति में केवल माता नहीं पिता भी है[1] अतएव जननी और जनक के पाप की कल्पना नितान्त निराधार है।

'भयो परिताप पाप जननी जनक को' इस पंक्ति में 'पाप' से क्या आशय है? टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है कि बधाई के बाजे सुनकर माता-पिता को परिताप और कष्ट हुआ। इस प्रकार 'पाप' का अर्थ कष्ट कर दिया गया है। मेरी विनीत सम्मति में 'पाप' का अर्थ 'अशुभ व्यक्ति' होना चाहिए। गोस्वामीजी अपने विषय में कहते हैं कि 'मैं ऐसा असहना अर्थात् अशुभ रहा कि मेरे जन्म के समय जब बधाई के बाजे बज रहे थे तो उनको सुनने के तनिक देर पीछे मेरे माता-पिता दोनों ही को मानसिक तथा शारीरिक कष्ट हुआ'। क्या कष्ट हुआ इसको गोस्वामीजी ने स्वयं स्पष्ट नहीं किया है; हाँ, उनके तथाकथित समकालीन कवि अविनाशराय ने जो प्रकाश डाला है वह समीचीन प्रतीत होता है :—

जन वृद्ध सम्बन्धी सखा निज अनुज जीवाराम
हंकारि कुल गुरु भीमसंकर वेद विद्या धाम
निज पौरि इक ठौरे करे उच्छव भयो अभिराम
जाचक जुरे बहु आय ते सब कीन्ह पूरनकाम
बाजहिं बजनिया बाजने गावहिं बधाई नारि
चिर चिर जिये बालक असीसहिं जन पुकारि पुकारि
कुल लोक वेद प्रमान कीनो जन्म हर्ष विधान
सनमान पाय तवै गये सब लोग निज निज थान　॥ १७ ॥
उदर आत्माराम के उठ्यो सूल अति घोर
दई विविध भेषज तऊ, आमय भयौ न थोर　॥ २८ ॥
विकल रहत त्रय दिन भये, दुखी सकल परिवार
हारे जीवारान करि, नाना विध' उपचार　॥ २९ ॥

---

१. तुलसीदास, पृष्ठ १७५, तृतीय संस्करण १९५३।

मुरछित मरनासन्न लषि, जननि गिरी हहराय
हुलसी निज पति दुष निरषि, बिलपति अति अकुलाय ।। ३० ।।

बचपन के कष्ट—तुलसीदासजी का बचपन कष्टमय रहा। उन्हें अपनी जीविका के लिए भिक्षा तक माँगनी पड़ी। यद्यपि उनके माता-पिता खाते-पीते थे तथापि माता-पिता तथा चाचा (जीवाराम) की मृत्यु के पश्चात् आय का कोई साधन न रह गया था। उनकी दादी उन्हें अवश्य राम का भरोसा देती थीं और वे राम के नाम पर भिक्षा-वृत्ति करते थे। उनके वचन हैं :

(क) **बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन**
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को ।। क ७,७३ ।।

अर्थात् मैं बालपन से ही अत्यन्त दीन होने के कारण द्वार द्वार ललचाता और बिललाता फिरा, और चने के चार दानों को ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार फल समझता था।

(ख) **नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकनि लागि ललाई ।। क, ७,५७**

अर्थात् मैं नीच निरादर का पात्र और कायर कुत्ते के मुख में स्थित टुकड़े के लिए भी ललचाता था।

(ग) **फिर्यो ललात बिनु नाम उदर लगि, दुखउ दुखित मोंहि हेरे**
नाम-प्रसाद लहत रसाल-फल अब हौं बबुर बहेरे ।। विनय० २२७,३

अर्थात् जब मैं राम-नाम के शरण नहीं हुआ था तब मैं पेट भरने को (द्वार-द्वार) ललचाता फिरता था। मेरी ओर देखकर दुःख को भी दुःख होता था। श्री राम की कृपा से पहले मेरे लिए जो बबूल और बहेड़े के वृक्ष थे, उन्हीं पेड़ों से मुझे अब आम के फल मिल रहे हैं।

(घ) **द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहू ।। विनय ।। २७५,१ ।।**

अर्थात्, हे नाथ, मैं द्वार-द्वार पर दाँत निकाल कर, और पैरों पड़कर अपनी दीनता का वर्णन करता फिरता था।

गोस्वामीजी की इन उक्तियों का स्पष्टीकरण अविनाशराय की इन पंक्तियों से हो जाता है :—

नित आय जीवाराम। पुजवत जननी मन काम ।।
तुलसीहि अंक लगाय। लालत अनेक उपाय ।।
गे वर्ष त्रय षट मास। चम्पा जने नंददास ।।
तब सुकुल जीवाराम। सुत को धरायो नाम ।।
तुलसिहि गनेस मनाय। पाटी दई पुजवाय
पुनि वर्ष द्वै दसमास। पाछें भये चँदहास
पुनि सुकुल जीवाराम। रोगी भये मति धाम
भइ नष्ट अन धन आय। दारिद गयो गृह छाय
छय रोग सौं दुष पाय। गे स्वर्ग वर्ष बिताय ।। ४५ ।।
जननी जाया भ्रात सुत। तेहि सुत भयो अनाथ
सेस सनातन वंस की। रही पुरातन गाथ ।। ४६ ।।

कृषि कर्म गृह धन धान। सब को भयो अवसान
बूझत न कोऊ बात। तेहि दुष न बरनो जात
काका गये सुर लोक। तुलसी बढ्यो मन सोक
दादी कह्यो समुझाय। सुत होंय राम सहाय
कुलदेव तेरे सोय। दै हैं सबै दुष खोय
तू राम भजि अविराम। पूजें सकल मन काम
बहु राम गाथ सुनाय। धीरज दयो मन लाय
तुलसी बसे मन राम। अविराम टेरत राम
तब रामबोला नाम। कहि लोग टेरत गाम
बहु विध सुभोजन षात। अध पेट सो रहि जात
धारत पुरातन चीर। तेहि कोउ धरत न धीर
जात्री जनन सों जाइ। जाचन लगे सकुचाइ
निज गाम जन गृह धाय। जाचत कबहु दुष पाय
कोउ देत कोउ न देत। पछिताइ मन चलि देत ॥ ४७ ॥
पावत जिनके द्वार नित, आइ अतिथि सनमान
तेहि सुत औरनि अतिथि बनि, राषत आपन प्रान ॥ ४८ ॥

गुरुदेव—गोस्वामीजी के गुरु नृसिंह जी थे। सोरों सामग्री के अनुसार इनकी पाठशाला सूकरक्षेत्र के चक्रतीर्थ में थी, और इस पाठशाला में हनुमानजी की मूर्ति भी थी। एक दिन सोरों में गंगाजी के किनारे एक वैश्य कुछ दान कर रहा था और तुलसीदास उस दान करते हुए बनिये को अधीरता से देख रहे थे, किन्तु उन्हें मिला कुछ नहीं। नृसिंह जी संयोग से वहाँ उपस्थित थे और तुलसी की दीन-हीन दशा से बड़े प्रभावित हुए और उन्हें घर ले आए। गोस्वामी जी अपने गुरु का स्मरण 'रामचरित मानस' में इस प्रकार करते हैं :—

बंदौ गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि
महा मोह तम पुंज जासु बचन रवि कर निकर ॥ १,५ ॥

अर्थात् मैं परम दयालु अपने गुरु नृसिंह जी के चरण-कमलों में प्रणाम करता हूँ जिन के वचन महा अज्ञान को इस प्रकार दूर कर देते हैं जिस प्रकार सूर्य की रश्मियाँ अन्धकार को। और भी—

बंदौं गुरु पद पदम परागा, सुरुचि सुवास सरस अनुरागा
अमिय मूरि मय चूरन चारु, समन सकल भव रुज परिवारू
सुकृत संभु तन विमल विभूती, मंजुल मंगल मोद प्रसूती
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी, किये तिलक गुनगन बस करनी
श्री गुर पद नख मनि गन जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती
दलन मोह तम हंस प्रकासू, बड़े भाग्य उर आवहिं जासू
उघरहिं विमल बिलोचन हिय के, मिटहिं दोष दुख भव रजनी के
सूझहिं रामचरित मनि मानिक, गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।
यथा सुअंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान

कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान ।
गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन नयन अमिय दृग दोष बिभंजन
तेहि करि विमल विवेक विलोचन बरनौं राम चरित भव मोचन[1]
रा १. ५—६

इस वर्णन से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी के गुरुदेव बड़े दयालु और विद्वान् थे और शिष्य पर उनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा । अविनाशराय का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

याहि दिवस नरसिह गुरु सोरम गंगा तीर
दान करत इक वनिक तहँ, तुलसी लखे अधीर ।।५१।।
पायो तुलसी नाहिं कछु, ठाडे दुखित उदास
गुरुवर बूझी बाल तू, कौन तनय कहँ वास ।।५२।।
सुकल आतमाराम सुत, कह्यो जाहि पुर बास
मात पिता सुर पुर गये, एक राम की आस ।।५३।।
समुझि सुकुल कुल बाल मन, दुखित भए गुरुराय
करुना करि कर गहि गये, आपन सदन लिवाय ।।५४।।
तुलसिहि गुरु धीरज दयौ, कही पढ़ौ नित आय
अब जनि जाचन जाउ कहुँ, ह्वै हैं राम सहाय ।।५५।।
अवलंब गुरु कहँ पाय तुलसीदास मन प्रमुदित भए ।
नरसिह गुरु पद परसि सुमिरत राम कहँ निज गृह गए ।।
आपनि पितामहि सों कही जो वारता गुरु सों भई
सुनि कही राम कृपा करि नित जाउ पढि अनुमति दई ।।५६।।
असन बसन तेहि भूमि को, दिय परबन्ध कराय
बइ इक सुर गृह आय हू, वृत्ति हेत गुरु राय ।।५७।।

विद्यास्थान और पाठ्य-विषय—गोस्वामीजी का विद्यास्थान सूकर-क्षेत्र (सोरों) और मुख्य पाठ्य विषय था राम कथा । उनके वचन हैं :—

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेऊँ अचेत ।
तदपि कही गुरु बारहिं बारा । समुझि परी कछु मति अनुसारा
भाषाबद्ध करबि मैं सोई । मोरे मन प्रबोध जेहि होई ।। (रा, १,३० ३१)
बहुमत सुनि गुनि पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो ।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरोसो ।।विनय १७३।।

अविनाशराय ने गोस्वामीजी के अध्ययन पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :—

तहँ विप्रमनि इक बसत गुरुवर श्री नृसिंह बुधाग्रनी
बहु ग्राम अधिपति राम हनुमत भक्तवर विद्याधनी

१, गुरु का नामोल्लेख 'रामचरित' में अन्यत्र तथा अन्य ग्रन्थों में भी हुआ है । देखिये अध्याय 'कूट और गूढ़ार्थ' ।

स्मृति सास्त्र धर्म पुरान सिच्छा देत नित बटुकन रहें
निज पाठ साला बैठि सो नित रैनि राम कथा कहें ॥४६॥
गुरु सेवा तुलसी करत, पढ़त सविधि नित जाय
पढ्यो प्रथम व्याकरन पुनि, कोस काव्य मन लाय ॥५८॥
नन्ददास हू तेहि अनुज, पढ़न लगे पुनि आय
दोउ भ्रात गुरु भगति रत, वरमति सील सुभाय ॥५६॥
उपनयनादि विधान सब, कुल गुरु सों करवाय
वेद पढ़ायो सुर सहित, संध्या सविधि सिषाय ॥६०॥
पिंगल रामायन गनित दरसन सास्त्र पुरान
अनुज सहित तुलसी पढ़े, पंडित भये महान ॥६१॥

अविनाशराय के मतानुसार गोस्वामीजी ने गान-वाद्य की भी शिक्षा प्राप्त की, उसके निमित्त वे सीतारामजी के मन्दिर में हरिहर स्वामी के पास नन्ददासजी के साथ जाया करते थे और वे दोनों संगीत शास्त्र में प्रवीण हो गये। संगीत प्रवीणता तुलसीदासजी और नन्ददासजी के ग्रन्थों में स्वतः प्रमाणित है क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थों में अनेक राग लिखे हैं और उनके नामों का उल्लेख भी किया है। 'गीतावली' और 'विनय पत्रिका' दोनों ही गोस्वामीजी के संगीत-ज्ञान के साक्ष्य हैं।

हनुमद्भक्ति—सोरों-सामग्री के अनुसार गोस्वामीजी के गुरुदेव हनुमानजी के और रामजी के भक्त थे। गुरुजी की पाठशाला में हनुमानजी की प्रतिमा आज भी विद्यमान है। गुरुजी के प्रभाव से तुलसीदासजी भी भगवान् राम और हनुमानजी के भक्त बन गये जिसका उल्लेख गोस्वामीजी ने 'हनुमान बाहुक' में इस प्रकार किया है—

बालक बिलोकि बलि बारे तें आपनो कियो
दीनबंधु दया कीन्हीं निरुपाधि न्यारिये।
रावरो भरोसो तुलसी के रावरोई बल
आस रावरीये दास रावरो बिचारिए ॥बाहुक २१॥
टूकनि को घरघर डोलत कंगाल बोलि
वाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसो है
कीन्हीं है संभार सार अंजनी कुमार बीर
आपनो बिसारि हैं न मेरे हू भरोसो है ॥बाहुक २६॥
पालो तेरे टूक को परे हूँ चूक मूकिये न
कूर कौड़ी दू को हौं आपनी ओर हेरिये ॥
भोलानाथ भोरे हीं सरोष होत थोरे दोष
पोषि तोषि थापि आपनो न अवडेरिये ॥
अंबु तू, हौं अंबुचर, अंब तू, हौं डिंभ सो न
बूझिए बिलंब अवलंब मेरे तेरिये।
बालक बिकल जानि पाहि प्रेम पहिचानि
तुलसी की बाँह पर लामी लूम फेरिये ॥बाहुक ३४॥

हौं तो बिन मोल के बिकानो बलि बारे हीते,
ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है
कुंभज के किंकर बिकल बूड़े गो खुरनि,
हाय राम राय ऐसी हाल कहूँ भई है ।।बाहुक ३८।।

अर्थात् 'हे दीनबन्धु मैं बलि जाता हूँ, बालक को देखकर आपने लड़कपन से ही अपनाया और मायारहित अनोखी दया की। सोचिये तो, तुलसी आपका दास है, इसको आपका भरोसा, आपका ही बल और आपकी ही आशा है। हे दीनों के पालन करने वाले कृपानिधान, मैं टुकड़े के लिए दरिद्रतावश घर-घर डोलता फिरता था, आपने बुलाकर बालक के समान मेरा पालन-पोषण किया है। हे वीर अंजनी-कुमार, मुख्यतः आपने ही मेरी रक्षा की है, अपने जन को आप न भुलायँगे, इसका मुझे भी भरोसा है। आपके टुकड़ों से पला हूँ, चूक पड़ने पर भी मौन न हो जाइये। मैं कुमार्गी दो कौड़ी का हूँ, पर आप अपनी ओर देखें। हे भोलानाथ, अपने भोलेपन से ही आप थोड़े दोष से रुष्ट हो जाते हैं, सन्तुष्ट होकर मेरा पालन करके मुझे बसाइये, अपना सेवक समझ कर दुर्दशा न कीजिये। आप जल हैं तो मैं मछली हूँ, आप माता हैं तो मैं छोटा बालक हूँ, देरी न कीजिये, मुझको आपका ही सहारा है। बच्चे को व्याकुल जानकर प्रेम की पहचान करके रक्षा कीजिये, तुलसी की बाँह पर अपनी लम्बी पूँछ फेरिये। बलि जाता हूँ, मैं तो लड़कपन से ही आपके हाथ बिना मोल बिका हुआ हूँ और अपने कपाल में राम नाम का आधार लिख लिया है। हाय, राजा रामचन्द्रजी, कहीं ऐसी दशा भी हुई है कि अगस्त्य मुनि का सेवक गाय के खुर में डूब गया हो'।

सम्प्रदाय—गोस्वामीजी के गुरु स्मार्त्त वैष्णव थे। मुरलीधर चतुर्वेद ने रत्नावली चरित में गुरुदेव के विषय में लिखा है—

स्मारत बैष्णव सो पुनीत, सकल वेद आगम अधीत ।।६०।।

वैष्णव वार्त्ताओं में तुलसीदासजी को रामानन्दी बताया गया है और 'भविष्य पुराण' में भी उन्हें काशीनिवासी किन्हीं राघवानन्द का शिष्य और रामानन्दी सम्प्रदाय में अंगीकृत बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी बाल्यकाल में एवं तरुणावस्था में भी कुछ काल तक स्मार्त्त वैष्णव रहे किन्तु सम्भव है कि वे और नन्ददासजी काशी-यात्रा में रामानन्द सम्प्रदाय से प्रभावित रहे हों। वे वल्लभाचार्यजी के दार्शनिक सिद्धान्तों से भी प्रभावित थे। हो सकता है राम का अनन्य भक्त होने के कारण उन्हें रामानन्दी समझ लिया गया हो अथवा रामानन्द सम्प्रदाय में वे कुछ दिन रहे भी हों पर पीछे से वे इस सम्प्रदाय से अलग हो गये हों। गोस्वामीजी की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि वे बाल्यकाल में और प्रौढ़ावस्था में और वृद्धावस्था में भी अन्त तक स्मार्त्त बने रहे। वे शिवजी, हनुमानजी, दुर्गाजी आदि के उपासक थे। 'रामचरित मानस' का रचनाकाल बताने वाली निम्नलिखित पंक्तियाँ भी इस विषय में अन्तःसाक्ष्य हैं:—

संवत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा ।।
नौमी भौम बार मधु मासा। अवध पुरीं यह चरित प्रकासा ।।

इससे स्पष्ट है कि तुलसीदासजी ने रामनवमी मंगलवार की मानी और वह नवमी स्मार्त्तों की थी। यदि वे रामानन्दी होते तो वे बुधवार की नवमी मानते।

विवाह—गोस्वामीजी का विवाह सम्पन्न हुआ था, इस सम्बन्ध में उनके वचन इस प्रकार हैं :—

जोवन जुवति संग रंग रात्यो। तब तू महा मोह मद मात्यो ॥
ताते तजी धरम-मरजादा। बिसरे तब सब प्रथम बिषादा ॥ वि० १३६

अर्थात् 'हे जीव जब तू युवावस्था में युवती के साथ विषय-वासना के रंग में रंग गया तब तू बड़े मोह और मद में मतवाला हो गया और इस कारण तूने धर्म की मर्यादा छोड़ दी और पहले (अर्थात् गर्भ और लड़कपन के) कष्टों को भूल गया'। श्री रजनीकान्त शास्त्री के मत से, तुलसीदासजी के व्यक्तित्व से इस उक्ति का विशेष लगाव नहीं, यह तो साधारण उक्ति है जो सभी जीवों के लिये न्यूनाधिक रूप में लागू होती है। किन्तु विवाह के सम्बन्ध में अन्य और भी वचन हैं :—

सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु आप,
माय-बाप तुही साँचो तुलसी कहत।
मेरी तो थोरी है, सुधरेगी बिगरियो,
बलि, राम, रावरी सौं रही रावरी चहत ॥ विनय० २५६॥

अर्थात् मेरे न तो कोई मित्र है, न सच्चा सेवक है, न सुलक्षणा स्त्री है और न कोई नाथ है। मेरे तो माँ बाप आप ही हैं, तुलसी यह सच्ची बात कह रहा है। मेरी तो थोड़ी सी बात है, बिगड़ी होने पर भी सुधर जायगी, किन्तु बलिहारी, मैं आपकी शपथ खाकर कह रहा हूँ, मैं तो आपकी बात ही रखना चाहता हूँ। इस उक्ति में पत्नी की ओर कटाक्ष प्रतीत होता है। गोस्वामी जी की पत्नी तो थी किन्तु वह उसे सुतिय न समझते हों क्योंकि उसी के कारण वे खिन्न हो कर घर से निकल पड़े थे। 'विनय पत्रिका' का एक और भजन है जो इस बात की पुष्टि करता है कि गोस्वामी जी का विवाह हुआ था, वह यह है—

लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुने चाय।
जोबन-जुर जुबती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय ॥
मध्य वयस धन हेतु गंवाई, कृषी बनिज नाना उपाय।
राम बिमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ, निसिवासर तयो तिहूँ ताय ॥८३॥

अर्थात्—लड़कपन तो अज्ञान में बीत गया। उस समय चित्त में चौगुनी चंचलता और उमंग थी। जब युवावस्था रूपी ज्वर चढ़ा तो स्त्री-सेवन-रूपी कुपथ्य और काम रूपी वायु से भारी त्रिदोष हो गया। बीच की अवस्था धन के लिए, खेती, वाणिज्य-व्यापार आदि विविध उपायों में बितायी। पर मैंने रामजी से विमुख होने के कारण सपने में भी सुख नहीं पाया और मैं रात दिन तीनों तापों से तपता रहा।

तुलसी-विवाह के सम्बन्ध में 'हनुमान बाहुक' का निम्नलिखित साक्ष्य प्रबलतम प्रतीत होता है—

बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो,
राम नाम लेत मांगि खात टूक टाक हौं।
पर्‌यो लोक रीति में पुनीत प्रीति रामराय,
मोहबस बैठो तोरि तरकि तराक हौं ॥

खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाई भयो भोंडे दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ॥४०॥

अर्थात्—हे हनुमान् जी, मैं बाल्यावस्था से ही सीधे मन से भगवान् राम के सम्मुख हुआ, राम नाम उच्चारण करता हुआ जो कुछ टुकड़ा मांगने से मिलता उसे खा लेता। (पर इस प्रकार) राजा राम के प्रेम से पवित्र होकर भी मैं लोकरीति में पड़ गया अर्थात् मैंने विवाह कर लिया, किन्तु अज्ञानवश उस वैवाहिक सम्बन्ध को जल्दबाज़ी में तोड़ बैठा। (तत्पश्चात्) मैंने खोटे खोटे आचरण किये किन्तु आपने मुझे फिर भी अपना लिया और भगवान् राम के पवित्र हाथों से मेरा सुधार करवाया। पिछले अभद्र दिन भूलकर मैं तुलसीदास गोस्वामी बन गया जिसका फल, अन्त में आज, भले प्रकार पा रहा हूँ। इस उक्ति में 'लोक रीति' विवाह का द्योतक है। जनश्रुति है कि गोस्वामी जी की पत्नी ने उन्हें इस प्रकार डांटा था[१]—

लाज न आवत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चर्म मय देह मम, तामे जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महुँ, होति न तौ भव भीति॥
प्राण प्राण के जीव के, जिय सुख के सुख राम।
तुम तजि तात सोहात गृह, जिनहिं तिनहिं विधिवाम॥

और 'दोहावली' में भी पत्नी का वचन दर्ज है :—

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग
कै खरिया मोहि मेलिकै विमल विवेक विराग ॥२५५

ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त फटकार से तुलसी को मार्मिक दुःख तो हुआ होगा, जैसा कि 'तुलसी सतसई' के इन शब्दों से ध्वनित है :—

को दुखदा ? कटु बाम। तु० स० ३, ५९
विपति तजे का ? धाम। तु० स० ३, ६२

किन्तु विरक्ति तुरन्त न हुई हो, और गोस्वामी जी के बारे में जो यह बात प्रचलित है कि उनके तीन विवाह हुए, वह कदाचित् ठीक हो। उक्त उद्धरण में गोस्वामी जी ने 'पाक' शब्द फ़ारसी से लिया है और इसी उद्धरण में 'तराक' शब्द का अर्थ भले ही अरबी का 'तलाक' न हो, किन्तु उसकी ध्वनि अवश्य निकलती है।

'खोटे खोटे आचरन' से गोस्वामी जी का क्या तात्पर्य है? वह कदाचित् 'विनय पत्रिका' के निम्न-लिखित भजन में सन्निहित है:—

नयन मलिन पर नारि निरखि, मन मलिन विषय संग लागे।
हृदय मलिन बासना मान-मद, जीवन सहज सुख त्यागे॥
पर निंदा सुनि श्रवन मलिन में, वचन दोष पर गाये॥
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराये॥८२॥

---

१ रामचरित मानस की भूमिका : तुलसी चरित्र चन्द्रिका, पृष्ठ १०। रामदास गौड़।

अर्थात्—पराई स्त्री को देखने से नेत्र मलिन हो गये। विषयों में फँसने से मन मलिन हो गया। वासना, मान और मद से हृदय मलिन हो गया और जीव अपने स्वाभाविक सुख को त्यागने से मलिन हो गया। पराई निन्दा सुनते-सुनते कान मैले हो गये। दूसरों के दोष बार-बार कहने से वाणी मैली हो गयी। स्वामी के चरणों को भूल जाने से ये सब प्रकार के मलभार मेरे पीछे लगे फिरते हैं। जो हो, गोस्वामी जी को संसार की कटुता और विषमता का अनुभव हुआ और तज्जन्य ज्ञान का उदय भी। कदाचित् इसी कारण, 'दोहावली' में उन्होने मानवजीवन के लिये मध्यम मार्ग को ही प्रशस्त समझा। वे कहते हैं—

घर छोड़े घर जात है घर राखे घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेम पुर छाय ॥२५६॥

अर्थात्—तुलसीदास जी कहते हैं कि घर छोड़ने से यहाँ का घर नष्ट होता है और घर करने से अपना असली घर (परलोक) नष्ट हो जाता है। अतएव तू घर और वन के बीच में ही श्रीराम जी के प्रेम की पुरी बसा। यही भाव तुलसी सतसई (४,७५; ६,३६) में भी है।

विरक्ति—विरक्ति के प्रारम्भ काल में, गोस्वामी जी के विषय में लोगों की परस्पर विरुद्ध धारणाएँ थीं:—

कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो
कोऊ कहै राम को गुलामु खरो खूब है।
साधु जानैं महासाधु खल जानैं महाखल
बानी झूँठी-साँची कोटि उठत हबूब है॥
चहत न काहू सों न कहत काहू की कछू,
सब की सहत, उर अंतर न ऊब है।
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति-भूमि मेरी मति दूब है॥ क० १०८

मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोकु परलोकु रघुनाथ के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को॥
अति ही अयाने उपखानो नहि बूझैं लोग,
साह ही को गोत गोतु होत है गुलाम को।
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोचु कहा,
का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं राम को॥ क० १०७

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लैबे को एकु न दैबे को दोऊ॥

क० १०६

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी जाति-पाँति, विषय-भोग, मान-मर्यादा आदि सांसारिक प्रलोभनों से उपरत हो गये थे।

चित्रकूट-निवास—गोस्वामीजी ने कम से कम छः मास तक चित्रकूट पर निवास किया था, और कदाचित् उन्होंने चित्रकूट की यात्रा एक से अधिक बार की थी—

पय नहाइ फल खाइ जपु राम नाम षट मास
सगुन सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास।। रामाज्ञा ७
सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु प्रवेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत।।
चहुं दिसि बन संपन्न बिहंग मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देसपुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत।।
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंगमगे सृंगनि।
मनहुं आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृंगनि।।
सिखर परसि घन घटहि मिलत बगपांति सो छवि कवि बरनी।
आदि बराह बिहारि बारिधि मानो उठो है दसन धरि धरनी।।
जल जुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग।
मानहुं जग रचना विचित्र बिलसति बिराट अँग अंग।।
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानो राम भगति के पाछे।।

गीता० २, ५०

अयोध्या—गोस्वामीजी ने अयोध्यापुरी के दर्शन किये थे, वहीं से 'रामचरित मानस' का प्रकाशन भी किया था जैसा कि 'रामचरित मानस' की निम्नलिखित चौपाई से स्पष्ट है :—

अवधपुरी यह चरित प्रकासा।। रा० १, ५४-३

प्रयाग—गोस्वामीजी ने तीर्थराज प्रयाग के भी दर्शन किये थे; और उन्होंने 'कवितावली' में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है :—

देव कहैं अपनी-अपना, अवलोकन तीरथ राजु चलो रे।
देखि मिटैं अपराध अगाध, निमज्जत साधु-समाजु भलो रे।।
सोहै सितासित को मिलिबो, तुलसी हुलसै हिय हेरि हलोरे।
मानो हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे।।१४४।।

सीतामढ़ी—प्रयाग और काशी के बीच में सीतामढ़ी स्थित है। इसका वणन इस प्रकार किया है :—

जहाँ बालमीकि भए व्याध तें मुनिंद्रु साधु,
मरा मरा जपें सिख सुनि रिषि सात की।
सीय को निवास, लव-कुस को जनमथल,
तुलसी छुअत छांह ताप गरैं गात की।।

बिटप महीप सुरसरित समीप सोहै,
सीताबटु पेखत पुनीत होत पातकी।
बारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि,
अंकित जो जानकी-चरन-जलजात की ॥ क ७, १३८

काशीवास—गोस्वामीजी के जीवन का बहुत सा समय काशी में व्यतीत हुआ। भगवान् राम के अनन्य भक्त होते हुए भी उन्हें शंकर भगवान् में अत्यन्त आस्था और जन्मभूमि-तट-वाहिनी गंगाजी के प्रति असीम श्रद्धा थी। काशी में मरने का माहात्म्य भी है, अतः गोस्वामीजी ने अपना मुख्य निवास-स्थान काशी ही रखा। उन्होंने काशी माहात्म्य का 'विनय पत्रिका' में और अन्नपूर्णा देवी का वर्णन 'कवितावली' में इस प्रकार किया है :—

सेइय सहित सनेह देह भरि, काम धेनु कलि कासी
समनि सोक-संताप-पाप-रुज सकल-सुमंगल रासी॥
मरजादा चहुं ओर चरनबर सेवत सुर पुर बासी
तीरथ सब सुभ अंग रोम सिवलिंग अमित अविनासी
अन्तर ऐन ऐन भल, थन फल, बच्छ बेद बिस्वासी
गल कंबल बरुना बिभाति जनु लूम लसति सरिता सी
दंडपानि भैरव बिषान, मल रुचि-खलगन-भयदा-सी
लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा-सी
मनिकर्निका बदन-ससि सुन्दर, सुरसरि-सुख सुषमासी
स्वारथ परमारथ परिपूरन, पंचकोसि महिमा सी
बिस्वनाथ पालक कृपालुचित, लालति नित गिरिजा सी
सिद्धि सची, सारद पूजहिं मन जोगवति रहति रमा सी
पंचाच्छरी प्रान, मुद माधव, गव्य सुपंचनदा सी
ब्रह्मजीव-सम रामनाम जुग, आखर बिस्व-बिकासी
चारितु चरति करम कुकरम करि मरत जीव गन घासी
लहत परम पद पय पावन जेहि चहत प्रपंच-उदासी
कहत पुरान रची केसव निज कर-करतूति कला-सी
तुलसी बसि हरपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी ॥२२॥

'रामचरित मानस' में भी काशी मोक्ष-दात्री है, अतएव उसका बड़ा माहात्म्य है :

मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानिकर
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइय कस न॥ रा० ४, १[1]

अतएव गोस्वामीजी भी वहाँ आकर मरने के लिए रहने लगे थे :—

---

१. काशी-माहात्म्य
छमा विमल वारानसी सुर-अपगा सम भक्ति।
ग्यान विसेसर अति विसद लसत दयासद सक्ति॥ तु० स० ४, ६१

चेरो रामराय को सुजस सुनि तेरो हर
पायँ तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं ॥ क० ७, १६६
जीबे की न लालसा दयालु महादेव मोहि
मालुम है तोहि मरबेइ को रहत हौं ॥ क० ७, १६७

काशी में असी के दक्षिण में लोलार्क और गंगाजी के बीच उनकी कुटी थी :

रवि चंचल अरु ब्रह्मद्रव बीच सुवास विचारि ।
तुलसिदास आसन करे । तु० स० ३, ५१

मित्र—रामाज्ञा प्रश्न के निम्नलिखित दोहे में किन्हीं गंगारामजी का उल्लेख किया गया है जो जनश्रुति के अनुसार काशी में प्रह्लाद घाट के निवासी और गोस्वामीजी के मित्र थे—

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम
सब प्रसन्न सुर भूमि सुर गोगन गंगाराम ॥१-७-७॥

विरोध—ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी का पांडित्य और यश कुछ लोगों को असह्य प्रतीत हुआ, अतएव वे लोग गोस्वामीजी की जाति, कुल, विवाह, चरित्र आदि के सम्बन्ध में दोषारोपण करते थे जो कालान्तर में स्वयं नष्ट हो गया। इस प्रकरण से सम्बन्ध रखने वाले 'दोहावली' से कुछ उद्धरण ये हैं :—

पुन्य पाप जस अजस के भावी भाजन भूरि।
संकट तुलसीदास को राम करिहिंगे दूरि ॥१४६॥
भली कहैं बिनु जानेंई बिनु जाने अपवाद ।
ते नर गादुर जानि जिय करिय न हरष बिषाद ॥३८७॥
पर सुख सम्पति देखि सुनि जरहिं जे जड़ बिनु आगि ।
तुलसी तिनके भागतें चलै भलाई भागि ॥३८८॥
तुलसी जे कीरति चहैं पर कीरति को खोय।
तिनके मुँह मसि लागि है मिटिहि न मरि हैं धोय ॥३८९॥
मांगि मधुकरी खात जे सोवत पांव पसारि ।
पाप प्रतिष्ठा बढ़ि परी ताते बाढ़ी रारि ॥४९४॥
रामायण अनुहरत सिख जग भो भारत रीति ।
तुलसी सठ की को सुनै कलि कुचालि पर प्रीति ॥ दोहा० ५४५॥

और भी :—

कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो ॥क० ७, १०८॥
धूत कहौ, अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ ॥क० ७, १०६
लोग कहैं पोच सो न सोच न संकोच मेरे ॥ विनय० ७६
पातक पीन कुदारिद दीन, मलीन धरे कथरी करवा है
लोक कहे विधिहू न लिख्यौ, सपनेहुँ नहीं अपने बर बाहै ॥क० ७, ५६
एते पर हूँ जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै
ताको जोर देव दीन द्वारें गुदरत हौं

पाइकै उराहनो उराहनो न दीजो मोहि
काल कला कासीनाथ कहैं निबरत हौं ॥ क० ७, १६५
गांव बसत बामदेव मैं कबहुँ न निहोरे
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे
तुलसी दलि रूंध्यो चहैं सठ राखि सिहोरे ॥ विनय० ८
जोइ जोइ कूप खनैंगो पर कहँ, सो सठ फिरि तेहि कूप परै
सपनेहुं सुख न संत द्रोही कहँ, सुरतरु सोउ विष फरनि फरै ॥
हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जनकी सींव चरै ॥ वि० १३७

पद और उपाधि—तीव्र विरोध के होते हुए भी गोस्वामीजी की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। विद्वान् तो थे ही, वे निर्भीक भी थे जैसा कि उन्होंने लिखा है :

तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै ॥विनय० १३७,६॥

सोरों में गुरु नृसिंह से विद्याध्ययन कर इन्होंने असीम विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी। मुरलीधर चतुर्वेद ने गोस्वामीजी के लिए लिखा है कि वे थे—

गौर वरन विद्या निधान। विविध शास्त्र पंडित महान ॥र० च० ६६
भक्तन् घर वांचहि पुरान। तुलसी लहिं धन अरु मान ॥र० च० ६०

विनय-पत्रिका में पंडित-पद-प्राप्ति का उल्लेख इस प्रकार है :—

जो पाइ पंडित परम पद, पावत पुरारि-मुरारि को ।वि० १३५॥

अर्थात् मैं 'पंडित' का परम पद-प्राप्त कर भगवान् शिव और विष्णु को प्राप्त हुआ।

तुलसीदासजी को 'गोस्वामी' की उपाधि प्राप्त हो गयी, वह कदाचित्, जैसा कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त समझते हैं, लोलार्क कुण्ड पर तुलसीदास-मठ के अधीश बनने के कारण। गुप्त जी का आधार है न्याय-सिद्धान्त-मंजरी की पुष्पिका जो इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में है। किन्तु गोस्वामीजी ने मठाधीश होने पर जो आचरण रखा उस पर स्यात् उन्हें पश्चात्ताप हुआ जैसा कि 'बाहुक' के निम्नलिखित उद्धरण से प्रतीत होता है :—

खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार सोध्यो रामपानि पाक हौं।
तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ॥४०॥
असन बसन हीन विषम बिषाद लीन
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को।
तुलसी अनाथ सो सनाथ रघुनाथ कियो
दियो फल सीलसिंधु आपने सुभाय को ॥
नीच एहि बीच पति पाइ भरुहाइगो
बिहाइ प्रभु-भजन वचन मन काय को
तात तनु पेषियत घोर बरतोर मिस
फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को ॥४१॥

गोस्वामीजी को सब से श्रेष्ठ जो उपाधि मिली वह नाभादास जैसे समकालीन सन्तों की वाणी में प्रस्फुटित है :—

त्रेता काव्य निबन्ध करी सत कोटि रमायन
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्म इत्यादि परायन
पुनि भक्तन सुख देन बहुरि लीला विस्तारी
रामचरन रस मत्त रहत अहनिसि व्रत धारी
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लिए
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भए ।।

भक्तमाल, छप्पय १२६

गोस्वामीजी के विषय में श्री मधुसूदन सरस्वती की सम्मति थी :—

आनन्द कानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसीतरुः
कवितामंजरी भाति रामभ्रमरभूषिता ।।

कदाचित् गोस्वामीजी को अपने विषय में ऐसी लोक-धारणा का ज्ञान था, तभी तो उन्होंने कवितावली के उत्तर काण्ड में लिखा :—

रामनाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रतापु
तुलसी-सो जग मानियत महामुनी-सो ।।

उन्हें राज-सम्मान भी प्राप्त था :

घर घर मांगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय । दो० १०६

काशी में दारिद्रय और महामारी—गोस्वामीजी ने कवितावली में काशी की दरिद्रता और महामारी का उल्लेख किया है । इस महामारी का क्या रूप था, यह विषूचिका थी या ताउन, इसका कोई निर्णायक उल्लेख नहीं । लोग दरिद्र और दुखी थे इसका कारण उनका चारित्र्य-दोष था, अतएव भगवान् राम और भगवान् शंकर काशी-वासियों की विकलता से उदासीन रहे । किन्तु महामना गोस्वामीजी ने द्रवित होकर जानकीजी और पार्वतीजी तथा हनुमानजी से उनका दुःख निवारण करने के लिए इस प्रकार प्रार्थना की :—

निपट बसेरे अघ-औगुन घनेरे नर-
नारिऊ अनेरे जगदंब चेरी-चेर हैं ।
दारिद-दुखारी देखि भूसुर भिखारी भीरु
लोभ मोह काम कोह कलिमल घेरे हैं ।
लोक रीति राखी राम, साखी बामदेव जानि
जनकी बिनति मानि मातु कहि मेरे हैं
महामारी महेसानि महिमा की खानि
मोद-मंगल की रासि, दास कासीवासी तेरे हैं ।।क० १७४।।
लोगनि के पाप कैधौं, सिद्ध-सुर-साप कैधौं,
काल के प्रताप कासी तिहूँ ताप तई है
ऊँचे, नीचे, बीच के, धनिक, रंक, राजा, राय
हठनि बजाइ करि डीठि पीठि दई है

देवता निहोरे, महामारिन्ह सों कर जोरे,
भोरानाथ जानि भोरे आपनी-सी ठई है
करुनानिधान हनुमान बीर बलवान
जसरासि जहाँ तहाँ तैं हीं लूटि लई है ।।क० १७५।।

रचत बिरंचि, हरि पालत, हरत हर,
तेरे हीं प्रसाद जग, अग-जग-पालिके ।
तोहि में बिकास बिस्व, तोहि में बिलास सब,
तोहि में समात, मातु भूमिधरबलि के ।।
दीजै अवलंब, जगदंब न बिलंब कीजै,
करुना तरंगिनी कृपा-तरंग-मालिके ।
रोष महामारी परितोष महतारी दुनी
देखिये दुखारी, मुनि-मानस-मरालिके ।।१७३।।

संकर-सहर सर, नर नारि बारिचर
विकल सकल, महामारी माँजा भई है ।।
उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भभरि भगात जल-थल मीचु भई है ।।
देव न दयाल, महिपाल न कृपाल चित,
वारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है ।
पाहि रघुराज पाहि कपिराज रामदूत
राम हू की बिगरी तुहीं सुधारि लई है ।।क० १७६।।

डा० माताप्रसाद गुप्त के विचार से उक्त महामारी ताउन ही थी, जो कवि के जीवन के अन्तिम वर्षों में काशी में संवत् १६७३ और संवत् १६८० के बीच किसी समय आयी होगी। ईलियट की 'ए हिस्ट्री आव इण्डिया', वेणीप्रसाद की हिस्ट्री आव जहाँगीर (पृ० २६१-२६५, १६३०) विसेंट स्मिथ का अकबर, (पृष्ठ ३६८) तथा जहाँगीरनामा (मुं० देवीप्रसाद का अनुवाद, पृष्ठ २२८, ३१३) के अनुसार, भारत में प्लेग सबसे पहली बार संवत् १६६ में आयी थी। विजयानन्द त्रिपाठीजी इस बात में विश्वास नहीं करते कि गोस्वामीजी को प्लेग हो गयी थी, क्योंकि उनकी मृत्यु सं० १६८० में हुई थी। त्रिपाठीजी का तर्क है कि बाहु-पीड़ा से प्लेग का और बरतोर का प्लेग की गिल्टी से तात्पर्य नहीं; यदि प्लेग से गोस्वामीजी का देहावसान हो गया होता तो 'हनुमान् बाहुक' का अनुष्ठान रोग की निवृत्ति के लिए कदापि नहीं किया जाता[1], और भगवान् राम और हनुमानजी की कृपा से उसका अन्त भी हो गया था :—

आस्रम बरन कलि बिबस बिकल भय
निजनिज मरजाद मोटरी सी डार दी ।
संकर सरोष महामारी ही तें जानियत
साहिब सरोष दुनी दिन दिन दार दी ।

---

१. श्री गोस्वामी तुलसीदासजी की स्वकथित जीवनी, श्री रामायणांक, कल्याण, १६३० ई०

नारि नर आरत पुकारत सुनै न कोऊ
काहू देवतनि मिलि मोटी मूठि मारि दी।
तुलसी सभीत सुमिरे कृपालु राम
समय सुकरुना सराहि सनकार दी ॥ क, १८३ ॥

रुग्णावस्था और समय—'दोहावली', 'कवितावली' और 'विनय पत्रिका' के कुछ छन्दों में गोस्वामीजी ने अपने रोग की शान्ति के लिए प्रार्थना की है। 'दोहावली' और 'बाहुक' से यह विदित होता है कि वे बाहु-पीड़ा से पीड़ित थे। बाहु-वेदना पहले एक बाहु में प्रारम्भ हुई थी फिर समग्र शरीर में व्याप्त हो गयी। वेदना के कारण-स्वरूप गोस्वामीजी ने वात का, वृद्धावस्था का, कलिकाल का, एवं भूत-प्रेत-बाधा का निम्नलिखित उल्लेख किया है। राम की कृपा से वह पीड़ा शान्त हो गयी थी :—

रोग निकर तनु जरठ पनु तुलसी संग कुलोग।
राम कृपा लै पालिए दीन पालिबे जोग ॥ दो० १७८

अधिभूत बेदन बिषम होत, भूतनाथ
तुलसी बिकल, पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिये तौ अनायास कासीबास खास फल,
ज्याइये तौ कृपाकरि निरुजसरीर हौं ॥ क० ७, १६६

रोग भयो भूत-सो, कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ, पाहि पदपंकज गहतु हौं।
ज्याइये तौ जानकीरमन-जन जानि जियं
मारिये तौ मागी मीचु सूधियै कहतु हौं ॥ क० ७, १६९

आधि-मगन-मन, व्याधि-बिकल-तन, बचन मलीन झुठाई
एतेहुँ पर तुमसों तुलसी की प्रभु सकल सनेह सगाई ॥ वि० १९५,४

तुलसी तनु सर सुख जलज भुज रुज गज बर जोर।
दलत दयानिधि देखिए कपि केसरी किसोर ॥ दो० २३४

भुज तरु कोटर रोग अहि बर बस कियो प्रवेस
बिहगराज बाहन तुरत काढिअ मिटै कलेस ॥ दो० २३५

बाहु बिटप सुख बिहंग थलु लगी कुपीर कुआगि
राम कृपा जल सींचिए बेगि दीन हित लागि ॥ दो० २३६

अपराधी जानि कीजै सासति सहस भाँति,
मोदक मरै जो, ताहि माहुर न मारिये।
साहसी समीर के दुलारे रघुबीर जू के,
बाँह पीर महाबीर बेगि ही निवारिये ॥ ह० बा० २०

आपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें,
बढी है बांह बेदन कही न सहि जाति है।
औषध अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किये,
बादि भये देवता मनाये अधिकाति है ॥ ह० बा० ३०

भाल की कि काल की कि रोष की त्रिदोष की है,
बेदन बिषम पाप ताप छल छांह की ।
करमन कूट की कि जंत्र मंत्र बूट की,
पराहि जाहि पापिनी मलीन मनमांह की ।।
पैहहि सजाय, नत कहत बजाय तोहि,
बावरी न होहि बानि जानि कपिनांह की ।
आन हनुमान की दोहाई बलवान की,
सपथ महाबीर को जो रहै पीर बांह की ।।२६।।
काल की करालता करम कठिनाई कीधौं
पाप के प्रभाव की सुभाय बाय बावरे
बेदन कुभांति सो सही न जाति राति दिन,
सोई बांह गही जो गही समीर डावरे ।। ह० बा० ३७
पांय पीर पेट पीर बाँह पीर मुँह पीर,
जरजर सकल सरीर पीर भई है ।
देव भूत पितर करम खल काल ग्रह,
मोहि पर दवरि दमानक सी दई है ।। ह० बा० ३८
बाहुक सुबाहु नीच लीचर मरीच मिलि,
मुँह पीर केतु जा कुरोग जातुधान है ।
राम नाम जप जाग कियो चहों सानुराग
काल कैसे दूत भूत कहा मेरे मान हैं ।। ह० बा० ३६

रुद्रबीसी, मीनकी सनीचरी, काशी की दीनता—मीन की सनीचरी और रुद्र बीसी में कलि के उत्पात बढ़ गये थे, जैसा कि 'कवितावली' और 'दोहावली' से विदित है :—

एक तो कराल कलिकाल सूल मूल तामें
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की
वेद धर्म दूरि गएभूमि चोर भूप भए
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की ।
दूबरे को दूसरो न द्वार राम दयाधाम
रावरीऐ गति बल बिभव बिहीन की
लागैगी पै लाज वा विराजमान बिरुदहि
महाराज आजु जौं न देत दादि दीन की ।। क० ७, १७७
ठाकुर महेस ठकुराइनि उमासी जहाँ
लोक वेद हूँ बिदित महिमा ठहर की
भट रुद्रगन पूत गनपति सेनापति
कलिकाल की कुचाल काहू तो न हर की
बीसी बिस्वनाथ की बिसाद बड़ो बारानसी
बूझिये न ऐसी गति संकर-सहर की

कैसे कहै तुलसी वृषासुर के बरदानि
बानि जानि सुधातजि पीवनि जहर की ॥ क० ७, १७०
अपनी बीसी आपुहो पुरिहिं लगाए हाथ ।
केहि विधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ ॥ दो० २४०

श्री स्वामी कन्नूपिलाई के अनुसार, जैसा कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं, इस रुद्रविंशति का समय १६२३ संवत् से १६४२ संवत् है, किन्तु म० म० सुधाकर द्विवेदी की गणना के आधार पर सर ग्रियर्सन के मतानुसार संवत् १६५५ से संवत् १६७५ तक, और मिश्रबन्धुओं के अनुसार संवत् १६६५ से १६८५ संवत् तक है। तथा च सुधाकर द्विवेदीजी के अनुसार मीन राशि में शनि का प्रवेश प्रथमवार चैत्र शुक्ला ५ संवत् १६४० को अथवा उसके लगभग हुआ और संवत् १६४२ के ज्येष्ठ तक उसकी स्थिति रही, तथा द्वितीय वार उसका प्रवेश चैत्र शुक्ल द्वितीया संवत् १६६९ को हुआ और स्थिति १६७१ संवत् के ज्येष्ठ तक रही। डॉ० गुप्त ने मीन की सनीचरी के विषय में सुधाकर जी की गणना ठीक समझी है और रुद्रबीसी के सम्बन्ध में पिलाई जी की गणना को अधिक विश्वस्त समझा है।[1] गोस्वामीजी के लेखानुसार रुद्रबीसी में मीन की सनीचरी थी, क्योंकि कवितावली के उत्तर काण्ड के १७० वें छंद में रुद्रबीसी का उल्लेख है और १७७ वें में मीन की सनीचरी का, जो 'कोढ़ में की खाजसी' थी। स्पष्ट है कि रुद्रबीसी में मीन की सनीचरी पड़ी थी, और दोनों ही संवत् १६४२ में समाप्त हुई। अतएव सम्राट् अकबर के राज्यकाल में गोसाई जी के संकट का और काशी की हीनता का समय १६२३ से १६४२ वि० तक रहा, इस सकटकाल में विषूचिका महामारी से काशी नगरी संतप्त रही और गोस्वामीजी को व्यक्तिगत रोग और लांछन लगे, पर संवत् १६४३ से गोस्वामीजी की प्रतिष्ठा स्थापित हो गयी होगी, ऐसी मेरी विनम्र धारणा है। सोरों-सामग्री के अनुसार कृष्णदासजी अपने ताऊ गो० तुलसीदास से मिले थे और उन्होंने अपने भतीजे को 'रामचरितमानस' की एक प्रति १६४३ वि० में प्रदान की थी। स्यात् कोई उत्सव रहा हो, जिसके उपलक्ष में कृष्णदासजी को आमन्त्रित किया गया हो।

आगामी कतिपय पृष्ठों में गोस्वामीजी के उन कूट वचनों की चर्चा होगी जो उन्होंने अपने विषय में लिखे हैं।

(ख) कूट और गूढार्थ

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने विषय में निम्न लिखित कूट और गूढार्थ वचनों का भी प्रयोग किया है :—

वंश परिचय—

रामसनेही सों तैं न सनेह कियो
अगम जो अमरनि हुं सौ तन तोहि दियो।
दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।

---

१. तुलसीदास, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १८४, १८६।

जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि मुरारि को
यह भरत खण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहत विष फल फली ॥१३५॥

इस उद्धरण की द्वितीय पंक्ति में गोस्वामीजी ने अपने पिता 'आत्माराम' और माता 'हुलासो' का उल्लेख कैसी गूढ रीति से किया है। यदि 'अगम जो अमरनि' इन शब्दों का सीधा अर्थ ऐसा किया जाय कि 'जो अमरों के लिए अगम्य है' और इसे 'तन' का विशेषण माना जाय तो भाव स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि तन तो नाशवान् होता है, वह न अमर है और न अगम्य है। यदि यह अर्थ किया जाय कि 'देवताओं के लिए भी जो अज्ञेय है उसने तन दिया', तो आपत्ति होगी कि निर्गुण अथवा सगुण ब्रह्म ने तन दिया। किन्तु तन देने का कार्य तो ब्रह्म नहीं करते, मनुष्य अपने कर्म से देह पाता है, जैसा मनुस्मृति का वचन है—

यो यदेषां गुणोदेहे साकल्येनातिरिच्यते
स तदा तद् गुण प्रायं तं करोति शरीरिणम्।

उक्त कूट का अर्थ क्या होना चाहिए? अगम का अर्थ है परब्रह्म अर्थात् तुलसीदासजी के राम। गीता कहती है: 'मां तु वेद न कश्चन'। और 'अमरनि' का अर्थ है 'जो न मरे' अर्थात् 'आत्मा'। गीता कहती है: न जायते म्रियते वा कदाचित्। दोनों शब्दों का अर्थ हुआ: राम आत्मा, अथवा 'आत्मा राम'।

तत्पश्चात् कूट में 'हु—सो' की विद्यमानता है जिसमें मध्याक्षर का अत्यय हो गया है। पूर्ण शब्द था 'हुलासो'। मुरलीधर चतुर्वेद ने 'रत्नावलीचरित' में तुलसीदासजी की माता का नाम हुलासो ही लिखा है, यद्यपि तुलसीदासजी और कवि रहीम ने हुलसी रूप को ग्रहण किया है। माता-पिता के नामों के पश्चात् 'सुकुल' आस्पद का उल्लेख है। क्या तुलसीदासजी अपने शरीर को सुन्दर कह कर आत्मश्लाघा कर सकते थे? नहीं। अतएव कुछ विद्वान् 'सुन्दर' से अभिप्राय ग्रहण करते हैं (सन अर्थात् तपस्या से आढ्य=) सनाढ्य जाति का। फिर कहा गया है: थल भलो। इसमें 'थल' का अर्थ है क्षेत्र, 'भ' द्योतक है भूधर का और ल है अपने उच्चारण स्थान दन्त का। 'भ लो' दोनों मिल कर भगवान् वराह के द्योतक हैं जिन्होंने पृथ्वी को दन्त पर धारण किया था। इस प्रकार युक्ति-पूर्वक गोस्वामीजी ने माता-पिता 'हुलासो' और 'आत्माराम', 'सुकुल' आस्पद, 'सनाढ्य' जाति, और 'गंगा-तीरस्थ सूकरक्षेत्र' का उल्लेख कर दिया है। कूट का प्रस्तुत अर्थ सभी को ग्राह्य न हो, परन्तु सोरों में अनेक शास्त्रों के परम विद्वान् पंडित दशरथ शास्त्री और अलीगढ़ के पंडित रामचन्द्र शास्त्री ने इसी प्रकार अर्थ किया है। तुलसीदासजी ने स्वयं इस कूटार्थ-शैली का उपयोग 'तुलसी सतसई' के अनेक दोहों में किया है। निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होगा—

जनक-सुता दस-जान-सुत उरग-ईस अ-म-जौर
तुलसिदास दस पद परसि भव-सागर गो पौर ॥३, १॥

यहाँ जनक सुता=जानकी, दस जान सुत=राम, उरग ईस=लक्ष्मण, और अ=भरत और म=शत्रुघ्न हैं (देखिए दोहे २, ४२, २, ४४)। इस शैली से तुलसीसतसई के

निम्नलिखित दोहे में तुलसीदासजी के पिता 'आत्माराम'जी के दर्शन होते हैं :

जतन अनूपम जानु वर सकल कला गुन धाम।
अविनासी अव्यय अमल भो यह तनु धरि राम ॥५, १॥

इस दोहे को स्पष्ट करने के लिए विलक्षण उपकरण की आवश्यकता नहीं। पर उसका भाव "अनुपम यत्न-पूर्वक समझिये : मेरा यह शरीर 'आत्माराम' से उत्पन्न हुआ है। 'आत्मा' अमल अव्यय और अविनाशी तत्व है जिसके आधार हैं राम' जो सम्पूर्ण श्रेष्ठ कलाओं और गुणों के आगार हैं।" विशेष यत्न की अपेक्षा इस कारण रही कि एक तो यह अध्यात्म-चर्चा होने के कारण कठिन है, दूसरे तुलसीदासजी के पिता का नामोल्लेख कूट-द्वारा हुआ है।

हुलसी और तारी—मैंने कई बार पं० दशरथ शास्त्री के दर्शन किये और उन्होंने मेरा ध्यान 'रामचरितमानस' की कुछ पंक्तियों की ओर आकर्षित किया था। किन्तु उन दिनों मैं बाह्य साक्ष्य की ओर अधिक प्रवृत्त था और मैंने उनके वचनों पर विशेष ध्यान न दिया था। हुलसी और गुरु नरसिंह के विषय में तो सब जानते ही हैं। रत्नावली का भी उल्लेख तुलसीदासजी ने रूपान्तर से रामायण में कहीं किया बताया जो मुझे विस्मृत हो गया है। 'रामचरितमानस' की निम्नलिखित अर्द्धालियों में हुलसी और तारी का जो उल्लेख 'रामचरितमानस' में हुआ है उसका सम्बन्ध गोस्वामीजी की माता और उसके जन्म-स्थान से विस्तारपूर्वक बताया गया—

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी ॥
रा० १, ३० ख, १२

राम कथा सुन्दर कर तारी। संशय विहग उड़ावनि हारी ॥
रा० १, ११३, १

पंडित रामनरेश त्रिपाठी और श्री चन्द्रबली पांडे को 'हुलसी' का उक्त उल्लेख संगत प्रतीत नहीं होता। उनका तर्क है कि राम और तुलसी अर्थात् भगवान् विष्णु और वृन्दा का जो सम्बन्ध है वह तुलसीदास और हुलसी का होना चाहिए। सादृश्य के आधार पर हुलसी उनको तुलसीदास की माता नहीं लगती। श्री राम किंकर का उत्तर है कि राम-जानकी का जो सम्बन्ध है वह तुलसीदास के लिए पुत्र और माता का है।[1] उन्होंने सीताजी को माता माना है। रामपत्नी तुलसीदास की माता के तुल्य है, अतएव तुलसी और हुलसी का सम्बन्ध पुत्र और माता का ही हो सकता है। जगत्पिता और जगज्जननी का उल्लेख करते समय अपना और अपनी पत्नी का उल्लेख करना तो अभारतीय धृष्टता हो सकती थी, जो तुलसीदास जैसे विरक्त और कुशल कवि के लिए असम्भव था। तारी का विवेचन अन्यत्र किया गया है।

गुरु नरसिंह—गोस्वामीजी के गुरु नरसिंहजी थे। 'विनय पत्रिका' में इसका गूढ़ उल्लेख है :—

श्री हरि गुरुपद कमल भजहु मन तजि अभिमान
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान ॥२०३॥

---

१. हुलसी कौन ? तुलसी की माता अथवा पानी ? हिन्दुस्तान, १८ अप्रैल १९५४।

'तुलसी सतसई' में भी :

रसना-सुत पहिचान बिनु कहहु न कवन भुलान ।
जाने कोउ हरि गुरु क्रिपा उदित भये रवि ग्यान ।।४,७।।

इसी प्रकार 'रामचरित मानस' में भी—

राम-नाम नर केसरी कनक कसिपु कलि काल ।।१,२७।।
मसक समान रूप कपि धरी । लंकहि चलेउ सुमिरि नर हरी ।।५,३,१।।

गुरु-नाम का उल्लेख है । अन्तिम उदाहरण की ओर डॉ० गुलाबराय ने ध्यान आकर्षित किया है[1] । अतएव इन तीनों उद्धरणों से इस धारणा को पुष्टि मिलती है कि तुलसीदासजी के गुरु नरसिंहजी थे, जिनको वे स्पष्टतः पहले ही प्रणाम कर चुके थे—

बन्दे गुरु पद कंज । कृपा सिन्धु नर रूप हरि
महा मोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर ।।रा० १,५।।

भूदेवजी विद्यालंकार ने :[2]

वन्दों गुरु पदाब्जं यो नर रूपः स्वयं हरिः
यद् वाक्य सूर्योदयत स्तमो नश्यति साम्प्रतम् ।।

इस श्लोक को 'जाबालि संहिता' का बताकर इस अभिप्राय से उपस्थित किया है कि गोस्वामीजी का सोरठा इसी का अनुवाद है, अतएव नरसिंहजी को उनका गुरु मान लेना उचित नहीं । इस आपत्ति पर प्रथम अध्याय में विचार हो चुका है । इसके अतिरिक्त कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी ने जान-बूझकर जाबालि संहिता का वह वचन ग्रहण कर लिया, जिसके द्वारा न केवल गुरु-गरिमा की अपितु उनके नाम की भी अभिव्यक्ति होती थी । गोस्वामीजी ने अन्यत्र भी तो गुरुदेव के इस नाम का उल्लेख किया है जैसा कि अभी ऊपर बताया जा चुका है । बचपन में ही तुलसीदासजी उनकी शरण में आ गये थे और उन्होंने इनकी पीठ पर हाथ रखा था :

बूझ्यो ज्योंही, कह्यो, मैं हूं चेरो ह्वै हो रावरो जू
मेरो कोऊ कहूँ नाहिं चरन गहत हौं ।
मींजो गुरु पीठि, अपनाइ गहि, बोलि
सेवक सुखद, सदा बिरद बहत हों ।।वि० ७६,३।।

इन्हीं गुरु से गोस्वामीजी ने रामकथा सूकर-क्षेत्र में बार-बार बचपन में तब सुनी थी जब वे उसके माहात्म्य को पूर्णतया समझ नहीं पाते थे :

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउं अचेत ।।रा० १, ३०।।
तदपि कही गुर बारहिं बारा । समुझि परी कछु मति अनुसारा ।

माता का साथ—गोस्वामीजी का सम्पर्क माता-पिता से सवा वर्ष तक रहा अर्थात् दस मास गर्भ में और दस मास जन्म के पश्चात् । देहली-दीपक-न्याय से यह रहस्य विनय-पत्रिका में इस प्रकार स्पष्ट हो रहा है—

---

१. तुलसीदास एक विश्लेषण : तुलसीदास का जीवन वृत्त, पृष्ठ ५, पब्लिकेशंज डिवीजन दिल्ली, १९५६ ई० ।

२. सम्मेलन पत्रिका : नरहरि निरूपण, फाल्गुन-चैत्र-वैशाख, सं० २००१-२ ।

गर्भवास दस मास पालि पितुमातु रूप हित कीन्हों ।।१७२,२

'गर्भवास दस मास' और 'दस मास पालि' अर्थात् माता-पिता ने गर्भ में दस मास तक वास कराकर और जन्म के पश्चात् दस मास तक पालन-पोषण कर मुझे रूप प्रदान किया। पिछले दस मास का समर्थन अविनाशराय की इन पंक्तियों से होता है। हुलसी और आत्माराम की मृत्यु से पूर्व—

पाष सित इंदु सम बाल बढ़िवे लग्यो
मास दस वंस सिसु सब्द गढ़िबै पग्यो ।।३५।।

सनाढ्यत्व—तुलसीदासजी ने विनय-पत्रिका के १३५वें पद में अपना आस्पद 'सुकुल' तो स्पष्ट ही लिखा है और उसी में 'सुन्दर' के द्वारा अपने सनाढ्यत्व की ओर संकेत भी किया है। इसके अतिरिक्त वे अपने सनाढ्यत्व को युक्ति से बताते हुए भगवान् रामचन्द्र के प्रति कहते हैं—

बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि
देत सिख, सिखयो न मानत, मूढ़ता अस मोरि ।।वि० १५८।।

सनाढ्य ब्राह्मणों को अपने सनाढ्यत्व पर बड़ा गर्व है। कहते हैं कि दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी ने सनाढ्यों का पूजन कर, यज्ञान्त में ७०० ग्राम दान में दिये थे, जिसका उल्लेख गोस्वामीजी के समकालीन महाकवि केशव ने अपनी कविप्रिया में इस प्रकार किया है :

ब्रह्मा जू के चित्त तें प्रगट भये सनकादि
उपजे तिनके चित्त ते सब सनौढिया आदि ।।१।।
परशुराम भृगुनंद तब उत्तम विप्र विचारि
दये बहत्तर ग्राम तिन तिनके पायँ पखारि ।।२।।
जग पावन वैकुण्ठ पति रामचन्द्र यह नाम
मथुरा मण्डल में दिये तिन्हें सात सौ ग्राम ।।३।।'[1]

यह भी कहा जाता है कि उन ग्रामों के नामों पर सनाढ्यों की अल्लें चल रही हैं। पंडित रामचन्द्र शास्त्री इस विषय में सनाढ्य 'गौरवादर्श' और 'भविष्य पुराण' का भी उल्लेख करते हैं।[2]

गृहत्याग और यात्रा—पत्नी-गृहत्याग के समय तुलसीदासजी की विरक्ति और चित्रकूट-वास की आकांक्षा इस प्रकार व्यक्त है :

अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल मगु विलसत बढ़त मोह माया मलु ।।२४।।

'कोपित कलि' का इंगित क्रुद्धा पत्नी की ओर है जिसे वे कल्याण मार्ग से हटाने वाली और मोहमायामल को बढ़ाने वाली समझे थे। वे बदरिया से गंगाजी के किनारे-किनारे यात्रा में प्रवृत्त हुए :

---

१. कविप्रिया, दूसरा प्रभाव १-३, प्रकाशक लाला भगवानदीन, मुद्रक नेशनल प्रेस, बनारस कैंट १९८२ वि०।

२. तुलसी समाचार, पृष्ठ १६।

तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुवंस वीर
विचरत मति देहि मोह-महिष-कालिका ।।वि० १७।।

'मोह महिष कालिका' का प्रयोग कितना सार्थक है । वे गंगाजी के किनारे-किनारे घूमते-घूमते प्रयाग होते हुए सब-सोच-विमोचन चित्रकूट (वि० २३) पहुँचे थे ।

हनुमद्दर्शन—गोस्वामीजी सात्विक जीवन-व्यतीत करते थे । उनके हृदय में राम-दर्शन की कामना का उदय हुआ । कहते हैं, एक पेड़ पर से ध्वनि आयी कि राम के प्रति अनुराग बढ़ाओ—

समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ
तुलसिदास अनयास रामपद पाइ है प्रेम पसाउ ।।वि० १००।।

तुलसी ने पूछा : और ? उत्तर मिला : हनुमान्‌जी के द्वारा । फिर पूछा : पहचान ? उत्तर मिला : रामकथा सुनते समय जिसके प्रेमाश्रु बहने लगें और शरीर रोमांचित हो जायँ :

यत्र-यत्र रघुनाथ-कीर्त्तनं तत्र तत्र कृत मस्तकांजलिम्
वाष्पवारि-परिपूर्ण-लोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ।।

लोकश्रुति चलती है कि तुलसीदासजी ने एक दिन किसी व्यक्ति को रामकथा श्रवण करते समय अत्यन्त रोमांचित तथा प्रेमाश्रुयुक्त देखा, और उन्हें ऐसा लगा कि वे भगवान् रुद्र के अवतार हनुमान्‌जी हैं । अतएव उन्होंने हनुमान्‌जी की शरण चाही :

जयति रामायण श्रवण संजात रोमांच लोचन सजल शिथिल वाणी
राम पद पद्म मकरंद मधुकर पाहि दास तुलसी शरण शूल पाणी ।।वि० २६

गोस्वामीजी ने हनुमान्‌जी के चरण पकड़ लिये । हनुमान्‌जी ने पैर छुड़ाने चाहे, पर गोस्वामीजी की प्रपत्ति अटल रही :

आपसे कहुँ सौंपिये मोहि जा पै अतिहि घिनात
दास तुलसो और विधि क्यों चरन परिहरि जात ।।वि० २१७।।

हनुमान्‌जी अंततः प्रसन्न हुए, और तुलसी ने राम-दर्शन का वर माँगा—

कबहि देखाइहौ हरि चरन
समन सकल कलेस कलिमल सकल मंगल करन ।।वि० २१८।।

वर साधारण न था । हनुमान्‌जी ने टालना चाहा, पर तुलसीदास जी अड़ ही गये :

कृपा सिंधु सुजान रघुवर प्रनत आरति हरन
दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन ।। वि० २१८।।

और हनुमान्‌जी को उनकी प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ी ।

रामदर्शन—जनश्रुति है कि हनुमान्‌जी ने, चित्रकूट में रामघाट पर राम-दर्शन के समय, गोस्वामीजी को सचेत करने के निमित्त तोते का रूप धारण कर यह दोहा, मौनी अमावास्या को, १६०७ वि० में बोला था—

चित्रकूट के घाट पै भई संतन की भीर
तुलसिदास चंदन घिसें तिलक देत रघुवीर ।।[1]

---

[1]. रामचरित मानस, संक्षिप्त जीवनी, पृष्ठ २२, (पाठान्तर सहित), गीता प्रेस, २००८ ।

इससे स्पष्ट है कि रामचन्द्रजी ने अपने भक्त तुलसीदास के चन्दन लगाया था। उस समय तुलसीदासजी को पूज्य-पूजक का असमंजस और संकोचानन्द उत्पन्न हुआ। तुलसी तो सनाढ्य होने के कारण राम के पूज्य थे, और राम थे तुलसी के आराध्य देव। अतएव रामदर्शन के समय तुलसी को संकोच हुआ और आनन्द भी, इसी से उन्होंने कहा—

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।
काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि।
बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।
देत सिख, सिखयो न मानत, मूढता असि मोरि ।।वि० १५८।।

रामदर्शन पाकर तुलसी कृतज्ञ हुए और बोले—

जाके गति है हनुमान की।
ताकी पैंजि पूजि आई यह रेखा कुलिस पषान की ।। वि० ३०।।

अयोध्यागमन—लोग कहते हैं कि गोस्वामीजी १६३१ वि० के आरम्भ में अयोध्या पहुँच गये थे और वहाँ मन्दिर में भगवान् राम को साष्टांग प्रणाम कर उन्होंने यह प्रार्थना की—

नीलाम्बुज श्यामल कोमलांगं सीता समारोपित वाम भागम्।
पाणौ महा सायक चारु चापं नमामि रामं रघुवंश नाथम् ।। रा० २, ३

वे प्रयाग, सीतावट, दण्डकारण्य, कुरुक्षेत्र, चित्रकूट आदि अनेक नगर वन पर्वतों में पर्यटन कर चुके थे और अयोध्या देर से पहुँचे, अतएव उन्होंने क्षमा याचना भी की—

ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं कृपालु त्यों त्यों दूरि पर्यो हौं
तुम चहुँ जुग रस एक राम, हौं रावरो, जदपि अघ अवगुननि भर्यो हौं
बीच पाइ यहि नीच बीच ही छरनि छर्यो हौं
हौं सुवरन कुवरन कियो नृपतें भिखारि करि, सुमति तें कुमति कर्यो हौं
अगनित गिरि कानन फिर्यो, बिनु आगि जर्यो हौं
चित्रकूट गये हौं लखि कलि की कुचालि सब, अब अपडरनि डर्यो हौं
माथ नाइ नाथ सों कहौं, हाथ जोरि खर्यो हौं
चीन्हौं चोर जिय मारि है तुलसी सो कथा सुनि प्रभु से गुदरि निबर्यो हौं
।। वि० २६६।।

काशी-वास—तुलसीदासजी स्मार्त थे और शिवजी की भी पूजा करते थे, अतएव उन्होंने साम्प्रदायिक संकट उपस्थित होने पर काशी में विश्वनाथ शंकर की प्रार्थना जा की, क्योंकि

जिन कहँ विधि सुगति न लिखी भाल तिन की गति कासीपति कृपाल।
विज्ञानभवन गिरिसुता रमन कह तुलसिदास मम त्रास समन ।। वि० १३

अतएव अन्त समय तक काशी रहने का निश्चय भी किया—

सेइय सहित सनेह देह भरि काम धेनु कलि कासी ।। वि० २२।।

इस निश्चय के अनुसार उन्होंने अस्सी घाट पर एक गुफा में जप और निवास के लिए

प्रबन्ध किया। उनका दूसरा स्थान मुकुन्दरायजी के बाग के दक्षिण और पश्चिम के बीच के कोने में स्थित है जो तुलसीदासजी की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है। यह कोठरी केवल श्रावण शुक्ला सप्तमी को खुलती है। असी पर उन्होंने हनुमान्जी का जो मन्दिर बनवाया था उस पर सिद्ध बीसा यन्त्र उत्कीर्ण है। उन्होंने उससे थोड़ी दूर पर संकटमोचन हनुमान्जी का दूसरा मन्दिर बनवाया[1] और काशी में कुछ रचना भी की।

चोर-वार्त्ता—काशी में भी गोस्वामीजी को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न किया गया। कुछ लोगों ने 'रामचरित मानस' को चुरवाकर नष्ट कर देने का विचार किया। इस कुकृत्य के लिए, कहा जाता है, चोरों को पुरस्कार भी देने का वचन दिया गया था। पर जब रात्रि में चोर कुटी पर पहुँचे तो वहाँ उन्होंने धनुर्धारी पहरेदार को देखा। उसे देख चोर भाग गये और उन्होंने, तथा और लोगों ने भी, गोस्वामीजी से क्षमा-प्रार्थना की। इस घटना का उल्लेख गोस्वामी ने इस प्रकार किया है—

समाचार साथ के अनाथनाथ कासों कहौं
नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरु
निज काज सुरकाज आरत के काज, राज
बूझिये विलंब कहा कहूँ न गहरु ।। वि० २५०

बन्धन—इस घटना के कारण गोस्वामीजी की ख्याति बढ़ी। कोई उन्हें भक्त कहता, तो कोई योगी, कोई सिद्ध, तो कोई तान्त्रिक। यह समाचार जब कोतवाल[2] को विदित हुआ तो उसे भी चमत्कार देखने की अभिलाषा हुई, अतएव तुलसीदास जी को बुला भेजा गया। पर तुलसीदासजी ने नम्रतापूर्वक कहा कि 'मैं तो राम-राम जपता हूँ, मेरे पास कोई चमत्कार नहीं'। इस उत्तर से कोतवाल अप्रसन्न हुआ और उसने तुलसीदासजी को हवालात में डाल दिया। वहाँ दुःखी हो उन्होंने हनुमान्जी का स्मरण किया। स्मरण करते ही हनुमत्कृपा से चारों ओर बन्दर ही बन्दर छा गये और सब का काम-काज तथा घूमना-फिरना बन्द हो गया। कोतवाल भी गोस्वामीजी को मुक्त करने और क्षमा माँगने के लिए बाध्य हो गया। तुलसीदास जी इस घटना का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

कटु कहिये गाढ़े परें सुनु समुझि गुसाईं
करहिं अनभलेउ को भलो आपनी भलाई

× ×

चूक चपलता मेरियै तू बड़ो बड़ाई
होत आदरें ढीठ हौं अति नीच निचाई
बंदि छोरि बिरदावली निगमागम गाई
नीको तुलसीदास को तेरि यै निकाई ।। वि० ३५

---

१. तुलसी समाचार, पृष्ठ २२-२३।

२. कुछ लेखक कोतवाल के स्थान पर अकबर, जहाँगीर अथवा शाहजहाँ का उल्लेख करते हैं किंतु शाहजहाँ की कल्पना असंगत है क्योंकि वे गोस्वामी जी की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर आरूढ़ हुए थे।

व्रजयात्रा—कहते हैं कि गोस्वामीजी एक बार आषाढ़ मास में नन्ददासजी से मिलने मथुरा पहुँचे। यमुना में बाढ़ आयी हुई थी, अतएव उन्होंने निम्नलिखित पद गाकर उसके दर्शन किये :

जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न
त्यों त्यों सुकृत सुभट कलि भूपहि निदरि लगे बहु काढ़न
ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों त्यों जमगन मुख मलीन लहै आढ़न
तुलसिदास जगदघ जवास ज्यों अनघ मेघ लगे डाढ़न ।। वि० २१

राम की जगदीशता—व्रज में श्री कृष्ण के कुछ उपासकों ने तुलसीदासजी से पूछा कि आप भगवान् राम को क्यों भजते हैं, वे तो भगवान् विष्णु की बारह कलाओं के ही अवतार हैं। आप श्रीकृष्ण को भजें जो सोलह कलाओं के पूर्णावतार हैं। इस पर तुलसीदासजी ने विनोदपूर्वक उत्तर दिया कि मैं तो दशरथ-नन्दन राम की पूजा किया करता था; अच्छा हुआ आपने बता दिया कि वे अवतार भी हैं और उन्होंने यह दोहा कहा :—

जो जगदीश तो अति भलो जो महीस तो भाग
जनम जनम तुलसी चहत राम-चरन अनुराग ।।तु० स० ७, १२४

इष्टदेव के प्रति अनन्य भक्ति—तुलसीदास जी गृह-बन्धन से मुक्त थे, और नन्ददासजी भी विरक्त से हो व्रज में रहने लगे थे। दोनों भाइयों में परस्पर प्रेम था, वे साथ रहना चाहते थे। परन्तु इधर तो नन्ददासजी व्रज को छोड़ कहीं जाना नहीं चाहते थे, और उधर तुलसीदासजी मरण-पर्यन्त काशीवास का व्रत ले चुके थे। कहते हैं कि तुलसीदासजी उषा काल में एक पद गाने लगे और नन्ददासजी लेटे-लेटे ही उसे सुनते रहे। 'सीस ईस ही नै हौं' उसके ये शब्द उन्हें खटके। उनके मन में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि भाईजी को राम-रूप में भगवान् कृष्ण के दर्शन कराऊँ। अतएव प्रातःकाल वे दोनों गोवर्द्धन नाथ जी के मन्दिर में दर्शन करने गये। जब देखा कि तुलसी-मस्तक नहीं झुका, तो नन्ददासजी ने एक दोहा बोला। तुरन्त भगवान् कृष्ण के दर्शन राम-रूप में होने लगे। दोनों भाइयों और सभी दर्शकों ने सम्मिलित कीर्तन किया :—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

इस घटना की चर्चा से व्रज मण्डल गूँज उठा।[1] गोस्वामीजी ने उषा काल में विनयपत्रिका का यह पद गाया था—

जानकी जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै रामसीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।
उपजी उर प्रतीति सपनेहु सुख प्रभु पद विमुख न पैहौं।
मन समेत या तन के बासिन्ह इहै सिखावन देहौं।
स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।

---

१. तुलसी समाचार, पृष्ठ ३३,३४।

रोकिहौं नयन बिलोकत ग्रौरहिं, सीस ईस ही नै हौं।
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो-नेह बहै हौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं ।।वि० १०४।।

गोकुल दर्शन—दूसरे दिन दोनों भाइयों ने गोकुल जाकर श्रीकृष्ण को प्रणाम किया। तुलसीदासजी ने यह पद गाया जिसमें भगवान् का गुण-गान है ग्रौर वल्लभाचार्य जी के लिए ग्रादर-ध्वनि भी है—

गोपाल गोकुल वल्लभो प्रिय गोप गोसुत वल्लभम्
चरनारविन्द महं भजे भजनीय सुर मुनि दुर्लभम्

× × ×

कच कुटिल सुन्दर तिलक भ्रू राका मयंक समाननम्
ग्रपहरन तुलसीदास त्रास विहार वृन्दाकाननम् ।। कृ० गी० २३

गोकुल से चलकर वे नन्दग्राम होते हुए वृन्दावन पहुँचे। वहाँ नाभा जी से उनकी भेंट हुई ग्रौर नाभा जी ने ग्रलग-ग्रलग कागज पर प्रशस्ति के छप्पय तुलसीदासजी ग्रौर नन्ददास जी को भेंट किये जो ग्रब भक्तमाल में सम्मिलित हैं।

एक साधु को फटकार—एक बार एक साधु ग्रलख-ग्रलख कहता हुग्रा गोस्वामीजी से भिक्षा माँगने ग्राया ग्रौर कहने लगा कि 'बाबा, ग्रलख-ग्रलख कहो'। गोस्वामी जी ने उसकी बात पर कोई ध्यान न दिया तो वह गालियाँ देने लगा। इस पर उन्होंने झुंझला कर निम्नलिखित दोहा कहा :—

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी ग्रलखहिं का लखहि, राम नाम जपु नीच ।। दो० १९

यह सुन कर साधु लज्जित हो उनके चरणों में गिर पड़ा। 'तुलसी सतसई' में यह ग्रवज्ञा इस प्रकार व्यक्त की गयी है :

ग्रलख कहहिं देखन चहहिं ऐसो परम प्रवीन।
तुलसी जग उपदेश हीं बनि बुध ग्रबुध मलीन ।। ४, ४९

पत्रोत्तर—तदनन्तर जब वे मथुरा ग्राये तो कृष्णदासजी ने ग्रपने ताऊ को प्रणाम किया, रत्नावली का पत्र दिया, रामपुर लौट चलने का ग्राग्रह किया ग्रौर 'रामचरित मानस' की प्रति माँगी। तुलसीदासजी ने कहा कि प्रति काशी से लिखवाकर भेज दूंगा। कृष्णदास जी केवल चार दिन के लिये ग्राये थे ग्रत: वे घर लौट गये। नन्ददासजी ने भी एक दिन को सूकरक्षेत्र चलने के लिए ग्राग्रह किया, परन्तु तुलसीदासजी विरक्त हो जाने के कारण जन्म-भूमि लौटने के लिए ग्रसहमत रहे ग्रौर रत्नावली के पत्र का उत्तर नन्ददास को सौंप काशी लौट गये। पत्र में लिखा था :

जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।।
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत व्रज वनितन्हि भये मुद मंगलकारी।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
ग्रंजन कहा ग्राँखि जेहि फूटे बहु तक कहौं कहा लौं ।।

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो ॥ वि० १७४[1]

कुछ लोग उक्त पद को मीराबाई के निम्नलिखित पद का उत्तर समझते हैं :[2]

स्वस्ति श्री तुलसी कुल भूषन दूषन हरन गोसाई।
बारहिबार प्रनाम करहुँ, अब हरहु सोक समुदाई ॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई ॥
मेरे मात पिता के सम हो, हरि भक्तन सुखदाई।
हम को कहा उचित करि बो है, सो लिखिए समझाई ॥

मैं भी ऐसा ही समझता हूँ। प्रथम तो मीराबाई गोस्वामीजी के समय में विद्यमान थी, और जैसा कि डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं, मीरा की मृत्यु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कथनानुसार संवत् १६२० से संवत् १६३० तक मानना उचित है। 'वृहत् काव्य दोहन' में भी यह बात मानी गई है।[3] द्वितीयतः जनश्रुति को अकारण अविश्वसनीय क्यों माना जाय? तीसरा कारण और है। इस घटना के समय तुलसीदासजी को गृह-त्यागे लगभग २४ वर्ष हो चुके थे। रत्नावली की उक्ति तब चाहे जितनी कटु रही हो, तुलसीदास जैसे कोमल-प्रकृति पुरुष का क्रोध कभी का शान्त हो चुका होगा। अतएव रत्नावली के पत्र का उत्तर इतना कठोर न दिया गया होगा। वह रामभक्ति के विरुद्ध भी न थी। अतएव उसकी निम्नलिखित उक्ति इस विषय में प्रमाण समझनी चाहिए—

मोहि दीनो संदेश पिय अनुज नन्द के हाथ
रतन समुझि जनि पृथक मोहि जो सुमिरति रघुनाथ ॥ २७[4]

ग्रन्थ पर 'सही'—तुलसीदासजी की रचना विरोधियों को न सुहायी। उन्होंने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि गोस्वामी जी के लिखे भाव सत्य नहीं हैं। अतएव वहाँ गोस्वामीजी ने भगवान् विश्वनाथ को अपनी रचना सुनायी। रात को पुस्तक मन्दिर में रख दी गयी। प्रातः जब पट खोला गया तो उस पर भगवान् की 'सही' पड़ी थी।[5] तुलसीदासजी की विनय है :

मारुति-मन रुचि भरत की लषि लषन कही है।
कलि कालहु नाथ नामसों परतीति प्रीति एक किंकर की निबही है।
सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है।
कृपा गरीब निवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है।
बिहँसि राम कह्यो सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है। वि० २७९

---

१. तुलसी समाचार, पृ० ३९, एवं भवानीदास कृत गोसाईं चरित।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत, पृष्ठ १८४-१८५।
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ५८१।
४. दोहारत्नावली।
५. रामचरित मानस, पृष्ठ २३ (मूल मोटा टाइप), गीता प्रेस, सं २००८।

यह 'सही' कहाँ पड़ी 'रामचरितमानस' पर अथवा 'विनय पत्रिका' पर ? मेरे विचार से यह पुस्तक 'रामचरितमानस' होनी चाहिए जैसा कि नन्ददास की तथाकथित तुलसी-प्रशस्ति में इसका उल्लेख है । 'रामचरित मानस' ही तो तुलसी-द्वेषियों को अखरता था । यह ठीक है कि तुलसीदासजी 'विनय पत्रिका' के द्वारा 'सही' चाहते थे :

विनय पत्रिका दीन की बापु आपुही बांचो
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूंछिये पांचो
(वि० २७७)

पर विनय-पत्रिका किस निमित थी ? 'रामचरित मानस' के प्रामाण्य के निमित ही तो, अतएव 'रामचरित मानस' पर सही पड़ जाने से 'विनय-पत्रिका' अर्थात् अर्जी स्वीकृत हो गयी ।

रामचरित मानस का पाठान्तर तथा गोस्वामी तुलसीदास का हस्तलेख

(क) पाठान्तर

पाठभेद के रूप—कुछ साहित्यिकों की ऐसी धारणा है कि 'रामचरितमानस' में क्षेपकों का बाहुल्य है। यह धारणा पूर्णतया सत्य नहीं है, यद्यपि यह सत्य है कि रामाश्वमेध या लवकुशकाण्ड नाम का अष्टम सोपान रामचरितमानस के किन्हीं-किन्हीं संस्करणों में जोड़ दिया गया है और उनमें इस बात का निर्देश नहीं किया गया कि यह अष्टम सोपान गोस्वामीजी की रचना नहीं है। अन्य सातों सोपानों में भी पाठान्तर-बाहुल्य है। पाठान्तर का रूप है: वर्तनी-भेद, शब्द-परिवर्तन, अर्द्धालियों में घटा-बढ़ी, और चौपाइयों में न्यूनाधिकता।[1] कुछ वर्णन किसी प्रति में हैं, किसी में नहीं।

कतिपय उदाहरण—संवत् १९६० के लगभग श्री हरिप्रसाद भगीरथ ने[2] रामचरितमानस का सटीक संस्करण प्रकाशित किया जिसके चालीसवें पृष्ठ पर सूकर-खेत के स्थान पर कुरुखेत पाठ इस प्रकार दिया गया है:

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा रुचिर कुरुखेत

यद्यपि सुमेरवासी पण्डित श्री रघुवंश ने इस सस्करण के आरम्भ में जो 'श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत' दिया है उसके तेईसवें पृष्ठ पर यह पाठ उद्धृत किया जा चुका था, 'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु सूकरखेत।' श्री रामनरेश त्रिपाठी बताते हैं कि मुंशी शुकदेवलाल और श्री विजयानन्द त्रिपाठी 'कृपासिन्धु नर रूप हरि' में 'हरि' के स्थान पर 'हर' मानते हैं यद्यपि सभी प्राचीन प्रतियों में 'हरि' पाठ है, और यदि श्रावणकुंज के 'बालकाण्ड' में आठवें पृष्ठ पर 'धींग धरम ध्वज धंधक घोरी' और बारहवें पर 'वंदौं नाम राम रघुवर को' है, तो वर्तमान प्रचलित प्रतियों में 'धिग धरम ध्वज धंधक घोरी' और 'वंदौं राम नाम रघुवर को' पाठ मिलते हैं।[3] उक्त प्रकार के अनेक पाठान्तरों की ओर त्रिपाठीजी ने ध्यान आकर्षित किया है। तापस-प्रकरण भी किन्हीं प्रतियों में है, किन्हीं में नहीं।

विकृत रूप—मानस-पाठ के विषय में रामदासजी गौड़ लिखते हैं, "बहुधा प्राकृत के नियमों से अनभिज्ञ सज्जन उन शब्दों के अशुद्ध या तोड़े-मरोड़े होने का भी दोष लगाते हैं जो वस्तुतः एक देशीय या स्थानीय हैं। इतना ही नहीं, आए दिन प्रेसों से पण्डितों द्वारा शोधी हुई जो तुलसी-कृत रामायणें निकला करती हैं उन्हें अरसिक, अज्ञ जनता अधिक पसन्द करती है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० रामेश्वर

---

१. यथा मैनपुरी के मुं० सुखदेवलाल के संस्करण में मनमाना परिवर्तन (शिवनन्दन सहाय, पृ० २८८)

२. कालबादेवी रोड, रामबाड़ी, मुम्बई।

३. तुलसीदास और उनका काव्य, पृ० १३५।

भट्ट आदि ने तो शोध कर उसका रूप ही बदल दिया। गोसाईंजी की रचना को लोगों ने यहाँ तक अपनाया कि घटाने या बढ़ाने में, संशोधन या परिवर्तन में, किसी बात में तनिक भी संकोच नहीं किया। इससे जनता इतने भ्रम में पड़ गई कि आज शुद्ध पाठ का यदि आदर है, तो उच्च श्रेणी के हिन्दी प्रेमियों में ही।" ऐसे संस्करण भी निकले हैं कि "यदि," गौड़जी के शब्दों में, "आज गोस्वामीजी की मुक्तात्मा देखे, तो पहचान न सके कि यह हमारी ही रचना है।" गौड़जी के ये उद्गार सर्वथा समीचीन हैं।

शुद्ध पाठ—'मानस' का शुद्ध पाठ उपस्थित करने का सर्वप्रथम प्रयास[1] खड्गविलास प्रेस के अध्यक्ष बा० रामदीनसिंह का है। उन्होंने अपने प्रेस से 'रामचरितमानस' का गुटका प्रकाशित किया, जिसमें बालकाण्ड का पाठ श्रावणकुंज अयोध्यावाली १६६१ वि० की प्रति के, और अयोध्याकाण्ड का पाठ राजापुर वाली अयोध्याकाण्ड की प्रति के अनुसार है। इसी प्रकार अन्य काण्ड काशीराज की प्रति के तथा अन्य प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के अनुसार हैं। रायबहादुर लाला सीताराम ने भी राजापुर की प्रति के अनुसार अयोध्याकाण्ड का पाठ उपस्थित किया है। काशी नागरी प्रचारणी सभा ने अधिक से अधिक शुद्ध संस्करण निकाला। हाँ, उसमें समास और विराम चिह्न सुविधा के लिए लगा दिये गये हैं। मानस-मराल शंभुनारायण चौबे ने निष्काम अध्यवसाय और अनवरत परिश्रम से 'रामचरितमानस' का एक संस्करण[2] उपस्थित किया जिसके आधार हैं : श्रवणकुंज वाली १६६१ वि० की प्रति, राजापुर वाली प्रति, सं० १७१० वाली सम्पूर्ण प्रति जो इस समय काशी-नरेश के सरस्वती-भंडार में है, १७२१ की प्रति जो भारत कलाभवन में है, १७६२ की सम्पूर्ण प्रति, तथा मिर्जापुर के प्रसिद्ध रामायणी श्री रामगुलामजी के शिष्य छक्कनलालजी की प्रति की प्रतिलिपि, जिसे म० म० सुधाकर द्विवेदी के पिता ने उपस्थित किया था। १७६२ की प्रति को चौबेजी ने खोज निकाला था, और उन्हीं की कृपा से अब यह भारत-कला-भवन में सुरक्षित है। चौबेजी ने, उक्त छः प्रतियों को आधार मान कर, पाठभेद का निर्देश पाद-टिप्पणियों के द्वारा किया है। उन्होंने गौड़जी की प्रेरणा से अपने विचार नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में भी प्रकट किये थे। इस पत्रिका के पौष सं० १९९८ के विक्रमांक में 'मानस' के उन अंशों का निर्देश है जिन्हें आपने प्रक्षिप्त समझा है। खेद है कि चौबेजी के संस्करण में भी पाठभेद छूट गए हैं, यथा पृष्ठ २७६ पर:

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर भाखी

इस अर्द्धाली का पाठान्तर इस प्रकार है, जिसका उल्लेख चौबेजी ने नहीं किया है :

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी

तथापि चौबेजी का परिश्रम हमारे लिए गर्व की बात है। गीताप्रेस, गोरखपुर से 'रामचरितमानस' का सपाठभेद संस्करण हुआ है और डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी तथाकथित वैज्ञानिक शैली पर, शुद्ध पाठ निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।[3]

सोरों-प्रति १६४३ वि० की—सत्य-शोधकों की जानकारी के निमित्त 'राम-

१. वही, पृ० १३७।

२. रामचरितमानस (संशोधित मूल), नागरी प्रचारिणी सभा काशी २००५ वि०।

३. रामचरित मानस का पाठ, हिन्दुस्तानी एकैडमी, उ० प्र०, २००५।

चरितमानस' के उन खण्डित बाल और अरण्य काण्डों का प्रकाशन वाञ्छनीय है जो सोरों में पं० गोविंद वल्लभ शास्त्री के संग्रह में हैं। ये खण्ड 'रामचरितमानस' की उन प्रतियों के हैं जिन्हें गोस्वामी तुलसीदास ने अपने चचेरे भाई महाकवि नन्ददास के पुत्र कवि कृष्णदास के लिए अपने शिष्यों से काशी में १६४३ वि० में नकल कराकर प्रदान किया था।[1] भविष्य में यह १६४३ वि० की प्रति के नाम से अभिहित होगी। इन खण्डित काण्डों का ध्यानपूर्वक पारायण करने एवं उनके पाठ को अन्य कतिपय छपे और तथाकथित शुद्ध संस्करणों से मिलाने के पश्चात् मेरी धारणाएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

१. यों तो पाठान्तर सभी काण्डों में दृष्टिगोचर है किन्तु 'अरण्य काण्ड' में वह सब से अधिक है। १६४३ वि० वाला 'अरण्य काण्ड' खण्डित होता हुआ भी बहुत कुछ नवीन प्रकाश डालता है। मैं चाहता था कि पाठान्तर के स्थलों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करूँ, किन्तु इसमें बहुत समय और स्थान की अपेक्षा है। अतएव मैं १६४३ के 'अरण्य काण्ड' और 'बाल काण्ड' की प्रतिलिपियाँ परिशिष्ट में उपस्थित कर रहा हूँ।

२. सोरों की और काशिराज की प्रतियों के 'अरण्य' और 'बाल काण्डों' में यद्यपि पाठान्तर विद्यमान हैं तथापि अन्य प्रतियों की अपेक्षा उनमें सामंजस्य कहीं अधिक है।

३. काशिराज की प्रति का पाठ अधिक प्रशस्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी ने स्वयं अथवा विद्वानों की प्रेरणा से कभी-कभी, कहीं-कहीं, थोड़ी-बहुत, पाठ-वृद्धि की है और काट-छांट भी। यह बड़ी स्वाभाविक बात थी। गोस्वामी जी को क्या पता था कि बीसवीं शताब्दी के कुछ लोग उनकी ही रचना में क्षेपकों की कल्पित गंध का अनुभव करने लगेंगे? प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी ने कई बार अपनी कृति का संशोधन किया और भक्त-जन समय-समय पर अपने लिए उसकी नकलें करते रहे। अतः पाठान्तरों का भी प्रचार होता रहा। विद्वान् लेखकों को ज्ञात होगा कि उनकी निजी कृतियों में कितना परिवर्तन प्रायः होता रहता है, कभी-कभी तो कृति मूल रूप से कई गुनी हो जाती है।

४. 'रामचरितमानस' के मूल संस्करण में ठेठ व्रजभाषा और व्रजावधी भाषा के रूपों का बाहुल्य था। उदाहरणतः १६४३ की प्रति में गयौ, करौं, वंदौं आदि वर्तनी उपलब्ध होती है, राजापुर के अयोध्याकाण्ड में और श्रावणकुंज के बालकाण्ड में भी ऐसी वर्तनी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु कुछ छपे संस्करणों में गयउँ, वन्दउँ, करउँ आदि रूप विद्यमान हैं। पं० रामजसन (१८६९ ई०), वैजनाथजी कुर्मी (१८९० ई०) तथा जानकीदासजी (१८८५ ई०) ने मानस के अपने संस्करणों में वंदौं, करौं, कहौं आदि वर्तनी-रूप दिये हैं। क्या अच्छा हो कि 'रामचरितमानस' के सभी प्राचीन संस्करणों के दर्शन विद्वानों के लिए फ़ोटो-रील में उपलब्ध हो जायँ। मेरा अनुमान है कि 'रामचरितमानस' में अवधी भाषा व्रजी का स्थान थोड़ा-थोड़ा

---

१. 'रामचरित मानस' की दो प्रतियों में से कदाचित् एक प्रति कृष्णदासजी के लिए और दूसरी रत्नावली के लिए थी।

करके छीनती रही है। या तो गोस्वामीजी का प्रेम अवधी की ओर बढ़ता गया, अथवा उनको अवधी का अभ्यास बढ़ता गया, अथवा अन्य विद्वानों की प्रेरणा से गोस्वामीजी ने अवधी रूप को अपनाया, अथवा उनके पश्चात् लोगों ने अपनी प्रतियों में भाषा को अवधी-रूप देने का प्रयत्न किया हो। वास्तविकता क्या है, इसका कुछ न कुछ आभास मिल तो सकता है, किन्तु तब जब सभी विद्यमान प्राचीन प्रतियों के ऐसे छपे संस्करण उपलब्ध हों जिनके पाठ और वर्तनी में बाल-बाल अन्तर न हो। मेरी ऐसी विनम्र धारणा है कि 'रामचरितमानस' के प्रारम्भिक संस्करणों में मुख्यतया व्रजभाषा और व्रजावधी के रूप थे।

(ख) गोस्वामीजी का हस्तलेख

तुलसीदासजी के हस्तलेख के छः नमूने विचार-जगत् में प्रचलित हैं, यथा :

(१) **श्रावणकुंज की प्रति**—'रामचरितमानस' के बालकाण्ड की वह प्रति है जो अयोध्या के श्रावणकुंज नामक मन्दिर में है, और जिसके विषय में कहा जाता है कि गोस्वामीजी ने स्वयं इसे शोधा था। डॉ० माताप्रसाद का कथन है कि इसका लिपि-काल १६६१ वि० दिया हुआ है पर वास्तव में यह १६९१ वि० होना चाहिए,[1] यद्यपि पुष्पिका के तिथि-वार-मास शुद्ध उतरते हैं। मेरी विनीत सम्मति में कल्पना की अपेक्षा जनश्रुति का सम्मान अधिक करना चाहिए। उक्त प्रति के हाशिये पर जो संशोधन हैं उनके विषय में श्री रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं : 'इसमें तो सन्देह नहीं कि वह प्रति इस समय तक प्राप्त प्रतियों में सब से प्राचीन है। पर उसके तुलसीदास-द्वारा संशोधित होने में मुझे सन्देह है, जब तक यह न स्वीकार कर लिया जाय कि तुलसीदास संशोधन करने में काफ़ी लापरवाही करते थे या वे स्वयं अशुद्ध लिखते रहे हों। पर ऐसे उद्‌भट विद्वान् और महाकवि के लिए ये दोनों शंकाएँ व्यर्थ हैं'।[2] त्रिपाठीजी ने अपनी धारणा की पुष्टि में भिन्न कलम और कहीं-कहीं आवश्यक शब्द और चौपाई आदि की छूट और व्यतिक्रम की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिनका उद्धरण यहाँ अभीष्ट नहीं। पर धारणा बना लेने से पूर्व यह विचार लेना अच्छा होगा कि महापुरुषों के पास प्रायः समयाभाव रहता है और वे अपने अन्तेवासियों को भी कार्य सौंप दिया करते हैं।

(२) **वाल्मीकि रामायण**—१६४१ की वाल्मीकि रामायण की प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी बताई जाती है। उसकी पुष्पिका से विदित होता है कि किसी तुलसीदास ने सुसम्पन्न दत्तात्रेय नामक व्यक्ति के लिए उसकी नकल की थी। किन्तु यह बात कल्पना-गम्य नहीं कि गोस्वामीजी, 'रामचरितमानस' के कारण लब्ध-प्रतिष्ठ और सर्वमान्य हो जाने पर भी दूसरों के लिए लिपिकर्म करते होंगे। वास्तव में गोस्वामीजी के समय में तुलसीदास नाम के एक अन्य सज्जन थे जो लिपि-कर्म करते थे और वे जात्या कायस्थ थे। इन्होंने 'वीरभानूदय' काव्य की नकल की थी। जिसकी पुष्पिका इस प्रकार है : 'पूर्णमिदं श्री वीरभानूदय काव्यम् ॥ ल्ल ॥ संवत् १६४८

---

१. तुलसीदास, पृ० १९५।
२. तुलसीदास और उनका काव्य, पृ० १३५।

समये अगहन शुक्लपक्ष द्वितीयां सोमवासरे लिखितमिदं कायस्थ तुलसिदासेन कृष्नदास पुत्र ॐ नाइ कासिवाशी विश्वेश्वर संनिधे।" इसका उल्लेख हीरानन्द शास्त्रीजी ने १६२५ ई० में मिमोइर्स ग्रॉव दि ग्रार्केलोजिकल सर्वे ग्रॉव इंडिया (संख्या २१) में किया है।

(३) **राजापुर का 'ग्रयोध्याकाण्ड'**—राजापुर के 'ग्रयोध्याकाण्ड' को गोस्वामी जी के हाथ का लिखा बताया जाता है। इसकी लिखावट उक्त 'वाल्मीकि रामायण' की लिखावट से नहीं मिलती। श्री रामनरेश त्रिपाठी को इसमें कई स्थानों पर ऐसी त्रुटियाँ दिखाई पड़ीं 'जिनके ग्राधार पर यह साहस के साथ कहा जा सकता है कि वह न तो तुलसीदास के हाथ की लिखी हुई है, ग्रौर न तुलसीदास ने उसे कभी पढ़ा ही होगा'।[1] इस कथन की पुष्टि में त्रिपाठी जी ने ग्रनेक शब्द ग्रौर चौपाइयों की भूल-चूक के उदाहरण दिये हैं ग्रौर ग्रनुमान किया है कि यदि गोस्वामी जी उसे देख भी लेते तो उन्हें चौपाई की कमी ग्रवश्य खटकती। परन्तु मेरी विनीत सम्मति में ऐसी धारणा को ग्रन्तिमता न देनी चाहिए, क्योंकि जैसा कि कहा जा चुका है, गोस्वामी जी महापुरुष थे; उनका कार्यक्रम ग्रशिथिल ही रहता होगा, समय की कमी भी रहती होगी ग्रौर ग्रपनी पोथियों को शोधवाने वालों की न्यूनता भी न रहती होगी। ग्राजकल के महापुरुष भले ही ग्रपने ग्रॉटोग्राफ़ का शुल्क ले लें, पर गोस्वामी जी को तो न जाने कितने ऐसे संशोधन करने पड़ते होंगे। ग्रतएव राजापुर ग्रौर ग्रयोध्यावाली प्रतियों के संशोधन के सम्बन्ध में ग्रन्तिम निर्णय को स्थगित रखना समुचित प्रतीत होता है। हाँ, त्रिपाठी जी ने एक महत्त्वपूर्ण जनश्रुति तथा 'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ग्रॉव हिन्दोस्तान' में दिये हुए कतिपय फोटोचित्रों ग्रौर पुष्पिकाग्रों तथा रायबहादुर लाला सीताराम के उस लेख की ग्रोर ध्यान ग्राकर्षित किया है जो कभी 'माधुरी' में छपा था। इसका सारांश यह है कि राजपुर की पोथी पर लेखक के हस्ताक्षर नहीं। इस प्रति में प्रत्येक काण्ड के ग्रंत में लेखक का नाम दिया हुग्रा है कहीं 'रघु तिवारी' ग्रौर कहीं 'रघुतीवारी'। कुछ हो, पुरानी होने के नाते प्रति महत्त्वपूर्ण है।

(४) **रामगीतावली**—डॉ० माताप्रसाद गुप्त १६६६ की 'रामगीतावली' की हस्तलिखित प्रति का उल्लेख करते हैं जो रामनगर (बनारस) के किन्हीं चौधरी छुन्नी सिंह के पास है। इस पर जो संशोधन है वह तुलसीदासजी के हाथ का बताया जाता है। प्रति तो किसी भगवान् ब्राह्मण की लिखी है, जैसा कि पुष्पिका से प्रकट है। चौधरी साहब के मतानुसार पंचायत नामे के ग्रौर इस पुस्तक के संशोधन-लेखों में साम्य है।

(५) **पंचायतनामा**—१६६९ वि० का लिखा पंचायतनामा है। गोस्वामीजी के एक मित्र टोडर नाम के थे, उनके उत्तराधिकारियों में जायदाद का बटवारा टोडर की मृत्यु के पश्चात् हुग्रा, यह पंचायतनामा ग्रब काशिराज के निजी संग्रह में है। इसकी केवल छः पंक्तियाँ तुलसीदास जी की लिखी कही जाती हैं। इसकी प्राप्ति का स्थान विश्वसनीय समझा जाता है ग्रौर तिथि भी गणना से शुद्ध है।

---

१. वही, पृष्ठ १३९।

(६) **सोरों का अरण्यकाण्ड, १६४३ वि०**—षष्ठ है १६४३ वि० की प्रति पर संशोधन। गोस्वामीजी ने रामचरितमानस की जो प्रति संवत् १६४३ में अपने शिष्यों के द्वारा अपने भतीजे कृष्णदास के लिए नकल करायी थी। उसे उन्होंने स्वयं शोधा है, ऐसा अनुमान है, यद्यपि अक्षर कभी-कभी शिष्योंके लिखने से, और गोस्वामीजी के शोधने से, रह गये हैं। ग्रन्थकारकी दृष्टिसे ऐसी छूट आशान्वित अवधान (एक्सपेक्टेंट अटेंशन) के कारण बहुत सम्भव है, यदि कोई दूसरा यह कार्य करे तो भूल-चूक की सम्भावना अपेक्षाकृत कम (अथवा नहीं) होती है। 'अरण्य काण्ड' में एक स्थल पर अर्द्धाली 'अहे सदा अघ खग गन बधिका' लिखने से रह गयी थी जिसे गोस्वामी जी ने स्वयं पूरा कर दिया है। लिखावट की शैली पंचनामे की शैली से बहुत मिलती है। दोष-दर्शियों के लिये तो 'पंचनामे' की लिपि में भी संदेहात्मक सामग्री मिल सकती है क्योंकि उसके अक्षरों में भी वैषम्य है। उदाहरणतः रकार दो प्रकार से लिखा गया है और पंचनामे का जकार प्रस्तुत लिपि से भिन्न सा है। इस विषय में पाठक स्वयं किसी निश्चय पर पहुँच सकते हैं। मैं उस अर्द्धाली का चित्र दे रहा हूँ जिसे मैं गोस्वामी जी के हाथ की समझ रहा हूँ।

रचना-समय

प्राक्कथन—इस परिच्छेद में गोस्वामी जी की तथाकथित एवं मान्य कृतियों के सिंहावलोकन के अनन्तर उनके रचनाकाल पर विचार होगा, और प्रचलित एवं अद्यावधि मान्य कुछ कालक्रम के विपर्यास का आभास मिलेगा।

लगभग चालीस कृतियाँ—लगभग चालीस पुस्तकें गोस्वामी तुलसीदास की लिखी बतायी जाती हैं, किन्तु उनमें में केवल बारह को अधिकतर प्रामाणिक समझा जाता है। निम्नलिखित पुस्तकें अप्रामाणिक समझी जाती हैं, कारण कि उनके भाव, भाषा और शैली अविश्वसनीय हैं अथवा वे अमुद्रित होने से परीक्षा के लिये उनके स्वामियों से सहज उपलब्ध नहीं हैं:—'अंकावली', 'बजरंग बाण', 'बजरंग साठिका', 'भरतमिलाप', 'विजय दोहावली', 'बृहस्पतिकाण्ड', 'छन्दावली रामायण', 'छप्पय रामायण', 'धर्मराय की गीता', 'ध्रुव प्रश्नावली', 'गीता भाषा', 'हनुमान् स्तोत्र', 'हनुमान् चालीसा', 'हनुमान् पंचक', 'ज्ञानदीपिका', 'पदबंध रामायण', 'राम मुक्तावली', 'रसभूषण', 'साखी तुलसीदास जी की', 'संकटमोचन', 'सतभक्त उपदेश', 'सूर्यपुराण', 'तुलसीदास जी की बानी', और 'उपदेश दोहा'।[1]

पं० रामेश्वर भट्ट ने 'कुंडलिया रामायण', 'कड़का रामायण', 'रोला रामायण' और 'झूलना रामायण' का भी उल्लेख किया है।[2] डॉ० रामकुमार वर्मा सूचित करते हैं कि तुलसीदास जी के ग्रन्थों की संख्या 'सरोज' के अनुसार है १८, 'नोट्स ऑन तुलसीदास' के अनुसार २१, 'बंगवासी की तुलसी ग्रन्थावली' के अनुसार २०, 'मिश्रबन्धु के नवरत्न' के अनुसार २५, पर प्रामाणिक रूप से सर ग्रियर्सन और पं० रामचन्द्र शुक्ल एवं लाला सीताराम के अनुसार यह संख्या १२ है।[3]

प्रामाणिक पुस्तकें—निम्नलिखित त्रयोदश पुस्तकें तुलसीदास-कृत समझी जाती है :—'रामलला नहछू', 'रामाज्ञा प्रश्न', 'जानकी मंगल', 'रामचरित मानस', 'पार्वती मंगल', 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली', विनयपत्रिका', 'बरवै रामायण', 'दोहावली', 'कवितावली', हनुमान्बाहुक', तथा 'वैराग्य संदीपनी'।[4] इन त्रयोदश पुस्तकों का संग्रह काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 'तुलसी ग्रन्थावली' में किया है। श्री रामगुलाम द्विवेदी के आधार पर सर ग्रियर्सन इन्हें प्रामाणिक समझते हैं, एवं पं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला सीताराम, पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० माताप्रसाद गुप्त तथा अन्य कतिपय विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से, 'कुण्डलिया रामायण' को तुलसीदास की कृति मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। डॉ० गुप्त 'तुलसी सतसई' के अधिकांश को प्रामा-

---

१. तुलसीदास (डॉ० माताप्रसाद गुप्त) पृ० १२९।

२. 'तुलसीदास कृत रामायणम्' में तुलसीदासजी का जीवन-चरित, पृष्ठ ८।

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ३६३।

४. 'षोडश रामायण' और 'षोडश रामायण संग्रह' में, 'रामचरित मानस' को छोड़कर, इनके अतिरिक्त हैं : 'कलिधर्माधर्म निरूपण', 'छप्पय रामायण', 'हनुमान् चालीसा' और 'संकट मोचन।'

णिक समझते हैं। 'ज्ञान दीपिका' तो तुलसीदास के प्रबन्ध अर्थात् 'रामचरितमानस' की सिनोप्सिस अर्थात् रूपरेखा प्रतीत होती है, यद्यपि उसकी रचना की मिति गणना से अशुद्ध है, इस अशुद्धि का कारण मूल प्रतिलिपिकार की असावधानी हो सकता है। 'हनुमान् चालीसा' गोस्वामी जी के बाल्यकाल की रचना संभव है। 'रामलला नहछू' और 'वैराग्य संदीपनी' के सम्बन्ध में डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव का मत है कि भाषा के आधार पर ये रचनाएँ अन्य समस्त रचनाओं की तुलना में संदिग्ध कही जा सकती हैं।[१]

विवरण—उक्त त्रयोदश पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण कदाचित् अप्रासंगिक न होगा। 'रामलला नहछू' चार चरण के बीस सोहर छन्दों में लिखा गया है, जिसमें रामविवाह के अवसर पर अयोध्या में, रामचन्द्र जी के नखच्छेद का वर्णन स्त्रियों के गाने के उद्देश्य से उपलब्ध है। 'रामाज्ञा प्रश्न' में रामचरित काण्डशः विद्यमान है। इसमें सात काण्ड हैं, प्रत्येक काण्ड में सात दोहे हैं। इन दोहों के द्वारा जाना जा सकता है कि अमुक कार्य में सफलता मिलेगी या असफलता। 'जानकी मंगल' में २१६ छन्द अजावधी में हैं और इसमें विश्वामित्र जी के साथ राम-लक्ष्मण के मिथिला-गमन से लेकर सीताराम के विवाह तक का वर्णन वाल्मीकि जी के अनुसार है। 'रामचरित-मानस' तो गोस्वामी जी का ब्रजावधी में सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसमें जन्म से लेकर वनवास से लौटने तक रामचन्द्र जी का वर्णन है। यद्यपि इसके वृत्तान्त का आधार मुख्यतः 'अध्यात्म रामायण' है, तथापि अन्य ग्रन्थों से भी कुछ लिया गया है। 'पार्वती मंगल' में, अजावधी में, पार्वती जी के विवाह का वर्णन १६४ छंदों में है, और जिस प्रकार का वर्णन 'रामचरित मानस' में मिलता है उससे ईषत् भिन्न है। 'जानकी मंगल' की भाँति यह भी विवाहोत्सव पर गाने के उद्देश्य से लिखा गया है। 'गीतावली' में रामचन्द्र जी का जीवन-चरित अनेक गेय छन्दों में, वाल्मीकि जी की परिपाटी से, वर्णित है। इसमें सात काण्ड और ३२८ पद हैं। 'कृष्ण गीतावली' में कृष्णपरक ६१ गीत व्रजभाषा में हैं। इसमें कृष्ण जी के गोकुल-सम्बन्धी बचपन और बाल्य-चापल्य एवं गोपियों के विरह-विलाप का वर्णन कुछ शीघ्रतापूर्वक किया गया है। जितनी सफलता सूरदास जी को 'सूर रामायण' में राम-सौष्ठव के वर्णन में प्राप्त हुई उतनी ही तुलसीदास जी को कृष्ण-सौष्ठव के वर्णन में। 'विनय-पत्रिका' भी व्रजभाषा में राम के प्रति निजी विनय-पदों का परमोत्कृष्ट काव्य-संग्रह है। यह भगवान् राम के लिए एक प्रकार की अर्जी है। कहते हैं कि इसका अवसर इस प्रकार उत्पन्न हुआ : एक हत्यारा राम-राम चिल्लाता आया। तुलसीदास जी ने उसे राम-भक्त समझ कर उस पर करुणा की जिसके कारण लोग तुलसीदास जी से क्रुद्ध हो गये। उन्हें शान्त करने के निमित्त तुलसीदास जी को अपनी साधुता सिद्ध करने के लिये शिव-नन्दी को हत्यारे के हाथ से भोजन कराना पड़ा। लोग तो शान्त हो गये, पर कलियुग ने इस चमत्कार से क्रुद्ध हो तुलसीदास जी को खा-लेने की धमकी दी। अतएव गोस्वामी जी ने हनुमान् जी का आवाहन किया और रक्षा चाही। 'बरवै रामायण' सात काण्ड की, ६९ बरवै छन्दों में, छोटी सी पुस्तिका है जिसमें भगवान्

१. 'तुलसीदास की भाषा', पृष्ठ ३६७-३६८।

रामचन्द्र के जीवन की प्रधान घटनाओं का उल्लेख है। 'दोहावली' में ५७३ दोहे हैं जिनमें से ८५ तो 'रामचरित मानस' के हैं, ३५ 'रामाज्ञा प्रश्न' के और ७ 'वैराग्य संदीपनी' के हैं। इसमें ज्ञान-धर्म की शिक्षा है। 'कवितावली' काव्य की दृष्टि से गोस्वामी जी का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें सात काण्ड कवित्त, घनाक्षरी, छप्पय, सवैया आदि ३६९ छन्द में हैं। साहित्य-सौन्दर्य के अतिरिक्त इसमें महत्त्वपूर्ण आत्म-परिचयात्मक उल्लेख भी मिलते हैं। 'हनुमान् बाहुक' से विदित होता है कि तुलसीदास जी की बाहु में कभी पीड़ा रही थी और उनकी बाल्यावस्था का भी कुछ आभास मिलता है।

गोस्वामी जी की रचनाओं के कालक्रम का गम्भीर विवेचन अभीष्ट नहीं, पर तद्विषयक सिंहावलोकन आवश्यक प्रतीत होता है, जो इस प्रकार है :

दोहे—अनुमानतः गोस्वामी जी समय-समय पर दोहे-लिखते रहे जो आज 'दोहावली' और 'तुलसी सतसई' नामक संग्रहों में उपलब्ध हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी के मतानुसार, दोहावली में सं० १६१०-१६७१ तक के दोहे सम्मिलित हैं।[1] 'दोहावली' का यह दोहा

तुलसी जान्यो दशरथ हि धरमु न सत्य समान।
रामु तजे जिहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान ॥२३४॥

उस पंचनामे में शीर्षक रूप से विद्यमान है जो १६६९ में लिखा गया था। कुछ दोहों में रुद्र-बीसी और बाहु-पीड़ा का भी उल्लेख है। डॉ० श्यामसुन्दरदास 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर दोहों को संवत् १६४० का मानते हैं। १६४० में गोस्वामी जी ७२ वर्ष के वृद्ध थे, अतएव डॉ० माताप्रसाद गुप्त की आपत्ति के लिए विशेष अवकाश नहीं। दोहे जैसे मुक्तक छन्द यदा-कदा कवि की लेखनी से निस्सृत होते रहते हैं। अतएव त्रिपाठी जी का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

'सतसई' के प्रथम अध्याय में निम्नलिखित दोहा उपलब्ध है :

अहि-रसना थन-धेनु रस गनपति-द्विज गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि सतसइया अवतार ॥१,६॥

इस दोहे से प्रतीत होता है कि सतसई का आविर्भाव वैशाख शुक्ला ९ गुरुवार को संवत् १६४२ में हुआ था, क्योंकि अहि रसना=२, धेनुथन=४, रस=६, गणपति द्विज=१, सिय जनम तिथि=९। डॉ० गुप्त ने नवमी तिथि मानी है किन्तु जानकी-जयन्ती, पंचांगों के अनुसार, फाल्गुन कृष्णा अष्टमी को मनायी जाती है। यह तिथि डॉ० माताप्रसाद गुप्त के मतानुसार शुद्ध नहीं।[2] अतः संभव है कि इस रचना का प्रारम्भ १६४२ में हुआ और यह संवत् १६७१ तक चलती रही हो।

'रामाज्ञाप्रश्न'—डॉ० माताप्रसाद को इसकी रचना का काल इसके निम्न-लिखित दोहे में दिखाई पड़ता है :

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय बान
होइ सुफल सुभ जासु जसु प्रीति प्रतीति प्रमान ॥ ७, ७, ३॥

---

१. 'तुलसीदास और उनकी कविता', पृष्ठ ३७१।
२. 'तुलसीदास', पृष्ठ २५८।

वे लिखते हैं कि "'चन्द्रमा, नेत्र, गुण, नीति और बाण के आधिक्य की अवधि (समय) में यह सगुन (—माला), जिसका सुयश यह है कि प्रीतिप्रतीति के अनुसार ही सुफल होती है, सत्य है।' कविजन-प्रयुक्त सांकेतिक शब्दावली में चन्द्रमा १, नेत्र २, गुण ३, नीति ४, और बाण ५ में अन्तर १ का है, और कविप्रथा के अनुसार इस प्रकार दी हुई तिथियाँ उल्टे क्रम से पढ़ी जाती हैं, इसलिए उपर्युक्त दोहे से हमें कृति के लिए १६२१ की तिथि प्राप्त होती है।"[1]

पंजाब में हस्त-लिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज में ज्येष्ठ शुक्ला दशमी रविवार संवत् १६५५ की एक प्रति प्राप्त हुई थी।[2] यह तिथि मुद्रित षोडश रामायण में संगृहीत रामाज्ञा प्रश्न की पुष्पिका में मिलती है और गणना से शुद्ध है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने १८९३ ई० में इसका उल्लेख इण्डियन एण्टिक्वेरी के ९६ वें पृष्ठ पर किया था। इस आधार पर डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इस रचना को १६५५ वि० का माना है। परन्तु पं० रामनरेश त्रिपाठी उसे 'मानस' से पहले सं० १६२० के लगभग की समझते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा का झुकाव डॉ० गुप्त की ओर है। गंगाराम ज्योतिषी से गोस्वामी जी का परिचय लगभग उसी समय हुआ होगा। अविनाशराय के मतानुसार, गोस्वामी जी ने गृहत्याग से पूर्व १५९७ वि० में काशी की प्रथम यात्रा की थी अतएव 'रामाज्ञा' का निर्माण काल १५९७ वि० तक पीछे जा सकता है। किन्तु उस समय रत्नावली, नन्ददास और उनकी दादी तुलसीदास जी के साथ थे। वे कथा बाँचने के लिए ख्याति पाने लगे थे और रचना के लिए उन्हें तब पर्याप्त समय न मिल सका होगा। अतएव गृहत्याग के पश्चात् सं० १६२१ के लगभग 'रामाज्ञाप्रश्न' का निर्माण अधिक युक्तियुक्त है।

'कवितावली' और 'बाहुक'—'कवितावली' और 'बाहुक' भी, 'बरवै' और 'दोहावली' की भाँति, संग्रह-ग्रन्थ हैं। 'कवितावली' और 'बाहुक' का रचनाकाल कवि ने नहीं दिया है यद्यपि उनमें रुद्रबीसी, मीन की सनीचरी तथा महामारी का उल्लेख है।

'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि 'कवितावली' का कथा-भाग और सीता-वट विषयक कवित्त सं० १६२८ और १६३१ के बीच बनाया गया, और शेष १६६९ वि० के पीछे। वे 'बाहुक' की रचना को 'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार मानते हैं।[3] पं० रामनरेश त्रिपाठी 'बाहुक' और 'कविता-वली' की रचना १६१० से १६७१ तक मानते हैं। उनके मतानुसार यदि क्षेमकरी वाला छन्द तुलसीदास के अन्तिम दिन वाला सिद्ध हो जाय तो उसकी रचना, उनके मतानुसार, १६८० तक पहुँच जाय।[4] डॉ० रामकुमार वर्मा के मतानुसार, कवितावली के कुछ कवित्तों का रचना-काल १६६९ है, क्योंकि उनमें मीन के शनि का उल्लेख है, और 'बाहुक' का रचना-काल १६८० है; और यदि उनके अनुसार 'बाहुक' में वर्णित बाहु-

---

१. 'तुलसीदास', पृ० २५६।
२. 'वही', पृ० २०४-७।
३. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ ८३, १०१।
४. 'तुलसीदास और उनकी कविता', पृ० ३६८।

पीड़ा से कवि की मृत्यु न मानी जाय तो यह रचना संवत् १६६९ के लगभग मान लेनी चाहिए।[1]

किन्तु 'कवितावली' के अनुसार रुद्रबीसी में मीन की सनीचरी इस प्रकार पड़ी थी जैसे कोढ़ में खाज।

कोढ़ु में की खाजु सी सनीचरी है मीन की ।। क ७, १७७ ।।

रुद्रबीसी १६२३ से १६४२ वि० तक और उसी के अन्तर्गत मीन की सनीचरी १६४० से १६४२ वि० तक रही[2]। बाहु-पीड़ा प्लेग न थी, वह वातरोग था जैसा कि स्वयं गोस्वामीजी बताते हैं। अतएव 'कवितावली' की समाप्ति १६४२ वि० में मानी जा सकती है। इसी प्रकार 'हनुमान बाहुक' (३८, ४१) में बरतोड़, मुखपीड़ा और बाहु-पीड़ा का जो उल्लेख है वह भी १६४२ वि० तक का हो सकता है। काशी की महामारी और दरिद्रता भी १६४२ से पहले की होनी चाहिए। यह महामारी विषूचिका हो सकती है। अविनाशराय के अनुसार, तुलसी की माता का देहान्त इस रोग से हुआ था, जिससे स्पष्ट है कि हैजे का प्रकोप गोस्वामी जी के समय में विद्यमान था। 'कवितावली' और 'हनुमान बाहुक' की भाषा भी कितनी सुव्यवस्थित है। क्या १०५ वर्ष का वृद्ध ऐसी कविता लिख सकता था जबकि देह, इन्द्रियाँ, स्मरण-शक्ति एवं कल्पना शिथिल हो जाती हैं? इस अवस्था में वृद्ध बालक के तुल्य हो जाता है। अतएव तब रामलला नहछू' या 'बरवै' जैसी क्षीण रचना भी कठिनता से ही सम्भव हो सकती थी।

'कृष्ण गीतावली'—डॉ० रामकुमार वर्मा 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' को युग्म मानते हुए दोनों को समकालीन रचना मानते हैं।[3] डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसका रचना काल सं० १६५८ के लगभग मानते हैं क्योंकि उन्हें 'पदावली रामायण,' 'रामगीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' परस्पर सापेक्ष लगती हैं।[4] डॉ० श्यामसुन्दर दास 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर इसे १६१६ से १६२८ वि० की रचना समझते हैं।[5] पं० रामनरेश त्रिपाठी के अनुमान से इसकी रचना १६२८ और १६३० वि० के बीच में हुई होगी, क्योंकि उनके मतानुसार तुलसीदास जी उन दिनों काशी में प्रायः वल्लभकुल के गोसाइयों के सम्पर्क में अधिक रहते थे और सम्भवतः उन्हें प्रसन्न करने के लिए 'कृष्ण गीतावली' का निर्माण हुआ हो।[6] किन्तु मेरी विनीत सम्मति में इसका निर्माण व्रज में व्रजयात्रा के समय, नन्ददास और ब्रज के गोसाइयों के प्रभाव से, सं० १६२६ के पश्चात् १६३६ वि० तक होना अधिक संगत है। १७९६ वि० के 'श्री

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,' पृ० ४४०, ४१४-४१५।

२. 'तुलसीदास' पृ० १८४
वही, पृष्ठ १८६। मीन की सनीचरी और रुद्रबीसी पर विस्तृत विचार नवम अध्याय में हो चुका है।

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४१२-१३।

४. तुलसीदास, पृ० २५४।

५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७७-७८।

६. तुलसीदास और उनकी कविता, पृ० ४०५।

गोकुलनाथ जी के वचनामृत' में यह उल्लेख है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने विट्ठल-नाथ जी के १५ वर्षीय पुत्र रघुनाथ जी के दर्शन किए थे जिनका जन्म १६११ वि० में हुआ था। अतएव गोस्वामी जी की प्रथम व्रजयात्रा १६२६ वि० में हुई थी। दूसरी यात्रा १६३६ वि० में हुई थी जिसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथ में सप्तम अध्याय के खण्ड (क) में हो चुका है।

'रामचरितमानस'—इस ग्रन्थ में रचनाकाल का अन्तःसाक्ष्य इस प्रकार विद्यमान है :

संवत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं॥

अर्थात् चैत्र शुक्ला नवमी मंगल संवत् १६३१ वि० में तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' का प्रकाशारम्भ किया। पं० रामनरेश त्रिपाठी का अनुमान है कि पहले 'अयोध्याकाण्ड' लिखा गया और 'रामचरितमानस' की समाप्ति पर भूमिका में प्रकाशन-तिथि दी गयी है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उक्त उद्धरण के सम्बन्ध में बालकाण्ड के ३३ से ३५ वें दोहे तक की चौपाइयों की निम्नलिखित क्रियाओं के विभिन्न काल की ओर इस आशय से ध्यान आकर्षित किया है कि वे भिन्न स्थानों पर और भिन्न समयों में लिखी गयी थीं। 'करउँ' 'कहउँ' वर्तमान काल की हैं, और 'प्रकासा' तथा 'कीन्ह आरम्भा' भूतकाल की हैं।[1] परन्तु 'प्रकासा' को क्रिया मानना ठीक नहीं वह तो इस सम्पूर्ण वाक्य का केवल एक अंश है "(मैं) करउँ कथा प्रकासा।" "कीन्ह आरम्भा" भी भूतकाल है पर इसका अर्थ है : 'मैंने यह कथा आरम्भ की है।' बार-बार एक ही काल की क्रिया का प्रयोग तभी हो सकता है जब शब्द-दारिद्र्य हो। यों तो गूढ़ दृष्टि से देखा जाय तो काल दो ही हो सकते हैं भूत और भविष्य, और भूत और भविष्य का सम्मिलित किंचित् भाग वर्तमान होता है। पं० रामनरेश त्रिपाठी का अनुमान है कि 'अयोध्या काण्ड' अयोध्या में सं० १६२५ से १६२८ या १६३० तक तुलसीदास जी के गृह-त्याग के पश्चात् रचा गया।[2] उक्त चौपाइयों में, डॉ० माताप्रसाद को 'एहि' और 'इहाँ' के स्थान पर 'जेहि' और 'तहाँ' खटकते हैं।[3] पर तुलसीदासजी तो व्रजावधी प्रान्त के थे, अतएव वे प्रान्तीय शब्द लिख गये, खटक क्यों? डॉ० गुप्त को 'मानस' की रचना-तिथि शुद्ध नहीं जँचती, परन्तु गवर्नमेंट एपिग्रेफिस्ट के अनुसार वह तिथि मंगलवार ३० मार्च १५७४ ई० को सूर्योदय के ३ घण्टे १० मिनट पश्चात् प्रारम्भ हुई थी, और दिन भर रही। स्मार्तों की राम नवमी उस दिन मानी जाती है जिस दिन मध्याह्न में भी रामनवमी रहती है, किन्तु वैष्णव लोग उस नवमी को ठीक मानते हैं, जो मध्याह्न के पूर्व ही समाप्त हुई रहती है।[4] स्मार्त होने के नाते तुलसीदास जी ने मंगल को रामनवमी मनायी, बुध को नहीं; अतएव तिथि

---

१. तुलसीदास, पृ० २४०।
२. तुलसी और उनका काव्य, पृ० २४३।
३. तुलसीदास, पृ० २४०।
४. तुलसी और उनका काव्य, पृ० ८८।

नितांत संगत है। 'रामचरितमानस' की समाप्ति का समय वेणी माधवदास जी ने १६३३ वि० और अविनाशराय ने १६३५ वि० दिया है।

विनय-पत्रिका—इसे 'रामगीतावली' भी कहा जाता है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसका एक पद कई बार सुना जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ ये हैं :

संवत सोरह से एकतीसा जेठ मास छठि स्वाती
तुलसीदास इक अरज करत है प्रथम बिनय की पाती ॥

किन्तु न तो उन्हें यह पद किसी प्रति में देखने को मिला, और न उक्त तिथि ही गणना से शुद्ध है।[1] उन्हें 'संवत् १६६६ श्रावण (सु) द १२ बुधवासर' की प्रति मिली जिस की प्रतिलिपि किसी भगवान् ब्राह्मण ने की थी और जो अब रामनगर (बनारस) के चौधरी छुन्नीसिंह के पास है।[2] डॉ० रामकुमार वर्मा ने उक्त प्रति की प्राप्ति के आधार पर विनय-पत्रिका की रचना-तिथि सं० १६६६ मानी है। किन्तु यह प्रति गोस्वामी के हाथ की भी तो नहीं है, अतएव डॉ० माताप्रसाद गुप्त को इसे १६६६ वि० की मान लेने में कुछ संकोच है।[3] पं० रामनरेश त्रिपाठी का अनुमान है कि यह रचना १६४५ वि० की होगी, जब कि गोस्वामी जी व्रज गये होंगे और वहाँ से लौटने पर उन्होंने 'विनय-पत्रिका' का प्रारम्भ किया होगा[4]; किन्तु मेरी विनीत सम्मति में, व्रज से लौटने पर, 'विनय-पत्रिका' की अपेक्षा 'गीतावली' का प्रणयन अधिक संगत है। 'विनय-पत्रिका' का निर्माण तो 'रामचरितमानस' के कुछ ही उपरान्त मानना ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि 'रामचरितमानस' के प्रचारोपरान्त उस पर प्रतिकूल टीका-टिप्पणियाँ हुई होंगी और गोस्वामी जी को विविध कष्ट मिले होंगे, जिनके निवारणार्थ यह अर्जी (विनय-पत्रिका) उपस्थित की गयी। अतएव 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दर दास का यह अनुमान कि इसकी रचना सं० १६३६ और १६३८ के बीच किसी समय हुई होगी अधिक संगत एवं समुचित प्रतीत होता है।

'पार्वती-मंगल'—गोस्वामी जी ने 'पार्वती-मंगल' की रचना का काल स्वयं इस प्रकार दिया है :

जय संवत फागुन सुदि पाँचइ गुरु दिनु
अस्विनि बिरचेउ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु ॥ ५ ॥

सुधाकर द्विवेदी जी की गणना के अनुसार 'जय संवत्' संवत् १६४३ में पड़ा था और फाल्गुन शुक्ला पंचमी को गुरुवार भी था। डॉ० माताप्रसाद 'जय संवत्' को १६४२ में मानकर तिथि की शुद्धता पर सन्देह प्रकट करते हैं। पर तुलसीदास जी स्वयं अच्छे ज्योतिषी थे। उन से इस विषय में भूल होने की तनिक सम्भावना नहीं थी। एपिग्रेफी के सुपरिटेंडेंट डॉ० डी० सी० सरकार मुझे सूचित करते हैं कि जय संवत् १६४३ वि० था और उक्त तिथि फरवरी २, गुरुवार सन् १५८७ ई० को पड़ी थी। एक बात और है। गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' की जो प्रतियाँ अपने भतीजे कृष्ण-

---

१. तुलसीदास, पृ० २५०।
२. वही, पृ० २२०-१।
३. वही, पृ० २५२।
४. तुलसीदास और उनकी कविता, पृ० ४०८।

दास को भेंट की थीं वे संवत् १६४३ की हैं। मेरी ऐसी कल्पना है कि गोस्वामी जी के लिए जय संवत् १६४३ शुभ रहा, और उन्होंने उसमें कोई उत्सव मनाया होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्ददास जी ने 'रामचरितमानस' के आदर्श पर 'रास पंचाध्यायी' का प्रारम्भ किया और तुलसीदास जी ने, नन्ददास जी के 'रुक्मिणी मंगल' से से प्रेरित हो, 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी मंगल' लिखे।

'जानकी मंगल'—डॉ० माताप्रसाद गुप्त 'जानकी मंगल' की एक ऐसी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख करते हैं जिस पर 'संवत् १६३२ कथा किये सवा' पुस्तक के प्रारम्भ में दिया गया है। इसका भाव स्पष्ट नहीं। मेरी समझ में 'संवत् १६३२ कथा किये सवा' स्यात् किसी अन्य पोथी की पुष्पिका का अंश हो। फिर भी डॉ० गुप्त 'जानकी मंगल' को 'रामचरित मानस' से पूर्व की रचना मानते हैं।[1] यदि इस सुझाव के अनुसार इसे १६३० का भी मान लें और अन्तः साक्ष्य के आधार पर 'पार्वती मंगल' को १६४३ का, तो दोनों की रचना में तेरह वर्ष का अन्तर रहता है। परन्तु नाम और भाषा के साम्य से दोनों 'मंगल' यमज प्रतीत होते हैं, जिनमें से, कहने के लिए, 'पार्वती मंगल' को बड़ा और 'जानकी मंगल' को छोटा मान लिया जाय, क्योंकि तुलसीदास को पार्वतीजी के प्रति भी असीम श्रद्धा थी और उन्होंने जानकीजी को आशीर्वाद दिया था। रामनरेश त्रिपाठीजी 'जानकी-मंगल' को केवल दो दिन छोटा मानते हैं क्योंकि 'जानकी मंगल' में स्वयं तुलसीदासजी लिखते हैं: 'सुभ दिन रच्यौ स्वयंवर मंगल दायक'। सुभ दिन से तात्पर्य रविवार का है।[2] अर्थात् यदि 'पार्वती मंगल' गुरुवार को लिखा गया तो 'जानकी मंगल' उसी सप्ताह के रविवार को।

'गीतावली'—'गीतावली' अर्थात् 'पदावली रामायण' के निर्माण के सम्बन्ध में कोई अन्तः साक्ष्य उपलब्ध नहीं। डॉ० श्यामसुन्दरदास 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर उसका रचना काल सं० १६१६-२८ तक मानते हैं और पं० रामनरेश त्रिपाठी इसे सं० १६१५ से १६२० तक का। त्रिपाठीजी का तर्क त्रिविध है: १—'गीतावली' में मानस से भी अधिक कथा का विस्तार है जो काव्योचित है, २—'मानस' के भाव 'गीतावली' की अपेक्षतः अधिक परिष्कृत हैं, तथा ३—'गीतावली' में कवि तुलसीदास के दर्शन होते हैं, किन्तु 'मानस' में भक्त तुलसीदास के।[3] डॉ० माताप्रसाद पहले दो तर्कों को परस्पर विरोधी समझते हैं, और उन्होंने तीसरे के उत्तर में 'गीतावली' के सुन्दर काण्ड (पद सं० २८, २९, और ३०) से दास्य-भक्ति के उदाहरण उपस्थित किए हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा 'गीतावली' पर 'वाल्मीकि रामायण' का प्रभाव मानकर उसे १६४३ के लगभग की रचना मानते हैं क्योंकि तुलसीदासजी ने 'वाल्मीकि रामायण' की प्रतिलिपि १६४१ वि० में की थी।[4] किन्तु मैं इस धारणा से अपने को दो कारणों से असहमत पाता हूँ। प्रथम तो यह कि सं० १६४१ वाली 'वाल्मीकि रामायण' की प्रति

---

१. तुलसीदास, पृ० २०८।
२. तुलसी और उनका काव्य, पृ० २४४।
३. तुलसीदास और उनकी कविता, पृ० ३८०-३९८।
४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४१९-२१।

के लिपिकार तुलसीदास नामक कोई कायस्थ थे,[1] दूसरे यह असम्भव है कि गोस्वामीजी ने ६३ वर्ष की अवस्था तक अर्थात् १६३१ तक 'वाल्मीकी रामायण' का पारायण न किया होगा। सोरों-सामग्री के अनुसार वे १६०४ वि० में गृहत्याग से ११-१२ दिन पूर्व नवाह बाँचने गये थे। डॉ० माताप्रसाद गुप्त 'मानस' और 'गीतावली' की कथा-वस्तु की तुलना के पश्चात् 'गीतावली' को १६५८ वि० के लगभग की रचना मानते हैं।[2] मेरी ऐसी कल्पना है कि 'रामचरितमानस' की कथा-वस्तु पर 'वाल्मीकि रामायण' से भिन्न होने पर, पंडित-समाज और जन-साधारण में चर्चा चली होगी कि 'रामचरित-मानस' की कथा प्रामाणिक नहीं और उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए भगवान् राम को अर्जी (विनयपत्रिका) देनी पड़ी। माना कि उनके 'रामचरितमानस' की कथा निराधार न थी, किन्तु वह आधार सुपरिचित एवं सर्वग्राह्य न था, अतएव उन्होंने अपनी उत्तरकालीन रचनाओं की कथावस्तु को 'वाल्मीकि रामायण' एवं 'अध्यात्म रामायण' पर ही मुख्यतः आधृत किया। इस परिस्थिति में 'गीतावली' को १६४३ से १६५० वि० के बीच की रचना मानना ठीक होगा।

'रामलला नहछू'—इसकी एक हस्त-लिखित प्रति डॉ० माताप्रसाद गुप्त को प्राप्त हुई थी जो माघ सुदी पंचमी सोमवार १६६५ वि० की लिखी हुई है। इससे प्रकट होता है कि इस संवत् से पूर्व ही उसका निर्माण हो चुका था। परन्तु कब ? श्री सद्गुरु-शरण अवस्थी उसे १६१६ वि० की और पं० रामनरेश त्रिपाठी १६१५ वि० की कृति समझते हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास उसकी रचना 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' के समय की मानते हैं। मेरी विनीत सम्मति में 'नहछू' दोनों उक्त 'मंगलों' के पीछे की रचना है जबकि स्वयं, अथवा किसी की प्रार्थना पर, गोस्वामीजी ने अवधी-भोज-पुरी में भी अत्यन्त साधारण स्त्री-पुरुष समाज को घृणित गानों से रोकने के लिए, एवं उनके मनोविनोद के लिए, इसे लिखा होगा, जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दरदास[3] और डॉ० रामकुमार वर्मा[4] भी समझते हैं। उसकी रचना संवत् १६६५ के लगभग होनी चाहिए।

बरवै—इसके रचना-काल का कोई अन्तः साक्ष्य उपलब्ध नहीं। पं० रामनरेश त्रिपाठी इसे १६१० से १६४० तक की रचना मानते हैं,[5] किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि रहीम का जन्म ही १६१३ वि० में हुआ था जिनके अनुकरण पर इसकी रचना हुई। 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर डा० श्यामसुन्दरदास समझते हैं कि गोस्वामीजी ने इसकी रचना रहीम के "बरवै" देखकर १६६९ में की थी।[6] श्री सद्गुरु शरण अवस्थी के मत से रामलला नहछू के कुछ ही अनन्तर बरवै की रचना का समय होना चाहिए।[7] भाषा-साम्य के दृष्टिकोण से अवस्थीजी का यह सुझाव ठीक ही प्रतीत होता है, किन्तु डॉ० श्यामसुन्दरदास प्रदत्त संवत के आस-पास ही जैसा कि डॉ० रामकुमार

१. दे० दशम अध्याय के अन्तर्गत 'वाल्मीकि रामायण' की प्रति पर विचार।
२. तुलसीदास, पृ० २४८।
३. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९९।
४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३९४।
५. तुलसीदास और उनकी कविता, पृ० ३७८।
६. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १००।
७. तुलसीदास के चार दल, पृ० १०२।

वर्मा भी मानते हैं।[१] डॉ० माताप्रसाद गुप्त को कवि 'बरवै' के तीन छन्दों में (६७, ६८, ६९) निकट आती हुई मृत्यु की धुंधली प्रतिच्छाया से प्रभावित दिखायी पड़ता है।[२] डॉ० गुप्त का अनुमान ठीक प्रतीत होता है। अतः 'बरवै रामायण' का रचना-काल संवत् १६६९ के लगभग मान लेना युक्ति-युक्त है।

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३९९।

२. तुलसीदास, पृ० २५६।

गोस्वामी जी की साहित्यिकता

(क) काव्य का रूप

शब्दार्थ की सम्पृक्तता—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध घनिष्ठ है। निरर्थक शब्द का अस्तित्व व्यवहार से बाहर एवं शब्दहीन अर्थ की सत्ता मनीषी के मन में भले ही हो, उसे काव्य में स्थान नहीं। देखने में वे अलग-अलग हैं, वास्तव में नहीं। महाकवि कालिदास ने भगवान् शिव और भगवती पार्वती की उपमा अर्थ और वाणी से दी तथा अर्द्ध-नारीश्वरता की समता शब्दार्थ की सम्पृक्तता से की है :

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ। रघु० १।

तुलसीदासजी ने भी इस तथ्य का निर्देश बड़े सुन्दर रूप से किया है।[1] जैसे जल और तरंग अलग माने जाते हैं यद्यपि वास्तव में वे एक-दूसरे से अलग नहीं, ठीक वैसे ही कहने के लिए तो शब्द और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, पर वास्तव में नहीं :

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। रा० १, १८।

काव्य-तत्त्व—तुलसीदास जी शारदा (प्रतिभा अथवा प्रेरणा), हृदय (भाव), मति (बुद्धि), विचार (कल्पना), युक्ति (शैली-चातुर्य) को काव्य के तत्त्व समझते प्रतीत होते हैं :

हृदय सिंधु मति सीप समाना, स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जो बरषइ बर बारि बिचारू, होहिं कबित मुकुता मनि चारू।
जुगति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित बर ताग। रा० १,१०-११

काव्य के अंग और उद्देश्य—अक्षर, अर्थ, अलंकार और छन्दों के आधार पर रचना अनेक प्रकार की होती है। कविता में भावों और रसों के भेदोपभेद और गुण-दोष अनेक प्रकार के होते हैं। यदि भामह,[2] दण्डी,[3] और केशव[4] अलंकार पर आग्रह करते हैं, तो वामन[5] रीति पर, कुन्तक[6] वक्रोक्ति पर, आनन्दवर्द्धन[7] और अभिनवगुप्त ध्वनि पर, तथा भरत मुनि[8] एवं विश्वनाथ[9] रस पर। आचार्य मम्मट[10] के मतानुसार, जो रचना दोष-रहित और गुणवती हो, जिसमें कहीं-कहीं अलंकार न भी हों, वह काव्य है। गोस्वामीजी ने भी कहा है :

आखर अरथ अलंकृत नाना, छंद प्रबन्ध अनेक बिधाना
भावभेद रस भेद अपारा कबित दोस गुन बिबिध प्रकारा। (रा० १, ८, ९-१०)

---

१. वर्णानामर्थ संघानां रसानां छंदसामपि। मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ॥ भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वास रूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्॥ रा १,१-२

२. काव्यालंकार १,१३-१५। ३. काव्यादर्श २,१; २,२१४; २,२७५।

४. कविप्रिया ५,१-३। ५. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १,२,६।

६. विक्रोक्तिजीवित १,१०। ७. ध्वन्यालोक १,१।

८. नाट्य शास्त्रम्: न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्त्तते।

९. साहित्य दर्पण: वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

१०. काव्य प्रकाशः तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि।

'तुलसी सतसई' में कविता के अंग हैं : अलंकार, रीति, गुण, दोष, और विशद तथा विविध वर्णन। काव्य-सरोवर के ये पाँच कमल हैं। कविता में विनय को इन कमलों का पराग, विचार को रस, तथा हृदयस्पर्शिता को सुगन्ध कहा गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष काव्य-सरोवर के चार घाट हैं। काव्य से प्रेम-भक्ति की धारा उमड़ कर चलती है। छन्द इस धारा की चंचल तरंगे हैं, तथा लौकिक एवं वैदिक विधियाँ इसके किनारे हैं। जिस प्रकार नदी का प्रवाह किनारे के वृक्षों को उखाड़ देता है उसी प्रकार सत्कविता का प्रवाह मैं-तू की संकीर्णता एवं तज्जन्य दोषों और विकारों का उत्पाटन कर विनय-समत्व आदि के प्रचार-द्वारा संसार को शिवत्व प्रदान करता है।

अलंकार कवि रीति युत भूखन दूखन प्रीति।
वारिजात बरनन विविध तुलसी विमल बिनीति। तु० स० ४, ९७
विनय विचार सहृद्यता सोइ पराग रस गंध।
कामादिक तिहिं सर लसत तुलसी घाट प्रबन्ध॥ ४, ९८
प्रेम उमंगि कवितावली चली सरित सुचि सार।
राम बरा पुरि मिलन हित तुलसी हरख अपार॥ ४, ९९
तरल तरंग सुछंद वर हरत द्वैत तरु मूल।
वैदिक लौकिक विधि विमल लसत बिसद वर कूल॥ ४, १००

साधन—अतएव कवि के लिए आवश्यक है कि वह कोश, अलंकार, सन्धि, प्रवाह, वर्णमैत्री, और विचारों पर अधिकार प्राप्त कर ले, तथाच विभक्तियों एवं अक्षरों की घटा-बढ़ी के कारण अर्थ का ठीक-ठीक निर्धारण कर सके, क्योंकि भरण (अलंकार, रस, एवं प्रसादादि गुणों के प्रयोग), हरण (अश्लीलत्व, कर्णकटुतादि दोषों के निरसन), अव्ययं (पुनि, एवं आदि अव्ययों तथा प्रत्ययों और उपसर्गों के उचित उपयोग), विकल्प (आवश्यकता के अनुसार गुरु को लघु और लघु को गुरु मानने, तथा पाठक-श्रोताओं पर वैकल्पिक अर्थों से किसी अभिव्यक्ति के द्वारा क्या प्रभाव पड़ेगा इसका पहले से ही अनुमान कर लेने की शक्ति), एवं कल्पना (विचारोन्मेष) के आधार पर कविता का अर्थ किया जाता है।

कोस अलंकृत सन्धि गति मैत्री बरन विचार।
हरन भरन सुविभक्ति बल कविहिं अरथ निरधार। ३, ९०।
भरन हरन अव्यय अमल सहित विकल्प विचार।
कह तुलसी मति अनुहरित दोहा अरथ अपार॥ तु० स० ३, ८८।

'मानस' का रूपक—'रामचरित मानस' में रामचरित-रूपी मानसरोवर का वर्णन बड़े साहित्यिक ढंग से हुआ है, जिसमें काव्यांगों का भी उल्लेख है :

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोई वर वारि अगाधा॥
राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥

छंद सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा।।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।।
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ग्यान बिराग बिचार मराला।।
धनि अवरेव कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भांती।।
अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान बिग्यान बिचारी।।
नवरस जप तप जोग बिरागा। ते सब जल चर चारु तड़ागा।।
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना।।
संत सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई।।
भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना।
सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना।।
औरउ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा।।

रा० १, ३६, १-१५

काव्य का प्रयोजन—काव्य की रचना 'स्वान्तः सुखाय' (रा० १,७) होती तथा उसके द्वारा 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की प्राप्ति होती है। यद्यपि सत्य का सम्बन्ध दर्शन, गणित, न्याय, विज्ञान आदि से अधिक है, तथापि विदग्ध जन जानते हैं कि गल्प और उपन्यास में भी गूढ़ और व्यापक सत्य अन्तर्हित रहता है।[1] हृदय से हृदय को प्रेरित अभिव्यक्ति को कविता कहते हैं, अतएव 'सुन्दरम्' से उसका अत्यन्त निकट सम्बन्ध है, यों तो वास्तु, मूर्ति, चित्र एवं संगीत नामक अन्य ललित कलाओं से भी 'सुन्दरं' की घनिष्ठता है। वस्तु एवं गुण (अथवा पदार्थ एवं भाव) के सौन्दर्य के चित्रण से चित्त को आह्लाद प्रदान करना काव्य का कर्म है। ठीक भी है। 'रसो वैसः' तैत्तिरीय उपनिषद् (२,७) का यह वाक्य परमसत्ता की सगुणता का द्योतक है। वह आनन्दमय है। आनन्द से ही सृष्टि होती है : आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते (तैत्ति० ३,६)। भले ही यह सृष्टि मैथुनी हो या अमैथुनी, ईश्वर की हो या जीव की, प्रत्येक जीव का प्रयत्न आनन्द के निमित्त है, क्योंकि वह सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति है, और आत्मसाक्षत्कार ही परम पुरुषार्थ है। घर, वस्त्र, भोजन, नृत्य-वाद्य आदि सभी सुख के साधन हैं; लक्ष्य तो सुख है, मिले न मिले। विहित कर्मों से वैयष्टिक एवं सामष्टिक सुख की प्राप्ति होती है, अविहित कर्मों से सुख की हानि। फिर वाणी-विचार और उनकी सम्पृक्तता निरानन्द क्यों हो? अतएव 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की उक्ति संगत ही है।

तो क्या आनन्दोद्भूत और आनन्दमय जगत् में वेश्यादि के सौन्दर्य का चित्रण समीचीन है? क्या दाम्पत्य रति के नग्न चित्र का उद्घाटन, अथवा रंगमंच पर आलिंगन, चुम्बन आदि का प्रदर्शन समुचित है, क्योंकि कला कला के लिए है? 'शिवम्' का कहना है : नहीं। चरित्रस्खलन से शारीरिक एवं मानसिक सुन्दरता नष्ट हो जाती है। सत्ता का भी तिरोभाव हो जाता है। 'शिवम्' का सीधा सम्बन्ध धर्मशास्त्र से है, फिर भी वह सर्व-व्यापक है और 'सत्यं' तथा 'सुन्दरं' को मर्यादित कर लोक-संग्रह की

---

१. साहित्यालोचन, पृष्ठ २१७, नवीं आवृत्ति, २००६ वि०।

प्राप्ति कराता है, वैयक्तिकता को समाजोपयोगी बनाता है। यही 'शिव' तुलसीदास जी के राम हैं, वे उचित ही कहते हैं :

भनित विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
विधुवदनी सब भाँति सँवारी। सोह न वसन बिना वर नारी॥

रा० १, ६, ३-४

स्त्री चाहे वह कितनी सुन्दर क्यों न हो बिना वस्त्रों के अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार अश्लील काव्य कितना ही कलापूर्ण क्यों न हो, अवांछनीय है। नग्न सत्य जिस प्रकार हेय है उसी प्रकार नग्न सौंदर्य भी त्याज्य है, क्योंकि वह सामाजिकता से रहित है। अतएव मनीषियों को 'साहित्य' के 'हित' पर आग्रह करना पड़ा, तुलसी को भी :

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

रा०, १, १३, ६

शिवत्व का माप—साहित्य के स्तर का मापक समाज होता है। अतएव काव्य के साधन—भाषा और भाव—ऐसे हों जिनका उपयोग समाज कर सके। मणि, माणिक्य और मोती बड़े सुन्दर होते हैं, किन्तु वे सर्प, पर्वत और हाथी के मस्तक पर शोभा प्राप्त नहीं करते। हाँ, जब वे राजा के मुकुट में अथवा युवति के शरीर पर आ जाते हैं तो उनकी शोभा होती है। अतएव गोस्वामी जी ने कहा है—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥

रा० १, १०, १-२

कला का मर्मज्ञ हर कोई नहीं होता, देश, काल और पात्र की अपेक्षा रहती ही है। अब्दुर्रहीम खानखाना कहते हैं :

ए गन्धी मति अन्ध तू अतर सुंघावत काहि।
करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि॥

तुलसीदास जी भी :

देसकाल गति हीन जे करता करम न ज्ञान॥
तेऽपि अरथ मग पग धरहिं तुलसी स्वान समान॥

तु० स० ३-६२

अनुभूति-प्रेषणीयता—अधिकारी ही काव्य के मर्म को समझ सकता है और वही उसका आदर कर सकता है। कविता उत्पन्न तो और जगह होती है किन्तु शोभा अन्यत्र पाती है :

तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

रा० १, १०, ३

यही साधारणीकरण[१] अथवा अनुभूति-प्रेषणीयता (कम्यूनिकेब्लिटि ऑव एक्सपीरिएंस) है। इसकी भी मर्यादा है। अपना रोना-गाना किसे अच्छा नहीं लगता। गोस्वामी जी के शब्दों में—

---

१. सम्मेलन-पत्रिका, पौष-फाल्गुन, शक १८८२

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सुरस होउ अथवा अति फीका ।।
रा० १, ७ (घ), ११

जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं ।।
रा० १, ७ (घ), ११-१२

पैहहिं सुख सुनि सुजन सब, खल करिहहिं उपहास ।। रा० १, ८

कवि का बल—इस प्रकार का उपहास सुकवि के उत्साह का हनन करता है, पर उस से घबड़ाना नहीं चाहिए, क्योंकि प्रतिकूल समालोचना से अन्त में कल्याण ही होता है, पर समय यह है कि काव्य में अक्षर और अर्थ का सच्चा बल[1] और उसमें लोक-कल्याण, शिवत्व अथवा रामत्व की भावना से ओत-प्रोत हो। कवि में ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि वह थोड़े शब्दों में अधिक अभिप्राय को प्रकट कर सके (रा० २,२६३,२)

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे ।।
ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी ।।

गोस्वामी जी को भी विश्वास था कि

खल परिहास होहि हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा ।।
रा० १, ८, १

हंसहिं बक दादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल विमल बतकही ।।
रा० १, ८, २

कवित रसिक न राम पद नेहू। तिन कहँ सुखद हास रस एहू ।।
भाषा भनिति मोरि मति थोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी ।।
प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी ।।
हरिहर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की ।।
राम भगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी ।।
रा० १, ८, १-७

श्लाघात्मक काव्य—गोस्वामी जी नरकाव्य को प्रशस्त नहीं समझते। वे स्वयं किसी राजाश्रय में न रहते थे, अतएव उन्हें किसी व्यक्ति-विशेष की श्लाघा करनी न थी। हाँ, टोडर नामक कोई व्यक्ति विलक्षण राम-भक्त और तुलसीदास का सेवक और मित्र रहा जिसकी मृत्यु के अवसर पर गोस्वामी जी के हृदय का स्नेह अवश्य व्यक्त हुआ था। काव्य के लिए तो जनहित में प्रकृति-चित्रण एवं साधारणीकृत मनोभावों की अभिव्यंजना ही उपयुक्त है, अन्यथा, जैसा कि गोस्वामी जी का परामर्श है,

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ।।
रा० १, १०, ७

गोस्वामीजी का कवित्व—गोस्वामी जी दम्भ से सर्वथा शून्य थे। आचार्य बनने का दावा तो दूर, उन्हें तो अपने को कवि कहने-मात्र में आपत्ति थी। असीम-निरभिमान के सागर, वे अपने विषय में कहते हैं :

कवि न होउँ नहि वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू ।।
रा० १, ८, ८

---

१. कविहिं अरथ आखर बल साँचा।

कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

रा० १, ८, १०

जदपि कवितरस एकउ नाहीं॥ रा० १, ९, ७

तथापि समकालीन कवियों ने उनके काव्य को सराहा : नाभादास जी ने उन्हें दूसरा वाल्मीकि बताया। मधुसूदन जी सरस्वती ने उन्हें आनन्दकानन का जंगमतरु और उनकी कविता को उस तरु की राम-भ्रमर-भूषिता मंजरी समझा। अन्य कवियों ने उन्हें हिन्दी साहित्याकाश का चन्द्रमा समझकर इस उक्ति को प्रसारित किया कि

सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास।
अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

तुलसीदास जी पर अध्ययन जितना बढ़ा उतना ही गम्भीर और व्यापक आधुनिक समालोचकों ने उन्हें पाया। उनके रचना-विधान की सब से बड़ी विशेषता, पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार, यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौन्दर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्यवाणी में दिखाकर साहित्य-क्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए।[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की सम्मति में, 'इसी संतुलित प्रतिभा ने उत्तर भारत को वह महान् साहित्य दिया जो दुनिया के इतिहास में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता—। महात्मा गाँधी को कोई वस्तु इतना आनन्दित न करती थी जितना गीता और तुलसीकृत रामायण'।[2] विदेशियों ने भी इस सन्त को कुछ कम सम्मान न दिया। विंसेण्ट स्मिथ ने इन्हें मुग़काल का महत्तम व्यक्ति, और ग्रियर्सन ने इन्हें बुद्धदेव के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ लोकनायक माना। एफ० ई० के महोदय इनके 'रामचरितमानस' की गणना संसार के श्रेष्ठ अभिजात काव्यों में करते हैं। ए० ए० मैक्डोनल के मतानुसार इनका 'रामचरितमानस' उत्तर भारत के करोड़ों जनों के लिए 'बाइबल' के समान श्रेष्ठ और पवित्र है। ग्रिफ़िथ समझते हैं कि इंगलैंड में 'बाइबिल' का जो आदर है उससे अधिक आदर पश्चिमोत्तर प्रान्त में तुलसीकृत 'रामायण' का है। इस महाकाव्य का अनुवाद ग्राउज़, हिल, और एटकिंस महोदयों ने अंग्रेजी में, एवं एलेग्जी बारान्निकोव ने रूसी भाषा में, किया; और यूनेस्को ने इसे विश्वप्रसार के निमित्त मनोनीत किया है।

(ख) भाषा

संस्कृत-निष्ठ—गोस्वामीजी ने हिन्दी की तीन बोलियों में, और संस्कृत में भी, रचना की है। उन्होंने संस्कृत में अधिक नहीं लिखा, संस्कृत में उनके लिखे श्लोक 'रामचरितमानस' में मिलते हैं। प्रतीत होता है कि वे संस्कृत में भी अच्छी कविता कर लेते थे क्योंकि वे छंद ललित और मनोहर हैं, यद्यपि उनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ यत्र-तत्र विद्यमान हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। पुराणों में निष्णात वे अच्छे कथावाचक और संगीतज्ञ थे। उन्होंने संस्कृत-व्याकरण पढ़ा तो अवश्य होगा, जैसा कि 'रामचरितमानस' की इस पंक्ति से स्पष्ट है :

सरिस स्वान मघवान जुबानू॥ रा० २, ३०१, ८

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४१, २००५ वि०।
२. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २४१।

किन्तु यह आवश्यक नहीं कि किसी विषय को पढ़ लेने से उस पर अधिकार भी हो, जबकि साक्ष्य प्रतिकूल हो। संस्कृतज्ञ होने के नाते उनकी भाषा कहीं-कहीं संस्कृत-निष्ठ हो गयी है, उदाहरणार्थ 'विनय पत्रिका' के कतिपय पद। शिव-रामस्तुति-सम्बन्धी उसके अनेकानेक पदों में संस्कृत-पदावली प्रचुरता से विद्यमान है। उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं।—

शंकरं, शंप्रदं, सज्जनानन्ददं, शैल कन्या वरं, परम रम्यं
काम-मद-मोचनं, तामरस लोचनं, वामदेवं भजे भाव गम्यं।
कंबु-कुन्देन्दु-कर्पूर-गौरं शिवं, सुन्दरं, सच्चिदानन्दकंदं
सिद्ध-सनकादि-योगीन्द्र-वृन्दारका, विष्णु-विधि-वंद्य चरणारविंदं।
ब्रह्म-कुल-वल्लभं, सुलभ मति दुर्लभं, विकट वेषं, विभुं, वेद पारं
नौमि करुणाकरं, गरल-गंगाधरं, निर्मलं, निर्गुणं, निर्विकारं।
लोकनाथं, शोक-शूल-निर्मूलिनं, शूलिनं, मोह-तम-भूरि-भानुं
कालकालं, कलातीतमजरं हरं, कठिन-कलिकाल-कानन-कृशानुं।
तज्ञमज्ञान-पाथोधि-घट संभवं सर्वगं सर्वं सौभाग्यमूलं
प्रचुर भव भंजनं, प्रणत जन रंजनं, दास तुलसी शरण सानुकूलम् ॥१२॥

उक्त भजन की भाषा शुद्ध संस्कृत मान लेने पर 'वृन्दारका', 'तज्ञ' और 'तम-भूरि' विचारणीय हैं। हिन्दी-संस्कृतमय तिलचावली भाषा का एक उद्धरण यह है—

यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्मवश भ्रमत जगजोनि संकट अनेकं।
तत्र त्वद्भक्ति, सज्जन समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकं।
प्रबल भव जनित त्रैव्याधि-भैषज भगति भक्त भैषज्यमद्वैतदरसी।
संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी ॥५७,६॥

गोस्वामीजी को संस्कृत-लिखने का कोई मोह भी न था, क्योंकि—

का भाषा का संसक्रित, विभव चाहिये साच,
काम जो आवे कामरी, का लै करिय कमाच। तु० स० ७, १२५

अतएव उन्होंने जन-भाषा का ही प्रयोग किया है—

गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान। रा० १, १० ख।

व्रजावधी—व्रज और अवध प्रान्तों की सीमा पर रिली-मिली भाषा बोली जाती है, जिसे व्रजावधी कह सकते हैं। सूकरक्षेत्र (सोरों) ऐसे ही क्षेत्र में स्थित है जहाँ न शुद्ध अवधी और न शुद्ध व्रजी ही जनभाषा है। गोस्वामीजी ने अपने लोक-प्रिय ग्रंथ 'रामचरित मानस' का माध्यम बोल-चाल की अपनी यही व्रजावधी रखी, यद्यपि शुक्लजी, दीक्षितजी आदि विद्वान् उसे अवधी ही समझते रहे हैं।[1] इस ग्रंथ का प्रारम्भ, श्लोकों को छोड़ कर, इस प्रकार होता है :

जो सुमिरत सिधि होइ, गन नायक करिवर वदन
करो अनुग्रह सोइ, बुद्धि रासि सुभ गुन सदन।
मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन
जासु कृपा सो दयाल, द्रवौ सकल कलिमल दहन।

---

१. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १६८; 'तुलसीदास और उनका युग', पृष्ठ ३१८।

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन बारिज नयन
करो सो मम उर धाम, सदा छीर सागर सयन।
कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना अयन
जाहि दीन पर नेह, करो कृपा मर्दन मयन।
बन्दौं गुरु पद कंज, कृपा सिंधु नर रूप हरि
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रविकर निकर।
बंदौं गुरु पद पदुम परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमिय मूरि मय चूरन चारू, समन सकल भव रुज परिवारू।
सुकृत संभु तन विमल विभूती, मंजुल मंगल मोद प्रसूती।
जन मन मंजु मुकर मल हरनी, किए तिलकु गुन गन बस करनी।
श्री गुर पद नख मनिगन जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू, बड़े भाग उर आवै जासू।
उघरहिं विमल विलोचन ही के, मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।
सूझहिं रामचरित मनि मानिक, गुपुत प्रकट जहँ जो जेहि खानिक।।

रा० १, १-६

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा।
वायस पलिअहिं अति अनुरागा, होंहि निरामिष कबहुँ कि कागा।।
वंदो संत असज्जन चरना दुख प्रद उभय बीच कछु वरना।। रा० १,४, १-३

अयोध्या काण्ड में दशरथ जी कैकेयी से कहते हैं :—

अनहित तोर प्रिया केइँ कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू
सकौं तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी।। रा० २, २५, १-३

कैकेयी का भी उत्तर है :—

सुनहुँ प्रान प्रिय भावत जीका। देहु एक वर भरतहि टीका।।
माँगौं दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी। रा० २, २८, १-२।

'अरण्य काण्ड' में रामचन्द्र जी मुनि अगस्त्य से मन्त्र-याचना करते हैं :—

तब रघुवीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं।।
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयेउँ। तातें तात न कहि समुझायेउँ।।
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही।। रा० ३, १२, १-३

'किष्किन्धा काण्ड' में राजा सुग्रीव सचिव हनुमान जी को रामचन्द्रजी का भेद लेने के लिए प्रेषित करते हैं :—

तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुल बल सींवा।।
अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल रूप निधाना।।
धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जिय सयन बुझाई।।
पठए बालि होंहि मन मैला। भागौं तुरत तजौं यह सैला ।।रा० ४, ०, २-५।

'सुन्दर काण्ड' में भगवान् राम का शरणागत विभीषण से कुशल-प्रश्न है :—

कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा।।

खल मंडली बसहु दिनु राती । सखा धर्म निबहइ केहि भाँती ।।
मैं जानौं तुम्हारि सब रीती । अति नय निपुन न भाव अनीती ।।

रा० ५, ४५, ४-६

'लंका काण्ड' में मेघनाद के नागपाश में भगवान् राम के बँध जाने पर जाम्बवान्—

चरित राम के सगुन भवानी । तर्कि न जाहि बुद्धि बल बानी ।।
अस विचारि जे तज्ञ विरागी । रामहि भजहिं तर्क सब त्यागी ।।
व्याकुल कटक कीन्ह घन नादा । पुनि भा प्रगट कहे दुर्बादा ।।
जाबवन्त कह खलु रहु ठाढ़ा । सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढ़ा ।।
बूढ़ जानि सठ छाड़ेउँ तोही । लागेसि अधम पचारै मोही ।।
अस कहि तरल त्रिसूल चलायो । जामवन्त कर गहि सोइ धायो ।।
मारिसि मेघनाद कै छाती । परा भूमि घुर्मित सुरघाती ।।
पुनि रिसान गहि चरन फिरायो । महि पछारि निज बल देखरायो ।।
वर प्रसाद सो मरै न मारा । तब गहि पद लंका पर डारा ।।
इहाँ देव रिषि गरुड़ पठायो । राम समीप सपदि सो आयो ।।

रा० ६, ७३, १-१०

गोस्वामीजी 'रामचरित मानस' को इन शब्दों से सम्पूर्ण करते हैं:—

रघुवंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं
सतपंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे
दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्री रघुवर हरे ।
सुन्दर सुजान कृपा निधान अनाथ पर कर प्रीति जो
सो एक राम अकाम हित निर्वान प्रद सम आन को
जाकी कृपा लवलेसते मतिमंद तुलसीदास हू
पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ।
मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुवीर
अस विचारि रघुवंस मनि हरहु विषम भवभीर
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।।रा० ७, १३०।।

इन उद्धरणों के अवलोकन से यही निष्कर्ष निकलता है कि व्रजावधी से 'रामचरित मानस' का आदि और अन्त है और यह बोली सभी काण्डों में विद्यमान है, अतः 'रामचरित मासम' की भाषा को व्रजावधी कहना अनुपयुक्त न होगा ।

जायसी और तुलसी की भाषा में अन्तर— मलिक मुहम्मद जायसी तो गोस्वामी जी से कुछ ही समय पूर्व थे । उन्होंने भी पद्मावत नामक महाकाव्य लिखा । यदि 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत' की भाषाओं को एक ही नाम से अभिहित किया जाय तो दोनों में महान् अन्तर लक्षित होता है । उदाहरण के निमित्त दोनों महाकाव्यों की चौपाइयों के कुछ नमूने पर्याप्त होंगे । रामचरित मानस में तुलसीदास जी अयोध्या के वैभव का वर्णन करते हैं :—

जब तें रामु ब्याहि घर आए, नित नव मंगल मोद बधाए।
भुवन चारिदस भूधर भारी, सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी।
रिधि सिधि सम्पति नदी सुहाई, उमगि अवध अँबुधि कहुँ आई।
मनिगन पुर नर नारि सुजाती, सुचि अमोल सुन्दर सब भांती।
कहि न जाइ कछु नगर विभूती, जनु यतनिअं बिरंचि करतूती।
सब विधि सब पुर लोग सुखारी, रामचन्द मुख चन्दु निहारी।
मुदित मातु सब सखी सहेली, फलित बिलोकि मनोरथ बेली।
राम रूपु गुन सीलु सुभाऊ, प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ। रा० २।

'पद्मावत' में जायसी जी नागमती की वियोगावस्था का चित्रण इस प्रकार करते हैं:—

नागमती चितउर पथ हेरा, पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा।
नागर काहु नारि बस परा, तेइ मोहि पिय मो सौं हरा।
सुआ काल होइ लेइगा पीऊ, पिउ नहिं जात जात बरु जीऊ।
भयउ नरायन बावँन करा, राज करत राजा बलि छरा।
करन पास लीन्हेंउ कै छन्दू, बिप्र रूप धरि झिलमिल इन्दू।
मानत भोग गोपिचन्द भोगी, लेइ अपसवाँ जलंधर जोगी।
लेइगा कृस्नहि गुरुड़ अलोपी, कठिन बिछोह जिअहिं किमि गोपी।

ब्रज-भाषा पर अधिकार—गोस्वामी जी का अधिकार ब्रजभाषा पर था, जिसकी अभिव्यक्ति 'गीतावली', 'कवितावली', 'दोहावली' और 'विनय-पत्रिका' में सुचारु रूप से दृष्टिगोचर होती है। ब्रज-भाषा-सौष्ठव-प्रदर्शन के निमित्त कुछ उदाहरण स्थाली-पुलाक-न्याय से उद्धृत हैं:—

'विनय-पत्रिका'

जागु, जागु जीव जड़ जोहै जग-जामिनी,
देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी।
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति संताप रे,
बूड़यो मृगवारि खायो जेवरी को सांप रे।
कहैं वेद बुध, तू तो बूझि मन मांहि रे,
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे।
तुलसी जागे ते जाय ताप तिहूँ तायँ रे,
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे॥ ७३॥

'कवितावली'

प्रभु रुख पाइ कै, बोलाइ बाल घरनिहि
बंदि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि घेरि।
छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगा जू को
धोइ पाय पीअत पुनीत वारि फेरि फेरि।
तुलसी सराहैं ताको भागु सानुराग सुर
बरषैं सुमन, जय जय कहैं टेरि टेरि।

विविध-सनेह सानी बानी असयानी सुनि
हँसें राघो जानकी लषन तन हेरि हेरि । २,१०।

'गीतावली'

पंकज करनि चाप तीर तरकस कटि
सरद सरोजहु तें सुन्दर चरन हैं।
सीताराम लषन निहारि ग्रामनारि कहैं
हेरि हेरि हेरि हेली हिय के हरन हैं।
प्रानहू के प्रान से, सुजीवन के जीवन से
प्रमहू के प्रेम, रंक कृपिन के धन हैं।
तुलसी के लोचन चकोर के चन्द्रमा से
आछे मन-मोर चित चातक के घन हैं ॥ २, २६, ३-४

'कृष्ण गीतावली'

कबहुँ न जात पराए धामहिं।
खेलत ही देखौं निज आंगन सदा सहित बलरामहिं।
मेरे आकु कहाँ गोरस को नवनिधि मंदिर यामहिं।
ठाली ग्वालि ओरहने के मिस आइ बकहि बेकामहिं।
हौं बलि जाउँ जाहु कितहूँ जनि मातु सिखावति स्यामहिं।
बिनु कारन हठि दोष लगावति तात गए गृह तामहिं।
हरि मुख निरखि परुष बानी सुनि अधिक अधिक अभिरामहिं।
तुलसीदास प्रभु देख्योइ चाहति श्री उर ललित ललामहिं ॥ ५ ॥

तुलसी-भाषा का अवधी-रूप—गोस्वामी जी की रचना अवधी भाषा में भी है। डॉ० राजपति दीक्षित के मतानुसार " 'रामलला नहछू', 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' ये तीनों ही पूरबी अवधी में लिखे गए हैं, भाषा बड़ी ही मधुर और ठेठ रूप में प्रयुक्त है" ।[1] स्थाली-पुलाक-न्याय से दोनों 'मंगलों' के कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं, पर उनसे यह सन्देह होने लगता है कि ये छन्द ठेठ ब्रजी के हैं, या ठेठ अवधी के, अथवा ठेठ ब्रजावधी के :—

'पार्वती मंगल'

देवि करौं कछु विनय सो विलगु न मानव
कहौं सनेह सुभाय साँच जिय जानव ॥ ४८ ॥
गौरी निहारेउ सखी मुख, रुख पाइ तेहि कारन कहा
'तप करहिं हर हितु' सुनि बिहँसि बटु कहत 'मुरखाई महा
जेहि दीन्ह अस उपदेस बरेहु कलेस करि वर बावरो
हित लागि कहौं सुभाय सो बड़ विषम वैरी रावरो' ॥ ५४ ॥
मृग नयनि विधुवदनी रचेउ मनि मंजु मंगल हार सो
उर धरहु जुवती जन विलोकि तिलोक सोभा सार सो

[1] 'तुलसीदास और उनका युग', पृष्ठ ३९७

कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं
तुलसी उमा संकर प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं ॥ १६४ ॥

'जानकी-मंगल'

गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति ।
सारद सेष सुकवि स्रुति संत सरल मति ॥ १ ॥
हाथ जोरि करि विनय सबहि सिर नावौं ।
सिय रघुवीर विवाहु यथामति गावौं ॥ २ ॥
सुभ दिन रच्यौ स्वयंवर मंगल दायक ।
सुनत स्रवन हिय वसहिं सीय रघुनायक ॥ ३ ॥
तहँ बस नगर जनकपुर परम उजागर ।
सीय लच्छि जहँ प्रकटी सब सुख सागर ॥ ५ ॥
जनक नाम तेहि नगर बसै नर नायक ।
सब गुन अवधि न दूसर पटतर लायक ॥ ६ ॥
विरचे विरंचि बनाई बाँची रुचिरता रंचौ नहीं ।
दस चारि भुवन निहारि देखि विचारि नहिं उपमा कहीं ।
ऋषि संग सोहत जात मगु छवि बसति सो तुलसी हिए ।
कियो गमन जनु दिननाथ उत्तर संग मधु माधव लिए ॥३६॥
जग जननि लोचन लाहु पाए सकल सिवहिं मनावहीं ।
वर मिलौ सीतहिं साँवरो हम हरषि मंगल गावहीं ॥
एक कहहिं 'कुंवर किसोर कुलिस कठोर सिवधनु महा ।
किमि लेहिं बाल मराल मंदर नृपहि अस काहु न कहा' ॥६३॥
भे निरास सब भूप विलोकत रामहिं ।
पन परिहरि सिय देव जनक वर स्यामहिं ॥ ६४ ॥
सो निसि सोहावनि मधुर गावनि बाजने बाजहिं भले ।
नृप कियो भोजन पान पाइ प्रमोद जनवासहि चले ॥
नट भाट मागध सूत जाचक जस प्रतापहिं बरनहीं ।
सानंद भूसुर वृंद मनि गज देत मन करवै नहीं ॥ १८० ॥
विकसहिं कुमुद जिमि देखि विधु भइ अवध सुख सोभामई ।
एहि जुगति राम-विवाह गावहिं सकल कवि कीरति नई ॥
उपवीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं ।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिनु पावहीं ॥२१६॥

'रामाज्ञा प्रश्न'

रघुवर आयसु अमरपति अमिय सींचि कपि भालु ।
सकल जिआए सगुन सुभ सुमिरहु राम कृपालु ॥ ६, १ ॥
सादर आनी जानकी हनूमान प्रभु पास ।
प्रीति परस्पर समउ सुभ सगुन सुमंगल वास ॥ ६, २ ॥

'रामलला नहछू'

आले हि बांसक माड़व मनिगन पूरन हो।
मोतिन्ह झालरि लागि चहूँ दिसि झूलन हो।
गंगाजल कर कलस तो तुरत मंगाइय हो।
जुवतिन्ह मंगल गाइ राम अन्हवाइय हो॥ ३॥

इनको पढ़कर नन्ददास जी और सूरदास जी की निम्नलिखित पंक्तियों का ध्यान आ जाता है :—

अक्षय तृतीया : नन्ददास

चंदन पहरि नाव हरि बैठे, संग वृषभान-दुलारी हो
यमुना-पुलिन तहाँ सोभित है, खेलत लाल बिहारी हो
त्रिविध पवन वहति सुखदायक, सीतल मंद सुगंध हो
कमल प्रकासित द्रुम बहु फूले, जहाँ राजत नंदनंद हो
अक्षय-तृतीया अक्षय-लीला, संग राधिका प्यारी हो
करत विहार संग सब सखियाँ, नंददास बलिहारी हो॥

सूरसागर : सूरदास

नेंकु चितै मुसक्याइ कै सबको मन हरि लीन्हौं हो
पहरे राती चूनरी, सेत उपरना सोहै हो
कटि लहँगा नीलो बन्यौ, को जो देखिन मोहै हो ?
चोली चतुरानन ठग्यौ, अमर उपरना राते हो
अँतरौटा अवलोकि कै, असुर महा-मद माते हो ......
इहि लाजन मरिऐ सदा, सब कोउ कहत तुम्हारी हो
सूर स्याम ईहि बरजि कै, मेटौ अब कुल गारी हो॥ ४४॥

तुलसी-भाषा में क्रिया-रूप—'रामचरितमानस', 'विनय-पत्रिका', कवितावली', 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल', 'रामलला नहछू' और 'रामाज्ञा प्रश्न से जो उद्धरण दिये गये हैं उनमें क्रियाओं के जो रूप हैं उन पर तुलनात्मक विचार आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा करने से यह विदित हो सकता है कि गोस्वामीजी की भाषा का नामकरण क्या किया जाय। 'विनय पत्रिका', 'कवितावली', 'गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' में क्रियाएँ व्रजभाषा की हैं; किन्तु 'रामचरित मानस', 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' में भी अवधी की अपेक्षा व्रजभाषाओं के रूप अधिक मिलते हैं :—

यदि 'रामचरित मानस' के उद्धरण में वंदौं, सकौं, माँगौ, भागौं, जानौं, देखौं, मारौं आदि रूपों का प्रयोग है; तो 'कृष्णगीतावली' में देखौं का; 'पार्वती मंगल' में करौं, कहौं आदि का; और 'जानकी मंगल' में नावौं, गावौं आदि का प्रयोग प्रचुरता से है। यदि 'रामचरित मानस' में चढ़ै, आवै, कहै, मरै, धरै; तो 'विनय-पत्रिका' में जोहै, सहै, कहै; और 'जानकी मंगल' में वसै प्रयुक्त है। यदि 'रामचरित मानस' में करौ, तजौ, द्रवौ, सुनहु, देहु, पुरवहु, वसहु, कहु, जानहु, हरहु, लागहु के दर्शन होते हैं; तो 'कृष्ण गीतावली' में जाहु के; और 'रामाज्ञा प्रश्न' में सुमिरहु के। यदि

रामचरित मानस में चलायो, धायो, फिरायो, देखायो, पठायो, आयो, पायो, विद्यमान हैं; तो 'विनय-पत्रिका' में बूड्यो, खायो; 'कृष्ण गीतावली' में देख्यो ; 'जानकी मंगल' में कियो और रच्यो। यदि 'रामचरित मानस' में गावहिं, मिटहिं, उघरहिं, सूझहिं, होहिं, भजहिं, कहहिं, सुनहिं, सिधावहिं; तो 'कृष्ण गीतावली' में बकहिं; और 'जानकी मंगल' में गावहिं, मनावहिं, विकसहिं, कहहिं, बाजहिं, पावहीं, गावहीं, सिधावहीं, बरनहीं, दृष्टिगोचर हैं। 'रामचरितमानस' में विचारि, सुनि, जानि, कहि, गहि, धरि, पछारि, ब्याहि; तो 'विनय-पत्रिका' में बूझि; 'कवितावली' में बोलाइ, बंदि, बेरि, भरि, आनि, धोइ, हेरि, टेरि, निहारि; 'गीतावली' में आइ, पाइ; 'रामललानहछू' में गाइ; 'रामाज्ञाप्रश्न' में सींचि; 'पार्वती मंगल' में विलोकि; 'जानकी मंगल' में देखि, परिहरि; और 'कृष्ण गीतावली' में निरखि आदि रूप हैं। 'रामचरित मानस' में सुमिरत, आवत; तो 'विनय-पत्रिका' में सोवत; और 'जानकी मंगल' में सुनत, विलोकत; और 'कृष्ण गीतावली' में जात, खेलत, सिखावति, लगावति, चाहति आदि। 'रामचरित मानस' में पाये, प्रकटी, जिआए, आए, आई, सुहाई; तो 'रामाज्ञा प्रश्न' में आनी; और 'जानकी मंगल' में भे, चले; तो 'कवितावली' में बैठे विद्यमान हैं।

गोस्वामी जी की विविध रचनाओं के क्रियापदों से यही अनुमान होता है कि गोस्वामीजी ने शुद्ध अवधी का प्रयोग कहीं नहीं किया है। जिन रचनाओं को अवधी भाषा का समझा जाता है उनमें भी क्रियापदों की अधिकांश संख्या व्रजभाषा के रूपों की ही है।

नन्ददास की भाषा—गोस्वामीजी के चचेरे भाई महाकवि नन्द ने भी चौपाई-दोहों में जो कविता की है उसका प्रबल साम्य गोस्वामी जी की कला-नैपुण्य और भाव से है :—

'रूपमंजरी'

गड्यो जु मन पिय प्रेम रस क्यों हूँ निकस्यो जाय
कुंजर ज्यों चहले पर्यो छिन-छिन अधिक समाय ॥ २१५ ॥
सखि कह वारिफेरि हौं डारी। रंचक कहि बलि पिय उनहारी
जिन लछिननि ढूंढहुं हौं पाऊँ। अपनी प्यारिहिं तुरत मिलाऊँ
कहति है कुंवरि मुसुकि मधु बानी। किन पाई या सपन कहानी
विजननि वातनि कवन अघाये। काके हाथ मनोरथ आये
मृगतृष्णा कब पानी भई। काकि भूख मन लडुनव गई
तब बोली सहचरि सुखदाता। क्यों कहिए बलि ऐसी बाता
जो अनुकूल होय करतारा। सपने सांच करत नहिं बारा
मृगतष्णा हू पानी करै। मन के लड्डुन भूख पुनि हरै॥

रसमंजरी

करि अपराध प्रिया ढिग आवै। निधरक भए बात बहरावै
ताकहुं प्रिया कटाछिन तारे। हारनि बांधे कमलनि मारे
मारि बिठारि द्वार पहुंचावै। सोवति जानि बहुरि फिरि आवै

जो पिय कनक कहूँ करुनावै। पाटी तरै पर्यो तिहि पावै
ऊपरि सेज पर सोवे जोई। नाइक धृष्ट कहावै सोई ॥ ३०३,३-७

'गोवर्द्धन लीला'

जहं यह गिर गोबरधन सोहै। इन्द्र वराक या आगे कोहै
पूजो याहि भलो जो चाहो। विनु मांगे कीतवु सर गाहो
हमरे मतै यहै मति कीजै। सब वलि लै गोबरधन दीजै
सुन तहि मोहन मुख मृदु वानी। भलो-भलो कहि सबहिन मानी ॥१०-१४

'भाषा दशम स्कन्ध'

सुनिके इन्द्र भयो रिस भारी। लाग्यो देनि सबनि को गारी
धन-मद-अंध नन्द को बेटा। सो भयो हमरे मख को मेटा
ताके बल करि मोसों घाती। रसि है गोप कहां किहि भांती
ज्यों कोउ उरन पूंछ कर धारे। तर्यो चहै सठ सिंधु अपारे
झूठ की ज्यों कोउ नाउ बनावै। मूढ़ तहां लै कुटंब चढ़ावै
ऐसे गोपन कृष्ण भरोसें। महा बैर कीनो है मोसें
अब देखो कैसो सिखलाऊँ। गोकुल गांवहि खोदि बहाऊँ ॥२५,२-७

'विरह मंजरी'

खंजन प्रकट किये दुख दैना। संजोगिनि तिय के से नैना
निरमल जल महँ जलजहु फूले। तिन पर लम्पट अलिकुल झूले
सुधि आवत वा मोहन मुख की। कुटिल अलक जुत सीवां सुख की
मोरनि नव तन चन्दन धारे। देखि-देखि दृग होत दुखारे ॥ ६२, १-४

'सुदामा चरित'

विप्र कहत नहिं घर कछु साजा। तिन्हें मिलत मोहिं आवत लाजा
तीय कहै वे त्रिभुवन स्वामी। अखिल लोक के अंतरजामी
रीझत देर कछू नहिं आनैं। केवल प्रीति रीति पहिचानैं
कहत जदपि जदुपति हैं ऐसे। चक्रपानि प्रभु परसहुँ कैसे
तब तिय उठी चलत पिय जाने। मांगि मूंठि द्वै चिरवा आने
चीर लपेटि सु पिय पकराए। नीकें लिए सु द्विज उठि धाए ॥१७-२२

सोरों के कृष्णदास की भाषा—महाकवि नन्ददास के पुत्र कवि कृष्णदासजी ने भी 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' चौपाई दोहों और छन्दों में लिखा है और जहां तक भाषा का प्रश्न है वे अपने पिता की अपेक्षा अपने ताऊ गोस्वामी तुलसीदासजी के और भी अधिक निकट हैं। अपने 'माहात्म्य' में सोमतीर्थ, गृध्रवट, शाकोट आदि का उल्लेख वे इस प्रकार करते हैं :—

दोहा

सकल तीरथनु अग्रनी, इक सोकरव प्रवेस
तीनहुँ तापन हरत सुधि, मंगल धाम बिसेस ॥२॥

चौपाई

परम पुनीत मोच्छ को धामा। भक्त होत लहि पूरन कामा
सुनि वराह की हितकर बानी। धरा गिरा उचरी रस सानी
सूकरखेत तजहिं जे देहा। कौन लोक ते पावहिं गेहा
कौन पुन्य तहँ मज्जन कीने। का फल द्विजन दान तहँ दीने
का फल तहाँ आचमन कीये। का फल तहाँ भजन मन दीये
तीरथ कौन सौकरव राजे। जिनहिं लखत जन पातक भाजे
कौन परब तिथि का गति दायक। धरमादिक तिमि मोच्छ विधायक
का फल दरसन सों भवनाथा। कहहु सकल प्रभु पावन गाथा
जानहिं जाहि छेत्र गति लहहीं। साधि त्रिवर्ग मुकति गति लहहीं॥

दोहा

असितपच्छ तिथि द्वादसी, आवै माधव मास
जब निसि तीरथ सोमथल, उगै न चन्द अकास॥७॥

चौपाई

तदपि चन्द आलोक लखाई। धरनि छाँह तनु कर प्रगटाई
सोम तीर्थ मधि जाय सुजाना। करहिं दान ध्यान असनाना
सहजहि ते जन मख फल पावें। अन्त दिव्य धाम मम आवें
तासु पूर्व दिसि गिधवट धरनी। तीरथ भू जलनिधि तरनी
तेहि थल गीध तजेउ सरीरा। भयउ कलिंग भूप बलवीरा
पंछी सों मानुष तन पायो। तब सों गिधबट तीर्थ कहायो
तासु निकट साकोट सुहाई। जहाँ सृगालिहु सदगति पाई
जे तीरथ साकोट अन्हाई। ते तजि देह सुरपुरी जाई
अब सूरज तीरथ गुन ग्रामा। वरनहुँ जो थापित मम धामा॥

दोहा

सविधि यजन याजन करें, सौकर तीरथ धाय
अन्त लहें ते सुरग गति, सकल मनोरथ पाय॥१२॥

चौपाई

आदि तीर्थ सौकरव प्रदेशा। जहाँ पुन्य फल होइ विसेसा
एक दान बहु दान समाना। एक मन्त्र जप बहु परमाना
इक मख बहु मख फल प्रगटावा। धरनि वराह छेत्र पर भावा
छत्र वराह सुरसरी तीरा। द्विज गायत्री जपहिं सुधीरा
महा सक्ति सिद्धि ते धारें। सब पूरब पर पातक जारें
तीरथ थल जे बृच्छ लगावें। विप्र पथिक जनवास बनावें
तीरथ मन्दिर जे उद्धारें। ते जस लहि सुरलोक सिधारें
छेत्र वराह न्हाइ जो नारी। ते पति लोक लहें सुखकारी
निज पति प्रान समान सुहागिनि। सुत सुख सहित होइ बड़ भागिनि

सूकर षेत महातम एहा। सुनि धारहि जे मम पद नेहा
पुनि आचरहिं जाहि अनुसारा। तरहिं मनुज ते भव कूपारा।।

छन्द

बाराह छेत्र महात्म सुनि धनि धरनि मन हरषत भई
कृत कृत्य सविनय सीस नाय बराह पद परसत भई।
धनि आदि तीर्थ महान जग परधान सोकर धाम जे
ते धन्य दरसन करत मज्जत भजत जहँ हरिनाम जे ।।३।
बाराह छेत्र महात्म जे संछेप लहि भाषा कर्यो
जगनाह श्रीमन्नरवराह धरा विचारन सों भर्यो।
जे कृष्णदास पढ़ें सुनें गावहिं विचारहिं धन्य ते
सदगति गहें सुभमति लहें हरि भक्त होत अनन्य ते ।।४।।

इस 'माहात्म्य' की भाषा में और 'रामचरित मानस' की भाषा में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार 'मानस' में दोहे, चौपाई और छन्द का एवं मिश्रित भाषा का उपयोग हुआ है उसी प्रकार 'माहात्म्य' में भी। कला-पक्ष का सादृश्य स्वतः सिद्ध है। यह 'माहात्म्य' उस भाषा का साक्ष्य है जो उन दिनों सोरों में अथवा उसके आस-पास प्रयुक्त होती थी। ग्रामीण जनता की भाषा अब भी लगभग वैसी ही है।

तुलसी-पत्नी की भाषा—इसी सम्बन्ध में गोस्वमीजी की धर्म-पत्नी की भाषा पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। पत्नी ने पति को जो डाट पिलाई थी उसका उल्लेख उन दोहों में है जो परम्परागत हैं। परम्परा के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं मिलता। सोरों-सामग्री में मुरलीधर चतुर्वेद ने भी रत्नावली के मुख से तुलसीदास जी को उपदेश दिलाया है। डाट उग्र है, उपदेश कोमल। स्यात् चतुर्वेदजी का सोरों-निवास ही कोमलता का कारण हो। सोरों-सामग्री के अनुसार, रत्नावली ने २०१ दोहे और कुछ पद लिखे हैं जो उपलब्ध हैं। पर डाट की भाषा और रत्नावली की अन्य रचना की भाषा दोनों ही एक सी हैं—व्रजावधी है। रामदासजी गौड़ ने निम्नलिखित दोहों का उल्लेख किया है, जो तुलसी-पत्नी के मुख से निःसृत हुए थे—

अस्थि चरममय देह मम तामें जैसी प्रीति
तैसी जो श्री राम महँ होत न तौ भवभीति।।
प्राण प्राण के जीव के जिय सुख के सुख राम
तुम तजि तात सोहात गृह जिनहिं तिनहि विधि वाम।।'

उपर्युक्त प्रथम दोहा और निम्नलिखित तीनों दोहे 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' के एक लेख में १८९३ ई० में प्रकाशित हुए थे। लेखक थे सर जॉर्ज ग्रियर्सन जिन्होंने महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी, बाबू रामदीनसिंह तथा अन्य बहुत से विद्वानों की सहायता से गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-चरित-सम्बन्धी सूचनाओं का संग्रह किया था। ग्रियर्सन की सूचनाओं का उपयोग अनेक अंग्रेज विद्वानों ने तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दरदास जैसे भारतीय विद्वानों ने भी किया है—

---

१. श्री रामचरित मानस की भूमिका, पाँचवाँ खण्ड, पृष्ठ १०

लाज न लागत आपको दौरे आएहु साथ
धिक-धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ।
कटि की खीनी कनक-सी रहत सखिन सँग सोय
मोहि फटे को डर नहीं, अनत कटे डर होय।
खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग
कै खरिया मोहि मेलिके अचल करहु अनुराग ॥

गोस्वामीजी ने अन्तिम दोहे को 'दोहावली' में यह रूप दिया है—

खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय-तिय त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि कै, विमल विवेक विराग।२५५॥

जो हो, इन पंक्तियों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलेगा कि यह शब्दावली बाँदा जिले के राजापुर अथवा उसी के आस-पास किसी ग्राम में रहने वाली नारी की नहीं हो सकती। कहौं, आएहु, तामें, रहत, सोय, होय, कै, करहु, आदि क्रियाओं की समष्टि व्रजावधी है। कोई कितना ही पढ़ा-लिखा क्यों न हो, आवेग में वह अपनी ही बोली का प्रयोग करता है।

रत्नावली ने जो पद तथा दोहे लिखे हैं उनकी समालोचनात्मक चर्चा तो प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्यत्र हो चुकी है, पर इस प्रसंग में उस विदुषी के कतिपय दोहों की भाषा की ओर इंगित अप्रासंगिक न होगा—

कहि अनुसंगी बचन हूँ परिनति हिये विचारि
जो न होइ पछिताउ उर रतनावलि अनुहारि ॥४॥
धिक मोकहँ मो वचन लगि मो पति लह्यो विराग
भई वियोगिनि निज करनि रहूँ उडावति काग ॥१०॥
छमा करहु अपराध सब अपराधिनि के आइ
बुरी भली हूँ आपकी तजउ न लेउ निभाइ ॥१४॥
दीनबन्धु कर घर पली दीन बन्धु कर छाँह
तौउ भई हौं दीन अति पति त्यागी मो बाँह ॥१६॥
सनक सनातन कुल सुकुल गेह भयो पिय स्याम
रतनावलि आभा गई तुम विन बन सम गाम ॥
तीरथ आदि वराह जे तीरथ सुरसरि धार
जाही तीरथ आइ पिय भजउ जगत करतार ॥२१॥
मोहि दीनो संदेस पिय अनुज नन्द के हाथ
रतन समुझि जनि पृथक मोहि जो सुमिरति रघुनाथ ॥२७॥

मुरलीधर चतुर्वेद की भाषा—सोरों-निवासी मुरलीधर चतुर्वेद ने अपने 'रत्नावली चरित' में गोस्वामी तुलसीदास के लगभग १५० वर्ष पश्चात् तुलसी-रत्नावली की झाँकी इस प्रकार प्रस्तुत की है—

बीति गई तब अरध राति, नभ घन चपला चमकि जाति
बहति जोर सुरधुनी धार, ताहि पैरि करि गये पार

दीन बन्धु की पौंरि जाय, टेरि दये घर के जगाय
द्वारहि आये ततहि काल, तुलसिहि लषि भे चकित स्याल
करि प्रनाम कहि कुशल तात, हाँ कहि तुलसी मन लजात
करि आदर समयानुसार, पौंढाये करि बहु दुलारि
रत्नावलि एकान्त पाइ, पति दर्शन हित गई धाइ
पति पद परसे करि प्रणाम, चरण दबावन लागि बाम ॥११३-१२०॥
गृह जन सोवत करि प्रनाम। अचक कियो तुलसी पयान
रैनि गई उदयो प्रभात। तुलसी न काहू कहुं लषात
बूझि फिरे सब ग्राम माँहि। सबनु कही हम लषे नाँहि
जहँ जहँ तुलसी मिलन आस। मिले न तहुँ सब भे उदास
पति बिनु रत्नावली दीन। बिलपति जल बिनु जथा मीन
बहु दिन त्यागो षान पान। रुदन कर्यो धरि नाथ ध्यान
बीते बहु दिन पाष मास। भई न तुलसी मिलन आस
तजि दीने सब ही सिंगार। करति एक बारहि अहार
उत्तम भोजन बसन त्यागि। सुलगति प्रिय पति बिरह आग
तुलसि पादुका उर लगाइ। सोवति तृन आसन बिछाइ ॥१५०॥
साध्वी रत्नावली कहानि। वृद्धन मुष जस परी जानि
द्विज मुरलीधर चतुरवेद। लिषि प्रकटी जगहित सभेद ॥१६३॥

मुरलीधर चतुर्वेद की रचनाओं के क्रियापद तथा शब्द स्पष्ट रूप से तुलसीदासजी, कृष्णदासजी तथा रत्नावली के क्रिया-पदों और शब्दों से साम्य रखते हैं, अतएव उनकी भाषा को भी व्रजावधी ही कहा जा सकता है।

भाषानुमान—उक्त उदाहरणों से अनुमान है कि गोस्वामी जी की भाषा मूलतः व्रजावधी थी, यद्यपि उन्होंने उसका उपयोग कभी व्रजभाषा-परक और कभी अवधी-परक किया है। जहाँ तक चौपाई-दोहों की रचना का सम्बन्ध है वहाँ तक गोस्वामी जी की रचना का साम्य उनके चचेरे भाई, भतीजे और पत्नी की भाषा से (जायसी की भाषा की अपेक्षा) अधिक है। सोरों के मुरलीधर चतुर्वेद की भाषा भी शुद्ध व्रजभाषा नहीं कही जा सकती। भाषा-परीक्षा के समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि सोरों (सूकरक्षेत्र) अवध और व्रज के मध्य उस स्थान पर स्थित है जहाँ न शुद्ध अवधी है और न शुद्ध व्रजभाषा ही। आज भी अवध, व्रज, राजपूताने तथा दूर-दूर के यात्री वहाँ आते रहते हैं। गोस्वामी जी के समय में सोरों की भाषा का तत्कालीन रूप वही है जो 'रामचरित मानस' में मिलता और जिसका साक्ष्य नन्ददास, कृष्णदास, रत्नावली तथा मुरलीधर की भाषा में स्पष्टतः उपलब्ध है। अवधी और पश्चिमी भाषाओं का पार्थक्य तो आधुनिक युग में सर जार्ज ग्रियर्सन की कारस्तानी है, जैसा कि पैरिसस्थ कॉलिज द फ्रांस के प्रोफ़ेसर डॉ० जूलिस ब्लाख ने डॉ० सूर्यकान्त के 'इंडेक्स वरबोरम टु तुलसीदास' ज रामायण' की भूमिका में लिखा है। उनके शब्द हैं: "इट मस्ट बि एडेड देट दीज़ स्पेशेलाइज़्ड लेंग्वेजेज़ आर नो ह्वेअर रिएली प्योर, देअर इज़ सो टु से, ए रिफ़्लेक्शन ऑव ऑल इन ईच ऑव देम। देअर

आर, इंडीड, मैनी पोइंट्स ग्रॉव कानटैक्ट बिट्वीन अवधी एंड द नेबरिङ् लैंग्वेजेज़ एंड स्पेशेली वेस्टर्न वंज़। एज़ ए मैटर ऑॅव फैक्ट, एज़ वी हैव पोइंटेड आउट, द नेम ईस्टर्न एज़ ओपोज़्ड टु वेस्टर्न हिन्दी इज़ ए क्रिएशन ऑॅव सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन।"

(ग) शब्द चयन

निवास और भ्रमणकाल—शैशव, बाल्य और प्रारम्भिक तारुण्य सोरों में बिता, गोस्वामी जी कुछ काल तक चित्रकूट और राजापुर में, कुछ समय तक अयोध्या में, तथा अन्यत्र रहे। उनकी वृद्धावस्था का बहुत सा भाग काशी में व्यतीत हुआ। छत्तीस वर्ष की अवस्था में सोरों से प्रयाण कर वे ६३ वर्ष की अवस्था तक अयोध्या, प्रयाग, मथुरा, काशी आदि स्थानों में भ्रमण, और ८९ वर्ष की अवस्था तक चित्रकूट और राजापुर में निवास, करते रहे; तदनन्तर उन्होंने ११२ वर्ष की अवस्था तक काशी-सेवन किया। इस प्रकार उनकी आयु के ३६ वर्ष एटा ज़िले में, २७ वर्ष अवध में और २३ वर्ष काशी में व्यतीत हुए।[1] विश्वविद्यालयों में छात्र तो ५-६ वर्षों में ही मातृ-भाषा के अतिरिक्त अनेक पर-भाषाओं में योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। कवि के दीर्घ जीवन में उनकी रचना पर विभिन्न स्थानों का प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक है।

गोस्वामी जी ने किस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, इस पर प्रकाश डालने के लिए डॉ० राजपति दीक्षित ने उन तत्सम, तद्भव, देशी, भोजपुरी, बंगला, अरबी, फारसी आदि भाषा-बोलियों के शब्दों की सूची दी है, जिनका प्रयोग गोस्वामी जी ने किया, वे तथा अन्य कुछ शब्द इस प्रकार हैं :—

संस्कृत शब्द—सुखेन, सरैन (शरेण), सिरसि (शिरसि), उरसि, सदसि, तव, ते, अहम्, अस्मि, अस्ति, अयं, पश्य, वद, इदं, तेऽपि, अपि, कोऽपि, सोऽपि, सोऽहमस्मि।

✓ **तत्सम**—कपट, कलेवर, वृत्ति, गिरि, विधि, श्रम, ममता, मदन, प्रसंग, कथा, भवानी, तुरंग, सुर, दुंदुभी, सुमंगल, जामाता, निगम, आगम, तत्त्व, जय, प्रेममय, उचित, समीप, वाहन, विष, साधु, बंधु, अनुगामी आदि।

तद्भव—बाति (वर्तिका), अहेर (आखेट), अहिवात (अविधवात्व), रहट (अरघट्ट), कौड़ी (कपर्दिका), कनां (कण), थूनी (स्थूणा), बीछी, (वृश्चिक), भीतर (अभ्यंतर), भूख (बुभुक्षा), बाघ (व्याघ्र), कांट (कण्टक), सास (श्वश्रू), ससुर (श्वशुर), जनेऊ (यज्ञोपवीत), लूक (उल्का), छौना (शावक), बरात, वरिआता (वरयात्रा), उवरा (उर्वरा), कोहाब (क्रुद्ध), सियरे (शीतल), बेहड (भीषण), रूख (वृक्ष), लोयन (लोचन), नाच (नृत्य), नाह (नाथ), लाह (लाभ), कान्ह (कृष्ण), गय (गज), जुआ (द्यूत), बैन (वचन), मैन, मयन (मदन), काम (कर्म), काज (कार्य), महँगे (महार्घ), विरियाँ (वेला), चोखा (चोक्ष), केवट (कैवर्त), बाँझ (वन्ध्या), मीचु (मृत्यु), हाथ (हस्त), घर (गृह)।

✓ **देशज**—डोंगर, डाँग, गोड, खोरी (खोरि, चन्दन, दोष), टाट, लबाई (गाय

---

१. दे० 'तुलसी-प्रकास'

जिसका बच्चा छोटा हो), अवढर (अत्यन्त दयालु), गुडी (गुड्डी, पतंग), डसाई (चटाई, बिछाई), झारि (अग्नि, लोटा), टहल, झोपड़ी, ठग, ठट्ठा (दल, झुंड), पेट।

बुन्देलखण्डी—पनवार (पत्तल), चारितु (चारा), गेडुआ (तकिया), कीबी (करनी), सुपेती (हल्की दुलाई), जानिबी, मानिबी।

भोजपुरी—रौरे, राउर (आप, आपका), सरल (सड़ा), दिहल (दिया)।

अरबी—साहिब, गनी (धनी), गरीब, जमात, वाग, जहाज, मनसा, लायक, रजाई, खबरि, सही, फौज, हाल, बजाज, सराफ, हुनर, मसखरी, बदले, बाजे-बाजे, असबाब, पाइमाल, हलक, काहली, गुलाम, खास, हराम, मसीत, खलल, जाहिर, उमरि, दगाई (दगा), हबूब (हबाब, बबूला, झूठ बात), हलाकी (घातक), कसाई, अबीर, सहन, सूरति, खसम, क़सम, फजीहत, गरज, अरज, कुमाच (कुमाश, रेशमी कपड़ा), वसीले, दिरमानी (इलाज), मुकाम, दिवान, सौदा।

फ़ारसी—जहान, अंदेसा, तीर कमान, सक (शक), जीन, साज, लगाम, चारा, सिरताज, रुख, दरबार, कबूली, कमान, मजूरी, सोरू, गरदनि, तरकस, गुदारा (गुजारा), कोतल, पयादे, सादे, जोरा (जोर), चंग, खुआरु (ख्वार), बाज, गुमानी, बेचारा, हवाले, चौगान, कगूरन्ह (कुंगरा), गरदा, नफीरि, बन्दीखाना, बाजीगर, किरिच, गच, परदा, तहसनहस, करेजो, खलक, दिल, मालूम, सुमार, पील (फ़ील), नग, दादि (दाद, प्रशंसा), तेजी, परवाह, ज़ंजीर, दरिया, खजानो, दाम, दराज, सरकस, जौलाहा, साह, सरनाम, खूब, चालाकी, चाकरी, सहर, जहर, हुसियार, पाक, तकिया, गुलाल, गंज, चैन, निहाल, पेच, तोपची, पलीता, रैयत, निसानी, जाय (ज़ाय), सरम, ख्याल, जेरो (ज़ेरे), कूच, खरगोसु, मिसकीनता (मिसकीनी, दीनता), बिलन्द (बुलन्द)।

मतभेद—डॉ० दीक्षित ने उक्त तथा अन्य शब्दों के प्रयोग की ओर ध्यान आकर्षित कर गोस्वामी जी के विशाल शब्द-भण्डार का परिचय कराया है जो सर्वथा समीचीन है। परन्तु कतिपय शब्दों के सम्बन्ध में मेरी धारणा अलग है। यथा, 'डफ' जो 'दफ' का अपभ्रंश है, अरबी का होना चाहिए। अवरेव (रा० १, ३६, ८) को फारसी का मान लेने की अपेक्षा उसे संस्कृत के 'अव' (हटा हुआ)+'रेव' (गति) से व्युत्पन्न मानना चाहिए, जिसका अर्थ है वक्रगति। 'वरु' तो संस्कृत के 'वरं' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'भले ही'। 'कूर' (रा०१, ६५, १) को फारसी का न मानकर 'क्रूर' से उत्पन्न समझना चाहिए, अंग्रेजी का 'क्रुइल' और संस्कृत का 'क्रूर' एक ही हैं। 'कबारू' (रा० २, ९९, ७) को फारसी की अपेक्षा कबाड़ के समकक्ष कर्पट से व्युत्पन्न समझना अधिक संगत है। 'बराबरि' (रा०७, ८६, ७) के लिए फारसी के कोष की शरण लेने की अपेक्षा संस्कृत के 'वर'+'अवर' शब्द विद्यमान हैं। 'नीके' (रा० २,१८४,२) को फ़ारसी शब्द मानने की अपेक्षा संस्कृत के 'निक्त' से साधा हुआ मानना अच्छा है। क्योंकि उसी से मिलता-जुलता अंग्रेजी का 'नीट' भी है। 'निक्त' का ककार भारत ने और तकार यूरोप ने ग्रहण कर लिया, अंग्रेजी में तकार की ध्वनि नहीं होती, अतः तकार का परिवर्तन टकार में हो गया। 'गोला' संस्कृत के 'गोल' शब्द से बना है, जैसे खगोल, भूगोल। 'ढोल' (रा० १, २६२, १) अरबी का नहीं

संस्कृत का शब्द है। 'बिदा' संस्कृत के विदाय से बना है, अरबी में यकार के स्थान में ऐन का प्रयोग होता है, हिन्दी में अन्तिम अक्षर का अत्यय हो जाता है। 'नारि' अथवा 'नार' (अर्थात् गर्दन), 'दारू', 'वारफेरि',[1] 'माठ', और 'मनुहार' का प्रयोग राजस्थान में ही नहीं, व्रज और व्रजावधी प्रदेश में भी होता है। 'सकारे' का सम्बन्ध बंगला से भी हो, इसका प्रचुर प्रयोग व्रज-व्रजावधी प्रदेश में होता ही है।

डॉ० प्रेमनारायण टंडन ने सूरदास जी के कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख किया है जिन्हें वे अवधी के समझते हैं, यथा : अस, आहि, इह, इहाँ, उहाँ, ऊँच, गोर, छोट, कनियाँ, जुआर, जुवारी, तोर, दुवार, पियासे, बियारी[2]। तुलसीदास जी ने भी अपनी भाषा में इनका प्रयोग किया है, अतएव तुलसी की भाषा में कुछ अवधी शब्दों के दर्शन-मात्र से उनके जन्मस्थान तक पहुँचने का प्रयास आतुरता-मात्र है। डॉ० टंडन यह भी कहते हैं कि "सूरदास के काव्य में ऐसे प्रयोग यद्यपि एक प्रतिशत से भी कम हैं, परन्तु इनकी विशेषता यह है कि रूप की दृष्टि से सुगम होने के कारण ये काव्य-भाषा के उपयुक्त थे और उनसे मिलते-जुलते रूप व्रजभाषा में प्रचलित भी थे।"[3] हम उक्त कारण में सत्य का अनुभव कर सकते हैं पर हमें यह मानने में संकोच है कि "अवधी-जैसी विकासोन्मुख भाषा से होड़ में आगे बढ़ने के लिए" सूरदास जी ने कोई 'नीति निर्धारित की' अथवा प्रयत्न किया। सूरदास जैसे अनन्य भक्त को किससे भाषा-सम्बन्धी 'होड़' करनी थी? उन दिनों तो 'अवधी' और 'व्रजभाषा' नामों से जन-भाषा का विच्छेद हुआ भी न था। यह पार्थक्य तो आधुनिक काल में ग्रियर्सन महोदय का आविष्कार है। 'व्रजभाषा' तो उन दिनों साहित्य का प्रमुख माध्यम थी और राजधानी के इतने सन्निकट कि उसे भाषा-सम्बन्धी किसी 'होड़' का क्या लालच हो सकता था?

डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने 'सूर और उनका साहित्य' में (पृष्ठ ४५४-४५५ पर) सूर-प्रयुक्त निम्नलिखित शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इनमें से अस्सी प्रतिशत प्रयोग तुलसी ने भी किया है। नीचे कोष्ठकों में दिये गये रूप अथवा प्रश्नसूचक-चिह्न तुलसी के सम्बन्ध में हैं। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि ग्रामीण शब्दों के प्रयोग में भी साठ प्रतिशत साम्य है। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग वही व्यक्ति अधिक कर सकता है जो उस क्षेत्र में जन्मा या अधिक समय तक बसा हो जिसमें उनका प्रयोग होता है। यदि सूरदास जी ने, जैसा कि डॉ० शर्मा सूचित करते हैं, 'बिकै' को 'बीकै' और 'वघनखा' को 'वघना' के रूप में विकृत कर लिया तो तुलसीदास जी ने 'बीके' और 'बघनह' को अंगीकार किया; और यदि, जैसा कि डॉ० शर्मा लिखते हैं, सूरदास जी ने 'उद्योग' का 'उतजोग' कर लिया, तो तुलसीदासजी ने भी 'उत्तरायण' का 'उत्तरअयन'। शब्द ये हैं :—

अर्द्धतत्सम : अंबोधि (?), अपजस (अपजसु), अम्रित (अमृत), गनिका, घिरत (?), जनम, जोजन, तीरथ, तंदुल (तंडुल), दुरवासा, पुंस्चली (?), परतीति, पदुम, प्रापत (प्रापति), पारषद (?), परभात, तूनीर, निस्चै (?), विस्राम (विश्राम),

१. नन्ददास कृत 'रूपमंजरी'

२—३. सूर की भाषा, पृष्ठ ११७-११८।

विरध (?) भच्छि (भच्छ), भिनुसार, भरमत (भरम), मरजाद, मरकट, विसकर्मा (?), स्वारथ, स्रवन, सुरसरि, स्वान, सरवस, सुमृति, सांति, समरपे (समर्पे), सुंग, साच्छात् (?), सुरूप (?), हरता।

तद्भव : अंचरा (अंचल), अजगरी (?), अनलहते (?), अनभावत (अनभाए) आहि, उचाटी, आखर, अटारी, औसर, उछंग, काठ, कुरुखेत, कोदो, कापरा (?), कोखि, केहरि, कोरा (क्रोड़) ?, कोहवा (?), खंभ, खई, खिन, गुसाई, जुगति, जदपि, असाई (असई), जोति, जीभ, टूटी, तिय, दीठि, थार, पाइतरी (?), थनु (?), परसना, पनहियाँ, पयान, पखारना, पाँवरी, तुरत, बियो, बूड़त, बीता, बनिज, बीनऊँ (?), बियाहन, भांडो (भांडे), भोंदू (?), भूंजब, भौन (?), भुवाल, मूठि, मसान, विलम, वौंडर (?), लच्छा, रूखा, सांवरो (सांवरे), सियार, सींवा (सींव), सराय (?), मीत, बछल, सेज्या (सेज), सतिभाए, सजनी, गीध, राकस, सरिस, सांझ, सकात (सकान), सिकहरे (?) खिज्जु (?) लिलार, मोल, मूसे (?)।

इनके अतिरिक्त सूर के अन्य अनेक शब्द हैं जिनका तुलसी के प्रयोगों से साम्य है। स्थाली-पुलाक-न्याय से निम्नलिखित कतिपय शब्द दिये जा रहे हैं :—

वारफेरि, माठ, साँझसकारे, पनारी, अयानी, तमचुर, अलक, किधौं, भेउ, सचु, छीन, गथ, डफ, सचु, बाती, वारंवार, सूनो, पुरइन, नीकी, नीके, नीको, दादुर, नातरु, वरु, चाड़, हौं, मैं, टेब, हितू, नात, नातो, ओर, छोर, मिसि, कुसलाई, कुसलात, नैंकु, नियरे, खोरी, बानि, कोर, थापें, अजिर, छीर, भौंराचक-डोरी, आयसु, मवास्यो, पटतर, चारु, केरे, सिगरी, अवरेव, अवढर, अवडेरा, ओहि, अरगजा, अरज, ऊब, खेरो, अकस, अंदेसो, अहेर, कीयो, नार, (गर्दन), गनीं, बोहित, अहिवात, तायो, नायो, नावत, थक्यो, खसे, सरें, भरमायो, वारौं, सिरात, वंदौं, आवै, भावै, सहत, धाए, करत, पठाई, लायो, आयो, कियो, दियो, लए, गाइ, कीजै, लीजै, आवति, जगावति, सिहाति, पूजी (पूर्ण की), धरी, उठी, निकसि, निकसे, सकात, थकि, अहै, अह्यो, अकनि, उखारि, माता कही, हम पाई, जैहो, रैहो, पैहैं, कैहैं, दैहैं, नैहौं, धरिया, करिया, पखारी, भूंजब, आनिबी, कौंधति, बियानी, समानी, छपानी, अरुझानी, वयो, लुनो, पलुटावति, दीन्हीं कीन्हीं, सुनहु, जाहु, रहिबी, कहिबी, गहिबी, सहिबी, दहिबी, बहिबी।[1]

नन्ददास जी की शब्दावली तुलसी के ओर भी निकट प्रतीत होती है, यथा :

रूपमंजरी—नीको, फीको, औटये कंचन, दामिनी, पुहुप, अलकैं, पनारी, दसन, चिबुक, खुभि, ओपी, झलकैं, दमकत।

भँवरगीत—औसर, बहुरि नीके, कुसलात, तुव, जनि, विहसत, पठ्यो, जनायो (प्रकट किया)।

---

१ अपने मन सुरति करत रहिबी
ऊधो, इतनी बात स्याम सौं समय पाय कहिबी।
घोष बसत की चूक हमारी कछू न जिय गहिबी।
परम दीन जदुनाथ जानिकै गुन विचारि सहिबी।
एकहि बार दयाल दरस दै विरह रासि दहिबी।

रासपंचाध्यायी—कुहक, अलक, विरले, डगरो, बिजना, हुलसत, थक्यो।

बिरहमंजरी—ठौर, सुजान, उडुराज, पुलिन, अरगाय, राच्यो।

रसमंजरी—उसासन, पियरो, कौने (कोण), विरमाये।

अन्यत्र—जतन, पौर, हिंडोरा, डांडी, तैं, कौन, पुन्य, छाक, नीके, तापर, चिरैयां, अपनौं, चुटिया, डहडहे, ऐना, कंजन, खंजन, सुमन, सीसनतें, नंदसुवन, ओप, अतिसैं, फाग, धमार, चोब, अबीर, गुलाल, चेरी, कोर, टोना, डिठोना, छोना, सलोना, ओर, छोर, ढिग, कठूला, डगरा, सजनी, झूम-झुमारे, चेटक, बानी, तौलों, कैधौं, कैसी दई रे, खरो, पौन, समयो, ज्यों चकरी संग डोर, औरें, सेहरो, टीको, नैंक, कीएँ, निकसीं, लियो, कीने, भीनें, दीने, लीने, तकि, हेरिहेरि, तुतरानी, हरषानी, चुहुचुहानी, निरखि, गुहौं, तजि, अलसानी, मींडत, खसि खसि परत, छिरकत, कीयो, फुरति, जोहन।

डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने सूर प्रयुक्त निम्नलिखित शब्दों को ग्रामीण माना है: करतूति, चुचुकारे, धुकधुकी, नेरे, नौम्रा, औचट।[1] तुलसीदास जी की रचनाओं में भी ये रूप विद्यमान हैं, यथा: चुचुकारे (गी० २, ८७), उचाट (रा० २, २६५), धुकधुकी (रा० २, २४०, ७), करतूती (रा० २, ११, ६), नेरे (क० ७, ६२)। ग्राम के शब्दों का प्रयोग तज्जात पुरुष ही किया करते हैं।

(घ) रचना-शैली

षड्विध शैलियाँ—गोस्वामी जी को रचना की पाँच शैलियाँ मिलीं, जैसा कि पं० रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं,[2] और उन्होंने पाँचों में ही सुन्दर रचना की है। इनके अतिरिक्त कूटशैली को छटी माना जा सकता है।

छप्पय-पद्धति—निम्नलिखित पंक्तियों में वीर-गाथा काल की छप्पय पद्धति का आभास मिलता है:—

कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन वरष्षत
कतहुँ बाजिसों बाजि मर्दि गजराज करष्षत
चरन चोट चटकन चकोट अरिउर सिर बज्जत
विकट कटकु विद्दरत वीरु वारिदु जिमि गज्जत
लंगूर लपेटत पटकि भट, जयति राम जय उच्चरत
तुलसीस पवन नंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥ क० ६, ४७

डिगति उर्वि अति गुर्वि सर्व पव्वै समुद्र सर
व्याल वधिर तेहि काल विकल दिगपाल चराचर
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंधु मुक्ख भर
सुर विमान हिम भानु संघटत परसपर॥
चौंके विरंचि संकर सहित, कोल कमठु अहि कलमल्यो
ब्रह्माण्ड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यो॥क० १,११॥

---

१. सूर काव्य की आलोचना, पृ० ३७।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १३४।

'रामचरित मानस' की इन पंक्तियों में भी युद्धस्थल शब्दों में बोल रहा है .—

जोगिनि भरि-भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं॥
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना विधि गावहिं॥
जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं। खाहिं हुहाहिं अघाहिं दवट्टहिं॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु चल्लहिं। सीत हेर महि जयजय बोल्लहिं॥
बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिरु विनु धावहीं।
खप्परिन्ह खग्ग अलुज्झि जुज्झहि सुभट भटन्ह ढहावहीं॥

रा० ६, ८७, ७-१२

गीत-पद्धति—विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति का अनुसरण सुन्दर हुआ है, जिसका उत्कृष्ट रूप गीतावली और विनय-पत्रिका में लक्षित है। शुक्लजीकी सम्मति है कि सूरदासजी की रचना में संस्कृत की कोमल-कान्त-पदावली और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है, जो गोस्वामीजी की रचना में है। गोस्वामीजी की रचना अधिक संस्कृतमयी है पर उसमें हिन्दी का माधुर्य भी विद्यमान है—

आंगन फिरत घुटुरुवनि धाए।
नील-जलद-तनु-स्याम राम-सिसु जननि निरखि मुख निकट बोलाए
बंधुक सुमन अरुन पदपंकज अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए
नूपुर जनु मुनिवर-कलहंसनि रचे नीड़ दै बाँह बसाए
कटि मेखल वर हार ग्रीव दर रुचिर बाँह भूषन पहिराए
उर श्रीवत्स मनोहर हरिनख हेम मध्य मनिगन बहु लाए॥ गी० १, २६

कवित्त-सवैया पद्धति—गोस्वामीजी की तीसरी शैली गंग आदि भाट की कवित्त-सवैया परक है। भगवान् परशुरामजी लक्ष्मणजी के विषय में विश्वामित्रजी से पूछते हैं—

गर्भ के अर्भक काटन कों पटुधार कुठारु कराल है जाको
सोई हौं बूझत राजसभा धनु को दल्यो हौं दलिहौं बल ताको
लघु आनन उत्तर देत बड़े लरिहै मरिहै करिहै कछु साको
गोरो गरूर गुमान भर्यो कहो कौसिक छोटो सो ढोटो है काको॥ क० १, २०

वनिता बनी स्यामल गोर के बीच विलोकहु री सखि मोहि सी ह्वै
भग जोगु न कोमल क्यों चलिहैं सकुचाति मही पद पंकज छ्वै।
तुलसी सुनि ग्राम बधू बिथकीं पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥ क० २, १८

दोहा-सूक्ति पद्धति—गोस्वामीजी की चतुर्थ शैली है अपभ्रंश काल के कवि और कबीर की सूक्ति-पद्धति। 'रामचरित मानस' और 'दोहावली' सुन्दर उक्तियों से ओत-प्रोत हैं। 'रामचरित मानस' की सूक्तियों का एक विशाल और सुन्दर संकलन श्री एटकिंस ने 'मानस' के अपने अंग्रेजी अनुवाद के परिशिष्ट-रूप से दिया है। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने निम्नलिखित कतिपय उदाहरण 'दोहावली' से उपस्थित किये हैं—

रीझि आपनी बूझि पर, खीझि विचार-विहीन।
ते उपदेस न मानहीं मोह-महोदधिमीन ।। ४८५
लोगनि भलो मनाव जो, भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास ।। ४६१
कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु-प्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि ।। ७८

प्रबन्ध-पद्धति—पाँचवीं शैली प्रबन्ध-पद्धति है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार "जिस प्रकार चौपाई-दोहे के क्रम से जायसी ने अपना 'पद्मावत' नाम का प्रबन्ध काव्य लिखा उसी क्रम पर गोस्वामीजी ने अपना परम प्रसिद्ध काव्य 'रामचरित मानस', जो लोगों के हृदयों का हार बनता चला आता है, रचा। भाषा वही अवधी है, केवल पद-विन्यास का भेद है। गोस्वामीजी शास्त्र-पारंगत विद्वान् थे अतः उनकी शब्द-योजना साहित्यिक और संस्कृत-गर्भित है। जायसी में केवल ठेठ अवधी का माधुर्य है, पर गोस्वामीजी की रचना में सस्कृत की कोमल पदावली का भी बहुत ही मनोहर मिश्रण है।"[1]

साम्य का अभिप्राय—शुक्लजी के इन शब्दों का तात्पर्य है कि जायसी ने 'पद्मावत' नामक प्रबन्ध काव्य लिखा, और गोस्वामीजी ने भी 'रामचरितमानस' प्रबन्ध काव्य लिखा; जायसी के काव्य की भाषा ठेठ अवधी है, गोस्वामीजी के प्रबन्ध काव्य की भाषा संस्कृत की कोमल पदावली-युक्त अवधी है; जायसी का काव्य दोहों और चौपाइयों में है, तुलसी का मानस भी दोहे-चौपाई में है। यह साम्य-निदश बहुत कुछ ठीक है। पर यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि 'रामचरित मानस' ही क्या गोस्वामीजी की कोई भी रचना शुद्ध अवधी में नहीं है, मानस की भाषा व्रजावधी है। यदि साम्य-निर्देश से यह ध्वनि निकले कि गोस्वामीजी ने जायसी के 'पद्मावत' को आदर्श समझा और उसका अनुकरण किया, अथवा 'पद्मावत' की प्रेरणा से गोस्वामीजी ने दोहे-चौपाई को अपनाया, तो कदाचित् यह कथन ठीक न होगा।

चौपाई-दोहे का स्रोत—इसका कोई प्रमाण नहीं कि गोस्वामीजी को पद्मावत का पता भी था कि नहीं। दोहे-चौपाई में महाकवि नन्ददासजी ने भी कविता की है और उनके पुत्र कवि कृष्णदास ने भी 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य' लिखा जिनके उद्धरण दिये जा चुके हैं। शुक्लजी ने स्वयं ईश्वरदास' नामक कवि का उल्लेख किया है जिसने सत्यवती की कथा दोहे-चौपाई में बादशाह सिकंदरशाह (संवत् १५४६-१५७४) के समय में लिखी थी और वे यह भी मानते हैं कि यह परम्परा अपभ्रंशकालीन पुष्पदन्त आदि कवियों की रचनाओं में विद्यमान थी।[2] चौपाई-दोहे का सबसे पुराना प्रयोग, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, बौद्ध-सिद्धों की रचनाओं में मिल जाता है। सरहपा ने लिखा है—

अइसें बिसन संधि को पइसइ। जो जइ अत्थि णउ जावन दीसइ
पंडिअ सअल सत्थ बक्खाणइ। दे हहि बुद्ध बसन्त ण आणइ ।।

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ७२।
२. वही।

गमणागमण न तेन विखण्डिग्र । तो वि णिलज्ज भणहि हउं पण्डिग्र ।।
जीवन्तह जो मउ जरइ, सो ग्रजरामर होइ
गुरु उवएसे विमल मइ, सो पर धण्णा कोइ ।।[1]

डा० कृष्णदत्त भारद्वाज की धारणा है कि चौपाई का संस्कृत-रूप श्रीमद्भागवत में उपलब्ध है ।[2] 'युगल गीत' के पच्चीसों छन्द चतुष्पदी (चौपाई) हैं, उनमें से केवल प्रथम को उदाहरण-स्वरूप उद्धृत किया जाता है—

वाम बाहु कृत वाम कपोलं, वलिगत भ्रु रधरार्पितवेणुम्
कोमलांगुलिभिराश्रित मार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुंदः ।। १०, ३५, २

इसकी तुलना तुलसीदासजी की

श्याम तामरस दाम शरीरं, जटामुकुट परिधन मुनि चीरम् ।
पाणि चाप शर कटि तूणीरं, नौमि निरंतर श्री रघुवीरम् ।।
रा० ३, १०, ३-४

इस चौपाई से करने पर विदित हो जाता है कि 'युगल गीत' की चतुष्पदी ग्रौर तुलसीदासजी की चौपाई में कितना साम्य है, ग्रन्तर केवल ग्रंत्यानुप्रास का है, जिसका उपयोग व्यासजी की रचना में तो नहीं, तुलसीदासजी तथा हिन्दी के ग्रन्य कवियों में, हुग्रा है। ग्रतएव यह धारणा भ्रान्त होगी कि गोस्वामीजी को चौपाई-दोहे लिखने की प्रेरणा जायसी से मिली, यदि ऐसी कल्पना कर भी ली जाय तो यह भी कल्पना करनी होगी कि सूरदासजी[3] नन्ददासजी ग्रौर कृष्णदासजी को भी चौपाइ-दोहे लिखने का उत्साह जायसी से मिला, जो नितान्त निराधार है । प्रेरणा का स्रोत समान हो सकता है ।

कूट-शैली—गोस्वामीजी ने ग्रपनी रचना को यथा-सम्भव सरल ग्रौर सुबोध रखा है । उनकी ग्रधिकांश रचना ऐसी ही है । उनके समय में कूट लिखने की प्रथा भी थी । "ग्रात्मचिन्तन के गूढ़ विषयों को रहस्यात्मक भाषा में प्रकट करने की परम्परा भारत में प्राचीन काल से चली ग्रा रही थी," यथा : ऋग्वेद के प्रतीक, उपनिषद् की गुह्यविद्या, संस्कृत काव्यों की ग्रालंकारिकता, सिद्धों की बानियाँ, नाना पंथियों का हठ योग, खुसरो की प्रहेलिकाएँ, विद्यापति के पद, जायसी के वचन ।[4] सूरदास के कूट ग्रौर कबीर की उलटबाँसियाँ तथा रूपकातिशयोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं । तुलसीदासजी को सूरदासजी से बाल-स्वभाव चित्रण के लिए प्रेरणा मिली तो कूट लिखने के लिए भी । जहाँ गोस्वामीजी ने ग्रनेक शैलियों में साधिकार लिखा वहाँ कूट-लेखन में भी कौशल का प्रदर्शन किया । 'तुलसी सतसई' के ग्रनेक सुन्दर दोहों में रामनाम कूटस्थ है, उसके कुछ उदाहरण ये हैं :—

भजहु तरनि-ग्ररि-ग्रादि कहँ तुलसी ग्रात्मज-ग्रन्त ।३ १४

इस चरण में तरनि-ग्ररि-ग्रादि=राहु का 'रा', ग्रात्मज-ग्रन्त=काम का 'म' ग्रर्थात् राम ।

---

१. हिन्दी साहित्य का ग्रादिकाल, पृ० ६६ ।
२. गोस्वामी तुलसीदास की ब्रजभाषा साहित्य को देन; पृ० २४६, पोद्दार ग्रभिनन्दन ग्रन्थ ।
३. सूर-सौरभ, पृ० १६७, डॉ० मुंशीराम शर्मा ।
४. सूर-काव्य की ग्रालोचना (डॉ० हरवंशलाल), पृ० १८-१६ ।

अमर अधिप वारन वरन दूसर अन्त अगार । ३, २४

इस चरण में अमर-अधिप का वारन=ऐरावत, इसका दूसरा वर्ण अर्थात् 'रा'; अगार-अन्त=धाम का अन्तिम अक्षर 'म', अर्थात् राम ।

उरवी-अन्तहु आदि-जुत कुल सोभा कमलादि

करि विपरज ऐसेहि भजहु तुलसीसमन बिखादि । ३, ५३

इस दोहे में उर्वी=धरा, इसका अंतिम अक्षर है 'रा', एवं उर्वी=मही इसका आदिम अक्षर है 'म', अर्थात् राम । कुल सोभा=सील, इसका आदि है 'सी'; कमल=तामरस, इसका आदि है 'ता', अर्थात् सीता । दोनों का समन्वय हुआ रामसीता, इसका विपर्यय हुआ सीताराम । कूटों के लिखने-समझने में पाण्डित्य की अपेक्षा रहती है ।

दोष-दर्शन

प्राक्कथन—कालिदास उपमा के, भारवि अर्थ-गौरव के, और दण्डी पदलालित्य के क्षेत्र में अद्वितीय हैं। "परन्तु उनमें भी कोई ऐसा न हुआ जो तीनों में समान गति रखता हो। हिन्दी साहित्य का (यह) सौभाग्य है कि कविचक्र-चूड़ामणि तुलसीदास हुए जिन्होंने तीनों क्षेत्रों में एक समान कमाल दिखाया है और उस कमाल को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है"।[1] तुलसी की प्रशस्ति में डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के ये शब्द समीचीन हैं, यद्यपि परम्परित धारणा रही है कि 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः'।

काव्य-बाधा—डॉ० मुंशीराम शर्मा के विचार से "काव्य-क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास पुण्य-श्लोक राम की जीवन-गाथा को सर्वश्रेष्ठ स्थान देकर आगे बढ़ते हैं। काव्य उनके लिए साधन है, राम-गाथा साध्य। राम-गाथा में भी राम के ईश्वरत्व का प्रतिपादन प्रधान है, काव्य-सम्बन्धी अन्य बातें गौण हैं। यह तथ्य उनके कवि-रूप को कुछ हीन कर देता है। इसी के साथ राम-गाथा का इतिवृत्तात्मक रूप भी तुलसी के सामने विद्यमान रहता है, जो भाव-धारा के विकास में व्याघात डाल सकता है"।[2]

प्रबन्ध हीनता—'मानस' के काण्डों के सम्बन्ध में श्री ए० पी० वारान्नीकोव लिखते हैं कि "परम्परा-पालन के परिणाम-स्वरूप और कथा-वस्तु को सात काण्डों में विभाजित करने की अनिवार्यता के कारण तुलसीदास प्रबन्धात्मक कौशल की कमी प्रकट करते हैं। प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से विफलता पहले और अन्तिम काण्ड में दृष्टिगोचर होती है, जिनमें से प्रत्येक में दार्शनिक पक्ष (कथा के) मौलिक स्वरूप पर प्रबल होता है और महत्त्व-पूर्ण ढंग से कथा-वर्णन के क्षणों (अंश) पर छा जाता है जो (कथा-वर्णन) प्रत्येक काण्ड में बहुत कम स्थल प्राप्त करता है। निर्विवाद रूप से, यदि तुलसीदास काव्य-रचना के पहले, केवल काव्य-सामग्री के तर्क-पूर्ण समावेश से प्रेरित होते तो वह काव्य की जटिलता को ध्यान में रखते हुए पहले और अंतिम (प्रत्येक) काण्ड को दो में विभाजित कर देते।"[3]

कुछ अन्य आरोप—पर पूर्ण तो भगवान् हैं, अतएव यदि गोस्वामीजी की विचारधारा में अथवा वर्णन-प्रवाह में कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो आश्चर्य नहीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल को उनकी पाँच बातें खटकती हैं :[4]

१. ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता। राम वैदिक समय में थे, अतएव उनके समय में ऋषियों के आश्रमों और विभीषण के द्वार पर तुलसी का पौधा और राम

---

१. मानस में रामकथा, पृष्ठ, १७२, वंगीय हिन्दी परिषद, कलकत्ता, १९५२

२. भारतीय साधना और सूरसाहित्य, पृ० ४१४-१५।

३. मानस की रूसी भूमिका, पृ० ५२-५३।

४. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १७२-१७३।

के मस्तक पर रामानन्दी तिलक और शिर पर चौगोसिया टोपी का उल्लेख इतिहास-व्यतिक्रम है।

२. अंगद और रावण का संवाद राज-सभा के गौरव और सभ्यता के विरुद्ध है।

३. दोहों में कहीं-कहीं मात्राएँ कम हुई हैं और सवैयों में वर्ण कहीं-कहीं घटे-बढ़े हैं।

४. गोस्वामीजी ने भक्तमाली कथाओं पर जो आस्था प्रकट की है वह उनके गौरव के अनुकूल नहीं, यथा अंधकार में एक यवन को सूकर ने ढकेल दिया तो उसके मुख से निकला : हराम ने मार डाला। 'हराम' में 'राम' विद्यमान है अतएव अंत समय में यवन के मुख से 'राम' उच्चरित होने के कारण उसे वैकुण्ठ-लोक मिल गया।

५. गोस्वामी जी ने नाम-प्रताप को राम-प्रताप से भी बड़ा बताया, जिसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा और "टीका लगाकर केवल 'राम-राम' रटना बहुत से आलसी अपाहिजों का काम हो गया।"

समाधान—प्रथम दोष के समाधान के निमित्त निवेदन किया जा सकता है कि गोस्वामी जी ने राम को दिक्कालातीत माना है, अतएव उनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक व्यतिक्रमण का दोष आरोपित नहीं हो सकता। 'तुलसी' का आविर्भाव राम से पूर्व कच्छपावतार के समय, 'पद्म पुराण' के अनुसार, हुआ और उसकी गणना चौदह रत्नों में की गयी है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी के ही शब्दों में, "किसी की रचना हो, उसके समय का आभास उसमें अवश्य रहेगा"।[1] तृतीय दोष के आरोपण के समय यह ध्यान रखना उचित प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी की कृतियों की अनेक प्रतिलिपियाँ होती रही हैं, जिससे भी वर्णमात्रादि की च्युति-वृद्धि सम्भव है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मात्रा लिखी जाती है दीर्घ और पढ़ी जाती है ह्रस्व, : होउ=हुउ, जेहि=जिहि, भयेउ=भयउ, सपनेहु=सपनहु, साँचेहु=साँचहु, जो=जु, कहेउँ=कहउँ, परिहरेउ=परिहरउ। निम्नलिखित दोहों और चौपाइयों को किंचित् साधकर पढ़ना पड़ता है :

> होउ महेस मोहि पर अनुकूला। करहु कथा मुद मंगल मूला
> सपनेहु साचेहु मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।
> तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥ रा० १,१५
> जिन्हहि बिरचि बड भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता
> बन्दौं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
> बिछुरत दीन दयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥ रा० १, १६

चौथे और पाँचवें आरोपणों के सम्बन्ध में स्मरण रखना चाहिए कि गोस्वामी जी अपने को कवि नहीं मानते थे, क्योंकि वे भक्त पहले और कवि पीछे थे।

लिंग-दोष—शुक्लजी ने निम्नलिखित चौपाई में लिंग-दोष देखा :

> मर्म वचन सीता जब बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥ रा० ३, २१

---

१. वही, पृष्ठ १७२।

किन्तु समाधान-रूप से उन्होंने लिखा कि इसमें "जो लिंग की गड़बड़ दिखाई पड़ती है वह 'बोला' को 'बोल' मान लेने से और 'ल' की दीर्घता को चौपाई के पदान्त के कारण ठहराने से दूर हो जाती है। अवधी मुहावरे में बोल का अर्थ होगा 'बोलती है' जैसे 'उत्तर दिसि सरजू बह पावनि' में 'बह' का अर्थ है बहती है,'।[1] इस क्लिष्ट-कल्पना का आधार यह पूर्व-धारणा है कि 'रामचरित मानस' की भाषा अवधी है। किन्तु प्रस्तुत उद्धरणों में खड़ी बोली का प्रयोग है, और सीता=सीता ने; पद्य में कारक चिह्नों का लोप हो जाता है। तुलसी से कुछ पूर्व कबीर ने और कई शताब्दियों पूर्व अमीर खुसरो ने खड़ी बोली का प्रयोग किया था। खुसरो और तुलसी तो दोनों ही एटा ज़िले की उपज हैं, एक पटियाली के तो दूसरे सोरों के। अतएव तुलसी की रचना में खड़ी बोली का प्रयोग आश्चर्यजनक न होना चाहिए। डॉ० राजपति-दीक्षित ने इस प्रयोग के निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं।[2]

नष्टमति, दुष्ट अति, कष्ट रत, खेद गत दास तुलसी संभु शरण आया। वि० १०
करि आई, करिहै, करती है तुलसिदास दासनि पर छाहैं। गी० ७, १३
कृपा सिंधु तब मन्दिर गए। रा० ७, ६, ३
एक बार रघुनाथ बुलाये। गुरु द्विज पुरवासी सब आये। रा० ७, ४२, १
जब ते रघुनायक अपनाया। रा० ७, ८८, ३
एहि तन राम भगति मैं पाई। रा० ७, ६४, ७

शुक्लजी के मतानुसार, गोस्वामीजी की भाषा सर्वत्र 'परिष्कृत, गठी हुई और सुव्यवस्थित' है। परन्तु उन्होंने वाक्याव्यवस्था का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

घुंघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलन की।
निछावरि प्रान करैं तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की॥ क १, ५

शुक्लजी का कथन ठीक ही है यद्यपि उपर्युक्त पंक्तियों का अन्वय इस प्रकार किया जा सकता है: घुंघरारी लटैं मुख ऊपर लटकैं, तुलसी (उनपै) प्रान निछावरि करैं, (हे) लला, लोल कुण्डल (युक्त) कपोलन की (एवं) इन बोलन की बलि जाउँ। या यों कहा जाय कि गोस्वामीजी को अपने इष्टदेव की बाल-सुलभ शोभा से आत्म-विस्मरण हो गया, अतः वाक्य-व्यवस्था की बात ही क्या?

एक महाशय को गोस्वामी जी की निम्नलिखित उक्ति में दोष प्रतीत होता है:—

भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान। रा २, २४०

इसमें 'अपान' और उसके साथ 'बिसरे' के प्रयोग में अश्लीलता है।[3]

वर्तनी और शब्द की अनेकरूपता—उन दिनों वर्तनी तथा शब्दों की एकरूपता पर इतना आग्रह न था जितना आज, यद्यपि वर्तनी में आज भी सर्वमान्यता और एकरूपता का अभाव किसी सीमा तक विद्यमान है, यथा: छुए, छुवै, आई, आयी, गई, नयी। उन दिनों व्रजभाषा तथा अन्य बोलियों में शब्दों की मनमानी तोड़-मरोड़

---

१. वही, पृष्ठ १७२।
२. तुलसीदास और उनका युग, पृष्ठ ४०८।
३. दे० 'मुग्धा कुड्मलिताननेन दधती वायुं स्थिता तत्र सा', काव्यप्रकाश, ७, १५२

भी थी। एडविन ग्रीब्ज़ के मतानुसार, व्याकरण, विन्यास और शब्द-रूप तुलसी के ऐसे अधीन थे जैसे दास अपने स्वामी के, वे उन्हें यथेच्छ तोड़-मरोड़ कर आवश्यकतानुसार छोटा-बड़ा कर लेते थे।[1] उदाहरणत:, रामायण में ही, 'ऐसा' शब्द एकादश रूप से लिखा गया है, कभी एक शब्दांश (सिलेब्ल) का, कभी दो का, कभी तीन का : यथा अस, ऐसे, ऐसेउ।[2]

उपमाएँ—कुछ लोगों के विचार से 'फूले फले न बेत' यह कथन भ्रमात्मक है, क्योंकि बेत पुष्पित होता है, अतएव तुलसी-भक्तों के द्वारा 'बेत' का अर्थ 'वियत्' अर्थात् आकाश कर दिया जाता है। चकवा-चकवी का रात्रि में वियोग, हंस का नीर-क्षीर विवेक, चातक का स्वाति-नक्षत्रीय जल-पान और चकोर का अग्नि-भक्षण आदि की सत्यपरता में सन्देह प्रकट किया जाता है, यद्यपि सन्देह-मात्र आक्षेप का बल हरण कर लेता है। कटि की उपमा सिंह की से, नयनों की मृगी के से, ग्रीवा की कंबु से, भ्रू की धनुष से, हस्त, पाद और मुख की कमल से परिचित हैं, और उनके बार-बार प्रयोग करने से काव्य में शैथिल्य उत्पन्न हो जाता है। गोस्वामी जी ने इन सब का उल्लेख किस कौशल से किया है :

खंजन, सुक, कपोत, मृग, मीना। मधुप-निकर कोकिला प्रवीना॥
कुन्दकली, दाडिम, दामिनी। कमल सरद ससि, अहि भामिनी॥
वरुण पास मनोज, धनु, हंसा। गज, केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल, कनक, कदलि हरखाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
रा० ३,२६ ख, १०-१३

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने गोस्वामी जी की निम्नलिखित उपमाओं की उत्कृष्टता पर विशेष और भावपूर्ण प्रकाश डाला है :[3]

एक छत्र इक मुकुट मणि, सब वरनन पर जोय
तुलसी रघुवर नाम के वरन विराजत दोय॥ रा० १, २०
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई, छविगृह दीपसिखा जनु बरई॥रा० १, २२६, ७
पेड़ काटि तें पालउ सींचा, मीन जियन निति वारि उलींचा॥
रा० २, १६०
ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी, गहिन जाइ अस अद्भुत बानी॥
रा० २, २६३, ३
सुनहु पवन सुत रहनि हमारी जिमि दसनन्हि महँ जीभ विचारी॥
रा० ५, ६, १
राम सिन्धु, घन सज्जन धीरा, चन्दन तरु हरि-सन्त समीरा॥
रा० ७, ११६, १७

शंका-समाधान—डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'रामलला नेहछू' में अनैतिहासिकता,

---

१. ए स्कैच ऑव हिन्दी लिटरेचर, पृष्ठ ६१
२. वही, २७
३. मानस में राम कथा, पृष्ठ १७३-१८७

परकीयारति, एवं प्रबन्ध-शैली-सम्बन्धिनी कतिपय त्रुटियों को उपस्थित किया है।[1] पर डा० विमल कुमार जैन 'कौसला की जेठि' का तात्पर्य वसिष्ठ-पत्नी अरुन्धती से ग्रहण कर अनैतिहासिकता का परिहार कर देते हैं।[2]

'गीतावली' (बाल २३,२४,२४) और 'कृष्ण गीतावली' (२४,४२,४३,४४) के छन्द 'सूरसागर' में भी मिलते हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये छन्द वास्तव में तुलसीदास जी के हैं, किन्तु 'सूर सागर' का पाठ नितान्त 'तरल' होने के कारण उसमें सम्मिलित हो गये।[3] मेरी विनीत सम्मति में वे सूर को तुलसी की चिरंतन श्रद्धांजलियाँ ही हैं।

'रामचरित मानस' का अध्ययन गहन हुआ है और आलोचक उसके अनेक स्थलों पर समय-समय पर शंकाएँ उपस्थित करते रहे हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त 'रामचरित मानस' की समग्रता में एकरूपता का अनुभव नहीं करते, क्योंकि उनके अनुसार, इस "ग्रन्थ के कुछ अंश ऐसे हैं जिनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, और ये अन्य अंशों से इतनी भिन्नता रखते हैं कि जान पड़ता है कि काव्य का जो स्वरूप अब हमारे सामने है वह कम-से-कम तीन विभिन्न प्रयासों का परिणाम है"।[4] श्री जयरामदास 'दीन' ने उनतालीस शंकाओं का संकलन कर उनके समाधान का प्रयत्न किया है।[5] प्रयत्न सुन्दर है यद्यपि उसमें मतभेद के लिए पर्याप्त अवकाश अवश्य है, जिसकी चर्चा, विस्तारभय से, यहाँ वांछनीय नहीं। पर गोस्वामीजी की रचनाओं में कतिपय दोषों को मान लेने से उनके गौरव में कोई न्यूनता नहीं आती।

---

१. तुलसीदास, पृष्ठ २३०-२३३
२. तुलसीदास और उनका साहित्य
३. तुलसीदास, पृष्ठ २२५
४. वही, २७०
५. मानस-शंका-समाधान, गीता प्रेस गोरखपुर, २००६ वि०

दार्शनिक विचार

(क) प्राक्कथन

उपक्रम—देशी-विदेशी दोनों प्रकार के विद्वानों का तुलसीदास जी के दार्शनिक विचारों पर मतभेद है। कुछ आलोचक तो गोस्वामीजी को दार्शनिक ही नहीं समझते और उन्हें रामानन्दजी का अनुयायी-मात्र मानते हैं, किन्तु अधिकांश में विद्वान् उनको उच्च कोटि का दार्शनिक मानते हैं। मैं प्रस्तुत अध्याय में गोस्वामी जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन अपने दृष्टिकोण से करना चाहता हूँ, किन्तु ऐसा करने से पूर्व यह उचित प्रतीत होता है कि प्रमुख लेखकों की विचारधारा पर किंचित् प्रकाश डाल दिया जाय।

ग्रियर्सन—ग्रियर्सन ने गोस्वामीजी को रामानन्दजी का परम्परागत शिष्य माना है,[1] किन्तु यह धारणा कई कारणों से ठीक नहीं। प्रथमत: गोस्वामी जी ने वर्णाश्रम धर्म का पालन किया, द्वितीयत: उन्होंने 'अध्यात्म रामायण' को अपनाया जिसे रामानन्दी प्रमाण नहीं समझते,[2] तृतीयत: उन्होंने वल्लभाचार्यजी को परोक्ष प्राणमांजलि अर्पित की, जिनके सम्प्रदाय में उनके चचेरे भाई नन्ददासजी दीक्षित हो चुके थे, चतुर्थत: स्मार्त वैष्णव होने के नाते वे पंचदेवों की आराधना करते थे जो रामानन्दियों को मान्य नहीं।

ईसाई धर्म का प्रभाव ?—ग्रियर्सन[3] और कार्पेण्टर[4] की भी यह कल्पना है कि ईसाई धर्म का कुछ प्रभाव तुलसी पर अवश्य पड़ा था। ग्राउज़[5] यह तो मानते हैं कि तुलसीदासजी की सगुण-पूजा में और ईसाइयों की आराधना पद्धति में कुछ साम्य है, परन्तु उनकी समझ में कृष्ण और क्राइस्ट के नाम-साम्य का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं, प्रत्युत उन के मतानुसार तुलसीदास जी की भक्ति-धारा एतद्देशीय ही है। डॉ० रानाडे[6] भी इस तर्क में विश्वास नहीं करते कि कबीर या तुलसी पर ईसाई मत का प्रभाव इस कारण था कि ६३६ ई० में कन्नोज के महाराज शीलादित्य ने सीरिया के एक ईसाई-दल का स्वागत किया था और अकबर ने भी अपने शासन-काल में पादरियों का। बेस नगर का स्तम्भ ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व का है, जिसे विष्णु भक्त

---

१. जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९०३, पृष्ठ ४४८, एवं एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द १०, १९१८, पृष्ठ ५७०, जिल्द १२, १९२१, पृष्ठ ४७२।

२. श्रीमद् रामानन्द दिग्विजय, पृष्ठ ४८, भगवद्दासकृत।

३. जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९०३ ई०।

४. थियोलॉजी ऑव तुलसीदास, रेवरेंड जे० एन० कार्पेण्टर कृत, पृष्ठ १२१, १३५-३६

५. रामायण ऑव तुलसीदास, भूमिका, एफ० एस० ग्राउज़ कृत, पृष्ठ १४-१६

६. हिस्ट्री ऑव इण्डियन फ़िलॉस्फी, जिल्द ७ मिस्टिसिज़्म, पृष्ठ १६-१७

हीलियोडोरस नामक यूनानी राजदूत ने स्थापित किया था।[1] इस स्तम्भ से स्वयं सिद्ध है कि भक्ति का सूत्रपात तो ईसा से शताब्दियों पूर्व हो चुका था।

कार्पेण्टर—कार्पेण्टर के मतानुसार,[2] गोस्वामीजी ने धर्म की ठेकेदारी (सेकर डोटेलिज्म) के विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठायी, प्रत्युत उन्होंने ब्राह्मणाधिकार मान लिये हैं।[3] उन्होंने न कोई सम्प्रदाय चलाया और न किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया, बस रामानन्द जी की ही तूती बजायी है। पर ग्रीव्ज की सम्मति में, उन्होंने किसी का अनुसरण नहीं किया; और ग्राउज के मतानुसार,[4] गोस्वामी जी के दार्शनिक सिद्धान्त अधिकांश में सदानन्द के 'वेदान्तसार' पर और उनकी राम-परकता 'भागवत' के साम्य पर आधृत हैं।

डॉ० मेकडुगल—डॉ० मेकडुगल[5] गोस्वामीजी को अधिकांश में परम्परावादी मानते हैं, और वे तुलसी-मार्ग से ऊब कर ईसामसीह-जैसे योग्य और दिव्य पुरुष के आश्रय की आशा और अभिलाषा प्रकट करते हैं। उनके विचार से तुलसी के इस कथन में कि राम का नाम राम से भी बड़ा है[6] न कोई नैतिकता है न आध्यात्मिकता। गांधीजी के[7] मतानुसार तो, राम नाम (आध्यात्मिक) आधियों के लिये पर्वत-सम प्राचीन औषधि है, उनका दावा था कि राम-नाम (शारीरिक) व्याधियों के लिये भी महौषधि है।

गौड़जी और लालाजी—श्री रामदास गौड़ के मतानुसार तुलसीदासजी सरल हृदय और अटल भक्त स्मार्त वैष्णव थे[8]; न वे दार्शनिक थे, न उनका किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध था। अवधवासी लाला सीताराम के मतानुसार,[9] तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरित मानस' में दर्शन के विविध वादों की चर्चा की है, यथा अद्वैतवाद की शिवजी के द्वारा, विशिष्टाद्वैत की लक्ष्मण जी के द्वारा और रामानन्द-मत की भरत के द्वारा। किन्तु डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र की दृष्टि में यह धारणा समीचीन नहीं।[10] अतएव तुलसीदास जी के ग्रन्थ को मतों का संग्रह नहीं मानना चाहिए।

त्रिपाठी जी और पांडेजी—श्री विजयानन्द त्रिपाठी ने शंकराचार्य जी के दृष्टि-कोण से 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' की व्याख्या की है। श्री चन्द्रबली पांडे के मता-

---

१. एंशेंट इंडिया, ई० जे० रैप्सन कृत, पृष्ठ १३४, १५७

२. द थिऑलोजी ऑव तुलसीदास, जे० एन० कार्पेण्टर-कृत, पृष्ठ २५

३. थीज़्म इन मिडीवल इण्डिया, पृष्ठ ५०९-५१०, जे० ई० कार्पेण्टर-कृत।

४. रामायण ऑव तुलसीदास, भूमिका, पृष्ठ १६

५. तुलसीज़ वे ऑव सैल्वेशन, पृष्ठ १६१, डॉ० विलियम चार्ल्स मेकडुगल।

६. कहउँ नामु बड़ रामतें, रा० १, ३९

७. रामनामु : दि इनफ़ॉलिबिल रिमेडी, महात्मा गांधी कृत, पृष्ठ २९, आनन्द टी० हिंगुरानी, कराची, २६ जनवरी १९४७

८. 'रामचरित मानस की भूमिका', रामदास गौड़, पृष्ठ १३, २४

९. रामचरित मानस के लोकप्रिय होने का कारण, रायबहादुर अवधवासी लाला सीताराम, कल्याण, जुलाई १९३०

१०. तुलसी-दर्शन, पृष्ठ २६-२७, डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र।

नुसार, तुलसीदास जी व्यवहार और परमार्थ का भेद करने में शंकराचार्य जी से प्रभावित हुए, किन्तु ज्ञान और भक्ति के वर्णन में उनसे दूर हो गये हैं।[१]

डॉ० दास और डॉ० बड़थ्वाल—डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० पीताम्बर बड़थ्वाल दोनों ही तुलसीदासजी के दर्शन में अद्वैतवाद का दर्शन करते हैं।[२] तुलसीदास जी ज्ञानी भक्त की प्रशंसा करते हैं, किन्तु भक्ति-योग का तात्पर्य शरणागति या प्रपत्ति से नहीं है, क्योंकि भक्ति तो सगुण से निर्गुण तक पहुँचने का साधन है।[३]

शुक्लजी और अवस्थी जी—पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि परमार्थतः सारा संसार राममय है, किन्तु व्यवहारतः राम-रावण में भेद करना ही पड़ता है; कम-से-कम भक्ति के विषय में गोस्वामीजी रामानुज के अनुयायी थे।[४] यद्यपि परमार्थ की दृष्टि से उनकी आस्था अद्वैत वेदान्त में थी, तथापि भक्ति के दृष्टिकोण से वे भेद मानते थे।[५] शुक्ल जी को गोस्वामीजी की यह बात पसन्द न आयी कि राम का नाम राम से बढ़कर है।[६] गोस्वामीजी ने जो कुछ लिखा है उससे वानप्रस्थ अथवा संन्यासी का कल्याण न हुआ हो; किन्तु गृहस्थ का कल्याण अवश्य हुआ है, और इस सम्बन्ध में गोस्वामीजी के प्रयत्न ऐसे ही प्रशंसनीय हैं जैसे महाराष्ट्र में स्वामी रामदास के। किन्तु श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी यह श्रेय तुलसी को नहीं देना चाहते। इस विषय में जो कुछ श्रेय है वह, अवस्थी जी के विचार से, या तो तुलसीदास जी के इष्ट देव का है अथवा वाल्मीकि जी का अथवा अन्य पूर्वगामी लेखकों का जिन्होंने राम-कथा गायी है।[७] अवस्थी जी के मतानुसार यदि गोस्वामीजी का कोई निजी वैशिष्ट्य है तो वह है साधु-धर्म का प्रतिपादन।[८]

डॉ० लाल और डॉ० भटनागर—डॉ० श्री कृष्णलाल के अनुसार तुलसीदास जी सन्त थे और महात्मा भी, किन्तु दार्शनिक नहीं थे। वे भक्त थे, ज्ञानी नहीं।[९] डॉ० रामरतन भटनागर ने गोस्वामी जी की कुछ रहस्यमयी उक्तियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया, यथा—सियाराम मय सब जग जानी। राम-कथा स्वयं रहस्यमय है, अतएव अद्भुत है, विचित्र है, और अगम्य है,[१०] और तुलसीदास जी ने 'रामाश्रित जीवन' का उपदेश दिया है।[११]

चतुर्वेदी जी—महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तुलसीदास जी को शांकर

---

१. तुलसीदास, पृष्ठ १६२, श्री चन्द्रबली पांडे।

२. गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १८४-१८८, डॉ० श्यामसुन्दरदास और डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

३. वही, पृष्ठ १६३

४. गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ४६

५. वही, पृष्ठ ६५-६६।

६. वही पृष्ठ १७३

७. तुलसी के चार दल, प्रथम जिल्द, पृष्ठ ६६

८. वही, पृष्ठ ५

९. मानस-दर्शन, पृष्ठ १२१

१०. रहस्यवाद, पृष्ठ १४१-१४३

११. तुलसीदास : आलोचनात्मक अध्ययन पृष्ठ २६२

अद्वैत का अनुगायी मानते हैं। उनका आधार हैं गोस्वामी जी की ऐसी कुछ उक्तियाँ, यथा : 'यन्माया वश वर्ति', अमृषैव', 'रज्जौ यथाहेर्भ्रम :', 'सियाराम मय सब जग जानी', 'नेति नेति', 'निर्विकल्प', 'चिदाकाश', 'निर्गुण', 'तुरीय', 'गिराग्यान गोतीत', 'सोतें तोहि ताहि नहिं भेदा', 'करम कि होंहि स्वरूपहि चीन्हें', आदि शब्दावली भी शंकराचार्य जी के सर्व-कर्म-संन्यास का स्मरण दिलाती है।[1] 'जानत तुम्हहिं तुमहि हो जाई', यह 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का अनुवाद है।

डॉ० मिश्र—डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र ने गोस्वामी जी के दार्शनिक विचारों का अध्ययन अधिक विस्तार और गम्भीरता से किया है। उनके विचार से, गोस्वामी जी ने अद्वैत सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लिया है। शंकराचार्य जी की भाँति वे भी भक्ति को मुक्ति के दृढ़ीकरण के लिए प्रधान मार्ग मानते हैं किन्तु मुक्ति के दृढ़ीकरण अथवा स्थायीकरण से क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य जी ने भक्ति को मुक्ति के लिये माना है, किन्तु तुलसीदासजी के लिये यह भक्ति साध्य भी है। मिश्र जी आगे कहते हैं कि यह ठीक है कि भक्ति माया का एक रूप है और निर्गुण से सगुण हो जाना ही जीव का आदर्श है, अतएव परम सत्ता निर्गुण ब्रह्म[2] है, क्योंकि अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है; किन्तु यह भी ठीक है कि अनध्यस्त विवर्त्त (?) से जीव को सत्य-ज्ञान होता है और भक्ति के द्वारा मुक्ति अयाचित ही प्राप्त हो जाती है, अतएव यदि गोस्वामी जी ने भक्ति पर अधिक आग्रह किया है, तो इस कारण वे अद्वैत के अनुयायी अमान्य नहीं।[3] भक्ति के साधनों का उल्लेख करते समय डॉ० मिश्र ने लिखा है कि तुलसीदास जी शूद्रों का स्थान सवर्णों के बराबर समझते थे (रा० ५, ४४, १; ३, ४३, २-३)[4]। डॉ० मिश्र पं० रामचन्द्र शुक्ल से सहमत हैं कि तुलसीदास जी की आस्था पारमार्थिक सत्ता में, तथा प्रवृत्ति व्यावहारिक भक्ति में थी।[5]

डॉ० गुप्त—डॉ० माता प्रसाद गुप्त के मतानुसार, गोस्वामीजी ने 'अध्यात्म-रामायण' के दर्शन का ही संशोधित रूप उपस्थित किया है,[6] यद्यपि गुप्तजी यह भी स्वीकार करते हैं कि 'रामचरित मानस' और 'विनय-पत्रिका' के कुछ विचार (जिनका उन्होंने उल्लेख किया है) 'अध्यात्मरामायण' से मेल नहीं खाते।[7] उनके मतानुसार, 'रामचरित-मानस' से पूर्वकालीन ग्रन्थों में हनुमद्भक्ति का कोई साक्ष्य नहीं। यदि गुप्त जी के कथन का यह आशय है कि तुलसीदास जी ने हनुमद्भक्ति का आविष्कार किया, तो उनका ध्यान बुधकौशिक-कृत 'राम-रक्षा-स्तोत्र' के 'मनोजवं मारुत तुल्य वेगं (३३)'

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, तृतीय भाग, विभाग दूसरा, पृ० ६४, ७०-७२, ७५, ११०, ११४
२. तुलसी दर्शन पृष्ठ १२६-१२८
३. वही, ३०६-३१०
४. वही, पृ० ३१८
५. तुलसी दर्शन, पृष्ठ २१३
६. तुलसीदास, पृष्ठ ३८१-३८२
७. वही, पृष्ठ ५३८-४०

एवं आद्य शंकराचार्य-कृत 'श्रीहनुमत्पंचरत्न स्तोत्र' की ओर आकर्षित किया जा सकता है।[1]

व्योहार जी—श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह जी के अनुसार, गोस्वामीजी ने विरोधी विचारों का सामंजस्य एक विचारधारा में किया है। उनके मतानुसार, तुलसीदासजी ने शंकर और रामानुज का समन्वय किया है।[2] किन्तु इस विषय में यह आपत्ति उठती है कि क्या व्योहार जी ने दोनों आचार्यों का प्रतिनिधित्व ठीक-ठीक किया है ? क्या, उदाहरणत: रामानुजाचार्य जी कभी यह मानने को प्रस्तुत होंगे कि भक्ति के कारण निर्गुण-सगुण हो जाता है ? तुलसी का वचन है :

फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुण ब्रह्म सगुन भए जैसा॥ रा० ४, १६, १

मेरा दृष्टिकोण—मैंने गोस्वामी जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन अपने रूप से किया है।[3] मैं भी मानता हूँ कि गोस्वामीजी स्मार्त वैष्णव थे और किसी आचार्य-विशेष के अनुयायी नहीं थे। जहाँ तक आतिभौतिक विचारधारा का सम्बन्ध है, वे शंकर और वल्लभ के मध्य में स्थित हैं, जिसका विवेचन आगामी पृष्ठों में होगा। इसके अतिरिक्त आचार और मनोविज्ञान के सम्बन्ध में गोस्वामी जी के जो विचार हैं उनकी ओर आज तक किसी समालोचक का ध्यान नहीं गया है। मेरी समझ में, गोस्वामी जी ने मनोविज्ञान-सम्बन्धी चर्चा हिन्दी-साहित्य में सर्व-प्रथम एवं साधिकार की है। मैंने इस तथा अन्य दिशाओं में भी जो विनम्र प्रयत्न किया है उसे सार-रूप से उपस्थित करने में प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ।

(ख) प्रमाण

प्रत्यक्षादि—गोस्वामीजी ने प्रत्यक्ष और अनुमान का मूल्य समझा, किन्तु शब्द को उच्चतर स्थान दिया।

अनुभव—इन तीनों प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान का परिपाक विज्ञान में हो जाता है किन्तु सर्वश्रेष्ठ प्रमाण अनुभव है जो हैनरी वर्गसों के शब्द में इंट्यूशन है, और जो योगवासिष्ठ के अनुसार सर्वेन्द्रियों का अध्यक्ष तथा वेदन, अनुभूति, प्रतिपत्ति, संविद् का सार है (२, १६, १७-१६)। तुलसी के शब्दों में :

सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा॥

रा० ७,११७ घ, १-२

(ग) ब्रह्म

निर्गुण—गोस्वामीजी ने ब्रह्म की चर्चा अन्वय-व्यतिरेक से की है, अर्थात् भावात्मक और निषेधात्मक रीति से। निषेधात्मक रूप है 'नेति-नेति', अर्थात् 'न इति, न इति'; इसके द्वारा निर्गुण की चर्चा कुछ ऐसे शब्दों से की जाती है, यथा : अनाम,

१. 'सूक्ति सुधाकर', गीताप्रेस, गोरखपुर पृष्ठ ६२-६३
२. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना, पृष्ठ ६६
३. द फ़िलॉस्फ़ी ऑव तुलसीदास, अमुद्रित (आगरा विश्वविद्यालय)

निरंजन, अखण्ड, अकल, अज, अद्वैत, अनीह, अरूप, अमल, अविनाशी, निर्विकार, निरवधि, मनोगोतीत, मायारहित, अनामय, अनघ, अनंत (रा० ७, ११० घ, ३-५, १, १८५, छं २, ७, २५, ७, ३३, २)।

मायाच्छन्न पुरुष के द्वारा निर्गुण अगम्य है (रा० ३, ३६ क)। किन्तु उसकी महिमा अपार है, क्योंकि वह बिना इन्द्रियों के ही वर्त्तता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (३, १६) की भाँति तुलसी कहते हैं—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा।।

रा० १, ११७, ५-७

सगुण—गोस्वामीजी के भावात्मक वर्णन के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द, व्यापक, विश्वरूप, भगवान्, एवं परमकृपालु है और भक्तों के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है (रा० १, १२, ३-५)। सनकादि ऋषियों की स्तुति के अनुसार वह गुण-सागर, सुख-मन्दिर, अतिनागर, शोभाकर, ज्ञान-निधान, मानप्रद, पावन, सुयश, सर्व, सर्वगत, तज्ज्ञ, कृतज्ञ, अज्ञताभंजन, सर्व-हृदय-निवास, दीनबन्धु, अनेकनाम, भव-वारिधि-कुंभज, सेवा-सुलभ, सकल-सुख-दायक, विनय-विवेक-विरति-विस्तारक, काल-कर्म-स्वभाव-गुण-भक्षक, तरण-तारण, सर्व-दोष-हर्त्ता, त्रिभुवन-भूषण (रा० ७, ५६)

निर्गुण-सगुण का अभेद—यद्यपि तुलसीदासजी के मतानुसार निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं, निर्गुण ही भक्त-प्रेम के कारण इस प्रकार सगुण बन जाता है जिस प्रकार जल शीत के कारण हिम हो जाता है :

सगुनहि, अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुण सो होई।।
जो गुन सहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहि जैसे।।

रा० १, ११५, १-३

तथापि उन्हें सगुण रूप ही अधिक भाता है, और इस विषय में उन्हें अगस्त्य, सुतीक्ष्ण और काक का समर्थन प्राप्त है (रा० ३, १२, १२-१५, ३, १०, ११-१८, ७, १०६ घ, १५-१६)।

परात्पर राम—राम में निर्गुण और सगुण दोनों का पर्यवसान है। वे दशरथ-नन्दन, विष्णुजी के अवतार, स्वयं श्रीपति, विधि-हरि-हर को नचाने वाले सगुणा-गुणातीत हैं। सुतीक्ष्ण स्तुति करते हैं—

निर्गुण सगुण विषम सम रूपं। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन महि भारं।। रा० ३, १०, ११-१३

लक्ष्मण सीताजी को समझाते हैं:

भृकुटि विलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परइ कि सोई।।

रा० ३, २७, ४

मनु-शतरूपा के अनुसार ये हैं वे :

संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहि जासु अंस ते नाना।।

और ये हैं परात्पर

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई। रा० १, १३६, १

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। रा० २, ६२, ७

रामनाम—किन्तु गोस्वामीजी राम-नाम को राम से भी ऊपर उठा देते हैं, कदाचित् ऐसा वे साधक के दृष्टिकोण से करते हैं। नाम और रूप दोनों ही ईश्वर की उपाधियाँ हैं जो अनिर्वचनीय और सुबोधों के समझने योग्य हैं—

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी रा० १, २०, २

इन दोनों में रूप नाम के अधीन है क्योंकि बिना नाम के न प्रत्यभिज्ञान होता है न ज्ञान—

देखिहहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयं सनेह बिसेषें॥

रा० १, २०, ४-६

अगुण-सगुण ब्रह्म के दो रूप हैं और दोनों ही रूपों में वह अनिर्वचनीय, अगाध, अनादि और अनुपम है; किन्तु मेरे मत से तो, तुलसीदासजी कहते हैं, नाम दोनों से बढ़कर है—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नाम दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूते॥

रा० १, २२, १-२

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार
कहउँ नाम बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥ रा० १, २३

और वे, समर्थन के लिए, उन कतिपय व्यक्तियों का उल्लेख करते हैं जिनका उद्धार 'राम' ने किया, किन्तु साथ ही कहते हैं कि 'राम-नाम' ने तो असंख्य प्राणियों का कल्याण किया है, (रा० १, २३-२५)।

(घ) माया

वह कौन-सी शक्ति है जिसके कारण निर्गुण सगुण हो जाता है? वह है भक्त-प्रेम अथवा माया। गोस्वामीजी ने 'माया' का प्रयोग लौकिक और दार्शनिक दोनों ही अर्थों में किया है। लौकिक अर्थ में नट-कौशल, नारी की मोहकता, अथवा राक्षसों के अतिमानव कपट-कौशल को माया कहते हैं। दर्शन-शास्त्रों में प्रकृति और प्रपंच भी माया के पर्याय हैं और गोस्वामीजी ने उनका उल्लेख किया है (वि० १३६, १-७; रा० १, ११-१२), तथाच कौतुक का भी (वि० १८०, ४) जो लीला का पर्यायवाची है।

प्रमा के स्तर से—गूढ दृष्टि से असत् को सत् मान लेना माया है और ऐसा करने से यह असत् संसार सत् भासता है (वि० १२०, १-२)। माया की समस्या पर दो दृष्टिकोणों से विचार हो सकता है—प्रमा से और तत्त्व से।

प्रमा के स्तर से, माया स्वप्नवत् है। जब तक मनुष्य भयंकर स्वप्न देखता रहता है, तब तक उसे दुःख होता रहता है। सांसारिक हाथी, घोड़े, योद्धा लोग,

पत्नियाँ, सन्तान, भूमि, धन, वैभव, प्रासाद आदि से सर्वोपम सुख मिल सकता है, पर वास्तव में वे हैं 'सपनो दिन द्वै' (क० ७, ४१)।

लक्ष्मणजी निषाद के प्रति व्यवहार और परमार्थ के भेद का निरूपण करते हैं। जगत् व्यवहार है, राम-ब्रह्म परमार्थ है।

जोग वियोग भोग भलमंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।।
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू।।
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू।।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल, परमारथु नाहीं।।

रा० २, ९१, ५-८

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।।
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा।।

रा० २, ९२, ७-८

सत्य का तारतम्य—स्वप्न प्रातिभासिक, प्रपंच व्यावहारिक, और ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है। जिस प्रकार जागरितावस्था से स्वप्न मिथ्या सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तुरीयावस्था से जागरितावस्था मृषा हो जाती है। जगत् हमें उसी प्रकार प्रभावित करता है जिस प्रकार कोई भयंकर स्वप्न। वह मिथ्या होते हुए भी ऐसे भासता है:

रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि।। रा० १, ११७
एहि बिधि जगहरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।।
जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई।।

रा० १, ११७, १-२

तात्विक रूप से—तात्विक स्तर से तो 'माया' परब्रह्म राम की रचना-शक्ति है जिसने प्रपंच और चराचर की सृष्टि की है:

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर विविध प्रकारा।। रा० ७, ८५ख,८
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कर नाथ सहज जड़ करनी।।
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए।। रा० ५,५८, २-३

मनोमाया—मिथ्याभिमान मैं-तू, मुझे-तुझे, अथवा मेरे-तेरे का बृहद् रूप है। तुलसीदास जी कहते हैं—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।। रा० ३, १४, २

इस माया के अनेक रूप हैं, जैसे काम क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, द्वेष, शोक, धन, शक्ति, चिन्ता, इच्छा, एषणाएँ। माया की सेना का उल्लेख आगामी किसी अध्याय में होगा।

विद्याविद्या—माया द्विविध है—विद्या और अविद्या। अविद्या से मनुष्य प्रपंच में लिप्त होता और कष्ट पाता है, पर विद्या से वह भव-बन्धन से मुक्त होता और सुख पाता है। भगवद्भक्त को विद्या व्यापती है, उसे अविद्या इस प्रकार नहीं व्यापती जिस प्रकार नाटक के पात्र को आरोपित रूप नहीं व्यापता। तुलसीदास जी कहते हैं—

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या ॥

रा० ७, ७८ख, २

नट कृत विकट कपट खगराया। नट सेवकहिं न व्यापइ माया ॥

रा० ७, १०३ख,८

माया और ईश्वर—माया जीव-जगत् को ही प्रभावित करती है, ईश्वर को नहीं, क्योंकि वह ईश्वर के अधीन है (रा० ७, ७७ख, ६)। ईश्वर और माया का संबन्ध पति-पत्नी का सा है। राम तो मायापति (वैं० सं० ४, वि० १७७) और माया-शासक (गी० ५,२५,२) हैं, और माया उनकी शक्ति है। माया स्वय तो शून्य है, किन्तु वह ब्रह्म-रूपी अंक के संपर्क से प्रकट हो जाती है (दो० २००)।

सत् अथवा असत्—सर्वश्री रामनरेश त्रिपाठी,[1] विजयानन्द त्रिपाठी,[2] विनायक राव,[3] और गिरिधर शर्मा[4] का विश्वास है कि तुलसीदास जी माया को असत् मानते हैं, अतएव शंकराचार्य के निकट हैं। उनकी इस धारणा का एक प्रधान कारण यह भी है कि तुलसी ने उन्हीं परम्परागत उपमाओं का उपयोग किया है जिनका शंकर ने। उदाहरणत: उन्होंने जगदाभास की तुलना स्वप्न से, रज्जु-सर्प से अथवा शुक्ति-रजत् से की है। किन्तु इतना कहने से तो यह प्रतीत नहीं होता कि तुलसीदास जी जगत् की सत्ता ही नहीं मानते, प्रत्युत् वे उसकी सत्ता को अपेक्षाकृत तुच्छ समझते हैं। वे संसार की तुलना बादल की बिजली से करते हैं जो चंचल और अस्थिर है (देह गेह नेह जानु जैसे घन दामिनी) और वे उन लोगों का उपहास भी करते हैं जो यह घोषित करते फिरते हैं कि संसार झूठा है :—

झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग, संत कहंत ते अन्त लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक, काढ़त दंत, करंत हहा है।
जान पनी को गुमान बडो, तुलसी के विचार गंवार महा है ॥ क०७,३९

वियोगी जी का सुझाव—श्री वियोगी हरि का कथन है कि ऐसी उपमाएँ तो उस जगत् के लिए लागू हैं जो हरि-विहीन है, किन्तु तुलसी का समस्त संसार तो सीता-राम-मय (रा० १, ७घ, २) है, अतएव तुलसी-वाले जगत् के लिए वे कैसे लागू हो सकती हैं? तुलसी का झुकाव सगुण ब्रह्म की ओर है और भक्ति की ओर भी। किन्तु जिस प्रकार तुलसी के राम निर्गुण-सगुण से ऊपर हैं उसी प्रकार सीता जी (अर्थात् उनकी शक्ति) भी सदसत् से परे हैं।

सुन्दरतम कल्पना—तुलसी की सुन्दरतम कल्पना विनयपत्रिका के निम्न-लिखित पद में अभिव्यक्त है :

केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए ॥

---

१. तुलसीकृत रामायण सटीक, पृ० १३९-१४०

२. ज्ञानदीपक का स्पष्टीकरण, कल्याण १९३०, पृष्ठ २७२-२७९

३. रामायण, बालकाण्ड, पृ० ९२-९४, अयोध्याकाण्ड, पृ० १३७-१३८, किष्किन्धाकाण्ड, पृ० ५३-५४

४. गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार, तुलसी ग्रंथावली, पृष्ठ ६३-१३०

सून्य भित्ति पर चित्र, रंग नहि, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटे न, मरै भीति दुख, पाइय यहि तनु हेरे ।।
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदन हीन सों ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ।।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने ।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचाने ।। १११ ।।

भक्ति और माया—तुलसीदास जी ने भक्ति को रामप्यारी और माया को नर्तकी बताया है । कवि ठहरे, किन्तु एक दो स्थलों पर उन्होंने जगज्जननी जानकी जी की भी उपमा माया से दे डाली है । अस्तु, इससे तुलसीदास जी के सिद्धान्त पर कोई अन्तर नहीं पड़ता । नर्तकी की कल्पना तो 'अध्यात्म रामायण' से ली गयी है :

पुनि रघुबीरहि भगति पियारी । माया खलु नर्तकी बिचारी ।।
भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया ।।
रा० ७, ११५ख,४ ५

त्वदधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी ।। अ० रा० २, ६, ५६
राम त्वमेव भुवनानि विधाय तेषां
संरक्षणाय सुर-मानुष-तिर्यगादीन्
देहान्बिभर्षि न च देह गुणैर्विलिप्तः
त्वत्तो बिभेत्यखिल मोहकरी च माया ।। अ० रा० २, ६, ६२

माया को पार करने का उपाय—माया को अभिभूत करना अत्यन्त दुष्कर है; किन्तु पुण्य, ज्ञान, भक्ति और रामकृपा से ऐसा सम्भव है । ज्ञानमार्ग अनेक संकट और बाधाओं से आकीर्ण है (रा० ७, ११८ क-ख); काल, स्वभाव और कर्म (भाग्य) का भी विवेक पर प्रभाव पड़ता है (रा० १, ६, १-२) । अतएव भगवान् राम ही प्राणी को भव-सागर से पार करते हैं । भगवान् की माया से जीव भ्रान्त हो जाते हैं और फिर उन्हीं की कृपा से मुक्त हो जाते हैं ।

नाथ जीव तब माया मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा ।। रा० ४, २, २

(ङ) त्रिमूर्त्ति

राम के अधीन—तुलसीकृत रामायण में रामचन्द्र जी ब्रह्मा, विष्णु और महेश के नचाने वाले हैं (रा० २, १२६, १) । उनके एक अंश से त्रिमूर्त्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, (रा० १, १४३, ६) । राम इनकी कल्पना से अतीत हैं, 'जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को' (रा० २, २४०, ५) । हनुमान् जी ने रावण से कहा था कि यदि राम तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ तो सहस्रों शिव, सहस्रों विष्णु और सहस्रों ब्रह्मा तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते :—

संकर सहस बिष्णु अज तोही । सकहिं न राखि राम कर द्रोही ।। रा० ५, २२, ८

विष्णु जी के, और विशेषतः ब्रह्माजी और शिवजी के, सम्बन्ध में लक्ष्मण (रा० २, २६, ८, ६, ७४ ख, १४), हनुमान् (रा० ५, २२, ८) और अंगद (रा० ६, २६, २) के द्वारा अवज्ञापूर्ण शब्द उच्चरित हुए हैं । वैदिक-काल में त्रिमूर्त्तियों को जो महत्ता अलगशः,

तदनन्तर पुराण-काल में अलग-अलग एवं संघटित रूप से, प्राप्त थी वह घट चली थी। सर्वप्रथम ब्रह्माजी की महत्ता पर कुठाराघात हुआ था और तुलसीदास जी के समय में तो परात्पर सत्ता से सीधा सम्बन्ध स्थापित-सा हो गया था।

त्रिमूर्त्ति-पत्नियाँ—उमा, लक्ष्मी, और ब्राह्मी की गरिमा में भी ह्रास हो गया था। आदि-शक्ति के भ्रूकटाक्ष मात्र से असंख्य उमाएँ, लक्ष्मियाँ और सरस्वतियाँ उत्पन्न होती हैं. जो राम-विवाह के अवसर पर गीत गाने के लिये अन्य देवियों के साथ उपस्थित थीं (रा० १, ३२१, ५-७, १, ३१७, ६)। उस समय उनके पतिदेव भी विराजमान थे (रा० १, ३२०, ६)। तुलसीदास जी ने तो सीता-शोभा की तुलना सरस्वती जी, लक्ष्मी जी और पार्वती जी की शोभा से करने में कौशल-पूर्वक संकोच किया है (रा० १, २४६-२४७)। आदि-शक्ति की कल्पना का आधार ऋग्वेद का वागाम्भृणी सूक्त (१०, १२५) प्रतीत होता है।

राम और विष्णु—तुलसीदास जी कभी-कभी राम का तादात्म्य विष्णु जी से कर देते हैं, क्योंकि राम के लिये उन्होंने 'श्रीरमण', 'रमानिवास', 'हरिःस्वयम्' लिखा है। राम कभी तो विष्णु हैं और कभी उनसे बहुत ऊंचे हैं। इन्द्र ने उन्हें 'रमानिवास' (रा० ६, ११२-११३), वेदों ने 'रमेश' (रा० ६, १२ग, छं० ४), और शिवजी ने 'श्री रमण', 'रमारमण' (रा० ६, १३, छं०) कहा है। मन्दोदरी राम को विष्णु मानती है, (रा० ६, १०३, छं०)। रावण के निधन पर, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि तो उपस्थित होते हैं, विष्णु नहीं। स्यात् तुलसीदास जी ने उस समय अपने मन में राम और विष्णु का तादात्म्य कर लिया हो। यदि अयोध्यावासी गौरी, शिव, गणेश, सूर्य और विष्णु की अर्चना करते हैं, तो भरत चित्रकूट में शिव-विष्णु का गुण-गान करते हैं (रा० २, २७२, ४-६, २, ३१२)। राम-विष्णु का तादात्म्य होने पर भी, लक्ष्मी और विष्णु, राम को अश्व पर आरूढ़ देखकर, जनकपुरी में मोहित हो जाते हैं (रा० १, ३१६, ३)।

शैव-वैष्णवों का ऐक्य—तुलसीदास जी ने शिवजी के लिए अत्यन्त आदर-भक्ति का प्रदर्शन, उनका यथावत् चित्रण, तथा मंगलाचरणों में स्मरण किया है। दक्षिण के रामेश्वर में राम-द्वारा शिवलिंग स्थापना हुई है। राम ने शिवजी और शिवानुयायियों के लिये अत्युच्च आदर प्रदर्शित किया है, यद्यपि अधिकतर तो शिव जी ने ही राम की पदार्चना की है। तुलसी के लिए राम तो शिवजी और विष्णुजी से बहुत ऊँचे हैं, क्योंकि वे दोनों ही उनकी सेवा में सपत्नीक उपस्थित रहते हैं।

(च) अवतार

अवतार का अर्थ—अवतार का शाब्दिक अर्थ है 'उतरना', अर्थात् भगवान् का पृथ्वी पर उतरना। लोग समझते हैं कि भगवान् गर्भ में आते और जन्म लेते हैं, यह समझ ठीक है, किन्तु सोलह आने नहीं। ऋक् और यजुर्वेद में लिखा है : 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते', अर्थात् भगवान् गर्भ में रहते और अनुत्पन्न होते हुए भी अनेकधा उत्पन्न होते हैं। उक्त श्रुति में 'अजायमानः' और 'विजायते' विशेष द्रष्टव्य हैं। 'जायते' न लिखकर 'विजायते' क्यों लिखा गया, उपसर्ग की क्या आवश्यकता थी ? अतएव शंकराचार्य जी ने लिखा कि भगवान् अवतार

के समय उत्पन्न होते हुए-से प्रतीत होते हैं। ईसाइयों में डोसिटिस्ट सम्प्रदाय मानता है कि ईसा मसीह का शरीर दिखावटी शरीर था। भारतीय शास्त्रों में अवतार का शरीर अप्राकृत माना गया है, अतएव तुलसीदासजी ने रामावतार के निमित्त 'प्रकट' शब्द का उपयोग किया है : **भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी**

रा० १, १९१, छं०

अवतार-शरीर का तत्त्व—ऊपर बताया गया है अवतार का शरीर प्राकृत अर्थात् त्रिगुणात्मक नहीं होता। वह अप्राकृत होने के कारण जन्म-मरण-रहित होता है। राम का शरीर 'इच्छा' का बना हुआ था—

इच्छामय नर वेष सँवारे। होइहउ प्रगट निकेत तुम्हारे॥ रा० १, १५१, १

वह शरीर 'इच्छामय', 'निजेच्छा निर्मित', 'त्रिगुणातीत' एवं 'चिदानन्दमय' था :

निज-इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥ रा० १, १९२

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी॥

रा० २, १२६, ५

अवतार के समय राम घन-श्याम वर्ण के, मालाधारी, और चारों हाथों में शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये हुए थे। उन्होंने कौशल्या की प्रार्थना पर बाल-रूप धारण कर लिया था (रा० १, १९१, छं ४)।

अवतार का समय और उद्देश्य—कृष्ण जी की भाँति गोस्वामी जी भी कहते हैं कि जब-जब दुष्ट राजाओं का अत्याचार प्रजा को अत्यन्त पीड़ित करता है तब-तब गो, ब्राह्मण, ऋषि, मुनि, देव आदि की रक्षा करने और वर्ण-व्यवस्था की पुनः स्थापना के लिये भगवान् अवतार लेते हैं (वि० ४६, ४, २४८, २, गी० १, ४७, २)। वे अपनी इच्छा से (दो० ११६, १२४) और भक्त के हित के लिए ऐसा करते हैं।

धरहिं भगत हित मनुज शरीरा। रा० ७, ११३ ख, १२

नर तन धरेहु सन्त सुर काजा। रा० २, १२६, ६

अवतार का परिकर—भगवान् अपने दलबल के साथ अवतार लेते हैं। अकेला तो प्राकृत राजा भी कहीं नहीं आता-जाता। अन्यत्र[1] लिखा मिलता है कि रामावतार के समय, विष्णु जी राम हो गये, लक्ष्मी जी सीता, शेषनाग जी लक्ष्मण, चक्र भरत, और शंख शत्रुघ्न। तुलसीदास जी ने लक्ष्मण के लिए अनन्त, (रा० ६, ५३, ४) अहीश (रा० ६, ७५, १३) आदि शब्दों का अनेक बार प्रयोग किया है। भगवान् के लिये जो ऋक्ष और वानर युद्ध-स्थल में लड़ मरे थे उन्हें इन्द्र द्वारा जीवित कराया गया, वे देवताओं के अंशावतार थे (रा० ६, ११३, १-८)।

दशावतार—यों तो अवतारों की संख्या अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार ३९ और भागवत (२, ७, १-५३) के अनुसार २२ है, पर मुख्यावतारों की संख्या दस मानी जाती है, यथा :

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः

रामोरामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश।

---

१ अध्यात्म रामायण. ७. ९. ५७

विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी ने इन्हीं दस का उल्लेख किया है; उन्होंने राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि को श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं। यद्यपि व्रज में गोस्वामी जी ने, कारणवश, कृष्ण के दर्शन राम के रूप में किये थे तथापि भगवान् कृष्ण के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी जिसे उन्होंने कृष्ण गीतावली में प्रकट भी किया है। तुलसीदास जी ने 'विनय-पत्रिका' के ५२वें पद में किसी भी अवतार की इतनी प्रशंसा नहीं की जितनी बुद्ध जी की, किन्तु वेदों की निन्दा करने के कारण 'दोहावली' के ४६४ वें दोहे में उन्हें निन्दित भी समझा। इतिहासकारों का मत है कि बौद्धों ने प्राचीन आर्य-धर्म का ही विरोध नहीं किया अपितु संस्कृति और आर्याचार का भी, अतएव उन्हें भारत से लुप्त होना पड़ा था। जैनियों ने धार्मिक मतभेद रखते हुए भी प्राचीन आचार और संस्कृति से आनुकूल्य रखा, अतएव वे आज भी भारत में विद्यमान हैं। तुलसीदास जी इष्टदेव-वादी थे, उनके इष्टदेव थे रामचन्द्र, जो दशरथ-नन्दन, विष्णु जी के अवतार (रा० १, ४७, ७, ५०, १) परब्रह्म के अवतार (रा० ७, ७२ क, १, ५०, छं०), तथा स्वयं सच्चिदानन्द भगवान् [रा० ७, २५, ७१ (ख), ३, ७२ (क)] थे। अतएव सीताजी भी लक्ष्मी जी से बड़ी हैं (रा० १, १४७, ३)।

राम के प्रति तुलसीदास जी का भाव—तुलसीदास जी आजन्म स्मार्त्त वैष्णव रहे। उनके हृदय मे रामभक्ति का उदय इस धारणा से हुआ कि राम विष्णुजी के अवतार हैं। राम के इष्टदेव बन जाने पर, तुलसी को 'अध्यात्म रामायण' एवं राम-परक दोनों उपनिषदों से यह प्रेरणा मिली कि राम और विष्णु एक ही हैं। निंबार्क, चैतन्य जैसे महापुरुषों के अनुयायियों के सम्पर्क में आकर उनकी राम-निष्ठा और भी प्रदीप्त हो उठी। वल्लभाचार्य जी श्रीकृष्ण को अक्षर ब्रह्म से भी ऊँचा मान कर, भागवत के अनुसार, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' का प्रतिपादन करते थे। जब वल्लभाचार्य जी ने सोरों में भागवत की कथाएँ कही थीं तब गोस्वामी जी लगभग १५ वर्ष के थे और उन्होंने आचार्य जी की कथा अवश्य सुनी होगी। आचार्य जी का तथा उनके अनुयायियों का जनता पर प्रचुर प्रभाव पड़ा था। तुलसीदास कैसे अछूते रह सकते थे, उन्होंने भी अपने राम को परात्पर ब्रह्म घोषित कर दिया।

सुर-भूसुर

त्रिमूर्तियों के अधीन देव—त्रिमूर्त्तियों के अधीन अनेक देवी-देव हैं। ऋक् और अथर्व वेदों के अनुसार उनकी संख्या तैंतीस है, जिसमें एकादश स्वर्ग के, एकादश पृथ्वी के और एकादश जल के हैं। वैदिक काल में देवियों की संख्या कम थी, जो पौराणिक काल में वृद्धिगत हो गयी।[1] उक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त तीन प्रकार और थे—इष्टदेव, कुलदेव और ग्रामदेव। अनन्य भक्ति के निमित्त, भक्त जिस एक देवता को मनोनीत कर लेता है उसे इष्टदेव अथवा इष्ट-देवी कहते हैं (दो० ३२१), यथा तुलसी के इष्टदेव राम थे। वंश-कुल की संरक्षा जिस देवता से होती है उसे कुल-देव अथवा कुल-देवी कहते हैं, यथा राम के कुल-देव सूर्य थे (रा० १, ३२२, छ० २)। ग्राम अथवा

१. वैदिक मिथोलौजी- पृ० १२४-१२५

नगर की संरक्षा के लिए भी ग्राम-देवी और ग्राम-देव होते हैं। राम की माताओं ने, यह सुनते ही कि कल दशरथ जी राम का राज्याभिषेक करेंगे, ग्राम-देवी की पूजा की थी (रा० २, ७, ५)।

पंच देव—पुराण-काल में पंच देवोपासना प्रचलित हो गयी थी। पंच देव हैं : गणेश, दुर्गा, शिव, सूर्य और विष्णु। अयोध्यावासियों ने चित्रकूट पर इनकी पूजा की, (रा० २, २७२, ४-५)। सीता-राम ने गौरी और गणेश आदि की अर्चना विवाह-मण्डप में की थी, (रा० १, ३२२, छं० १)। स्वयं तुलसीदास जी ने निम्नलिखित देवताओं की प्रार्थना की है : गणेश जी (वि० १, गी० १, १०३, ६), हनुमान् जी (वि० २५-२६), देवी जी (वि० १५-१६), श्रीरंग जी (वि० ५७-५६), नरनारायणजी (वि० ६०), सीता जी (वि० ४१-४२), लक्ष्मण जी (वि० ३७-३८), भरत (वि० ३९), शत्रुघ्न (वि० ४०), बिन्दु माधव (वि० ६१-६३), शिवजी (वि० ३-१४)।

देवताओं का व्यवहार—तुलसीदास जी ने लिखा कि देव विमानों में बैठकर आकाश में सपत्नीक विचरण करते हैं। रामोत्सवों पर देव-पत्नियाँ नाचती और पुष्प-वर्षा करती हैं; उनके पति भी गाते-बजाते, ढोल पीटते, महत्वपूर्ण अवसरों पर पुष्प-वर्षा करते, तथा नाचते हैं; और ऐसे अवसर 'रामचरित मानस' में न जाने कितने बार आये हैं। देवताओं में संवेग भी होते हैं, यथा : चिन्ता, भय, आश्चर्य, द्विविधा आदि मनोविकार। वे अनुकूल घटना के घटने पर प्रसन्न होते और निराश होने पर रोते हैं। वे रावण के उत्पात से डरते-भागते और रोते-चिल्लाते थे। वे राग-द्वेष विवर्जित नहीं थे। दूसरे की मति भ्रष्ट करने के लिए वे सरस्वती और कामदेव का उपयोग करते थे। अनिच्छुक कामदेव ने शिवजी के मन को विचलित करने का प्रयत्न किया। जब नारद-तपस्या से भय उत्पन्न हुआ तो कामदेव को पुष्पवाण चलाने का कार्य सौंपा गया। मन्थरा की मति को मोघरा करने के लिये सरस्वती जी मनोनीत हुईं, चित्रकूट में भरत की मति को पलटने के लिए सरस्वती जी का पुन: आह्वान हुआ, परन्तु इस बार सरस्वती ने इन्द्र को करारी डाट पिलाई और वे अपने लोक को लौट आयीं (रा० २, २९४, १-८)।

देवता कभी-कभी मनुष्यों की शक्ति एवं पुण्य की परीक्षा लेते हैं। सुरों ने हनुमान् जी की परीक्षा लेने सुरसा को भेजा था। जब कभी कोई अवतार होता है तो मानव अथवा पशु के शरीर-रूप में देवता भी अवतीर्ण होते हैं, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। यद्यपि अमर हैं तथापि वे मृत्यु से डरते हैं :

> **सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। अस कहि कोपि गगन पर धायल ॥**
> **हाहाकार करत सुर भागे। खलहु जाहु कहं मोरें आगे ॥**
>
> रा० ६, ९६, ६-७

उन्हें मानव सहायता की अपेक्षा रहती है। दशरथ जी ने इन्द्र की सहायता की थी; और ज्योंही अंगद ने देखा कि रावण ने देवताओं का पीछा किया तो वह सहायतार्थ उछला और रावण का पैर पकड़ कर उसे भूमि पर ले आया (रा० ६, ९६, ८)। देवता सांसारिक सुषमा पर यों ही लट्टू हो जाते हैं, जनकपुर और अयोध्या की जो सजावट राम के विवाह और अभिषेक पर हुई थी, वे उससे मुग्ध थे। वे मनुष्यों की

स्त्रियों पर मोहित हो जाते और उनसे अनुचित सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं। उदाहरणतः गौतम-पत्नी अहल्या और जलन्धर-पत्नी वृन्दा दोनों परम साध्वी और सती थीं, उनके साथ कपट का व्यभिचार देवताओं के लिए कलंक-मात्र है।

तुलसी की उग्रता—कदाचित् इसीलिए तुलसीदासजी ने देवताओं का लाघव दिखाया और उन्हें धिक्कारा है। उनकी दृष्टि में देवता स्वार्थी, असमर्थ, अयोग्य, निष्ठुर, मनोमलीन, मक्कार, दुष्टकर्मा होते हैं। वे लेवा अधिक हैं, देवा कम। वे कुत्सित हैं, उनका निवास उच्च, और कार्य नीच है, उन्हें दूसरे की सम्पदा असह्य है। वे मनुष्यों में भय, शोक, व्यथा आदि का संचार करते हैं। भरत-मिलाप से देवताओं को धुकधुकी होने लगी थी (वि० १४५-१४६, २६४, १६३, रा० २, ११, ६, २४०, ७, २६५)।

इन्द्र का रूप—ऋग्वेद का लगभग चतुर्थांश इंद्र की स्तुति से परिपूर्ण है, किन्तु कालवश उसकी महिमा घट गयी, कृष्णजी ने भी उसमें सहयोग दिया। 'रामचरितमानस' में रामोत्सवों पर पुष्प वर्षा करने के लिए इंद्र देवताओं के साथ रहे, और उन्होंने जनकपुर और अयोध्या में अन्य देवताओं के आश्चर्य, भय और सुख में भाग लिया। तुलसी ने तीन बार इंद्र और अहल्या के व्यभिचार का अपरोक्ष उल्लेख किया है और नारद-व्यामोह के उपाख्यान में देवराज के द्वेष का भी। चित्रकूट में जनकागम इन्द्र की चिन्ता और भय का कारण हुआ, उसने वहाँ अयोध्यावासियों के साथ जो कुचाल चली उसे रामचन्द्रजी ने ताड़ लिया था। इस कुचाल पर तुलसी को रोष आ गया। वे बोले :—

कपट कुचालि सींव सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥
काक समान पाकरिपु रीत ।छली मलीन कतहुँ न प्रतीति॥

रा० २,३०१,१-२

तुलसीदासजी को राम से पुष्टि भी मिली।

लखि हिय हँसि कह कृपा निधानू। सरसि स्वान मघवान जुवानू॥

रा० २,३०१,८

देवेतर योनियाँ—तुलसीदासजी ने देवताओं के अतिरिक्त देवयोनियों तथा अन्य पूजनीय प्राणियों और वस्तुओं का उल्लेख किया है, यथा : शिवगण (रा १, ६२, ४, ६४, छं० ३, १६ ख-२०क, ६, ८७, १-४)। अप्सरा, गन्धर्व, किन्नर आदि राम-राज्याभिषेक तथा अन्य शुभ अवसरों पर गीत गाते, और दिक्पाल चित्रकूट में राम को प्रणाम करने आते हैं (रा० २, १३३, १)। सीताजी ने सिद्धियों को बुला भेजा जिससे वे अयोध्या में राम की बरात का आतिथ्य करें (रा० ३०५, ८)।

गो-ब्राह्मणादि—जन्म-जात ब्राह्मण और अतिथि आदरणीय होते हैं। चित्रकूट में अयोध्या और जनकपुर के निवासियों तथा अन्य लोगों ने भी देवार्चन और पितृ-श्राद्ध के पश्चात् फलाहार किया था (रा० २, २७६)। गाय पशु; गंगा-यमुनादि नदियाँ; बड़-पीपल, तुलसी आदि वृक्ष-पौधे; तथा हिमालय, विंध्याचल और चित्रकूट पर्वत भी पवित्र माने गये हैं।

जीव

व्याख्या के दो दृष्टिकोण—गोस्वामीजी ने जीव की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से की है—मनोवैज्ञानिक और आतिभूतिक। पहले दृष्टिकोण से जीव अभिमानी, जड़ और परिच्छिन्न है, अतएव वह सुखी-दु.खी, ज्ञानी-अज्ञानी, मानी-अभिमानी कहा जाता है (रा० ७, ११३, २-४, १८७, १, १३९, ४)। आतिभूतिक दृष्टिकोण से वह अविनाशी, नित्य, चेतन, सुखराशि, और अमल है (रा० ७, ६६, २, ४, १२, ३, ७, १९७, १)। माया के प्रभाव से जीव इस प्रकार कलुषित हो जाता है जिस प्रकार भूमि के सम्पर्क से जल (रा० ४, १५, ३)।

जीव और ईश्वर—जीव ईश्वर का अंश है। जो अपने को सूर्य, अग्नि और गंगा समझते है, वे मूर्ख हैं। भले ही मदिरा में गंगाजल हो पर सन्त उसका आचमन नहीं करते, किन्तु जब वह गंगाजी में डाल दी जाती है तो गंगाजल ही हो जाती है। ऐसा ही अन्तर जीव और ईश्वर में है। जीव न तो माया को जानता है, न ईश्वर को और न अपने को ही पहचानता है। ईश्वर ही बन्ध और मोक्ष प्रदान करता है; अतएव राम को ही अपना गुरु, पिता, माता, भाई, पति और देव समझना चाहिए (रा० १, ६३, १, २, २६३, ३, ३, २०, ३, २०, ५,)। जीव ईश्वर के अधीन है, ईश्वर स्वतन्त्र है; जीव अनेक हैं किन्तु ईश्वर एक है, अतएव जीव का तादात्म्य ईश्वर से नहीं हो सकता (रा० ७, ११४, २-४, ७, १८७)। जीव के सम्बन्ध में गोस्वामीजी का दृष्टि-कोण अद्वैतवादी का-सा नहीं है। यदि कहा जाय कि मायाच्छन्न जीव ईश्वर के अधीन है अन्यथा वह ईश्वर ही है, तो यह स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ अद्वैतवादी शंकराचार्य जी गीता के "ममैवांशो जीवः' (१५, ७) की व्याख्या करते समय 'अंश' को 'अंश इव' मान लेते हैं, वहाँ तुलसीदासजी अड़े रहते हैं :

ईश्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी ।।रा० ७,१९७,१

तीन अवस्थाएँ—जीव की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति (रा० ७, २००, दो० २४६)। निद्रा में जीव शिवतुल्य है, स्वप्न में वह सृष्टि करता है और जाग्रदवस्था में जड़, दुःखी और सांसारिक हो जाता है (दो० २४६)। ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी ने तुरीयावस्था को मुक्त जीवात्मा के लिए रख छोड़ा है, क्योंकि यह चतुर्थ अवस्था त्रिगुणातीत है, यद्यपि मेरी विनीत सम्मति में तुरीयावस्था सभी तीनों अवस्थाओं का आधार है अतएव यह जीव में सदा विद्यमान रहती है।

जीव-विभाजन—तुलसीदासजी ने जीवों के चार विभाग किए हैं, उनके विभाजन-सिद्धान्त सदैव भिन्न रहे। वे चार हैं—(१) सुख के लिए मानव-प्रयत्न, (२) व्यक्तिगत स्वभाव, (३) पारस्परिक व्यवहार, (४) सिद्धान्त-रहित परिसंख्या। प्रथम विभाग के अनुसार जीव विषयी, साधक और सिद्ध है, (रा० २, २७७, २); द्वितीय के अनुसार है पटलसम, आम्रसम, अथवा पनससम (रा० ६, ११४, छं०); तृतीय के अनुसार है मित्र, शत्रु, और उदासीन; और चतुर्थ के अनुसार है : साधक, सिद्ध, विमुक्त, उदासीन, कवि, कोविद, कृतज्ञ, संन्यासी, योगी, शूर, तपस्वी, ज्ञानी, धर्मात्मा, पंडित, विज्ञानी।

जीव-प्रकार और योनियाँ—गोस्वामीजी जीव के परम्परागत चार प्रकार बताते हैं : उद्भिज, स्वेदज, अंडज और जरायुज, (रा० ७, ११८, ४) । जीवों की चौरासी लक्ष योनियाँ होती है, जिनमें जीव भ्रमण करता है और अन्त में मानव-शरीर को प्राप्त करता है (रा० ७, ६६, २-३) ।

पुनर्जन्म—जीव अपना जीर्ण शरीर उसी प्रकार मृत्यु के समय त्याग देता है जिस प्रकार मनुष्य फटे पुराने वस्त्रों को (रा० ७, १८०) । भगवान् शिव के शाप से काक भुशुण्ड को सहस्रों जन्म लेने पड़े, उन्हें कभी देवता, कभी मनुष्य, कभी ब्राह्मण और अन्त में काक होकर शरीर धारण करना पड़ा था (रा० ७, ११७, ३, १८१, १-८) । ईश्वर से विमुख जीव काल, कर्म और स्वभाव के वश हो कर भटकता डोलता है (रा० ७, ६६, ३), और अपने कर्मों के अनुसार जन्म-मरण के कष्ट अनेक योनियों में पाता है (रा० २, १२, २) । जो अपने गुरु की निन्दा करता है वह मुण्डूक बनता है, जो देवता की निन्दा करता है वह रौरव नरक में जाता है; जो सन्तों को गालियाँ देता है वह उल्लू बनता है और जो मूर्ख प्रत्येक मनुष्य को कोसता है वह चमगादड़ बनता है (रा० ७, २०७, १२-१४) ।

मानव-शरीर की महिमा—शरीर पंच तत्त्वों से, अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश से निर्मित होता है, (रा० ४, १२, २) । शास्त्रों में सूक्ष्म शरीर की मात्रा का निर्देश किया गया है किन्तु तुलसीदासजी ने इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला है । मानव शरीर की बड़ी महिमा है (रा० ७, २०७, ५-६) ।

> **नर तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही ॥**
> **नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी । ग्यान विराग भगति सुभ बेनी ॥**
> **सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर । होंहि विषय रत मंद-मंद तर ॥**
> **कांच किरिच बदले ते लेहीं । करते डारि परस मनि देहीं ॥**

निष्कर्ष—तुलसीदासजी जीव को दो दृष्टिकोणों से देखते हैं । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, जीव जड़, परिच्छिन्न, परवश, सुखी-दुःखी और अज्ञानी-ज्ञानी है (रा० ७, ११३, २-४, १८७, १, १३६, ४, ४, १५, ३) । आतिभौतिक दृष्टि से, वह नित्य, अविनाशी, चेतन, शुद्ध और सुखी है (रा० ७, ६६, २, ४, १२, ३, ७, १६७, १)। शुक और मर्कट के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि जीव मूलतः शुद्ध था जो मायावश बद्ध हो गया (रा० ७, १६७, २) । जब गोस्वामीजी जीव को मूलतः चेतन, सनातन और शुद्ध मानते हैं, तो वे सांख्य, योग और वेदान्त के निकट आते; और जड़वादी न्याय, वैशेषिक और मीमांसा से दूर हटते हैं । जब वे जीव को नित्य और चेतन मानते हैं तो रामानुज, निम्बार्क और वल्लभ आदि आचार्यों के निकट हो जाते हैं । जीव को ईश्वर का अंश मानकर वे जीवात्मा को सर्वव्यापक मानने वाले अद्वैत, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा से अपनी असहमति प्रकट करते हैं और वैष्णवाचार्यों से सहमत होते हैं । तथापि उन्हें विश्वास है कि 'सोऽहम्' की अखण्डावस्था भ्रममायादि को खण्ड-खण्ड कर देती है, अतएव जीवात्मा चेतन और आनन्द स्वरूप है और यह धारणा उन्हें शंकर के निकट और वल्लभ के निकटतर पहुँचा देती है । किन्तु गोस्वामी जी जीव को कुछ आचार्यों की भाँति सुख-राशि भी मानते हैं, पर क्या वल्लभाचार्यजी

ऐसा मानने के लिए अपनी सम्मति प्रदान कर देंगे ? गोस्वामीजी मानते हैं जीव एक बार माया के अधीन हो चार प्रकार की जीव कोटियों और चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण कर त्रितापों का अनुभव कर सुख-दुःख पाता रहता है। मानव के स्तर से तो योनि का निर्धारण कर्म के अनुसार होता है; विश्व के स्तर से, माया के द्वारा। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति रामकृपा से मिलती है और उसी कृपा से मुक्ति का अवसर भी प्राप्त होता है (रा० ७, १९७, ४)। इस प्रसंग में आचार्य वल्लभ के पुष्टि मार्ग का स्मरण हो आता है, किन्तु गोस्वामीजी वल्लभादि आचार्यों के मर्यादा-मार्ग का निराकरण नहीं करते है, और इसी कारण मानव-शरीर की महिमा भी गाते हैं। वे ऐसे जीवों को नहीं मानते जो, मध्वकल्पना के अनुसार, नित्यबद्ध होने के कारण नित्य-शप्त हैं। तुलसी के अनुसार तो, यद्यपि जीव को अनेक जन्म धारण करने और प्रभूत कष्ट सहने पड़ते है, तथापि आध्यात्मिक परामर्श और भगवत्कृपा के द्वार सब के लिए सदैव खुले रहते हैं।

मुक्ति

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप से पीड़ित हो मनुष्य इनसे मुक्ति चाहता है। बार-बार शरीर धारण करने से संसार का दुःखद चक्र चलता रहता है उससे छूट जाना ही अभीष्ट है। मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण और अपवर्ग ये चारों शब्द अभावात्मक हैं। इनके द्वारा दुःख के त्याग पर आग्रह है। क्या परम कल्याण का कोई भावात्मक रूप भी है, और यदि है, तो वह क्या है ?

मुक्ति का स्वरूप—जिस प्रकार चन्द्र रात्रि का भूषण है और सूर्य दिन का, उसी प्रकार तुलसी के मत से दाम का भूषण भक्ति, भक्ति का ज्ञान, ज्ञान का ध्यान, ध्यान का त्याग और त्याग का शान्तिपद है। यह पद सम्पूर्णतया शुद्ध और निष्कलंक है। जो उसको प्राप्त करता है वह सुखसागर पर निवास करता है। इससे विविध प्रकार के पापों से उत्पन्न दुःखों का निवारण होता है। शान्ति-जल से अहंकाराग्नि राग-द्वेष, एवं क्रोध-वासना का अत्यय हो जाता है। शान्ति की अतीन्द्रिय अवस्था भेद-वासना-विवर्जित और अत्यन्त शुद्ध है (वे० सं० ४३-६२)। शान्ति की इस अवस्था के लिए गोस्वामी जी भक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं। उन्होंने इसके निमित्त अन्य शब्दों का भी उपयोग किया है, यथा : निर्वाण (रा० ७, ११४-११५), परमगति और परमपद (रा० २, ८४, ३, ७, २०३, १)।

मुक्ति के प्रकार—तुलसीदासजी ने दो प्रकार की मुक्ति का उल्लेख किया है, अर्थात् विदेह-मुक्ति तथा जीवन्मुक्ति का, और मुक्त पुरुषों के भेदों का भी (दो० २२५)। उन्होंने परम्परागत चार प्रकार की मुक्ति की भी चर्चा की है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। सालोक्य-मुक्ति के प्रकरण में गोस्वामीजी ने राम के लोक का निर्देश नहीं किया है, स्यात् वे वैकुण्ठ को ही राम का लोक मानते हैं, जो 'निजधाम', 'ममधाम', 'निजपद' आदि शब्दों के द्वारा अभिहित हुआ है। मारीच ने 'निजपद' प्राप्त किया (रा० ३, ३४, ८-९, ३५), बाली (रा० ४, १२, १) और कुम्भकर्ण (रा० ६, ९३) 'निजधाम' पहुँचे। जटायु को 'हरिधाम' अथवा 'ममधाम' मिला (रा० ३, ४१)

तुलसीदास जी ने सामीप्य (फ़ैलोशिप विद् गॉड) का कोई उदाहरण नहीं दिया है। जटायु को सारूप्य मुक्ति भी प्राप्त हुई, वह गृध्र-रूप को छोड़ भगवद्रूप हो गया (रा० ३, ४०, १)। जटायु को ही नहीं, उन सभी राक्षसों को भी जो युद्धक्षेत्र में लड़ मरे थे सारूप्य प्राप्त हुआ, (रा० ६, १४०, ३-४)। शबरी, कुम्भकर्ण और रावण को सायुज्य मोक्ष प्राप्त हुआ (रा० ३, ४४, छं ९२, ४, १२८, ५)। भगवदीय तत्त्व में पूर्णतः घुलमिल जाने को सायुज्य कहते है। यह सायुज्य शबरी को राम के चरणों के द्वारा तथा रावण और कुम्भकर्ण को राम के मुख-द्वारा प्राप्त हुआ। तुलसी के मत से, सायुज्य मुक्ति सालोक्य (हरिलोक) से अधिक श्रेयस्कर है। राम स्वयं घोषणा करते हैं कि जो रामेश्वर की यात्रा करेगा वह देहत्याग के पश्चात् सीधा मेरे लोक जायगा और जो मेरे बनाये सेतु तक जायगा वह भवसागर को पार कर जायगा; किन्तु गंगाजल ले जाकर जो वहाँ चढ़ायेगा वह सायुज्य पायगा (रा० ६, ५, १-२)।

कैवल्य---गोस्वामी जी ने मुक्ति के अर्थ में 'कैवल्य' का प्रयोग किया है (वि० १०, ८, ४३, २)। 'केवल' और 'केवलत्व' शब्दों का प्रयोग श्वेताश्वतर (१, २) और मैत्री उपनिषद् (६, २१) में क्रमशः हुआ है। सांख्य और योग दर्शन के ग्रन्थों में यह शब्द पर्याप्त परिचित है। तुलसीदासजी ने इसकी व्याख्या तो नहीं की है, पर उन्होंने इसका प्रयोग 'रामचरितमानस' के लंकाकाण्ड के तृतीय श्लोक में इस आशय से किया है कि भगवान् शिव सन्तों को कैवल्य भी प्रदान करते हैं। काक ने गरुड को बताया कि कैवल्य परमपद और भी दुर्लभ है:

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद ।। रा० ७, २०३, २

प्रतीत होता है तुलसीदास जी को ऐसा लिखते समय पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्मार्थकाम-मोक्ष—का परम पुरुषार्थ अभीष्ट था।

अपुनरावृत्ति—मुण्डकोपनिषद् (३, २, ६) के आधार पर आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मुक्त जीव की पुनरावृत्ति मानी है, किन्तु गोस्वामी तुलसीदास मोक्ष से प्रत्यावर्त्तन नहीं मानते:

तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ।। रा० ३, ४४, छं०

उन्हें श्रीमद्भगवदगीता से यह समर्थन प्राप्त है:

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। ८, २१

मुक्ति और भक्ति—किन्तु मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो? गोस्वामी जी कहते हैं कि ज्ञान भी तन्निमित्त एक साधन है (रा० ७, २०३, १)। गीता के अनुसार, ज्ञान से सब कर्म दग्ध हो जाते हैं (४, ३७), इससे अधिक पवित्र अन्य कोई पदार्थ नहीं (४, ३८) और यह अन्ततोगत्वा मोक्ष-प्रद है (४, ३२, ३३, ३५, ३९)। कठ (६, १०), श्वेताश्वतर (१, ८, ११, ३, १५) और मैत्री (६, ३४) तीनों ही उपनिषदों ने ज्ञान की श्रेष्ठता स्वीकार की है। तुलसीदास जी समझते हैं कि ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करना मानो असि-धारा पर चलना है (रा० ७, २०३, १), किन्तु वे यह और कह देते हैं कि बिना भगवद्भक्ति के मोक्ष इसी प्रकार असम्भव है जैसे निराधार जल की स्थिति। भगवद्भक्त इस रहस्य को जानते हैं कि रामभक्ति के द्वारा मुक्ति स्वयं चली आती है:

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अन इच्छित आवइ बरि आई॥

रा० ७, २०३, २-४

यद्यपि माया-जन्य भेद मिथ्या हैं, तथापि बिना ईश्वर की सहायता के, चाहे जितना प्रयत्न किया जाय, वे दूर नहीं किये जा सकते। जो राम-कृपा के बिना मुक्ति की कामना करता है वह बुद्धिमान् नहीं (रा० ७, ११४-११५)।

किन्तु मुक्ति उच्चतम लक्ष्य भी नहीं। भक्ति मुक्ति का साधन है, पर स्वयं साध्य भी है। शरभंग ऋषि भगवान् में लीन नहीं हुए क्योंकि उन्होंने भेद-भक्ति चाही थी (रा० ३, १३, १)। दशरथ जी को भी भेद-भक्ति अभीष्ट रही—

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दशरथ भेद भगति मन लायो॥

रा० ६, १३८, ३-४

स्वयं भगवान् राम ने पुरुषों के तारतम्य का उल्लेख करते हुए भक्त को सर्व श्रेष्ठ माना है। तुलसी की यह उक्ति भागवत के अनुरूप है—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म व्रतधारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्म पर प्रानी॥
सबते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

रा० ७, ७७, १-४

यदि भक्ति श्रेष्ठ नहीं है तो प्राप्तमुक्ति ब्रह्मलीन सनकादिक ऋषि लोग समाधि को त्याग कर राम-गुण-गान क्यों सुनते थे?

सनकादिक नारदहि सराहहिं। जद्यपि ब्रह्म निरत मुनि आहहिं॥
सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥

रा० ७, ६४, ४

इसी प्रकार मुनि वसिष्ठ ने भी भगवान् राम से वर माँगा कि

जन्म-जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥ रा० ७, ७२

मुक्ति के मार्ग

प्राक्कथन—मुक्ति के तीन मार्ग हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार, मन की प्रत्येक दशा में तीन तत्त्व होते हैं—संवित् (कॉग्निशन), वेदन (एफ़ेक्शन) और इच्छा (कोनेशन)। जिस प्रकार किसी भुजा के हटा देने पर त्रिभुज की त्रिभुजता नष्ट हो जाती है, ठीक उसी प्रकार उक्त किसी एक तत्व के विलग होने पर मन मन नहीं रह जाता, और जिस प्रकार त्रिभुज की भुजाओं में तारतम्य होता है, उसी प्रकार मन के तीनों तत्वों में—प्रकृति के सत्व गुण, रजोगुण और तमोगुण की भाँति—तारतम्य होता रहता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिस किसी एक मार्ग का अवलम्बन लिया जायगा उसमें अन्य दोनों मार्गों का भी कुछ न कुछ समावेश होगा। शाण्डिल्य ऋषि ने तीनों मार्गों की एकता को माना है, यद्यपि कुछ मनीषियों ने किसी एक मार्ग को प्रधान मान कर अन्य मार्गों की उपेक्षा की है। ज्ञान-मार्गी बहुधा कर्म-संन्यास की शिक्षा देते हैं, क्योंकि—

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः॥ श्वेताश्वतर, १, ८

कर्ममार्गी क्रियाशीलता पर आग्रह करते हैं, क्योंकि—

कर्मणैव हि संसिद्धि मा स्थिता जनकादयः॥ गीता ३, २०

और कभी-कभी वे 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' आदि वाक्य के मिथ्याश्रय से ज्ञान की अवहेलना करते हैं। भक्ति-मार्गी जन, ज्ञान और कर्म को गौण समझकर, उनकी अवहेलना करते हैं क्योंकि उनके अनुसार भगवान्

भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया॥ गीता ८, २२

तुलसीदास जी ने भी कर्म की उपेक्षा-सी की है, और यह कहते हुए भी कि 'ग्यानिहि भगितिहि नहि कछू भेदा' भक्ति को प्रधानता प्रदान की है।

(क) कर्म

कर्म की व्यापकता—विश्व में कर्म की प्रधानता है, जो जैसा करता है वैसा पाता है। कोई किसी को न सुख देता है, न दुःख, सब अपने किये का फल भोगते हैं। भगवान् चराचर के स्वामी हैं और वे पाप-पुण्य के अनुसार व्यक्ति को उसका पुरस्कार देते हैं। ईश्वर की योजनाएँ सनातन और अलक्षित हैं :

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

रा० २, २१९, २

काहु न कोइ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥

रा० २, ९२, २

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देह फलु हृदय बिचारी॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सबु कोई॥

रा० २, ७७, ४

कौसल्या कह दोसु न काहू । करम बिबस दुख सुख छति लाहू ।।
कठिन करम गति जान बिधाता । जो सुभ असुभ सकल फल दाता ।।
ईस रजाइ सीस सबही के । उतपति थिति लय बिषहु अमी के ।।
देवि मोह बस सोचिअ बादी । बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी ।।

रा० २, २८२, २-३

ईश्वर कर्म-सिद्धान्त का अध्यक्ष है । राम कहते है :

कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता । सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता ।।

रा० ७, ६३, २-३

कारण में कार्य का निवास—तुलसीदासजी कार्य को कारण में मानते हैं, क्योंकि क्या बबूल से आम, अथवा जल से नवनीत की उत्पत्ति हो सकती है (वि० १३०, १, १९६, २) ? क्या कोदों से चावल, अथवा पुष्करिणी की शुक्ता से मुक्ता संभव है (रा० २, २६१, २) ? यह तुलसी का सत्कार्यवाद है । भरत का पश्चात्ताप-पूर्ण कथन है—कारण से कार्य कठिन होता है, यथा अस्थि से वज्र, और प्रस्तर से लोह (रा० २, १८०, १) । भरत की उक्ति से परिणामवाद की ध्वनि निकलती है । किन्तु गोस्वामीजी ने यह समझाने के लिए कि निर्गुण ब्रह्म सगुण किस प्रकार हो जाता है हिम-जल का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

जोइ गुन रहित सगुन सोइ कैसे । जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे ।।

रा० १, ११६, २

इस उपमा के द्वारा गोस्वामीजी वल्लभाचार्यजी के अविकृत परिणामवाद को स्वीकार करते हैं । कार्य-कारण-सिद्धान्त के अनुसार तो जो करता है वह भोगता है, किन्तु इसके अपवाद का उल्लेख भी गोस्वामीजी के द्वारा इस प्रकार हुआ है :

औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु ।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानइ जोगु ।। रा० २, ७७
देखी सुनी न आजु लौं अपनायति ऐसी ।
करहिं सबै सिर मेरे ही फिरि परै अनैसी ।। वि० १४७, ४

कर्म की अप्रशस्तता—तुलसीदासजी के अनुसार मुक्ति के साधन अनेक हैं, यथा—ज्ञान, वैराग्य, जप, तप, यज्ञ । ये एवं अन्य अनेक और समर्थ हैं; किन्तु गोस्वामीजी इनमें से किसी की सिफारिश नहीं करते (वि० १९४, ३, ११६, ५) । कारण यह है कि योग, व्रत, संयम, जप, पूजा, बलि, उपवास, दान, यज्ञ, तप, तीर्थ आदि निरर्थक हैं (वि० ६७, १, ६७, २, १०७, ३; क० ७, ६२, ६६, ७१, ७७, ८६, ८७) । पुनश्च वेद-पुराणों का अध्ययन, तथा यति, देवता, गणेश, महेश आदि तात्कालिक-फल-प्रद नहीं हैं (क० ७, ५५) । गोस्वामीजी इस विषय में पाँच कारण उपस्थित करते हैं । प्रथमतः वैदिक कृत्य यथा यज्ञ, स्वाध्याय, आदि करने में कठिन हैं (वि० १३१, २); द्वितीयतः तप, तीर्थ, उपवास, दान आदि पर काम, क्रोध, लोभ आदि का प्रभाव पड़ जाता है और ज्ञान-विवेक नष्ट हो जाते हैं (वि० १७३, २-४) । तृतीयतः इन यज्ञादि कार्यों और तत्सम्बन्धी विवरणों के विषय में किसी का एक मत नहीं है, क्योंकि मत अनेक हैं, मुनि अनेक हैं और पन्थ अनेक हैं, और वे भी परस्पर विरुद्ध ।

अतएव यह जानना प्रायः असम्भव है कि कौनसा मत ठीक है (वि० १७३, ५)। महाभारत में भी लिखा है कि 'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्'। चतुर्थतः इन्द्रियनिग्रह का साधन अत्यन्त कठिन है क्योंकि शरीर प्रायः सबल या दृढ़ नहीं होता है (क० ७, ८७); पंचमतः यज्ञ-दानादि व्यय-साध्य हैं (क० ७, ८७)। अतएव गोस्वामीजी मनुष्य को इनसे उपरत होकर भगवत्प्रेम करने की शिक्षा देते हैं।

कर्म की उपादेयता—तथापि गोस्वामीजी सत्य, तप, दान और यज्ञ की महिमा मानते हैं। (रा० ७, १८७, ५, २०७, ११) क्योंकि ये, जैसा कि गीता का उपदेश है, मानव को पवित्र करते हैं (१८, ५)। किन्तु भागवत का वचन है कि—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥ १२, ३, १८

अतएव गोस्वामीजी के विचार से भी धर्म चतुष्पाद है और चार पादों में से केवल एक पाद कलियुग में प्रधान रहता है तथा दान के द्वारा मनुष्य का कल्याण होता है (रा० ७, १६५)। गोस्वामीजी यह भी कहते हैं कि सतयुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में पूजन और कलियुग में केवल नाम-जप पर्याप्त है।

ध्यानु प्रथम जुग मख विधि दूजे। द्वापर परितोषत प्रभु पूजे॥
नाम काम तरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

रा० १, ४२, २-३

इसी उपदेश की पुनरावृत्ति गोस्वामीजी ने उत्तरकाण्ड (१६३, १-३) में इस प्रकार की है—

कृत जुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥
कलि जुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलियुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥

रा० ७, १६३, १-३

कर्मत्याग और रामार्चन—गीता (१८, ६६) में भगवान्कृष्ण अर्जुन को आश्वासन देते हैं कि सर्व धर्मों का परित्याग कर तू केवल मेरी शरण में आ जा, मैं सब पापों से तेरी रक्षा कर दूंगा। तुलसी के राम भी 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड में भरत से कहते हैं—

त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनिनायक॥
संत असंतन्ह के गुन भाषे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥

रा० ७, ६३, ४

तुलसी के मत से, कर्म बन्ध का प्रेरक है अतएव उसको निष्काम रूप से करना चाहिए अथवा ज्ञानाग्नि से दग्ध कर देना चाहिए (रा० ७, १८७, २), जैसा कि गीता भी कहती है (२, ७०-७१; ४, १६); अथवा उसे अविरल भक्ति से नष्ट कर देना चाहिए। वल्लभाचार्यजी ने 'अणु भाष्य' में बताया है कि—

एकेषां पुष्टि मार्गीयाणां भक्तानामुभयोः प्रारब्धाप्रारब्धयो-
र्भोगं विनैव नाशो भवति ।।

तुलसी के काक भी गरुड से कहते हैं—

भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृति मूल अबिद्या नासा

रा० ७, २०३, ४

निष्कर्ष—तुलसीदासजी कर्म-सिद्धान्त को मानते हैं और वह सिद्धान्त उनकी म्मति में ईश्वरेच्छा के अधीन (रा० ७, ६३, ३) और व्यावहारिक है।

जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू । संपति बिपति करमु अरु कालू ।।
धरनि धामु धनु पुर परिवारू । सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू ।।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं । मोह मूल परमारथु नाहीं ।।

रा० २, ६१, ३-४

तुलसी को सत्कार्यवाद और अविकृत-परिणामवाद अभीष्ट हैं। तथापि कर्म, भला हो या बुरा, बन्ध का प्रेरक है अतएव उसका त्याग ही श्रेयस्कर है (रा० ७, ६३, ४)। ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर, कर्म नष्ट हो जाता है, क्योंकि कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हे, रा० ७, १८७, २। ज्ञान और भक्ति दोनों ही मोक्षप्रद है। कहा है—

ज्ञान मोच्छ प्रद वेद बखाना ।। रा० ३, २०, १
भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृति मूल अबिद्या नासा ।।

रा० ७, २०३, ४

(ख) ज्ञान

ज्ञान के विषय में गोस्वामीजी वल्लभाचार्यजी का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं।

ज्ञान का स्वरूप—ज्ञान परमार्थ की पहचान कराता है और इस पर प्रकाश डालता है कि 'तू कौन है ?' (दो० २५३, १८)। एक बार गोस्वामीजी ने एक साधु को जो अलख-अलख चिल्लाता था यह उपदेश दिया कि तू 'मेरे-मुझको' और इन दोनों के मध्यस्थ को पहचान ले, पूर्व इसके कि तू अव्यक्त और अलक्ष्य की चर्चा करे (दो० १६)।

ज्ञान-विज्ञान—शास्त्रों ने ज्ञान और विज्ञान में इस प्रकार भेद किया है: ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतश्च आत्मादीनां अवबोधः, विज्ञानं विशेषतः तदनुभवः (गीता पर शांकर भाष्य ३, ४१)। तुलसीदासजी ने भी ज्ञान और विज्ञान को पर्याय, किन्तु उनके भेद को भी, माना है। ज्ञान सानुमान प्रत्यक्ष है, किन्तु विज्ञान है अनुमान-रहित प्रत्यक्ष। उन्होंने लिखा है कि ज्ञान में मान नहीं होता, पर उसके द्वारा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की प्रतीति होती है:

ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ।। रा० ३, १६, ४

विज्ञान ज्ञान से ऊँचा होता है—

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ ।।

तब विग्यान रूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिग्रा भरि धरै दृढ़ समता दिग्रटि बनाइ ॥ रा० ७, १६८, १६६

विज्ञान का तादात्म्य भगवान् राम से किया गया है, जो कि ज्ञानी की अपेक्षा विज्ञानी को अधिक चाहते हैं (रा० ७, २१२, २, १३०, ३)। ज्ञान का सम्बन्ध विराग से और विज्ञान का समता से है :

ज्ञानिहु ते अति प्रिय विज्ञानी ॥ रा० ७, १३०, ३
ज्ञान कि होइ विराग विनु, रा० ७, १३६
विनु विज्ञान कि समता आवइ ॥ रा० ७, १३७, २

श्री अंजनीशरण के अनुसार[1] विज्ञान वह अवस्था है जिसमें आत्मवृत्ति परमात्मा में लीन हो जाती है, सब में समता-भाव हो जाता है, तीनों गुणों और अवस्थाओं से परे तुरीयावस्था आ जाती है, सारा जगत् ब्रह्ममय दिखायी देता है, तथा जीव जीवन्मुक्त हो परमानन्द में मग्न और ब्रह्म लीन रहता है।

विराग और समता—तुलसीदासजी काकभुशुण्ड के मुख से उपदेश दिलाते हैं कि बिना विराग के ज्ञान उत्पन्न नहीं होता जैसा कि अभी कहा जा चुका है। प्रश्न उठता है कि क्या विराग की स्थिति ज्ञान से पूर्व होती है अथवा उसके पश्चात्; क्योंकि बिना विराग के निष्पक्ष निर्णय और सत्य-ज्ञान सम्भव नहीं ? तुलसीदासजी ने विराग से ज्ञान की उत्पत्ति मानी है : ज्ञान कि होइ विराग विनु। किन्तु ज्ञान-वैराग्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध ही उचित प्रतीत होता है। बिना विज्ञान के समता नहीं हो सकती : बिनु विज्ञान कि समता आवइ। मेरे विचार से समता और विराग कदाचित् एक ही पदार्थ के दो रूप हैं। सवित् (नोइङ्) के दृष्टिकोण से वह समता है और वेदन (फ़ीलिङ्) के दृष्टिकोण से विराग है।

ज्ञान के उपकरण—तुलसीदासजी ने भक्ति और वैराग्य के साथ ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है (रा० २, ३२२)। परम्परागत चार पदार्थ है : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जिनका उपार्जन करना चाहिए; पर ज्ञान, भक्ति और कर्म साधन हैं। ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का विभाजन संगत हो सकता है यदि हम वैराग्य को अनासक्तिमय कर्म का पर्याय समझ लें।

ज्ञान और भक्ति—गोस्वामीजी के अनुसार, ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं क्योंकि दोनों ही भव-यातना का अन्त कर देते है :

भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥
रा० ७, १६३, ७

फिर भी कुछ मनीषी, जैसा कि तुलसीदासजी जानते हैं, उन दोनों में भेद मानते हैं। पहला भेद तो यह है कि ज्ञान, विराग, योग और विज्ञान सभी पुंल्लिग है। पुरुष प्रकृत्या शक्तिशाली होता है और स्त्री निर्बल (रा० ७, १६३, ८, १६४), किन्तु यह तो शाब्दिक भेद है, क्योंकि यह तर्क तभी निर्बल पड़ जाता है जब गोस्वामीजी कहते हैं कि सुन्दरी इतनी सबल होती है कि वह सन्तों पर भी प्रभाव डाल सकती है (रा० ७, १६४-१६६)। दूसरा भेद यह है कि ज्ञान का मार्ग कठिन है, और भक्ति

१. 'मानस पीयूष', पृष्ठ ३०८, तृतीय संस्करण, अयोध्या, २००८ वि०।

का अपेक्षाकृत सरल है। ज्ञान-दीपक तो संवेग-वायु से बुझ सकता है, किन्तु भक्तिमणि उससे अप्रभावित रहती है।

ज्ञान के लिये भक्ति आवश्यक है जैसा कि भगवान् राम के उस उपदेश से स्पष्ट है जो उन्होंने काक भुशुण्ड को दिया था : यह सारा संसार मेरी माया से उत्पन्न है। इसमें विविध प्रकार के चराचर जीव हैं। वे सभी मुझे प्यारे लगते हैं क्योंकि मुझ से उत्पन्न हुए हैं। फिर भी मनुष्य मुझ को सब से अधिक भाते हैं। उन मनुष्यों में भी द्विज, द्विजों में भी वेदपाठी, वेदपाठियों में भी धर्मरत, और धर्मरतों में भी विरक्त मुझे प्रिय हैं, विरक्तों में भी ज्ञानी, और ज्ञानियों में भी विज्ञानी। विज्ञानियों में भी मुझे अपना ऐसा दास प्रिय है जिसे मेरी ही गति है और जिसे कोई दूसरी आशा नहीं। भक्तिहीन ब्रह्मा भी मुझे सब जीवों के समान ही प्रिय है। परन्तु भक्तिमान् अत्यन्त नीच प्राणी भी मुझे प्राणों के समान प्रिय है, यह मेरी घोषणा है, (रा० ७, १३०-१३१)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भक्ति-समन्वित ज्ञान भी मोक्षप्रद होता है। कहा है :

धर्म तें विरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छ प्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवहुँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि अधीन ग्यान बिग्याना॥

रा० ३, २०, १-२

विज्ञान-रहित भक्ति की अपूर्णता—ज्ञान और भक्ति का अन्य सम्बन्ध भी है। तुलसीदासजी की एक चौपाई है जिसकी एक टीका से विदित होता है कि बिना राम-भक्ति के ज्ञान व्यर्थ है, और दूसरी टीका से यह विदित होता है कि बिना ज्ञान के राम-भक्ति अपूर्ण है। प्रकरण इस प्रकार है : वशिष्ठजी राजा जनक को समझाते हैं कि विषयी साधक, ज्ञानवान् और सिद्ध ये तीन प्रकार के जीव वेदों ने बताये हैं। इन तीनों में जिसका चित्त श्रीराम के स्नेह से सरस रहता है, साधुओं की सभा में उसी का बड़ा आदर होता है, पर

सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार जिमि बिनु जलयानू॥

रा० २, २७७, ३

बिना ज्ञान के विश्वास दृढ़ नहीं होता, विश्वास के बिना प्रीति नहीं होती, और बिना प्रीति के भक्ति नहीं होती :

जाने बिनु होइ नहिं परतीति। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढाई। जिमि खगपति जल के चिकनाई॥

रा० ७, १३५, ४

इस उक्ति का यह तात्पर्य है कि ज्ञान से विश्वास होता है, विश्वास से प्रेम, और प्रेम से भक्ति उत्पन्न होती है।

ज्ञान पर माया—ज्ञान पर माया का प्रभाव पड़ जाता है। प्रभु की माया सबल है। ज्ञानियों और सन्तों में श्रेष्ठ गरुड़जी, यहाँ तक कि शिवजी और ब्रह्माजी भी, माया से व्याप्त हो जाते हैं। अतएव संत-जन यह जान कर मायापति ईश्वर की अर्चना करते हैं (रा० ७, ८५-८७)।

ज्ञानी का स्तर—ज्ञानी की वही स्थिति है जो किसी कुटुम्ब में वयस्क की होती है। श्रीराम ने नारदजी से कहा था : यदि मनुष्य सब आशाओं का त्याग करके केवल मेरी आराधना करे तो मैं उसकी देखभाल उसी प्रकार करता हूँ जैसे माता अपने शिशु की। यदि शिशु अग्नि या साँप की ओर झपटता है तो माता तुरन्त उसकी रक्षा करती है। किन्तु जब उसका पुत्र बड़ा हो जाता है तो माता अपना प्रेम इस रूप से प्रकट नहीं करती। ज्ञानी लोग मेरे लिये तो वयस्क पुत्रों के समान हैं, और भक्त शिशु के समान। पहले प्रकार के व्यक्ति तो अपनी शक्ति से रक्षा पाते हैं और दूसरे प्रकार के मेरी शक्ति से (रा० ३, ५५, ३-४)। अतएव ज्ञानी लोग भक्ति का त्याग नहीं करते :

यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ज्ञान भगति न तजहीं।।

रा० ३, ५५, ५

ज्ञानमार्ग की बाधाएँ—श्वेताश्वतर, मैत्री, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में यह विवेचन किया गया है कि ज्ञान का अधिकारी कौन है। तुलसीदासजी यह जानते थे अतएव उन्होंने कहा ज्ञान का मार्ग संकटमय है और उसके साधन कठिन हैं :

ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका।।

रा० ७, ६७, २

अपने भाव को और अधिक स्पष्ट करने के निमित्त उन्होंने भक्ति की तुलना मणि से की है जो सदैव उज्ज्वल बनी रहती है, किन्तु उन्होंने ज्ञान की उपमा दीपक से दी है जो कि आँधी के झोंकों से बुझ भी सकता है। ज्ञान-मार्ग पर चलना मानो तलवार की धार पर चलना है (रा० ७, २०३, १-३), जैसा कि कठोपनिषद् का भी वचन है (३, १४)।

ज्ञान-दीपक—यद्यपि 'वेदान्तसार' (४, १८०) में सदानन्दजी ने ज्ञान की उपमा दीपक से दी है तथापि तुलसी का ज्ञान-दीपक अनुपम है। उसका निरूपण इस प्रकार है :—

सात्विकी श्रद्धा-रूपी सुन्दर गाय हृदय-रूपी घर में आकर बसे। श्रुतियों ने जो असंख्य जप, तप, व्रत, यम, नियम, धर्म और आचार का वर्णन किया है वे धर्माचार-रूपी हरे तृण हैं जिन्हें वह गाय चरे। आस्तिक भाव-रूपी छोटा बछड़ा है जिसे वह गाय दूध पिलावे। नोई अर्थात् निवृत्ति पिछले पैर बाँधने की रस्सी है। विश्वास दूध दुहने का पात्र है। निर्मल मन दुहने वाला अहीर है। इस प्रकार उपलब्ध परम-धर्म-मय दूध को निष्काम भाव-रूपी अग्नि पर औटा कर तथा क्षमा और सन्तोष-रूपी वायु से ठंडा कर, धैर्य तथा शम-रूपी जामन से उस दूध को जमावे। तब मुदिता रूपी कमोरी में तत्व-विचार रूपी मथानी से दम के आधार पर सत्य और सुन्दर वाणी रूपी रस्सी से उस दही को मथे और मथकर उसमें से निर्मल सुन्दर और अत्यन्त पवित्र वैराग्य-रूपी मक्खन निकाल लिया जाय, तदनन्तर योग-रूपी अग्नि प्रकट करके उसमें समस्त शुभाशुभ कर्म-रूपी ईंधन लगा दिया जाय। जब ऐसा करने से ममता-रूपी मल जल जाय, तो अवशिष्ट ज्ञान-रूपी घी बुद्धि-रूपी वायु से ठंडा किया जाय। तब विज्ञान-रूपिणी बुद्धि उस ज्ञानरूपी निर्मल घी से चित्त-रूपी दीये को भरे और समता-

रूपी दीवट पर उसे दृढ़तापूर्वक रखे। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं और सत्व, रज, तम इन तीन गुण-रूपी कपास से तुरीयावस्था-रूपी सुन्दर और कड़ी बत्ती बनाई जाय और तेजोराशि विज्ञानमय दीपक जलाया जाय। इस प्रकार दीपक को जलाने से मदादि-रूपी पतंग जल जाते हैं। 'सोहमस्मि' नामक अखंड वृत्ति इस ज्ञान-दीपक की परम प्रचंड लौ है। जब आत्मानुभव के सुख का सुन्दर प्रकाश फैलता है तो संसार के जनक (भेद और भ्रम) का नाश हो जाता है, बलवती अविद्या का मोह आदि परिवार-रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, और जड़-चेतन की गाँठ खुलती है। (रा० ७, १६७-५-२०१, ३)।

ज्ञान-दीपक की विफलता—पर ज्योंही जड़-चेतन की गाँठ खुलने लगती है त्योंही माया ऋद्धि-सिद्धियों को भेजकर बुद्धि को अनेक प्रकार के लोभ दिखाती है। ऋद्धि-सिद्धियाँ अपने कौशल और छल से निकट जाकर अपने आँचल की वायु से इस ज्ञान-दीपक को बुझा देती हैं। यदि बुद्धि स्यानी हुई तो वह उन ऋद्धि-सिद्धियों को हानिप्रद समझ कर उनकी ओर देखती नहीं। जब माया की पार नहीं बसाती तो देवता विघ्न उपस्थित करते हैं। हृदय-रूपी घर में इन्द्रियों के द्वार अनेक झरोखे के समान हैं, वहाँ देवता अड्डा जमाते हैं, और ज्योंही वे विषय-रूपी हवा को आते देखते हैं त्योंही हठपूर्वक वे किवाड़ खोल देते हैं। बस हृदय-रूपी घर में विषय-प्रभंजन के आते ही विज्ञान-दीपक बुझ जाता है; गाँठ भी नहीं छूटती, आत्म-प्रकाश भी मिट जाता और बुद्धि व्याकुल हो जाती है। इन्द्रियों और देवताओं को ज्ञान नहीं सुहाता क्योंकि उनकी प्रीति विषय-भोगों में रहती है। भला जब बुद्धि को विषय-वात ने बावली बना दिया, तो ज्ञान-दीपक दुबारा किस प्रकार जले? दीपक के बुझ जाने पर जीव अनेक प्रकार से संसार में क्लेश पाता है (रा० ७, २०१, ५-२०२), क्योंकि उसे पुनः प्रज्वलित करने का उपाय बड़े झंझट का है।

सदसत् और ज्ञान—पाप, पुण्य और ज्ञान में क्या सम्बन्ध है? तुलसी से दो सहस्र वर्ष पूर्व सुकरात का उपदेश था कि पुण्य ज्ञान है, अतएव पाप जान-बूझ कर नहीं किया जा सकता। तुलसीदासजी के मत से पाप का ज्ञान तो सबको समान रूप से होता है, किन्तु पुण्य का थोड़ों को ही होता है (दो० ३४५)। उनके अनुसार ज्ञानी राग-द्वेष और काम-क्रोध से विवर्जित हो शान्ति प्राप्त करता है (वै० सं० ५६-६०)।

ज्ञान-माध्यम—यह तो सब को विदित है कि ज्ञान लिखित अथवा मौखिक शब्दों के द्वारा प्रदान किया जाता है, किन्तु वह कदाचित् दृष्टि के द्वारा भी दिया जा सकता है। राम ने अपने पिता दशरथ को दृष्टिमात्र से दृढ़ ज्ञान प्रदान किया था।

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितहि पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥

रा० ६, १३८, ३

ज्ञान: मानवीय और दिव्य—मनुष्य अल्पज्ञ है। ईश्वर ही सर्वज्ञ है। सीतापति का ज्ञान अखंड है। यदि सभी का ज्ञान समान रूप से पूर्ण होता, तो बताओ ईश्वर और उसके प्राणियों में क्या भेद रहा (रा० ७, ११४, २-३)? निस्सन्देह यह बात उस जीव के लिए ही लागू है जो मायाच्छन्न और जड़ है (रा० ७, १८७, ३, २०), यद्यपि वास्तव में वह चेतन है। ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर जीवात्मा कार्य करना बन्द

कर देता है (रा० ७, १९७, १) और मोक्ष प्राप्त कर लेता है (रा० ७, १८७, २, ७, ३, २०)।

(ग) भक्ति

(प्रथम खण्ड)

भक्ति के लक्षण—तुलसीदासजी ने भक्ति का जो विवेचन किया है उसके अनुसार भक्ति को चिन्तन, मनन, यज्ञ, प्रार्थना, तप, उपवास आदि की आवश्यकता नहीं; किन्तु उसके लिये सरलता और अनन्यता की परम आवश्यकता है। भगवान् राम का उपदेश है : मैं उसके वश में हूँ जो न किसी से वैर करे, न लड़ाई-झगड़ा; न आशा रखे न भय करे; जो कोई भी कार्य सकाम आरम्भ नहीं करता, जिसकी घर में ममता नहीं; जो मान-हीन, पाप-हीन और क्रोध-हीन है; जो भक्ति करने में निपुण और विज्ञानवान् है; जिसे सन्तजनों के संसर्ग से सदा प्रेम है; जिसके लिये स्वर्ग और मोक्ष भी तृण के समान है; जो भक्ति के लिये हठ करता है किन्तु दूसरे के मत का खंडन करने की मूर्खता नहीं करता किन्तु सब कुतर्कों को बहा देता है; जो मेरे गुणों और नामों में अनुरक्त है और ममता, मद-मोहादि से रहित है। भक्ति का सुख वही जानता है जो परमानन्द को प्राप्त है (रा० ७, ६८, ३-४)।

साधन-त्रय में भक्ति—गोस्वामीजी ने भक्ति को ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के त्रिक में स्थान दिया है। चित्रकूट में राम, सीता, और लक्ष्मण क्रमशः ज्ञान, भक्ति और वैराग्य प्रतीत होते हैं—भगति ग्यानु वैराग्य जनु, सोहत धरें सरीर (रा० २, ३२२)। कुण्डलिया रामायण (३, १०) में यही तुलना अन्य और तुलनाओं के साथ विद्यमान है। राम की तुलना ब्रह्म, महादेव, मदन और परमार्थ से; सीता की ब्राह्मी, पार्वती, रति और प्रीति से; और लक्ष्मण की ब्रह्म-सुत, गणेश, ऋतुपति और योग से की गयी है। ये उपमाएँ अत्यन्त व्यंजक हैं। पहली उपमा ज्ञान की परमता की द्योतक है जिसकी शक्ति भक्ति है, और जो वैराग्य के द्वारा प्राप्य है।

नवधा भक्ति—गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति की चर्चा की है (रा० ३, २०, ४); किन्तु जब वे नव प्रकार की भक्तियों का वर्णन करते हैं तो उनको सूची 'भागवत' (७, ५, २३) की सूची से भिन्न है, क्योंकि इस विषय में उन्होंने 'अध्यात्म रामायण' (३, १०, २२, २७) का अनुसरण किया है। रामचन्द्रजी शबरी से कहते हैं "मैं तुझ से अपनी नवधा भक्ति कहता हूँ, तू सावधान होकर सुन और मन में धारणकर। पहली है सन्तों का सत्संग; दूसरी है मेरे कथा-प्रसंग में प्रेम; तीसरी है अभिमान-रहित गुरु-चरणों की सेवा; चौथी है कपट-रहित गुणों का गान; पाँचवीं है मेरे मंत्रों का जाप और मुझ में अटल विश्वास; छठी है इन्द्रियों का निग्रह; शीलता, वैराग्य और धर्मरति; सातवी है सम्पूर्ण जगत को मुझ में समभाव से ओत-प्रोत देखना और सन्तों को मुझ से भी अधिक मानना; आठवीं है यथालाभ सन्तोष और स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना; और नवीं है सरलतापूर्वक सब के साथ छल-रहित बर्ताव करना, हृदय में मेरा भरोसा रखना और किसी भी अवस्था में हर्ष और दैन्य का न होना", (रा० ३, ४३, ४; ४४, १-३)।

अन्य वर्गीकरण—गोस्वामीजी ने बहुधा कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनसे यह प्रतीत होता है कि भक्ति का कोई अन्य वर्गीकरण भी उनके ध्यान में था। उदाहरणतः, सुतीक्ष्ण की अविरल भक्ति का (रा० ३, १५, १३), शरभंग और दशरथ की भेद-भक्ति का उल्लेख हुआ है (रा० ३, १३, १, ६, १३८, ३)। तथाच दृढ़ भक्ति (रा० ३, ५६), अनपायिनी भक्ति (रा० ५, ५८, १), और भृंग-भक्ति (रा० ३, ३२, ४) आदि का भी उल्लेख है। भृंग-भक्ति तदाकार-वृत्ति का उदाहरण है। तुलसीदास का निष्केवल प्रेम (रा० ६, ४६) भागवत (१, २, ६) की अहैतुकी भक्ति के सदृश है। तुलसीदास का वचन है : भजेहु राम बिनु हेतु सनेही (रा० ५, ३८, ३)।

भक्ति-मुक्ति का सम्बन्ध—भक्ति और मुक्ति का क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का उत्तर गोस्वामीजी दो प्रकार से देते हैं : प्रथमतः सगुणोपासक मुक्ति चाहता ही नहीं, द्वितीयतः मुक्ति भक्ति पर आश्रित है और भक्ति का एक साधारण परिणाम-मात्र है :

सगुनोपासक मोच्छ न लेंही। तिन कहँ राम भगति निज देंही॥

रा० ५, १३८, ४

जिस प्रकार भूमि के बिना जल नहीं रह सकता, उसी प्रकार मोक्ष भी भक्ति के बिना असम्भव है। अतएव ज्ञानी उपासक मोक्ष की अवहेलना कर भक्ति की कामना करते है, क्योंकि भगवद्भक्ति से उच्चात्युच्च मोक्ष स्वयं प्राप्त हो जाता है :

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजति सोइ मुकुति गुसाईं। अनइच्छित आवइ बरियाईं॥

रा० ७, २०३, २

भक्ति और कर्म का सम्बन्ध—गीता का उपदेश है कि कर्मों को करते रहना चाहिए क्योंकि वे मनुष्य को पवित्र करते रहते हैं :—

यज्ञ-दान-तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ १८, ५

किन्तु तुलसीदासजी भरत जी से कहलाते हैं कि रामभक्ति के बिना ये सब व्यर्थ हैं-

बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरि भगति जायँ जप जोगा॥
जायं जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सबु बिनु रघुराई॥

रा० २, १७८, २-३

और आगे चलकर काक से गरुड़ को उपदेश दिलाते हैं कि प्रार्थना, तपस्या, यज्ञ, शम, दम, दान, पवित्रता, ज्ञान, ध्यान सब का पर्यवसान भगवत्-पदानुराग में हो जाता है, जिसके बिना कोई भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता (रा० ७, १४७, ३)। इतना ही नहीं, भक्ति का स्फुलिंग सब कर्मों का परिपाक इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार जठराग्नि भोजन का :

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥

रा० ७, २०३, ५

भक्ति और ज्ञान—तुलसीदासजी ने भक्ति और ज्ञान के गुणों पर तुलनात्मक विचार किया है। ज्ञान में अभिमान का अभाव और समता का भाव रहता है। वह सत्व, रज, तम तथा अणिमा, महिमादि आठ सिद्धियों के अतिरिक्त है। धर्म से विरति, विरति से योग, योग से ज्ञान, और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह मार्ग कठिन है, किन्तु भक्ति-मार्ग अपेक्षाकृत सरल है। ज्ञान-भक्ति का अन्तर बताने के लिये एक उपमा का प्रयोग हुआ है। वह है: ज्ञानी वयस्क के समान है जिसे अपने माता-पिता के संरक्षण की कम आवश्यकता पड़ती है, किन्तु भक्त तो शिशु के समान है जिसे निरन्तर देखभाल की आवश्यकता है। पहला तो अपनी ही शक्ति से, और दूसरा भगवान् की शक्ति से, सुरक्षित रहता है। यही कारण है कि ज्ञानी भी भक्ति का परित्याग नहीं करते (रा० ३, ५५, ४-५)। एक और कारण है जिससे भक्ति ज्ञान से अधिक श्रेयस्कर है। जीव परतंत्र है, किन्तु ईश्वर स्वतन्त्र है (रा० ७, ११४, ४; ११५)। इसके अतिरिक्त ज्ञान भक्ति का सोपान है। ज्ञान से प्रतीति, प्रतीति से प्रीति, और प्रीति से भक्ति उत्पन्न होती है, या यों कहा जाय कि ज्ञान से प्रतीति उत्पन्न होती है और प्रीति प्रतीति एवं भक्ति के सम्बन्ध को दृढ़ कर देती है। 'दोहावली' में गोस्वामीजी ने प्रीति की तीन श्रेणियाँ मानी हैं। सर्वोच्च प्रीति ऐसी टिकाऊ होती है जैसी प्रस्तर की रेखा। दूसरे प्रकार की ऐसी है जैसा रेते पर चिह्न, जो तब तक बना रहता है जब तक कि वायु का झोखा उसे मिटा नहीं देता, और तीसरी ऐसी जैसी पानी की लकीर। प्रेम और भक्ति का सम्बन्ध कारण-कार्य का है।

भक्ति और माया दोनों ही स्त्रीलिंग हैं, किन्तु ज्ञान पुँल्लिग है। जिस प्रकार पुरुष स्त्री के वश में रहता है इसी प्रकार ज्ञान माया के अधीन रहता है। किन्तु जिस प्रकार नारी नारी के रूप पर मोहित नहीं होती, उसी प्रकार भक्ति भी माया से प्रभावित नहीं होती (रा० ७, १६३, ८; १६४-१६५, ३)। अन्यथा जैसा कि गोस्वामीजी ने स्पष्ट कहा है, ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि दोनों ही संसार के कष्टों को नष्ट और पूर्व कर्मों को दग्ध कर देते हैं (रा० ७, २०३, ४-५; ७. १६३, ७)।

भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

रा० ७, १६३, ७

भक्ति माया से अप्रभावित—कहा जा चुका है कि भक्ति और माया दोनों ही नारी-रूप हैं, और नारी-नारी पर मोहित नहीं होती। अतएव भक्ति भी माया पर मोहित नहीं होती। इसके अतिरिक्त भक्ति और माया दोनों ही का सम्बन्ध भगवान् से है। भक्ति तो भगवान् की पत्नी है और माया नर्तकी। इस कारण भक्ति माया पर अपना प्रभुत्व जमा सकती है, उसके अधीन नहीं हो सकती (रा० ७, १६५, १-४)।

भक्ति-मणि—जिस प्रकार ज्ञान की तुलना दीपक से, उसी प्रकार भक्ति की समता अमृत से (रा० ७, २०६), कवच से और मणि से की गयी है। मणि वाली उपमा अत्यन्त लोकप्रिय है। अतएव उसका कुछ उल्लेख आवश्यक है। मणि का रूपक इस प्रकार है:—

श्री राम की भक्ति चिन्तामणि के समान सुन्दर है। जिस हृदय के भीतर यह

मणि बसती है वह दिन-रात प्रकाशित रहता है। उसे दीपक, घी और बत्ती की आवश्यकता नहीं। मोह-रूपी दरिद्रता उसके समीप नहीं आती। लोभ-रूपी वायु इस मणि-दीप को नहीं बुझा सकती, क्योंकि वह दूसरे की सहायता से प्रकाशित नहीं होती। इसके प्रकाश से अविद्या का घोर तिमिर नष्ट हो जाता है, और मदादि पतंगों का सम्पूर्ण समूह पराजित हो जाता है। जिसके हृदय में भक्ति बसती है काम, क्रोध, लोभ आदि दुष्ट उसके पास नहीं फटकते। उसके लिये विष अमृत, और शत्रु मित्र हो जाता है। इस मणि के बिना कोई सुख नहीं पाता। जिसके पास यह मणि होती है उसे मानस रोग नहीं व्यापते और स्वप्न में भी लेश-मात्र दुःख नहीं होता। जगत् में वे ही मनुष्य चतुरों के शिरोमणि हैं जो भक्ति-मणि के लिये भली-भाँति प्रयत्न करते रहते हैं। यद्यपि संसार में यह मणि प्रकट रूप से विद्यमान है, तथापि बिना राम-प्रसाद के उसे कोई प्राप्त नहीं कर सकता। उसके पाने के उपाय भी सुगम हैं, पर अभागे मनुष्य उन्हें ठुकरा देते हैं। यदि वेद-पुराण पवित्र पर्वत हैं तो रामकथाएँ खानें हैं, सन्त पुरुष विशेषज्ञ हैं, सुमति कुदाल है, ज्ञान और वैराग्य दो नेत्र हैं। जो प्राणी उसे प्रेम के साथ खोजता है, वह उस भक्ति-मणि को प्राप्त कर लेता है जो सर्व सुखों का आकर है (रा० ७, २०५, १-८)।

भक्ति राज-पथ है—भगवान् राम अयोध्यावासियों से कहते हैं 'यदि तुम इस लोक और परलोक के सुख का मार्ग चाहते हो, तो समझ लो कि वह सुलभ और सुखद मार्ग मेरी भक्ति है। ज्ञान अगम्य है, उसकी प्राप्ति में अनेक विघ्न हैं, उसका साधन कठिन है और मन चंचल है। यदि अनेक प्रयत्न करने पर कोई ज्ञान प्राप्त कर भी ले किन्तु भक्ति-रहित हो, तो वह मुझ को प्रिय नहीं लगता। भक्तिमार्ग में न योग की आवश्यकता है, न यज्ञ, जप, तप और उपवास की। इतना आवश्यक है कि मन में कुटिलता न हो, स्वभाव सरल हो और जो कुछ मिले उसी से सदा सन्तोष रहे (रा० ७, ६८, १)। भक्ति का अधिकारी कौन हो सकता है? भगवान् राम का उत्तर है: 'कपट छोड़ कर जो भी सर्वभाव से मुझे भजता है, वही मुझे परम प्रिय है, चाहे वह पुरुष हो, स्त्री हो, नपुंसक हो, अथवा चराचर कोई भी जीव हो' (रा० ७, १३२)। कुछ इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने भी गीता में आश्वासन दिया है (९, ३२)। ज्ञान-मार्ग कृपाण की धारा के समान है, इस मार्ग से हटते देर नहीं लगती। जो इस मार्ग को निर्विघ्न निबाह ले जाता है वह परम पद कैवल्य को प्राप्त होता है, किन्तु यह प्राप्ति कठिन है। भगवद्भक्ति से तो अनचाहे मुक्ति मिल जाती है (रा० ७, २०३, १-२)। भक्ति के लिये कोई भेदभाव नहीं। राम शबरी से कहते हैं :—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

रा ३, ४३, २-३

भक्ति के उपकरण—गोस्वामीजी ने भक्ति के कुछ उपकरणों का उल्लेख किया है, यथा: स्तुति, प्रार्थना, नाम-जप, विप्रार्चा, सत्संग, विनम्रता। मनु और शत-रूपा ने 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मंत्र का जप किया था (रा १,

१७१)। भक्ति का एक अन्य प्रधान उपकरण सत्संग है जो बिना सुकृत के और विप्रपद-पूजा के असंभव है। राम-भक्ति शिव-भक्ति के द्वारा प्राप्त होती है जैसा कि स्वयं राम ने घोषित किया है, (रा० ६, ४, ३, ५, २, ७, ६८)। भक्ति-प्रवाह की अवस्थाएँ हैं: विप्रपद-पूजा, कर्त्तव्यपालन, वर्णाश्रम धर्म, विषयों से विरक्ति, भगवल्लीला और कृत्यों में अनुराग। भगवत्प्रेम उसी को प्राप्त होता है जो सत्संग करता है; जो अपने कर्त्तव्य में निरत रहता है; जो माता, पिता और देवताओं की सेवा करता है, जो भगवान् के गुणों का गान करते समय उल्लसित होता है तथा जो हृदय का शुद्ध और सरल है (रा० ३, २०-२१)।

भक्ति-प्रवाह—भक्ति का प्रवाह इस प्रकार है: सन्त समागम के द्वारा राम-चर्चा के लिए प्रोत्साह मिलता है, जिससे भ्रम नष्ट हो जाता है। भ्रम के नष्ट होने पर राम के चरणों में दृढ़ अनुराग उत्पन्न होता है। यदि ऐसा अनुराग न हो तो कोई चाहे कितना ही ध्यान, प्रार्थना, यज्ञ और अनासक्ति का उपयोग करे, उसकी पहुँच राम तक नहीं हो सकती (रा० ७, ८५, १)। भक्त को अपनाने से पूर्व राम सर्वप्रथम उसमें अभिमान कभी नहीं रहने देते, क्योंकि वह जन्म-मरण का कारण और समस्त क्लेशों तथा शोकों का देने वाला है। इसीलिए भगवान् कृपा करके अपने सेवक के अभिमान को दूर कर देते हैं। ठीक भी है, जब बच्चे के शरीर में फोड़ा हो जाता है तो माता अपना हृदय कठोर करके उस फोड़े को चिरवा डालती है। यद्यपि बच्चा दुःख पाता और रोता है, तथापि उसकी माता रोग-शान्ति के निमित्त उस पीड़ा की चिन्ता नहीं करती। इसी प्रकार भगवान् राम भी अपने दास का अभिमान हर कर उसका हित ही करते हैं (रा० ७, ३, ४, १०८, १०९)।

भक्त और भगवान्—भगवान और भक्त के सम्बन्ध अनेक हैं, यथा माता-पिता और बच्चे का-सा, पति-पत्नी का-सा, मित्र-मित्र का सा, अथवा सेव्य-सेवक का सा। वल्लभमार्गीय भक्त भगवान् के प्रथमोक्त सम्बन्ध को अधिक प्रशस्त समझते हैं, पर वृन्दावन की गोपियाँ, जयदेव, मीरा और सूफी द्वितीयोक्त मार्ग को। सूरदास का झुकाव तृतीय के लिए है। तुलसीदासजी ने राम को जगत्पिता और सीता को जगन्माता कहा है (रा० १, २७८, १-२); किन्तु उन्हें सेव्य-सेवक भाव ही अधिक रुचता है अर्थात् भगवान् मालिक हैं और वे चाकर हैं। इसी सम्बन्ध के द्वारा भव-बाधा छूट सकती है (रा० ७, २०४)। किन्तु कुछ वैष्णवों की भाँति गोस्वामीजी भी कहने लगते हैं कि सेवक स्वामी से बड़ा है। काक गरुड़ से कहते हैं:

मोरे मन अस प्रभु बिस्वासा। राम ते अधिक रामकर दासा॥ रा० ७, २०५, ८

यह कथन इतना ही रहस्यमय है जितना कि यह कहना—

कहउँ नाम बड राम तें निज बिचार अनुसार॥ रा० १, ३९

प्रपत्ति और प्रसाद

(द्वितीय खण्ड)

आश्रित भाव—जिस प्रकार दर्शन 'आश्चर्य' से प्रारम्भ होता है उसी प्रकार धर्म 'अधीनता' की भावना से। सेश्वर धर्मों में अधीनता का रूप है: किसी प्रकार का

आदर, श्रद्धा, सम्मान, प्रशंसा, अर्चना, पूजा। भयमिश्रित हीनता का भाव निम्नलिखित रूपों में प्रकट होता है : आदर, प्रणाम, दण्डवत्, नमन, दैन्य, अविरोध, आज्ञापालन, प्रार्थना, स्तुति, त्याग, शरणागति, प्रपत्ति आदि।

प्राचीन समर्थन—भारत के प्राचीन साहित्य में प्रपत्ति का बीज विद्यमान है। कुछ वैदिक सामों की प्रार्थना, प्रीति की अपेक्षा, अधिकतर भय से प्रेरित है। ऋग्वेद का रुद्र-सूक्त इस विषय में उदाहरण है (२, ३३, १-१५)। प्रपत्ति का परिणाम प्रसाद है जिसका उद्देश्य कठ (१, २, २२), मुण्डक (३, २, ३), श्वेताश्वतर (६, १८) नामक उपनिषदों के अनुसार मोक्ष है। ईश्वरीय प्रसाद के लिए प्रपत्ति आवश्यक है जिसका आधार अक्रतु अर्थात् इच्छा की निष्क्रियता है, जैसा कि कठ (१, २, २०) और श्वेताश्वतर (३, २०) में उल्लेख है। श्वेताश्वतर में ईश्वरीय प्रसाद के साथ तपस्या का भी महत्त्व है (६, २१) और ईश्वरीय प्रसाद अमृतत्व प्रदान करता है (१, ६)। गीता में, अर्जुन भगवान् की शरण में आते और शिष्यवत् उपदेश चाहते हैं (२, ७), भगवान् शरण-स्थान हैं (२, १८)। वे स्वयं घोषणा करते हैं—

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ गी० १८, ६६

बुद्ध जी के अनुयायी भी कहते थे 'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'धम्मं शरणं गच्छामि'। पश्चिम में ईसा मसीह के अनुयायियों ने प्रपत्ति और प्रसाद के सिद्धान्त को और भी आगे बढ़ाया, और पूर्व में वैष्णवों ने उस पर आग्रह किया। रामानुज और उनके अनुयायियों के मतानुसार नारायण-पत्नी श्री अनुकम्पा का प्रतीक हैं, और वे पाप-कर्माओं के लिए अन्तरासत्ति (इंटरसेशन) करती हैं। भक्ति के दोनों मार्गों में, जिन्हें वल्लभाचार्यजी ने प्रशस्त समझा है, मर्यादा मार्ग तो उन लोगों के लिए है जो श्रुति-स्मृति के विधानों का पालन करते हैं, और पुष्टि-मार्ग वह प्रेम-मार्ग है जिसका संवर्द्धन भगवान् स्वयं करते हैं। चैतन्यजी के मत से जीवन का लक्ष्य ही भगवद्-भक्ति की प्राप्ति है।

प्रपत्ति का रूप—भगवान् के प्रति प्रेम की अनन्यता ही प्रपत्ति है। प्रपत्ति में सर्व धर्मों का त्याग है, और त्यागी को श्रद्धावान् और अनसूय होना चाहिए। ऐसे भक्त को ही भगवान् आश्वासन देते हैं कि मैं सब पापों से तेरी रक्षा कर लूंगा (गी० १८, ६५-७१)। जो लोग ईश्वर के प्रसाद की कामना करते हैं वे पाखण्ड को छोड़ कर शुद्ध हृदय से उसकी शरण में आ जाते हैं। वे उसकी माया का अतिक्रमण करते और निरभिमान हो जाते हैं (भा० २, ७, ४२; ४, २६, ५०)। 'महाभारत' में भी कहा है कि नारायण को वही देख सकता है जिस पर वे कृपा करते हैं।

प्रपत्ति के तत्त्व—भगवत्प्रसाद का साधन प्रपत्ति अथवा शरणागति है। अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार शरणागति के छः प्रकार होते हैं। (१) भगवान् की इच्छा के अनुकूल वर्तन (२) विरोध का त्याग (३) भगवदीय रक्षा में विश्वास (४) भगवान् को रक्षक रूप से वरण (५) अत्यन्त दैन्य और नैराश्य, एवं (६) आत्म-समर्पण :

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा
आत्म-निक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।

तुलसीदास और प्रसाद—तुलसीदासजी भगवत्कृपा के लिए निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग करते हैं : रामकृपा (रा० १, ७, ४), हरिकृपा (रा० ५, ६, २), रामप्रसाद (रा० ७, १२८, ३-४), दया और अनुकूलता (रा० ३, ४६, २), छोह (रा० ४, ४, १-२), अनुग्रह (रा० ५, ६, ३) ।

राम-कृपा—राम सुन्दर ही नहीं, कृपालु भी हैं । वे प्रणतपाल हैं (रा० ६, १२७, २) । भरतजी राम की कृपालुता का वर्णन करते हुए कहते हैं जो क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुबुद्धि, कलंकी, नीच, शील-रहित, नास्तिक और निश्शंक हैं, उन्हें भी शरण में सम्मुख आया सुनकर एक बार प्रणाम करने पर ही राम अपना लेते हैं, और शरणागत के दोषों को देखकर भी कभी हृदय में नहीं लाते, प्रत्युत उसके गुणों को सुनकर साधु-समाज में उनका वर्णन करते हैं। बन्दर आदि पशु नाच में, और तोते आदि पक्षी पाठ में, प्रवीण हो जाते हैं, किन्तु तोते का गुण और पशु के नाचने की गति पढ़ाने वाले और नचाने वाले के अधीन होती है । इसी प्रकार भगवान् अपने भक्तों की बिगड़ी बात सुधार कर और सम्मान प्रदान कर उन्हें साधु-शिरोमणि बना देते हैं । भला राम के अतिरिक्त ऐसा कृपालु और कौन होगा ? (रा० २, २६६, ३००) ।

गुरु-कृपा से भगवत्कृपा—कौशल्याजी कहती हैं कि गुरु-कृपा से भगवत्कृपा प्राप्त होती है । उनके वचन हैं : 'हे तात, मुनि की कृपा से ही ईश्वर ने तुम्हारी बहुत सी बलाओं को टाल दिया। तुम दोनों भाइयों ने यज्ञ की रखवाली करके गुरु के प्रसाद से सब विद्याएँ प्राप्त कीं । तुम्हारे चरणों की धूल लगते ही मुनि-पत्नी अहल्या तर गयी, तुम्हारी यह कीर्ति पूर्ण-रीति से विश्व में व्याप्त हो गयी । कच्छप की पीठ तथा वज्र और पर्वत से भी कठोर, शिवजी के धनुष को तुमने राजाओं के समाज में तोड़ दिया । तदनन्तर तुम विश्व-विजय के यश को और जानकी को प्राप्त कर, तथा सब भाइयों को ब्याह कर, घर आये । तुम्हारे सभी कर्म ऐसे हैं जो मनुष्य की शक्ति से बाहर हैं, वे केवल विश्वामित्रजी की कृपा से ही सम्पन्न हुए हैं। (रा० १, ३६०, १-३) । मानव के आशीर्वाद का इतना प्रभाव है, भगवत्कृपा का तो कहना क्या ?

भगवत्कृपा का रूप—भगवान् राम स्वयं भरतजी से भगवत्कृपा के माहात्म्य का वर्णन करते हैं : यह अविनाशी जीव (अंडज, स्वेदज, जरायुज और उद्भिज) चार खानों और चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाता, और माया की प्रेरणा से, काल, कर्म, स्वभाव और गुण के वश में होकर, सदा भटकता रहता है। अकारण स्नेह करने वाले भगवान् दया करके कभी-कभी जीव को मनुष्य का शरीर दे देते हैं । यह शरीर भवसागर को पार करने के लिए पोत के समान है, ईश-कृपा ही अनुकूल वायु है, सद्गुरु कर्णधार है । इस प्रकार दुर्लभ साधन के सुलभ होने से अनेक जीवों ने उसे प्राप्त किया है । जो ऐसे साधन पाकर भी भवसागर से न तरे, वह कृतघ्न और मन्द-बुद्धि आत्म-हन्ता की गति को प्राप्त होता है (रा० ७, ६६-६७)। भगवान् राम ने भगवत्कृपा का रहस्य काक से भी प्रकट किया है : "हे पक्षी, सुन, मेरी कृपा से अब

समस्त शुभ गुण तेरे हृदय में बसेंगे। भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग, मेरी लीलाएँ और उनके विविध रहस्य—इन सबके भेद को तू मेरे ही प्रसाद से जान जायगा, तुझे साधन का कष्ट नहीं होगा। अब माया से उत्पन्न कोई भ्रम तुझे नहीं व्यापेगा" (रा० ७, १२८, ३-४)। काक ने यह रहस्य गरुड़ को इस प्रकार बताया : "हे तात, यद्यपि जीव ईश्वर का अंश है; अतएव अविनाशी, चेतन, निर्मल और सुख-राशि है, तथापि माया के वश में होकर वह तोते और वानर की भाँति अपने आप बँध जाता है। जड़-चेतन में ग्रन्थि पड़ जाती है। यद्यपि ग्रन्थि मिथ्या ही है तथापि उसके छूटने में कठिनता है। तभी से जीव जन्म-मरण-शील हो गया। अब न तो गाँठ छूटती है और न वह सुखी होता है। वेद-पुराणों ने बहुत से उपाय बताये हैं, पर वह ग्रन्थि छूटती नहीं, प्रत्युत अधिकाधिक उलझती ही जाती है। जीव के हृदय में अज्ञानान्धकार विशेष रूप से छा जाता है, जिससे गाँठ दीख नहीं पड़ती, अतएव छूटे तो कैसे? जब कभी ईश्वर संयोग उपस्थित कर देते हैं तब कदाचित् वह ग्रन्थि छूट पाती है (रा० ७, १९७, २-४) :

अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित् सो निरुअरई॥

यदि 'कदाचित्' से 'शायद' का तात्पर्य ग्रहण किया जाय, तो प्रसाद-सिद्धान्त पर ही पानी फिर जायगा, अतएव प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी ने उसका प्रयोग 'कभी' के अर्थ में किया है, जैसा कि वल्लभाचार्य जी ने भी।[1]

तथापि तुलसीदास जी कहते हैं कि राम-कृपा से विवेक उत्पन्न होता है जो काम क्रोध का उन्मूलन कर भवसागर के कष्टों का निवारण करता है। इस कृपा से भगवान् के गुण-श्रवण में रुचि उत्पन्न होती है, और उसके द्वारा जीवात्मा इस प्रकार निश्चिन्त रहता है जैसे बालक माता की, पत्नी पति की, अथवा भृत्य स्वामी की संरक्षा में। भगवान् ही विवेक प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा सत्य को ग्रहण करने और मिथ्या को त्यागने की शक्ति प्राप्त होती है। गोस्वामीजी ने राम-कथा की उपमा सर से दी है, जहाँ केवल वह पहुँच सकता है जिसे राम-कृपा प्राप्त है। उसी के द्वारा उक्त सर में स्नान कर सम्पूर्ण कठिनाइयों से और त्रितापों से छुटकारा मिलता है (रा० १, ५८-५९)। भगवान् शिव उमाजी से कहते हैं कि राम की दया से काम, क्रोध, लोभ, भ्रान्ति आदि सब नष्ट हो जाते हैं, और वही मनुष्य इन्द्र-जाल से पार पाता है जिस पर महामायावी भगवान् अनुकूलता प्रकट करते हैं (रा० ३, ४९-२)। हनुमान् जी अपने दोषों को स्वीकार करते हुए भगवान् राम से कहते हैं : भगवन्, मुझमें दोष अनेक हैं, किन्तु सेवक किसी प्रकार अपने स्वामी से ऊँचा नहीं हो सकता; सम्पूर्ण सृष्टि के जीव पहले आपकी माया के बन्धन में आते हैं और पुनः आपकी कृपा से मुक्त हो जाते हैं—

नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा॥ रा० ४, ४, १२

---

१. (क) कदाचित् सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः। तत्त्वार्थ दीपः, ४१

(ख) आसन्य सेवायामिन्द्रियाणां देवतात्वमिति श्रुतेः। स्वस्य जीवभावे स्थिते कदाचित् संघातानन्तरं सम्पादयेदिति जीवस्य ब्रह्मभावमाह। स्वस्मिन् ब्रह्मभावादिति। 'तत्त्वार्थदीप' पर 'प्रकाशवृत्ति' ३८।

पुष्टिमार्ग का प्रभाव—हनुमान् जी का उक्त वचन हमें पुष्टिमार्ग का, अथवा प्रपत्ति और प्रसाद के उक्त सिद्धान्त का, स्मरण कराता है जिसका प्रभाव कदाचित् तुलसीदासजी पर भी पड़ा हो। कारण यह है कि वल्लभाचार्य जी की एक गद्दी सोरों में भी विद्यमान है, और गोस्वामी जी के चचेरे भाई कृष्ण-भक्त महाकवि नन्ददास भी वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। कल्पना है कि इसी प्रभाव के कारण तुलसीदासजी ने 'कृष्णगीतावली' की निम्नलिखित पंक्तियों में आचार्य वल्लभ को गुप्तरीति से श्रद्धांजलि अर्पित की है :

> गोपाल गोकुल-बल्लभी-प्रिय गोप गोसुत-बल्लभम्
> चरनारबिंद महं भजे भजनीय सुर--मुनि--दुर्लभम्
> घनश्याम काम अनेक छबि लोकाभिराम मनोहरम्
> किंजल्क-बसन किशोर मूरति, भूरि गुन करुनाकरम्॥ २३

अन्तरासत्ति अथवा पुरुषकार—कृपा की छोटी भगिनी अंतरासत्ति है। अन्तरासद् दूसरे को प्रार्थना आदि के द्वारा कल्याण प्राप्त कराता है। 'बाइबिल' में भगवत्प्रसाद की एवं पश्चात्ताप-पूर्ण पापियों के लिये ईसामसीह, अब्रह्म, लॉट, जूडा, मूसा, सैमुअल, डेविड, स्टीवन और पॉल की अन्तरासत्ति की चर्चा है। 'कुरान' में भी भगवान् को कृपालु और क्षमाशील बताया गया है (सूरा० ३, २८, २९)। ईसाई-धर्म में अन्तरासत्ति अपरोक्ष है किन्तु इस्लाम में परोक्ष है। पहले में तो ईसामसीह अथवा अन्य कोई महापुरुष अन्तरासद् बन सकते हैं, किन्तु दूसरे में भगवत्कृपा के निमित्त प्रार्थना में हज़रत मोहम्मद का नामोल्लेख ही पर्याप्त है। हिन्दू-धर्म में प्रसाद और अन्तरासत्ति के सिद्धांत को सर्वमान्यता प्राप्त नहीं। उदाहरण-स्वरूप, स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रसाद-सिद्धांत को नहीं मानते, किन्तु रामानुज और वल्लभ दोनों भगवत्कृपा चाहते हैं। भारत में श्री-वैष्णवों ने अन्तरासत्ति के सिद्धांत का प्रचार किया है। उनके लिये भगवान् नारायण आर्यसमाज-प्रतिपादित ईश्वर के सदृश हैं, किन्तु श्री जी दयालु हैं अतएव भक्त की ओर से नारायण-प्रसाद के लिये अन्तरासत्ति करती हैं।

अन्तरासत्ति का सिद्धान्त किसी न किसी रूप में वैदिक काल से विद्यमान है। पौरोहित्य के शब्दार्थ में ही अन्तरासत्ति व्याप्त है। संस्कृत भाषा के 'पुरोहित' और 'पुरोधा' शब्दों से उस व्यक्ति का तात्पर्य है जो वकील की भाँति दूसरे के हित को किसी देवता अथवा ईश्वर के समक्ष उपस्थित करे।[1] जिन व्यक्तियों को सांसारिक झंझटों से, प्रार्थना के लिये, अवकाश नहीं मिल पाता, अथवा जो प्रार्थना के लिये उपस्थित नहीं हो सकते उनकी अनुपस्थिति में पुरोहित को उसी प्रकार प्रतिनिधित्व सौंप दिया जाता है जैसे मुख़्तारनामा के द्वारा किसी मुख़्तार को। यह भी एक प्रकार की अन्तरासत्ति ही है। तुलसीदास जी ने 'पुरोहित' शब्द के विपर्यस्त रूप

---

१. गुरु और गोसाईं की, भक्त और भगवान् के बीच, मध्यस्थता। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स' पृष्ठ ५८२; तथा 'दि एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' पृष्ठ ६५४-६५५, जिल्द २१।

,उपरोहित' का उपयोग शतानन्द जी और वशिष्ठ जी के लिये किया है जो क्रमशः राजा जनक और महाराज दशरथ के पुरोहित थे।

निष्कर्ष—तुलसीदासजी ने कर्म के सिद्धान्त को ईश्वरीय इच्छा के अधीन कर दिया है। उनका विश्वास अन्तरासक्ति में है। उन्होंने यह उल्लेख किया है कि जब भगवान् शिव ने काक भुशुण्ड को शाप दिया तो काक के गुरुदेव ने शिवजी की प्रार्थना की, और उनको कृपासिन्धु भगवान्, दीन-दयालु, कृपालु आदि शब्दों से अभिहित कर, अपने शिष्य के लिये अनुग्रह की कामना की। प्रार्थना स्वीकृत हुई (रा० ७, १७६, १७७-२)। भगवती पार्वती भी आर्त्त भक्तों के लिये भगवान् शिव से अन्तरासक्ति करती हैं। तुलसीदासजी स्वयं अपने लिये रामप्रसाद के निमित्त सीताजी की अन्तरासक्ति की आकांक्षा करते हैं।

मनोविज्ञान

मानव का मन : मानसिक रोग और उनका उपचार

प्राक्कथन—भारतीय-दर्शन-शास्त्र में मनोविज्ञान के लिये कोई अलग स्थान न था, क्योंकि प्राचीन ऋषि ज्ञान की एक-रूपता मानते थे और वे दार्शनिक चर्चा ही न करते अपितु तदनुसार जीवन भी व्यतीत करते थे। वेदों में, उपनिषदों में, और पुराणों में मनोवैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणतः, ऋग्वेद में मनस्, मनीषा, अहं, चित्त आदि शब्द देखने में आते हैं, और उपनिषदों में : सत्व, रजस्, तमस्, अहंकार, चेतस्, चैतन्य, प्रज्ञा, प्रज्ञानघन, बुद्धि, ज्ञान, भक्ति, कर्म, चित्त, चिन्ता, जाग्रत-स्थान, स्वप्न-स्थान, सुशुप्ति-स्थान, तुरीय, दम, इन्द्रिय, विषय, धृति, धारणा, ध्यान, प्रत्याहार, जूति, क्रतु, काम, निष्कामत्व, मति, मनस्, मनीषा, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, आनन्दमय कोष, महाभूत, मेधा, मोह, राग, वासना विज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा, संज्ञा, संकल्प, समाधि, सम्मोह, स्मृति, तर्क। इसमें सन्देह नहीं कि इनका प्रयोग मन-माना और कभी द्विरर्थक भी हुआ है, और इनका अर्थ घटता-बढ़ता रहा है। किन्तु सांख्य, योग, न्याय आदि षड्दर्शनों में उनके अर्थ अधिक सुनिश्चित हैं। पुराणों ने और महाभारत ने भी, मनोविज्ञान के विकास में सहयोग दिया है, किन्तु कदाचित् वैष्णव, शैव और तांत्रिक विचारधारा से प्रभावित हो सूक्ष्म संवेगों का वर्णन मूर्त्त शब्दों में हुआ है। गोस्वामीजी से पहले मनोविज्ञान की अवस्था पर विचार करना प्रस्तुत प्रयोजन से बाहर है, अतएव उन्हीं के मनोवैज्ञानिक विचारों की चर्चा यहाँ अभीष्ट है।

तुलसी की देन—गोस्वामीजी की देन जहाँ, भाषा, साहित्य, तथा धर्म की दिशा में रही है, मनोविज्ञान की दिशा में भी उनकी देन है। ये वे व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी में मनोवैज्ञानिक चर्चा सर्वप्रथम की है। और वह भी ऐसी क्षमता से जो अद्यतन पाश्चात्य अनुसंधानों से समर्थित है।

मानस-गुनी—मनोविज्ञान-सम्बन्धी विचारक को मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविज्ञानी कहते हैं। गोस्वामीजी ने एक और अच्छा शब्द दिया है, वह है 'मानस-गुनी' यद्यपि कुछ प्रतियों में इसका पाठान्तर 'भानस गुनी' विद्यमान है अतएव कुछ टीकाकार दोनों पाठों से 'महानस गुनी' का अभिप्राय ग्रहण करते हैं। अस्तु। रावण ने राम के विरुद्ध छल करने का मारीच से प्रस्ताव किया जिससे मारीच को संकोच हुआ। रावण ने उस पर क्रोध किया तो वह सोचने लगा :

तब मारीच हृदय अनुमाना। नवहि बिरोधें नहि कल्याना॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कबि मानस-गुनी॥ रा० ३,३३,२

मनःस्थान—कदाचित् भागवतों अथवा पांचरात्रों से प्रभावित होकर गोस्वामीजी, मन्दोदरी के मुख से, राम का वर्णन इस प्रकार से कराते हैं : राम भगवान् हैं, उनका अहंकार शिव है, बुद्धि ब्रह्मा, मन चन्द्रमा, और चित् महत् है।

ग्रहंकार सिव बुद्धि ग्रज, मन ससि चित्त महान् ।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान् ॥ रा० ६, २१

ऋक् ग्रौर यजु के पुरुष-सूक्त में चन्द्रमा परम पुरुष के मन से उत्पन्न हुग्रा बताया गया है। मन, बुद्धि, चित् ग्रौर ग्रहंकार वाला ग्रन्तःकरण वेदान्त की विचार धारा के ग्रनुसार है।

मन ग्रौर शरीर—शरीर पर मनोवेगों की ग्रभिव्यक्ति होती है। कुछ उदाहरण ये हैं :—जब रामचन्द्र जी ग्रयोध्या से लौट ग्राये, तो प्रेम के कारण भरत जी को रोमांच हो गया, नेत्र ग्रश्रुग्रों से परिपूर्ण हो गए ग्रौर शरीर काँपने लगा। उस समय राम ग्रौर भरत का मिलन ऐसा प्रतीत होता था—

जनु प्रेम ग्ररु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही ॥ रा० ७, १३, छं० १

प्रेम के कारण भरत जी के मुख से शब्द नहीं निकलता था, वे गद्गद थे (रा० ७, १३, छं० २)। इस ग्रवसर पर राजमाताएँ सोने के थाल से नीराजन कर रही थीं किन्तु उन के चक्षु ग्रानन्दाश्रु से युक्त थे। जनक-जैसे ब्रह्म-ज्ञानी भी सीता-बिदाय के समय प्रेमाश्रु न रोक सके थे (रा० १, ३७०, १)। वास्तव में प्रीति ग्रौर घृणा छिपाये नहीं छिपतीं (रा० २, २६४, १)।

पशु-पक्षी भी ग्रपने संवेगों को प्रकट करते हैं। विवाह के ग्रनन्तर जब सीताजी ग्रयोध्या ग्राने लगीं तो उनके पालतू तोता-मैना भी वियोग-जन्य संवेग प्रकट करने लगे (रा० १, ३७०, १-२), क्योंकि पशु-पक्षी भी ग्रपना हित ग्रौर ग्रहित समझते हैं (रा० २, १६, १, २६४, १)। जब सुमंत्र रामचन्द्र जी को छोड़कर ग्रयोध्या लौटने लगे तो उनके घोड़े करुणापूर्वक हिनहिनाने लगे। उनकी ग्राँखों से ग्राँसू बहते थे, वे न घास खाते ग्रौर न पानी पीते, किन्तु वन्य हरिण की भाँति शोक से शिथिल होकर तड़फड़ाते, पर रथ को खींचना नहीं चाहते थे; ग्रौर जब कोई व्यक्ति राम, सीता या लक्ष्मण का नाम लेता तो वे तुरन्त हिनहिनाकर उसकी ग्रोर देखने लगते (रा० २, १४२, ४, १४३, १-४)।

तुलसी को इस बात में विश्वास रहा होगा कि हम जो कार्य करते हैं उसका संस्कार (ग्रथवा पश्चिमी मनोविज्ञान का ऐनग्रेम) मस्तिष्क पर पड़ता है। रावण ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए ग्रपने हाथों सिर काट-काट कर ग्रग्नि में होम कर दिये थे, ग्रौर उन मस्तकों के जलते समय उसने ग्रपने ललाट पर लिखे हुए विधाता के ग्रक्षर देखे थे।

जरत बिलोकेउं जबहिं कपाला। बिधि के लिखे ग्रंक निज भाला ॥
रा० ६, ४३, १

कैकेयी ने मंथरा के लिये कहा था कि काने, लंगड़े ग्रौर कुबड़े लोग कुटिल ग्रौर कुचाली होते हैं (रा० २, १५)। ऐसी ग्रंगहीनता जन्म से, दुर्घटना से, या ग्रन्थियों से संभव है, जैसा कि ग्राधुनिक मनोविश्लेपक समझते हैं।

चार ग्रवस्थाएँ—तुलसी ने जीव की परम्परागत चार ग्रवस्थाग्रों का उल्लेख किया है। सोते समय जीव भगवान् शिव के समान है, स्वप्न में सक्रिय है, ग्रौर जागरित ग्रवस्था में सुख-दुःख का ग्रनुभव कर दीन-मलीन होता है। जागरित ग्रवस्था को प्राप्त होते ही स्वप्न ग्रसत् प्रतीत होता है। स्वप्न में भिखारी राजा ग्रौर राजा स्वर्गेश हो जाता है, किन्तु जागने पर न किसी को हानि होती है ग्रौर न किसी को लाभ।

इसी प्रकार परमार्थ की प्राप्ति पर, व्यवहार असत् प्रतीत होता है (रा० २, ९३, १-३)। तुलसीदासजी को स्वप्नों की भविष्य-बोधकता में विश्वास है। राम-वनवास से पूर्व कैकेयी को (रा० २, २०, ४), मातुल-गृह में पिता की मृत्यु से पूर्व भरत को (रा० २, १५७, ३) और चित्रकूट में भरत के आगमन से पूर्व सीताजी को दुःस्वप्न हुआ था (रा० २, २२६, २)। त्रिजटा राक्षसी ने रावण-मृत्यु-विषयक स्वप्न का उल्लेख कर जनक-नन्दिनी को सान्त्वना प्रदान की थी (रा० ५, १०, १-४), उसने स्वप्न में देखा था कि किसी बन्दर ने लंका जला दी; राक्षसों की सारी सेना मार डाली गयी; रावण नंगा, गधे पर सवार, दक्षिण दिशा को जा रहा था, उसके सिर मुड़े हुए और बीसों भुजाएँ कटी हुई थी। उस राक्षसी ने यह भविष्यवाणी भी की थी कि यह स्वप्न चार दिन के पश्चात् सत्य हो कर रहेगा।

यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गए दिन चारी॥

शास्त्रों में दुःस्वप्नों की शान्ति के लिए उपायों का विधान है, गोस्वामीजी ने इस विषय में कुछ शान्ति-कर्मों का उल्लेख किया है जो सभी विफल सिद्ध हुए। मैंने 'ड्रीम्ज़ : मेन्ली फ्रॉम इण्डियन पॉइण्ट ऑव व्यू'[1] नामक लेख में स्वप्न के छः कारणों और शान्ति-कार्यों पर प्रकाश डाला है, अतएव यहाँ अधिक चर्चा अनावश्यक है। उक्त तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त चतुर्थ अर्थात् तुरीयावस्था का भी नामोल्लेख हुआ है (रा० ७, २००)।

समय का अनुभव — पूर्व रूप—गोस्वामीजी काल को अनुभव-पूर्व मानते हैं, (दो० १७७)। ईश्वर काल से परे है, काल भगवान् से उत्पन्न होता है और भगवान् में ही समा जाता है। रामजी 'काल करम सुभाउ गुन भच्छक' (रा० ७, ५७, ४) हैं। उनका धनुष काल है; तथा लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग और कल्प उनके बाण हैं (रा० ६, १, दो० १३०)। साठ लव का एक निमेष, साठ निमेष का एक परमाणु, साठ परमाणु का एक पल, साठ पल की एक घड़ी, साठ घड़ी का एक दिन, तीस दिन का एक मास, बारह मास का एक वर्ष, बारह सहस्र वर्ष की एक चतुर्युगी—अर्थात् ४८०० वर्ष का कृत, ३६०० का त्रेता, २४०० का द्वापर, १२०० का कलियुग होता है। ये सब दिव्य वर्ष हैं। मनुष्यों के ३६० वर्ष देवताओं के एक वर्ष के समान हैं। इस प्रकार दिव्य चतुर्युगी को महायुग कहते हैं जिसे मन्वन्तर भी कहते हैं। २००० मन्वन्तर अर्थात् आठ अरब चौंसठ करोड़ मानव वर्षों का एक कल्प होता है जो ब्रह्मा का अहोरात्र है। ब्रह्माजी के सौ वर्षों का महाकल्प होता है। समय की यह कल्पना अनुभव-पूर्व है।

समय और अनुभव—किन्तु गोस्वामी जी जानते हैं कि समय सापेक्ष भी है। काक ने गरुड़ से बतलाया कि किस प्रकार दो घड़ी में सौ कल्प बीते और कल्पनातीत दूरी पार की गयी। उनका अनुभव था : राम के उदर में करोड़ों ब्रह्माण्ड, विचित्र लोग, करोड़ों ब्रह्मा और शिव, अगणित तारा-गण तथा सूर्य और चन्द्रमा, अगणित लोक-पाल एवं यम और काल, अगणित विशाल पर्वत और भूमियाँ, असंख्य समुद्र, नदी, तालाब, वन, देवता, मुनि, सिद्ध, नाग, मनुष्य और किन्नर देखे गये जो पहले कभी न देखे थे, न सुने थे और जो मन की कल्पना में नहीं समा सकते थे। वे एक-एक ब्रह्माण्ड

---

१. इंडियन फ़िल सिफ़िकल कॉंग्रेस, १९३९ ई०।

में एक-एक सौ वर्ष रहे और इस प्रकार अनेक ब्रह्माण्डों में घूमत फिरे। प्रत्येक लोक में भिन्न-भिन्न ब्रह्मा, भिन्न-भिन्न विष्णु, भिन्न-भिन्न शिव एवं भिन्न-भिन्न मनु, दिक्पाल, मनुष्य-गंधर्व, भूत-बेताल, किन्नर-राक्षस, पशु-पक्षी आदि थे। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में उन्होंने अपना रूप देखा, अनेक अनुपम वस्तुएँ देखीं ; प्रत्येक भुवन में न्यारी अवधपुरी, भिन्न सरयू और भिन्न प्रकार के नर-नारी, यहाँ तक दशरथ जी, कौसल्या जी और भरत आदि भाई भी भिन्न-भिन्न रूपों के थे; वहाँ उन्होंने रामावतार और उनकी बाल लीलाएँ भी देखीं, किन्तु भगवान् रामचन्द्र दूसरी प्रकार के न थे। इस प्रकार अनेक ब्रह्माण्डों में घूमते-घूमते मानों सौ कल्प बीत गये, किन्तु इस सब अनुभव में केवल अड़तालीस मिनट ही लगे थे (रा० ७, ११८, १२४)। जाग्रत और स्वप्न के ज्ञान में तारतम्य है। स्वप्नावस्था में तो समय बड़ा लचकीला हो जाता है। 'योग वाशिष्ठ' में लिखा है कि मनुजी का जीवन-काल ब्रह्माजी का क्षण-मात्र है और ब्रह्मा जी का जीवन-काल विष्णुजी का एक दिवस है, तथा विष्णुजी का सम्पूर्ण-युग भगवान् शिव का केवल एक दिन है।[1]

वंशानुक्रम और परिस्थिति—तुलसीदास निश्चय ही वंशानुक्रम में विश्वास करते हैं। उन्होंने लगभग अपने सभी ग्रन्थों में वर्णाश्रम सिद्धान्त को माना है। पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद (१०, ९०, १२), यजुर्वेद (३१, ११) और भगवद्गीता (४, १३) वर्णव्यवस्था को जन्म से मानते हैं, जैसा कि 'अजायत' और 'सृष्टम्' इन दो शब्दों से विदित होता है। अतएव तुलसीदासजी के अनुसार गुणशील-हीन किन्तु जन्म-जात विप्र गुण-ज्ञान-प्रवीण-शूद्र से अधिक श्रेष्ठ है :

पूजिअ विप्र सील गुन हीना। शूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना। रा० ३, ४२, १

तथापि वे यह मानते प्रतीत होते हैं कि कतिपय अर्जित गुणों का वंशानुक्रमण नहीं होता। अतएव यह आवश्यक नहीं कि भले का पुत्र भला ही हो, क्योंकि यह संभव है कि भले का पुत्र बुरा, दानी का कृपण और धर्मात्मा का पापी हो, जिस प्रकार अग्नि का धूम :

होइ भले के अनभलो, होइ दानि के सूम
होइ कपूत सपूत के, ज्यों पावक में धूम॥ दो० ३६८

गोस्वामीजी वातावरण की भी महिमा जानते हैं, जिसके कारण मनुष्य भला-बुरा अथवा बड़ा-छोटा बन जाता है :

तुलसी भलो सुसंग ते, पोच कुसंगति होइ॥ दो० ३५८
गुरु संगति गुरु होइ सो, लघु संगति लघु नाम॥ दो० ३५९
तुलसी गुरु लघुता लहत, लघु संगति परिनाम॥ दो० ३६०
बसि कुसंग चह सुजनता, ताकी आस निरास॥ दो० ३६२

मूल प्रवृत्तियाँ—तुलसीदासजी ने कुछ मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जो सभी मनुष्यों में जन्मजात हैं। वे हैं काम, क्रोध, अभिमान, लोभ, निद्रा, भय, क्षुधा और पिपासा (वि० १७५, २, १८७, २, २०१, ४, २६०, २)। यह वर्णन संस्कृत के निम्नलिखित श्लोक से साम्य रखता है—

१. द योग वाशिष्ठ एण्ड इट्स फ़िलॉस्फ़ी, डॉ० भीखनलाल आत्रेय, पृ० ५४।

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।

सामाजिक मूल-प्रवृत्ति उन आकाश, स्थल और जल के प्राणियों में देखी जाती है जो साथ भोजन करते, साथ जल पीते तथा साथ ही रहते हैं :

गो खग, खे खग, वारि खग, तीनों माहिं बिसेक ।
तुलसी पीवें, फिरि चलें, रहैं फिरें संग एक ।। दो० ५३८

इन प्रवृत्तियों का घर मन है और इनके कारण ज्ञान-विज्ञान की गुंजाइश कम है। अनेक कामनाएं और वासनाएँ भी हृदय-निकेतन में निवास करती हैं (वि० २०६, २)। इन प्रवृत्तियों एवं संवेगों से कोई व्यक्ति मुक्त नहीं। मद-मार-विकार-युक्त मनुष्य आचार-विचार को त्याग देते हैं (क० ७, ६४)। इन सब प्रवृत्तियों में काम बड़ा प्रबल है, क्योंकि इसने सब देव-दानव, नागादिकों पर विजय प्राप्त कर ली है और यह श्रेष्ठातिश्रेष्ठ मुनि-यतियों के मार्ग में बाधक रूप से उपस्थित रहता है (गी० २, ४८, ५)। लोभ भी ऐसा ही बलवान् है। कौनसा ऐसा यति, मुनि, योद्धा, कवि, विद्वान् और बुद्धिमान् है जो लोभ के वशीभूत नहीं होता (दो० २६१) ? तथ्य यह है कि प्रवृत्तियाँ भोग से शान्त नहीं होतीं, प्रत्युत इस प्रकार वृद्धिगत होती हैं जिस प्रकार घृत से अग्नि (वि० १६८, ४, १६६, ४)। किन्तु वे प्रेत-पावक के समान मनुष्य को भ्रान्त कर देती हैं (वि० १६६, ५)।

एषणा-त्रय—तुलसीदासजी ने तीन एषणाओं का उल्लेख किया है जिनका उन्नयन भगवद्भक्ति में हो सकता है। काक ने तीनों एषणाओं का त्याग कर केवल एक इच्छा हृदय में रखी, वह थी श्री राम के चरण-कमलों की लालसा। आयुर्वेद के प्रख्यात प्रवर्त्तक ने तीन एषणाएँ बतायी हैं : प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा। जिनमें बल, बुद्धि, प्रयत्न और क्रियाशीलता होती है और जो ऐहिक और पारलौकिक कल्याण चाहते हैं, उनमें तीन एषणाएँ होती हैं। सूत्रस्थान (अध्याय ११) में महर्षि चरक का वचन है :

"इह खलु पुरुषेणानुपहत-सत्व-बुद्धि-पौरुष-पराक्रमेण हित मिह
चामुष्मिश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणाः
पर्येष्टव्या भवन्ति तद्यथा— प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति।"

किन्तु कुछ अन्य महानुभावों ने, जिनमें तुलसीदास जी भी हैं, एषणाओं के नाम इस प्रकार गिनाये हैं : पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा अर्थात् सन्तान, धन और यश के लिए कामनाएँ :

सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ।।

रा० ७, १०१, ३

महर्षि चरक का वर्गीकरण अधिक अच्छा प्रतीत होता है, क्योंकि प्राणैषणा में पुत्रैषणा का समावेश हो जाता है, धनैषणा और वित्तैषणा पर्याय हैं, तथा लोकैषणा का लक्ष्य इस जीवन में यश और सामाजिक प्रतिष्ठा तथा परलोक में कल्याण की प्राप्ति है। एषणा का त्रिविध विभाजन ऐसा ही है जैसा कि आधुनिक मनोविज्ञान में चौदह मूल प्रवृत्तियों का त्रिविध वर्गीकरण। प्राणैषणा में भोजनान्वेषण, पलायन, युद्ध, विकर्षण, भोग, प्रजनन आदि प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है; अधिकार और दैन्य ये दोनों प्रवृत्तियाँ

प्राणैषणा और वित्तैषणा के मध्यवर्त्ती हैं। वित्तैषणा में औत्सुक्य और संचय का समावेश है। विधायकता नामक प्रवृत्ति वित्तैषणा और लोकैषणा की मध्यवर्त्तिनी है। लोकैषणा में सामाजिकता, संवेदन (अपील) और हास्य नामक प्रवृत्तियों का समावेश है।

लालसा और वासना—अथर्ववेद (१६, ७१, १) में मानव-जीवन के ये उद्देश्य बताये हैं—दीर्घ जीवन, बल, सन्तति, दुग्ध-पशु, यान-पशु, यश, सम्पत्ति और मोक्ष। यजुर्वेद (३६, २४) के अनुसार हिन्दु की नित्य प्रार्थना है कि मैं सौ वर्ष तक अदीन होकर देखूं, सुनूं, और बोलूं : 'पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम् शरदः शतम्।' अथर्ववेद का पाठक देवता, मनुष्य और पशुओं का भी प्यारा बनने तथा शक्ति एवं यश की प्राप्ति का इच्छुक है (१७, १; १०, ३, १७-२५), वह मेधा और धी भी चाहता है (यजु० ३६, ३; ३, ३५)। अन्त में आनन्दाश्रम मुक्ति के लिये अभिलाषा प्रकट की गयी है (यजु० ३१, १८)। ये तथा अन्य अभिलाषाएँ एषणाओं की शाखाएँ हैं, इन्हें लालसा कहते हैं। तुलसीदासजी के अनुसार, काक की लालसा राम-चरण-दर्शन की थी :

एक लालसा उर अति बाढ़ी, राम चरन बारिज जब देखौं। रा० ७, १८१, ७

एषणा शब्द संस्कृत के 'एष्' अथवा 'इष्' से व्युत्पन्न हुआ और आंग्ल भाषा के 'विश्' से साम्य रखता है। मानव स्वभाव में एषणा अव्यक्त रूप से रूढ़ है, और वह पदार्थ-विशेष के निमित्त लालसा के रूप से व्यक्त होती है। वासना (रा० ७, १८१, ३), मेरे मत में, 'वस्' धातु से व्युत्पन्न है, और यह वह संकल्प है जो अचेतन में चिरकाल से अपूरित बना रहता है।

संवेग—एषण-त्रय के अनुरूप, संवेग-त्रय है। राम ने लक्ष्मण से कहा था कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीन शत्रु—बुद्धिमानों के मन को क्षणमात्र में विचलित कर देते हैं। काम का शस्त्र नारी है, क्रोध का कटु-वाणी, और लोभ का आवश्यकता एवं अहंकारिता—

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥ रा० ३, ४८
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥ रा० ३, ४९

ये तीन प्रधान संवेग अन्य कुत्सित संवेगों को जन्म देते हैं, जिनकी संख्या छः तक पहुँच जाती है। परम्परागत और आलंकारिक भाषा में इन्हें षड्-रिपु कहा गया है। वे हैं : काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। 'विनयपत्रिका' (१२५, ४) में तम, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध, बोध-रिपु, मार आदि को तस्कर बताया गया है। काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रबल खल हैं जिनमें से पहला अर्थात् काम सकलंक है, दूसरा अर्थात् अकारण क्रोध अकुशल एवं अरक्षित है, और तीसरा अर्थात् लोभ अकीर्त्त है (रा० १, २६६, १-२)। ये तीनों ही माया-संभव हैं (रा० ३, ५५, १, ७, ६४)।

माया का परिवार बड़ा है। उसमें संवेग और प्रवृत्तियों का निवास है। कौन सा ऐसा सन्त है जिसे मोह ने अन्धा न किया, जिसे काम ने नहीं नचाया, जिसे तृष्णा ने मतवाला नहीं बनाया और जिसका हृदय क्रोध ने नहीं जलाया हो? ऐसा कौन-सा

ज्ञानी, तपस्वी, शूर, कवि, विद्वान् और गुणी है जिसकी विडम्बना लोभ ने न की हो। लक्ष्मी के मद ने किसको कुटिल नहीं बना दिया और प्रभुता ने किसको बहरा नहीं कर दिया ? ऐसा कौन है जो मृगनयनी के नेत्र-बाण से विद्ध न हुआ हो, जिसे त्रिगुणों का सन्निपात न हुआ हो, जिसे मद और मान ने अछूता छोड़ा हो, जिसे यौवन के ज्वर ने आपे से बाहर न किया हो, जिसके यश का नाश ममता ने न किया हो, जिसे मत्सर ने कलंक न लगाया हो, जिसे शोक-पवन ने विचलित न कर दिया हो और जिसे चिन्ता-सर्पिणी ने न डसा हो (रा० ७, ६६, ४-१०१, २)।

चिन्ता की एक भगिनी है, जिसका नाम आशा देवी है। वह बड़ी विचित्र है क्योंकि जो उसकी सेवा करता है उसे तो शोक और सन्ताप प्राप्त होता है, और जो उससे बचता है उसे सुख (दो० २५८)। आशा से आवश्यकताओं की उत्पत्ति होती है। ऐसा कौन धीर पुरुष है जिसके शरीर-रूपी काष्ठ में मनोरथ रूपी घुन न लगा हो, जिसे पुत्र, धन और लोक-प्रतिष्ठा की प्रबल इच्छाओं ने मलीन न कर दिया हो ? माया का यह परिवार महाबली और अपार है (रा० ७, १०१, ३-४)।

माया की सेना विशाल और विश्व-व्याप्त है। इसके सेनापति काम, क्रोध और लोभ हैं, तथा दम्भ, कपट, और पाषण्ड योद्धा हैं (रा० ७, १०२, दो० २६३)। तुलसीदासजी का यह अभिप्राय है कि माया महासेनापति है, जिसके नीचे काम, क्रोध, कपट, पाषण्ड नामक प्रमुख योद्धा हैं, प्रवृत्तियाँ और संवेग सिपाही हैं। मेरी कल्पना से एषण-त्रय परामर्शदाता हैं।

यद्यपि माया समस्त संवेगों और प्रवृत्तियों का स्रोत है, तथापि तुलसीदासजी उसका तादात्म्य मोह से कर देते हैं जो काम-लोभ के बन्धुत्व से माया के अधीन है। माया-रूपी मोह की एक प्रबल धारा है जो काम, क्रोध, लोभ और मद से संकुल है (रा० ३, ५६, दो० २६६)। मोह की उपमा विपिन-से और नारी की ऋतुओं से दी गयी है (रा० ३, ५५, १-३)। मोह के कारण मनुष्य सन्मार्ग से विचलित हो स्वार्थी बन जाता, और अनेक पापापराध करके परलोक को नष्ट कर लेता है (रा० ७, ६३, २)। मोह उस हृदय में उत्पन्न होता है जो ज्ञान और वैराग्य से हीन है (रा० १, १५६, १)। 'लोभ' कदाचित् आँग्ल भाषा के 'लव' शब्द को व्युत्पन्न करता, और अपने व्यापक रूप में प्रेम और परहित को भी समाविष्ट कर लेता है। लाभ से लोभ की वृद्धि होती, (रा० १, २१०, १) और प्रभुता से मद की उत्पत्ति होती है : प्रभुता पाकर किस को मद नहीं होता (रा० १, ८३, ४) ? मत्सर का निवास हृदय में तब तक रहता है जब तक धनुर्धारी राम का प्रवेश नहीं होता (रा० ५, ४७, १)। सज्जन कभी परद्रोह नहीं करते (रा० ७, ३४, १)। राग-द्वेष नाम के दो उलूक ममता-रात्रि में रामभक्ति-सूर्योदय तक उड़ते-डोलते हैं (रा० ५, ४७, २)। मान, अभिमान अथवा गर्व दुष्ट-समुदाय का सदस्य है जो हृदय को कलुषित करता, और मोह की वृद्धि करता रहता है (रा० १, १५६, १-२)। मिथ्या-भाषण और कपट का वही प्रभाव प्रेम पर पड़ता है जो अम्ल का दुग्ध पर। संशय और शोक अज्ञान उत्पन्न करते हैं (रा० ७, ५२, ४)। स्वार्थ से मोह, और मोह से पाप (रा० ७, ६३, २) होता है। स्वार्थी मनुष्य लंपट, कामी, क्रोधी, और लोभी होते और पारिवारिक कलह को

जन्म देते हैं; वे माता-पिता, गुरु और विप्र की बात नहीं सुनते अतएव स्वयं नष्ट होते और दूसरे का नाश करते हैं (रा० ७, ६२, २-३)। यह संसार स्वार्थी मित्रों से परिपूर्ण है, माता-पिता तक स्वार्थ-रत होते हैं (रा० ७, ६६, २)। स्वार्थ सम्पूर्ण अवगुणों का मूल हैं।

स्थायी भाव—तुलसीदास ने नव-रस का उल्लेख किया है (वि० १६६-१)। परम्परा से नव-रस माने गये हैं, वे ये हैं:—शृंगार, करुण, शान्त, हास्य, वीर, भयानक, बीभत्स, रौद्र और अद्भुत। कुछ लोगों ने भक्ति और वात्सल्य को भी माना है, यद्यपि साधारणतः उनका समावेश शृगार में किया जा सकता है। गोस्वामीजी ने प्रीति, वात्सल्य और परहित का विशेष उल्लेख किया है। दान का प्रारम्भ घर से होता है, अतएव माता के वात्सल्य का ही परहित अथवा प्रेममात्र में परिपाक हो जाता हैं। कौशल्या तथा अन्य माताओं ने राम के वन से लौटने पर ऐसा प्रेम प्रकट किया, जैसा गायें अपने नवजात बछड़ों के लिये (रा० ७, १४, ५)। वात्सल्य से वशीभूत हो, वे यह नहीं समझ पाती थीं कि मेरे पुत्रों ने दानव-दल का संहार किस प्रकार किया होगा (रा० ७, १६, ४)। वात्सल्य और सन्तति-कामना से प्रेरित हो मनु और शतरूपा ने यह वरदान माँगा था कि कि भगवान् हमारे पुत्र-रूप से उत्पन्न हों (रा० १, १७७)। यह है वात्सल्य की महिमा। वात्सल्य का उन्नत रूप परहित है, जो अनुपम पुण्य है (रा० ७, ६३, १), जिसमें यह भावना विद्यमान है उसे इस संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं है, उसकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं और वह देह-त्याग के पश्चात् स्वर्ग में निवास करता है (रा० ३, ३६, ५)।

प्रेम रस—प्रेम और शृंगार का ऐसा ही निकट सम्बन्ध है जैसा राम और भरत का (रा० ७, १३, छं० १), किन्तु यह भी ठीक है कि कभी-कभी बिना भय के प्रीति नहीं होती (रा० ५, ६०), यद्यपि मेरे विचार से, यह बात शुद्ध प्रेम में लागू नहीं है, क्योंकि किसी भी सांसारिक चिन्ता और विचार से शुद्ध प्रेम प्रेरित नहीं होता, यथा: जब राम ने वानरों पर परम प्रीति प्रदर्शित की तो वे यह भूल गये थे कि हम कौन हैं, कहाँ थे और कहाँ से आये हैं (रा० ७, ३५, १)? उन्हें अपने घर नितान्त विस्मृत हो गये थे, यहाँ तक कि स्वप्न में भी उनका स्मरण न होता था, क्योंकि भगवच्चरण में उनका प्रेम ऐसा ही था (रा० ७, ३४, १)। भय, संकोच, और प्रेम के भाव एकत्र हो सकते हैं, इसका अनुभव सती को तब हुआ था जब वह राम की परीक्षा लेकर पितृ-गृह के लिये प्रस्थान करने वाली थी (रा० १, ८४, ४)। प्रेम और प्रतीति भी साथ रहते हैं। गठबन्धन (अर्थात् विवाह) की अपेक्षा विश्वास अधिक श्रेष्ठ है और वह इस प्रकार बढ़ता है जैसे भूमि में अनाज (दो० ४५३)। स्त्रियाँ तो अपने घर की भित्ति पर ऐंपन से अपने हाथ का थापा रख लेतीं और उसकी पूजा करती हैं, जिससे उनकी सारी मनःकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, यह प्रेम और प्रतीति का फल है (दो० ४५४)। प्रेम सब प्रकार के विचार और हेतुओं से विमुक्त रहता है क्योंकि वह शुद्ध है और स्वयं साध्य है। शुद्ध प्रेम या तो अनन्य होता है या सान्य। अनन्य प्रेम सांसारिकता से रहित और केवल एक-विषय-परक होता है। पुनश्च वह या तो एकांगी होता है या पारस्परिक। तुलसीदासजी ने अनन्य एवं एकांगी प्रेम के लिये चातक, सर्प, मत्स्य और कमल के उदाहरण दिये हैं। चातक स्वाति-जल के अतिरिक्त

और किसी जल को स्वीकार नहीं करता, सर्प सपेरे की बीन को आत्मसमर्पण कर मणि-रहित हो जाता है, मछली मर जाती है परन्तु पानी का संग नहीं छोड़ती, हरिण व्याध के वाद्य को अपना शरीर भेंट कर देता है, (दो० ३०८-३१२,३१७-३२०, रा० २, २०५, २, ३२५)। इन प्राणियों के लिये प्रेम साधन नहीं साध्य है, किन्तु कामी के लिये नारी साधन-मात्र है। ऐसी गर्हित दृष्टि का अन्त तलाक या अन्य किसी प्रकार के वियोग में होता है। प्रेमियों का आदर्श-मिलन तन्मयता है जैसे दूध और जल की (रा० १, ८१)। हितकारी वचन वैर का उन्मूलन करता, और परहित प्रेम की जड़ जमा देता है (दो० ४३४)।

काम—तुलसीदासजी ने, आधुनिक मनोविश्लेषण के जन्मदाता सिगमण्ड फ्रॉयड की अपेक्षा, काम अर्थात् यौन-प्रवृत्ति पर कुछ कम ध्यान नहीं दिया। 'काम' शब्द में सब प्रकार की कामनाएँ निहित हैं। ऋग्वेद में लिखा है :

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।। १०,१२६,४

अर्थात् प्रारम्भ में काम उत्पन्न हुआ जो मन का प्रथम बीज था। उपनिषदों में भी काम शब्द इच्छा के अर्थ में प्रयुक्त है, यथा आत्रेय (३, ५, २)। काम का यह रूप अयौन था। छन्दोग्य का वचन है :

सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय ६, २, ४

यहाँ काम का रूप यौन और अयौन के मध्यस्थ है। परमात्मा को अकेलापन अखरा अतएव उन्होंने दूसरे की इच्छा की। वे नारी बन गये और उन्होंने पति-पत्नी का रूप ग्रहण किया। उससे मानवों की सृष्टि हुई (बृहदारण्यक १, ४, १-३)। काम का यह रूप यौन है। मूर्त्त रूप में काम कामदेव हो गये। चार पदार्थों में काम का स्थान है और उस पर अनेक ग्रन्थ हैं जैसे : 'रति रहस्य', 'रति मंजरी', 'रस मंजरी', 'अनंग रंग'। महर्षि वात्स्यायन ने काम की जो परिभाषा दी है वह आधुनिक युग के हैवलोक एलिस की से बहुत-कुछ मिलती है।

कामदेव के अधीन कौन नहीं?—कामदेव सब पर प्रभाव डालते हैं। कौन उनके अधीन नहीं हो जाता (रा० १, १५५, ४)। उन्होंने पुष्पवाटिका में, तथा सीता-हरण के पश्चात्, राम को वशीभूत किया था (रा० १, २६३, १-३, रा० ३, ४२, २)। राम और सीता को, संयोग और वियोग में, जो प्रेम की अनुभूति हुई थी तुलसीदास ने उसकी पुष्टि की है (रा० १, २६१, ४; २६६-२६६; ५, १४, १-२)। अपराधिनी कैकेयी के सम्मुख दशरथ अशक्त थे, क्योंकि कामदेव ने उन्हें जर्जर कर दिया था (रा० २, २५ छं०)। नारद जी ने एक बार भगवान् शंकर से यह आत्मश्लाघा की थी कि मैंने काम पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, किन्तु वे भी एक कन्या के फेर में पड़ गये (रा० १, १५८, ४)।

कामदेव अन्धे हैं—प्रेमी अव्यक्त रूप से, किन्तु मूर्खतावश, अपने गुणों को तथा अपनी प्रेयसी के सौन्दर्य को औचित्य से अधिक मूल्यवान् समझता है। वानर-मुख नारद जी स्वयंवर में बैठे हुए अपने को सर्वातिसुन्दर समझ रहे थे (रा० १, १५६-१६२, ३)। अतएव तुलसीदासजी मानते हैं कि प्रेम और वैर दोनों ही अन्धे हैं :

तुलसी बैर सनेह दोउ, रहित विलोचन चारि ।। दो० २२६

गोस्वामीजी से यवीयान् किन्तु समकालीन, इंगलैण्ड के महाकवि शेक्सपीयर की भी उक्ति ऐसी ही है :

लव लुक्स नॉट् विद् दि आइज़, बट् विद् द माइंड्,
एण्ड देअरफ़ॉर इज विंग्ड क्यूपिड पेंटेड् ब्लाइंड ।

विवेक-हर काम—विषय-जन्य सुख विवेक को हर लेते हैं। इस सम्बन्ध में सुग्रीव ने हनुमान् जी से (रा० ४, २१, २) और लक्ष्मण जी से भी स्वीकार किया है कि विषय के समान कोई मद नहीं है, क्योंकि यह क्षण-मात्र में मुनियों के मन में भी मोह उत्पन्न कर देता है (रा० ४, २२, ४)। तदनन्तर वे राम जी से कहते हैं कि देवता, मनुष्य और मुनि सभी व्यक्ति विषयों के वश हैं; मैं तो पामर पशु और पशुओं में भी अति कामी बन्दर हूँ। वास्तव में वही जागता है जिसे स्त्री का नयन-बाण नहीं लगता (रा० ४, २३, २)। जो जीवों के द्रोह में रत, मोह के वश, राम से विमुख और काम में आसक्त है, क्या उसे स्वप्न में भी सम्पत्ति और शान्ति प्राप्त हो सकती है (रा० ६, १०१)? ज्ञान-निधान मुनि भी मृगनयनी के विधु-मुख को देखकर विवश हो जाते हैं (रा० ७, १९५)। जो पुरुष नारी का त्याग कर सकते हैं वे विरक्त और मतिधीर होते हैं, विषयासक्त कामी पुरुष ऐसा नहीं कर सकते (रा० ७, १९४)।

काम का प्रतिकार—कामी के शब्दों से सन्नारी ऐसी अविचलित रहती है जैसे शंकर जी का धनुष (रा० १, २८३, १)। मोह का उतार है : ज्ञान और अनासक्ति का अर्जन। विष्णु जी ने नारद जी से कहा था कि ज्ञान और विराग से हीन हृदय में मोह व्याप्त होता है। मतिधीर एवं ब्रह्मचर्यव्रत-निरत पुरुषों को काम क्या कष्ट दे सकता है (रा० १, १५६, १)? निस्सन्देह, संन्यासी का अपरिहार्य लक्षण विराग है (रा० १, २८३, २)। पार्वती जी ने शंकर जी की प्राप्ति के निमित्त सहस्रों वर्ष तक निराहार घोर तपस्या की, तथापि उनका प्रेम वासना-हीन था। जब समझाने के लिये सप्तर्षि उनके पास पहुँचे और बोले कि शंकर जी ने कामदेव को भस्म कर दिया है अतएव आपकी तपस्या व्यर्थ है, तो वे ऋषियों से बोलीं : आपके इस कथन से कि महादेव जी ने कामदेव को भस्मसात् कर दिया है यह प्रतीत होता है कि वे परिवर्त्तनशील हैं, किन्तु मैं तो उन्हें सदा से जानती हूँ, वे निर्विकार योगी हैं। मैंने मनसा, वाचा और कर्मणा उनकी सेवा की है; वे कृपालु हैं अतएव मेरे प्रण को अवश्य पूरा करेंगे। आपका यह कथन कि उन्होंने कामदेव को नष्ट कर दिया है आपकी विवेकशून्यता को व्यक्त करता है। अग्नि का स्वभाव परिवर्तित नहीं होता, हिम उसके निकट नहीं रह सकता, यदि निकट आयगा तो नष्ट हो जायगा, इसी प्रकार महादेव जी के समक्ष काम भी (रा० १, ११३, १-४)। भगवती पार्वती का प्रेम, अपने पति के प्रति सत्य था, और उन्हें अपने प्रेम पर विश्वास भी। राम के प्रति सीता जी की भी यही भावना थी, उन्हें विश्वास था कि—

जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ।।
रा० १, २९१, ३

राम को प्रेम प्यारा है—उन्नत प्रेम के रूप का दर्शन भगवान् के सान्निध्य में

होता है। चित्रकूट में रामचन्द्र जी के आश्रम के निकट हाथी, सिंह, बन्दर, सूकर एवं हरिण वैर छोड़कर विहार; और नीलकंठ, कोकिल, शुक, चातक, चक्रवाक, चकोर आदि पक्षी कर्ण-सुखद तथा मनोरम कलरव करते थे (रा० २, १३८, १)। कोल, किरात, भील आदि वनवासी पवित्र, सुन्दर एवं अमृतोपम स्वादिष्ट मधु को तथा कन्द, मूल, फल आदि को दोनों में भरकर और उनके गुण और नाम आदि बता-बताकर अत्यन्त विनय के साथ रामचन्द्र जी को भेंट करते थे। जब रामचन्द्रजी उन्हें उसका मूल्य देते, तो वे प्रेम के कारण यह कहकर न लेते थे :

मानत साधु प्रेम पहिचानी ।। रा० २, २२५, १-३

और राम को भी तो प्रेम ही प्यारा था :

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननि हारा ।। रा० २, १३७, १

ग्रन्थि का रूप—इच्छाओं के दमन से मानसिक ग्रन्थियाँ बन जाया करती हैं। तुलसीदासजी के अनुसार, ग्रन्थियाँ जड़ और चेतन के संयोग से, अर्थात् अज्ञान और मन के कारण, पड़ जाती हैं। यद्यपि ग्रन्थि वास्तव में मिथ्या होती है तथापि उसका खोलना कठिन है और जब तक वह नहीं खुलती तब तक सुख नहीं मिलता। जब से जीव 'स्वार्थी' होने लगता है तब से यह ग्रन्थि पड़ने लगती है। इसको सुलझाने के लिये जितना प्रयत्न किया जाता है उतनी ही यह उलझती जाती है :

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई ।।

रा० ७, ११७, २-३

ग्रन्थि रोग-कारक है—ग्रन्थि के कारण शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। व्याधियों के समान आधियाँ भी कष्टप्रद होती हैं। इन्हें गोस्वामीजी ने मन सम्भव-दोष बताया है (रा० ६, १३७, छं० ३)। आयुर्वेद से अनभिज्ञ रोगी अपने वैद्य से कुपथ्य माँगा करता है, इसी प्रकार आधियों से पीड़ित मनुष्य अपने रोग के निदान से अनभिज्ञ होने के कारण काम-क्रोध-रत रहता है। यह तो विशेषज्ञ ही कह सकता है कि अमुक रोग का क्या कारण है और उसकी शान्ति का क्या उपाय है? भगवान् विष्णु ने नारद जी की अहमिति-ग्रन्थि (सुपीरियोरिटी काम्पलैक्स) को दूर किया था, (रा० १, १५४, ३-४, १५५; १६०, १) क्योंकि नारद जी को यह घमण्ड था कि मैंने काम पर पूर्ण विजय प्राप्त की है, किन्तु इस संसार में ऐसा कौन है जिसे मोह ने अन्धा न किया अथवा काम ने नहीं नचाया (रा० ७, ६६, ४)।

कारण का विश्लेषण—काक गरुड़ से कहते हैं : सब आधियों का मूल मोह अर्थात् अज्ञान है। आधियों से बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं। काम वात है, लोभ कफ है और क्रोध पित्त है। इन तीनों के मिल जाने से सन्निपात हो जाता है। वैषयिक मनोरथों से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली, हर्ष-विषाद गठिया, और पर-सुख-द्रोह क्षय है। कुटिलता कोढ़ है, अहंकार डमरू, तथा दम्भ, कपट, मद और मान नेहरुआ हैं। तृष्णा जलोदर, एषणाएँ तिजारी, मत्सर और अविवेक ज्वर हैं। इनमें से, एक ही रोग से मनुष्य मर जाते हैं। तुलसी के वचन हैं :

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जो तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
अहंकार अति सुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ॥
तृस्ना उदर बृद्धि अति भारी। त्रिविधि ईषना तरुन तिजारी॥
जुग विधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥
एक व्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥

रा० ७, २०७, १५-२०८

असावधान सन्त की व्याधियाँ—इस प्रकार जगत् में समस्त जीव रोगी हैं क्योंकि वे हर्ष-शोक, प्रीति-भय आदि से समन्वित हैं। रोग-निवारण के लिये अनेक उपाय हैं, यथा: नियम, धर्म आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान और औषधियाँ भी, किन्तु अनेक उपचारों के रहते हुए भी व्याधि कम नहीं होती (रा० ७, २०६), क्योंकि केवल कतिपय लोग इन रोगों को जानते हैं (रा० ७, २०६, १)। विषय-रूप कुपथ्य को पाकर मुनियों के हृदय में भी ये रोग अंकुरित हो उठते हैं, वराक साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या?

रेचन—आधुनिक मनोविज्ञानों का विश्वास है कि इच्छाओं और मूल प्रवृत्तियों का प्रकाशन, दमन अथवा रूपान्तरीकरण होता है। स्मृतियों के पाठकों को विदित है कि ब्रह्मचर्य के पालन पर कितना आग्रह किया गया है। सन्तों के द्वारा कामिनी-कांचन-त्याग का परामर्श कदाचित् कुछ लोगों को अखरता भी है। प्राचीन ऋषियों ने संवेगों के नियमित अभिव्यंजन का महत्त्व समझा, अतएव उन्होंने होली पर आचार-शिथिलता और गोवर्द्धन पर द्यूत-क्रीडा के लिये किंचित् स्वातन्त्र्य दे दिया है। विदेशों में भी मे-डे तथा एप्रिल-फ़ूल मनाये जाते हैं। विवाहों के अवसर पर स्त्रियाँ शृंगारिक एवं अश्लील गीत गाती हैं। पार्वती-परमेश्वर एव सीता-राम के विवाह के दोनों अवसरों पर तुलसीदासजी स्त्रियों से गालियाँ गवाना नहीं भूले (रा० १, १२३, १; ३६१, १-४; पा० मं० १५०, जा० मं० १६७, १७६, रा० न० ८, ११, १८)। इस प्रकार के गीत तुलसीदासजी के समय में गाये जाते थे, और इनका प्रचार आज भी व्रज और व्रजावधी प्रान्त में है। तुलसीदासजी को ऐसे गीत सुनने में कदाचित् आनन्द आता होगा क्योंकि वे विनोदी थे। उनकी वर्णन-शैली से यह प्रतीत होता है कि वे इस प्रथा को बुरा नहीं समझते थे, यद्यपि वे गालियों के दोषों से भी अनभिज्ञ न थे। उन्होंने कहा है कि ब्रह्मा जी ने गाली को अमृत और विष के निचोड़ से रचा है, इसलिये गाली प्रेम और वैर दोनों की ही जननी है, इस रहस्य को बुद्धिमान् समझते हैं, ग्रामीण नहीं:

अमिअ गारि गारेउ गरल गारि कीन्ह करतार।
प्रेम बैर की जननि जुग जानहि बुध न गँवार ॥ दो० ३२८

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भी अश्लील शब्द यदा-कदा रेचक अतएव हित-कारी सिद्ध होता है।

उचित उपचार—यदि उचित उपाय का अवलेम्बन किया जाय, तो मानसिक रोग अर्थात् व्याधि का उन्मूलन हो सकता है। उपचार द्विविध है : नकारात्मक और भावात्मक। नवरस-विरति, विषय-कुपथ्य त्याग और पर-द्रोह-त्याग नकारात्मक हैं (रा० २, ३२७), ये संयम हैं। इनके अतिरिक्त व्याधि-मुक्ति के निमित्त, रोगी को आवश्यकता है सद्गुरु-रूपी वैद्य के वचनों में विश्वास की, भक्ति-रूपी संजीवनी जड़ी की, और श्रद्धा समन्वित बुद्धि-रूपी अनुपान की (रा० ७, २०६, ३-४)। सत्संग से रोगी का मनोविनोद होता है।

मनोविश्लेषक तुलसी—तुलसीदासजी रोग के निदान और उपचार का उल्लेख करते समय, आधुनिक मनोविश्लेषक-से प्रतीत होते हैं। आधि-व्याधि की शान्ति तन्निदान-ज्ञान से हो सकती है। गोस्वामीजी का वचन है :

जाने ते छीजहिं कछु पापी ॥ रा० ७, २०६, २

सांसारिक कष्ट और दम्भ के विनाश के लिए, वे समता का उपदेश देते हैं। समता का लक्षण है : अत्यन्त आदर पाने पर हर्ष न होना, निरादर होने पर जल न मरना, और हानि-लाभ, सुख-दुःख, भलाई-बुराई में चित्त को सम रखना (वि० २६८, ३; १२६, ३)। अनुकूल साधन, अनुकूल समय, और अभीष्ट सिद्धि की प्राप्ति पर, तीनों कालों में, एक-रसता का नाम समता है (दो० ५३६), जिसकी प्राप्ति विनय, विरति और विवेक के द्वारा होती है। सनकादि चारों ऋषियों ने भगवान् राम से समता की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की थी (रा० ७, ५७, २-३)। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गोस्वामीजी 'स्वार्थ' के स्वरूप से पूर्णतः अभिज्ञ थे, इससे न देवता, न मुनि, न मनुष्य मुक्त हैं; माता-पिता भी नहीं। यह पाप और दुराचार के लिये प्रेरणा देता है, (रा० ७, ३४, १; ६३, १-२; ६६, ३; २०७, ७)।

समता का रूप—समता परोपकार का अव्यक्त रूप है, और वह विनय, विराग तथा विवेक से पुष्ट होती है। ईसा-धर्म और इस्लाम में अपराध-पाप को मान लेने की प्रथा प्रचलित है, इससे छिपा हुआ मन का चोर प्रकट हो जाता है। धर्म-निरपेक्ष मनोविश्लेषक भी रोगी के मन को पढ़कर लगभग यही बात करता है। तन्निमित्त वह मोहिनी-शक्ति के द्वारा रोगी को निद्रावस्था में ले आता है, उसके स्वप्नों का विवेचन करता है, अथवा उन्मुक्त-सम्बन्ध (फ्री एसोसियेशन) के उपाय का अवलम्बन करता है। तुलसीदासजी ने विवेक की संस्तुति की है, जो निःस्वार्थ और नियमित जीवन से प्राप्य है। इन सब का परिणाम है परोपकार। आजकल के मनोविज्ञानियों का भी यही मत है कि स्वार्थ सब विपत्तियों का स्रोत है, उससे व्यथा और व्यथा से क्रोध उत्पन्न होता है, व्यथित मनुष्य अपने ऊपर क्रोध किया करता है। मानसोद्यान में 'स्वार्थ' अनभीष्ट घास-पात के समान है जिसका उन्मूलन ही श्रेयस्कर है, और संसार का अभिशाप वह जेल एवं पागलखानों को भरता रहता है।

रामभक्ति की रामबाणता—इतना रहा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से। गोस्वामीजी और भी गहरे जाते हैं। वे अति-मनोविज्ञान (पर-साइकोलोजी) में निमज्जन कर व्याधियों के लिये राम-बाण औषध प्रदान करते हैं। यह है भगवद्-भक्ति अथवा रामभक्ति। रामभक्ति क्या है? रामकथा-श्रवण, राम-स्तुति, तथा राम-नाम-जप। जिसके पास ऐसी भक्ति-मणि है उसको आधि-व्याधियाँ नहीं सतातीं, वह स्वप्न तक में इन से तनिक भी आक्रान्त नहीं होता (रा० ७, २०५, ४-५)। राम-भक्ति संजीवनमूल है, (रा० ७, २०९, ४) क्योंकि राम के प्रसाद से क्रोध, काम, लोभ, मद, मोह सब छिन्न-भिन्न हो जाते हैं (रा० ३, ४९, २)।

मानसिक स्वास्थ्य का निकष—यह है जीवन का लक्ष्य और साधन, किन्तु इसकी क्या कसौटी है कि उक्त योग (नुस्खे) से मन स्वस्थ हो रहा है? तुलसीदासजी का उत्तर है कि मन को नीरोग तब समझना चाहिये जब हृदय में वैराग्य रूपी बल आए, सुबुद्धि-रूपी क्षुधा नित्य-प्रति बढ़े, विषय और आशा रूपी दुर्बलता घट जाए, तथा च रोगी विमल-ज्ञान-रूपी जल में स्नान कर ले और उसका हृदय रामभक्ति से ओतप्रोत हो जाय।

आत्म-साक्षात्कार का मित मूल्य—आत्मज्ञान से परमार्थ की प्राप्ति होती है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृहदा० २, ४, ५) तथा 'नायमात्मा बल-हीनेन लभ्यः' (मुण्डक० ३, २, ४) आदि औपनिषद् वाक्य आत्मज्ञान पर आग्रह करते हैं। मानसिक चिकित्सा के निमित्त श्री सी० जी० युङ् आत्म-ज्ञान की प्रशंसा करते हैं। मनुष्य अपने विषय में जितना सज्ञान होता जाता है उतना ही विशाल-हृदय और उदार-चेता भी। तुलसीदासजी भी इस बात को भली-भाँति जानते हैं और उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा भी है कि ज्ञान से आधियों का शमन हो जाता है किन्तु पूर्णतः उन्मूलन नहीं :

जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥

रा० ७, २०९, २

तुलसीदास के दो योग—गोस्वामी जी ने दो नुस्खे लिखे हैं जिनमें एक मनो-विश्लेषणात्मक है, दूसरा अति-मनोवैज्ञानिक। पहला तो कदाचित् विफल भी हो जाय, किन्तु दूसरा नितान्त अचूक है। अभी निवेदन किया जा चुका है कि मनोविश्लेषणा-त्मक योग समता का है, जिसमें तीन 'वि' तत्त्व हैं अर्थात् विनय, विवेक और विराग। इन तीनों में से पहला तो इन्द्रियों को नियमित, मन को संयमित, तथा दूसरे के लिये मार्ग प्रस्तुत करता है; दूसरा ज्ञान-द्वारा भले-बुरे की पहचान और संसार का वास्त-विक स्वरूप उपस्थित कर तीसरे के मार्ग को प्रशस्त करता है; और तीसरा इच्छा तथा स्वार्थ का नाश करता है। इन तीनों का संयुक्त परिपाक ही समता है, जो परो-पकार अथवा लोक-संग्रह के, और अन्ततः सुख अथवा आनन्द, के रूप में आविर्भूत होती है।

निष्कर्ष—निष्कर्षतः तुलसीदास के अनुसार, ज्ञान अथवा विवेक तो केवल एक तत्त्व है। उन्होंने तो 'समता' की संस्तुति की है जिसमें विनय, विवेक और विराग तीन तत्त्व होते हैं। हैड फील्ड ने पूर्ण आत्मानुभव (कम्प्लीट सैल्फ़ रिअलाइज़ेशन) की

कल्पना की है, जो तुलसीदासजी के निकट है। किन्तु तुलसीदासजी जानते हैं कि ये त्रिविध 'वि' कुछ दशाओं में कदाचित् विफल हो जायँ, अतएव उनका अन्तिम नुस्खा राम-भक्ति है, क्योंकि जैसा कि कार्ल जैस्पर्स ने पीछे बताया, 'असीम' पर निर्भरता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'अनन्त से मिल कर आत्मा स्वयं अपने को असीम और स्वतन्त्र अनुभव करने लगता है'।[1]

---

१. 'विद ए हौल्ड टु दि इनफ़िट द माइंड फ़ील्ज़ इटसैल्फ़ एज़ इन्फ़िनिट एण्ड फ़्री—' एनसाइक्लोपीडिया ऑव साइकोलौजी, फ़िलिप लोरेंस हैरिमन, पृष्ठ ८१७।

आचार-शास्त्र

(क) प्रारम्भिक वक्तव्य

इस अध्याय में आचार-शास्त्र के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास के विचारों को चार विभागों में उपस्थित किया जायगा। प्रथम तो यह विचारणीय है कि क्या व्यक्ति कार्य करने में स्वतन्त्र है और जो कुछ वह करता है उसके लिये वह कहाँ तक उत्तरदायी है? हम को उत्तर मिलेगा कि गोस्वामी जी के अनुसार ईश्वरेच्छा बलवती है और व्यक्ति व्यवहार में स्वतन्त्र माना जा सकता है। द्वितीयतः यह विचार करना है कि भले-बुरे का स्वरूप क्या है? गम्भीर विचार के पश्चात् यह विदित होगा कि उन्होंने भले-बुरे की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से की है—प्रतिभौतिक और आचारिक। प्रतिभौतिक स्तर से इस सन्त के अनुसार सत्य ही श्रेय है और असत्य अहित है। आचारिक स्तर से धर्म अपने निषेधात्मक रूप में अहिंसा और भावात्मक रूप में परोपकार है, तथा अधर्म अपने सूक्ष्म रूप में स्वार्थ और स्थूल रूप में परपीडन है। तृतीयतः यह जानना है कि समाज-रचना कैसी है और व्यक्ति का उसमें क्या स्थान है? इस सम्बन्ध में उनके वर्णाश्रम-सम्बन्धी विचारों का विवेचन अभीष्ट है कि धर्मच्युति की दशा में नाम-जपादि का क्या प्रभाव होता है? चतुर्थतः यह जिज्ञासा है कि समाज में स्त्री का क्या स्थान है? विदित होगा कि यद्यपि तुलसीदासजी ने सीता, सुमित्रा और कौशल्या के रूप में नारी का चरित्र अति श्रेष्ठ रूप में अंकित किया है तथापि उन्होंनें कारणवश नारी की निन्दा भी की है। अन्त में शिव-मार्ग का निर्देश होगा, जिसे उन्होंने उन सभी मनुष्यों के लिये प्रशस्त समझा है जो उस पर चलने के अभिलाषी हैं।

(ख) स्वतन्त्रता और नियति

क्या व्यक्ति स्वतन्त्र है?—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, मनुष्य कार्य करने में स्वतन्त्र है: स्वतन्त्रः कर्त्ता (पाणिनि १, ४, ५४)। व्यक्ति अपनी इच्छा का उपयोग जैसे चाहे वैसे करे। वह चाहे तो अपना हाथ उठा ले, चाहे तो कविता-पाठ करने लगे और चाहे तो अपनी अँगुलियों की ओर देखने लगे। तथापि यह सत्य है कि उसके सभी कार्य उसके चरित्र और स्वभाव पर निर्भर हैं। जिस प्रकार प्रत्येक पंक्ति के दो सिरे होने आवश्यक हैं, उसी प्रकार कार्य भी स्वतन्त्र और नियत होता है। किन्तु प्रतिभौतिक दृष्टिकोण से बात भिन्न है। जैन-मत में जीव को, मुक्तावस्था से पूर्व तक, कार्य करने में स्वतन्त्र माना गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का अनुयायी ईश्वर और प्रकृति के समान जीव की भी स्वतन्त्र सत्ता समझता अतएव उसे कार्य करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र मानता है। उसके मतानुसार, जीव अपनी स्वतन्त्रता के कारण भला कार्य करे या बुरा, किन्तु जो लोग जीव को ईश्वर के अधीन मानते हैं वे अन्य प्रकार से सोचते हैं। अद्वैत वेदान्ती, परमार्थ की दृष्टि से, जीव और

ईश्वर में भेद नहीं मानते; हाँ, व्यावहारिक दृष्टि से, वे जीव को कार्य करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र मान लेते हैं। किन्तु जो लोग व्यवहार और परमार्थ के भेद में तथा माया की सत्ता में विश्वास नहीं करते वे जीव को ईश्वरेच्छा के अधीन समझते हैं।

कर्म-सिद्धान्त—चार्वाक को छोड़कर, कोई भी भारतीय दर्शन ऐसा नहीं जो किसी-न-किसी रूप में कर्म-सिद्धान्त को न मानता हो। प्रत्येक अनुभव सूक्ष्म-शरीर पर अपना संस्कार छोड़ जाता है, और संस्कार की यह प्रवृत्ति है कि वह पुनः-पुनः उत्पन्न होना चाहता है, इस प्रकार मनुष्य के सूक्ष्म-शरीर में जन्म-जन्मातरों के असंख्य संस्कार विद्यमान रहते हैं। यद्यपि संस्कार क्रियाशील हैं, तथापि वे संचित होकर क्रियारहित-से विद्यमान रहते हैं, किन्तु अनुकूल अवसर के प्राप्त होते ही वे सक्रिय हो जाते हैं। कार्यारम्भ करते ही उनकी संज्ञा प्रारब्ध होती है। प्रत्येक क्रियमाण कार्य प्रारब्ध पर निर्भर रहता है।

कर्म-सिद्धान्त में ईश्वरेच्छा की पूर्वनिहितता—एक बार कर्म-सिद्धान्त में विश्वास कर लेने से ईश्वरेच्छा की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। कल्पना कीजिये कि कोई शिशु ईंटों से रेलगाड़ी खेलना चाहता है। तन्निमित्त वह सात ईंटों को एक के पीछे एक सीधी पंक्ति में खड़ी करता है। तदनन्तर वह प्रथम इष्टिका पर लघु पदाघात करता है। क्या होता है? पहली ईंट दूसरी पर, दूसरी तीसरी पर, तीसरी चौथी पर, चौथी पाँचवीं पर, पाँचवीं छठी पर, छठी सातवीं पर गिरती है, और इस प्रकार सभी ईंटें गिर पड़ती हैं। यदि प्रश्न उठे कि सातवीं ईंट क्यों गिरी तो उत्तर मिलता है, क्योंकि छठी गिरी; छठी क्यों गिरी? क्योंकि पाँचवीं गिरी इत्यादि। मोटी दृष्टि से सातवीं, छठी, पाँचवीं, चौथी, तीसरी, दूसरी के गिरने का कारण प्रत्येक से पहली ईंट है। ईंट ईंट के गिरने का कारण हुई। इस उत्तर में सत्य है, किन्तु पूर्ण सत्य नहीं। वास्तव में कारण है पहली ईंट का गिरना, किन्तु पहली ईंट के गिरने का कारण है शिशु का पदाघात। इसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त की श्रृंखला के बन जाने पर, पिछली कड़ी का कारण पूर्व कड़ी मान ली जाती है। अतएव कर्म-सिद्धान्त व्यवहार-जगत् में ही लागू है। उसको संचालन करने के लिये ईश्वरेच्छा की कल्पना आवश्यक हो जाती है। कार्य-कारण-श्रृंखला इतनी लम्बी है कि साधारण दृष्टि से इसका ओर-छोर नहीं दीखता। जैसे किसी अज्ञात नदी के किनारे पर बैठा हुआ शिशु नदी के प्रवाह को अनादि समझता है, वैसे ही वयस्क भी संसार को अनादि कह देता है। संसार में प्रवाहानादित्व है, पर उसमें अजन्यत्वानादित्व[1] मान लेने के लिये कारण प्रतीत नहीं होता।

अकर्मण्यता—गोस्वामीजी ने स्पष्ट कहा है कि जीव जो चाहे वह कर सकता है। वह स्वतन्त्र है, भाग्य पर तो आलसी विश्वास करते हैं:

कादर मन कहँ एक अधारा। देव देव आलसी पुकारा॥रा० ५, ५२, २

तथ्य यह है कि

बवा सो लुनिअ लहिअ सो दीन्हा॥ रा० २, १६, ५

अर्थात् जो जैसा करता है वह वैसा भरता है। तुलसीदासजी ने कुछ शान्तिकार्यों का

१. आउट लाइंज़ ऑव इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, आयंगर कृत, पृष्ठ ६१-६२।

उल्लेख किया है जिनके सम्पादन से ग्रनिष्ट की ग्रप्रियता नष्ट हो जाती है, यथा भरत जी को ननसाल में दुःस्वप्न हुग्रा तो दुष्फल को दूर करने के लिये भगवान् शिव ग्रौर गणेशजी की पूजा करायी गयी ग्रौर ब्राह्मणों को भोजन दिया गया (रा० २, १५७, ३-४)। सीताजी को भी चित्रकूट में दुःस्वप्न हुग्रा था ग्रौर तदनन्तर प्रातः काल स्नानार्चनादि भी किये गये (रा० २, २२६, २-३), यद्यपि दोनों ही उदाहरणों में शान्ति-कर्म व्यर्थ रहे। तुलसीदासजी ने ग्रनेक बार मुहूर्तों का उल्लेख किया है (रा० २, २७२, ३, रा० २, ३२४)। गणना से शुभमुहूर्त्त निकालने का विचार-मात्र नियति का निर्देशक है। भाग्य के पर्याय हैं : दैव, विधि, (रा० १, २५४, ४)। गोस्वामीजी का निश्चय है कि कार्य का ग्रन्तिम कारण भगवदिच्छा ही है।

हरीच्छा के कुछ उदाहरण—भगवदिच्छा का ग्रनेक बार उल्लेख हुग्रा है। कुछ उदाहरण ये हैं। सतीमोह के सम्बन्ध में भगवान् शिव कहते हैं कि जो होना है वही होगा, तर्क करने से क्या लाभ ?

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावहि साखा। रा० १, ७४, ४

नारदजी के शब्दों को सुन कर जब मैना पार्वती-विवाह के सम्बन्ध में बड़ी चिन्तित हुई तो पार्वती ग्रपनी माता को इस प्रकार धैर्य दिलाती हैं :

ग्रसि विचारि सोचहि मत माता। सो न टरइ जो रचइ विधाता॥
करम लिखा जो बावरु नाहू। तौ कत दोसु लगाइग्र काहू॥
तुम सन मिटहिं कि विधि के ग्रंका। मातु व्यर्थ जनि लेहु कलंका॥

रा० १, १२०, ३-४

एक बार नारदजी ने भगवान् विष्णु को शाप दिया था। यह बात पार्वतीजी ने भगवान् शिव से सुनी तो उन्हें बड़ा ग्राश्चर्य हुग्रा। इस पर पशुपतिनाथ ने कहा

जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ। रा० १, १५१,

ग्रौर नारदजी को एक सुन्दर परामर्श दिया जो उन्हें पसन्द नहीं ग्राया। इस विषय में याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी से कहते हैं—

संभु दीन्ह उपदेस हित, नहि नारदहि सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरि इच्छा बलवान। रा० १. १५५

हिमवान् पार्वती-विवाह के सम्बन्ध में ग्रपनी पत्नी मैना को उपदेश करते हैं—

प्रिया सोचु परिहरहु सबु, सुमिरहु श्री भगवान।
पारबतिहि निरमयउ जेहिं, सोइ करिहहि कल्यान। रा० १, ६५

जब भगवान् राम ने सुमंत्र से ग्रयोध्या लौट जाने के लिये कहा तो ग्रनिच्छुक मंत्री बोले थे—

मेटि जाइ नहि राम रजाई, कठिन करम गति कछु न बसाई

रा० २, ६६, ४

चित्रकूट में रामचन्द्रजी ग्रपनी माताग्रों को सान्त्वना देते हैं :—

ग्रंब ईस ग्राधीन जगु, काहू न देइय दोसु। रा० २, २४५

जब राम की माताएँ सीताजी से चित्रकूट में मिलीं तो इस भावना का उदय हुग्रा :—

सो सब सहिय जो दैव सहावा। रा० २, २४६, ३

चित्रकूट की सभा में भरतजी की घोषणा है :—

जनम हेतु सब कहँ पितु माता । करम सुभासुभ देइ बिधाता ।।

रा० २,२५५, ३

भगवान् सबको नचाते हैं—गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा था :

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। १८, ६१ ।।

गोस्वामी तुलसीदासजी भगवान् शिव के मुख से पार्वतीजी को उपदेश का उल्लेख इस प्रकार करते हैं :

उमा दारु जोषित की नाईं । सबहिं नचावत रामु गोसाईं ।। रा० ४, १२४

रामजी सुग्रीव को आश्वासन देते हैं कि, हे मित्र, मैंने जो कुछ कहा है वह सब सत्य है और मेरे शब्द अमोघ हैं। इस पर काक गरुड से कहते हैं :—

नट मरकट इव सबहि नचावत । रामु खगेस वेद अस गावत ।।

रा० ४, ८, १२

भाग्य सब के लिये लागू है । काक ने गरुडजी को जो उपदेश दिया उससे ऐसा प्रतीत होता है कि भाग्य की आज्ञा का पालन सब को करना पड़ता है ।

भाग्य की अदृष्टता और अपरिहार्यता—प्रकृत्या भाग्य अदृष्ट, नियत और अपरिहार्य है । प्रतिकूल होने पर, वह अत्यन्त कठोर, अपमानजनक और दुःखद होता है । तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी जस भवतव्यता, तैसी मिलइ सहाइ ।

आपु न आवइ ताहि पं, ताहि तहाँ लै जाइ ।। रा० १, १८८; दो० ४५०।।

दुर्भाग्य के कारण भविष्य-ज्ञान नष्ट हो जाता है, जैसे प्रतापभानु कपट मुनि की बातें नहीं समझ पाये थे, और जब ब्राह्मण उसे शाप दे चुके तो उन्हें विदित हुआ कि राजा प्रतापभानु निर्दोष था । उन्हें कहना पड़ा कि

भूपति भावइ मिटइ नहिं जदपि न दूषन तोर । रा० १, २०४।

याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी से कहते हैं :

भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ विधाता वाम ।

धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि व्याल सम दाम । रा० १, २०५

गूढ़ दृष्टि से देखा जाय तो भाग्य पूर्व-कृत कर्मों का संचित रूप है । मंथरा कहती है : जो जैसा बोता है वैसा काटता है, जैसा देता है वैसा लेता है, कोई राजा हो, मुझे तो दासी से रानी होना नहीं (रा० २, १६, ३) । वह पुनः कहती है : दैव दैव फिरि सो फलु ओही (रा० २, १८, ४) । वशिष्ठ और भरद्वाज भी भरत को सान्त्वना देने के लिये भाग्य की महिमा गाते हैं (रा० १, २, ७२) । एक कहते हैं :—

सुनहु भरत भावी प्रबल विलखि कहे मुनि नाथ ।

हानि लाभु जीवन मरन, जसु अपजसु विधि हाथ ।। रा० २, १७२

दूसरे कहते हैं :—

सुनहु भरत हम सब सुधि पाई । विधि करतब पर किछु न बसाई ।

रा० २, २०६, ४

मनःशरीर का सामंजस्य—ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी वर्तमान और भूत कार्यों में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये मन और शरीर के सामंजस्य में विश्वास करते हैं। वे मंथरा के विषय में कैकेयी से कहलाते हैं कि काने, लंगड़े और कुबड़े लोग कुटिल और कुकर्मी होते हैं (रा० २, १५)। सीता, राम और लक्ष्मण वनमार्ग में जा रहे हैं, देखकर लोग अनुमान करते हैं :

राज लषन सब अंग तुम्हारे। देखि सोचु अति हृदय हमारे॥
मारग चलहु पयादेहि पाए। ज्योतिषु झूठ हमारे भाए॥

रा० २, ११२, ३-४

भाग्यवाद और भविष्यवाणी—भविष्यवाणी भाग्यवाद का प्रमाण है। भविष्य का निर्देश अंगस्फुरण, स्वप्न, शकुन, ज्योतिष और अन्तर्दृष्टि से होता है। गोस्वामी जी ने सभी प्रकार के भविष्य-द्योतक उदाहरण दिये हैं। कुछ ये हैं : भगवती पार्वती की कृपा से सीताजी के वाम अंग फड़कने लगे (रा० १, २, ६–६)। जब राम और सीता ने भरत के मातुल-गृह से लौटने का अनुमान किया तो उनके शुभांग फड़कने लगे रा० २, ७, ३)। जब मंथरा कैकेयी को बहका रही थी तो राज्ञी ने उससे कहा था कि मेरी सीधी आँख नित्य फड़कती है (रा० २, २०, ३)। गुह भरत से युद्ध करने के लिये अपनी सेना ले जाने वाला था कि इतने में जब बायीं ओर छींक हुई तो भविष्यद्वक्ताओं ने कहा कि युद्ध में विजय होगी, किन्तु एक वृद्ध ने कहा कि भरत से मिलाप तो होगा किन्तु युद्ध न होगा (रा० २, १९२, २-३)। इसी प्रकार जब राम ने लंका पर चढ़ाई की तो अच्छे शकुन होने लगे, सीता और रावण के वाम अंग फड़कने लगे (रा० ५, ३४, २–४, १२४, ३)। स्वप्न भी भविष्य के द्योतक हैं। गोस्वामीजी ने स्वप्न की चर्चा चार बार की है, कैकेयी (रा० २, २०४), भरत (रा० २, १५७, ३), सीता (रा० २, २२६, २) और त्रिजटा के (५, १०, १–४)। स्वप्नों में विश्वास प्राचीन काल से चला आ रहा है, यथा 'छान्दोग्योपनिषद्' के अनुसार यदि सकाम अनुष्ठान करते समय किसी नारी का दर्शन हो तो अवश्य सफलता प्राप्त होगी। गोस्वामीजी शकुनों के भी कुछ उदाहरण देते हैं—शृंगालों और श्वानों का रोदन, गधों का रेंकना, धूमकेतु का उदय, प्रतिमा का रोदन, भू का डोलना, वज्र का पतन। रावण को अशकुन हुए थे (रा० ६, १२७, ४ छं०)। शुभ शकुनों का भी उदाहरण मिलता है। जब पार्वतीजी सीताजी से प्रसन्न हुईं तो 'खसी माल मूरति मुसुकानी' (रा० १, २६८, ३)। तुलसीदासजी मानते हैं कि पुस्तक-सहित ब्राह्मण, क्षेमकरी, अच्छे वृक्ष पर मैना, नकुल, दधि, और मत्स्य आदि के दर्शन शुभ हैं।

नकुल सुदरसन दरसनी छेमकरी चक चाष।
दस दिसि देखत सगुन सुभ पूजहिं मन अभिलाष॥ दो० ४६०॥

गोस्वामीजी को फलित ज्योतिष में विश्वास था, यद्यपि वे जानते थे कि सभी फल ठीक नहीं बैठते। वे स्वयं ज्योतिषी थे। 'रामाज्ञा प्रश्न' तथा दोहावली' के कुछ दोहों से उनके ज्योतिष-ज्ञान की पुष्टि होती है। मंथरा अयोध्या के लिए साढ़सती थी, उसने ज्योतिषियों से यह जानकारी प्राप्त कर ली थी कि भरत राजा

बनेंगे (रा० २, १७, २, २१, ४)। अपनी माता की कुचाल पर भरतजी ने अपने को ग्रह-गृहीत समझा है (रा० २, १८१)। यात्रा, विवाह, अथवा राज्याभिषेक के निमित्त शुभ-मुहूर्त्त निर्धारित किये जाते थे (रा० ३, २७२, ३, १, ३४५, २, ३२४)।

आकाश-वाणी, देव-घोषणा, पुष्प-वर्षा आदि से पूर्व-कल्पित नियति की पुष्टि होती है। भरतजी की प्रार्थना के उत्तर में त्रिवेणी से आशीर्वादात्मक ध्वनि आई, गंगाजी ने भी सीताजी को वनवास के अन्त में सकुशल अयोध्या लौट जाने का आश्वासन दिया था (रा० २, २०३, २-३)। जब राम लंका से अयोध्या पहुँचते हैं तो देवगण आकाश में गीत-वाद्य करते हैं (रा० ७, २१)। सीता को पुष्प-वाटिका में नारदजी के उन वचनों का स्मरण हो आया जिन्होंने उसके भविष्य पर प्रकाश डाला था (रा० १, २६२)।

तुलसी का भाग्यवाद—तुलसीदासजी के लेखों से प्रकट होता है कि केवल भगवान् स्वतन्त्र हैं और व्यक्ति विधि के वश में हैं (वि० ११६, ४, १४६, ५, १५५,२), तथापि उनके कुछ वचन यह सुझाते प्रतीत होते हैं कि व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस विषय में लक्ष्मणजी की उक्ति का निर्देश हो ही चुका है। ज्योतिष-शास्त्रोक्त उपायों के द्वारा कुफल-निवारण, पूजा-पाठ, वरदान आदि से ऐसा आभास मिलता है। शुक और मर्कट की उपमाओं से यह विदित होता है कि जीवात्मा शुद्ध और मुक्त है, किन्तु जब वह कर्मपाश में आबद्ध हो जाता है तो मानों वह भाग्य का दास हो जाता है। संचित कर्मों के फलाभिमुखी समुदाय को भाग्य कहते हैं। सूक्ष्म-शरीर के संस्कार त्रिविध हैं: संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण, इन्हीं पर मनुष्य का भविष्य अवलम्बित है। किन्तु भाग्य से भी परे हरीच्छा है। हम कभी-कभी हरीच्छा और भाग्य को एक समझ लेते हैं। तुलसीदासजी गीता के इस उपदेश को मानते हैं कि सभी प्राणी ईश्वर की इच्छा से नाचते हैं। ये महापुरुष यह भी समझते हैं कि भाग्य अदृष्ट और कठोर है, वह प्रायः किसी को भी नहीं छोड़ता और अंगस्फुरण, स्वप्न, शकुन आदि में व्यक्त हो सकता है। गीता (४, १६) कहती है कि ज्ञान से हमारे सब कार्य दग्ध हो जाते हैं। पर गोस्वामी जी सोचते हैं कि भक्ति के द्वारा भी ऐसा हो सकता है (रा० ७, २०३-२०४)। भगवान् की माया से बन्ध और उसकी कृपा से मोक्ष होता है (रा० ४, ४, १-२)।

उत्तरदायित्व—कार्य का उत्तरदायित्व किस पर है? यदि, तुलसीदासजी की भाँति यह माना जाय कि कर्म के लिये मूल प्रेरणा ईश्वर की इच्छा से होती है और मोक्ष की प्राप्ति भगवत्कृपा से, तो व्यक्ति के उत्तरदायित्व का प्रश्न ही कहाँ? पारमार्थिक दृष्टिकोण से, यह निवेदन किया जा सकता है कि वैयक्तिक उत्तरदायित्व की आवश्यकता ही नहीं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है, अतएव वह जैसा करता है वैसा भरता है (रा० २, १६, ३)। ईश्वर को दोष नहीं लगता। आचार-सम्बन्धी व्यतिक्रमों के लिये व्यक्ति ही दोषी है, क्योंकि उसके पास विवेक-शक्ति-समन्वित शरीर विद्यमान है:

नाहिन कछु अवगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना।
ज्ञान भवन तनु दिएहु, नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना।। वि० ११४।।

तथापि गोस्वामीजी ने पर-भोक्तृत्व की भी चर्चा की है, कर्त्ता कोई है तो भोक्ता कोई अन्य है—

और करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु ।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोगु ।। दो० २४१ ।।

तुलसीदासजी को आश्चर्य इस बात का है कि मनुष्य के काम, क्रोध, लोभ आदि उसे इच्छा के विरुद्ध, बुराई की ओर ले जाते हैं, अर्थात् इच्छा तो सुकर्मों की ओर है किन्तु प्रवृत्ति पर-वश है । ऐसी आपा-धापी तो न कहीं देखी न सुनी :

देखी सुनी न आजु लौं अपनायत ऐसी ।। वि० १४७

सुयोधन कहा करता था :

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।

गोस्वामीजी ने व्यक्ति की भावना का सुन्दर चित्रण किया है । उन्होंने समाधान का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु समाधान यही हो सकता है कि व्यवहार-जगत् में यही सिद्धान्त ठीक है कि जो जैसा करता है वैसा भरता है । यह प्रतीति जो यदा-कदा होती है कि करता कोई है तथा भरता कोई और है, इस कारण है कि हम विशेष परिस्थिति में कारण की गूढता पर विचार नहीं कर पाते, अन्यथा व्यवहार-जगत् में कार्यकारण के सिद्धान्त में कोई व्यतिक्रम नहीं, और व्यतिक्रम की प्रतीति अल्पज्ञान-जन्य है ।

भला-बुरा

मूर्तिमान् सत्य—सेश्वर धर्मों में भगवान् को मूर्तिमान् सत्य माना गया है । यदि यह बात सत्य है तो कोई पाप अथवा दोष, न्यायतः, भगवान् पर आरोपित नहीं किया जा सकता । अवएव ईसा-धर्म को भगवत्सत्ता के साथ शैतान की समानान्तर सत्ता भी माननी पड़ी । अद्वैतवादियों को यह समानान्तरता अभीष्ट नहीं । कुरान ने स्पष्ट कहा है कि ईश्वर सदसत् दोनों का कर्त्ता है (सूरा० ६१, ८) । कुछ वैष्णव असत् की उत्पत्ति भगवान् के पृष्ठ से मानते हैं । भागवत में लिखा है :

अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयंकरः ।। ३, १२, २५

किन्तु बहुतों को भगवान् में अधर्म की स्थिति को मानने में संकोच होता है, क्योंकि नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त में अपवित्रता के लिए स्थान ढूंढना असंगत और अतर्क्य है ; अतएव माया की उत्पत्ति हुई और उससे सुख-दुख, पाप-पुण्य, धर्माधर्म आदि द्वन्द्वों की भी ।

पाप-पुण्य-स्रोत—दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि माया ने पाप-पुण्य तथा अन्य विकारों की भी रचना की है, यथाः मद, मोह, काम, अविवेक जो समस्त संसार में व्याप्त हो रहे हैं (रा ७, ८०, १-२) । भगवान् राम भी भरतजी से यही बात कहते हैं :

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनक ।। रा० ७, ६४

सबसे बड़ा गुण यह है कि दोनों को न देखा जाय, क्योंकि इन दोनों का भेद देखना ही माया है । अद्वैतवादी भी कहते हैं कि 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' ।

अतिभौतिक दृष्टिकोण से, माया गुण-दोषों की जननी है, यद्यपि उसकी सत्ता

प्रातिभासिक है। यदि माया सदसत् का अपरोक्ष कारण है, तो ब्रह्म परोक्ष। ब्रह्म की ही सत्ता है, माया की तो उपसत्ता है। यों तो गुण-दोष का जनन व्यक्तिगत सीमाओं के कारण है। तुलसीदासजी लिखते हैं :

जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार
अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनुराता
काल सुभाव करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई
सो सुधारि हरि जन जिमि लेहीं। दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं।

रा० १, १२-१-२

ऊपर कहा जा चुका है कि पाप-पुण्य माया-कृत हैं (रा० १, १२; ७, ६४; ७, ८०, १-२), व्यवहार में उन दोनों में भेद किया जाता है, परमार्थ में नहीं। उपनिषदों का भी यही मत है कि सत् और असत् का भेद केवल शाब्दिक है (छन्द ७, २, १)। ब्रह्मलोक इस भेद से रहित है (छन्द ८, ४, १-२)। दोनों का यह भेद स्वप्न और जाग्रत में अनुभूत होता है (बृहत्० ४, ३, १५-१७)। किन्तु आत्मा सत् और असत् के प्रभाव से मुक्त है, न तो वह सत्कार्य से भूयान् और न असत् कार्य से कनीयान् हो सकता है (कौषीतिकी ३, ८)। आत्मा धर्माधर्म से परे है (कठ २, १४), वे दोनों ही परमावस्था में लीन हो जाते हैं (बृहत्० ४, ३, १६-३०)। ज्ञाता अपाप है। बृहदारण्यक में 'पुरुष' शब्द का अर्थ किया गया है : 'वह जो पाप को जला चुका हो' (पूर्व + उष्)।

धर्माधर्म—जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उसको मानते हुए पुण्य की उत्पत्ति सत्य से है। महाराज दशरथ ने कैकेयी से कहा है—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए।। रा० २, २८, ३

भगवान् राम ने भी सुमन्त जी को ऐसा ही उपदेश दिया है :

धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।। रा० २, ९५, ३

दशरथ जी के अनुसार—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचन न जाई।। रा० २, २८, २

इसी प्रकार अधर्म का पिता है स्वार्थ। भगवान् राम भरतजी से कहते हैं कि मनुष्य स्वार्थ-वश अनेक प्रकार के पाप करते हैं, परोपकार के सदृश कोई धर्म नहीं और पर-पीडा के समान कोई अधर्म नहीं। जो मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं उनको अनेक जन्म लेने पड़ते हैं और वे अपना परलोक बिगाड़ लेते हैं। कहा है :

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

तुलसीदासजी भी लिखते हैं :

परहित सरिस धर्म नहि भाई। पर पीडा सम नहिं अधमाई।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कह्यौं तात जानहिं कोबिद नर।।
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भवभीरा।
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।।

रा० ७, ६३, १-२

अर्थवादी (प्रैग्मैटिस्ट) की भाँति तुलसीदासजी लिखते हैं :

हित पुनीत सब स्वारथहिं अरि असुद्ध बिन चाड़ ।
निज मुख मानिक सम दसन भूमि परे ते हाड़ ।। दो० ३३०

मूल्य ही अच्छाई का माप है । जब तक दाँत जबड़े में लगा रहता है तब तक मूल्यवान् है किन्तु ज्योंही वह जबड़े से अलग हो जाता है त्योंही वह हड्डी के समान हेय हो जाता है ।

अतिभौतिक दृष्टिकोण से, सुकृत-दुष्कृत दोनों ही का स्रोत माया है । आचार की दृष्टि से, दुष्कृत स्वार्थ से उत्पन्न होता है, और सुकृत परहित से । तुलसीदासजी अधर्म के स्रोत के सम्बन्ध में निश्चित से प्रतीत होते हैं । किन्तु धर्म की उत्पत्ति के विषय में वे सत्य और परहित के मध्य में डगमगाते-से हैं; पर इन दोनों में से उन्हें धर्म का स्रोत परहित में ही मानना चाहिए । सत्य तो अतिभौतिक शास्त्र और आचार-शास्त्र की मध्यवर्ती सीमा पर स्थित है और परहित निश्चय रूप से आचार के अन्तर्गत है। अतएव ऐसा कहना सत्य से दूर न होगा कि तुलसीदासजी परहित को पुण्य और पर-पीड़ा को पाप मानते हैं (रा० ७, ६३, १; वि० १४१, २, दो० ३४२)। इस मत की पुष्टि; 'रामचरित मानस' के अन्तिम पृष्ठों में, काक के द्वारा हुई है, अतएव इसे अन्तिम ही समझना चाहिए (रा० ७, २०७, ७-८) । मनसा, वाचा, कर्मणा कृत परहित धर्म है, और स्वार्थ अधर्म है । परहित में स्वार्थभाव हो सकता है, किन्तु पर-पीडा में स्वार्थ निश्चय रूप से बना रहता है । अतएव परोपकार-रति निष्कंटक है (दो० ४६७), इसके द्वारा भवसागर से निस्तार हो जाता है :

जानत हूँ मन वचन कर्म परहित कीन्हे तरिए ।। वि० १८६, ३

प्रधान पुण्य—तुलसीदासजी के अनुसार कुछ मुख्य सुकृत ये हैं : विप्र-चरण पूजा (रा० ७, ६७, ४), प्रार्थना, तप, यज्ञ, दम, दान, पवित्रता, ज्ञान, ध्यान (रा० ७, १४८, ३) कृपा, करुणा (रा० ७, १८५, ५), शम, दम (वि० २०४), सरलता, तीर्थ-यात्रा (क० ७, १४४), अहिंसा (रा० ७, २०७, ११) । इन सब सुकृतों का पर्यवसान भगवान् के गुण और कीर्तन के द्वारा राम-भक्ति में होता है, (रा० ७, ६४, ४, ६५) ।

अवगुण-विशेष—प्रधान अवगुण हैं : अविद्या, पिशुनता, परपीडा, स्वार्थ, रामद्रोह, शिवद्रोह । क्या पिशुनता से बढ़ कर और कोई अघ हो सकता है (रा० ७, १८७, ५) ? और भी

पर निन्दा सम अघ न गरीसा ।। रा० ७, २०७, ११

जो लोग इस पाप को करते हैं वे कभी सुख नहीं पाते ।

विष्णु-द्रोही और शिव-द्रोही अथवा विष्णु-निन्दक और शिव-निन्दक पाप कमाते हैं (रा० ६, १) । हिन्दू-समाज में गो-हत्या पाप है (रा० २, १४७, २, ६, ४७, १) । आचार-जगत् में परपीडन के समान कोई पाप नहीं, इसे स्वार्थ से प्रेरणा प्राप्त होती है और यह मोह को उत्पन्न कर परलोक का नाश कर देता है—

नर सरीर धर जे पर पीरा । करहिं ते सहहिं महाभव भीरा ।।
करहिं मोह बस नर अघ नाना । स्वारथरत परलोक नसाना ।।

रा० ७, ६३, २

दण्ड की आवश्यकता—पाप-सहिष्णु नहीं होना चाहिए। दुष्ट और पापिष्ठ का दमन अवश्य कर देना चाहिए। पाप-निवृत्ति के लिए केवल उपदेश पर्याप्त नहीं, यथा कोई करोड़ों उपाय करके केले को सींचे, वह तो काटने पर ही फलता है। इसी प्रकार नीच पुरुष विनय से नहीं मानता, डाटने पर ही झुकता है, (रा० ५, ६१)। बिना भय के प्रीति नहीं होती (रा ५, ६०)। मूर्ख से विनय, कुटिल से प्रीति, कृपण से नीति, स्वार्थी से ज्ञान, लोभी से वैराग्य, क्रोधी से शान्ति और कामी से भगवत्-कथा की चर्चा करने से वैसा ही फल होता है जैसा ऊसर में बीज बोने से (रा० ५, ६०, १-२)।

धर्म-चर्चा की सरलता, धर्माचरण की कठिनता—पुण्य-धर्म की चर्चा करना अत्यन्त सरल है, उसके अनुसार आचरण करना ऐसा नहीं। दूसरों को उपदेश देने में लोग बड़े कुशल होते हैं, किन्तु स्वयं उस उपदेश का पालन कितने करते हैं (रा० ६, १००, १)? राक्षसराज रावण ने यही तो किया था, वह अपनी पत्नी को उपदेश देता किन्तु स्वयं उसका पालन न करता था।

सत्संग से पुण्यार्जन—सत्संग निश्चय ही लाभ है और कुसंग हानि। आँधी के साथ धूल भी आकाश की ओर उड़ जाती है; किन्तु पानी के संसर्ग से वह कीचड़ बन नीचे बैठती है। घर में तोता-मैना की जैसी शिक्षा होती है उसी के अनुकूल वे राम-नाम लेते या गाली देते हैं। कुसंग से धुआँ कालिख कहलाता है, वही धुआँ सुसंग में सुन्दर स्याही बन कर पुराण लिखने के काम आता है, और वही वाष्पमय धुआँ जल, अग्नि, और पवन के संग से बादल होकर जगत् को जीवन देने वाला बन जाता है। ग्रह, औषधि, जल, वायु और वस्त्र ये सभी कुसंग और सुसंग पाकर संसार में भले-बुरे पदार्थ हो जाते हैं (रा० १, १२, ४-६, १३)। सत्संग में अधिक दिन रहने से सब संशय नष्ट हो जाते हैं। संतसमाज को छोड़, राम चर्चा कहीं नहीं होती, जिसके बिना माया का निस्तार नहीं होता। माया-निस्तार के बिना रामचरण में वह प्रीति नहीं होती जिसके द्वारा परम गति प्राप्त होती है (रा० ७, ८४, २, १, १०७, १)। सन्त-समागम के समान दूसरा कोई लाभ नहीं (रा० ७, २१८)। यह बात शिवजी ने पार्वतीजी से कही थी और रामजी ने भी सनकादिक ऋषियों से कहा था कि ऐसे समागम के द्वारा संसार से निस्तार होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सत्संग की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है और उसके द्वारा बिना प्रयास के ही भव-यातना दूर हो जाती है (रा० ७, ५५, ४)। सत्संग मोक्ष का कारण है और कामि-संग बन्ध का (रा० ७, ५६)। अतएव गोस्वामीजी का परामर्श है :

भजहि राम तजिकाममद, करहि सदा सतसंग। रा० ३, ६०

जीवन के तीन मार्ग—तुलसीदासजी के अनुसार जीवन अखण्ड है और धर्म तथा सदाचार में नैतिक सम्बन्ध है। अतएव उन्होंने तीन भिन्न किन्तु समान जीवन-मार्ग सुझाये हैं। पहला मार्ग तो दीर्घ और कठिन है और कर्मठ लोगों के लिए ठीक है। दूसरा सब से छोटा और विचार-शील पुरुषों के अनुरूप है, और तीसरा भावुक पुरुषों के लिये अनुसरणीय है। तथापि तीसरा मार्ग सर्व-साधारण के लिये उचित है और गोस्वामीजी उसकी प्रशंसा करते हैं। प्रथम मार्ग में पन्द्रह व्रतों का विधान है :

भगवद्भक्ति; द्वैत-बुद्धित्याग, त्रिगुण-त्याग, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से उपरति; पंच ज्ञानेन्द्रियों पर नियन्त्रण; काम क्रोध आदि षड्रिपुओं पर विजय; रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं से बने हुए शरीर पर विचार; परोपकार में वृत्ति; यह धारणा कि रामचन्द्रजी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार-वाली अष्टधा प्रकृति से परे हैं; नवद्वार-युक्त शरीर की व्यर्थता; दश इन्द्रियों का निग्रह; मन का शमन; दूसरों के लिये त्याग; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का अतिक्रमण; गोपाल अर्थात् इन्द्रियों के नियन्ता का भजन; और प्रेमी भक्त के साथ राम का भजन (वि० २०३)। सब से छोटा किन्तु अध्यात्म-समन्वित मार्ग भी निर्दशित है। भगवान् के प्रेम की प्राप्ति के निमित्त जीव को मैं-तू, तेरा-मेरा, मुझे-मेरा आदि भावनाओं का त्याग कर देना चाहिये (वै० सं० ३३, वि० ११८, ४, १२०, ५)। सारा संसार अहंकार की अग्नि से प्रदीप्त है, किन्तु जो शान्ति-रूपी शीतल जल का स्पर्श कर लेता है वह इस अग्नि में नहीं जलता। ऐसी अग्नि से बचने के निमित्त, राग-द्वेष का त्याग अनिवार्य है (वै० सं० ५३, ५४, ५६)।

गोस्वामीजी ने एक तीसरा मार्ग भी सुझाया है। उसका अनुसरण किया जा सकता है, अतएव उन्होंने उसे प्रशस्त समझा है। वे उसे शिव-मति-मार्ग, या संक्षेप में केवल शिव-मार्ग, कहते हैं जिसका अर्थ है कल्याण-मार्ग। यह मार्ग समता, संतोष, विवेक और सत्संग पर आग्रह करता है; तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग, द्वेष के निःशेष परिहार पर भी। साधक के कर्ण राम-कथामृत पान करें, मुख भगवन्नाम का उच्चारण करे, उसके हृदय में हरि का निवास हो, उसका सिर भगवान् के चरणों में हो, उसके कर सेवा में रत हों और उसके नेत्र कृपालु राम के सर्वत्र दर्शन करें—यही भक्ति है, यही वैराग्य है, यही ज्ञान है और इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं। अतएव इस शुभ व्रत का आचरण करना चाहिए। यह शिवजी का बताया हुआ मार्ग है, और कल्याणकारी है। इस पर चलने से स्वप्न में भी भय नहीं रहता (वि २०५)।

निष्कर्ष—अतिभौतिक दृष्टि से, सत्य से बढ़ कर और कोई धर्म नहीं; आचार की दृष्टि से, परहित के समान कोई पुण्य नहीं (रा० २, २८, ३; २, ९५, ३; ३, ४९, ५; ७, ६३, १; ७, २०७, ७)। व्यवहारतः अहिंसा धर्म का नकारात्मक और परहित उसका भावात्मक रूप है। इसी प्रकार अतिभौतिक रूप में असत्य पाप है; और आचार के स्तर से स्वार्थ, जिसका स्थूल रूप पर-पीड़न है, (रा० २, २८, ३, ७, ६३, १, ६९, ३)। आचरण के तीन भागों में से तुलसीदासजी ने 'शिवमार्ग' को ही प्रशस्त समझा, जो सभी पुण्य-काम जीवों के लिये कल्याणप्रद है।

(घ) स्थान और कर्तव्य

वर्णाश्रम—तुलसीदास जी ने कलियुग के वर्णन में विभिन्न वर्ण और आश्रमों का उल्लेख करते हुए बताया है कि कौन व्यक्ति शोचनीय है (रा० ७, १५१-१५६, २, १७२-१७४)। वर्णन से यह प्रतीत होता है कि वे वर्णाश्रम-धर्म के व्यतिक्रम को बुरा समझते थे।

वर्णाश्रम-धर्म में तुलसी की आस्था स्मृतियों के अनुसार है, जिनमें प्रत्येक

वर्ण के लिये कर्त्तव्यों का निर्देश हुआ है। उदाहरणतः मनुस्मृति ने ब्राह्मण के लिये अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, प्रतिग्रह और दान; क्षत्रिय के लिये दान, भजन, अध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह; वैश्य के लिये गोपालन, दान, यजन, अध्ययन, कृषि, व्यापार; और शूद्र के लिये सेवा का विधान किया है।

चारों वर्णों के विभाजन का आधार जन्म है। ऋग्वेद (१०, ६६, १२) के अनुसार ब्राह्मण परम पुरुष का मुख था, क्षत्रिय भुजाएँ, और वैश्य जंघाएँ; शूद्र उसके चरणों से उत्पन्न हुआ। वेद, मनुस्मृति और गीता (३, ५, ३५; ४, १२) भी वर्ण-व्यवस्था को जन्म से मानते हैं। तुलसीदास जी भी ऐसा ही मानते हैं।

साधारण और विशेष धर्म—धर्म दो प्रकार का होता है : साधारण और विशेष। साधारण तो मनुष्य मात्र के लिए है। मनुजी के अनुसार वह दशविध है : धृति, क्षमा, दम, अास्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। गोस्वामी जी स्थल-स्थल पर इनकी महिमा विविध प्रकरणों में गाते रहे हैं। विशेष-धर्म वर्ण, आश्रम, वर्णाश्रम, तथा समाज-स्थान के अनुसार होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। स्मृतियों में इनके अलग-अलग कर्तव्यों का वर्णन है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं, जिनके अलग-अलग धर्म हैं। तदनन्तर वर्णाश्रम के अनुसार कर्तव्यों का विधान है, यथा ब्राह्मण ब्रह्मचारी और क्षत्रिय ब्रह्मचारी के आचारों में अन्तर है। समाज में स्थान के अनुसार भी, स्मृतियों में कर्त्तव्यों का लेख है—यथा राजधर्म, प्रजाधर्म, नारी-धर्म, पितृधर्म, पुत्रधर्म, भ्रातृधर्म, स्वामिधर्म, सेवक-धर्म, पतिधर्म, पत्नी-धर्म। गोस्वामी जी ने दशरथ और कौशल्या, राम और सीता, राम और लक्ष्मण, राम और भरत, वशिष्ठ और राम, विश्वामित्र और राम, राम और हनुमान्, राम और अंगद, राम और सुग्रीव, राम और अयोध्यावासी आदि के वर्णन में जीवन के विभिन्न सम्बन्धों के आदर्शों का ऐसा सुन्दर चित्रण किया है जैसा कदाचित् विश्व में अन्यत्र उपलब्ध नहीं।

(ङ) नारी का स्थान

नर-नारी का अपार्थक्य—भगवान् शिव ने अर्धनारीश्वर-रूप से, एवं मनु[1] के लेख से, यह प्रतीत होता है कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। प्लेटो ने लिखा है कि पहले नर-नारी का एक ही शरीर था किन्तु पीछे से देवताओं के कोप से स्त्री और पुरुष शरीरतः अलग कर दिये गये। प्राचीन काल में कोई यज्ञ बिना पत्नी के सफल नहीं हो सकता था।[2] अनेक स्त्रियाँ वैदिक मंत्रों की ऋषि हैं। त्रिमूर्त्तियाँ सपत्नीक हैं यथा—ब्रह्मा-ब्रह्माणी, विष्णु-लक्ष्मी, शिव-पार्वती। देवताओं की भी पत्नियाँ हैं। जैसे इन्द्र की इन्द्राणी। प्राचीन भारत के संस्कृति-गगन में अनेक महिला-ताराएँ उपलब्ध हैं यथा—संध्या, वाक्, सूर्या, तपती, अपाला, अदिति, अरुन्धती, लोपामुद्रा, अनसूया, शाण्डिली, देवहूति, कात्यायनी, मैत्रेयी, गार्गी, सुलभा, शाश्वती, ममता, सावित्री, मदालसा, शैव्या, दमयन्ती, सुकन्या, शकुन्तला, विदुला, गान्धारी, माद्री, कन्याकुमारी। नारी गृहलक्ष्मी समझी जाती थी।

१. मनुस्मृति १, ३२। २. वही।

नारी का प्राचीन स्तर—भारत के प्राचीन साहित्य में नारी के स्वभाव और स्तर के सम्बन्ध में परमोत्कृष्ट विचार उपस्थित किये गये हैं। वह पुरुष के साथ समानाधिकार का उपभोग करती, और पुरुष से भी दृढ़तर और वरीयसी (ऋक् ५, ६१, ६-८) होने के कारण उसकी इच्छाओं की एवं सुख-साधनों की पूर्ति करती थी (बृहद्० १, ४)। विवाह के पश्चात् ऐसी आशा की जाती थी कि वह अपने श्वसुर, श्वश्री, देवरों और ननदों पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर ले (ऋक् १०, ८५, २६-४८)। वह अपने पतिगृह में आदर-मान के योग्य समझी जाती थी (महाभारत अनु० १५, ३-७), क्योंकि देवता भी वहीं रमते हैं जहाँ स्त्रियों का आदर होता है (मनु० ३,५६)। वास्तव में वह पतिगृह की रानी थी (अथर्व० १४, १, ४३)।

आश्चर्य है कि उक्त साहित्य में ऐसे उद्गार भी मिलते हैं जिन्हें कलुषित समझना चाहिए। समस्त बुराई की जड़ (महाभारत अनु० ८, १२, २५, २६), क्षुरसी तीक्ष्ण और अग्नि सी जलती हुई (वही० ३६, ४०, ४२) वह धनिक को ग्रहण कर लेती और निर्धन को त्याग देती है (रामायण ३, १३, ५-६), अपवित्र, असत्यनिष्ठ और क्रूरा नारी का (मनु० ६, १७, १८) हृदय उस सालावृक का सा होता है (ऋक् १०, ६५, १५) जो हँसा-हँसा कर मार डालती है। किन्तु ये उद्गार अपवाद हैं, सिद्धान्त नहीं।

नारी-गौरव का ह्रास—किन्तु मध्यकालीन भारत में स्त्री की निन्दा और उससे घृणा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी। कदाचित् कारण यह था कि जैन और बौद्ध मठों में स्त्रियों का भी प्रवेश भिक्षुणी के रूप में होता था। इससे आचार में शिथिलता आ गयी थी। अतएव ऐसे कथन की आवश्यकता पड़ गयी कि नारी परमार्थ के साधन में अड़ंगा है। तत्कालीन सन्त लोग नारी और नारीत्व की निन्दा एक स्वर से करते हैं। योगवासिष्ठ में लिखा है कि अविचारशील मनुष्य को स्त्री कुछ काल के लिये ही सुन्दर प्रतीत होती है, वास्तव में उसके शरीर में कोई सौन्दर्य नहीं, अज्ञानवश हम उसे सुन्दर समझते हैं (१, २१, ८)। सन्त कबीर ने नारी-निन्दा की है :

चलो चलो सब कोइ कहै पहुँचे विरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय॥

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने भी कामिनी-काँचन के त्याग पर आग्रह किया है।

विदेश में नारी का स्तर—ऐसी प्रवृत्ति पश्चिम में भी लक्षित होती है। एक लैटिन कहावत है कि 'नारी नर का कष्ट हैं (Woe) है,'[1] स्काटलैंड की उक्ति के अनुसार 'सुन्दरी और सुरा एवं द्यूत और कैतव सम्पत्ति को घटाते तथा आवश्यकताओं को बढ़ाते हैं'।[1] षोडशी शती की उक्ति है कि 'हँसी को नंगे पैर चलते देखने की अपेक्षा नारी को रोते देखना करुणतर नहीं'।[1] उसी काल की यह और लोकोक्ति है[1] कि 'मनुष्यों में (अनेक) अवगुण होते हैं। पर स्त्रियों में केवल दो : न उनकी कथनी

---

१. जे० रे : इंग्लिश प्रॉवर्ब्स १६७० और परवर्ती संस्करण।

में श्रेय है न उनकी करनी में'। एलैग्जेंडर पोप ने लिखा कि 'मनुष्यों में से कुछ तो व्यवसाय की ओर और कुछ सुख की ओर प्रवृत्त होते हैं, किन्तु प्रत्येक नारी हृदयतः फेशनेब्ल पतिता (Rake) होती है।'[१] तुलसीदास के यवीयान् समकालीन शेक्सपियर ने लिखा कि 'हे नारी, तेरा नाम हीनता है।'[२] ईव-पतन के समय भगवान् ने उससे कहा था कि 'तेरी इच्छा तेरे पति के निमित्त होगी और वह तुझ पर शासन करेगा।'[३]

शास्त्र-निषेध—प्राचीन काल में स्त्रियाँ वेद-मंत्रों के दर्शन, तथा ब्रह्म-विद्या एवं भौतिक विज्ञानों का अध्ययन, करती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका यह गौरव पीछे से घट गया, यहाँ तक कि उनकी उपस्थिति में वेद-पाठ करना तथा उनके लिये यज्ञोपवीत धारण करना अनुचित समझा गया और वे इस विषय में शूद्रवत् समझी गयीं।[४] मुसलमानों के राज्यकाल में, उनमेंसे बहुत सी साधारण शिक्षासे भी वंचित रहने लगीं। ऐसी परिस्थिति में तुलसीदास जी ने पार्वती जी से कहलाया है: स्त्री होने के कारण मैं श्री रघुनाथ जी का विमल यश सुनने की अधिकारिणी नहीं हूँ—

जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। रा० १, १३३-१

संरक्षा—चंचल और वासनामय होने के कारण नारी पर देखभाल रखने की आवश्यकता है। अथर्ववेद (१४, १, ५२) में उसे पोष्या माना गया है। बचपन में उसे पिता की, यौवन में पति की, और वैधव्य में अपने पुत्र की संरक्षा में रहना चाहिए, क्योंकि मनुजी के अनुसार 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।'[५] पार्वती-विदाय के समय मैना वियोग-दु:ख से कहती है:

कत विधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥ रा०१.१२५.३

नारी का पराधीन रहना अच्छा है, क्योंकि, जैसा कि भगवान् राम लक्ष्मण को बताते हैं,

महावृष्टि चलि फूटि किआरीं। जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारी॥ रा० ४, १६.४

नारी के ऊपर नियंत्रण भी कड़ा होना चाहिए। महासागर की उक्ति है:

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥ रा० ५, ६१, ३

जो इस श्लोक का छायानुवाद है:

दुर्जनाः शिल्पिनो दासाः दुष्टाश्च पटहास्त्रियः
ताडिता मार्दवं यान्ति नैते सत्कार भाजिनः। गर्ग संहिता।

और जो टेलर द वाटर पोइट (१५८०-१६५४ ई०) की इस सुप्रसिद्ध उक्ति से परम समानता रखती है:—

---

१. मौरल एसेज, एपिसिल् १, २
२. हैमलेट १, २, १४६।
३. द होली बाइबल, जैनेसिस ३, १६।
४. मनुस्मृति २, ६६; ९, ६६; महाभा० ४६, १३; अत्रि० १३४।
५. मनुस्मृति ९, ३२; ९,२४; ९, २-३; ५, १४७-१४८; याज्ञवल्क्य ३, ८४; महाभारत अनु० ४६-१४।

अ वुमन अ स्पेनिअल एण्ड अ वालनट ट्री,
द मोर यू बीट देम, द बेटर वे बी ।[1]

नारी के प्रति नारी—जिन आदर्श नारियों का उल्लेख गोस्वामी जी ने किया है, उन्होंने स्वयं नारी को अपवित्र, नीच, अविश्वसनीय, काम-क्रोध-समन्वित एवं दुःखद बताया है। पार्वती जी ने भगवान् शिव से कहा कि नारी स्वभावतः जड़ और अज्ञ है (रा० १, १४३, २)। अनसूया जी सीता से कहती है कि—

सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ ॥ रा० ३, ८

शबरी भी मानती है कि :

अधम ते अधम अधम अति नारी ॥ रा० ३, ४३, २

नारी के सम्बन्ध में ये उद्‌गार देवी, ऋषि-पत्नी और साधारण स्त्री के हैं।

नारी के आठ अवगुण—किन्तु पुरुषों का क्या मत है ? कामी रावण भी अपनी पत्नी मन्दोदरी से कहता है कि नारी में अनेक दोष होते हैं, और स्वभाव से डरपोक वह सम्पत्ति-काल में भी चिन्तित रहती है :

समय सुभाउ नारि कर साचा। मंगल महुँ भय मन अति काचा ॥
रा० ५, ३६, १

आगे चलकर अन्य अवसर पर नारी के आठ अवगुणों का यह उल्लेख :

साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया ॥ रा० ६, २२, २

शुक्रनीति के इस श्लोक के अनुसार है :

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमति लोभता
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः। ३, १६३

स्त्रीत्व के प्रति राम की कठोरता—भगवान् राम ने नारीत्व की और भी अधिक निन्दा की है, नारद जी का मोह दूर करने के लिये वे कहते हैं कि स्त्री अत्यन्त दारुण दुःख देने वाली है, वह मोह-रूपी वन के लिए वसन्त ऋतु के समान है, ग्रीष्म रूप हो कर जप, तप, नियम-रूपी जल के स्थानों को सोख लेती है, तथा काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि मेंढकों को वर्षा ऋतु होकर हर्ष प्रदान करने वाली है। कुवासना-रूपी कुमुदों के लिए स्त्री शरद् ऋतु के समान है। विषय-जन्य नीच सुख देने वाली स्त्रीधर्म-रूपी कमल-वन को हिमर्तु बन कर जला डालती है, ममता-रूपी जवास का वन स्त्री-रूपी शिशिर को पाकर हरा-भरा हो जाता है। वह पाप-रूपी उल्लुओं के लिये सुख देने वाली अन्धकारमयी रात्रि है; और बुद्धि, बल, शील और सत्य-रूपी मछलियों के लिये बंशी के समान है। युवती स्त्री अवगुणों की मूल, पीड़ा देने वाली, और सब दुःखों की खान है (रा० ३, ५६-५७)।

कैकेयी और मन्थरा—स्त्री-चरित्र अगम्य है। मंथरा कैकेयी के पास पहुँच कर राम और कौशल्या के विरुद्ध जहर उगलने लगी। जब कैकेयी ने हँस कर पूछा कि क्या बात है तो मंथरा कोई उत्तर न देकर उसास लेने और आँसू ढारने लगी (रा० २, १३, ३)। यद्यपि महाराज दशरथ राजनीति में दक्ष थे, तथापि वे भी कैकेयी की चाल को न समझ पाये। उसने बनावटी मुसकराहट से बनावटी प्रेम प्रदर्शित किया

---

१. द डिक्शनरी आव फ्रेज़ एण्ड फ़ेबल, लेखक : ई० कौवहम ब्रुअर।

था। अयोध्यावासियों ने भी इस रानी को बहुत भला-बुरा कहा (रा० २, ४७, १-४६). उनकी सम्मति में :

सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगहु अगाधु दुराऊ ।।
निज प्रतिबिम्बु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई ।।
काह न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ ।। रा० २, ४८

तुलसी के भरत व्यास के युधिष्ठिर की भाँति[1] कहते हैं कि—

बिधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ।।
रा० २, १६२, २

नर-मोहिका—स्त्री में मोहिनी शक्ति है। कौन उसके अधीन नहीं हो जाता? जो उसका त्याग करते हैं, उन्हें दृढ़ और संयम-शील होना चाहिए। मृगनयनी और चन्द्रमुखी के दर्शन से संतों का मन भी डिग जाता है (रा० ७, १६४-१६५), किन्तु यह विचित्र बात है कि नारी नारी पर मोहित नहीं होती (रा० ७, १६५)।

नारी के कर्त्तव्य—नारी का प्रधान कर्त्तव्य पति-पूजा है। अपनी पुत्री पार्वती को मैना का उपदेश है कि शंकर जी की आज्ञा का पालन सदा करो और यह समझो कि पति ही नारी के समस्त धर्मों का सार है।

करहु सदा संकर पद पूजा। नारि धरमु पति देव न दूजा। रा० १, १२५, २

भरत जी के अनुसार सीता जी अपने पति को देव-तुल्य समझती हैं। अत्रि-पत्नी अनसूया जी ने उन्हें यह उपदेश दिया था[2] :—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मित प्रद सब सुनु राजकुमारी ।।
अमित दानि भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही ।।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी ।।
वृद्ध रोग बस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना ।।
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना ।।
एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा ।।
रा० ३, ७, ३-५

इसके अतिरिक्त भगवान् राम ने नारी का एक और कर्त्तव्य बताया है, वह है सास-ससुर की आज्ञा का श्रद्धा-पूर्वक पालन (रा० २, ६१, ३), यद्यपि सीताजी ने तो पति-पूजा को ही सर्वश्रेष्ठ माना है (रा० २,६४) :

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई ।।
सास ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई ।।
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते ।।
रा० २, ६५, १-२

अनसूया जी के अनुसार स्त्री के लिए मोक्ष का साधन पति-सेवा है। वे कहती हैं:—

---

१. महाभारत अनु० ३६-४०।
२. तुलना कीजिये : महाभारत अनुशासन पर्व।

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिव्रत धर्म छाँड़ि छल गहई ॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। विधवा होइ पाइ तरुनाई ॥

रा० ३, ७, ४

नारी की श्रेणियाँ—अनसूया जी ने नारी की चार श्रेणियाँ इस प्रकार की हैं—'जगत् में चार प्रकार की पतिव्रताएँ हैं। उत्तम श्रेणी की पतिव्रता के मन में ऐसा भाव बसा रहता है कि जगत् में मेरे पति को छोड़कर दूसरा पुरुष स्वप्न में भी नहीं है[1]। मध्यम श्रेणी की पतिव्रता पराये पति को इस प्रकार देखती है: समान अवस्था वाले को भाई के रूप में, बड़े को पिता के रूप में। निकृष्ट श्रेणी की स्त्री धर्म को विचार कर तथा अपने कुल की मर्यादा को समझकर पाप से बची रहती है। चौथी है अधम नारी जो अवसर न मिलने से या भाग्यवश पतिव्रता बनी रहती है, अन्यथा पति को धोखा देकर व्यभिचार करती और मृत्यूपरान्त सौ कल्प तक रौरव नरक में पड़ी रहती है' (रा० ३,७,१-३)।

तुलसीदास के पक्ष में तर्क—गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में नारी के सम्बन्ध में जो लिखा है उसे कुछ लोग प्रशस्त नहीं समझते। कुछ विद्वान् इस विषय में तुलसीदासजी को निर्दोष सिद्ध करने के लिये कई तर्क उपस्थित करते हैं। पहला तर्क यह है कि गोस्वामी जी ने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति न करके कथा का वर्णन किया है, जिसमें प्रसंग और पात्र के अनुसार अनेक प्रकार के भाव और विचार व्यक्त किये गये हैं। उदाहरणत: भरत अथवा राम की वाणी शोक और आत्मग्लानि की कातर वाणी है; और शबरी तथा ग्राम नारियों के शब्द उनकी अतिशय कृतज्ञता को ही व्यक्त करते हैं। सती ने आत्मग्लानि के कारण 'नारि सहज जड़ अज्ञ' कहा था। निम्न उक्ति का सम्बन्ध शूर्पणखा से है:

भ्राता, पिता, पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥
होइ बिकल मन सकहि न रोकी। जिमि रविमनि द्रव रबिहि बिलोकी ॥

रा० ३, २१, ३

रावण की उक्ति भी प्रमाण नहीं हो सकती क्योंकि वह सत्पात्र नहीं है। डॉ० नगेन्द्र इस तर्क को अधिक संगत नहीं समझते क्योंकि उनकी सम्मति में तुलसी-जैसे भक्त-कवि की कविता को एकान्त वस्तु-परक मानना असंगत है, उन्होंने अपना काव्य तो 'स्वान्तः सुखाय' लिखा था।[2]

तुलसीदासजी के पक्ष में दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि उन्होंने सभी स्त्रियों की निन्दा नहीं की, जिनको निन्द्य समझा है उन्हीं की निन्दा की है। सीता, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया और मन्दोदरी के प्रति श्रद्धा भी व्यक्त की गयी है। किन्तु, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र समझते हैं, सीताजी राम की पत्नी थीं, कौशल्या और सुमित्रा राम की माताएँ थीं, अनसूया ऋषि-पत्नी थी, और मन्दोदरी का गुण इस लिये गाया गया है कि वह राम के लिए अपने पति से भी लड़ बैठती थी। 'अतएव कहा जा सकता है कि तुलसीदासजी ने केवल राम के नाते इन नारियों में श्रद्धा प्रकट की है।'

१. वही।
२. तुलसीदास एक विश्लेषण, पृष्ठ २३, पब्लिकेशंस डिवीजन, दिल्ली, १९५६

तुलसीदास के पक्ष में तीसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि उन पर देश-काल का प्रभाव था।[1] गोस्वामी जी ने तो परम्परा का अनुसरण किया है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्रत्युक्ति रूप से डॉ० नगेन्द्र का प्रश्न है कि यदि ऐसी बात है तो सूर ने ऐसा क्यों नहीं किया, क्या तुलसी-जैसे क्रान्त-द्रष्टा कवि के लिए ऐसी परम्परा का अनुसरण उचित था ?[2]

तुलसी के पक्ष में चौथा तर्क यह है कि वे सन्त थे[3]। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जहाँ अनेक बातें साधारण गृहस्थों के लिए कही हैं, वहाँ कुछ बातें सन्तों के लिए भी कही हैं, और नारी की निन्दा तो उन्होंने अपने और अपने समान-धर्मी सन्तों के मन को सचेत करने के लिए ही की है। तुलसीदासजी की कई कटूक्तियाँ, यथा महासागर की और रावण की, संस्कृत के नीति-वचनों का अनुवाद-मात्र हैं जिसकी चर्चा यथा-स्थान हो चुकी है।

कटूक्तियों के दो कारण—डा० नगेन्द्र ने गोस्वामी जी की कटुता के दो कारण बताये हैं—एक तो यह कि उन्होंने पत्नी की डाट खाई थी, और दूसरा यह कि उनकी की उपासना पुरुष-भाव से पुरुष-रूप भगवान् के लिए है। अन्य दो पद्धतियों के अनुसार, नारी-भाव से पुरुष-रूप भगवान् की उपासना होती है अथवा पुरुष-भाव से नारी-रूपा शक्ति की। पिछली दो पद्धतियों में नारी-भाव की आवश्यकता एवं महत्ता स्पष्ट है, किन्तु प्रथम पद्धति में जो तुलसीदास जी की है, नारी-भाव की आवश्यकता नहीं है।[4]

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि यद्यपि तुलसीदास जी ने नारी के प्रति जो उद्गार लेख-बद्ध किये हैं उनमें से कुछ तो हीन पात्रों के मुख से निःसृत होने के कारण, और कुछ विनम्रता-दीनता से उच्चरित होने के कारण, ध्यान देने योग्य नहीं हैं। पर महत्त्वपूर्ण पात्रों की उक्तियाँ तो प्रभाव डालती हैं और भगवान् राम के मुख से भी नारी-निन्दा हुई है। तुलसीदासजी ने यदा-कदा अपनी ओर से भी नारी के प्रतिकूल कुछ वचन लिखे हैं, यद्यपि उनमें से कुछ प्राचीन श्लोकों के भाव और अनुवाद मात्र हैं। इस प्रकार गोस्वामी जी दोषारोपण से सर्वथा मुक्त तो नहीं परन्तु उनके उद्गार सकारण हैं। एक तो उन्हें अपनी पत्नी से उपदेश मिला और दूसरे उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ऋषि-सन्तों की परम्परा एवं तत्कालीन देशी-विदेशी विचार-धारा का अनुसरण किया। अतएव यदि गोस्वामी जी सर्वथा निर्दोष नहीं तो कोप-भाजन भी नहीं हैं। कौशल्या, सुमित्रा और सीता के चरित्र-चित्रण में 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण' और 'हनुमन्नाटक' स्पष्टवादी हैं, किन्तु तुलसीदासजी ने असीम चातुर्य और साफल्य के साथ उनके चरित्र के असम स्थलों को अपनी साधुता से रगड़ कर उज्ज्वल कर दिया है। इस सहृदय सन्त को यह कभी सह्य नहीं हो

---

१. यथाः मीना बाजार, अकबर-जहाँगीर की उद्दाम विलासिता; प्रो० रामकुमार 'कुमार' कृत 'तुलसी का गवेषणात्मक अध्ययन', पृष्ठ ६२।

२. तुलसीदास एक विश्लेषण, पृष्ठ २५।

३. वही, पृष्ठ २५-२६।

४. वही, पृष्ठ २६-२७।

सकता था कि कौशल्या अपने पुत्र को वनवास देने वाले पति के प्रति कटुता प्रकट करे और उसकी मृत्यु के पश्चात् कैकेयी को कुवाच्य कहे, कि भगवान् राम अपने श्रीमुख से कैकेयी की बुराई करें, कि सीताजी कैकेयी की कटु आलोचना करें, अथवा लक्ष्मण जी को डाँटने में सीमा से बाहर हो जायँ और लक्ष्मण भी सीताजी को उद्दण्डता पूर्वक उत्तर दें। वाल्मीकि जी का वर्णन ऐतिहासिक है, अतएव सत्य है; तुलसीदासजी का निरूपण आदर्शमय है, अतएव उच्च है।

(च) तुलसीदासजी का आचार-परक निष्कर्ष

गोस्वामीजी का आचार-दर्शन संक्षेप में इस प्रकार है: आचार का स्रोत माया है और माया ब्रह्म पर आधृत उपसत्ता है। ईश्वर कार्य करने में परम स्वतन्त्र है, किन्तु जीव पंजरस्थ शुक और रज्जु-बद्ध मर्कट के समकक्ष है। व्यक्ति का कार्य-क्रम हरीच्छा से पूर्व-नियत है और उस कार्य-क्रम का किंचित् आभास ज्योतिष-गणना, आकृति-विज्ञान एवं शकुन-विचार से मिल सकता है। हरीच्छा का व्यावहारिक रूप कर्म-सिद्धान्त है जिसके कारण पुनर्जन्म होता है। व्यक्ति मे विवेक शक्ति है, अतएव वह अपने कार्य के लिए उत्तरदायी है, यद्यपि अल्पज्ञान-वश कभी-कभी ऐसी प्रतीति भी होती है, कि कर्त्ता कोई है और भोक्ता कोई अन्य है। सत्कार्यों का फल सुखद होता है अतएव वे विहित हैं। सफल सदाचार के निमित्त सत्संग वांछनीय है। परमार्थ –कैवल्य अथवा ब्रह्मभाव, अथवा जन्म-मरण के संकट से मुक्ति—राम-नाम-जप के द्वारा अत्यन्त सरल है।

कर्म-सिद्धान्त सब के लिए लागू है, यह नियत और अपरिहार्य है। इसके अनुसार जो जैसा करता है वह वैसा भरता है। पाप के निवारण अथवा शमन के लिए शान्ति-कर्मों की आवश्यकता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि ऐसा करने से पाप की निवृत्ति हो ही जाय, क्योंकि ध्यान, यात्रा, तप तथा अन्य सुकर्मों के रहते हुए भी पाप तो रक्त-बीज राक्षस की भाँति बढ़ता रहता है। अतएव भगवत्प्रसाद ही समस्त आधि-व्याधियों के लिए रामबाण है :—

करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रकत बीज जिमि बाढ़त जाहीं॥
हरनि एक अघ-असुर-जालिका। तुलसिदास प्रभु-कृपा-कालिका॥ वि० १२८

अतिभौतिक दृष्टिकोण से, सत्य धर्म है और असत्य अधर्म है। आचारिक दृष्टिकोण से, पुण्य द्विविध है—अहिंसा और परहित। पुण्य का अभावात्मक रूप अहिंसा है और भावात्मक रूप परहित है; इसी प्रकार पाप भी द्विविध है—स्वार्थ और परपीडन। पाप का का सूक्ष्मरूप स्वार्थ और विशाल तथा सामाजिक रूप है परपीडन। प्रत्येक व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्म का पालन करना और नारीपाश से बचना चाहिए। शिवोक्त कल्याणमय 'शिवमार्ग' का अनुसरण प्रशस्त और वांछनीय है, वि०२०५।

राजनीति

राम-राज्य

प्राक्कथन—राम-राज्य राज-तन्त्र का शुद्ध रूप था, किन्तु वह ऑटोक्रेसी अथवा डेस्पोटिज्म[1] से अप्रभावित था। कारण कि राजा प्रधान अवसरों पर अपने मंत्रियों से, जो ऋषि अथवा शास्त्रज्ञ ब्राह्मण होते थे और सम्पूर्ण परिषद् का भी परामर्श लेता था।[2] 'पच' शब्द पाँचजनों की सभा का द्योतक है (रा० २, ५, २)। राज्य के कार्य में प्रजा हस्तक्षेप करना नहीं चाहती थी, तथापि उसका हाथ अवश्य था। प्राचीन भारत में राजा के लिए असीम सम्मान प्रदर्शित किया जाता था, क्योंकि वह पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। यदि कोई राजा अत्याचारी होता, तो प्रजा उसे सिंहासन से च्युत कर यमलोक को पहुँचा देती थी। प्रजा अपने अधिकार का प्रयोग शक्ति-संचय के निमित्त नहीं, किन्तु दोष-निवारण के लिये करती थी। पौराणिक कथा है कि ऋषियों ने वेन की जंघा को मथ कर पृथु नाम का पुत्र उत्पन्न किया और उसे सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया था। वेन-पुत्र पृथु की चर्चा ऋग्, अथर्व और शतपथ में उपलब्ध है और 'विष्णु पुराण' तथा अन्य पुराण किंचित् हेर-फेर के साथ आद्य विवरण को उपस्थित करते हैं। तुलसीदासजी के अनुसार राजा वेन ने लोक-वेद-विरुद्ध अनाचार की सीमा पार कर दी थी, रा० २, २२६। अतएव क्रुद्ध प्रजा ने उसको मार दिया। ऋषियों ने मृत नरेश की जंघा से एक अत्यन्त काले ह्रस्वकाय मनुष्य को उत्पन्न किया, यह निषाद हो गया और उसमें मृत राजा के पाप समा गये। तब ऋषियों ने शव की भुजाओं को मथा और उस से तेजःपुंज पृथु उत्पन्न हुआ जिससे प्रजा सन्तुष्ट रही।

व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य—राम-राज्य लोकतंत्रात्मक था। उसकी प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करता था, यथा-साधारण स्त्री-पुरुषों ने राम-वनवास के अवसर पर, राज्ञी कैकेयी की निःसंकोच कटु आलोचना की थी (रा० २, ५१, ३)। राम के लिये प्रजा का प्रेम इसी बात से स्पष्ट है कि वह राम के पीछे-पीछे वन जाने के लिये कितनी व्यग्र थी। राम के कहने से लोग लौट जाते किन्तु प्रेम के कारण तुरन्त लौट आते थे, और जब वे उन्हें सोता छोड़ गये तो वे जलहीन मत्स्य की भाँति विकल हो गये थे (रा० २, ८३, २; ८५, २; ८६, ३)। यह प्रेम एकांगी नहीं था। राम भी उन्हें प्यार करते थे। कवितावली (७, १३८) और गीतावली (७, २५-२७) में, तुलसीदासजी ने सीता-वनवास की चर्चा की है, जो वाल्मीकि 'रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' में कुछ अधिक विस्तार से हुई है। राम ने सीता को वनवास इस कारण दिया कि उनके राज्य का एक अत्यन्त साधारण व्यक्ति उन पर कलंक आरोपित कर रहा था। लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति का, यदि वास्तव

---

१. आत्म-शासन, मनमाना-शासन। २. वाल्मीकि० २,२,१; २,२,१५-२०

में नहीं तो सिद्धान्ततः अवश्य, समान अधिकार है। अतएव राम ने यह जानने की चिन्ता नहीं की कि कलंक का आरोप किसी प्रभावशाली दिशा से है अथवा किसी नगण्य व्यक्ति से। तुलसीदासजी ने आरोप का उल्लेख तो किया है (गी० ७, २७, १), किन्तु सीतावनवास के लिये वे एक अन्य कारण उपस्थित करते हैं। वह यह है : राम को, द्वादश सहस्र एवं पंचशत वर्ष तक अपने एवं अपने पिता के निमित्त, जो अपने पुत्र के वनवास के कारण असामयिक मृत्यु को प्राप्त हुए थे, राज्य करना था। सीता-वनवास के पूर्व-दिवस की संध्या को, राम का निजी राज्य-काल समाप्त होने वाला और दशरथजी का प्रारम्भ होने वाला था। वे अपने पिता की ओर से शासन करने वाले थे, अतएव वे सीताजी को इस राज्यकाल में अपने वामांग में नहीं रख सकते थे। पत्नी को वनवास देने के अतिरिक्त कोई उपाय न था (गी० ७, २५)। राम ने व्यापक उत्तरदायित्व को अपनाया। यदि उन्हें राज्य का लोभ होता तो वे अनेक विवाह कर सकते थे,[1] क्योंकि उन दिनों बहु-विवाह न दोष था न अपराध। सूर्यवंश में, उनके अनेक पूर्व-पुरुषों ने एक से अधिक पत्नियाँ अंगीकार कीं और स्वयं उनके पिता दशरथ की भी तीन पटरानियाँ थीं। राम ने अश्वमेध के समय जीवित पत्नी के स्थान पर उसकी स्वर्ण-प्रतिमा अपने वामांक में स्थापित की। इससे प्रतीत होता है कि उन्हें अपनी पत्नी से कितना अधिक प्रेम था, कदाचित् अपनी प्रजा के लिये और भी। यही कारण है कि प्रजा भी उनके लिये तब मरती थी और आज भी करोड़ों भारतवासी रामराज्य की सुखद-स्मृति बनाये हुए हैं।

धर्मराज्य—यदि विपरीत-रुचि राजाओं के उदाहरणों को छोड़ दिया जाय, तो कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में राज्य-सत्ता कभी धर्म-निरपेक्ष नहीं रही, उसके कार्य, लोक और वेद के अनुसार संचालित होते थे, (रा० १, ४३, ३; १८१; २, ३१; ७, २६, २; ४३, १)।

ईश्वर का प्रतिनिधि—राजा की उत्पत्ति दिव्य है, उसमें ऐश्वर्य है, (रा० १, ४३, ४)। दिव्य प्रतिनिधित्व की कल्पना भारत में ही नहीं रही, अन्यत्र भी है, यथा: जापानी लोग भी अपने राजा को ऐसी ही दृष्टि से देखते रहे हैं। भारत में यह धारणा अज्ञात काल से है क्योंकि मनुस्मृति के अनुसार ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर से राजा का निर्माण किया (७, ३, ५।)

ज्येष्ठ-पुत्र का उत्तराधिकार—राज-तन्त्र की दूसरी विशिष्टता, अत्र एवं अन्यत्र, यह है कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है। प्रतापभानु अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे, अतएव वे सिंहासनारूढ हुए और उनके भ्राता अरिमर्दन उनकी आज्ञा का पालन करते थे, (रा० १, १८०, ३)। वशिष्ठजी ने भरत से कहा कि वेद का विधान और लोकाचार यह है कि वही मुकुट को धारण करता है जिसे पिता देता है, (रा० २, १७५, २)। राम किंचित् संकोच से इस प्रथा का उल्लेख इस प्रकार करते हैं : 'मैं और मेरे भाई साथ उत्पन्न हुए और हम बचपन में साथ खाते,

---

१. वाल्मीकि रामायणम् का यह श्लोक विचारणीय है :

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः।

अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये॥ २, ८, १२॥

सोते और खेलते रहे, हमारा कर्णच्छेदन, यज्ञोपवीत, विवाह, संक्षेप में हमारे सभी संस्कार, साथ-साथ हुए हैं। हमारे निष्कलंक वंश में यही एक दोष है कि ज्येष्ठ ही अपने छोटे भ्राताओं को छोड़ कर सिंहासन पर आरूढ़ होता है' (रा० २, १०, २-४)। राम का यह कथन केवल लोक-दिखाव न था, क्योंकि लंका से लौटने पर वे अयोध्या के सिंहासन पर बैठे तो, किन्तु एकाकी नहीं। राम-पंचायतन के राज्य-मंच पर केवल राम और सीता के लिये नहीं अपितु उनके भाई भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के लिये भी आसन थे। छठे हनुमान् तो सेवक थे। कदाचित् राम-पंचायतन ही पंचायत-राज्य का प्रथम बीज है, जो तब से अरिष्टशासन, अल्पशासन और जनतंत्र आदि अनेक रूपों में पल्लवित हुआ है।[1]

राजा की योग्यता—राजा की योग्यताओं, कर्त्तव्यों और आदर्शों का विधान इस प्रकार है: उसे शक्ति, नीति, ऐश्वर्य, (रा० १, १५७, २), धर्म, प्रताप और शील का निकेतन, (रा० १, १८०, २) होना, तथा वेद-विधि से प्रजा का संरक्षण और शासन करना चाहिये, (रा० १, १८१)। मनुजी के अनुसार उसे सत्यवादी, विवेकी, बुद्धिमान् और न्यायी होना; धर्म, अर्थ, काम, वेद और धर्मशास्त्र का अध्ययन करना; तथा काम, क्रोध, लोभ-जन्य दोषों से सतर्क रहना चाहिये (७, २६-५३)। तुलसीदासजी ऐसा मानते-से हैं कि शीलनिधि (रा० १, १५७, १) और सत्यकेतु (रा० १, १८०, १) दोनों ही राजा इन सब अथवा बहुत से गुणों से समन्वित थे। राजा को यह ध्यान रखना चाहिये कि मेरे राज्य में यति-मुनि तो कष्ट नहीं पाते, अन्यथा वह अग्नि के बिना ही भस्मसात् हो जाता है, अतएव उसका कर्त्तव्य है कि वह ब्राह्मणों को संतुष्ट रखे (रा० २, १२६, १-२)। यह कथन मनुजी के अनुकूल है, जिनका यह आदेश है कि मृत्यु को प्राप्त होता हुआ भी राजा किसी वेद-पाठी पर कर न लगाए और उसे भूखा न मरने दे। विद्वान् की जीविका के लिये उचित प्रबन्ध होना आवश्यक है (७, १३३-१३६)। राजा को उचित है कि वह अपनी प्रजा से प्रेम करे और उसके कल्याण की रक्षा करे, क्योंकि—

> **जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥**
> **सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥**
>
> रा० २, ७१, ३; १७२, २

राजा के लिये नीति का ज्ञान तो आवश्यक है ही, उसे सब के साथ मृदु वचनों के द्वारा यथा योग्य व्यवहार करना चाहिये। प्रतापभानु ने जो वर चाहा था उसमें आशावादी नरेश की आदर्श इच्छाएँ सन्निहित है, (रा० १, २०४)। वे ये हैं—

> **जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।**
> **एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥** रा० १, १६४

भले-बुरे राजाओं के लिये उपमाएँ—समय की गति राजा की योग्यता पर निर्भर है। वायु तो वायु ही है, वह न अच्छी है न बुरी, किन्तु स्वच्छ या अपवित्र वस्तु के संसर्ग से वह सुगन्ध या दुर्गन्ध हो जाती है। इसी प्रकार समय समय है, यदि राजा

---

१. अरिस्टोक्रेसी, ऑलिगार्की, डिमोक्रेसी।

बुरा है, तो लोग उस समय को कठिन बताते हैं, और यदि भला है तो उसे सुखमय कहते हैं :

जथा अमल पावन पवन पाइ कुसंग सुसंग।
कहिय कुबास सुबास तिमि काल महीस-प्रसंग ।। दो० ५०५

कुनृप खजूर के समान है जिसकी कंटकमय शाखाएँ गिर पड़ती है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है और अपनी अनीति के कारण अपनी जाति का पतन करता है, दो० ५१४-५१५। इसके विपरीत माली, सूर्य और किसान के समान सुनृप है, दो० ५०७। जिस प्रकार माली कुम्हलाते हुए पौधों में पानी लगाता है, उस प्रकार उदार नरपाल असहाय और दीनों की रक्षा करता है। जैसे सूर्य समुद्र से, अलक्षित रूप से, जल को ग्रहण कर लेता है; वैसे विज्ञ नरेश, जनता पर परोक्ष रूप से कर लगाकर, जनता का हित करता है; तथा जिस प्रकार किसान खेत जोतता, खाद डालता, बीज बोता, पानी देता एवं देखभाल करता है और जब शस्य तैयार हो जाता है तब उसे काट लेता है, इसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा का हित करता है—

माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल।
प्रजा-भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल ।। दो० ५०७
बरषत हरषत लोग सब, करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा-सुभाग ते भूप भानु सो होइ ।। दो० ५०८

शासक के सिद्धान्त—तुलसीदासजी ने शासक के लिये कुछ सिद्धान्तों का निरूपण किया और उनके पालन करने का उपदेश दिया है। राजा को कभी नीति की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। रामने, वन के लिये प्रस्थान करते समय, प्रजा को परामर्श दिया था कि तुम भरत की आज्ञा का पालन करना; और भरत के लिए, जो उस समय मातुल-गृह में थे, वे यह संदेश छोड़ गये थे : 'जब भरत आयँ तो कहना कि अब तुम राजा हो गये हा अतएव नीति को न भूलना; मन, वाणी और कर्म से प्रजा का हित करना; निष्पक्ष होकर अपनी माताओं की आज्ञा का पालन करना; भाई का कर्त्तव्य निभाना; और पिताजी की, माताजी की तथा अन्य सम्बन्धियों की देखभाल रखना जिससे उन्हें मेरे जाने का दुःख न हो', (रा० २, १५२, ३)। इसी प्रकार अपमान का बदला लेने के लिए शूर्पणखा रावण को उपदेश देती है—

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा ।।
बिद्या बिनु बिबेक उपजाएं। श्रम फल पढ़े किएँ अरु पाएँ ।।
सँग तें जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ग्यान पान तें लाजा ।।
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी ।।
रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप करि लागी रोदन करन ।। रा० ३, २७, ४-२८

प्रतापभानु अनजाने कपट मुनि के फेर में पड़ गये थे, उस विषय में तुलसी का उपदेश है :

रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिअ न ताहु।
अजहुँ देत दुख रबि ससिहि सिर अवसेषित राहु ।।रा० १, २००।।

कुछ अन्य उपदेश—अति साहस बुरा है। मनुष्य को सतर्क और सावधान

रहना चाहिए। शास्त्री, मर्मज्ञ, स्वामी, शठ, धनवान, वैद्य, बन्दी, कवि और मनोविज्ञानी इन नौ पुरुषों से विरोध करना ठीक नहीं, रा० ३, ३३, २। शास्त्र का पारायण बार-बार करना चाहिए और राजा को, चाहे कितना ही सुसेवित यह क्यों न हो, अपने वश में नहीं समझना चाहिये :

सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ

रा० ३, ४५, ४

जब सचिव, वैद्य और गुरु, भय अथवा आशा से, मीठा बोलने लगें तो समझ लेना चाहिये कि राज्य, धर्म और स्वास्थ्य का शीघ्र नाश हो जायगा :

सचिव वेद गुर तीनि जो प्रिय बोलहिं भय आस
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास ॥ रा० ५, ३७

रावण के सचिव रावण की हाँ-में-हाँ मिलाते थे, जिससे अन्त में उसे दुःख भोगना पड़ा, (रा० ५, ३७, १)। दूसरे की पत्नी की इच्छा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह स्त्री या तो अपयश देती है अथवा गुप्तचर का कार्य करती है। विभीषण और माल्यवान ने रावण से कहा था कि यदि आप कल्याण, बुद्धि, प्रशंसा, सुगति और अनेक प्रकार के सुख चाहते हैं, तो पर-नारी के ललाट को चतुर्थी के चन्द्रमा के समान समझें, (रा० ५, ३७, ३; ४०, १)। सतर्कता के निमित्त अपरिचित व्यक्ति को अपना नाम नहीं बताना चाहिए, नहीं तो कभी-कभी पछताना पड़ता है। यह राजनीति है कि राजा अपना नाम जिस-किसी को और जहाँ-तहाँ न बताए :

सुनहु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप ॥ रा० १, १६३ ॥

शत्रु, योद्धा और राजा के साथ व्यवहार में विशेष सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि ये लोग छल-बल से अपना काम बना लेना चाहते हैं :

बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहइ निज काजा

रा० १, १८८, ३

तीन प्रकार की जनता—निषादराज गुह ने, अपने अनुयायियों से घाट पर एकत्र हो जाने और यह जानने के लिए कि भरत क्यों आ रहे हैं, यह कहा था कि लोग तीन प्रकार के होते हैं—मित्र, शत्रु, और मध्यगति (उदासीन), (रा० २, १९३)। शत्रु और मित्र का पहचानना कठिन नहीं, क्योंकि वैर और प्रेम छिपाने से नहीं छिपते :

बैरु प्रीति नहिं दुरइ दुराए ॥ रा० २, १९३, १ ॥

उचित व्यवहार—प्रत्येक के साथ यथायोग्य व्यवहार उचित है। राम में यह गुण था। राम का व्यवहार जनक, विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि, मन्त्री, नगर-वासी, नर-नारी, उत्तम, मध्यम और निम्न श्रेणी के व्यक्तियों से उचित रहा, इसी प्रकार सीता का भी, (रा० ७, ३१९, १–४)। किन्तु राम को दुष्ट का कोई लिहाज़ न था, क्योंकि उनके विचार से शठ से विनय, कुटिल से प्रीति, कृपण से नीति, स्वार्थी से ज्ञानचर्चा, लोभी से वैराग्य का वर्णन, क्रोधी से शम, और कामी से हरिकथा की चर्चा इस प्रकार व्यर्थ है जैसे ऊसर भूमि में बीज-वपन, (रा० ५, ६०, १-२)। भय के बिना प्रीति नहीं होती, नीच व्यक्ति विनय से नहीं मानता किन्तु डाँटने से ही नम्र होता है, यथाः केले में कितना ही जल दिया जाय वह तब तक नहीं फलता जब तक भली भाँति

छूंटता नहीं, (रा० ५, ६०; ६१)। लक्ष्मण जी का मत है कि अपमान को सहन नहीं करना चाहिए, क्योंकि लात मारने से धूल भी सिर पर आ चढ़ती है, (रा० २, २३०)।

राजमद—राजा के लिए सब से बड़ी बात यह है कि वह राज-मद से बचता रहे। जब भरतजी सीता-राम से मिलने चित्रकूट आ रहे थे, तो लक्ष्मणजी राम से इस प्रकार बोले : विषयी जीव प्रभुता पाकर, मोहवश, मूढ़ हो जाता है; भरत नीतिज्ञ हैं, साधु और सुजान हैं और रामभक्त भी जैसा कि सब लोग जानते हैं, किन्तु वे भी राजा बनकर धर्म की मर्यादा मिटाकर चले हैं। यह कुटिल कुबन्धु अवसर देख, राम को अकेला समझ, और कुमन्त्रणा कर सेना के सहित इसलिये आया है कि अकंटक राज्य करे। मद के कारण :

ससि गुर तिय गामी नहुषु चढेउ भूमिसुर जान।
लोक बेदतें बिमुख भा अधम न बेन समान।। रा० २, २२८

यद्यपि राम ने लक्ष्मण की यह बात नहीं मानी कि भरत को राजमद हो गया था, तथापि उन्होंने यह स्वीकार किया कि राजमद सब से बुरा नशा है और इसका थोड़ा सा भी चसका उस राजा को विभोर कर देता है जिसने साधु-सभा का सेवन नहीं किया हो—

सब तें कठिन राज मद भाई।
जो अँचवत नृप मार्तांह तेई। नाहि न साधु सभा जेहि सेई

रा० २, २३१, ३-४

तुलसी स्वयं कहते हैं :

नहिं कोउ अस जनमा जगमाहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं

रा० १, ८३, ४

प्रजा के प्रति—यथा राजा तथा प्रजा, यह भारतीय सिद्धान्त है। अतएव सुशासन के निमित्त ऐसे योग्य राजा की आवश्यकता है जो बुद्धिमान्, धर्मात्मा, शक्त और बली हो। काल तो ईश्वर का, सूर्य काल का, राजा सूर्य का, और लोक राजा का अनुसरण करता है :

काल विलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि।
रविहि राउ राजहि प्रजा बुध व्यवहरहिं बिचारि।। दो० ५०४

इस उक्ति का तात्पर्य है कि जिस प्रकार सूर्य समुद्र से वाष्प ग्रहण करता है और फिर कुछ समय पश्चात् उसे मेघ के रूप में सम्पूर्ण पृथ्वी पर बरसा देता है, उसी प्रकार राजा अपनी प्रजा से कर ग्रहण कर उसे भिन्न रूप में लौटा देता है। दूध, मक्खन, भोजन, फल आदि का कर प्रजा से, उसकी अनुमति से ही, ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा वह बड़बड़ाने लगती है :

सुधा सुनाज कुनाज फल आम असन सम जानि।
सुप्रभु प्रजाजन हित लेहिं कर सामादिक अनुमानि।। दो० ५०६।।

उत्तम पुरुष वह है जो वृक्षों के पके फल लेता है, मध्यम वह है जो पकने की बाट न देख कर अधपके ही तोड़ कर घर पकाता है, और नीच वह है जो अधीर होकर पत्तों ही को नोच डालता है। इसी प्रकार उत्तम राजा को सोच-समझकर तभी कर लेना

चाहिए जब धान्य पक जाय और कृषकों को सुविधा हो; मध्यम नरेश शस्य के बिना पके ही कर उघाता है, और अधम तो अकाल पड़ने पर भी कृषकों को कष्ट पहुँचा कर कर उघाने का प्रयत्न करता है। एक और उदाहरण है : गाय अच्छा दूध तभी देती है जब उसका बछड़ा उसे पी चुके, किन्तु जो व्यक्ति उसके पैर बाँधकर दुहने का प्रयत्न करता है, उसे कुछ भी दूध हाथ नहीं लगता। इसी प्रकार राजा की प्रजावत्सलता से सन्तुष्ट होकर प्रजा सहर्ष कर दे देती है, (दो० ५१२)। अतएव कर के विषय में प्रजा की सम्मति नितान्त वांछनीय है। राजा को विचार-शील (दो० ५०४) और दृढ़नीति होना चाहिए (दो० ५१६), अतएव किसी भी कार्य के आरम्भ से पूर्व भली-भाँति विचार कर लेना श्रेयस्कर है, क्योंकि उसी के नियमों से प्रजा का कल्याण होता है और वह सन्मार्ग से नहीं डिगती :

भलेहु चलत पथ पोच भय नृप नियोग नय नेम
सुतिय सुभूपति भूषिअत लोह सँवारित हेम ॥दो० ५०६॥

मूर्ख-बहुल-जनता—इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रजा को सन्तुष्ट रखने के लिये उसकी इच्छा का जानना परम आवश्यक है, किन्तु सबको सब भाँति प्रसन्न रखने का प्रयत्न भी व्यर्थ है। यह प्रयत्न इतना ही कठिन है, जितना कि जोर से खींच कर बारीक सूत का कातना। क्या सीताजी अपयश के योग्य थीं, अथवा श्री कृष्ण स्यमंतक मणि के चोर थे ? किन्तु लोग उन पर भी दोषारोपण करने से न चूके :

अपजस जोग कि जानकी मनि चोरी की कान्ह
तुलसी लोग रिझाइबो करषि कातिबो नान्ह ॥ दो० ४९२ ॥

भेड़-चाल से सावधान रहना चाहिए। जनता में अधिकतर मूर्ख होते हैं जो विषय-विशेष की गम्भीरता तक बहुत कम पहुँच पाते हैं, वे शीघ्र ही अदूर-दर्शी नेताओं के प्रशंसात्मक भाषणों और नारों में बह जाते और अनाचार करने लगते हैं :—

तुलसी भेड़ी की धंसनि जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो खोवत मूढ़ अपान ॥ दो० ४९५

उदाहरण रूप से निवेदन किया जा सकता है कि बहराइच में सय्यद सालार जंग मसऊद गाज़ी (गाजी मियाँ) की दरगाह है। वहाँ ज्येष्ठ मास में प्रतिवर्ष मेला लगता है और अन्धविश्वासी लोग विविध मनोरथों को लेकर जाते हैं। कहते हैं कि ये गाजी मियाँ महमूद गज़नवी के भांजे थे और गाज़ी होने की इच्छा से अवध की ओर बढ़ आये थे, किन्तु वे श्रावस्ती के राजा सुहृद् देव के हाथों मारे गये। अतएव तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रतिवर्ष भीड़ की भीड़ बहराइच की यात्रा के लिए जाती है और ग़ाज़ी मियाँ से अनेक मनोरथों की पूर्ति चाहती है, किन्तु क्या किसी व्यक्ति ने इस बात के जानने का प्रयत्न किया कि गाजी मियाँ की कृपा से किस अन्धे को आखें मिलीं, किस बाँझ को सन्तान, और किस कोढ़ी को कंचन-काया ?

लही आँखि कब आँधरे बाँझ पूत कब ल्याइ।
कब कोढ़ी काया लही जग बहराइच जाइ ॥ दो० ४९६

तुलसीदासजी के इस दोहे से विदित होता है कि सर्व-साधारण जनता कितनी अज्ञ और अविचार-शील होती है।

अधिकारियों पर दृष्टि—अधिकारियों का अनुचित विश्वास न करना चाहिए, किन्तु उनके प्रति सावधान रहना चाहिए। क्योंकि अच्छे अधिकारी भी अवसर पाकर दुर्व्यवहार करने लगते और अन्त में विरुद्ध होकर राजा को हानि पहुँचाते हैं। दुष्ट अधिकारी अपने स्वामी से अधिक अत्याचारी होते हैं, अर्थात् यदि राजा एक प्रकार से बुराई करता है तो उसके अनुगामी तीन प्रकार से। वे सज्जनों से भी कुटिलता करते, समता में भी विषमता बर्तते, और सब कार्यों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं :—

अधिकारी बस औसरा भलेउ जानिबे मन्द।
सुधा सदन बसु बारहें चउथें चउथिउ चन्द॥ दो० ४९९
त्रिबिध एक बिधि प्रभु अनुग अवसर करहिं कुठाट
सूधे टेढ़े सम विषम सब महँ बारह बाट॥ दो० ५००
प्रभु तें प्रभु गन दुखद लखि प्रजहिं संभारे राउ।
करतें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ॥ दो० ५०१

यही कारण है कि नारदजी ने महाराज युधिष्ठिर से उनके मन्त्रियों एवं अन्य अधिकारियों के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से प्रश्न किये थे (महाभा०, सभापर्व)।

आडम्बर—राजा के आडम्बर हैं: सिंहासन, छत्र, राजवस्त्र, चँवर और राज्ञी। कोष, मित्र, वन्दी, दुर्ग, देश, सेना और प्रजा की भी आवश्यकता है (रा० २, १०५, २-१०६, २)। गोस्वामीजी ने इन सबका वर्णन एक रूपक के द्वारा किया है, जिसका उल्लेख अभी किया जायगा। राजा शीलनिधि को ये सब उपकरण प्राप्त थे। उसकी राजधानी की परिधि शत योजन थी और वह वैकुण्ठ से भी अधिक सम्पन्न थी। उसके सभी निवासी मूर्त्तिमान् रति और कामदेव थे, जिनके पास असंख्य घोड़े, हाथी और सेना थी। शत इन्द्रों के समान उसका ऐश्वर्य था और वह स्वयं भी शक्ति, नीति और वैभव का केन्द्र था, (रा० १, १५७, १-३)।

राजसत्ता और राज्य—कवि होने के नाते तुलसीदासजी ने अपने विचारों को रूपकों में मूर्त्त किया है। राम चित्रकूट में निवास करते थे, उनकी उपस्थिति से उपवन पर कल्याणकारी और मनोहर प्रभाव पड़ा था। रूपक है : चित्रकूट-वन पवित्र देश है, विवेक नरेश है, शान्ति और सुमति दो सुन्दर और पवित्र रानियाँ हैं, विराग सचिव है, राम-निवास संपत्ति है, चित्रकूट राजधानी है, यम-नियम भट हैं, राजा सकलांग-सम्पन्न रामचरणाश्रित और उल्लास-चेता है। विवेक-नरेश ने कामादि दलबल सहित मोह-महीपाल को पराजित कर दिया है। राज्य में सर्वत्र सुख, सम्पदा और सुकाल है। वन प्रदेश के मुनि-कुटीर ही नगर, पुर और ग्राम हैं। पक्षिगण प्रजा हैं। शश, गज, सिंह, व्याघ्र, सूकर, महिष, वृक आदि अपने स्वाभाविक वैर-भाव को छोड़कर एकत्र विचरते हैं। इन्हीं की बनी सुसज्जित सेना है। झरनों का निर्झरण और गजों का गर्जन विविध राजकीय वाद्य हैं; चक्र, चकोर, चातक, शुक, पिक का गुंजन सुखद संगीत है; हंस बंदी हैं; अलिगण गवैये और मोर नर्तक हैं; सफल और सपुष्प विटप तथा वल्ली और तृण का समुदाय राजा का मंगल-मोद-मय दरबार है, (रा० २, २३५-२३७)।

एक रूपक और है जो राजा और राज्य के विषय में गोस्वामीजी के विचारों पर प्रकाश डालता है : प्रयाग तीर्थराज है, उसकी रानी श्रद्धा, सचिव सत्य, मित्र माधव,

कोष पदार्थ-चतुष्टय, देश पुण्य-स्थल और अगम्य दुर्ग उसका विस्तार है ; तथा उसके सैन्य के सिपाही हैं श्रेय और बल जो कलुष-दल को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। उसका राज-छत्र है अक्षय-वट, और चँवर है गंगा-यमुना की ऊर्मियाँ। उसके सेवक हैं आप्त-काम साधु सुकृती, और वंदी-जन हैं वेद-पुराण (रा २, १०५, १०६)।

सचिव की योग्यता—उक्त रूपक में सत्य को सचिव माना गया है। प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी के अनुसार मन्त्री का मुख्य गुण सत्यवादिता है। उसे चतुर, धर्मात्मा, नीतिज्ञ, (रा० १, १८१, १) तथा मनुजी के अनुसार, बुद्धिमान्, धर्मशास्त्रज्ञ, वीर, युद्धकुशल, सच्चरित्र और सुवंशज होना चाहिए, ७, ५४। राजा अकेला राज्यभार को नहीं सम्हाल सकता। अतएव उसे सुयोग्य सात-आठ मंत्री नियुक्त कर लेने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त राजा को ऐसे राजदूतों की भी आवश्यकता है जो विज्ञ, मानस-गुणी, शुचि, दक्ष, अनुरक्त, देशकालविद्, निडर, वाग्मी, कुलोद्भव, मेधावी एवं वपुष्मान् हों, (मनु ७, ५५-६४)। प्रतापभानु का धर्म-रुचि नामक मंत्री शुक्राचार्य के समान नीतिज्ञ था। दशरथजी के यहाँ आठ मंत्री थे जिनमें से एक सुमंत्र भी थे, वशिष्ठजी परामर्श-दाता थे। रावण के वहाँ भी शुक्र, प्रहस्त, विभीषण आदि अनेक मंत्री थे, (रा० ५, ५९, २-३; ६०, १-२, ६, १३, ३)। अंगद ने राम के निमित्त दौत्य किया था।

गुप्तचर—गुप्तचर राजा के नेत्र होते हैं। प्राचीन भारत में गुप्तचरों का ताना-बाना रहता था। चाणक्य ने अपने चिरस्मरणीय ग्रन्थ अर्थशास्त्र में गुप्तचरों की योग्यता, कर्त्तव्य तथा प्रथा का विशद् वर्णन किया है। जनकजी ने अयोध्या में चार चर यह जानने के लिये भेजे थे कि कहीं भरतजी वनवासी राम के विरुद्ध तो नहीं हैं (रा० २, २७१, ४)। हनुमानजी तथा अन्य वानरों ने सीताजी का शोध लेने के लिये चर-रूप से कार्य किया था। जब विभीषण भगवान् राम की शरण में आये, तो वानरों ने उन पर चरत्व का सन्देह किया था। रावण-प्रेषित कुछ गुप्तचर लक्ष्मणजी के पास लाये भी गये (रा० ५, ५३)। रामचन्द्रजी ने हनुमानजी को ब्राह्मण वेश में भरत के पास यह जानने के लिये भेजा था कि मेरे वनवास-काल में अयोध्या की वस्तु-स्थिति क्या रही और मुझे अपने राज्य में लौटना चाहिए कि नहीं, क्योंकि, जैसा कि वाल्मीकिजी ने लिखा है, पैतृक-सिंहासन किस को नहीं लुभाता ?

शत्रु के प्रति व्यवहार—शत्रु के साथ चतुर्विध उपायों का अवलम्बन किया जाता है—उच्चाटन, वशीकरण, मारण और आकर्षण (वि० १०८)। इनके अतिरिक्त चार और हैं—साम, दान, दण्ड और भेद। हनुमानजी ने पिछले चतुष्टय का उल्लेख सुग्रीव से किया और उन्हें सीता की खोज के लिए प्रोत्साहित किया, (रा० ४, २१, १)। राजदूत अंगद ने रावण के चार मुकुट रामचन्द्रजी की ओर फेंक-चलाये थे, जिनकी उपमा तुलसीदासजी ने साम, दान, दण्ड और विभेद से दी है और कहा है कि यह चतुर्धा नीति राजा में सदैव रहनी चाहिए ; किन्तु वह रावण को छोड़ रामचन्द्रजी के पास आ गयी थी, (रा० ६, ५६, ४-५)।

सामादि उपायों में राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए, पंडितों ने साम और दण्ड की बहुत प्रशंसा की है, (मनु० ७, १०९)। विभीषण के द्वारा रावण को परामर्श है कि सुमति और कुमति सब के हृदय में रहती हैं, किन्तु

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

रा० ५, ४०, ३

तुम्हारे हृदय में कुमति बसी हुई है अतएव तुम शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु समझते हो। अपने मित्र और मंत्रियों के परामर्श से जो राजा कार्य करते हैं वे सफल होते हैं अन्यथा हानि उठाते हैं।" रावण ने अपने स्वामिभक्त मंत्रियों की मंत्रणा की अवहेलना की, और न विभीषण और न माल्यवान् की सुनी, अतएव उनमें से एक तो राम की शरण में आ गया और दूसरा घर चला गया। इस प्रकार राक्षसराज दो अच्छे मंत्री खो बैठा। इधर राम ने शरणागत विभीषण का स्वागत यह कहकर किया :

शरणागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥ रा० ५, ४४

राम की नीतिज्ञता द्रष्टव्य है : यदि विभीषण करोड़ों ब्राह्मणों का वध करके शरण में आता तो भी राम उसे विमुख न करते :

कोटि विप्रबध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥ रा० ५, ४४, १

विभीषण भी राम को कितना उपयोगी सिद्ध हुआ, उसे अपने भाई-भतीजों के मर्मों को बताने में तनिक भी संकोच न हुआ।

(सेना—प्राचीन भारत में सेना चतुरंगिणी होती थी। कामदेव की सेना भी ऐसी थी, (रा० ३, ४७, ५)। अमरकोष के अनुसार चतुरंगिणी में हस्ती, अश्व, रथ और पदाति होते हैं। रावण की सेना असंख्य और विविध प्रकार से सुसज्जित थी, उसमें चतुरंगिणी की बहुत-सी टुकड़ियाँ थीं जिनमें अनेक प्रकार के वाहन, रथ, तथा अन्य यान थे। बहुत से रंगों की ध्वजा-पताकाएँ थीं। मतवाले हाथियों के झुण्ड के झुण्ड थे जो प्रावृषमेघ से प्रतीत होते थे। रंग-विरंग के वेश धारण किये हुए वीरों के समूह सुशोभित थे। सेना ऐसी विशाल थी कि उसकी गति से दिशाओं के हाथी डिगने, समुद्र क्षुब्ध होने और पर्वत डगमगाने लगते, और धूल इतनी उड़ती कि सूर्य छिप जाता, पवन रुक जाता और पृथ्वी अकुला उठती। ढोल नगाड़े ऐसे बजते थे मानो प्रलय कालीन मेघों का गर्जन हो रहा हो। भेरी, नफ़ीरी, शहनाई आदि से उत्पन्न योद्धाओं को सुख देने वाला मारू-राग बजता, तथा वीर अपने-अपने बल-पौरुष का वर्णन सिंह-नादपूर्वक करते थे। (रा० ६, १०१, १-५)।)

रावण को सूचना मिली थी कि राम की सेना विशाल है, जिसमें अठारह पद्म तो केवल वानरों के सेनापति थे जिनमें मुख्य थे द्विविद, मयन्द, नल, नील, अंगद, गद, विकटास्य, दधिमुख, केसरी, निशठ, शठ और जाम्बवान् जो सभी बल में सुग्रीव के समान थे, (रा० ५, ५६)। लंका के चार द्वार थे अतएव प्रधान सेनापति सुग्रीव ने अपनी सेना के चार विभाग किये, (रा० ६, ५८, २)। स्वच्छ कृपाणें और तलवारें ऐसी चमकती थीं जैसे बिजली। हाथी, रथ और घोड़ों का गर्जन मेघवत् था। आकाश में छायी हुई अनेक वानरों की पूछें इन्द्रधनुष-सी सुन्दर लगती थीं, (रा० ६, १११, ३)। सेना की प्रगति वाद्य के साथ होती थी, जो वीर-हृदयों में उमंग उत्पन्न करता था। यदि कोई योद्धा पीठ दिखाकर भागता तो उसे बुलाकर उसमें उत्साह का संचार किया जाता। कभी-कभी रावण को कहना पड़ा कि 'मैं जिसे रण से भागा हुआ सुनूँगा उसे भयानक दुधारी

तलवार से मारूँगा, मेरा सब कुछ खाया, भाँति-भाँति के भोग किये और अब रणभूमि में अपने प्राण प्यारे हो गये।' रावण के इन उग्र वचनों को सुनकर वीर डर जाते और लज्जित हो तथा प्राणों का मोह छोड़ कर युद्ध के लिए लौट जाते, (रा० ६, ६१, ४)। एक और बार रावण ने योद्धाओं से कहा था कि 'यदि युद्ध में शत्रु के सम्मुख किसी का मन विचलित हो, तो अच्छा है वह अभी भाग जाय। युद्ध से भागना ठीक नहीं। मैंने अपनी भुजाओं के बल पर वैर बढ़ाया है, जो शत्रु चढ़ आया है उसे मैं स्वयं समझ लूंगा'। (रा० ६, १००, २-३)। ऐसे शब्दों से योद्धाओं में भय, त्रपा अथवा विश्वास का संचार हो जाता था; उनका विश्वास था कि प्राणों का मोह छोड़ शत्रु के सम्मुख लड़ते-लड़ते मृत्यु का आलिंगन करने में योद्धा का गौरव है :

सनमुख मरन बीर के सोभा ॥ रा० ६, ६१, ५

शस्त्रास्त्र—अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र विद्यमान थे। राक्षस-लोग ब्रह्मास्त्र (रा० ५, १६) और नागपाश (रा० ५, १६, १) का प्रयोग करते; तथा भिन्दिपाल, बरछी, तोमर, मुद्गर, फरसा, भाला, कृपाण, परिघ, गिरिखंड (रा० ६, ५६, ४), त्रिशूल (रा० ६, ६२), बाण (रा० ६, ७०, ३) शक्ति, (रा० ६, ७४, ४), आदि चलाना जानते थे। हनुमान्, अंगद और विभीषण गदाधारण करते थे (रा० ६, ११८, २-४), तथा रावण और मेघनाद शक्ति, चक्र एवं धनुर्बाणों से अधिक काम लेते थे (रा० ६, १५, ३)। राम-लक्ष्मण धनुर्धारी थे। राम का धनुष शारङ्ग कहलाता था, कदाचित् शृंग-निर्मित होने से, (रा० ६, ११०, छं० ५)। धनुर्धारियों के दोनों ओर तूणीर लटके रहते थे, (रा० ६, ८६, १)। उनके नाराच वस्तुओं को यथेष्ट स्थान पर रख सकते और शत्रु का हनन कर निषंग में लौट आते थे। इन बाणों में राक्षस-माया को निवारण करने की शक्ति भी थी। सुनते हैं प्राचीन भारत में आग्नेयास्त्र से सर्वत्र अग्नि और वरुणास्त्र से सर्वत्र जल की उत्पत्ति हो जाती थी। रामचन्द्र जी का बाण तो महासागर तक का शोषण कर सकता था। उस कराल विशिख के संधान-मात्र से समुद्र की अन्त-र्ज्वाला जग उठी और मकर, मीन आदि जल-जन्तु ऐसे अकुलाने लगे, (रा० ५, ६०, ३-४) जैसे आजकल 'एटम बम' से। भरत ने तो हनुमान् जी से उन्हें अपने बाण पर बिठा कर लंका भेजने का प्रस्ताव किया था—

तात गहरु होइहि तोहि जाता। काजु नसाइहि होत प्रभाता॥
चढु मम सायक सैल समेता। पठवौं तोहि जहँ कृपा निकेता॥ रा० ६, ८०, ३१

युद्ध-कौशल—वानरों और राक्षसों का युद्ध-कौशल आद्यकालीन-सा था। वे एक-दूसरे को काटते-बकोटते और लात-घूंसों की लड़ाई लड़ते। राम, रावण और भरत के अस्त्रों की अपेक्षा, साधारण राक्षसों और वानरों का युद्ध बालकों के लिए अधिक रोचक प्रतीत होता है :—

एक एक सन भिरहिं पचारहिं। एकन्ह एक मर्दि महि पारहिं॥
मारहिं काटहिं धरहिं पछारहिं। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥
उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं॥
निसिचर भट महि गाड़हिं भालू। ऊपर डारि देहिं बहु बालू॥

रा० ६, १०५, २-४

आज भी लोग क्रोध में कह देते हैं कि खोद कर गाड़ दूंगा, यद्यपि उक्ति क्रिया में परिणत नहीं होती। दोनों दल चिल्लाते और एक-दूसरे को द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारते थे, (रा० ६, १०५, २; ११४-११७; क० ६, ३५; ४०-४१)। किन्तु युद्ध-कौशल उन्नत प्रकार का भी था।

आकाश-युद्ध—योद्धा लड़ते-लड़ते आकाश में चढ़ जाते थे, यथा मेघनाद ने ने अपने मायामय रथ में आकाश में उड़कर वज्रवत् अट्टहास किया था, जिससे वानर सेना में आतंक छा गया। वह इच्छानुसार रूप बदलता और अन्तर्धान हो जाता था, (रा० ६, ६८, ६)। किन्तु ऋक्ष-वानरों के प्रधान भी आकाश में राक्षसों का पीछा कर सकते थे। एक बार इस राक्षस ने राम पर नागपाश फेंका जिसे नष्ट करने के लिये गरुड़ को आना पड़ा, किन्तु रावण ऐसी माया भी जानता था जिसे राम के अतिरिक्त और कोई छिन्न-भिन्न नहीं कर सकता था। उसने राम और लक्ष्मण के दल के दल रच डाले और राम ने उस माया का निराकरण वाण-निक्षेप के द्वारा कर दिया, (रा० ६, ११३ छ०)। लड़ते-लड़ते, रावण ने राम के रथ पर ऐसी वाण-वर्षा की कि वह एक क्षण के लिये तिरोहित ही हो गया। रावण के शिर और भुज कटते, किन्तु उनके स्थान पर नये निकल आते, (रा० ६, ११६, ६, १२२)। जो सिर कट जाते थे वे वायुमंडल में उड़कर यह ध्वनि प्रचारित करते कि 'राम कहाँ ? लक्ष्मण कहाँ ?' और इस प्रकार वानरों के हृदयों में भय का संचार कर देते थे (रा० ६, ११७, ४)। हनुमान् जी की पूंछ पकड़ कर रावण आकाश में उड़ गया और वहाँ वे दोनों युद्ध करते ऐसे प्रतीत होते थे मानो सुमेरु और कज्जलगिरि घात-प्रतिघात कर रहे हों, (रा० ६, ११६, ३-४)। रावण भी वेश बदल कर अन्तर्धान हो सकता था, (रा० ६, १२०, १)। उसने अपनी माया से अपने इतने रूप रच डाले जितने वानर युद्ध कर रहे थे, (रा० ६, १२०, २)। एक बार उसने अपने पाषंड से भयंकर जीव प्रकट किये, यथा वेताल, भूत, पिशाच जो हाथों में धनुष-वाण लिये हुए थे और योगिनियाँ भी जो एक हाथ में तलवार और दूसरे में मनुज-कपाल लिये खून पी-पी कर नाचती-गाती थीं। इनसे वानर बड़े भयभीत हुए यहाँ तक कि लक्ष्मण और हनुमान् भी अचेत हो गये। किन्तु राम के केवल एक वाण ने इस समस्त माया का अन्त कर दिया, (रा० ६, १००, छन्द १-५)। रावण के शिर और भुज कटकर गिरते तो नये निकल आते थे, क्योंकि उसकी नाभि में अमृत भरा हुआ था। जब यह रहस्य विभीषण से विदित हुआ, तब राम ने एक वाण से राक्षसराज की नाभि के अमृत का शोषण कर लिया और तीस वाणों से उसके शरीर को छिन्न-भिन्न कर दिया, (रा० ६, १२५, छन्द १-५)।

वायुयान—जैसा कि अभी कहा जा चुका है युद्धों में रथों का उपयोग होता था। मेघनाद और रावण अपने रथों का संचालन भूमि तथा आकाश में कर सकते थे (रा० ६, ६४)। राम के पास कोई रथ न था किन्तु जब इन्द्र को यह ज्ञात हुआ कि राम को पैदल लड़ना पड़ता है तो उसने अपना चतुरश्व रथ मातलि नामक सारथि के सहित भेज दिया, (रा० ६- ११३, १-२)। वह रथ तेजःपुंज, दिव्य और अनुपम था, उसके घोड़े अजर, अमर और मनोजव थे। राम ने इस यान को

स्वीकार कर लिया और युद्ध के पश्चात् तुरन्त लौटा भी दिया, (रा० ६, ११३, १-२) देवगण अपने-अपने वायुयानों में बैठकर युद्ध को देखने आते, और जब कभी प्रसन्नता का अवसर आता तो पुष्पवर्षा करते। पुष्पक नाम का विमान कुबेर का था जिसे रावण छीन लाया था। युद्ध के अवसान पर राम-सीता और लक्ष्मण उसमें बैठकर, और विभीषण को तथा कुछ प्रमुख ऋक्ष और वानरों को साथ लेकर, अयोध्या लौटे थे। तत्पश्चात् उन्होंने उसे उसके वास्तविक स्वामी के पास भेज दिया।

युद्ध का समय—युद्ध नित्य प्रति सूर्योदय से प्रारम्भ हो सूर्यास्त तक चलता था। रात्रि के अवसान और सूर्य के उदय के समय ऋक्ष और वानर लंका के चारों द्वारों पर एकत्र हो जाते थे (रा० ६, १००, २१)। प्रभात के समय राम अपने योद्धा हनुमान्, अंगद आदि को भेजते थे, (रा० ६, १०६, २)। रावण भी प्रातःकाल ही युद्ध का प्रारम्भ करता, (रा० ६, १२४, ५)। किन्तु सूर्यास्त के समय समस्त युद्ध अवरुद्ध हो जाता था, (रा० ६, ७५, २)। रावण का सारथि भी सायंकाल के समय रावण को घर ले जाता, (रा० ६, १२२, छन्द)। किन्तु कभी-कभी इस समय की अवहेलना भी हुई।

अजेय-मख—विजय का साधन केवल सेना न थी। तन्निमित्त यज्ञों की भी शरण ली जाती थी। विजय के निमित्त मेघनाद ने अजेय-यज्ञ का आयोजन किया, और वह महिष के रक्त-मांस की आहुति दे ही रहा था कि इतने में वानरों ने वहाँ जाकर मख को भ्रष्ट कर दिया, (रा० ६, ६७-६८)। रावण ने भी इसी प्रकार का यज्ञ प्रारम्भ किया था किन्तु वानरों ने आकर उसे भी खण्डित कर दिया, (रा० ६, १०६-११०।) दोनों बार यज्ञ-सम्बन्धी सूचना और उसके निरास का उपाय विभीषण ने बताया था, क्योंकि उसके मत से जो भी इस यज्ञ को परिपूर्ण कर लेता वह सर्वथा अजेय हो जाता, (रा० ६, १०६, १)।

धर्म-रथ—तुलसीदासजी राम के विषय में तनिक भी संदेह के लिए कभी प्रस्तुत नहीं। उसका निरास करने के लिए वे सदैव व्यग्र एवं कटिबद्ध रहते हैं। यह सोचना कि इन्द्र-प्रेषित दिव्य रथ ने राम-विजय में सहायता की होगी, तुलसीदास के लिए असह्य है। जब विभीषण ने राम का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि आप तो पैदल लड़ते हैं और आपका शत्रु रथासीन है, तो राम ने केवल यह उत्तर दिया : "सुनो, मित्र, विजेता के पास एक भिन्न प्रकार का रथ होता है। शौर्य और धैर्य उस रथ के चक्र; सत्य और शील उसकी ध्वजा और पताकाएँ; तथा बल, विवेक, दम और परहित ये चार उसके घोड़े हैं जो क्षमा, दया और समता-रूपी डोरियों से रथ में जुते हुए हैं। ईश-भजन उसका चतुर सारथी है, वैराग्य ढाल है, संतोष कृपाण है, दान परशु है, बुद्धि शक्ति है, विज्ञान कोदण्ड है, अचल-मन शिरस्त्राण है, शम-यम-नियम बाण हैं, और विप्र-गुरु-पूजा कवच है, इसके समान विजय का दूसरा उपाय नहीं। जिसके पास ऐसा धर्ममय रथ हो उसे जीतने के लिए शत्रु नहीं मिलते। जिसके पास ऐसा दृढ़ रथ हो, वह वीर संसार रूपी महान् और अजेय शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है," (रा० ६, १०२–१०३)।

नीति—नीति ही समग्र धर्म नहीं है, वह धर्मांग है। राम को युद्ध करना और

शत्रुओं को मारना पड़ा। न तो उनका युद्ध शाब्दिक था, और न उन्होंने दृष्टिमात्र से किसी का हनन किया। वे वैसा भी कर सकते थे, क्योंकि वे जिह्वा के मृदुल एवं देखने में दर्शनीय थे, तथापि उनमें भुज-बल और दृढ़-संकल्प भी विद्यमान थे। उन्होंने और उनके भाई ने रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद का वध किया था, क्योंकि उन्हें आवश्यकतानुसार रक्तपात के लिए भी कोई संकोच न था। वे नीति में अद्वितीय, अभिवादन-शील और व्यवहार-कुशल थे। उनका व्यवहार आदर से युक्त अथवा कृपा से पूर्ण रहता था। वे निरभिमान इतने थे कि छोटे से छोटे वानर का कुशल-क्षेम पूछ लेते, (रा० ४, २४, २)। उन्होंने विभीषण का स्वागत ही नहीं किया अपितु युद्धान्त से पूर्व ही उसका राज्याभिषेक भी कर दिया, अर्थात् उसका तिलक कर उसे लंकेश शब्द से अभिहित किया, (रा० ५,४६,१,४,५)। रावण की मृत्यु के पश्चात्, उन्होंने सुग्रीव, हनुमान् और अंगद के साथ विभीषण को लंका के सिंहासन पर आरूढ़ कराने लक्ष्मणजी को भेजा था, (रा० ६,१३१, २–४)। विभीषण ने जो बहुमूल्य उपहार भेजे उन्हें राम ने अस्वीकृत कर दिया, (रा० ६, १४३, ३; १४४)। तथापि उन्होंने उन सब वानरों का बड़ा उपकार माना जिन्होंने युद्ध में उनकी सहायता की थी, और उनसे कहा था कि मेरी सफलता का कारण तुम्हारा प्रयत्न है, (रा० ६, १४६, २)। वे अपने सम-सामयिक सभी प्रकार के साधु-संत एवं ऋषि-मुनियों के सम्पर्क में रहते, और उनसे अत्यन्त आदर के साथ निस्संकोच मिलते। अयोध्या को लौटते समय उन्होंने प्रयाग में भरद्वाज ऋषि से पुनः भेंट की (रा० ६,१५६, २)। यद्यपि वे भरत से अत्यन्त स्नेह करते थे, तथापि, निश्चयार्थ, उन्होंने हनुमान्‌जी को प्रयाग से अयोध्या यह जानने के लिए भेजा कि राजधानी की वस्तु-स्थिति कैसी है, (रा० ६, १५६, १)। उन्हें अपनी नगरी, नदी और जनता से प्रेम था; अतएव उन्होंने विभीषण, सुग्रीव, अंगद तथा अन्य वानरों से अपनी मातृ-भूमि का भावपूर्ण उल्लेख किया, (रा० ७, ११, १-४)। गुरु वशिष्ठ से इन व्यक्तियों का परिचय कराते समय, उन्होंने बताया कि 'ये मेरे गुरुदेव हैं, इनका आदर करो'; और गुरुदेव के समक्ष यह कहा कि "मैंने युद्ध में दानवों का जो दलन किया वह सब इनके प्रयत्न से; और क्योंकि इन्होंने अपने प्राण मेरे लिए संकट में डाले, ये मुझे भरत से भी अधिक प्रिय हैं" (रा० ७, १७, ४)। एक अन्य अवसर पर उन्होंने हनुमान् जी से कहा था कि तुम मुझे लक्ष्मण से भी अधिक प्रिय हो, (रा० ४, ४, ४)। उन्होंने वानर-राज सुग्रीव एवं निषाद-राज गुह को कई बार और भिन्न-भिन्न अवसरों पर अलग-अलग यह बताया कि तुम मुझे भरत के समान प्यारे हो, (रा० ४, २३, ४; ७, ४२, २)। राज्याभिषेक के उपरान्त उन्होंने प्रमुख वानर, ऋक्ष आदि सहयोगियों को बुलाया और अत्यन्त कृपा-पूर्वक उन्हें अपने पार्श्व में बिठाकर कहा, "तुम लोगों ने मेरी श्लाघ्यतम सेवा की है। मैं आपके मुँह पर आपकी क्या प्रशंसा करूँ। आपने मेरे कारण अपने घर के सुख को त्यागा, अतएव आप लोग मेरे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरे छोटे भाई, मेरा मुकुट, मेरा वैभव, मेरी पत्नी, मेरा जीवन, मेरा घर और मेरे प्रेमी-परिजनों में से कोई भी मेरी दृष्टि में इतना प्यारा नहीं जितने आप लोग। मैं कोई बात झूठी नहीं कह रहा, मेरे ये भाव हार्दिक हैं। मनुष्यों का स्वभाव है कि वे अपने साथियों को अधिक पचते हैं, किन्तु मुझे तो अपने सेवकों से विशेष प्रेम है। हे सहयोगियो, अब

घर लौट जाओ, वहाँ अटल श्रद्धा से मेरी पूजा करना, और मुझे विश्व का सनातन और सर्वव्यापक कल्याण-कर्त्ता समझ कर मेरी भक्ति में अनुरक्त रहना," (रा० ७, ३४–३५)। राम ने अपनी विमाताओं के लिए विशेष आदर का प्रदर्शन किया, और जब-कभी साक्षात्कार का अवसर आया तो कैकेयी के लिए उन्होंने विशेष आदर प्रदर्शित किया। जब उसने राम से वन जाने के लिए कहा तो वे उससे सस्मित-वदन विनम्र वचन बोले, और वनवास से लौटने पर उससे सर्वप्रथम मिले (रा० ७, २१, १)। भरतजी चित्रकूट में मिलने गये, तो राम ने राजमहिलाओं में सबसे प्रथम भेंट कैकेयी से की, (रा० २, २४४, ४; २४५)। 'वाल्मीकि रामायण', 'महाभारत' और 'अध्यात्म रामायण' के राम की अपेक्षा 'रामचरितमानस' के राम कहीं अधिक नीतिज्ञ हैं।

राज-प्रथाएँ—राम-चरित्र के अन्य लेखकों की भाँति गोस्वामीजी ने कुछ राज-प्रथाओं का उल्लेख किया है। सन्तति-कामना से पुत्रेष्टि और युद्ध-विजय की कामना से अजेय-यज्ञों का अनुष्ठान होता था। दशरथजी के चारों पुत्र पुत्रेष्टि-यज्ञ से उत्पन्न हुए थे, (रा० १, २२०, ३) तथा मेघनाद और रावण ने अजेय-मख का आयोजन किया था, (रा० ६, ६७, १, १०६, १-४, १२०)। यद्यपि मनुजी ने आठ प्रकार के विवाहों का विधान किया है (३, २१) तथापि गान्धर्व विवाह, स्वयंवर के रूप में, क्षत्रियों के यहाँ अधिक प्रचलित था ऐसा प्रतीत होता है। विश्वमोहिनी (रा० १, १५७, ३), सीता (रा० १, २७२, १), दमयन्ती, द्रौपदी, संयुक्ता आदि के स्वयंवर प्रसिद्ध हैं। अभिषेक बड़े आडम्बर से सम्पन्न किये जाते थे। इस अवसर पर राज-पुरोहित सर्वप्रथम तिलक लगाता, तदनन्तर प्रमुख ब्राह्मण (रा० ७, २६, १-३)। धार्मिक कृत्य विधि-विधान पूर्वक होते थे (रा० २, ६-७, २)। राजमाताएँ शुभावसरों पर गीत गातीं और आमोद-प्रमोद-पूर्वक अपने पुत्रों की आरती उतारतीं (रा० ७, २६, ३), भिक्षुकों को दान और ब्राह्मणों को उपहार दिये जाते (रा० ७, ३३, ५,) बन्दी ऊर्ध्व-बाहु होकर अपने स्वामियों का यशोगान करते (रा० १, २८१, ४, २८२)। जब वन्दी, भाट, और मागध उच्च स्वर से वेद-पाठ अथवा विरुदावली-गान करते तो प्रजा-जन घोड़े, हाथी, धन, रत्न और वस्त्र भेंट करते थे, (रा० १, २९५; २२६, ३; २३२, ३)। विदूषक बात चीत, हाव-भाव, अथवा हास्यजनक गीतों के द्वारा मनोरंजन करते थे, (रा० १, ३३४, ४)। महाराज को अभिवादन करते समय सचिव जय-जीव कहा करते थे। विवाह से पूर्व बरातें बड़ी सज-धज के साथ निकलतीं, यथा शिवजी की, (रा० १, ११५, ४) और रामचन्द्रजी की, (रा० १, ३३०-३३६; ३४१; ३-४)। तुलसीदासजी ने पार्वती-परमेश्वर और सीता-राम के विवाहों का वर्णन 'रामचरितमानस' में बड़े उल्लास से किया है। वे इतने से ही सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' की रचना से अपनी तृषा को और अधिक तृप्त किया। अन्य अवसरों पर भी नगर-कीर्तन होते थे। राम के स्वागत के लिए अवध की राजधानी में, बड़ी सजधज और उमंग के साथ, सड़कों पर और वीथियों में होकर जन-समूह निकला था, (रा० ७, १६, १-२)। विवाह, अभिषेक अथवा स्वागत के अवसर पर सजावट होती, अलंकृत अश्व खेल दिखाते, (रा० १, ३३५; ३४८, ३); हाथी और रथ सजाकर प्रदर्शित किये जाते। महर्षियों और महा-मुनियों का आदर करने के निमित्त, राजा अपना

आसन छोड़ कर आगे बढ़ता और चरणस्पर्श करता (रा० १, २३८, १)। ऋषि-मुनि भी अपने राजा का स्वागत बड़े प्रेम से करते। उनमे से कुछ की परिस्थिति तो ऐसी थी कि वे राजा का स्वागत उसी प्रकार कर सकते थे जिस प्रकार राजा राजा का, यथा भरद्वाज जी ने भरत का। दशरथ के शुभागमन पर, जनकजी ने स्वर्ण-थालों में मिष्टान्न, फल, आभूषण, सुवास, वस्त्र और रत्न, तथा अनेक पशु-पक्षी भेंट किये थे (रा० १, ३३७, १-३)। उस समय नगाड़े, ढोल, तम्बूरे, झाँझ, तुरही, और शंख बजे, (रा० १, ३३६, १)। यह सुनकर कि राम वनवास से लौट आये हैं सब स्त्री-पुरुष प्रसन्नता से स्वागतार्थ दौड़ चले। महिलाएँ भी गज-गति से गीत गाती हुईं और दही, दूध, रोचन, फल, फूल, तुलसी आदि शुभ वस्तुओं को स्वर्ण-थालों में लेकर निकलीं (रा० ७, ८, ३)। मनुजी ने कहा है कि अभ्यागतों का सत्कार उनकी स्थिति के अनुसार आसन जल, भोजन, मधुर वचन आदि से (३, १०२-११८); और राजा, पुरोहित, गुरु, मित्र, श्वशुर, मातुल और स्नातक का मधुपर्क से करना चाहिए। पंच-प्राणों को पंच-ग्रास निकालने के पश्चात् सीता-विवाह का भोज भव्य पण्डालों में हुआ। भोजन भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, और चोष्य इन चार प्रकारों का तथा मधुर, लवण, अम्ल, कटु, कषाय और तिक्त इन षड् रसों का था। छप्पन प्रकार के व्यंजन रत्न-जटित स्वर्ण के थालों में सजाकर परोसे गये थे, (रा० १, ३६१, १-३)। जनकजी ने जो दहेज और विदायोपहार दिये वे कथन से बाहर हैं, यथा : विविध फल और मिठाइयों के थाल, वस्त्राभूषण से सुसज्जित असंख्य दास और रसोइये, दश सहस्र हाथी, पच्चीस सहस्र रथ, एक लाख घोड़े, बहुत-सी गाय-भैंसें, गाड़ी-भर स्वर्ण, वस्त्र, रत्न, (रा० १, ३६५, २-४)।

राजधानियों का वैभव—महाराज जनक और दशरथ की राजधानियाँ वैभवशालिनी थीं। जनकपुर सुन्दर नगर था जो सरोवर, बावड़ी, नदी और कूप से परिपूर्ण था। उसके चारों ओर फल-पुष्प के उद्यान थे, मध्य में सुन्दर बाज़ार और रत्नजटित विशाल गौखें थीं। सड़कों और चौराहों पर सुवासित जल का छिड़काव होता रहता था। कुबेर के समान धनी व्यापारी अपनी-अपनी वस्तुएँ बाजार में प्रदर्शित करते हुए दुकानों पर बैठते थे। स्त्री-पुरुष, सभी नागरिक सुन्दर, पवित्र, सम्पन्न, सुवस्त्र, धर्मात्मा, पुण्यात्मा, बुद्धिमान् और दक्ष थे। जनक जी के प्रासादों और परकोटों को देखकर देवता भी चकित हो जाते थे। उनका दुर्ग संसार में अप्रतिम था। प्रासादों के भीतरी भाग की भित्तियाँ शुक्ल और भास्वर थीं, जिनमें अनेक प्रकार के रत्नजटित स्वर्ण-द्वार लगे हुए थे। नगर-द्वार विशाल और वज्रमय थे। पश्वालय नागाश्व से परिपूर्ण थे। सचिव, सेनापति और योद्धाओं के भी आवास ऐसे थे जैसे राजा के। नगर के बाहर बहुत-से राजाओं ने अपने डेरे गाड़ रखे थे, (रा० १, २४४, ३-२४७)। वैवाहिक मण्डप के स्तम्भ स्वर्णमय और केले के आकार के थे, जिनमें पन्ने के पत्ते और लाल के फल-फूल बने हुए थे। हरी-हरी मणियों के सीधे और गठीले बाँस ऐसे बनाये गये थे कि पहचाने नहीं जाते थे, ऐसी ही सुन्दर और स्वर्णिम पानों की लताएँ भी थीं। माणिक्य, मरकत, वज्र और फ़िरोजा आदि रत्नों को काट-छाँट कर कमल तथा भौंरे बनाये गये थे। खम्भों पर देवताओं की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण थीं। गजमुक्ताओं से पुरे हुए थे चौक, नीलम के आम्र-पर्ण, स्वर्ण के बौर और रेशम की डोरी

से बँधे हुए मरकत के फल-गुच्छ, एवं मंगल कलश, ध्वजा, पताका, चँवर और मण्डप के मणि-दीप बहुत सुन्दर लगते थे। (रा० १, ३२०-३२१)।

नगर की सज्जा—अयोध्या और जनकपुर जैसे नगर उपयुक्त अवसरों पर अलंकृत किये जाते थे। राम-विवाह के उपलक्ष्य में कौशेय ध्वज-पताकाओं और चौरियों से सुन्दर बाजार सुसज्जित किये गये थे। इन अवसरों पर प्रत्येक मोड़ पर, हरिद्रा, दूर्वा, दधि, अक्षत और मालाओं से युक्त स्वर्ण-कलशों और तोरणों से घर मंगल-मय बना लिये जाते थे; तथा चन्दन, केसर, कस्तूरी और कर्पूर से निर्मित सुगन्धित द्रव्य से गलियों का सिंचन होता था। चन्द्रमुखी एवं सौभाग्यवती स्त्रियाँ षोडश श्रृंगारों से सजकर, जहाँ-तहाँ झुण्ड के झुण्ड मिलकर, मंजुल वाणी से मंगलगान करती थीं (रा० १, ३२८, ४; ३२६, १-२)। दशरथ के आगमन पर जनकपुर में भी इसी प्रकार की सजावट हुई थी। प्रत्येक व्यक्ति का अपना गृह अलंकृत था; सार्वजनिक विपणि, घंटापथ, चतुष्पथ और नगर-द्वार भी अलंकृत थे। सड़कों पर अरगजा से छिड़काव किया गया, और जहाँ-तहाँ सुन्दर चौक पूरे गये। केतु-पताकाओं और तोरण-मण्डपों से बाजार ऐसा सुशोभित हुआ जिसका वर्णन नहीं हो सकता। सुपारी, केला, आम, मौलिश्री, कदम्ब और तमाल आदि वृक्षों के आलबाल मणि-जटित थे। घर-घर मंगल-कलश स्थापित किये गये। सुभगाएँ झुण्ड की झुण्ड मिलकर चलीं जो रूप-लावण्य में रति से भी सुन्दर और गान-वाद्य में सरस्वती के समान प्रतीत होती थीं, (रा० १, ३०६, १-४, ३७७)।

समाज-मस्तिष्क के लिए राज-सम्मान—प्राचीन भारत में राजा सब पर शासन करता था। उससे आशा की जाती थी कि वह ऐसा बुद्धिमान्, धर्मात्मा और शक्तिशाली हो कि दीन-हीनों की सहायता कर सके, (वि० १३६, १०-११)। तथापि ब्राह्मण, विशेषतः विद्वान्, वैसे ही स्वातन्त्र्य का उपभोग करते थे जैसा कि आधुनिक प्रजातन्त्र में लोक-सभा अथवा न्यायालय। अपने विद्या बल से, होम-मख-द्वारा, वे देवताओं को प्रसन्न कर लेते थे, (रा० १, १६८, १)। वशिष्ठ और विश्वामित्र की आध्यात्मिक शक्ति अत्युच्च कोटि की थी। यही कारण था कि महाराज दशरथ और जनक उनका विशेष आदर करते और महत्त्वपूर्ण विषयों में उनसे परामर्श भी लेते। उदाहरणतः, ज्योंही दशरथजी ने सुना कि विश्वामित्रजी मुझ से मिलने आ रहे हैं, त्योंही वे कुछ विप्रों को साथ लेकर चल दिये और प्रणाम कर उन्हें लिवा लाये, तथा उन्होंने अपने सिंहासन पर बैठा कर उनका सत्कार किया, (रा० १, ३३८, १-२)। एक बार दशरथ ने वशिष्ठजी के घर जाकर उनके चरणों की वन्दना की और कहा कि मुझे सन्तति-हीनता का कष्ट है, (रा० १, २२०, १-२)। एक बार पुनः जब उन्हें यह प्रतीत हुआ कि मैं वृद्ध हो चला तो गुरु-गृह जाकर उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि मैं अब अपना राजमुकुट अपने पुत्र राम को दूँ और इस विषय में उनके आशीर्वाद की अभिलाषा भी की, (रा० २, ३, १-४)। इसी प्रकार राम भी ऋषि भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि, अगस्त्य आदि से वनवास-काल में सप्रणाम मिले और लंका से लौटते समय प्रयाग में भरद्वाज जी से पुनः मिले थे। ऐसा ही भरत ने किया। सुग्रीव ने हनुमान् को राम का भेद लेने के लिए ब्राह्मण के वेश में भेजा था; और राम ने भी उन्हें उसी वेश में भरत के पास यह जानने के

लिए भेजा था कि अयोध्या की क्या दशा है। ब्राह्मण वेश का यह कारण था कि वे लोग उन दिनों समझते थे कि ब्राह्मण सदा एवं सर्वत्र इसी प्रकार सुरक्षित है जिस प्रकार आधुनिक समय में रेडक्रॉस। राम ने चित्रकूट में भरत जी को यह आश्वासन दिया था कि, गुरु वशिष्ठ जी की कृपा से, राजकार्य सुचारु रूप से चल जायगा। उनके शब्द थे: "गुरु-प्रभाव राज्य का संचालन तथा लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, पृथ्वी, धन, घर आदि सभी का रक्षण कर देगा; गुरु-प्रसाद ही घर-वन में समाज-सहित तुम्हारा-हमारा रक्षक है। माता-पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा का पालन धर्म-रूपी पृथ्वी को धारण करने में इसी प्रकार समर्थ है जिस प्रकार शेष भगवान्। अतएव हे तात, तुम वही करो", (रा० २, ३०६, १-२)। वशिष्ठ जी ने ब्राह्मणों से कहा: "विप्रो, यह दिन और घड़ी शुभ है, आज्ञा करो कि आज रामचन्द्र सिंहासन-ग्रहण करें।" इस प्रस्ताव से ब्राह्मण प्रसन्नता-पूर्वक सहमत हुए। जब आवश्यक आयोजन हो चुका, तो राम ने ब्राह्मणों को प्रणाम करते हुए उस विशाल और भव्य सिंहासन को ग्रहण किया। तदनन्तर द्विजों ने वैदिक मन्त्रों का उच्चारण और देवताओं ने जयघोष किया। सर्वप्रथम वशिष्ठ जी ने तिलक लगाया, तदनन्तर अन्य ब्राह्मणों ने भी, (रा० ७, २१, २-४; २६, २-३)। इस प्रकार भारत के मस्तिष्क ने महत्त्वपूर्ण अवसरों पर शासन-पोत के संचालन में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया था।

कल्याणमय प्रजा-सत्ता—राजतन्त्र में इस प्रकार प्रजा-सत्ता के कल्याणमय बीज विद्यमान थे। जो समाजवाद भारत में चिरकाल से विद्यमान है वह अर्वाचीन पश्चिम के से भिन्न है। यहाँ तो राजा, सेठ या और कोई धनिक दान के लिए द्रव्योपार्जन करता था। दान देना प्रत्येक के लिए पुण्य समझा जाता था। जिसके पास धन होता वह कूप या धर्मशाला बनवाता, तड़ाग खुदवाता, बाग लगवाता अथवा विद्यालय स्थापित कराता था। जो ऐसा करता वह वास्तव में उस संस्था का जन्मदाता और स्वामी समझा जाता, किन्तु जो कुछ वह दूसरों के लिए करता उसका उपयोग वह स्वयं न करता था, क्योंकि भारत में दानी अपने दान का स्वयं उपभोग नहीं करता है। जो धनिक बाग-बगीचे लगवाते वे उन्हें जनता के लिये खुले रखते थे, न केवल सैर करने के लिए, किन्तु उसके फल-पुष्पादि का उपयोग कराने के लिए भी। इंगलैंड में राजा उस वस्तु का भी स्वामी है जो संसार में विद्यमान नहीं, मेरा अभिप्राय 'द चिल्टर्न हण्ड्रेड्स'[1] नामक भू-सम्पत्ति से है। किन्तु भारत में, इसके विपरीत, धर्मात्मा नरेश के पास होता तो बहुत कुछ था किन्तु उसका स्वामित्व बहुत कम का था। दान देने में होड़ लगती थी, जिस कारण पूँजीपति और श्रमजीवी सन्निकट रहकर परस्पर प्रेम और आदर की भावना से एकता के सूत्र में आबद्ध थे। भारतवर्ष में मनुष्य की पहचान इस माप से नहीं थी कि अमुक ने बैंक में कितना रुपया एकत्र कर लिया है, किन्तु इस माप से कि उसने समाज की कितनी सेवा की है। राजा ब्राह्मणों को भूल नहीं सकता था, अर्थात् उनकी अवहेलना नहीं कर सकता था, गुरु की विद्यमानता में उसका आसन गुरु के चरणों में था। आज का राष्ट्रपति तो सम्पादक और दल-नेता का आदर-सम्मान करता

१. द गवर्नमेंण्ट ऑव यूरोप, विलियम बैनेट मुनरो, पृ० २१३, मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, १९५४।

है। वर्तमान युग में दल का प्रतिज्ञा-पत्र 'दश आदेशों'[1] से अधिक मूल्यवान् है। प्रजातन्त्र पहले था और अब भी है; किन्तु पहले आग्रह था गुण पर, अब है संख्या पर। संख्या के देखे तो राजा भोज और गंगा तेली में कोई अन्तर नहीं, किन्तु गुण की दृष्टि से अन्तर बहुत है। जब प्रजा-सत्ता-रूपी घड़ी का लटकन गुण से संख्या की ओर अधिक बढ़ा त्योंही कोई न कोई विपत्ति आयी। एक साधारण व्यक्ति के अधिकार को सम्मानित बनाये रखने के कारण, राम को अपनी प्रियतमा को वनवास देना पड़ा। अपवाद निराधार था, यदि राम चाहते तो उस पर कोई ध्यान न देते। किन्तु अपवाद का सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व से था; अतः प्रजा-सत्ता के संख्यात्मक रूप पर भी उन्हें ध्यान देना पड़ा था।

रावण की मनमानी—रावण सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र नरेश था। उसके पास मन्त्री, सचिव सब कुछ थे; किन्तु वह महत्त्वपूर्ण अवसरों पर उनकी बात मानता न था। उसने अपने भाई विभीषण और कुम्भकर्ण, पत्नी मन्दोदरी, मित्र मारीच, मन्त्री शुक आदि की मन्त्रणा की अवहेलना की। उसके राजतन्त्र में प्रजासत्तात्मक सिद्धान्तों के प्रति कोई आदर न था, न गुण के लिए, न संख्या के लिए। उसने ब्राह्मणों तक पर कर लगा दिया, अतएव वह उनकी सहानुभूति को खो बैठा। दिव्य वरदानों से संपुष्ट (रा० ६, १९, २), उसके पास कल्पना-संगत सांसारिक सभी वैभव विद्यमान था। उसने वरुण, कुबेर, वायु, यम और दिक्पाल जैसी दिव्य शक्तियों पर विजय प्राप्त कर ली थी। तुलसीदास जी के अनुसार, उसका ऐश्वर्य शतेन्द्र-सम था, अतएव निर्द्वन्द्व होकर वह राज्य का उपभोग करता था, (रा० ६, २, ३), तथापि वह संसार का त्रास था, और निरंकुश एवं अत्याचारी होने के कारण सब का घृणा-पात्र भी। अपने बाहुबल से अखिल विश्व को अधीन कर उसने एक भी व्यक्ति को स्वतन्त्र न छोड़ा। समग्र संसार पर अधिकार कर वह मनमानी करता था, (रा० १, २१३)। उसके शासन में गुण घटने और अवगुण बढ़ने लगे, अतएव भले लोग कष्ट पाते और बुरे विलास करते थे। वेदाविहित-कार्य का सम्पादन उत्साह-पूर्वक होता। गौ-ब्राह्मणों के नगरों, पुरों और ग्रामों में राक्षस आग लगाते। उनके कुकृत्यों की कोई सीमा न थी। जीवन, धन और पत्नी की सुरक्षा का अभाव था; माता-पिता के लिए आदर न था, और न भाइयों के लिये प्रेम ही। ऐसे अत्याचारों से पीड़ित हो यह पृथ्वी काँप उठी और गाय का रूप धारण करके देवता और ऋषियों के साथ सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्माजी के पास सुरक्षा के निमित्त पहुँची, जिसके परिणाम-स्वरूप भगवान् विष्णु राम-रूप में अवतीर्ण हुए, (रा० १, २१३-१८)।

राजा राम के नित्य और नैमित्तिक कर्म—राम बली और शक्तिशाली, अस्त्र-शस्त्रों में दक्ष, शास्त्रों में पारंगत, स्वभाव के मृदु, वाणी के मधुर, वज्र से कठोर और पुष्प से कोमल थे (रा० ७, ४२)। वे ब्राह्मणों के प्रति आदर-पूर्ण, निम्नातिनिम्न के लिए स्नेह-पूर्ण, शत्रुओं के लिये क्षमाशील एवं सब के लिए कृपालु थे। नित्य प्रातःकाल सरयू में स्नान कर के वे ब्राह्मण और ऋषियों की सभा में विराजते और वशिष्ठ जी से वेद और पुराण की कथाएँ सुनते थे। वे भाइयों के साथ भोजन, एवं नारद,

---

१. 'बाइबिल', ऐग्जोडस, २०।

सनकादि (रा० ७, ४८-४९, १; गी० ७, २-३) का आतिथ्य करते। वे उत्सवों पर प्रजा से भेंट करते। उनसे मिलना सरल था (गी० ७, २१, १-५)। उन्होंने करोड़ों अश्वमेध यज्ञ किये और असंख्य दान-दक्षिणा से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया, (रा० ७, ४६, १)। उनकी पत्नी सीताजी सदैव पतिव्रता और अनुरक्त रहीं। वे घर का छोटा-मोटा काम भी अपने हाथों करतीं, तथा अभिमान और आत्म-प्रवंचना से नितान्त रहित हो प्रासादों में कौशल्या तथा अन्य राजमाताओं की सेवा-शुश्रूषा करतीं और देवरों के सुख का ध्यान रखती थीं।

राम की राजधानी—राम की राजधानी अयोध्या बड़ी सुन्दर नगरी थी। इसके उत्तर में गहन-जला सरयू के तट पर विशाल घाटों की अविरल पंक्तियाँ सुशोभित थीं। इनमें से कुछ घाट गज और अश्वों के लिए, कुछ स्त्री-पुरुषों के लिए तथा शेष केवल शुद्ध पेय जल के निमित्त निर्दिष्ट थे, जहाँ कोई स्नान न कर सकता था। सब से सुन्दर था राजघाट, जहाँ चारों वर्णों के लोग आ-जा सकते थे। घाटों के ऊपर देव मन्दिर थे, नदी के तट पर यत्र-तत्र यति-मुनि निवास करते और ध्यान-मग्न रहते थे। कुछ धर्मात्माओं ने तुलसी की झाड़ियाँ लगा रखी थीं। नगर का बाह्य प्रदेश अत्यन्त आकर्षक था। बावड़ियाँ और ताल बहुरंग कमल और मनोहर सीढ़ियों से समन्वित थे। उद्यानों और उपवनों में मधुप और पिक अपने कलरव से मानो पथिकों का आह्वान करते थे, (रा० ७, ५१-५२)। नगर की शोभा अनिर्वचनीय थी। अयोध्या की अट्टालिकाएँ स्वर्ण और रत्नों से निर्मित थीं। नगर के चारों ओर एक परकोटा था। उस पर बने हुए विविध रंग के कंगूरे नवग्रह से प्रतीत होते थे, जिन्होंने मानो अपनी सेना से अमरावती को घेर लिया हो। सड़कें अनेक रंगों के काचों की ढली हुई थीं। उज्ज्वल गगन-चुम्बी श्वेत प्रासादों पर कलश अपने प्रकाश में सूर्य-चन्द्रमा से भी बढ़कर प्रतीत होते थे। प्रासादों के झरोखे मणियों के बने थे। घरों में मणियों के दीपक शोभा देते थे। मूँगों की देहलियाँ और मणियों के खम्भे तथा मरकत-जटित स्वर्णिम भित्तियाँ ऐसी सुन्दर थीं कि मानो ब्रह्माजी ने ही उन्हें विशेष रूप से बनाया हो। प्रासादों के प्रांगण स्फटिक और द्वार के स्वर्ण-कपाट हीरकमय थे, (रा० ७, ४९-५०)। सायंकाल को प्रासादों की स्फटिक-भित्तियों में दीपों और रत्न-जटित शिखरों के प्रतिबिम्ब ऐसे लगते मानो आकाश के तारागण पृथ्वी पर आ बसे हों। (गी० ७, २०, १-२)।

अयोध्या के चतुष्पथ और राजमार्ग सुन्दर थे। वाल्मीकि जी के अनुसार, उन पर सुगन्धित जल का छिड़काव होता था और वे पुष्पों से सुसज्जित बने रहते थे। बाजारों में वस्तुएँ बिना गथ के मिलती थीं। बजाज, सर्राफ एवं अन्य व्यापारी अपनी दुकानों पर बैठे हुए, कुबेर के समान प्रतीत होते थे। नगर के आबाल-वृद्ध पुरुष समान रूप से सुन्दर, सदाचारी और सुखी थे, (रा० ७, ५० छं०)।

नागरिकों की सम्पन्नता—रामराज्य में निर्धनता ढूंढे नहीं मिलती थी। वाल्मीकि जी के अनुसार, प्रत्येक भवन सप्तखण्ड का होता था; गोस्वामी जी लिखते हैं कि अयोध्या के घर-घर में सुन्दर चित्रशालाओं में रामचरित्र अंकित था। सभी लोगों के यहाँ पुष्पवाटिकाएँ थीं, जिनमें अनेक प्रकार की ललित लताएँ वसन्त की भाँति सदैव पुष्पित रहतीं, मधुकर गुंजन करते और त्रिविध समीर बहता रहता था। बालकों ने बहुत

से पक्षी पाल रखे थे जो बोलने में मधुर और उड़ने में सुन्दर लगते थे और उन्होंने तोता-मैना को राम-रघुपति आदि नाम रटा दिये थे। मयूर, हंस, सारस और कपोत घरों के ऊपर बैठते तथा मणि-भित्तियों और छतों पर अपनी प्रतिच्छाया को देखकर अनेक प्रकार से कूकते थे, (रा० ७, ५०-५०, ४)।

राम का राजनीतिक सिद्धान्त—रामचन्द्र जी राजमद के अवगुणों से परिचित थे, (रा० २, २३१, ३)। अतएव उनके व्यवहार में नम्रता और सज्जनता थी। उनका सिद्धान्त था कि प्रजा को सुखी रखो और यही उपदेश उन्होंने भरत जी को दिया था, (रा० २, ३०६, ३, ३०७)। वे समझते थे कि गुरु, पिता और माता की शिक्षा पर चलने से कोई हानि नहीं होती, (रा० २, ३१५, ३)। एक बार उन्होंने गुरुओं को और ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर नगर-वासियों को मानव शरीर की महिमा, मनुष्य के कर्त्तव्यों, संसार के कष्टों और माया की परिवर्त्तन-शीलता पर लम्बा उपदेश दिया, तथा उनसे सप्रेम आज्ञापालन की आशा की। उन्होंने अपने बारे में कहा था कि "मैं स्वार्थ, दम्भ और निराधार कल्पना से विमुक्त हूँ, मैं तो उसके वश में हूँ जो किसी से न वैर करे, न लड़ाई-झगड़ा, न आशा रखे और न भय करे, तथा उसके जो कोई भी आरम्भ फल की इच्छा से नहीं करता, जिसकी ममता घर में नहीं है, जो मान-हीन, पाप-हीन एवं क्रोध-हीन है, जो निपुण और विज्ञानी है, और जो सत्संग करता, विषयों को तृणवत् समझता, एवं शठता और कुतर्क से दूर तथा भक्ति से परिपूर्ण है", (रा० ७, ६५-६६)।

राम-राज्य का गौरव—जिसने भी राम-कथा लिखी उसने राम-राज्य के गौरव का गान किया। रामचन्द्र जी ने द्वादश सहस्र और पंचशत वर्षों तक राज्य किया ऐसा तुलसीदासजी कहते हैं, यद्यपि 'वाल्मीकि-रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' के अनुसार उन्होंने केवल दश सहस्र वर्षों तक राज्य किया था। वाल्मीकि जी ने कहा है कि राम के सुशासन में प्रजा शान्ति और समृद्धि का उपभोग करती थी, वैधव्य बन्द था, रोग और सर्प की बाधाएँ दूर हो गयी थीं, चौर्य और बाल-मृत्यु का नाम मिट गया था। प्रजा भी राम के गुणों का अनुकरण करती थी। फल-फूल, शस्य और वैभव का आधिक्य था और वर्षा समय पर होती थी। व्यास जी ने भी महाभारत के वनपर्व में लिखा है कि राम ने दस अश्वमेध यज्ञ किये और इन अवसरों पर प्रत्येक को छूट दे दी गयी थी कि गोदामों में जाकर यथेष्ट अन्न प्राप्त कर ले। 'अध्यात्म रामायण' के अनुसार राम-राज्य में पृथ्वी सदा शस्य-श्यामला रही एवं वृक्ष सफल रहे, मनुष्य सत्कर्मी थे और स्त्रियाँ पतिव्रता। किसी को सन्तति की मृत्यु का अवसर न आया। ससीत रामचन्द्र जी बहुधा अपने भाइयों और वानरों के साथ विमान में बैठकर देश का निरीक्षण करते। वे शिवलिंग स्थापित करने के लिए उपदेश देते और स्वयं भी कई स्थानों पर शिव-लिंग स्थापित कर चुके थे (वा० ७, ४, २१-२६)। किन्तु तुलसीदासजी का वर्णन सबसे बढ़कर है। उन्होंने राम-राज्य की तुलना शरद से की है, (रा० १, ६२, ३), जबकि वर्षा के पश्चात् वातावरण न गर्म होता है न शीत, तथा सभी वस्तुएँ शुद्ध और स्वच्छ प्रतीत होती हैं। राम-राज्य सागरों से परिवेष्टित था और राम उसके एकच्छत्र विधायक थे। वाल्मीकि जी भी प्रथम सर्ग में ऐसा सुझाते प्रतीत होते हैं कि अयोध्या

का सम्बन्ध सिन्ध, कम्बोज, बल्ख आदि से भी था।

राम-राज्य में तीनों लोक सुखी थे। कहीं किसी प्रकार का दुःख न था और न किसी को किसी से द्रोह था। सब प्रकार के भेद-भाव नष्ट हो गये थे। लोग धर्मात्मा थे, अतएव वे वेद और वर्णाश्रम के अनुसार जीवन व्यतीत कर (वि० ४४, ७-८,) तथा डर, शोक, रोग से रहित हो पूर्ण सुख का अनुभव करते थे। ऐसा कोई न था जो त्रिविध ताप से पीड़ित हो। सभी अपने पड़ोसी से प्रेम करते और अपनी जन्म-जात-स्थिति से सन्तुष्ट थे। सारे संसार में, धम के चार स्तम्भ (अर्थात् तपस्या, ज्ञान, दया और दान) स्थापित हो चुके थे। कोई भी कभी पाप का स्वप्न न देखता। स्त्री-पुरुष समान रूप से रामार्चा में निरत होकर उच्चतम स्वर्ग का सुख भोगते थे। अकाल-मृत्यु और रोग नाम-मात्र को न थे। प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ और सुन्दर था। कोई भी निर्धनता, शोक अथवा विपत्ति से ग्रस्त न था। न कोई अज्ञानी, न कोई अभागा था। सभी लोग स्नेह-युक्त, धर्मात्मा, पुण्यात्मा, चतुर और बुद्धिमान् थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी के गुणों की प्रशंसा करता और स्वयं भी विद्वान्, बुद्धिमान्, कृतज्ञ और सरल था, (रा० ७, ४२, ४, ४३, २)। संक्षेप में कोई भी व्यक्ति काल, कर्म और स्वभाव-जन्य रोगों से पीड़ित न था, (रा० ७, ४३, ३)।

राम के शासन में, क्या स्त्री, क्या पुरुष, सभी अपने-अपने धर्म में तत्पर थे। उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाएँ, घर एवं वन में उपलब्ध थीं। शिक्षा, कृषि, उद्यम, व्यापार, नौकरी, कला-कौशल आदि के द्वारा सम्पन्न, वे राग-द्वेष से, भय-क्रोध से, तथा दमन या आभार से सर्वथा मुक्त थे। इनके लिए अवसर ही उत्पन्न न होता था, क्योंकि सभी लोग अपने कार्यों में प्रेम-पूर्वक दत्तचित्त थे, (दो० १८२-१८६)। यदि न्याय की माँग की जाती तो वह तुरन्त मिलता, यहाँ तक कि कुत्ते और पक्षी के साथ भी न्याय किया जाता था (वि० १६५, ४; गी० ७, २४, २)।

स्वयं प्रकृति प्रसन्न प्रतीत होती थी। वन-वृक्ष फल-पुष्प-समन्वित थे। गज-सिंह, पक्षी और मृग अपने स्वभाव-जन्य वैर को भूलकर सामंजस्य से रहते थे। पक्षियों की कूक, मृग-शावकों की निडरता, वायु की शीतलता और सुगन्ध, तथा मधुमक्षिकाओं की गूँज सुखद थी। तनिक-सी प्रार्थना पर प्रत्येक लता और वृक्ष अपनी मधुरिमा प्रदान करते, और गाय बड़ी प्रसन्नता से मार्ग में ही दुग्धपात करती थी। पृथ्वी शस्य से आवृत्त थी। पर्वतों में विविध रत्नों के आकर दृष्टिगोचर होते थे। प्रत्येक नदी शीतल, शुद्ध और सुस्वादु जल से उमड़ती थी। समुद्र अपनी मर्यादा में रह कर अपने तट पर चयनार्थ मुक्ता छोड़ जाता था। सरोवर कमलों से परिपूर्ण थे।

राम-राज्य में, बौद्धकाल की भाँति, केवल अहिंसा को सारा महत्त्व प्रदान नहीं किया गया था। मनुजी ने धर्म के जो लक्षण बताये हैं उनमें अहिंसा का कोई स्थान नहीं, यद्यपि अक्रोध में उसका समावेश हो सकता है। 'अहिंसा' की अपेक्षा 'धर्म' की परिधि अधिक विस्तृत है। उनका सम्बन्ध अंगांगी है। राम को अनेक राक्षसों का रक्तपात करना पड़ा था, और शान्ति-काल में भी उन्होंने एक व्यक्ति को संसार से विदा कर दिया जो अपने धर्म को छोड़कर दूसरे के अधिकार पर अतिक्रमण

करना चाहता था (गी० ७, २४, २)। तथापि राम मूर्त्तिमान् प्रेम और परहित थे, अतएव वे अपने बाण का प्रयोग तभी करते थे जब उसकी अत्यन्त आवश्यकता होती। रक्षा के लिए उनके पास दुर्ग थे, आयुध थे और योद्धा थे, तथा लुटाने के लिए धान्य की खत्तियाँ भी। वे अपनी प्रजा को चाहते, और अपने माता-पिता एवं भ्राताओं से प्रेम करते थे। अपनी पत्नी के प्रति भी उनका प्रेम अनन्य था किन्तु राज्य के हित में उसका भी त्याग कर देने में उन्हें कोई संकोच न हुआ। राम ने, दिव्य-राज्य के निवासियों के हृदय में आत्म-प्राप्ति के निमित्त, आत्म-त्याग किया था।

निष्कर्ष—गोस्वामीजी के अनुसार राज्य धर्म-निरपेक्ष नहीं था। उसका शासन वेद और शास्त्र की विधियों के अनुसार होता था, क्योंकि उसका उद्देश्य था न केवल भौतिक उन्नति की प्राप्ति किन्तु समाजस्थ व्यक्ति की आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति भी, जैसा कि राम के उस उपदेश से स्पष्ट है जो उन्होंने अयोध्या-वासियों को दिया था। राजत्व दिव्य था, और उसका उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र का था। एकतंत्र में भी पंचों के परामर्श का आदर होता था। परामर्शदाताओं में मंत्री एवं विद्वान्, बुद्धिमान् तथा दूरदर्शी गुरुजन होते थे। नियम-विधान का अधिकार, जैसा कि श्री रामचन्द्र दुबे कहते हैं, राजा को न था; यह अधिकार तो वानप्रस्थियों का था जो सर्वथा निर्लोभ थे।[१] श्री रामचन्द्र द्विवेदी कहते हैं कि वाल्मीकि प्रजातन्त्र के, किन्तु तुलसीदासजी राजतंत्र के, समर्थक थे; क्योंकि वाल्मीकि रामायण के अनुसार दशरथ-जी ने रामाभिषेक के निमित्त राज्य-परिषद् का आह्वान किया, जिसने महाराज का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया; किन्तु तुलसीकृत रामायण के अनुसार, महाराज मंत्रणा के लिए वशिष्ठजी के घर पधारे थे।[२] राम-राज्य को 'एकतंत्रात्मक' अथवा 'प्रजा-सत्तात्मक एकतन्त्र' अथवा एक प्रकार का 'पंचायत राज्य' कहा जा सकता है; किन्तु, जैसा कि महाकवि पोप ने कहा है, श्रेष्ठ रूप में शासित राज्य ही श्रेष्ठ है। राम-राज्य वास्तव में प्रजासत्तात्मक ही था, क्योंकि उसका लक्ष्य था जन-कल्याण (भले ही राजा को उसके निमित्त कितनी ही असुविधा क्यों न हो), और उसमें वाणी और विचार के स्वातन्त्र्य के लिए सब को समान अवसर था। वह इस रूप में समाजवादी भी था कि धनी सिद्धान्ततः अन्यून सम्पत्ति के स्वामी थे, किन्तु प्रयोग और उपभोग में न्यून के। व्यक्तिगत स्वामित्व का लाभ सर्व-साधारण जनता अथवा उसकी कोई महती संख्या उठाती थी। इस प्रकार रामराज्य साम्प्रदायिकता के द्वेष-भाव से और कक्ष-युद्ध के विष से सर्वथा मुक्त था; और इसका लक्ष्य था व्यक्तिगत एवं सामाजिक कल्याण, जिसकी उपलब्धि कृपाण के सतत भय से नहीं किन्तु सहयोग, करुणा और प्रेम से सम्भव थी।

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, भाग ३, विभाग २, श्री गोस्वामीजी और राजनीति, पृ० १५७

२. तुलसी साहित्य रत्नाकर, पृ० २८८-२९१। वाल्मीकि० २,२

परिशिष्ट

परिशिष्ट

बाल काण्ड

१६४३ वि०

(सब जानत प्रभु प्रभु) ता सोई। तदपि कहे विनु रहा न कोई ॥
महादेव अस कारण राषा। भगति प्र× × × ×भाषा ॥
ऐक अनीह अरूप अज माना। अस सच्चिदानंद परधामा ॥
व्यापक विश्व (रूप भगवा)ना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥
सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत (अनुरागी) ॥
जेहि जन पर ममता अरु छोहू। जेहि करुना कर कीन्ह न कोहू ॥
गाई वहोरि गरीव निवा(जू)। (स)रल सवल साहिव रघुराजू ॥
वुध वरनहि हरि जस अस जानी। करत पुनीत हेत निज वानी ॥
(ते)हि वल मे रघुपति गुण गाथा। कहि हौं नाइ राम पद माथा ॥
मुनिन प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ॥
दोहा : अति अपार जे सरितवर जे नृप सेतु कराहि।
चढि पिपोलका परम विनु श्रम पारहि जाहि ॥२३॥
ऐहि प्रकार वलु मनहि दिपाई। कहि हौं रघुपति कथा सुहाई ॥
व्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि चरित वषाना ॥
चरन कमल वंदौ तिन्ह केरे। पुरवहु सकल मनोरथ मोरे ॥
कलि के कविन्ह करौं परिनामा। जिन्ह वरने रघुपति गुन ग्रामा ॥
जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित वषाने ॥
भऐ जे हैं होई हि जे आगे। प्रनवौ सवहि कपटु सव त्यागे ॥
होहु प्रसन्न देहु वरदानू। साध समाज भनिति सनमानू ॥
जे प्रवंध वुध नहिं आदर'ही। सो श्रम वादि वाल कवि करही ॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सव कह हित होइ ॥
राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अदेसा ॥
तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे। सयनि सुहावनि टाट पटोरे ॥
करहु अनुग्रह अस जिय जानी। विमल जसहि अनु हरै सुवानी ॥
दोहा : सरिल कवित कीरति विमल सो आदरहि सुजान ॥
सहज वैरु विसराइ रिपु जो सुनि करहि वषान ॥२४॥
सो न होइ विनु विमल मति मोहि मति वल थोर ॥
करहु कृपा हरि जस कहौ पुनि पुनि करौ निहोर ॥२५॥
कवि कोविद रघुपति चरित मानस मंजु मराल ॥
वाल विनय सुनि सुरुचि लषि मो पर होहु दयाल ॥२६॥

---

१. पृष्ठ सात से प्रारम्भ।

वंदौ मुनि पद कंज रामायण जिन्ह निरमयो ।।
सषर सुकोमल मंजु दोष रहित (दूष) न सहित ।।२७।।
वंदौ चारिउ वेद भव वारिधि वोहित सरिस ।।
जिन्हहि न सपनेहु षे (द वरनत) रघुपति विसद जस ।।२८।।
सोरठा : वंदौ विधि पद रेणु भव सागर जेहि कीन्ह जस ।।
(संतसुधा) ससि धे(प्रगटे षल विष वारुणी ।।२९।।
दोहा : विवुध विप्र वुध गहि चरण बंदि कहौ क(रि जोरि ।।
होहु) प्रसन्न पुरवहु सकल मंजु मनोरथ मोरि ।।३०।।
पुनि वंदौ सारद सुर सरिता । यु(गल पूनीत मनो) हर चरिता ।।
मज्जन पान पाप हर ऐका । कहत सुनत एक हर अविवेका ।।
[1](गुरु पितु मातु महे)स वानी । प्रनवौं दीनवंधु दिन दानी ।।
सेवक स्वामि सषा सीय पी के । हित नि(रु पधि स)व विधि तुलसी के ।।
कलि विलोकि जग हित हर गिरजा । सावर मंत्र पाल जि(न्ह सिरजा) ।।
अन मिल आषर अर्थ न जापू । प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ।।
सो महेस मो प(र अ)नुकूला । करहि कथा मुद मंगल मूला ।।
सुमिरि सिवा सिव पाई पसाऊ । वरनौ (रा)म चरित चित चाऊ ।।
भनिति मोर सिव कृपा विभाती । ससि समाज मिलि मनहु सुराती ।।
जो यह कथा सनेह समेता । कहिहहि सुनि हेहि साधु समेता ।।
होइहै राम चरन अनुरागी । कलि मल रहित सुमंगल भागी ।।
दोहा : सपनेहु साचेहु मोहि पर जो हर गौरि पसाउ ।।
तौ फुर होउ जो कहौ कछु भाषा भनिति प्रभाउ ।।३१।।
वंदौ अवधि पुरी अति पावनि । सरजू सरि कलि कलुष नसावनि ।।
प्रनमौ पुर नर नारि वहोरी । ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी ।।
सिय निंदक अघ वोघ नसाऐ । लोक विसोक वनाइ वसाऐ ।।
वंदौ कौशिल्यादि प्राची । कीर (ति) जासु सकल दिसि चारी ।।
प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू । विस्व सुषद षल कमल तुसारू ।।
[2](द)शरथ राउ सहित सव रानी । सुकृति सुमंगल मूरति मानी ।।
करउ प्रणाम कर्म मन वानी । करहु कृपा सुत सेवक जानी ।।
जिन्हहि विरचि वड भएउ विधाता । महिमा अवधि राम पितु माता ।।
दोहा : वंदौ अवधि भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद ।।
विछुरत दीनदयाल प्रिय तनु त्रण इव परिहरेउ ।।३२।।
प्रनवौ पुरजन सहित विदेहू । जाहि राम पद गूढ सनेहू ।।
योग भोग महि राषेउ गोई । राम विलोकत प्रगटेउ सोई ।।
प्रनवौ भहुरि भरत के चरणा । जासु नेम वृत जाइ न वरना ।।
राम चरन पंकज मन जासू । लुब्ध मधुर इव तजै न पासू ।।

---

१. नया पृष्ठ ।
२. पृष्ठ आठ से ।

वंदौ लछिमन पद जल जाता । सीतल सुभग भक्त सुष दाता ।।
रघुपति कीरति विमल पताका । दंड समान भएउ जसु जाका ।।
(से)स सहस्र सीस जग कारन । सो अवतरेउ भूमि भय टारन ।।
सदा सु सानकूल रहु मोपर । कृ(पा सि)धु सौमित्र गुना कर ।।
रिपुसूदन पद कमल नाममी । सूर सुसील भरत अनुगामी ।।
म(हावीर वि)नवौ हनुमाना । राम जासु जस आपु वषाना ।।
दोहा : प्रनवौ पवन कुमार षल वन पाव(क ज्ञान धन) ।।
जासु हृदय आगार वसहि राम सर चाप धर ।।३३।।
कपि पति ऋछ निसाचर (राजा । अंगदा)दि जे कीस समाजा ।।
वंदौ सबकै चरण सुहाए । अधम सरीर राम जिन्हि पाए ।।
[1](रघुपति चरन उपा)सक जेते । षग मृग सुर नर असुर समेते ।।
वंदौ पद सरोज सत्र केरे । जे विनु काम राम के (चेरे) ।।
(सुक सनका)दि भक्त मुनि नारद । जे मुनिवर विज्ञान विशारद ।।
प्रणवौ सवहि धरणि धरि सीसा । कर(हु कृपा ज)नु जानि मुनीसा ।।
जन(क) सुता जग जननि जानकी । अतिशय प्रिय करुणा निधान की ।।
ताके (जुगपदक) मल मनाऊ । जासु कृपा निर्मल मति पाऊ ।।
मुनि मन वचन कर्म रघुनायक । चरण कमल वंदौ (सवला)यक ।।
राजिव नैन धरै धनु सायक । भगत विपति भंजन सुष दायक ।।
दोहा : गिरा अर्थ जल (वी)चि सम कहियत भिन्न अभिन्न ।।
वंदौ सीता राम पद जिनहि परम प्रिय षिन्न ।।३४।।
वंदौ राम नाम रघुवर के । हेतु कृसानु भानु हिम कर के ।।
विधि हरि हर भय वेद प्रान से । अगुन अनूपम गुन निधान से ।।
महा मन्त्र जोई जपत महेसू । कासी मुक्ति हेतु उपदेसू ।।
महिमा जासु जान गन राऊ । प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ।।
जानि आदि कवि नाम प्रतापू । भएउ सिद्ध करि उलटा जापू ।।
सहस नाम सम सुनि सिव वानी । जपे जे पिय के संग भवानी ।।
हरषे हेतु हेरि हर हिय को । किय भूषन तिय भूषन तिय को ।।
नाम प्रभाव जानि शिव नीको । काल कूट फला दीन्ह अमी को ।।
दोहा : वर्षा ऋतु रघुपति भगति (तु)लसी सालि सु दास ।।
राम नाम वर वरण युग शुभ श्रावण भादौ मास ।।३५।।
आषर अर्थ मनोह[2](र दो)ऊ । वरण विलोचन जन जिय जोऊ ।।
सुमिरत सुषद सुलभ सव काहू । लोक लाहु परलोक निवाहू ।।
कहत सुनत सुमिरत सुठि नीको । राम लषन सम प्रिय तुलसी को ।।
वरणत वरन प्रीति विलगाती । व्रह्म जीव सम सहज सघाती ।।

---

१. पृष्ठ नया प्रारम्भ होता है ।
२. पृष्ठ ६ से ।

नर नारायण सरस सुभ्राता। जग पालक विशेषि जन त्राता ।।
भगति सुतिय कल करण विभूषन। जग हित हेतु विमल विधु पूषन ।।
स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर वसुधा के ।।
जन मन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हिय हलधर से ।।
दोहा : एक छत्र एक मुकुट मनि सव वरननि पर जोउ ।।
तुलसी रघुवर नाम के वरण विराजत दोउ ।।३६।।
समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर मनु अनुगामी ।।
नाम रूप दुइ ईश उपाधी। अकथ अनादि सु समुझि (सुसा)धी ।।
को वड छोट कहत अपराधू। गनि गुन दोष समुझहि साधू ।।
देषिय रूप नाम अधीना। रूप (ज्ञान न)हि नाम विहीना ।।
रूप विसेषि नाम विनु जाने। करतल गत न परत पहिचाने ।।
सुमिरिय ना(म रूप विनु) देषे। आवत हृदय सनेह विसेषे ।।
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत वनत न जात व(षानी) ।।
(अगुन) सगुन विच नाम सुसाषी। उभय प्रवोधक चतुर दुभाषी ।।
दोहा : राम नाम मनि दीप (धरु जीह देहरी) द्वार ।।
तुलसी भीतर वाहिर हु जो चाहसि उजियार ।।३७।।
नाम जीह जपि जागहि योगी। × × × ।।
(चले जात शिव सती)[1] समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपा निकेता ।।
सती दसा संभु की देषी। उर उपजा संदेह (विसे)षी ।।
संकर जगत वंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सव नावहि सीसा ।।
तिह नृप सुतन्ह कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद पर धामा ।।
भए मगन छवि तासु विलोकी। अजहु प्रीति उर रहत न रोकी ।।
दोहा : ब्रह्म जो व्यापक विरुज अज अकल अनीह अभेद ।।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानहि वेद ।।७४।।
विष्नु जु सुर हित नर तनु धारी। सोऊ सर्वज्ञ यथा तिपुरारी ।।
षोजे सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञान ध्यान श्री पति असुरारी ।।
संभु गिरा पुनि मृषो न होई। शिव सर्वज्ञ जान सवु कोई ।।
अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रवोध प्रचारा ।।
जदपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अन्तर जामी सव जानी ।।
सुनहु सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ ।।
जासु कथा कुंभज ऋषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई ।।
सो मम इष्ट देव रघुवीरा। सेवहि जाहि सदा मुनि धीरा ।।
छन्द : मुनि धीर योगी सिद्ध संतत विमल मन जिहि ध्यावही।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावही ।।
सोई सभय व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी ।।

---

१. नया पृष्ठ।

[1](सो)रठा : लाग न उर उपदेश जदपि कही शिव वार वहु ।
बोले विहसि महेश हरि माया वल जानि जिय ।। ७५ ।।
जौ तुमरे मन अति संदेहू । तौ किनि जाइ परिछा लेहू ।।
तव लगि वैठ अहौ वट छाहीं । जव लगि तुम्ह एहो मोहि पाहीं ।।
जैसे जाय मोह भ्रम भारी । करेहु सो जतन विवेक विचारी ।।
चली सती शिव आयसु पाई । करैं विचार करौ का भाई ।।
इहाँ शंभु अस मन अनुमाना । दछ सुता कहु नहि कल्याना ।।
मोरे कहे न संसय जाही । विधि विपरीत भलाई नाही ।।
होइए सो जो राम रचि राषा । को करि तर्क बढ़ावै साषा ।।
अस कहि लगे जपन हरि नामा । गई सती जहँ प्रभु सुष धामा ।।
दोहा : पुनि पुनि हृदय विचार करि धरि सीता करि रूप ।
आगे ले चलि पंथ तेहि जिहि आवत नर भूप ।। ७६ ।।
लछिमन दीष उमा कृत वेषा । चकित भए भ्रम हृदय विशेषा ।।
कहि न स कछु अति गंभीरा । प्रभु प्रभाव जानत मति धीरा ।।
सती कपट जान्यो सुर स्वामी । सम दरसी सव अन्तर जामी ।।
सुमिरत जाहि मिटै अज्ञाना । सोई सर्वज्ञ राम भगवाना ।।
(स)ती कीन्ह चहै तहउ दुराऊ । देषहु नारि प्रभाव सुभाऊ ।।
निज माया वल हृदय वनी । वोले (विह)सि राम मृदु वानी ।।
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रणामू । पिता समेत लीन्ह निज नामू ।।
कहेउ व[2] (होरि क)हा वृषकेतू । विपिनि अकेलि फिरहु किह हेतू ।।
दोहा : राम वचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति सं(कोच) ।।
सती सभीत महेश पह चली हृदय वड सोच ।। ७७ ।।
मैं शंकर कर कहा न माना । निज अज्ञान राम पह आना ।।
जाइ ऊतरु अव देहौ काहा । उर उपजा अति दारुन दाहा ।।
जाना राम सती दुष पावा । निज प्रभाव कछु प्रगट जनावा ।।
सती दीष कौतुक मग जाता । आगे राम सहित श्री भ्राता ।।
फिरि चितवा पाछे प्रभु देषा । सहित वंधु सिय सुन्दर वेषा ।।
जह चितवइ तहा प्रभु आसीना । सेवहि सिद्ध मुनीश प्रवीना ।।
देषे शिव विधि विष्मु अनेका । अमित प्रभाव एक ते एका ।।
वंदत चरन करत प्रभु सेवा । विविध वेष देषे सव देवा ।।
दोहा : सती विधात्री इन्दिरा देषी अमित अनूप ।।
जिहि जिहि वेष अजादि सुर तिहि तिहि तन अनरूप ।। ७८ ।।
देषे रघुपति जह तह जेते । सक्तिन सहित सकल सुर तेते ।।
जीव चराचर जै संसारा । देषे सकल अनेक प्रकारा ।।
पूजहि प्रभुहि देव वहु वेषा । राम रूप नहि दूसर देषा ।।

---

१. पृष्ठ १८ से ।
२. पृष्ठ-नया ।

अव लोके रघुपति वहुतेरे । सीता सहित न वेष घनेरे ।।
सोई लछिमन सोई रघुवर सीता । देषि सती अति भई सभीता ।।
हृदय कम्प तनु सुधि कछु नाही । नयन मूदि वैठी मग माही ।।
वहुरि त्रिलोकेउ नैन उघारी । कछु नहि दीषत दक्ष कुमारी ।।
पुनि पुनि नाइ राम पद सीसा । चली सती जह रहे गिरीशा ।।
दोहा : गई सभीत महेश पद हसि पूछी कुशलात ।।
लीन्हि परीछा कवन विधि कहहु सत्य सव वात ।। ७६ ।।
सती समुझि रघुवीर प्र[1]भाऊ । भय वस शिव सन कीन्ह दुराऊ ।।
कछु न परिछा लीनि गुसांई । कीन्ह प्रनामु तुम्हारिय नाई ।।
जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई । मोरे मन प्रतीति अति सोई ।।
तव शंकर देषेउ धरि ध्याना । सती जो कीन्ह मरमु सवु जाना ।।
वहुरि मायहि सिरु नावा । प्रेरि सतिहि जिहि झूट कहावा ।।
हरि इछा भावी वलवाना । हृदय विचारत शंभु सुजाना ।।
सती कीन्ह सीता कर वेषा । शिव उर भएउ विषाद विशेषा ।।
जो अव करौ सती सन प्रीति । मिटै भगति पथ होइ अनीति ।।
दोहा : परम प्रीत न जाइ तजि किए प्रेम वड पाप ।
प्रगट न कहत महेश कछु हृदय अधिक संताप ।। ८० ।।
तव शंकर प्रभु पद शिर नावा । सुमिरत राम हृदय अस आवा ।।
इहि तन सतिहि भेट मोहि नाही । शिव संकल्प कीन्ह मन माही ।।
अस विचारि संकर मति धीरा । चले भवन सुमिरति रघुवीरा ।।
चलत गगन भै गिरा सुहाई । जय महेश भलि भगति दृढाई ।।
अस पन तुम्ह विनु करै को आना । राम भगत समरथ भगवाना ।।
सुनि नभ गिरा सती उर सोचा । पूछा शिवहि समेत सकोचा ।।
कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला । सत्य धाम प्रभु दीन दयाला ।।
जदपि सती पूछा वहु भाती । तदपि न कहेउ तिपुर आराती ।।
दोहा : (सती) हृदय अनुमान किय सव जान्यौ सरवज्ञ ।
कीन्ह कपट मै शंभु सन नारि सहज ड अज्ञ ।। ८१ ।।
(सोर)ठा : जल पय सरिस विकाहि देषहु प्रीति की रीति भलि ।
विलग होत रसु जाइ कपट षटाई [2](परत ही) ।।८२ ।।
हृदय सोचु समुझि निज करनी । चिंता अमित जात नहि वरणी ।।
कृपा सिंधु शिव पर(म) अगाधा । प्रगट न कहेउ मोर अपराधा ।।
शंकर रुष अवलोकि भवानी । प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी ।।
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई । तपै आवा इव उर अधिकाई ।।
सतिहि ससोच जानि वृष केतू । कही कथा सुंदर सुष हेतू ।।
वरनेउ पंथ विविधि इतिहासा । विस्वनाथ पहुचे कैलासा ।।

---

१. पृष्ठ १६ ।
२. नया पृष्ठ ।

पुनि तह शंभु समुझि पन आपन। बैठे वट तर करि कमलासन ।।
शंकर सहज सरूप सभारा। लागि समाधि अषंड अपारा ।।
दोहा : सती वसहि कैलास तव अधिक सोच मन माहि ।
मरमु न कोऊ जानि कछु युग सम दिवस सिराइ ।। ८३ ।।
नित नव सोचु सती उर भीरा। कव जैहै दुष सागर पीरा ।।
मैं जु कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति वचन मृषा करि जाना ।।
सो षलु मोहि विधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सो कीन्हा ।।
अव विधि अस न वूझियहि तोही। शंकर विमुष जिआवसि मोही ।।
कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मन मुहु रामहि सुमिरि भवानी ।।
जौ प्रभु दीन दयाल कहावा। आरत हरन वेद जसु गावा ।।
तौ मैं विनय करौ कर जोरी। छूटै वेगि देहु यह मोरी ।।
जौ मोरे शिव चरन सनेहू। मन क्रम वचन सत्य वृत एहू ।।
दोहा : तौ सम दरसी सुनिय प्रभु करहु सो वेगि उपाइ ।
[1]होइ मरन जिहि विनहि श्रम दुसह विपति विहाइ ।। ८४ ।।
इहि विधि दुषित प्रजेश कुमारी। अकथनीय दारुन दुष भारी ।।
वीते संवत सहस सतासी। तजी समाधि शंभु अविनासी ।।
राम नाम शिव सुमिरन्ह लागे। जानेउ सती जगत पति जागे ।।
जाइ शंभु पद वंदन कीन्हा। सन मुष शंकर आसन दीन्हा ।।
लगे कहन करि कथा रसाला। दछ प्रजेश भए तिहि काला ।।
देषा विधि विचारि सव लायक। दछहि कीन्ह प्रजापति नायक ।।
वड अधिकार दछ जव पावा। अति अभिमान हृदय तव आवा ।।
नहि कोउ अस जन्मा जग माही। प्रभुता पाई जाइ मद नाही ।।
दोहा : दछ लिए मुनि वोलि सव करन लाग वड जाग ।
नेवते सादर सकल सुर जे पावत मष भाग ।। ८५ ।।
किन्नर नाग सिद्ध गंधर्वा। वधुन्ह समेत चले सुर सर्वा ।।
विष्णु विरंचि महेश विहाई। चले सकल सुर जान वनाई ।।
सती विलोके व्योम विमाना। जात चले सुंदर विधि नाना ।।
सुर सुंदरी करहि कल गाना। सुनत श्रवन छूटहि मुनि ध्याना ।।
सती पूछ शिव कहा वषानी। पिता जज्ञ सुनि कछु हरषानी ।।
जौ महेश मोहि आयसु देही। कछु दिन जाइ रहौ मिस एही ।।
पति परित्याग हृदय दुष भारी। कहे न निज अपराध विचारी ।।
बोली सती मनोह (र) वानी। भय संकोच प्रेम रस सानी ।।
दोहा : पिता भवन उत्सव परम जो प्रभु आयसु होइ ।
तौ मैं जा (उ क्र) पा यतन सादर देषन सोइ ।। ८६ ।।
कहेहु नीक मोरे हु मन भावा। यह अनुचित नहि नेव पठावा ।।

---

१. पृष्ठ २० ।

[1](दछ स) कल निज सुता बुलाई। हमरे बैर तुम्हैं बिसराई।।
ब्रह्म सभा हम सन दुष पावा। तिहिते अजहु करैं (अपमा) ना।।
जो विनु बोले जाहु भवानी। रहै न सील सनेह सोकानी।।
जदपि मित्र पितु प्रभु गुर गेहा। जाई (य) विनु बोले न सदेहा।।
तदपि विरोध मान जह कोई। तहा गए कल्यान न होई।।
भाति अनेक शंभु समुझावा। भावी बस न ज्ञान उर आवा।।
कह प्रभु जाहु जो विनहि विलाए। नहि भलि बात हमारे भाए।।
दोहा : कहि देषा हर जतन वहु रहै न दछ कुमारि।
दिए मुष्य गन संग तब बिदा कीन्हि ति पुरारि।। ८७।।
पिता भवन जब गई भवानी। दछ त्रास काहु न सनमानी।।
सादर भलेहि मिली एक माता। भगिनी मिली वहुत मुसिकाता।।
दछ न कछू पूछि कुशलाता। सतिहि बिलोकि जरेउ सब गाता।।
सती जाइ देषेहु तब जागा। कतहु न दीष शंभु कर भागा।।
तब चित चढेउ जो शंकर कहेउ। पति अपमान समुझि उर दहेउ।।
पछिला दुष न हृदय अस व्यापा। जस यह भएउ महा परितापा।।
जदपि जग दारुन दुष नाना। सब ते कठिन जाति अपनावा।।
समुझि सो सतिहि भयो अति क्रोधा। वहु विधि जननी कीन्ह प्रवोधा।।
दोहा : शिव अपमान न जाइ सहि हृदय न होइ प्रबोध।
सकल सभहि हटि हटकि तब बोली वचन सक्रोध।। ८८ ॥
सुनहु सभासद सकल मुनींद्रा। कही सुनी जिन्ह शंकर निंद्रा।।
सो फलु तुरत लह सब काहू। भली भाति पछिताव पिता हू।।
संत शंभु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहा तह असि[2](म)र जादा।।
काटिय तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूदि न तु चलिय पराई।।
जगदात्मा महेस तिपुरारी। जगत जनक सब के हितकारी।।
पिता मंद मति निंदत तेही। दछ शुक्र संभव यह देही।।
तजि हौ तुरत देह तिहि हेतू। उर धरि चंद्र मौलि वृषकेतू।।
अस कहि योगानल तनु जारा। भएउ सकल मष हाहाकारा।।
दोहा : सती मरन सुनि शंभु गन लगे करन मष षीस।
जज्ञ विध्वंस विलोकि प्रभु रछा कीन्हि मुनीश।। ८ ।।
समाचार जब शंकर पाए। वीर भद्र करि कोप पठाए।।
जज्ञ विध्वंस जाय तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह विधिवत फलु दीन्हा।।
भै जग विदिति दछ गति सोई। जस कछु शंभु विमुष कह होई।।
यह इतिहास सकल जग जाना। तातें मैं संछेप वषाना।।
सती मरत हरि सन बर मागा। जन्म जन्म शिव पद अनुरागा।।
तिहि कारण हिम गिरि ग्रह जाई। जन्मी पारवती तनु पाई।।

---

१. नया पृष्ठ।
२. पृष्ठ २१ से।

जब ते उमा सैल ग्रह जाई। सकल सिद्धि संपति तह छाई ॥
जह तह मुनिन सु आसन कीन्हे। उचित वास हिम भूधर दीन्हे ॥
दोहा : सदा सुमन फल सहित द्रुम सब नव नाना भाति ॥
प्रगटी सुंदर सैल पर मनि आकर बहु भाति ॥ ६० ॥
सरिता सब पुनीत जल बहही। षग मृग मधुप सुषी सब रहही ॥
सहज बैर सब जी (वन) त्यागा। गिरि पर सकल करहि अनुरागा ॥
सोहे सैल गिरिजा ग्रह आए। जिमि जन राम भगति (के पाए) ॥
नित नूतन मंगल ग्रह तासू। ब्रह्मादिक गावहि जसु तासू ॥
नारद समाचार सब पाए। कौतु[1](कहि) गिरि गेह सिधाए ॥
सैल राज बड आदर कीन्हा। पद पषारि बड आस दीन्हा ॥
नारि सहित मुनि पद सि(र ना)वा। चरन सलिल सब भवन सिचावा ॥
निज सौभाग्य बहुत विधि बरना। सुता बोलि मेली मुनि चरना ॥
दोहा : त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम गति सर्वत्र तुम्हारि।
कहहु सुता के दोष गुन मुनिवर हृदय विचारि ॥ ६१ ॥
कह मुनि बिहसि गूढ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुन षानी ॥
सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी ॥
सब लछन सपन्न कुमारी। होइ ह संतति पिअहि पियारी ॥
सदा अचल इहि कर अहि वाता। इहि तें सुजसु पहै पितु माता ॥
होइह पूज्य सकल जग माही। इहि सेवत कछु दुर्लभ नाही ॥
इहि कर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढि हइ पतिव्रत असिधारा ॥
सैल सुलछन सुता तुम्हारी। सुन जे अवगुन दुइ चारी ॥
अगुन अमान मात पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना ॥
दोहा : योगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल वेष।
अस स्वामी इहि का मिलिहि परी हस्त रेष ॥ ६२ ॥
सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुष दंपतिहि उमा हरषानी ॥
नारद हू यह भेदु न जाना। दशा एक समुझब बिलगाना ॥
सकल सषी गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना ॥
होइ न मृषा देव ऋषि भाषा। उमा सो वचन हृदय धरि राषा ॥
उपजेउ शिव पद कमल सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू ॥
जानि कुअवसर प्रीति दुराई। सषी उछंग बैठि पुनि जाई ॥
झूठि न होइ देव ऋषि बानी। सोचहि दंपति सषी सयानी ॥
उर धरि धीर कहै गिरि राऊ। करहु नाथ का करिय उपाऊ ॥
दोहा : कह मुनीस हिमवंत सुनु जो विधि लिषा लिलार।
देव दनुज नर नाग षग कोऊ न मेटन हार ॥ ६३ ॥
तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करै जो देव सहाई ॥

---

१. पृष्ठ नया।
२. पृष्ठ २२ से।

जस वरु मैं वरनेउ तुम्ह पाही । मिलिहि उमहि कछु संसय नाही ।।
जेजे वर के दोष वषाने । ते सव शिव पह मैं अनुमाने ।।
जो विवाह संकर सन होई । दोषौ गुण सम कह सवु कोई ।।
जो अहि सैज सयन हरि करही । वुध तिन्ह कह कछु दोष न धरहीं ।।
भानु कृसानु सर्व रस षाही । तिन को मद कहत कोउ नाही ।।
सुभ अरु असुभ सलिल सव वहहीं । सुरसरि कोउ अपुनीत न कहंही ।।
समरथ कह नहि दोस गुसाईं । रवि पावक सुरसरि की नाईं ।।
दोहा : जो अस ही सिष करहि नर जउ विवेक अभिमान ।
परहि कल्प भरि नर्क महुं जीव कि ईस समान ।। ९४ ।।
सुरसरि जल क्रत वारुनि जाना । कवहु न संत करहि तेहि पाना ।।
सुरसरि मिले (सोग) वन जैसे । ।।
संभु सहज समरथ भगवाना । ऐहि विवाह सव विधि कल्याना ।।
[1](दुरा)राध्य पै अहहि महेसू । आशुतोष पुनि किए कलेसू ।।
जो तपु करै कुमारि तुम्हारी । (भा) विउ मेटि सकै तिपुरारी ।।
जदपि वर अनेक जग माही । इहि कह शिव तजि दूसर नाही ।।
वर दायक प्रन तारत भंजन । क्रपा सिंधु सेवक मन रंजन ।।
ईछित फलु विनु शिव अवराधे । लहिए न कोटि जोग जप साधे ।।
दोहा : अस कहि नारद सुमिरि हरि गिरजहि दीन्ह अस सीस ।
होइ हिं वह कल्यान अव संसय तजहु गिरीस ।। ९५ ।।
अस कहि व्रह्म भवन मुनि गएऊ । आगिल चरित सुनहु जस भयऊ ।।
पतिहि एकांत पाइ कह मैना । नाथ न मैं वूझे मुनि वयना ।।
जो घर वर कुल होइ अनूपा । करिय विवाह सुता अनुरूपा ।।
नतु कंन्या वरु रहउ कुमारी । कांत उमा मम प्रान पियारी ।।
जो न मिलहि वरु गिरिजहि योगा । गिरिजउ सहज कहहि सव लोगा ।।
सोइ विचार पति करेहु विवाहू । जिहि न होइ पाछे पछितायू ।।
अस कहि परी चरन धरि सीसा । वोले सहित सनेह गिरीसा ।।
वरु पावक प्रगट ससि माही । नारद वचन अमिथ्या नाही ।।
दोहा : प्रिया[2] सोचु परिहरउ सव सुमिरहु श्री भगवान ।
पारवती निमएउ जिहि सोई करहि कल्यान ।। ९६ ।।
अव जो तुम्हहि सुता पर नेहू । तौ असि जाइ सिषावन देहू ।।
करे सो तप जिहि मिले महेसू । आन उपाय न मिटहि कलेसू ।।
नारद वचन सगर्व सहेतू । सुंदर सव गुन निधि वृष केतू ।।
अस विचारि तुम्ह तजहु असंका । सवहि भांति शंकर अकलंका ।।
सुनि पति वचन हर्ष मन माही । गई तुरत उठि गिरिजा पाही ।।
उमहि विलोकि नयन भरि वारी । सहित सनेह गोद वैठारी ।।

---

१. पृष्ठ नया ।
२. पृष्ठ २३ से ।

वारहि वार लेइ उर लाई । गद गद कंठ न कछु कहि जाई ।।
जगत मातु सर्वज्ञ भवानी । मातु सुषद वोली मृदु वानी ।।
दोहा : सुनहु मातु मैं दीष ग्रस सपन सुनावो तोहि ।
सुन्दर गौर सु विप्रवर ग्रस उपदेसहु मोहि ।। ९७ ।।
करहु जाइ तप सैल कुमारी । नारद कहा सो सत्य विचारी ।।
मात पितहि पुनि वह मत भावा । तप सुष प्रद दुष दोष नसावा ।।
तप वल रचै प्रपंच विधाता । तप वल विष्मु सकल जग त्रा(ता) ।।
तप वल संभु करहि संघारा । तप वल सेष धरे महि भारा ।।
तप ग्रधार सव श्र(ष्ठि भ)वानी । करहि जाइ तप ग्रस जिय जानी ।।
सुनत वचन वि[1](समि)त महतारी । सपना सुनाइहि गिरिहि हकारी ।।
मात पितहि वहु विधि समुझाई । च(ली) उमा तप हित हरषाई ।।
प्रिय परिवारु पिता ग्ररु माता । भएउ विकल मुष ग्रावे न वाता ।।
दोहा : वेद गिरा मुनि ग्राइ तव सवहि कहा समुझाइ ।
पारवती महिमा सुनत रहै प्रवोधै पाइ ।। ९८ ।।
उर धरि उमा प्रान पति चरना । जाइ विपनि लागी तपु करना ।।
ग्रति सुकुमारि न तन तप वोगू । पति पद सुमिरि तजेउ सव भोगू ।।
नित नव चरन उपज ग्रनुरागा । विसरी देह तपहि मनु लागा ।।
संवत सहस मूल फल षाए । साग षाइ सत वर्ष गमाए ।।
कछु दिन भोजन वारि वतासा । किए कठिन कछु दिन उपवासा ।।
वेल पाति महि परै सुषाई । तीनि सहस संवत सो षाई ।।
पुनि परि हरेउ सुषाने परना । उमहि नाम तव भएउ ग्रपर्ना ।।
देषि उमहि तप षिन्न सरीरा । व्रह्म गिरा भई गगन गभीरा ।।
दोहा : भएउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराज कुमारि ।
परि हरु दुःसह कलेस सव ग्रव मिलहि तिपुरारि ।। ९९ ।।
ग्रस तप काहु न कीन्ह भवानी । भए ग्रनेक धीर मुनि ज्ञानी ।।
ग्रव उर धरहु व्रह्म वर वानी । सत्य सुगम निगमादि वषानी ।।
ग्रावै पिता वुलावन्ह जव ही । हठ परि हरि घर जाएहु तव ही ।।
मिलहि तुम्हहि जव सप्त ऋषीसा । तव जानेहु प्रमान वागीसा ।।
सुनत गिरा विधि गगन वषानी । पुलक गात गिरिजा हरषानी ।।
उमा चरित सुंद मैं गावा । सुनहु शंभु के चरित सुहावा ।।
जव ते सती जाइ तनु त्यागा । तव ते शिव मन भएउ विरागा ।।
जपहि सदा रघुनायक नामा । जह तह सुनहि राम गुन ग्रामा ।।
दोहा : चितानंद सुष धाम शिव विगत मोह मद मान ।
विचरहि महि धरि हृदय हेरि सकल लोक ग्रभिराम ।। १०० ।।

---

१. नया पृष्ठ ।
२. पृष्ठ २४ से ।

कतहु मुनिन उपदेसहि ज्ञाना । कतहु राम गुन करहि वषाना ।।
जदपि अकाम तदपि भगवाना । भगति विरह दुष दुषित सुजाना ।।
इह विधि गए काल कछु वीती । नित नई होइ राम पद प्रीती ।।
नेम प्रेम संकर कर देषा । अविचल हृदय भक्ति कै रेषा ।।
प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला । रूप सील विधि तेज विसाला ।।
वहु प्रकार संकर हि स(रा)हा । तुम्ह विनु अस पन को निवाहा ।।
वहु विधि राम शिवहि समुझावा । पारवती कर जन्म (सुना)वा ।।
अति पुनीत गिरि की करनी । विस्तार सहित कृपानिधि वरनी ।।
दोहा : अव विनती[1] (मम सु)नहु शिव जौ मोपर निज नेहु ।
जाइ विवाहउ सैलजहि यह मोहि मागे देहु ।। १ ।।
कह शिव जदपि उ(चि)त अस नाही । नाथ वचन पुनि मेटि न जाही ।।
शिर धरि आयसु करिय तुम्हारा । परम धरम जह नाथ हमारा ।।
मात-पिता गुरु प्रभु की वानी । विनहि विचार करिय भल नाही ।।
तुम सव भाति परम हित कारी । अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी ।।
प्रभु तोषेउ सुनि शंकर वचना । भगति विवेक धर्म युत रचना ।।
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेउ । अव उर राषहु हम जो कहेउ ।।
अंतर ध्यान भए अस भाषी । शंकर सोइ मुरति उर राषी ।।
तवहि सप्त ऋषि शिव पह आए । वोले प्रभु अति वचन सुहाए ।।
दोहा : पारवती पह जाइ तुम्ह प्रेम परिछा लेहु ।
गिरिहि प्रेरि पठाएहु भवन दूरि करेहु संदेह ।।२।।
शिव के वचन मुनिन सुनि काना । चले जहा कानन गिरि नाना ।।
ऋषिन्ह गौरी देषी तह कैसी । मूरतिवंत तपस्या जैसी ।।
वोले मुनि सुनि सैल कुमारी । करहु कवन कारन त्रिपुरारी ।।
किहि अवराधहु का तुम्ह चहहू । हम सत्य वचन सव कहहू ।।
सुनित ऋषिन्ह के वचन भवानी । वोली गूढ़ मनोहर वानी ।।
कहत मरम न अति सकुचाई । हसिहहु सुनि हमारि जड़ताई ।।
मन हठ परान सुनै सिषावा । चहत वारि पर भीति उठावा ।।
नारद कहा सत्य सोई जानी । विनु पंषन हम चहत उडानी ।।
देकहु मुनि अविवेक हमारा । चाहिय सिवही सदा भरतारा ।।
दोहा : सुनत वचन विहसे ऋषय गिरि संभव तव देह ।
नारद कर उपदेस सुनि कहहु वसहु किस गेह ।। ३ ।।
दछ सुतहु उपदेसेन्हि जाई । तिन्ह पुनि भवन न देषा आई ।।
चित्र केतु कर घर उन्ह घाला । कनक कस्य पर पुनि अस हाला ।।
नारद सिष जे सुनहि न नारी । अवसि होइ तजि भवन भिषारी ।।

---

१. नया पृष्ठ ।
२. पृष्ठ २५ से ।

मन कपटी तन सज्जन चीन्हा । आपु सरिस सबही चह कीन्हा ।।
तिहि के वचन मानि विस्वासा । तुम चाहहु पति सहज उदासा ।।
निर्गुन निलज्ज कुवेष कपाली । अगुन अगेह दिगंबर व्याली ।।
कहहु कवन सुष अस वरु पाए । भली भूलि ठग के बोराए ।।
पंच कहै शिव सती विवाही । पुनि अब टेरि मरा इहि ताही ।।
दोहा : अब सुष सोवहि सोच नहि भष भागि भव षाइ ।
सहज एका किन्ह के भवन कहहु कि नारि षटाइ ।।४।।
अजहु मानहु कहा हमारा । हम तुम्ह कहु वरु नीक विचारा ।।
अति सुंदर सुचि सुषद सुसीला । गावहि वेद जासु जस लीला ।।
दूषन रहित सकल गुन रा(सी) । श्रीपति पुर वैकुंठ निवासी ।।
अस वर तुम्है मिला उव आनी । सुनत विहसि कहु वचन भ[1](वानी) ।।
सत्य कहेउ मुनि भव तनु एहा । हठ न छूट छूटे वरु देहा ।।
कनको पुनि पषान ते होई । जारेउ (स)हज न परिहर सोई ।।
नारद वचन मै न परिहरऊ । वसौ भवन उजरो नहि डरऊ ।।
गुरु के वचन प्रीति तिन जेही । सपनेउ सुलभ न सुभ गति तेही ।।
दोहा : महादेव अवगुन भवन विष्मु सकल गुन धाम ।
जाकर मन रम जाहि सन ताहि ताही सो काम ।। ५ ।।
जौ तुम मिलतेउ प्रथम मुनीसा । सुनतेउ सिष तुम्हारि धरि सीसा ।।
अव मै जन्म शंभु सन हारा । को गुन दूषन करै विचारा ।।
जौ तुम्हरे हठ हृदय विसेषी । रहि न जाइ विनु किए वरेषी ।।
तौ कौतुकपन्ह आलस नाही । वर कंन्या अनेक जग माही ।।
जन्म कोटि लगि रगर हमारी । वरौ शंभु न तु रहउ कुमारी ।।
तजौ न नारद वर उपदेसू । आपु कहै सत वार महेसू ।।
मै पाँउ परौ कहै जगदंवा । तुम गृह गवनहु भई विलंवा ।।
देषि प्रेम बोले मुनि ज्ञानी । जय जय जय जगदंविके भवानी ।।
दोहा : तुम माया भगवान शिव सकल जगत पितु मात ।
नाइ चरन सिर मुनि चलै पुनि पुनि हरषित गात ।। ६ ।।
जाइ मुनिन हिमवंतु पठाए । करि विनती गिरिजा गृह लाए ।।
वहुरि सप्त ऋषि शिव पह जाई । कथा उमा कै सकल सुनाई ।।
भए मगन शिव सुनत सनेहा । हरषि सप्त ऋषि गवने गेहा ।।
मन करि थिरु त[2](व) शंभु सुजाना । लगे करन रघुनायक ध्याना ।।
तारक असुर भएउ तिहि काला । भुज प्रताप व तेज विसाला ।।
तिहि सव लोक लोक पति जीते । भए देव सुष संपति रीते ।
अजर अमर सो जीति न जाई । हारे सुर करि विविध लराई ।।
तव विरंचि सन जाइ पुकारे । देषे विधि सव देव दुषारे ।।

१. पृष्ठ नया ।
२. पृ० २६ से

दोहा : सब सन कहा बुझाइ विधि दनुज निधन तब होइ।
शंभु सुक्रत संभूत इहि सो जीतै रन सोइ ॥७॥
मोर कहा सुनि करहु उपाई। होइहि ईश्वर करहि सहाई ॥
सती जो तजी दछ मष देहा। जन्म जा हिमाचल गेहा ॥
तिहि तपु कीन्ह शंभु पति लागी। शिव समाधि बैठे सबु त्यागी ॥
जदपि अहै असमंजस भारी। तदपि बात एक सुनहु हमारी ॥
पठवहु काम जाइ शिव पाही। करै छोभ शंकर मन माही ॥
तब हम जाइ शिवहि शिर नाई। करवाउब विवाहु बरि आई ॥
इहि विधि भलेहि देव हित होई। मत अति नीक कहै सबु कोई ॥
अस्तुति सुरन कीन्हि अस हेतू। प्रगटेउ विषम बान भुष केतू ॥
दोहा : सुरन कही निज विपति सब सुनि मन कीन्ह विचार।
(शं)भु विरोध न कुशल मोहि विहसि कहेउ अस मार ॥८॥
तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति (कह) परम धर्म उपकारा ॥
पर हित लागि तजहि जो देही। संतत संत प्रसंसत तेही ॥
अस कहि × × । × × × × ॥
(पन्ना अज्ञात) × × (भा) ई
दोहा : जो नृप त(नय) (ब्रह्म) किमि नारि नारि विरह मति भोरि।
देषि चरित (महि)मा सुनत त भ्रमति बुधि अति मोरि ॥१३३॥
जौ (अनीह व्या)पक विभु कोउ। कहहु बुझाई नाथ मोहि सोउ ॥
(अज्ञ) जानि रिस जनि उर धरहू। जेहि विधि मोह मिटै सोई करहू ॥
मै बन दीषि राम प्रभुताई। अतिसय विकल न तुम्है सुनाई ॥
तदपि मलिन मन बोध न आवा। सो फलु भली भाति हम पावा ॥
अजहू कछु संसय मन मोरे। करहु कृपा बिनवौ कर जोरे ॥
प्रभु मोहि तब बहु भाति प्रबोधा। जाय सो समुझि करहु जनि क्रोधा ॥
तब कर अस विमोह मोहि नाही। राम कथा पर रुचि मन माही ॥
कहहु (पु)नीत राम गुन गाथा। भुजग राज भूषन सुर नाथा ॥
दोहा : बंदौ पद धरि धरनि सिरु वि(नय) करौ कर जो(रि) ॥
बरनौ रघुपति विसत जस श्रुति सिद्धांत निचोरि ॥१३४॥
जदपि योषिता अन अधिका(री। दा)सी मन क्रम वचन तुम्हारी ॥
गूढो तत्व न साधु दुरावहि। आरत अधिकारी जंह पावहि ॥
अति आरति पूछौ सुर राया। रघुबर कथा कहहु करि दाया ॥
प्रथम सो कारन कहहु विचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन वपु धारी ॥
पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। बाल चरित पुनि कहहु उदारा ॥
कहहु जथा जानुकी बिवाही। (रा)जु तजा सो (दूषन) काही ॥
बन बसि कीन्ह चरित्र अपा(रा)। कहहु नाथ जिमि रावन मारा ॥
सीता विजै कहौ वृष केतू। (× ×)णरंद्र सुनि होहु स्वचेतू ॥

रा[1](ज) बैठि कीन्ही बहु लीला । सकल कहौ संकर सुष सीला ।।
दोहा : वहुरि कहहु करुना यतन कीन्ह जो अचरजु राम ।।
प्रजा सहित रघुवंस मनि किमि गवने निज धाम ।।१३५।।
पुनि प्रभु कहहु सो तत्व वषानी । जेहि विज्ञान मगन मुनि ज्ञानी ।।
भगति ज्ञान विज्ञान विरागा । पुनि सव वरनहु रुहित विभागा ।।
औरो राम रहस्य अनेका । कहहु नाथ अति विमल विवेका ।।
जो प्रभु मैं पूजा नहि होई । सोउ दयाल राषेउ जनि गोई ।।
तुम्ह त्रिभुवन गुर वेद वषाना । आन जीव पात्रर कह जाना ।।
प्रस्न उमा कै सहज सुहाई । छल विहीन सुनि शिव मन भाई ।।
हर हिय राम चरित सव आऐ । प्रेम पुलकि लोचन जल छाऐ ।।
श्री रघुनाथ रूप उर आवा । परमानद अमित सुषु पावा ।।
दोहा : रघुपति चरित महेस तव हरषित वरनै लीन्ह ।।
मगन ध्यान रस दंड युग पुनि मन वहेर कीन्ह ।।१३६।।
झूठेहु सत्य होई विनु जाने । जिमि भुजंग विनु रज पहिचाने ।।
जिहि जाने जग जोई हेराई । जागे यथा सपन भ्रम जाई ।।
वदौ बाल रूप सोई रामू । सिद्ध सुलभ जप तप जिस नामू ।।
मगल भवन अमंगल हारी । द्रवौ सो दसरथ अजिर विहारी ।।
करि प्रनाम रामहि ति पुरारी । हरषि सुधा सम गिरा उचारी ।।
धन्य धन्य गिरिराज कुमारी । तुम्ह समान न(हि कोउ) उपकारी ।।
पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा । सक(ल) लोक जग पावनि गगा ।।
तुम्ह रघुवीर चरन अनुरागी । कीन्हेहु[2] प्रस्न जगत हित लागी ।।
दोहा : राम कृपाते गिरिजे सपनेहु तव मन माहि ।।
सोक मोह सदेह भ्रम मम विचा कछु नाहि ।।१३७।।
तदपि असंका कीन्हेउ सोई । कहत सुनत सव कर हित होई ।।
जिन्ह हरि कथा सुनी नहि काना । श्ररन रघ अहि भवन समाना ।।
नयननि संत द स नहि देषा । लोचन मोर पंष कर लेषा ।।
ते सिर कटु तूमरि सम तूला । जे न नमत हरि गुर पद मूला ।।
जिन्ह हरि भगति ह्रदय नहि आनी । जीवत सव समान ते प्रानी ।।
जौ नहि करहि राम गुन गाना । जीह सो दादुर जीह समाना ।।
कुलिस कठोर निठुर सोई छाती । सुनि हरि चरित न जो हरषाती ।।
गिरिजा सुनहु राम की लीला । सुर हित दनुज विमोहन सीला ।।
दोहा : राम कथा सुर धेनु सम सेवत सव सुषदानि ।।
संत सभा सुर लोक सम को न सुनै अस जानि ।।१३८।।
राम कथा सुंदर कर तली । संसय विहग उडावन हारी ।।
राम कथा कलि विटप कुठारी । सादर सुनु गिरि राज कुमारी ।।
राम नाम गुन चरित सुहाऐ । जन्म कर्म अगनित श्रुति गाऐ ।।

१. नया पृष्ठ २. पन्ना अज्ञात

यथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना ॥
तदपि यथा श्रुति जसि मति मोरी। कहि हौ दिषि प्रीति अति तोरे ॥
उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुषद संत समित मोहि भाई ॥
ऐक बात नहि मोहि सुहानी। जदपि मोह बस कहेउ भवानी ॥
तुम्ह जो कहा राम(को)उ आना। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना ॥
दोहा : कहहि सुनहि अस अधम नर ग्रसे जे मोह[1] पिसाच ॥
पाषंडी हरि पद विमुष जानहि झूठ न साच ॥१३९॥
अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई मुपुर मुकुर मन लागी ॥
लंपट कपटी कुटिल विसेषी। सपनेहु संत सभा नहि देषी ॥
कहहि बेद असंमत बानी। जिन्हहि न सूझ लाभ नहि हानी ॥
मुकुर मलिन अरु नैन विहीना। राम रूप देषहि किमि दीना ॥
जिन्ह के अगुन न सगुन विवेका। जल्पहि कलपहि बचन अनेका ॥
हरि माया वस गत भ्रमाही। तिनहि कहत कछु अघटित नाही ॥
वातुल भूत विवस मतवारे। ते नहि बोलहिं बचनु विचारे ॥
जिन्ह किय महा मोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिय नहि काना ॥
दोहा : अस निज हृदय विचारि तजु संसय भजु राम पद ॥
सुनु गिरि राज कुमारि भ्रम तम रवि कर वचन मम ॥१४०॥
सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहि श्रुति पुरान वुध वेदा ॥
अगुन अरूप अलष गति जोई। भगत प्रेम वस सगुन सो होई ॥
कुभय हरहि भव संभव षेदा। जानत सव संसय कह छेदा ॥
जो गुन रहित सगुण सो कैसे। जल हिम उपल विलग नहि जैसे ॥
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय विमोह प्रसंगा ॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहि तह मोह निसा लव लेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहि तह पुनि विज्ञान विहाना ॥
हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमित अभिमाना ॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। [2](पर)मानंद परेसु पुराना ॥
दोहा : पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट पराय सनाथ ॥
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि शिव नाऐउ माथ ॥१४१॥
निज भ्रम नहि समुझहि अज्ञानी। प्रभुपर मोह धरहि जड पानी ॥
यथा गगन घन पटल निहारी। छापेउ भानु कहहि कुविचारी ॥
चितवत लोचन अंगुलि लाऐ। प्रगट युगुल ससि तिन्ह के भाऐ ॥
उमा राम विषईक अस मोहा। नभ तम धूरि धूम जिगि सोहा ॥
विषय करत सुर जीव समेता। सकल ऐक ते ऐक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवध पति सोई ॥

---

१. नया पृष्ठ
(पन्ना अज्ञात (परमानंद से प्रारंभ)

जगत प्रकास प्रकासिक रामू । माया धीस ज्ञान गुन धामू ।।
जासु सत्य ताते जड माया । भास सत्य ईव मोह सहाया ।।
दोहा : रजत सीप मह भास जिमि यथा भानु कर वारि ।।
जदपि मृषातिहु काल सोई भ्रम न सकै को(उ टा)रि ।।१४२।।
ऐहि विधि हरि जग आश्रित इहही । जदपि असत्य देत दुषु अहही ।।
जौ सपने सिर काटै कोई । विनु जागे न दूरि दुष होई ।।
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सो कृपाल रघुराई ।।
आ(दि) अन्त को(उ) जासु न पावा । मति अनुमानि निगम अस गावा ।।
विनु पद चलै सुनै विनु क(ा)ना । कर विनु कर्म करै विधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी । विनु वानी कविता वड योगी ।।
तन विनु (प)रस नयन विनु देषा । ग्रहै घ्रान विनु वास अलेषा ।।
असि सव भाति अलौकिक रनी । महिमा जासु जा (इ नहि व)रनी।।
दोहा : जेहि ईमि गावहि वेद वुध जाहि (ध)रहि मुनि ध्यान ।
सो दसरथ सुत भगत हित कोस[1] (ल पति) भगभान ।।४३।।
काशी मरतु जंतु अवलोकी । जासु नाम वल करौ विसेकी ।।
सोई प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुवर सव उर अंतर्यामी ।।
विवसहु जासु नाम नर कहही । जन्म अनेक संचित अघ दहही ।।
सादर सुमिरनु जे नर करही । भव वारिधि गोपद इव तरही ।।
राम सो परमात्मा भवानी । तहा भ्रम अति अवहित त वानी ।।
अस संसय आनत मन माही । ज्ञान विराग सकल गुन जाही ।।
सुनि सिव के भ्रम भंजन वचना । मिटिगैं सव कुतर्क की रचना ।।
भै रघुपति पद प्रीति प्रतीती । दारुन असंभावना वीती ।।
दोहा : पुनि पुनि प्रभु पद कमल गहि जोरि पंकरुह पानि ।
वोली गिरिजा वचन वर मनहु प्रेम रस सानि ।।४४।।
ससि कर सम मुनि गिरा तुंम्हारी । मिटा मोह सरदापत भारी ।।
तुम्ह कृपाल संसय सव हरेउ । राम सरूप जानि मोहि परेउ ।।
नाथ कृपा अव गऐउ विषादा । सुषी भईउ प्रभु चरन प्रसादा ।।
अव मोहि आपनु किंकरि जानी । जदपि सहज जड़ नारि अयानी ।।
प्रथम जो मैं[2] पूछा सोइ कहहू । जो मोपर प्रसन्न प्रभु अहहू ।।
राम व्रह्म विरुज अविनासी । सर्व रहित सव उपर ,वासी ।।
नाथ धरेहु नर तन केहि केतू । मोहि समुझाहि कहहु वृषकेतू ।।
उमा वचन सुनि परम विनीता । राम कथा पर प्रीति पुनीता ।।
दोहा : हिय हरषे कामारि तव संकर सहज सुजान ।
वहु विधि उमहि उमहि प्रसंसि पुनि वोले कृपानिधान ।।

१; नया पृष्ठ
२. नया पृष्ठ

सोरठा : सुनु सुभ कथा भवानि राम चरित मानस विमल ।
कहा भसुंडि वषानि सुना विहग नायक गरुड़ ॥
सोरठा : सो संवाद उदार जेहि विधि वा आगे कहव ।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुन्दर अनघ ॥
सोरठा : हरि गुन अगम अपार कथा रूप अगनित अमित ।
मैं निज मति अनुसार कहौ उमा सादर सुनहु ॥१४८॥
सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाऐ । विपुल विसद निगमागम गाऐ ॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई । मिथ्या सुमति कहि जाई न सोई ॥
राम अतर्क बुद्धि वल वानी । मत हमार अस सुनहि सयानी ॥
तदपि संत मुनि वेद पुराना । जस कछु कहहि स्वमति अनुमाना ॥
तस मैं सुमुषि सुनाऔ तोही । समुझि परे जस कारन मोही ॥
जव जव होइ धर्म की हानी । वाढ़हि असुर अधम अभिमानी ॥
करहि अनीति जाइ नहि वरनी । सादहि विप्र धेनु सु धरनी ॥
तव तव प्रभु धरि विविधि सरीरा । हरहि क्र[1] (पा नि) धि सज्जन पीरा ॥
दोहा : असुर मारि थापहि सुरन्ह राषहि निज श्रुति सेतु ।
जग विस्तारहि विसद जस राम जन्म कर हेतु ॥१४९॥
सोई जस गाई भगत भव तरही । क्रपा सिंधु जन हित तनु धरही ॥
राम जन्म के हेतु अनेका । परम विचित्र ऐक ते ऐका ॥
जन्म ऐक दुई कहउ वषानी । सावधान सुनु सुमुषि सयानी ॥
द्वार पाल हरि के प्रिय दोउ । जय अरु विजय जान सव कोउ ॥
विप्र श्राप ते दूनौ भाई । तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥
कनक कस्यप अरु हाटक लोचन । जगत विदिति सुर पति मद मोचन ॥
विजई समर वीर विष्याता । धरि- वराह वपु ऐक निपाता ॥
होई नर हरि दूसर पुनि मारा । जन प्रहेलाद सुजसु विस्तारा ॥
दोहा : भऐ निसाचर जाई तेई महावीर वलवान ॥
कुंभ करन रावन सुभट सूर विजय जग जान ॥१५०॥
मुकुत न भऐ हते भगवाना । तीनि जन्म द्विज वचन प्रमाना ॥
एक वार तिन्ह के हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥
कस्यप अदिति तहा पितु माता । दसरथ कौसिल्या विष्याता ॥
एक कल्प इहि विधि अवतारा । चरित पवित्र किऐ संसारा ॥
एक कल्प सुर देषि दुषारे । समर जलंधर सन सब हारे ॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा । दनुज महावल मरै न मारा ॥
परम सती असुराधिप नारी । तेहि वल ताहि न जित ति पुरारी ॥
('छल' से नया पृष्ठ प्रारम्भ)
दोहा : [2]छल करि ट(ारेउ) ता वृत प्रभु सुर कारज कीन्ह ।
जव तेहि जानेउ मरम तव श्राप कोपि करि दीन्ह ॥१५१॥

१. नया पृष्ठ २. नया पृष्ठ

(ता) सु श्राप हरि (कीन्ह) प्रमाना। कौतुक निधि कृपाल भगवाना।।
तहा जलंधर रावन भऐउ। × × *
ऐक जन्म (क) र कारन ऐहा। जेहि लगि राम धरी नर देहा।।
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनि मुनि वरन्ह कवि न घनेरी।।
नारद श्राप दीन्ह ऐक वारा। ऐ कल्प तेहि लगि अवतारा।।
गिरिजा चकित भई सुनि वानी। नारद विस्नु भगत मुनि ज्ञानी।।
कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा।।
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनि मन मोहि आचरजु भारी।।
दोहा: वोले विहसि महेस तव मूढ न कोई जेहि।।
जस रघुपति करहि सो तस तेहि छन होई।।
सोरठा: कहौ राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुन(हु)।।
भव भंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजु मान मद।।१५३।।
हिमि गिरि गुहा ऐक अति पावनि। वह समीप सुर सरी सुहावनि।।
देषि देव ऋषि मन अति भावा। श्राप हेत तपहि मनु लावा।।
निरषि (सैल) सर विपनि विभागा। भएउ रमापति पद अनुरागा।।
सुमिरत हरिहि श्राप गति वाधी। सह(ज) विमल मन (लागि) समाधी।।
मुनि मति देषि सुरेस डेराना। कामहि वोलि कीन्ह सनमाना।।
सहित सहाय जा (हु मम) हेतू। चलेउ हरषि हिय जल चर केतू।।
सुना सीर मन महु अति त्रासा। चहत देव ऋषि[1] (मम पुर) वासा।।
जे कामी लोलप जग माही। कुटिल काग ईव सवहि डेरा ही।।
दोहा: सूष हाड लै भाग (सठ) स्वान निरषि मृग राज।।
छीनि लेई जनि जानहु तिमि सुरपति हि न लाज।।१५४।।
तेहि आश्रमहि मदन जव गऐउ। निज माया वंसत निर्मऐउ।।
कुसुमित विविधि विटप वहु रंगा। कूजहि कोकिल गुंजहि भृंगा।।
चली सुहावनि त्रिविधि वयारी। काम कृसानु चढ़ावनि हारी।।
रंभादिक सुर नारि नवीना। सकल असम सर कला प्रवीना।।
करहि गान वहु तान त(रं)गा। वहु विधि क्रीडहि पानि पंतगा।।
देषि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच विधि नाना।।
काम कला कछु मुनिहि न व्यापी। निज भऐउ डरेउ मनोभव पापी।।
शिव कि चापि सकै काउ तासू। वड रषवार रमापति जातू।।
दोहा: सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन।।
गहेसि जाई मुनि चरन तव कहि सठि आरत वैन।।१५५।।
भऐउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय वचन काम परितोषा।।
नाइ चरन सिरु आऐसु पाई। चलेउ मदन तव सहित सहाई।।
मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति सभा जाई सव वरनी।।
सुनि सव के मन विस्मय आवा। मुनिहि प्रसं(स ह)रिहि सिरु नावा।।

---

१. यह अर्द्धाली छूट गई है। २. नया पृष्ठ।

तव नारद गवने सिव पाही । जीत काम अहमित मन माही ।।
× × (पन्ना अज्ञात) × ×
सेवहि सकल (चराचर) ताही । वरै सील विधि कन्या जा(ही) ।।
लक्षन सव विचारि उर राषे । कछुक वनाइ भूप सन भाषे ।।
सुता सुलन कहि नृप पाही । नारद चले सोच मन माही ।।
करौ जाइ सोई जतनु विचारी । जेहि प्रकार मोहि वरै कुमारी ।।
जप तप कछु न होइ ऐहि काला । हे विधि मिलै कवन विधि वाला ।।
दोहा : ऐहि अवसर चाहिय परम सोभा रूप विशाल ।।
जो विलोकि रीझै कुअरि तव मेले जय माल ।।१६०।।
हरि सन मागौ सुंदरताई । होइहि जात गहरु मोहि भाई ।।
मोरे हित हरि सम नहि कोई । ऐहि अवसर सहाय सोई होई ।।
वहु विधि विनय कीन्हि तेहि काला । प्रगटे प्रभु कौतुकी कृपाला ।।
प्रभु विलोकि मुनि नैन जुडाने । होईहि काज हिऐ हरषाने ।।
अति आरत कहि कथा सुनाई । करहु कृपा करि होहु सहाई ।।
आपन रूप देहु प्रभु मोही । आन भाति नहि पावौ वोही ।।
जेहि विधि नाथ होइहि मोरा । करौ सो वेगि दास मै तोरा ।।
निज माया वल देषि विशाला । हिय हसि वोलो दीन दयाला ।।
दोहा : जेहि विधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार ।।
सो हम करव न आन कछु मृषा वचन हमार ।।१६१।।
कुपथ माग रुज व्याकुल रोगी । वैद न देइ सुनहु (मु)नि यो(गी) ।।
इहि विधि हित तुम्हार मै ठऐउ । कहि अस अंतर हित प्रभु भऐउ ।।
माया विवस भ[1](ए मुनि मूढा) । समुझि नही हरि गिरा निगूढा ।।
गमने तुरत तहा मुनि राई । जहा स्वयंवर भूमि वनाई ।।
निज निज आसन वैठे राजा । वहु वनाव करि सहित समाजा ।।
मुनि मन हर्ष रूप अति मोरे । मोहि तजि आनहि वरिहि न भोरे ।।
मुनि हित कारन कृपा निधाना । दीन्ह कुरूप न जाई वषाना ।।
सो चरित्र लषि काहु न पावा । नारद जानि सवहि सिरु नावा ।।
दोहा : रहे तहा दुई रुद्र गन ते जानहि सव भेउ ।।
विप्र वेष देषत फिरहि परम कौतुकी तेउ ।।१६१।।
जेहि समाज वैठे मुनि जाई । हिय सरूप अहमित अधिकाई ।।
तरु वैठे अहै संभु गन दोउ । विप्र वेष गति लषै न कोउ ।।
करहि कुटी नारदहि सुनाई । नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ।।
रीझिहि राज कुअरि छवि देषी । ईन्हहि वरिहि हरि जानि विसेषी ।।
मुनि(हि मोह) मन हाथ पराऐ । हसहि संभु गन सति सचु पाऐ ।।
जदपि सुनहि मुनि अटपटि वानी । समुझि न परै वुद्धि भ्रम सानी ।।

---

१. नया पृष्ठ ।

केहु न लषा सो चरित विसेषी । सो सरूप नृप कन्या देषी ।।
मर्कट वदन भयंकर देही । देषत हृदय क्रोध नहि तेही ।।
दोहा : सषी संग लै कुग्ररि तव (चली) जनु राज मराल ।।
देषत फिरे महीप सव कर सरोज जय माल ।।१६३।।
जेहि दिसि वैठे (नारद फूली) । सो दिसि तेहि न विलोकी भूली ।।
पुनि पुनि मुनि उससहि ग्रकुला'ही । देषि दसा हर गन मुसिकाही ।।
धरि नृप तनु तह गए कृपाला । कुग्ररि हरषि मेली जयमाला ।।
दुलहिनि लै गै लछि निवासा । नृप समाज सव भऐउ निरासा ।।
मुनि ग्रति विकल मोह मति नाठी । मनि गिरि गई छूटि जनु गाठी ।।
तव हर गन वोले मुसुकाई । निज मुष मुकर विलोकहु जाई ।।
ग्रस कहि दोउ भागे भय भारी । वदन दोष मुनि वारि निहारी ।।
वेष विलोकि क्रोध ग्रति वाढा । तिन्हहि श्राप दीन्हेउ ग्रति गाढा ।।
दोहा : होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ ।।
हसेहु हमहि सो लेहु फल वहुरि हसेउ मुनि कोउ ।।१६५।।
पुनि जल दीष रूप निज पावा । तदपि ह्रदय संतोष न ग्रावा ।।
फरकत ग्रधर कोप मन माही । सपदि चले कमला पति पाही ।।
देहौ श्राप कि मरि हौ जाई । जगत मोरि उपहास कराई ।।
वीचहि पंथ मिले दनुजारी । संग रमा सोई राजकुमारी ।।
वोले मधुर वचन सुर साई । मुनि कह चलेउ विकल की नाई ।।
सुनत वचन उपजा ग्रति क्रोधा । माया वस न रहा मन वोधा ।।
पर संपदा सकहु नहि देषी । तुम्हारे इरषा कपट विसेषी ।।
मथत सिधु रुद्र हि वौराऐहु । सुरन्ह प्रेरि विष पान कराऐहु ।।
दोहा : ग्रसुर सुरा (वि)ष संकरहि ग्रापु रमा मनि चारु ।।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट व्यवहारु ।।१६६।।
[२]परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई । भावै मन करौ तुम्ह कोई ।।
भलेहु मंद मंदहु भल करहू । विस्मय हरष विस्मय हरष ज हिय कछु धरहू ।।
डहकि डहकि परसेहु सव काहू । ग्रति ग्रसंक मन सदा उछाहू ।।
कर्म सुभासुभ तुम्ह हि न वाधा । ग्रव लगि तुम्हें न काहु साधा ।।
भले भवन ग्रव वाईन्ह दीन्हा । पावहुगे फल ग्रापन कीन्हा ।।
व्याकुल कियो मोहि यह देही । सो तनु धरहु श्राप मम ऐही ।।
कपि ग्राकृत तुम्ह कीन्ह हमारी । करिहहि कीस सहाई तुम्हारी ।।
मम ग्रपकार कीन्ह तुम्ह भारी । नारि विरह तुम्ह होव दुषारी ।।
दोहा : ग्रापु शीस धरि हरषि हिय प्रभु वहु विनती कीन्हि ।।
निज माया की प्रबलता हरषि कृपा निधि लीन्हि ।।१६७।।
जव हरि माया दूरि निवारी । नहि तह रमा न राज कुमारी ।।

---

१. नया पृष्ठ 'ही देषि' से प्रारम्भ ।
२. नये पृष्ठ से प्रारम्भ ।

मोह विगत मुनि संसै हरना। कह्यो पाहि प्रनतारत चरना ॥
मृगा होहु मम साप कृपाला। मम इछा कह दीन्ह दयाला ॥
मैं दुरवचन कहै वहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि पेरे ॥
जपहु जाई संकर सत नामा। हुय हैं ह्रदे तुरत विश्रामा ॥
कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे ॥
जिहि पर कृपा न करहि पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥
अस उर धरि महि विचरहु जाई। अव न तुम्हें माया नियराई ॥
दोहा : [1]वहु विधि मुनिहि प्रवोधि प्रभु तब भऐ अंतर ध्यान ॥
सत्य लोक नार नारद चले करत राम गुज गान ॥१६८॥
हर गन मुनिहि जात पथ देषी। विगत मोह मन हर्ष विसेषी ॥
अति सभीति नारद पह आऐ। गहि पद आरत वचन सुहाऐ ॥
हर गन हम न बिप्र मुनि राया। वड अपराध कीन्ह फल पाया ॥
श्राप अनुग्रह करहु कृपा(ला)। वोले नारद दीन दयाला ॥
निसिचर जाइ होउ तुम्ह दोउ। वैभव विपुल तेज वल होउ ॥
भुज वल विस्व जितव तुम्ह ज(जा)। धरिहहि विस्नु मनुज तनु तजा ॥
समर मरण हरि हाथ तुम्हारा। होईहो मु(कु)ति न पुनि संसारा ॥
चले युगुल मुनि पद सिरु नाई। भऐ निसाचर कुल मह जाई ॥
दोहा : ऐक कल्प ऐहि हेत प्रभु लीन्ह मनुज अवतार ॥
सुर रंजन सज्जन सुषद हरि भंजन भगवान ॥१६९॥
ऐह विधि जन्म कर्म हरि केरे। सुंदर सुषद सयाने घनेरे ॥
कल्प-कल्प प्रति प्रभु (अव)तरहि। चारु चरित नाम जसु लीही ॥
तव तव कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत संकरहि सुनाई ॥
विविधि प्रसंग अनूप वषाने। करहि न सुनि अस राम निहाने ॥
हरिहि अंनत हरि कथा अनंता। कहहि सुनहि वहु गावहि संता ॥
रामचन्द्र के चरित सुहाऐ। कल्प कोटि लगि जाह न गाऐ ॥
यह प्रसंग (मैं कहा) भवानी। हरि माया मोहप मुनि ज्ञानी ॥
प्रभु कौतुकी प्रनत हितकारी। सेवत सुन[2](भ) सकल संसारी ॥
सोरठा : सुर नर मुनि कोउ नाहि जेहि न मोह माया प्रवल ॥
अस विचारि मन माहि भजिय महा माया पतिहि ॥१७०॥
अपर हेत सुनु सैल कुमारी। कहौ विचित्र मय कथा विचारी ॥
जेहि कारन प्रभु अगुन अरूपा। ब्रह्म भऐ कोसल पुर भूपा ॥
जो प्रभु विपनि फिरत तुम्ह देषा। वंधु सहित सिय सुंदर वेषा ॥
जासु चरित अवलोकि भवानी। सती सरीर रहिउ वौरानी ॥
अजहु न छाया मिटत तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्र(म) रुज हारी ॥
लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सव कहि हो मति अनुसारा ॥

१. नया पृष्ठ वहु विधि से प्रारम्भ।
२. नया पृष्ठ

भरद्वाज सुनु संकर बानी । सकुचि सप्रेम उमा मुसुकानी ।।
लगे बहुरि बरनैवृष केतू । सो (अवता)र भऐउ जेहि हेतू ।।
दोहा : सो मै तुम्ह सन कहहु सब सुनु मुनीस मन लाई ।।
राम कथा कलि मल हरण मंगल करनि सुहाई ।।१७१।।
स्वयं भूप अरु मनु सत रूपा । जिन्ह ते भै नर (सृ)ष्टि अनूपा ।।
दंपति धर्म आचरन नीका । अजहु गावे श्रुति जिन्ह के लीका ।।
नृप उतानपाद सुत तासू । ध्रुव हरि भगत भए सुत जासू ।।
लघु सुत नाम प्रियावृत जाही । वेद पुरान प्रसंसत ताही ।।
देवहुती पुनि तासु कुमारी । जो सुनि कर्दकें प्रिय नारी ।।
आदि देव प्रभु दीन दयाला । प्रगटे कपि × × × ।।
(जो अनाथ हि)[1]त हम पर नेहू । तो प्रसंन हुय यह वर देहु ।।
जो सरूप बस शिव मन माही । जेहि कारन मुनि जतनु कराही ।।
जो भसुंडि मन मानस हंसा । अगुन सगुन जेहि निम प्रसंसा ।।
देषहि हम सो रूप भरि लोचन । क्रपा करहु प्रनतारत मोचन ।।
दंपति वचन पर्म प्रिय लागे । मृदुल विनीत प्रेम रस पागे ।।
भगत वत्सल प्रभु क्रपा निधाना । विस्व वास प्रगटे भगवाना ।।
दोहा : नील सरोरुह नील मनि नील नीर धर स्याम ।।
लाजहि तन सोभा निरषि कोटि कोटि सत काम ।।१७६।।
सरद मंयक वदन छवि सीवा । चारु कपोल चिवुक कर ग्रीवा ।।
अधर अरुन रद सुंदरि नासा । विधि कर निकर विनिंदित हासा ।।
नव अंवुज अंवक छवि नीकी । चितवमि ललित भावती जीकी ।।
भृकुटि मनोज चाप छवि हारी । तिलक लिलाट पटल दुति कारी ।।
कुंडल मुकुट मकर सिर भ्राजा । कुटिल केस ज्नु मधुप समाजा ।।
पीत वसन रुचिर वन माला । पदिक हार भूषन मनि जाला ।।
केहरि कंध्र जनेउ अंगा । मानौ नील गिरी सुर गंगा ।।
करि सावक सुंदर भुज दंडा । कटि निषंग कर सर कोदंडा ।।
वाह त्रिभूषन सुंदरि तेउ । जिनहि विलोकि भजै भैय भेउ ।।
दोहा : तडित विनिदक पीत पट उदर रेष वर तीनि ।
नाभि मनोहर लेत (× ×) मुन भंवर छवि छीनि ।।१७७।।
पद राजीव वरनि नहि जाही । मुनि मन मधुप वसहि जिन्ह(माही)।।
[2]वाम भाग सोहत अनुकूला । आदि सक्ति छवि निधि जग मूला ।।
जासु अंस उपजै गुन षानी । अगिनित लछि उमा ब्रह्मायनी ।।
भृकुटि विलास जासु जग होई । राम वाम दिशि सीता सोई ।।
छवि समुद्र हरि रूप विलोकी । एक टक रहे नयन पट रोकी ।।
चितवहि सादर रूप अनूपा । त्रिपित न मानहि मन सतरूपा ।।

---

१. नये पृष्ठ से
२. पृ० ४५ से प्रारम्भ ।

हर्ष विवस तन दसा भुलानी । परेउ दंड इव गहि पद पानी ।।
सिर परसे प्रभु निज पद कंजा । तुरत उठाऐ करुना पुंजा ।।
दोहा : वोले कृपा निधान तव अति प्रसन्न मोहि जानि ।
मागहु वर जोइ भाव मन महा दानि अनुमानि ।।१७८।।
सुनि प्रभु वचन जोरि युग पानी । धरि धीरजु वोले मृदु वानी ।।
नाथ देषि पद कमल तुम्हारे । अव पूजे सव काम हमारे ।।
ऐक लालसा वडि उर माही । सुगम अगम कहि जात सो नाही ।।
तुम्हहि देति अति सुगम गुसाई । अगम लागि आपन कदराई ।।
यथा दरिद्र विवुध तरु पाई । वहु संपति मागति सकुचाई ।।
तासु प्रभाव न जानत सोई । यथा ह्लदय मम संसय होई ।।
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी । पुरवहु नाथ मनोरथ स्वामी ।।
सकुच विहाई मानु नृप मोही । मोरे नही अदेत कछु तोही ।।
दोहा : दानि सिरोमनि कृपा (नि)धि नाथ कहौ सति भाउ ।।
चाहौ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ ।।१७९।।
देषि प्रीति × × × × । × × × × × × ।।
(पन्ना अज्ञात)
[1]आगम देषि नृपति पछिताई । फिरेउ महावन परेउ भुलाई ।।
दोहा : पेद षीन छुधित त्रषित राजा वाजि समेत ।।
षोजत व्याकुल शरित सर । जल विन भयो अचेत ।।१८७।।
फिरत विपन ऐक आश्रम देषा । तह वस नृपति कपट मुनि वेषा ।।
जासु देस नृप लीन्ह छुड़ाई । समर सैन तजि गऐउ पराई ।।
समय प्रताप भान कै जानी । आपन अति असमय अनुमानी ।।
गऐउ न गृह मन वहुत गिलानी । मिला न राजहि वहु अभिमानी ।।
रिस उर मारि रंक जिमि राजा । विपनि वसै तापस के साजा ।।
तासु समीप गवन नृप कीन्हा । यह प्रताप रवि तेहि तव चीन्हा ।।
राउ त्रषित नहि सो पहिचाना । देषि सुवेष महा मुनि जाना ।।
उतरि तुरग ते कीन्ह प्रणामा । परम चतुर निज कहेउ न नामा ।।
दोहा : भूपति त्रषित विलोकि तेहि सरवर दीन्ह दिषाई ।
मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाई ।।१८८।।
गऐ श्रम सकल सुषी नृ भऐउ । निज आश्रम तापस लै गऐउ ।
आसन दीन्ह अस्त रवि जानी । पुनि तापस वोले मृदु वानी ।।
को तुम कस वन फिरहु अकेले । सुंदर जुवा जीव पर हेले ।।
चक्रवंति के लक्षन तोरे । देषत दया लागि अति मोरे ।।
नाम प्रताप भान अवनीसा । तासु सचिव मै सुनहु मुनीसा ।।
फिरत अहेरेउ[2] (परेउ) भुलाई । वड़े भाग पद देषे आई ।।

---

१. नया पृष्ठ प्रारम्भ । २. नया पृष्ठ ।

हम कहु दुर्लभ दरसु तुम्हारा । जानत हू कछु भल होनहारा ।।
कह मुनि तात भऐउ अधिआरा । जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा ।।
दोहा : निसा घोर गंभीर वन पंथ न सुनहु सुजान ।
वसहु आजु अस जानि जिय जाऐहु होत विहान ।।१८९।।
दोहा : तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलै सहाइ ।
आपु न आवै ताहि पह कि ताहि तहा लै जाई ।।१९०।।
भले हि नाथ आऐसु धरि सीसा । वाधि तुरग तह वैठ महीसा ।।
नृप वहु भाति प्रसंसेउ ताही । चरन वंदि निज भाग सराही ।।
पुनि वोलेउ नृप गिरा सुहाई । जानि पिता प्रभु करै ढिठाई ।।
मुहि मुनीस सुत सेवक जानी । नाथ नाम निजु कहहु वषानी ।।
तेहि न जान नृपहि सो जाना । भूप हृदय सो कपट सयाना ।।
वैरी पुनि छत्री पुनि राजा । छल वल कीन्ह चहै निज काजा ।।
समुझि राज सुष दुषित अराती । आवानल इव सुलगै सु छाती ।।
सरल वचन नृप के सुनि काना । वयरु सम्हारि हृदय हरषाना ।।
दोहा : कपट वोरि वानी मृदुल वोलेउ युगुति समेत ।
नाम हमार भिषारि अव निर्धन रहित निकेत ।।१९१।।
कह नृप जे विज्ञान निधाना । तुम्ह सारिषे गलित अभिमाना ।।
सदा रहै अपन पै दुराऐ । सव विधि कुसल कुवेष वनाऐ ।।
तेहि ते [1]कहहि संत श्रुति टेरे । परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ।
तुम्ह सम अगम भिषारि अगेहा । होत विरंचि सिवहि संदेहा ।।
जोसि सोसि तव चरन नमामी । मोपर कृपा करहु अव स्वामी ।।
सहज प्रीति भूपति कै देषी । आपु विषै विस्वास विसेषी ।।
सव प्रकार राजहि अपनाई । वोलेउ अधिक सनेहु जनाई ।।
सुनु सति भाव कहौ महिपाला । इहा वसत वीते वहु काला ।।
दोहा : अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मै न जनावा काहु ।
लोक मान्यता अनल सम कर तपु कानन दाहु ।।१९२।।
सोरठा : तुलसी देषि सुवेष भूलहि मूढ न चतुर नर ।
सुंदरि केकहि वेषु वचन सुधा सम असन अहि ।।१९३।।
ताते गुप्त रहौ जग माही । हरि तजि आन प्रयोजन नाही ।।
प्रभु जानत सवु विन जनाऐ । कहहु कवन विधि लोक रिझाऐ ।।
तुम सुचि सुमति परम प्रिय मोरे । प्रीति प्रतीति मोहि पर तोरे ।।
अव जौ तात दुरावौ तोही । दारुन दोष चढै अति मोही ।।
जिमि जिमि तापस कहै उदासा । तिमि-तिमि नृपहि उपजि विस्वासा ।।
देषा सुवस कर्म मन वानी । तव तापस वोले वग ध्यानी ।।
नाम हमार ऐक तन भाई । सुनि नृप वोलेउ गिरा सुहाई ।।
कहहु नाम कर अर्थ वषानी । मोहि सेवक अति आपन जानी ।।

१. नया पृष्ठ 'कहहि' से प्रारम्भ'।

दोहा : आदि श्रष्टि उपजी जव'हि तव उत्तपति भै मोरि ।
नाम ऐक तन हेत ते देह न धरेउ वहोरि ॥१६४॥
जनि आाचर्य करहु मन माही । सुत तपते कछु दुर्लभ नाही ॥
तप वल ते जग अजे विधाता । तप वल विष्मु भऐ परि त्राता ॥
तप वल संभु करहि संघारा । तप ते अगम न कछु संसारा ॥
भऐउ नृपति सुनि अति अनुरागा । कथा पुरातन कहै सो लागा ॥
कर्म धर्म इतिहास अनेका । करै निरूपन भगति विवेका ॥
उद्भव पालय प्रलय कहानी । कहैसि अमित आाचर्य वषानी ॥
सुनी महीप तापस वस भएउ । आपन नाम कहन तव लऐउ ॥
कह तापस नृप जानौ तोही । कीन्हे हु कपट लाग भल मोही ॥
सोरठा : सुनु महीस असि नीति जह तह नामुनि कहहि नृप ।
मोहि तोहि पर प्रीति सोई चतुर विचारि तव ॥१६५॥
नाम तुम्हार प्रताप दिनेसा । सत्य केत तव पिता नरेसा ॥
गुरु प्रसाद जानिय सव राजा । कहिअ न आपन जानि अकाजा ॥
देषि तात तव सहज सुधाई । प्रीति प्रतीति नीति निपुनाई ॥
उपजि परी ममिता मन मोरे । कहउ कथा निज पूछे तोरे ॥
अब प्रसन्न मै संसय नाही । मागु जु भूप भाव मन माही ॥
सुनि सु वचन भूपति हरषाना । गहि पद विनै कीन विधि नाना ॥
क्रपा सिंधु मुनि दरसन तोरे । चारि पदारथ करतल [२]मोरे ॥
प्रभु तथापि प्रसन्न विलोकी । मागि अगम वरु होउ विसोकी ॥
दोहा : अजर अमर दुष रहित तनु समर जितै नहि कोई ।
ऐक छत्र रिपु हीन महि राजु कल्प सत होई ॥१६६॥
कह तापस नृप ऐसइ होउ । कारन ऐक कठिन सुनु सोउ ॥
कालउ तव पद नाईहि सीसा । ऐक विप्र कुल छाडि महीसा ॥
तप वल विप्र सदा वरिआरा । तिन्ह कर कोप न को रषवारा ॥
जो विप्रन्ह वस करहु नरेसा । तौ तुय वस विधि विष्मु महेसा ॥
चलन व्रह्म कुल सन वरिआई । सत्य कहौ दोउ भुजा उठाई ॥
विप्र श्राप विनु सुनु महिपाला । तोर नास नहि कवनिउ काला ॥
हरषेउ राउ वचन सुनि तासू । नाथ न होइ मोर अव नासू ॥
तव प्रसाद प्रभु क्रपा निधाना । मो कह सर्व काल कल्याना ॥
दोहा : ऐवमस्तु कहि कपट मुनि वोला कुटिल वहोरि ।
मिलव हमार भुलाव निज कहहु त हमै न षोरि ॥१६७॥
ताते मै तोहि वरजौ राजा । कहे कथा तव परम अकाजा ॥
छके श्रवन जह सुनत कहानी । नाम तुम्हार सत्य मम वानी ॥
यह प्रगटे अथवा द्विज श्रापा । नास तोर सुनु भान प्रतापा ॥

---

१. नया पृष्ठ ४६वां प्रारम्भ ।
२. पन्ना 'मोरे' से प्रारम्भ ।

आन उपाउ विघ्न तव नाही । जो हरि हर कोपहि मन माही ॥
सत्य नाथ पद गहि नृप भाषा । द्विज गुरु कोप कहहु को राषा ॥
राषै गुर जो कोप[1] विधाता । गुरु विरोध नहि कोउ जग त्राता ॥
जो न चलव हम कहे तुम्हारे । होउ नास नहिं सोच हमारे ॥
ऐकहि डर डरपत मन मोरा । प्रभु महिदेव श्राप अघोरा ॥
दोहा : होहि विप्र वस कवन विधि कहहु कृपा करि सोउ ॥
तुम्ह तजि दीन दयालनि हितू न देषौ कोउ ॥१६८॥
सनु नृप विविधि जतन जग माही । कष्ट साधि पुनि होहि कि नाही ॥
अहै ऐक अति सुगम उपाउ । मम आधीन जुगति नृप सोउ ॥
तहा परंत ऐक कठिनाई । मोर जान पुनि णगर न भाई ॥
आजु लगे अरु जवते भऐउ । काहू के ग्रह ग्राम न गऐउ ॥
जो न जाउ तव होइ अकाजू । वनी आई असमंजस आजू ॥
सुनि महीस वोले मृदु वानी । नाथ निगम असि नीति वषानी ॥
वड़े सनेह लघुन्ह पर करही । गिरि निज सिरन्ह सदा त्रन धरही ॥
जल अगाध मौलि वह फेनू । सन्तत धरनि धरत सिर रेनू ॥
दोहा : अस कहि गहे नरेस पद स्वामी होहु कृपाल ॥
मोहि लागि दुष सहिय प्रभु सज्जन दीन दयाल ॥१६६॥
जान नृपहि आपन आधीना । वोला तापस कपट प्रवीना ॥
सत्य कहो भूपति सुनु तोही । जग नाहिन दुर्लभ कछु मोही ॥
अवसि काज करव मै तोरा । मन क्रम वचन भगत तै मोरा ॥
योग युगुति तप मन्त्र प्रभाउ । फलौ तवहि जव करिय उपाउ ॥
जो नरेस मै करव रसो[2] ई । तुम्ह परसन्हु मोहि जान न कोई ॥
अन्न सो जोई भोजनु करई । सोइ सोइ तव आऐसु अनुसरई ॥
पुनि तिन्ह के कर जेवै कोउ । तव वस होइ भूप सुनु सोउ ॥
जाइ उपाइ रचहु नृप ऐहू । संवत भरि संकलप करेहू ॥
दोहा : नितन्ह तन द्विज सहस दस वरेहु सहित परिवार ।
मै तुम्हरे संकलप लगि दिनहि करव जौनार ॥२००॥
एह विधि भूप कष्ट अति थोरे । होई है मक विप्र वस तोरे ॥
करिहै विप्र होम मष सोवा । तेहि प्रसंग सहजहि वस देवा ॥
और ऐक तोहि कहउ लषाऊ । मै ऐहि वेष न अउव काउ ॥
तुम्हरे उपरोहित कहु राया । हरि आनव मै करि निज माया ॥
तप वल करि तेहि आपु समाना । रषिहै इहा वरष परिमाना ॥
मै धरि तास वेष सुनु राजा । सब विधि तोर सम्हारव काजा ॥
गै निशि वहुत सयन अव कीजै । मोहि तोहि भेट भूप दिन तीजे ॥

१. नया पृष्ठ प्रारम्भ ।
२. पन्ना 'ई तुम्ह' से प्रारम्भ ।

मैं तप बल तोहि तुरग समेता । पहुँचेहौ सोवतहि'हि निकेता ॥
दोहा : मैं आउब सोइ वेष धरि पहिचानेहु तव मोहि ॥
जब ऐकांत वोलाई सब कथा सुनावौ तोहि ॥२०१॥
सयन कीन नृप आऐसु मानी । आसन जाई बैठ छल ज्ञानी ॥
श्रमित भूप निद्रा अति आई । सो किमि सोव सोच अधिकाई ॥
कालकेत निसिचर तह आवा । जेहि सूकर हुय नृपहि भुलावा ॥
परम मित्र तापश नृप केरा । — — —[2] ॥
तेहि के सत सुत अरु दस भाई । षल अति अजय देव दुष दाई ॥
प्रथमहि भूप समर सब मारे । विप्र संत सुर देषि दुषारे ॥
तेहि षल पाछिल वैरु समा । तापस नृप मिलि मंत्रु विचारा ॥
जेहि रिपु छय सोई रचेनि उपाउ । भावी वस न जान जान कछु राई ॥
दोहा : रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिऐ ताहु ॥
अजहु देत दुष रवि ससिहि सिर अवसेषित राहु ॥२०२॥
ताप नृप तव सषहि निहारी । हरषि मिलेउ उठि भऐउ सुषारी ॥
मित्रहि कहि सव कथा सुनाई । जातु धान वोला सुषुपाई ॥
अव साधेहु रिपु सुनहु नरेसा । तौ तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा ॥
परिहरि सोचु रहहु तुम्ह सोई । विनु औषधि व्याधि विधि षोई ॥
कुल समेत रिपु मूल वहाई । चौथे दिवस मिलव मैं आई ॥
तापस नृपहि वहुत परतोषी । चला महा कपटी अति——— ॥
जीतेसि नाग नगर सव भारी । गएउ वोहोरि वलि लोक सुरारी ॥
वलि रावन आवत जाना । किए देव ऋषि सन अभिमाना ॥
षेलत नगर सिसु नाना । निज वल तिन्ह दीनि भगवाना ॥
धाई धर तिन्ह पुर लै आऐ । नगर नारि नरु देषन्ह धाऐ ॥
वीस वाहु धस कंधर जाही । विधि यह गठनि कहा की आही ॥
ए······वाधि भा······भ······ न मन कहै सहै वरू मारी ॥
वामन देषि वहुत सकुचाना । तव छुड़ाई दीन कृपानिधाना ॥
चला तुरंत निसाचर नाहा । लाज संक नहि कछु मन माहा ॥
तव तुरन्त पम्पासर आवा । वलि नाम कपि पति जेहि षवा ॥
देषि न जाही कस सर नर सोभा । जेहि मन माह मुनिन्ह कर छोभा ॥
ना ता हा' कपीस करै निज धामा । आदर सौ संध्या सनमाना ॥
जाह ठाठ भाव तह रजनीसा । वो केसि वाहु गर्जि भुज वीसा ॥
तब कपीस चितवा मुसिकाई । ध्यान के अवसर रिस विसराई ॥
तब रावनि वोला करि क्रोधा । वग ध्यानी कपि सठ सुनि वोधा ॥
दोहा : मोहि···विनु समर सुनु ना करि ध्यान कपीस ॥
अंजुलि देनन पावहु स व्यथ करौ अज·········स ॥१८॥

---

१. पृष्ठ ५१ से प्रारम्भ ।
२. यह अर्द्धाली छूट गई है ।

तव वाली वोला विहसाई। बल तुम्हार अैसह है भाई॥
रवि अंजुलि मैं देउ। प्रीती ठाठ होहु जाऐहु मोहि जीती॥
तव निशचर पति उठेउ रिसाई। दे कपि युद्ध छाडि कदराई॥
वाली तव निज मनहि विचारा। सिव बल दीन मरे नही मारा॥
दशकंधर घर जाउ विचारी। अजय तुमारि छि द्र भुज भारी॥
वहुत भाँति वाली समुझाया। कवनिउ भाँति वोध नहि आवा॥
तव सकोप हुय उठेउ कपीसा। धरित काष चापेउ दससीसा॥
अंजुलि दीन्हि रविहि मन जानी। अचऐउ सात उदधि कर पानी॥
जपेउ आदी संकर मन जानी। तेहि षन संध्या वंधि सिरानी॥

दोहा : आवा घरहि कपीस तव काष रहेउ लंकेस॥
एहि विधि वीते मास षट पावै वहुत कलेस॥१६॥

वहु प्रसेद क ······हि जामा। अति कुवास ताकह भयो धामा॥
कल मलाइ रिस दसननि काटा। कच व···जीव···भ्रम चाटा॥
एक दिवस रवि अंजुलि साजा। काष ते निसरि महा धुनि गाजा॥
सु पुनि धरि कपी
··· ··· ··· मित वीर वलवाना॥
वारिद नाद जेठ सुत जासू। भट मह प्रथम लीक जग तासू॥
जेहि सनमुष ह्वै सकै न कोई। सुर पुर नितहि परावन होई॥

दोहा : कुलिस अंकपन कुमुष रद धूमकेतु अतिकाय॥
एक एक जग जीति सक अैसे सुभट निकाय॥१५॥

काम रूप जानहि सव माया। सपनेहु जिनके धर्म न दया॥
दसमुष वैठि सभा ऐक वारा। देषि अमित आ पन परिवारा॥
सुत समूह जन परिजन नाती। गनै को पार न निसाचर जाती॥
सैन विलोकि सहज अभिमानी। वोला वचन क्रोध मद सानी॥
सुनहु सकल निरजनि श्चर यथा। हमरे वैरी विवुध वरूथा॥
ते सनमुष नहि करहि लराई। देषि सवल रिपु जाहि पराई॥
तिन्ह कर मरन एकधि होई। कहौ बुझाई सुनौ सव सोई॥
द्विज भोजन मष होम सराधा। सवकै जाई करहु तुम्ह वाधा॥

दोहा : छुधा छीन वलहीन सुर सहजहि मिलिहहि आई।
तव मारिहौ कि छाडि हौ भलीभाति अपनाई॥१६॥

मेघनाद कह तव हकरावा दीनी। ······वन वै रु वढ़ावा॥
जेहि सुर समर धीर वलवाना। जिन्ह के लरिवे करि अभिमाना॥
······जीति रन अन सुवाधी। उठि सुत पितु अनुसासन काधी॥
एहि विधि सव ही अज्ञा दीनी। आपुनि चलेउ गदा करि लीनी॥
चलत दशानन धरनी डोली। गर्जत गर्भ श्रवहि सुर अवनी॥
रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन तकेउ मेरु गिर षोहा॥
दिग्पालन के लोक सुहाऐ। सूने सकल दशानन पाए॥

पुनि पुनि सिंह नाद करि भारी। देइ देवतनु गारि प्रचारी॥
रन मदमत्त फिरे जग धावा। प्रतिभट षोजत कहूँ न पावा॥
नारद मिले कहसि मुसिकाए। देव कहा मुनि देउ वताई॥
सुनत अनष नारद नहि भावा। स्वेत दीप कह तुरत पठावा॥
सागर उतरि पार सो गएउ। नारि वृन्द तरु? देषत भएउ॥
तिन्ह सन कहेसि पतिन्ह परु जाउ। कहेउ कि आव निसाचर नाहू॥
तव मै तीन्ह जीति संग्रामा। लै जैहो तुमको निज धामा॥
सुनत वचन ऐक जउर रिसानी। धाई चरन गहि गगन उडानी॥
गइ दूरि धरि धरि झष झोरा। डारेसि सिन्धु अध्य अति जोरा॥

दोहा : गएेउ पताल अचेत ह्वै मरै न विप्र प्रसाद॥
सावधान उठि गर्ज पुनि हिए न हरषि विषाद॥१७॥

× × × रि राषे कोउ न सुतंत्र॥
मंडलीक मनि रावन राज करै निज मंत्र॥२१॥

इंद्रजीत सन जो कुछ कहेउ। सो सवु जनु पहिलेहि करि रहेउ॥
प्रथमैहि जिनको आइसु दीना। तिन का चरित सुनो जो कीना॥
देषत भीम रूप सव पापी। निसिचर निकर देव परितापी॥
करहि उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहि करि माया॥
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सव करहि देव प्रतिकूला॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावही। नगर गाउ पुर आगि लगावही॥
सुख आश्रम कहत नहि होई। देव विप्र गुरु मान न कोई॥
नहि हरि भक्ति जज्ञ तप ज्ञाना। सपनेउ सुनिए न वेद पुराणा॥

छन्द : जप योग विरागा तप मष भागा श्रवन सुनै दससीसा।
आपुन उठि धावै रहन न पावै धरि सव घालै षीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिय नहि काना।
ते वहु विधि त्रासै देस निकासै जो कह वेद पुराना॥

सोरठा : वरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहि॥
हिंसा पर अति प्रीति तिनके पापहि कव न मिति॥३०॥

बाढे पाल वहु चोर जुआरा। जे लंपट पर धन पर धारा॥
मानहि मात पिता नहि वेदा। साधुन सन करवावे सेवा॥
...के जे आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सम प्रानी॥
अतिसै देषि धर्म की हानी। × × × ×
× × × × [1]म सभीत धरा अकुलानी॥
गिरि सर सिंधु भार नहि मोही। जस मोहि एक गरूय पर द्रोही॥
सकल धर्म देषहि विपरीता। कहि न सके रावन भय भीता॥
धेनु रूप धरि हृदय विचारी। गइ जहा सुर मुनि सव झारी॥
निज संताप सुनाएसी रोई। काहू ते कछु काज न होई॥

---

१. पृष्ठ ६० ।

छन्द : सुर मुनि गंधर्वा मिलि करि सर्वा गे विरंचि के लोका ।
सग गो तन धारी भूमि विचारी परम विकल भये सोका ।।
ब्रह्मा सवु जाना नन अनुमाना मोर कछु न विसाई ।
जा करि ते दासी सो अविनासी हमरो तोर सहाई ।।

सोरठा : धरनि धरहु मन धीर कह विरंचि हरि पद सुमिरि ।।
जानत जन की पीर प्रभु भंजहि दारुन विपति ।।३१।।

बैठे सुर सव करहि विचारा । कह पाईय प्रभु करिय पुकारा ।।
पुर वैकुंठ जान कह कोई । कोउ कह पय निधि वस प्रभु सोई ।।
जाके हृदै भगति जस प्रीती । प्रभु तहा प्रगट सदा यह नीती ।।
तेहि समाज गिरिजा मे रहेउ । अवसरु पाइ वात ऐक कहेउ ।।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम ते प्रगट होइ म जाना ।।
देस काल दिसि विदिसिहु माही । श्री[1] × × × × ।।
द विनोद न थोरे । × × × ×
नित नव सुष सुर देषि सिहाही । अवध जन्म जा(च)त विधि (पाही) ।।
विस्वामित्र चलन नित चहही । राम सुप्रेम विनय वस रहही ।।
दिन दिन भय गुन (भू)प(ति भाउ) । देषि सराह महा मुनि राउ ।।
मागत विदा राउ अनुरागे । सुतन्ह समेत ठाठ भे आगे ।।
नाथ सकल सम्पदा तुम्हारी । मैं सेवक समेत सुत नारी ।।
करेहु सदा लरिकन्ह पर छोहू । दरसन देत रहव मुनि मोहू ।।
अस कहि राउ सहित सुत रानी । परेउ चरन मुप (आ)व न वानी ।।
दीन्हि असीस विप्र वहु भाती । चले न प्रीति रीति कहि जाती ।।
रा(म सप्रे)म संग सव भाई । आऐसु पाइ फिरे पहुचाई ।।

दोहा : राम रूप भूपति भगति व्या(ह उ)छाह अनंद ।।
जात सराहत मन मुदि(त) गाधि सुअन कुल चंद्र ।।

वाम देव रघुकुल गुर ग्यानी । वहुरि गाधि सुत कथा वषानी ।।
सुनि सुनि सुजसु मनहि मन राउ । वरनत आपन पुन्य प्रभाउ ।।
वहुरे लोक रजायसु भऐउ । सुतन्ह समेत नृपति गृह ग(ऐउ)
जह तह राम व्याह अस गावा । सुजसु पुनीत लोक तिहुँ छावा ।।
आऐ व्याहि राम घ । अनं(द) अवध सव तव ।।
प्रभु विवाह जस भये उछाहू । सकहि न वरनि[2] (गिरा अहि नाहू) ।।
(कवि) कुल पावन जीवन्ह जानी । राम सीय जस मंगल षानी ।
[3]× × × । करन पुनी(त हेत निज) वानी ।।

छंद : निज गिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो
रघुवीर च(रि)त अपार वारिधि पार कवि कौने लह्यो

---

१. यह अर्द्धाली छूट गई है ।
२. पृष्ठ १२४ से प्रारम्भ ।
३. यह अर्द्धाली छूट गई है ।

उपवीत वाह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावही।
१ × × × × ॥

सोरठा : सीय रघुवीर विवाह जे सप्रेम गावहि सुनहि।
तिन्ह कह सदा उछाहु (मंग)लायतन राम जसु ॥

सोरठा : वाल चरित सति भाउ वरने (तुल)सी दास वुध।
× × ने सचु पाव परम पुनीत विचित्र अति ॥

दोहा : भद्र पुरी सुग्राम अति निर्मल (सु)ष सिव पुरी।
जहां देहु विश्राम सो महिमा वरनिय कहा ॥

दोहा : कहे सुने समुझे जे जन सफल सो प्रभु गुन गान ॥
सीता पति रघुकुल तिलक सदा करहि कल्यान ॥३९०॥

इति श्री राम चरित्र मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल (वैरा)ग्य संपादिनी नाम १ सोपान समाप्तः संवत् १६४३ शाके १५०८······वासी नन्ददास पुत्र कृष्नदास हेत लिखी रघुनाथदास ने कासीपुरी में

कुछ अन्य पृष्ठ जो किसी अन्य प्रति के प्रतीत होते हैं।

१. यह चरण छूट गया है।

आरण्य काण्ड

१६४३ वि०

(पृष्ठ २ का प्रारम्भ)

(प्रेरित)मंत्र वृंह्म सर धावा । चला भागि वाइस भय पावा ।।
धरि निज रू(प) गयो पितु पाही । राम विमुख राषा तिहि नाही ।।
भा निरास उपजा मन त्रासा । जथा चकित भये रिषि दुर्वासा ।।
वृंह्म धाम शिव पुर सव लोका । फिरा श्रमित व्याकुल भय सोका ।।
काहू वैठन कहा न ग्रोही । राषि को सकै राम कर द्रोही ।।
मातु भ्रात पितु स मन समाना । सुधा होइ विष सुनु हरि जाना ।।
मित्र करे सत रिपु कै करनी । ताकह विवुध नदी वैतरनी ।।
सव जग ताहि ग्रनल ते ताता । सो रघुवीर विमुख सुनु भ्राता ।।
दोहा : जिमि जिमि भाजत सक्र सुत व्याकुल ग्रति दुष दीन ।
तिमि तिम धावत राम सर पाछें पर्म प्रवीन ।।४।।

चौपई

नारद देषेउ विकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता ।।
दूरिहिते कहि हरि प्रभुताई । धावत ही सव कथा वुझाई ।।
पठवा तुरित राम पइ ताही । कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही ।।
ग्रातुर तवहि सपदि तह जाई । में मतिमंद जानि नहि पाई ।।
निज कृति कर्म जनित फल पायो । ग्रव प्रभु पाहि सरनि तकि ग्रायो ।।
सुनि कृपाल ग्रति ग्रारत वानी । एक नयन करि तजेउ भवानी ।।
सोरठा : कीन्ह मोह वस द्रोह जद्यपि तेहि कर वध उचित ।
प्रभु छाड़ो करि छोहू को कृपाल रघुवीर सम ।।५।।

चौपई

रघुपति चित्रकूट वसि नाना । चरित किये ग्रति सुधा समाना ।।
वहुरि राम ग्रस मन ग्रनुमाना । होइहि भीर सवहि मोहि जाना ।।
सकल मुनिन्ह सन विदा कराई । सीता सहित चले दोउ भाई ।।
ग्रत्र के ग्राश्रम तव प्रभु गयेऊ । सुनत महा मुनि हर्षित भयेऊ ।।
पुलकित गात ग्रत्र उठि धाये । देषि राम ग्रातुर चलि ग्राये ।।
करत दंडवत मुनि उर लाये । प्रेम वारि दोउ जन ग्रन्हवाये ।।
देषि राम छवि नेंन जुडानें । सादर निज ग्राश्रम तव ग्रानें ।।
करि पूजा कहि वचन सुहाये । दिये मूल फल प्रभु मन भाये ।।
सोरठा : प्रभु ग्रासन ग्रासीन भरि लोचन सोभा निरषि ।
मुनिवर पर्म प्रवीन जोरि पानि ग्रस्तुति करत ।।६।।

छंद : नमामि भक्त वत्सलं कृपाल सील कोमलं
भजामि ते पदाम्वुजं अकामना सदा मुदं
नमामि स्याम सुन्दरं भववुं नाथ मदिरं
प्रफुल्ल कंज लोचनं मदादि दुष मोचनं
प्रलंव वाहु विक्रम प्रभो प्रमेय वैभमं
निषंग चाप सायकं धरें त्रलोक नायक
दिनेस वंस मंडनं महेश चाँप षंडनं
मुनिद्र संत रंजनं सुरारि वृन्द भंजनं
मनोज वैरि वंदितं अजा × × ×

(पृष्ठ ४)

पति वंचक पर पति रति करही। रौरव नर्क कल्प सत परही ॥
छन सुष लागि जन्म सत कोटी। दुषन समुझि तेहि सम को षोटी ॥
विन श्रम नारि पर्म गति लहही। पतिवृत धर्म छाडि छल गहही ॥
पति प्रतिकूल धर्म मिटि जाई। विधवा होइ पाइ तरुनाई ॥
सोरठा : सहज अपावन नारि पति सेवत सुभ गति लहे।
जसु गावत श्रुति चारि अजहू तुलसी हरिहि प्रय ॥९॥
सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिवृत करें।
तोहि प्रान सम राम कहेउ कथा संसार हित ॥१०॥

चौपई

सुनि जानकी पर्म सुष पावा। सादर तासु चरन सिर नावा ॥
तव मुनि सन कह कृपा निधाना। आइसु होइ जाउ वन आना ॥
संतत हम पर कृपा करेहू। सेवक जानि तजव नहि नेहू ॥
धर्म धुरंधर प्रभु कही जानी। मुनि सप्रेम वोले मृदु वानी ॥
जासु कृपा अज सिव सनकादी। कहत सकल परमारथ वादी ॥
ते तुम राम अकाम पियारे। दीनवंधु मृदु वचन उचारे ॥
अव जानी में श्री चतुराई। भजिय तुह्में सव देव विहाई ॥
जेहि समान अतिसै नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई ॥
केहि विधि कहों जाहु वन स्वामी। कहहु नाथ तुम अन्तर जामी ॥
अस कहि रहे विलोकि मुनि धीरा। लोचन जल वहै पुलक सरीरा ॥
छंद : तन पुलक निर्भय प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिये
मन ग्यान गुन गोतीत प्रभु में दीष का जप तप किये
जप जोग धर्म समूह ते नर भक्ति अनुपम पावही
रघुवीर चरित पुनीत निसि दिन दास तुलसी गावही।
दोहा : मुनि रघुपति अति परस्पर पुनि पुनि नावहि सीस।
विमल भक्ति वर देइ करि विदा कीन्ह जगदीस ॥११॥

चौपई

मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले वनहि सुर नर मुनि ईसा ॥

आगें राम लषन पुनि पाछें। सीता मध्य विराजति आछें ॥
सरित गिरि वन ओघट घाटा। पति पहिचानि देंहि वर वाटा ॥
जहँ जहँ जाहि देव रघुराया। करहि मेघ नभ तहँ तहँ छाया ॥
आश्रम एक दीष मग माही। देव सदन तेहि पटतरि नाही ॥
दिव्य विटप वर चहु दिसि सोहैं। देषत जिनहि सकल मुनि मोहैं ॥
पक्षी तहँ अनेक वहु रंगा। गुंजहि अलि रव करहि विहंगा ॥
दोहा : निज निज आश्रम वेदिका तेहि तट तुलसी विराज।
अनुज जानकी सहित तह राजत भे रघुराज।
आनि सुआसन मुदितमन पुनि पहुनाई कीन्ह।
कंद मूल फ × × × × ×

(पृष्ठ ८)

× × × । कनक तरुहि जनु भेट तमाला ॥
राम सुमुख विलोकि मुनि ठाढे। मानहु चित्र मध्य लिषि काढे ॥
दोहा : तव मुनीस उर धीर धरि गहि पद वारहि वार।
निज आश्रम तव आनि प्रभु पूजे विविधि प्रकार ॥२१॥

चौपई

कह मुनि सुनु प्रभु विनती मोरी। अस्तुति करौं कोंन विधि तोरी ॥
महिमा अमित मोर मति थोरी। रवि समीप षद्योत की जोरी ॥
स्याम ताम रस दाम सरीरा। जटा मुकट परिधनु मुनि चीरा ॥
मोह विपिनि घन दह कृसानू। संत सरोरुह कानन भानू ॥
निसिचर करि वरूथ मृग राऊ। त्रसै सदा भय अहि षग नाहू ॥
अरुन नयन राजीव सुवेसं। सीता नयन चकोर निसेसं ॥
हर हिय मानस राज मरालं। नोमि राम उर वाहु विसालं ॥
संसय सर्प्प ग्रसन उरगादं। समन सकल भव कृत्य विषादं ॥
भय भंजन रंजन जन यूह्यं। त्राहि सदा मम कृपा वरूह्यं ॥
निर्गुन सगुन अनूप स्वरूपं। ग्यान गिरा गोतीत अनूपं ॥
अमल अषिल अनुवघ्य अपारं। नौमिराम भंजन महि भारं ॥
भक्त कल्प पादप आरामं। कर्षन क्रोध लोभ मद कामं ॥
अति नागर सागर श्रुति सेतं। त्रात सदाँ दिनकर कुल केतुं ॥
अतुलित वल प्रताप छवि धामं। कलिमल विपुल विभंजन रामं ॥
जदपि विरुज व्यापक अविनासं। सवके हृदय निरंतर वासं ॥
तदपि अनुज श्री सहित षरारी। वसि मानस मम कानन भारी ॥
जो जानें तेहि जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतर जामी ॥
अब कौसिल पति राजिव नयना। करुहु सो राम हृदय मम अयना ॥
सोरठा : माया वस जड जीव रहत सदाँ संतत मगन।
तिमि लागहु मन प्रिय करुना कर सुन्दर अनघ ॥२२॥

चौपई

मन अभिलाष तजै जिनि भोरें। में सेवक रघुपति पति मोरें।।
राम भक्ति तजि चह कल्याना। सो नर अधम अकाल समाना।।
सुनि मुनि वचन राम मन भाये। वहुरि हर्षि मुनिवर हिय लाये।।
पर्म प्रसंन्न जानि मुनि मोही। जो वरु मागु देंउ अव तोही।।
मुनि कह वरु कवहु न में जाचा। समुझि कि परै झूठ की साचा।।
तुमहि नीक लागे रघुराई। सो मोहि देहु दास सुषदाई।।
अविरल भक्ति विरति विग्याना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना।।
प्रभु जो दीन्ह सो वरु में पावा। अव सो देहु जो मो मन भावा।।
दोहा : अनुज जानकी सहित प्रभु चाप वान धरि राम।
मम उर गॅगन इंदु इव वसहु सदा निःकाम[1]।।२३।।

चौपई

एवमस्तु कहि रमा निवासा। हर्षि चलै कुंभज रिषि पासा।।
मुनि प्रनाम करि जुग करि जोरी। सुनहु नाथ कछु विनती मोरी।।
वहुत दिवस मुनि दरसन पाये। भये वहुत दिन आश्रम आये।।
अव प्रभु संग चलों गुर पाही। तुम कह नाथ निहोरा नाही।।
चले जात मग तव पद कंजा। देषव में विराध मध गंजा।।
देषि क्रपा निधि मुनि चतुराई। चले संग विहसे दोउ भाई।।
पंथ कहत निज भक्ति अनूपा। मुनि आश्रम पहुचे सुर भूपा।।
आश्रम देषि महा अति सुंदर। संत कुटी मुनि आश्रम भूधर।।
वन चर जल चर जीव जहीते। वैरु न करहि प्रीति सवहीते।।
दोहा : राजत तरुवर विहग मृग वोलत ववििध प्रकार।
सवहि सिद्धि मुनि तप करहि महिमा गुन आगार।।२४।।

चौपई

तुरित सुतीक्षन गुर पह गयेऊ। करि दंडवत कहन अस भयेऊ।।
नाथ कौसिलाधीस कुमारा। आये मिलन जगत आधारा।।
राम अनुज समेति वैदेही। निसि दिन नाथ जपत जसु तेही।।
सुनत अगस्त तुरित उठि धाये। प्रभुहि विलोकि नयन जल छाये।।
मुनि पद कमल परे दोऊ भाई। लषि अति प्रीति लिये उर लाई।।
सादर कुसल पूछि मुनि ग्यानी। आसन वर वैठारेउ आनी।।
पुनि करि वहु प्रकार प्रभु पूजा। मोसम भाग्यवंत नहि दूजा।।
जह लगि रहे अपर मुनि वृंदा। हरषे सव विलोकि मुख चंदा।।
दोहा : मुनि समूह में वैठि प्रभु सन्मुख सवकी ओर।
सरद इंदु इव देषियत मानहु निकर चकोर।।२५।।

चौपई

पाइ सुथल जिमि हरषित मीना। पारसु पाइ सुषी जिमि दीना।।

---

१. पृष्ठ ६ प्रारम्भ।

राम निरषि सुष भये इहि भाती। चात्रक जिमि पायो जल स्वाती ।।
तब रघुवीर कह्यो मुनि पाही। तुम सन प्रभु दुराव कुछ नाही ।।
तुम जानों जेहि कारण आयो। ताते नाथ न कहि समुझायो ।।
अब सो मन्त्र देहु मुनि मोही। जेहि प्रकार मारों सुर द्रोही ।।
द्विज द्रोही न वचै मुनराई। जिमि पंकज वन हिमि रितु आई ।।
मुनि मुसिकानें सुनि प्रभु वानी। पूछहु नाथ मोहि कह जानी ।।
तुह्मरे भजन प्रभाव षरारी। जासों महिमा कछुक तुह्मारी ।।
सोरठा : भृकुटी निरषत नाथ रहत सदाँ पद कमल रत।
विविधि विधाता साथ जासु वसें निज उदर मह ।।२६।।

चौपई

अति कराल सव पर जग जाना। औरो कहों सुनहु भगवाना ।।
उमरी तरु विसाल तव माया। फल वृह्मांड अनेक निकाया ।।
जीव चराचर जन्तु समाना[1]। भीतर वसहि न जानहि आना ।।
ते फल भक्षित कठिन कराला। तव उर डरत रहत सो काला ।।
ते तुम सकल लोक के साई। पूछेउ मोहि मनुज की नाई ।।
यह वरु माँगहु कृपा निकेता। वसहु ह्रुदय श्री अनुज समेता ।।
अविरल भक्ति विरति सतसंगा। चरण सरोरुह प्रेम अभंगा ।।
जद्यपि वृंह्म अषंड अंनता। अनुभव गम्य भजहि जेहि सन्ता ।।
अस तव रूप वषानों जानों। निर्गुन वृंह्म सगुन रति मानों ।।
सोरठा : जी पर दाया जाहि रहत तुमहि सन्तत सदा।
छोहु वडाई ताहि नहि कछु घटै गुसाई तव ।।२७।।

चौपई

है प्रभु पर्म मनोहर ठाऊँ। पावन पंचवटी तिहि नाऊँ ।।
गोदावरी नदी तह वहई। चारिहु जुग प्रसिद्धि जग अहई ।।
दंडक वन पुनीत प्रभु करहू। उग्र श्राप मुनिवर कर हरहू ।।
वास करहु तह रघुकुल राया। कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया ।।
चले राम मुनि आइसु पाई। तुरितहि पंचवटी नियराई ।।
दिव्य लता द्रुम प्रभु मन भाये। निरषि राम तेई भये सुहाये ।।
लषन राम सिय चरण निहारी। कानन तजि भागे अघभारी ।।
दोहा : गीध राज सों भेट भई वहु विधि प्रीति दृढाइ।
गोदावरी समी(प) प्रभु रहे परन गृह छोइ ।।२८।।

चौपई

जवते राम कीन्ह वनवासू। सुषी भये मुनि निघटेउ त्रासू ।।
गिरि वन नदी लता छवि छाये। दिन-दिन प्रीतिते होंइ सुहाये ।।
षग मृग वृन्द अनंदित रहही। मधुप मधुर गुंजत छवि लहही ।।
सो वन वरनि सक न अहिराजा। जहा प्रगट रघुवीर विराजा ।।

---

१. पृष्ठ १० प्रारम्भ।

एक वार प्रभु सुख आसीना । लछिमन वचन कहे छल हीना ।।
सुर नर मुनि सचराचर स्वामी । सुना चहों कछु तव अनुगामी ।।
मोहि समुझाई कहो सोइ देवा । सव तजि करेउ चरन तव सेवा ।।
कहो ग्यान विराग अरु माया । कहहु सो भक्ति करहु जो दाया ।।
दोहा : ईश्वर जीवहि भेद प्रभु सकल कहों समुझाइ ।
जो सुनि उपजै चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ ।।२९।।

चौपई

थोरे मह प्रभु कह समुझाई । सुनहु तात मन मति चित लाई ।।
में अरु मोर तोर सव माया । जेहि वस कीन्हे जीव निकाया ।।
गो गोचर जह लगि मनु जाई । सो सव मायां जानेहु भाई ।।
ताकर भेद सुनहु तुह्म सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।
एक दुष्ट अतिसय दुष रूपा । पर वस जीव परै भव कूपा ।।
एक रचै जग गुन वस जाके । प्रभु प्रेरित नहि निज वल ताके ।।
ग्यान मान जेहि एको नाही । वृंह्म समानि देषि सव माही ।।
कहिय तात सो पर्म विरागी । त्रन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ।।
दोहा : माया ईस्वर आपु कह जा'न कहिय सो जीव
वंध मोक्षि पद सवहि पर माया प्रेरिक सीव ।।३०।।

चौपई

धर्म ते विरति जोगते ग्याना । ग्यान मोक्षि पद वेद वषाना ।।
जाते वेगि द्रवों में भाई । सो मम भक्ति लषहु सुष दाई ।।
मो सुतंत्र अवलम्व न आना । तेहि आधीन ग्यान विग्याना ।।
भक्ति तात अनुपम सुष मूला । मिलै जो संत होइ अनुकूला ।।
भक्ति को साधन कहो वषानी । सुगम पंथ पावहि मोहि प्रानी ।।
प्रथमहि विप्र चरण अति प्रीती । निज निज धर्म निरत श्रुति नीती ।।
एहि कर फल पुनि विषय विरागा । तव मम पद उपजै अनुरागा ।।
श्रवनादिक तव भक्ति द्रढाई । मम लीला रत मन वच काई ।।
संत चरन पंकज अति प्रेमा । मन क्रम वचन भजन दृढ नेमा ।।
गुरु पितु मातु वंधु पति देवा । सम मो कह जानि करै दृढ सेवा ।।
मम गुन गावत पुलक सरीरा । गद गद गिरा नेंन वहै नीरा ।।
कामादिक मद दंभ न जाके । तात निरंतर वस मैं ताके ।।
दोहा : वचन काइ मन मोरि गति भजन करै निःकाम ।
तिनक ह्रदयें कमल सम सदा करों विश्राम ।।३१।।

चौपई

भक्ति जोग सुनि अति सुष पावा । लछिमन राम चरन सिर नावा ।।
नाथ सकल गत मम संदेहा । भयो ग्यान उपजेउ नव नेहा ।।
अनुज वचन सुनि अति सुष पावा । हर्षि राम लछिमन उर लावा ।।

---

१. पृष्ठ ११ प्रारम्भ ।

एहि विधि गये कछुक दिन वीती । कहत विराग ग्यान श्रुति नीती ॥
सूर्पनषा रावन की वहिनी । दुष्ट निर्दय दारुन जिमि अहिनी ॥
पंचवटी सो गई इक वारा । सूर्पनखा लषि जुगल कुमारा ॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर नि(र)षत नारी ॥
भई विकल मन सकै न रोकी । जिमि घृत द्रव अति रविहि विलोकी ॥

दोहा : अधम निसाचरि कुटिल अति चली करन उपहास ।
सुनु षगेस भावी प्रवल भा चहै निश्चर नास ॥३२॥

चौपई

रुचिर रूप धरि प्रभु पह आई । वोली मधुर वचन हरषाई ॥
तुम सम पुरुष न मो सम नारी । यह सँजोग विधि रच्यो विचारी ॥
मम अनुरूप पुरुष जग नाही । देषेउ षोजि लोक तिहु माही ॥
ताते अव लगि रहेउ कुमारी । मनु माना कछु तुमहि निहारी ॥
सीतहि चितै कही प्रभु वाता । अहै कुमार मोर लघु भ्राता ॥
यह लछिमन रिपु भगनी जानी । प्रभुहि चितै वोले मृदु वानी ॥
सुनि सुंदरि में उनकर दासा । पराधीन नहिं तोर सुपासा ॥
प्रभु समरथ कौसिल पुर राजा । जो कछु करै उन्हें सव छाजा ॥

दोहा : केहरि सम नहि करि वरल वक की वाज समाज ।
प्रभु सेवकं मोहि जानहू मानहु वचन प्रमान ॥३३॥

चौपई

सेवक सुष चहै मान भिषारी । विसिनिहि घनु सुभगति विभिचारी ॥
लोभी जसु चहें प्रेम गुमानी । नमि दुहि दूध चहें सो प्रानी ॥
पुनि सो राम निकट तव आई । प्रभु लछिमन पह फेरि पठाई ॥
लछिमन कहा तोहि सो वरई । त्रन सम लाज तोरि प······॥

(पृष्ठ १३)

····························ई । देखि नही अति सुंदरताई ॥
जद्यपि भगनी कीन्ह कुरूपा । मारन जोग न पुरष अनूपा ॥
लेहु तुरित सो नारि छड़ाई । जीवत भवन जाहु दोउ भाई ॥
मोर कहा तुम ताहि सुनावहु । तासु वचन सुनि आतुर आवहु ॥

दोहा : भये काल वस मूढ सव जानत नहि रघुवीर ।
मसक फूंक की मेरु उडइ सुनहु गरुड मतिधीर ॥३७॥

चौपई

दूतन कहा राम सन जाई । सुनत राम वोले मुसुकाई ॥
आजु भयो वड काजु हमारा । तुम्हरे प्रभु कीन्हेउ सुविचारा ॥
हम छत्री मृगया वन करही । तुमसे षल मृग षोजत फिरही ॥
रिपु वलवंत देषि नहि डरही । एक वार कालहु सों लरही ॥
जद्यपि मनुज दनुज कुल घालक । मुनि पालक षल सालक वालक ॥
जो न होइ वल तौ घर जाहू । समर विमुख में हतों न काहू ॥

रन चढ़ि करिय कपट चतुराई। रिपु पर कृपा पर्म कदराई ।।
दूतन जाइ तुरित अस कहेऊ । सुनि षर दूषन उर अति दहेऊ ।।
छन्द : उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाए विकट भट रजनीचरा ।।
सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परसु भयंकरा ।।
प्रभु कीन्ह धनुष टकोर प्रथमहि घोर रव व्याप्यो महा।
भये वधिर व्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा ।।
दोहा : सावधान होइ धाएऊ जानि सवल आराति।
लागे वर्षन राम पह अस्त्र शस्त्र वहु भाँति ।।३८।।
तिनके आयुध तिलसम करि काटे रघुवीर।
तानि सरासन श्रवन लगि पुनि छाडे निज तीर ।।३९।।
तोमर छन्द : तव चले वान कराल फुंकरत मानहु व्याल ।
कोपे समर श्रीराम चले विसिष निकर निकाम ।।
अवलोकि परत नहि तीर भजि चले निसिचर वीर ।
इक एक कोउ न सह्मार करि तात मात पुकार ।।
कोउ कहै षर का कीन्ह जो जुद्ध इनसों लीन्ह ।
जाके वान अतिहि कराल अस आइ मानहु काल ।।
भये क्रोध तीनिहु भाइ जो भाजि रन सों जाइ।
तेहि मारिहों निज पानि फिरे मरन मन मह ठानि ।।
दोहा : उमा येक प्रभु दनुज वहु पुनि तिनके वड़ भाग।
तरा चहत प्रभु सर लगें विना जोग जप जाग ।।४०।।
छन्द : करि जुद्ध नेक प्रकार सन्मुखहि करहि प्रहार ।।
रिपु पर्म कोपे जानि प्रभु धनुष सर संधानि ।।
छाँडे विपुल नाराच लगे कटन विकट पिसाच ।।
उर सीस कर भुज चरन जह तह लगे महि परन ।।
चिक्करत लागत वान धर परत कुधर समान ।
भट कटत तन सत षंड नभ उडत वहु भुज दंड ।।
विनु मुंड धावत रंड कटि गये निसिचर मुंड ।
षग कंक काक श्रकाल निसिचर परे जनु व्याल ।।
गीतका छन्द : कट कटाहि जंवुक भूत प्रेत पिसाच षप्पर[1] साजही
वैताल वीर कपाल ताल वजाइ जोगिनि नाचही
रघुवीर वान प्रचंड लागहि भटन के उर भुज सिरा
जह तह परहि उठि लरहि धरु धरु सब्द करहि भयंकरा
अंतावली गहि उडहि गीध पिसाच सिर गहि धावही
संग्राम पुर वासी मनहु वहु वाल गुडी उडावही
मारे पछा उर विदारे विपुल भट कहरत परे
अविलोकि निजदल विकल भट त्रिसिरादि खर दूषन फिरे

१. पृष्ठ १४ प्रारम्भ।

सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि वारही
करि कोप श्री रघुवीर पर अगिनित निसाँचर डारही
प्रभु निमिष मह माया निवारि प्रचारि डारे सायकं
दस दस विसिष उर माझ मारे सकल निसिचर नायकं
महि परत भट उठि लरत मारत करत माया अति घनी
सुरेस डर चौदसहस दनुज विलोकि इक कौसल धनी ।
सुर मुनि सभै सव देषि माया नाथ अति कौतुक कर्यो
देषहि परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल दलि मर्यौ ।

दोहा : राम राम कहि तनु तजहि पावहि पद निर्वान ।
करि उपाव मारे सकल छन मह कृपा निधान ।।४१।।
हर्षित वर्षहि सुमन सुर वाजहि निकर निसान ।
प्रभु अस्तुति करि सुर चले सोभित विविधि विमान ।।४२।।

चौपई

जय रघुनाथ समर रिपु जीते । सुर नर मुनि सवके भय वीते ।।
तव लछिमन सीतहि लै आये । प्रभु पद कमल हरषि सिर नाये ।।
सीता चितव स्याम मृदु गाता । पर्म प्रेम लोचन न अघाता ।।
पंचवटी वसि श्री रघुराई । करत चरित सुरमुनि सुषदाई ।।
धुअँ देषि षर दूषन केरा । सूर्पनषा रावन तव टेरा ।।
वोली वचन क्रोध करि भारी । देस कोस पुर सुरति विसारी ।।
करसि पानि मध तें दिन राती । सुधि न तोहि सिर पर आराती ।।
राज नीति विन धन विनु धर्मा । हरहि समर्पित विन सतकर्मा ।।
विद्या विनु विवेक उपजाये । श्रम फल पाट किये अरु गाये ।।
संगति जती कुमंत्रिहि राजा । मदते ग्यान पान ते लाजा ।।
प्रीति प्रिया विन मद ते गुनी । नासहि वेगि नीति असि सुनी ।।

सोरठा : रिपु रुज पावक पापु प्रभुहि न गनिये छोट करि ।
अस कहि विविध विलापु करन लगी रोदन अमित ।।४३।।

दोहा : सभा मध्य व्याकुल परी वहु प्रकार कहै रोइ ।।
तोहि अक्षित दसमौलि सुनु मोरि कि असि गति होइ ।। ४४ ।।

चौपई

सुनत सभासद उठे अकुलाई । समुझाइसि गहि वाह उठाई ।।
कह लंकेस कहसि किनि वाता । केई तव नासा कान निपाता ।।
अवधि नृपति दसरथ के जाये । पुरुष सिंह वन षेलन आये ।।
समुझि[1] परै मोहि उनकी करनी । रहित निसाचर करिहैं धरनी ।।
जिनको भुज वल पाइ दसानन । अभय भए विचरत मुनि कानन ।।
देषत वालक काल समाना । समर धुरन्धर सव जग जाना ।।

---

१. पृष्ठ १५ प्रारम्भ ।

अतुलित वल प्रताप दोउ भ्राता । भयो न अमहि (?) मंडल जाता ।।
सोभा धाम राम तेहि नामा । तिन्ह के संग नारि एक स्यामा ।।
सोरठा : अति सुकुमारि सुनारि पटतरि जोग न अहइ कोऊ ।
में मन दीष विचारि तेहि समानि कोऊ नाहि जग ।। ४५ ।।

चौपई

अवहु जाइ देषव तुव जवही । ह्वैहो विकल तासु वस तवही ।।
जीवन मुक्त लोक वस ताके । दश मुख सुनु सुंदरि असि जाके ।।
रूपरासि विधि नारि सवारी । रति सत कोटि तासु वलिहारी ।।
तासु अनुज काटे श्रुति नासा । सुनि तव नाम कीन्ह उपहासा ।।
विन पराध अस हाल हमारी । अपर दनुज किमि वचे सुरारी ।।
षर दूषन सुनि लागि गुहारी । छिन मह सकल कटक उन्ह मारी ।
षर दूषन त्रिसरा कर घाता । सुनि दस मौलि जरे सव गाता ।।
भयो सोच मन नहि विश्रामा । वीतहि पल मानहु सत जामा ।।
दोहा : सूर्पनषा सुमुझाइ करि षल वोला वहु भाति ।
भवन गयौ अति सोच वस नीद परी नहि राति ।। ४६ ।।

चौपई

सुर नर नाग असुर महिमाही । मोरे अनुचर कह कोउ नाही ।।
षर दूषन मो सम वलवंता । तिनहि को जीते विनु भगवंता ।।
सुररंजन भंजन गहि भारा । श्री भगवान लीन्ह अवतारा ।।
तो मै जाइ वैरु हठि करऊ । प्रभुसर वैठि महानद तरऊ ।।
जो नर होइ भूप सुत कोऊ । हरिहों नारि जीति कें दोऊ ।।
होइ भजन नहि तामस देहा । मन क्रम वचन मंत्र दृढ येहा ।।
रथ आरूढ़ जोरि वर चारी । वेगवंत अति जिमि उरगारी ।।
चल्यो अकेल जान चढ़ि तहावा । वसै मारीच सिंधु तट जहावा ।।
छन्द : उरगारि सम अति वेग वंत न जाइ कछु उपमा कही ।
सिर छत्र सोहत स्याम घन जनु चमर स्वेत विराज ही ।।
इहि भाति नाघत सरित सैल अनेक वापी सोह ही ।
वन वाग उपवन वाटिका सुचि नगर मुनि मन मोहही ।।
दोहा : वहु तडाग सुचि विहँग मृग वोलहि विविधि प्रकार ।
एहि विधि आयो सिंधु तट सत जोजन विस्तार ।। ४७ ।।

चौपई

सुन्दर जीव विविधि वहु जाती । करहि कुलाहल दिन अरु राती ।।
गुंजहि कुंजहि तेहि छन माही । अति सुचारु नहि वरनि सिराही ।।
कनक वालु सुंदर सुषदाई । वैठे सकल जंतु तह आई ।।
तेहिप दिव्यललता (?) तरु लागे । जेहि देषत मुनि मन अनुरागे ।।
गुहा........................ । ....।।

.... । ....न[1] आई ॥
सब मृग संग मृग करि लेंही । मानहु मोहि सिषावनि देंही ॥
सस्त्र सो चिंतत पुनि (जग ?) देषिय । भूप सुषेवत वस नहिं लेषिय ॥
जदपि नारि राषिय उर माही । जुवती सस्त्र नृपति वस नाही ॥
देषहु तात वसंत सुहाई । प्रिय विहीन मोहि भय उपजाई ॥

दोहा : विरह विकल वल हीन मोहि जान्यौ निपट अकेल ।
सहित विपिन मधुकर विहंग मदन कीन्ह वगमेल ॥ ७४ ॥
देषि गयो भ्राता सहित तासु दूत सुनु भ्रात ।
डेरा दीन्हो मनो तव कटक न भटकहि जात ॥ ७५ ॥

चौपई

विटप विसाल लता उरझानी । विविधि वितान दसौ दिसि तानी ॥
केदलि साखा ध्वजा पताका । देषत मोह धीर मनुजाका ॥
विविधि भाति फूले तरु नाना । जनु वानेत गहें वर वाना ॥
कहु कहु सुंदर विटप सुहाये । जनु भट विलग विलग चलि आये ॥
वोलत पोत मनों गज माते । टेक महूष ऊंट विसराते ॥
मोर चकोर कीर वर वाजी । पारावत मराल सव ताजी ॥
तीतुर लवा कि पदचर जूथा । वरनि न जाइ मनोज वरूथा ॥
रथ गिरि सैल दुंदुभी झरना । चात्रक वन्दी गुनगन वरना ॥
मधुकर निकर भेरि सहनाई । त्रिविधि समीर वसीठी आई ॥
चतुरंगिनी सेंन सँग लीन्हे । विचरत मनो चिनौती दीन्हे ॥
लछिमन देषहु काम अनीका । तजें धीर जिनकें जंग लीका ॥
याकें एक अपर्वल नारी । तेहि वल काम सुभट अति भारी ॥

दोहा : तात प्रगट जगती निषल काम क्रोध मद लोभ ।
मुनि विग्यान निधान मन करहि निमिष मह छोभ ॥ ७६ ॥
लोभ कि इक्षा दंभ वल काम कें केवल नारि ।
कपट क्रोध रूषे वचन मुनिवर कहें विचारि ॥ ७७ ॥

चौपई

गुनातीत सचराचर स्वामी । उमा राम उर अन्तरजामी ॥
कामिन्ह कों दीनता दिषाई । धीरन के उर भक्ति दिढाई ॥
क्रोध मनोज मोह अरु माया । छूटै सकल राम की दाया ॥
सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला । जापर होंहि राम अनुकूला ॥
कहों उमा मै अनभव अपना । सहि हरि नाम जक्त सव सपना ॥
पुनि प्रभु गये सरोवर तीरा । पंपा नाम सुभग गंभीरा ॥
सन्त ह्रदय जस निर्मल वारी । वाधे घाट मनोहर चारी ॥
पीवहि जंतु विविधि जह नीरा । जनु उदार ग्रह जाचक भीरा ॥

---

१. पृष्ठ २५ प्रारम्भ ।

दोहा : पुरइनि सघन सो श्रोट जल वेगि न पाइय मर्म।
मायां ग्रसन देषिये[1] जैसें निर्मल धर्म ॥ ७८ ॥
सुषी मीन सब एक रस अति अगाधि जल माहि।
जथा धर्म सालज्ज कें दिन सुख संजुत जाहि ॥ ७६ ॥

चौपई

विकसे जल जसु नाना रंगा। मघुर मधुर रव गुंजत भृंगा।
वोलत जल पक्षी कल हंसा। प्रभु विलोकि जनु करत प्रसंसा।
चक्रवाक षग वक समुदाई। देषत वनें वरनि नहि जाई।
सुंदर षग गन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत वुलाई।
ताल समीप मुनिन्ह घर छाये। चहु दिसि कानन विटप सुहाये।
चंपक वकुल कदंब तमाला। पाडर जिनिसि पलास रसाला
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचरी सुक सों करें गाना
सीतल मंद सुगंध सुधाऊ। संतत वहै मनोहर वाऊ
सुंदर सुभ कोकिल धुनि करही। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरही

दोहा : सफल विटप सुभ सुमन जुत रहे भूमि पर आइ।
पर उपकारी पुरष जिमि नवैं सुसंपति पाइ ॥ ८० ॥

चौपाई

देषि राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह पर्म सुष पावा
देषि मह्रा सभ सुन्दर छाया। ठाढे अनुज सहित रघुराया
तह पुनि सकल देव मुनि आये। अस्तुति करि निज धाम सिधाये
वैठे राम प्रसंन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला
विरहवंत भगवंतहि देषी। नारद उर भा सोच विसेषी
मोर श्राप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुष भारा
ग्रैसे प्रभुहि विलोकों जाई। पुनि न वनें ग्रस ग्रवसर भाई
यह विचार नारद करि नीका। गये जहा दिनकर कुल टीका
गावत राम चरित मृदुवानी। सहित प्रेम वहु भाति भवानी
करत दंडवत लीन्ह उठाई। राष्यो वहुत वार उर लाई
स्वागत पूछि निकट वैठारे। लछिमन सादर चरन पषारे

दोहा : नाना विधि विनती करी प्रभु प्रसंन्न जिय जानि ॥
नारद वोले वचन तव जोरि सरोरुह पानि ॥ ८१ ॥

चौपई

सुनहु पर्म उदार रघुनायक। सुंदर सुगम अगम वर दायक
देहु एक वरु मागहु स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी
जानत तुम मुनि मोर सुभाऊ। जनसों कवहु न करों दुराऊ
कवन वस्तु मोहि अति प्रय लागी। जो मुनिवर तुम सकहु न मागी

---

१. पृष्ठ २६, 'देषिये' से आरम्भ।

जन कहू कछु अदेव नहि मोरे। अस विस्वास तजिय जिनि भोरें॥
तव नारद वोले मुसुकाई। अस वरु मागत होति ढिठाई॥
जद्यपि प्रभु तव नाम अनेका। श्रुति कहै अधिक एकते एका॥
राम सकल नामन ते अधिका। अहे सदा अघ खग गन वधिका॥
दोहा : राका निसि तव भक्त[1] सव राम नाम सुभ सौम।
अपर नाम उडगन विमल वसहु दास उर व्योम॥८२॥
एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपा सिंधु रघुनाथ।
तव नारद मन हर्ष अति प्रभु पद नायेउ माथ॥८३॥

चौपई

अति प्रसंन्न रघुवीरहि जानी। पुनि नारद वोले मृदुवानी॥
नाथ जवहि प्रेरहु निज माया। मोहेउ मोहि सुनहु रघुराया॥
तव विवाह में चाहों कीन्हा। प्रभु केहि हेत करन नहि दीन्हा॥
सुनु मुनि तोहि कहों सह रोसा। भजहि मोहि तजि सकल भरोसा॥
करों सदा तिनकी रषवारी। ज्यों वालक पालै महतारी॥
गहै शिशु वक्ष अनल अहि धाई। तह राषै जननी अरगाई॥
प्रोढ भये तिहि सिसु पर माता। प्रीति न करै पाछिली वाता॥
मोरे प्रोढ तनें मुनि ग्यानी। वालक सिसु सम दास अमानी[2]॥
जिनहि मोर वल निज वल नाही। दुहु कह काम क्रोध रिपु आही॥
यह विचारि पंडित मोहि भजही। जानहि ग्यान भजन नहि तजही॥
पंडित जन मोहि अति प्रय लागे। जो नहि प्रीति तदपि अनुरागे॥
दोहा : काम क्रोध मोहादि मद प्रवल मोह की धारा।
तिन मह अति दारुन दुसह माया रूपी नारि॥८४॥

चौपई

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह विपिनि कह नारि वसंता॥
जप तप नेंम जलासय भारी। ह्वै ग्रीषम सोषै वर वारी॥
काम क्रोध मद मत्सर नेका। तिनहि हर्षप्रद लवल (?) एका॥
दुर्वासिना कुमुद समुदाई। तिन कह सदा सरद सुषदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह वृंदा। होइ तिनहि षेदवर चंदा॥
पुनि ममता जवास वहुताई। पलुहै नारि सिसिरि सम पाई॥
नारि निमिडि रजनी अंधियारी। पाप उलूकन कों सुषकारी॥
वुधि वल सत्य सील वृत मीना। वंसी सम तिय कहहि प्रवीना॥
दोहा : अवगुन मूल जु सूल प्रद प्रमुदा सव दुष षानि।
तातें कीन्ह निवारन मुनिवर अस जिय जानि॥८५॥

चौपई

सुनि रघुपति के वचन सुहाये। मुनि तन पुलिक नयन जल छाये॥
कहहु कवन प्रभु कै यह रीती। सेवक पर ममता अति प्रीती॥

---

१. पृष्ठ २७ प्रारम्भ। २. अग्यानी

जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी । ज्ञान मान सो पर्म अभागी ॥
पुनि सादर बोले मुनि नारद । सुनहु राम विज्ञान विसारद ॥
सतन के लक्षन रघुवीरा । कहौ नाथ भंजन भय भीरा ॥
सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ । जेहि ते मे उनके वस अहऊँ ॥
षट विकार तजि अनघ अकामा । अचल अकंचन सुचि सुष धामा ॥
अमित भोग अनी'ह मिति भोगी । सत्य सरिल कवि कोविद जोगी ॥
सावधान मद मत्सर हीना । धीर भक्ति पथ पर्म प्रवीना ॥
दोहा : गुनागार संसार के दुषरत विगत सँदेह ।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिनकें देह न गेह ॥८६॥

चौपई

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाही । पर गुन सुनत अधिक हरषाही ॥
सम सुसील नहि त्यागहि नीती । सरल सुभाइ सवन पर प्रीती ॥
जप तप वृत दम संजम नेंमा । गुर गोविंद विप्र पद प्रेमा ॥
श्रधा छमा प्रिया अति वी दाया । मुदित सु मो पद प्रीति अमाया ॥
विरति विवेक ज्ञान विग्याना । वोध यथारथ वेद पुराना ॥
दंभ मान मद करें न काऊ । भूलि न देंहि कुमारग पाऊ ॥
गावहि सुनहि सदा मम लीला । हेत रहित परहित रत सीला ॥
सुनि मुनि साधन के गुन जेते । कहि न सकहि सादर श्रुति तेते ॥
छन्द : कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद पंगज गहे
अस दीनवंधु कृपाल अपने भक्त गुन निज मुख कहे
सिर नाइ वारहि वार चरनन्ह वृंह्मपुर नारद गये
ते धन्य तुलसीद(ा)स अस प्रभु भजहि जे हरि रंग रये ।
दोहा : रावनारि जस पावन गावहि सुनहि जे लोग ।
राम भक्ति द्रढ पावही विन प्रयास जप जोग ॥८७॥
दीप सिषा जुवती जोवन जानितु होसि पतंग ।
भजु रसना प्रभु नाम ही करसि सदा सतसंग ॥८८॥

इति श्रीरामायने सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल वैराग्य संपादिनी षट सुजन संवादे राम वन चरित्र वर्ननो नाम तृतियो सोपान आरंन्य कांड समाप्त ॥३॥

श्री तुलसीदास गुरु की आग्या सों उनके भ्राता सुत कृष्मदास सोरों छेत्र निवासी हेत लिषितं लछिमनदास कासीजी मध्ये संवत् १६४३ अषाढ सुद्ध ४ सुक्रे इति ॥

---

१. पृष्ठ २८ प्रारम्भ ।

दोहा रत्नावली

श्रीगणेशाय नमः ॥ अथ दोहा रत्नावली लिष्यते ॥

हाइ सहज ही हों कही लह्यो वोध हिरदेस ॥
हों रतनावलि जचि गई पिय हिय काच विसेस ॥१॥

१. श्रीयुते रामानुजायनमः ॥ श्री गुरुचरण-
कमलेभ्यो नमः ॥ अथ दोहा रत्नावली लि० ।१।
दोहा हाय, लह्यों, जँचि, काँच, हों, हों ।१।

२. श्रीगनेसाय नमः अथ रत्नावली किरत
दोह लिष्यते । जंची गइी, पिय, हिय ॥१॥

जनमि बदरिका कुल भई हों पिय कंटक रूप ॥
विधत दुषित ह्वै चलि गए रतनावलि उर भूप ॥२॥

१. बदरिका, हो, रूप, विंधत, ह्वै, गये ।२।
२. भइी, पिय, रूप, विंधत, ह्वै, उर, भूप ॥२॥

हाइ बदरिका बन भई हों बामा विसवेलि ॥
रतनावलि हों नाम की रसहिं दयो विस मेलि ॥३॥

१. हों, विष वेलि, हाँ, विष,
वदरिका, वन, वामा ।३।

२. वदरिका, वन, मही, वामा,
विष, रसहि, वीस मेलि ॥३॥

सुभहु वचन अप्रकृत गरल रतन प्रकृत के साथ ॥
जो मो कहँ पति प्रेम संग ईस प्रेम की गाथ ॥४॥

१. अप्रकृत्रित, ज्यों, मोकहँ, सँग ।४।

कहि अनुसंगी वचन हूँ परिनति हिये विचारि ॥
जो न होइ पछिताउ उर रतनावलि अनुहारि ॥५॥

१. हूँ ।५।

रतन दैव वस अमृत विस विस अमिरत बनि जात ।
सूधी हू उलटी परै उलटी सूधी वात ॥६॥

१. वस, विष, विष, वनि ।६।

रतनावलि औरहि कछू चहिय होइ कछु और ॥
पांच पैंड आगै चलै होनहार सव ठौर ॥७॥

१. औरे कछू, पाँच पैंड ।७।

भल चाहत रतनावली विधि वस अनभल होइ ॥
हों प्रिय प्रेम वढ्यो चह्यो दयो मूलतें षोइ ॥८॥

१. चाँहत हों ।८।

जानि परे कहुं रज्जु अहि कहुं अहि रज्जु लषात ।
रज्जु रज्जु अहि अहि कवहुं रतन समय की वात ।।६।।

१. कहुँ, कहुँ, कबहुँ ।६।

धिक मोकहं मो वचन लगि मो पति लह्यो विराग ।।
भई वियोगिनि निज करनि रहूं उड़ावति काग ।।१०।।

१. मोकहुँ, रहूँ, उडावति ।१०।

२. मोकों, भइ, वियोगिन, उडावति ।४।

हों न नाथ अपराधिनी तऊ छमा करि देउ ।।
चरनन दासी जानि निज वेग मोरि सुधि लेउ ।।११।।

१. तौउ, वेगि ।११।

२. तौउ, छिमा, मोर, सुधिय लेउ ।५।

जदपि गए घर सों निकरि मो मन निकरे नाहिं ।
मन सों निकरहु ता दिनहि जा दिन प्रान नसाहिं ।।१२।।

१. गये, सों, मनसो निकरौ, दिनहिं ।१२।

२. गऐ, निकरी, नाइं, दिनहिं,
पिरान, नसाइं ।६।

नाथ रहोंगी मौन हों धारहु पिय जिय तोस ।।
कवहुं न दऊं उराहनों दऊं न कवऊं दोस ।।१३।।

१. हों, कबहुँ न देऊँ, देऊँ कवहू (न) दोष ।१३

२. धारौ, पिय, जिअ, कवउ, देंउँ,
उराहनो, देंउं, कवऊं ।७।

छमा करहु अपराध सव अपराधिनि के आइ ।।
वुरी भली हों आपकी तजउ न लेउ निभाइ ।।१४।।

१. अपराधिन के आय, निभाय ।१४।

२. छिमा, करौ, अपराधिन, बूरी,
तजौ, निभाइ ।८।

कहां हमारे भाग अस जो पिय दरसन देइं ।।
वाइ पाछिली दीठि सों एक वार लषि लेइं ।।१५।।

१. कहाँ, देयँ, वाहि लेयँ ।१५।

२. पिअ, देंई, ऐक, लेंई ।१०।

दीनवंधु कर घर पली दीन वंधु कर छांह ।।
तौउ भई हों दीन अति पति त्यागी मो वांह ।।१६।।

१. दीनबन्धु, छाँह, हों, बाँह ।१६।

२. दीन बन्धु कै, दीन वंधु के, तोउ,
भइी, हों, तयागी, वाँह ।९।

सनक सनातन कुल सुकुल गेह भयो पिय स्याम ।
रतनावलि आभा गई तुम बिन बन सम गाम ।।१७।।

१. विन, वन, ग्राम ।१७।
विन ।।११।।
३. भयो, पिय, सयाम, गइ, विन, वन ।११।

कबहुं कि ऊगे भाग रबि कबहुं कि होइ विहान ।
कवहुं कि विकसे उर कमल रतनावलि सकुचान ।।१८।।

१. कवहुँ, रवि, कवहुं, कबहु कि विकसै,
सकुचांन ।१८।

सोवत सों पिय जगि गए जगिहु गई हों सोइ ।
कवहुं कि अव रतनावलिहि आइ जगावहिं मोइ ।।१९।।

१. सोव(त) सों, जगि गये, हों,
कवहुँ, जगावें ।१९।

राम भगति भूषित भयो पिय हिय निपट निकाम ।
अव किमि भूषित होइ है तंह रतनावलि वाम ।।२०।।

१. होहि है, तह ।२०।
२. पिअ, हिअ, होइं, तहं, वांम ।१५।

तीरथ आदि वराह जे तीरथ सुरसरि धार ।
जाही तीरथ आइ पिय भजउ जगत करतार ।।२१।।

१. आय, भजहु, याही तीरथ, आय, भजहु ।२१।
२. जाही, भजौ ।१६।

प्रभु वराह पद पूज महि जनम मही पुनि एहि ।
सुरसरि तट महि त्यागि अस गए धाम पिय केहि ।।२२।।

१. पूत महि, जन (म) मही, गये ।२२।
२. प्रिभु, पुत महि, ऐहि, मही,
तिआग, गऐ, पिअ ।१७।

सबहि तीरथनु रमि रह्यो राम अनेकन रूप ।
जहीं नाथ आओ चले ध्याओ त्रिभुवन भूप ।।२३।।

१. जहीं, आओ, ध्याओ ।२३।
२. सवै, रूप, धिआओ, तिरभुवन ।१८।

सुवरन जिय संग हों लसी रतनावलि सम कांचु ।
तिहि बिछुरत रतनावली रही कांचु अव सांचु ।।२४।।

१. विछुरत ।२४।
२. पिअ, हों, विछुरत, अव ।३१।

जासु दलहि लहि हरषि हरि हरत भगत भव रोग ।
तासु दास पद दासि ह्वै रतन लहत कत सोग ।।२५।।

१. भव, दासि है।२५।
२. भव ।९८।

राम जासु हिरदै बसत सो पिय मम उर धाम ।

एक वसत दोऊ बसहिं रतन भाग अभिराम ॥२६॥

१. हिरदे, दोऊ वसें ।२६।

मोहि दीनो संदेस पिय अनुज नंद के हाथ ।
रतन समुझि जनि पृथक मोहि जो सुमिरति रघुनाथ ॥२७॥

१. मोइ दीनों, नन्द, ।२७।

२. मोइ, पियअ, प्रिथक, मोइ ।६६।

दुषनु भोगि रतनावली मन महं जनि दुषियाइ ।
पापनु फल दुष भोगि तू पुनि निरमल ह्वै जाइ ॥२८॥

१. दुषियाइ, ह्वै जाय ।२८।

ज्यों ज्यों दुष भोगति तसहिं दूरि होत तुव पाप ।
रतनावलि निरमल बनत जिमि सुवरन सहि ताप ॥२६॥

१. ज्यों, ज्यों, तसहि, तव, निरमल वनत ।२६।

२. तसहि, तव, वनत ।६७।

को जाने रतनावली पिय वियोग दुष वात ।
पिय विछुरन दुष जानतीं सीय दमेंती मात ॥३०॥

१. जानें, सींय, दमैंती ।३०।

२. पिअ, विओग, पिअ, जानती,
सीअ, दमेंती ।३२।

रतनावलि भव सिंधु मधि तिय जीवन की नाव ।
पिय केवट विनु कौन जग षेइ किनारे लाव ॥३१॥

१. भव ।३१।

२. तिअ, पिअ ।३३।

हों न उऋन पिय सों भई सेबा करि इन हाथ ।
अब हों पावहुं कौन विधि सद गति दी(ना)नाथ ॥३२॥

१. सेवा, दीनानाथ, पावहुँ ।३२।

२. उरिन, पिय सो भई, हात, पावौं,
कोन, दीनानाथ ।१६।

पति सेवति रतनावली सकुची धरि मन लाज ।
सकुच गई कछु पिय गए सज्यो न सेवा साज ॥३३॥

१. गये ।३३।

पति पद सेवा सों रहित रतन पादुका सेइ ।
गिरत नाव सों रज्जु तेहि सरित पार करि देइ ॥३४॥

१. सो, तिहि ।३४।

रतनावलि पति राग रंगि दै विराग महं आगि ।
उमा रमा वडभागिनी नित पतिपद अनुरागि ॥३५॥

१. रँगि, मै आगि ।३५।

कबहुँ रह्यो नवनीत सो पिय हिय भयो कठोर।
किमु न द्रवहि हिम उपल सम रतन फिरइं दिन मोर ॥३६॥

१. रह्यों, नवनीति, किमि न द्रवहि, फिरे।३६।

कर गहि लाए नाथ तुम वादन वहु बजवाइ।
पदहु न परसाए तजत रतनावलिहि जगाइ ॥३७॥

१. लाये, वजवाय, परसाये, जगाय।३७।

मलिया सींची बिबिध विधि रतन लता करि प्यार।
नहिं वसंत आगम भयो तब लगि पर्यो तुसार ॥३८॥

१. विविध, नहि, वसन्त, त(व)लगि
परयो तुसार।३८।

नारि सोइ बडभागिनी जाके पीतम पास।
लषि लषि चष सीतल करे हीतल लहै हुलास ॥३९॥

१. × ।३९।

२. वडभागिनी, चषि, लहे ।१२।

असन बसन भूषन भवन पिय बिन कछु न सुहाइ।
भार रूप जीवन भयो छिन छिन जिय अकुलाइ ॥४०॥

१. वसन, विन, सुहाय, रूप, अकुलाय।४०।

२. वसन, भुषन, पिअ, जिअ।१३।

वैस बारहीं कर गह्यो सोरहिं गवन कराइ।
सत्ताइस लागत करी नाथ रतन असहाइ ॥४१॥

१. वारही, सोरहि, गौन, कराय,
सत्ताइस, असहाय।४१।

सागर[४] षरस[०,६] ससी[१] रतन संवत भो दुषदाइ।
पिय वियोग जननी मरन करन न भूल्यो जाइ ॥४२॥

१. सागर फर रस ससि रतन
(हाशिये में 'ससि' का 'सी' दीर्घ है)।४२।

पिय वियोग दावा दही रत(न) काल नगिचाय।
निज कर दाहें आइ तन तौ मन अबहु सिराय ॥४३॥

१. रतन, अवहुँ।४३।

जनम जनम पिय पद पदम रहै राम अनुराग।
पिय विछुरन होइ न कवहुं पावहुं अचल सुहाग ॥४४॥

१. कवहुँ, पावहुँ।४४।

२. पिअ, रहे, पिअ, कभंऊ, पावौं।२०।

रतन प्रेम डंडी तुला पला जुरे इकसार।
एक बाट पीडा सहै एक गेह संभार ॥४५॥

१. वाट।४५।

पति गति पति वित मीत पति पति गुर सुर भरतार।
रतनावलि सरवस पतिहि वंधु वंद्य जगसार ॥४६॥
१. × ।४६।
२. गुरु, रतनावली, वंदि ॥३०॥

पति के सुष सुष मानती पति दुष देषि दुषाति।
रतनावलि धनि द्वैत तजि तिय पिय रूप लषाति ॥४७॥
१. × ।४७।
२. रतनावली, दुऐति, तिग्र, पिग्र, रूप ।५४।

सब रस रस इक ब्रह्म रस रतन कहत बुध लोय।
पै तिय कहं पिय प्रेम रस विंदु सरिस नहिं सोय ॥४८॥
१. ब्रह्म, कहूँ, नहि ।४८।

तिय जीवन तेमन सरिस तौलौं कछुक रुचै न।
पिय सनेह रस रामरस जौ लों रतन मिलै न ॥४९॥
१. तौलो, रुचै, जौ लौ ।४९।

पिय सांचो सिंगार तिय सब झूंठे सिंगार।
सब सिंगार रतनावली इक पिय बिनु निस्सार ॥५०॥
१. सांचो, सव, विनु ।५०।
२. पिय, सांचो, सिंघार, तिग्र, झुठे, सिंघार, सिंघार, निसार ।१४।

नेह सील गुन वित रहित कामी हू पति होइ
रतनावलि भलि नारि हित पुज्ज देव सम सोइ ॥५१॥
१. हूँ, होय, सोय ।५१।
२. पूजिग्र देव सम होइ ।२१।

अंध पंगु रोगी वधिर सुतहि न त्यागति माइ।
तिमि कुरूप दुरगुनि पतिहि रतन न सती बिहाइ ॥५२॥
१. माय, कुरूप, दुरगुन, विहाय ।५२।

कूर कुटिल रोगी ऋनी दरिद मंद मति नाह।
पाइ न मन अनषाइ तिय सती करति निरवाह ॥५३॥
१. × ।५३।
२. क्रूर, रिनी, अनुषाइ, तिग्र ।५६।

बन बाघिनि आमिष भषति भूषी घासु न षाइ।
रतन सती तिमि दुष सहति सुष हित अघ न कमाइ ॥५४॥
१. वन, भकति ।५४।

विपति कसौटी पै विमल जासु चरित दुति होइ।
जगत सराहन जोग तिय रतन सती है सोइ ॥५५॥
१. होय, सोय ।५५।

सती बनत जीवन लगै असती वनत (न) देर।

गिरत देर लागै कहा चढ़िवौ कठिन सुमेर ।।५६।।

१. चढ़िवो, वनत न देर ।५६।

बाल वैस ही सों धरौ दया धरम कुल कानि ।
बडे भएं रतनावली कठिन परैगी बानि ।।५७।।

१. वाल, बडे, भयें, वानि ।५७।

बारे पन सों मातु पितु जैसी डारत बानि ।
सो न छुटायें पुनि छुटति रतन भयेहुं सयानि ।।५८।।

१. वारे, वानि, छुटाये, छुटत ।५८।

नाच विषय रस गीत गंधि भूषन भ्रमन विचारु ।
अंगराग आलस रतन कन्यहि हित न सिंगारु ।।५६।।

१. गँधि, विचारु, सिंगारु ।५६।

लरिकन संग षेलनि हंसनि वैठनि रतन इकंत ।
मलिन करन कन्या चरित हरन सील कहें संत ।।६०।।

१. × ।६०।

नयन वचन तिय वसन निज निरमल नीचे धार ।
करतब रतन विचार तिमि ऊंचे राषि उदार ।।६१।।

१. करतव, ऊँचे ।६१।

हंसन कसन हिचकन छिकन अंगडन ऊँचे बैन ।
गुरु जन सनमुष भल न निज ऊंचे आसन नैन ।।६२।।

१. हँसन, गुरु ।६२।

सदन भेद तन धन रतन सुरति सुभेषज अन्न ।
दान धरम उपकार पर राषि बधू परछन्न ।।६३।।

१. उपकार तिमि राषि वधू ।६३।

भूषन रतन अनेक जग पै न सील सम कोइ ।
सील जासु नैनन बसत सो जग भूषन होइ ।।६४।।

१. वसत ।६४।

सत्य सरसवानी रतन सील लाज जे तीन ।
भूषन साजति जो सती सोभा तासु अधीन ।।६५।।

१. × ।६५।

सुवरन मय रतनावली मन मुकता हारादि ।
एक लाज बिनु नारि कहँ सब भूषन जग वादि ।।६६।।

१. रतनावली, मनि, विनु, सव ।६६।

२. रतनावली, ऐक, विनु, नारिकों, भृषन ।५१।

ऊँचे कुल जनमें रतन रूपवती पुनि होइ ।
धरम दया गुन सील बिनु ताहि सराह न कोइ ।।६७।।

१. ऊँचे, रूप, विनु ।६७।

स्वजन सषी सों जनि करहु कबहू ऋन व्यौहार।
ऋन सों प्रीति प्रतीति तिय रतन होति सब छार ॥६८॥

१. करहुँ, कबहु ।६८।

रतन हास पर घर गमन षेल देह सिंगार।
तजि उतसवन विलोकिवौ लहि वियोग भरतार ॥६९॥

१. × ।६९।

रतन झरोषन झांकिवौ तिमि वैठनि गृहद्वार।
वात बात प्रलपन हंसन तिय दूषन दातार ॥७०॥

१. झाँकिवो, वातवात ॥७०॥

मदक पान पर घर वसन भ्रमन सयनु विनु काल।
पृथक वास पति दुष्ट संग षट तिय दूषन जाल ॥७१॥

१. × ।७१।
२. भ्रिमन, सयन, प्रिथक, दुसट, तिग्र, दृषन ।७२।

कबहुं अकेली जनि करहु सन्तहु निकट पयान।
देषि अकेली तिय रतन तजत संतहू ग्यान ॥७२॥

१. कवहुँ, करहुँ, ज्ञान ।७२।

घर घर घूमनि नारिसों रतनावलि मित बोलि।
इनसों प्रीति न जोरि बहु जनि गृह भेद नु षोलि ॥७३॥

१. वोलि, वहु ।७३।
२. वोलि, वहु, ग्रह ।८८।

क्रोध जुआ व्यभिचार मद लोभ चोरि मद पान।
पतन करावन हार जे रतनावली महान ॥७४॥

१. × ।७४।
२. विभचार ।८९।

बहु हंसनी बहु बोलनी वतकट जिभचट नारि।
बड़ बोलनि दूतिनि रतन लहतीं दूषन भारि ॥७५॥

१. वहु, वड़ वोलनि, दूषनि ।७५।
२. वहु, वहु, वड वोलनि ।९०।

कबहूं नारि उतार सों करिय न बैर सनेह।
दोऊ विधि रतनावली करत कलंकित एह ॥७६॥

१. कवहूं, वैर, दोउ ।७६।
२. कवहूं, वैर, ऐह ।९१।

वनिक फेरुआ भिच्छुकन जनि कबहूं पतिआइ।
रतनावलि जेइ रूप धरि ठग जन ठगत अमाइ ॥७७॥

१. कवहूँ, फेरुआ, कवहूँ, रूप ;७७।
२. फेरुआ, भिछुकन, कबउ, रतनाबलि,
रुप, भ्रिरमाइ ॥७५॥

अनजाने जन को रतन कबहु न करि विसवास।
वस्तु न ताकी षाइ कछु देइ न गेह निवास ॥७८॥

१. कवहु ।७८।

करमचारि जन सौं भली जथा काज बतरानि।
बहु बतानि रतनावली गुनि अकाज की षानि ॥७६॥

१. वतरानि, वहु, बतानि, रतनावली ।७६।

२. करमचारी, वतरानि, वहुवतानि,
रतनावली ।१०५।

अनृत वचन मायारचन रतनावली विसारि।
माया अनिरत कारने सती तजीं त्रिपुरारि ॥८०॥

१. तजी, त्रिपुरारि ।८०।

२. अनिरत, त्रिपुरारि ।१०८।

साहस सों रतनावली जनि करि कबहूं नेह।
सहसा पितु घर गौन करि सती जराई देह ॥८१॥

१. × ।८१।

२. कवहूं, जराई ।१०६।

अगिनि तूल चकमक दिया निसि महँ धरहु संभारि।
रतनावलि जनु का समय काज परहि लेउबारि ॥८२॥

१. सम्हारि, वारि ।८२।

२. सम्हारि, परैं, वारि ।१०३।

आलस तजि रतनावली जथा समय करि काज।
अबको करिवौ अवहि करि तवहि पुरें सुष साज ॥८३॥

१. करिवो, अवहि, पुरैं ।८३।

२. अवको, करिवो अवहि ।१११।

रतनावलि सबसों प्रथम जगि उठि करि गृह काज।
सबनु सुवाइहि सोइ तिय धरि संभारि गृहसाज ॥८४॥

१. सवसो, सवनु, सुवहि, सम्हारि ।८४।

२. सवसों, प्रिथम, सवनु, सुवाइहि,
सम्हारि ॥११२॥

तू गृह ह्री श्री धी रतन तू तिय सकति महान।
तू अबला सवला वनें धरि उर सती विधान ॥८५॥

१. तू गृह श्री ह्री धी रतन, अवला ।८५।

रतन रमा सी सुष सदन बनि सारद धरि ग्यान।
षलन दलन हित कालिका बनि कर धारि कृपान ॥८६॥

१. वनि, ज्ञान, वनि ।८६।

सासु ससुर पति पद परसि रतनावलि उठि प्रात।

सादर सेइ सनेह नित सुनि सादर तेहि बात ।।८७।।

१. वात ।८७।

सासु ससुर पति पद रतन कुल तिय तीरथ धाम ।
सेवहि तिय जग जस लहहि पुनि पति लोक ललाम ।।८८।।

१. सेवइ, लहै ।८८।

मात पिता सासुहु ससुर ननद नाथ कटु वैन ।
भेषज सम रत्नावली पचत करत तन चैन ।।८९।।

१. सासू, तनु ।८९।

२. सासु, चेन ।६९।

जननि जनक भ्राता बडौ होइ जु निज भरतारु ।
पढइ नारि इन चारि सों रतन नारि हित सार ।।९०।।

१. वड़ो, पठइ ।९०।

२. भ्रिता, होई, पढे, चारिसो ।।५५।।

जुवक जनक जामात सुत ससुर दिवर अरु भ्रात ।
इनहूं की एकांत बहु कामिनि सुनि (जनि) बात ।।९१।।

१. अरु, इनहूँ, एकान्त, वहु, कामिनि
सुनि जनि बात ।९१।

२. अरु, भिरात, ऐकांत, जिन बात ।४३।

रतनावलि पति छांडि इक जेते नर जग मांहि ।
पिता-भ्रात सुत सम लषहु दीरघ सम लघु आहि ।।९२।।

१. छाँडि, माहि, आहि ।९२।

२. छाडि, माँइ, भ्रिरात, लषौ, आइ ।७३।

सासु जिठानिहि जननि सम ननदहि भगिनि समान ।
रतनावलि निज सुत सरिस देवर करहु प्रमान ।।९३।।

१. सासु जिठानि जननि सम ।९३।

२. जिठानीहि, करौ, प्रिमान ।७४।

सौतिहि सषि सषि सम व्यवहरहु रतन भेद करि दूरि ।
तासु तनय निज तनय गनि लहहु सुजस सुष भूरि ।।९४।।

१. सौतिहि सषि सम व्यवहरौ, लहौ ।९४।

गुरु सषि बांधव भृत्य जन जथा जोग गुनि चित्त ।
रतन इनहिं सादर सदा बरतहु वितरहु वित्त ।।९५।।

१. गुरु, वांधव, चित्त, इनहि, वरतहु, वित्त ।९५।

पति पितु जननी बंधु हितु कुटुम परोसि विचारि ।
जथा जोग आदर करहि सो कुलवंती नारि ।।९६।।

१. वंधु, करै ।९६।

२. करै ।६२।

धरि धुवाइ रतनावली निज पिय पाट पुरान ।

जथा समय जिन दै करहु करमचारि सनमान ।।९७।।

१. × ।९७।

तन मन अन भाजन वसन भोजन भवन पुनीत ।।
जो राषति रतनावली तेहि गावत सुर गीत ।।९८।।

१. × ।९८।

२. जे, तिहि ।७०।

धन जोरति मित व्यय धरति घर की वस्तु सुधारि ।
सूप करम आचार कुल पतिरत रतन सुनारि ।।९९।।

१. × ।९९।

२. वसतु संभारि, सूप ।७१।

जे न लाभ अनुसार जन मित व्यय करहिं विचारि ।
ते पाछे पछितात अति रतन रंकता धारि ।।१००।।

१. पाछें ।१००।

तन मन पति सेवा निरत हुलसे पति लषि जोय ।
इक पति कहं पूरुष गनै सती सिरोमनि सोय ।।१०१।।

१. तनसन, हुलसै, कह पूरष, सि(रो)मनि ।१०१।

२. जोइ, पुरुष, गिनै, सोइ ।६१।

बारी पितु आधीन रहि जौवन पति आधीन ।
बिनु पति सुत आधीन रहि पतित होति स्वाधीन ।।१०२।।

१. वारी ।१०२।

२. वारी, जोबन, सुआधीन ।३७।

पितु पति सुत कुल पृथक रहि पाव न तिय कल्यान ।
रतनावलि पतिता बनति हरति दोउ कुल मान ।।१०३।।

२. सुतसों अलग रहि, पावै न तिअ कलिआन ।२२।

चिनगारिहु रतनावली तूलहि देति जराय ।
लघु कुसंग जिमि नारि को पतिव्रत देत डिगाय ।।१०४।।

१. तूलिहिं, तिमि नारि को ।१०४।

२. रतनाबली, तृलहि, जराइी, तिमि नारि
को, पतिविरत, डिगाइी ।

छनहु न करि रतनावली कुलटा तिय को संग ।
तनक सुधाकर संग सों पलटति रजनी रंग ।। १०५ ।।

१. छनहुं ।१०५।

२. छिनउ, तिअ, तनक सुधा
षों गसो लषो पलटति ।५७।

धिक तिय सो परपति भजति कहि निदरत जग लोग ।
विगरत दोऊ लोक तिहि पावति विधवा जोग ।।१०६।।

१. बिगरत, तेहि ।१०६।

२. सो तिअ, निदरति, विगरति, दोउ, तिहि ।२८।

दीन हीन पति त्यागि निज करति सुपति परवीन ।
दो पति नारि कहाय धिक पावति पद अकुलीन ॥१०७॥

१. × ।१०७।

२. तिआगि, कहाइ, पावति कुल अकुलीन ।२७।

एकुहि जगदाधार तिमि एकुहि तिय भरतार ।
वचन सुजन को एकु ही रतन एकु जग सार ॥१०८॥

१. × ।१०८।

जो व्यभिचार विचार उर रतन धरै तिय सोय ।
कोटि कलप वसि नरक पुनि जनमि कूकरी होय ॥१०९॥

१. × ।१०९।

२. धरे, तिअ, सोई, कूकरी, होई ।४७।

धरम सदन संतति चरित कुल कीरति कुल रीति ।
सबहि विगारत नारि इक करि पर नरसों प्रीति ॥११०॥

१. सवहि ।११०।

२. नरसो ।४६।

घी को घट है कामिनी पुरुस तपत अंगार ।
रतनावलि घी अगिनि को उचित न संग विचार ।१११।

१. पुरुष, अगिन को ।१११।

२. घट हे, पुरुष ।४४।

जो तिय संतति लोभ बस करति अपर नर भोग ।
रतनावलि नरकहिं परत ज(ग) निदरत सब लोग ॥११२॥

१. वस, नरकहि, जगनिदरत ।११२।

२. तिअ, वस, भोगु, नरकै, जग, लोगु ।६०।

जो तिय संतति काज उर अहित धरहिं परकीय ।
ते न लहहि संतति रतन कोटि जनम लगि तीय ॥११३॥

१. × ।११३।

बार बधू रथ चढ़ि चलइ धारि रतन सिंगार ।
पैंदर दीन सती सरिस होइ न महिमागार ॥११४॥

१. वारवधू, चलै ।११४।

रतनावलि जिय जानि तिय पतिव्रत सकति महान ।
मृत पतिहू जीवित कर्यो सावित्री सतिवान ॥११५॥

१. × ।११५।

२. जिअ, तिअ, पति व्रिरत, महानु, व्रिरत,
पतिउ, सावितरी सतिवानु ॥५८॥

जाके कर में कर दयो मात पिता वा भ्रात ।
रतनावलि सह वेद विधि सोइ कह्यो पति जात ॥११६॥

१. करमै ।११६।

२. करमे, भिरात ।२६।

पति सनमुष हंसमुष रहति कुसल सकल गृह काज।
रतनावलि पति सुषद तिय धरति जुगल कुल लाज ।।११७।।

१. हँस ।११७।

२. घर काज, तिग्र ।२३।

जो मन वानी देह सों पियहि नाहिं दुष देति ।
रतनावलि सो साधवी धनि सुष जग जस लेति ।।११८।।

१. नाहि ।११८।

२. देहसो, पिग्रहि, नांइ ।२४।

उद्यापन तीरथ वरत जोग जग्य जप दान ।
रतनावलि पति सेव बिन सबहि अकारथ जान ।।११६।।

१. विन, सवहि ।११६।

२. उदिग्रापन, विरत, जोग जगि,
विन, सवै ।३८।

रतनावलि न दुषाइये करि निज पति अपमान ।
अपमानित पति के भएँ अपमानित भगवान ।।१२०।।

१. भये ।१२०।

२. दुषाइऐ, भऐ ।३६।

सात पैग जा संग भरे ता संग कीजै प्रीति ।
सब विधि ताहि निवाहिये रतन वेद की रीति ।।१२१।।

१. सव ।१२१।

२. भरै, निभाइऐ ।४०।

जाने निज तन मन दयो ताहि न दीजै पीठि ।
रतनावलि तापै रषहु सदा प्रेम की दीठि ।।१२२।।

१. प्रीति की दीठि ।१२२।

२. पीठी, रषौ ।४१।

अनाचार धननास रत निज पति रतन लषाहि ।
लहि औसर समुचित वचन रहसि बोधिये ताहि ।।१२३।।

१. लषाइ, वोधिये ।१२३।

सत संगति उपबास जग तप मष जोग विवेक ।
पति सेवा मन वच करम रतनावलि उर एक ।।१२४।।

१. X ।१२४।

२. उपवास, जोगु, विवेकु, पती,
रतनावली, ऐकु ।४८।

पति के जीवत निधन हूँ पति अनरूचत काम ।
करति न सो जग जस लहति पावति गति अभिराम ।।१२५।।

१. हूँ, अनरूचत ।१२५।

२. अनरुचत ।२५।

रतनावलि पति सों अलग कह्यो न बरत उपास ।
पति सेवति तिय सकल सुख पावति सुरपुर वास ॥१२६॥

१. × ।१२६।

२. पतिसो, तिअ ।२६।

बिनु पति पति जगपति सुमिरि साक मूल फल षाइ ।
बिरमचर्ज व्रत धारि तिय जीवन रतन वनाइ ॥१२७॥

१. विनु, विरमचरज ।१२७।

२. विनु, साग, विरमचरज, विरत, तिअ ।४२।

जीवत पति सासन गहै सेवहि ताहि सप्रेम ।
गएँ सतीव्रत अनुसरहि पतिहित जप तप नेम ॥१२८॥

१. गयें, अनुसरें ।१२८।

२. गहे, सवे, ताइ, गऐ, सतीव्रित, अनुसरे ।५२।

धनि तिय सो रतनावली पति संग दाहैं देह ।
जोलों पति जीवत जियें मरत मरें पति नेह ॥१२९॥

१. जिये ।१२९।

२. तिअ, दाहे, जोलो, जिए, मरे ।५३।

धन सुष जन सुष बंधु सुष सुत सुष सर्वहिं सराहि ।
पै रतनावलि सकल सुष पिय सुष पटतरि नाहिं ॥१३०॥

१. × ।१३०।

२. सर्वै, सरांहि, पे, रतनावली,
पिअ, पटतर, नाहि ।६७।

मात पिता भ्रातादि सब जे परिमित दातार ।
रतनावलि दातार इक सरबस को भरतार ॥१३१॥

१. सव ।१३१।

२. परीमित ।१०४।

आपनु मन रतनावली पिय मन महं करि लीन ।
सती सिरोमनि होइ धनि जस आसन आसीन ॥१३२॥

१. × ।१३२।

२. आपन, पिअ, मनमें ।६८।

जे तिय पति हित आचरहिं रहि पति चित अनुकूल ।
लषहिं न सपनेहुँ पर पुरुष ते तारहिं दोउ कूल ॥१३३॥

१. सपनेहुँ, पुरुष, तारहि ।१३३।

२. तिअ, आचरै, रइ पति चित अनुकूल, लषै,
सपनिउ, पुरुष, तारै, कूल ।५०।

उदर पाक करपाक तिय रतनावलि गुन दोय ।

सील सनेह समेत तौ सुरभित सुवरन सोय ।।१३४।।

१. × ।१३४।

२. तिग्र, रतनावली, दोइी, तो, होइी ।४६।

चतुर वरन कहं विप्र गुरु अतिथि सवन गुरु जानि ।
रतनावलि जिमि नारि कहँ पति गुरु कह्यो प्रमानि ।।१३५।।

१. चतुरवरन को विप्रगुरु,
गुरु, नारि को, गुरु ।१३५।

२. वरन को, अतिथी, गुरु, जान,
तिमि, नारिको, प्रिरमान ।६४।

तीरथ न्हान उपास व्रत सुर सेवा जप दान ।
स्वामि विमुष रतनावली निसफल सकल प्रमान ।।१३६।।

१. × ।१३६।

२. व्रिरत, प्रिरमान ।६३।

देति मंत्र सुठि मीत सम नेहिनि मातु समान ।
सेवति पति दासी सरिस रतन सु तिय धनि जान ।।१३७।।

१. × ।१३७।

रतन देह पति कौ भयौ तोहि कहा अधिकार ।
पति समुहें पाछें रतन रहि पति चित अनुसार ।।१३८।।

१. पति को भयो ।१३८।

सुर भूसुर ईसुर रतन साषी सुजन समाज ।
पतिहि वचन दीने सुमिरि पालि धारि उर लाज ।।१३९।।

१. × ।१३९।

बचन हेत हरिचंद नृप भए स्वपच के दास ।
वचन हेक दसरथ दयौ रतन सुतहि बनवास ।।१४०।।

१. भये, सुपच, वनवास ।१४०।

वचन हेत भीषम कर्यौ गुरुसों समर महान ।
वचन हेत नृप वलि दयो षरवहि सरवस दान ।।१४१।।

१. कर्यो, गुरु ।१४१।

वचन आपनो सत्य करि रतन न अनिरत भांषि ।
अनृत भाषिवौ पाप पुनि उठति लोक सों साषि ।।१४२।।

१. भाँषि, भाँषिवो ।।१४२।।

कन्या दान विभाग अरु वचन दान जे तीन ।
रतनावलि इक बार ही करत साधु परवीन ।।१४३।।

१. अरु ।१४३।

२. अरु ।६५।

सुजन वचन सरिता समय रतन बान अरु प्रान ।
गति गहि जे नहिं बाहुरत तुपक गुटी परिमान ।।१४४।।

१. वान अरु, वाहुरत ।१४४।

पतिहि कुदीठि न लषि रतन जनि दुरवचन उचारि ।
पतिसों रूठि न रोस करि तिय निज धरम संभारि ॥१४५॥

१. रूठि, रोष, सम्हारि ।१४५।

नर अधार बिनु नारि तिमि जिमि स्वर बिनु हल होत ।
करनधार बिनु उदधि जिमि रतनावलि (गति) पोत ॥१४६॥

१. विनु, विनु, रतनावलि गति पोत ।१४६।

विस अपजस पीऊस जस रतनावली निहारि ।
जियत मरें लहि मृत जियें विस तजि अमिरत धारि ॥१४७॥

१. विष, पीऊष, विष ।१४७।

२. विष, पीऊष, नीहारि, जिअत,
मिरत, विष, अम्रित ॥८१॥

सुजस जासु जौलौं जगत तौलों जीवत सोइ ।
मारेहू मरत न रतन अजस लहत मृत होइ ॥१४८॥

१. सोय, होय ।१४८।

दुष्ट नारि जिमि मीत सठ ऊतर दैनो दास ।
रतनावलि अहिवास घर अंत काल जनु पास ॥१४९॥

१. तिमि, दैनो, (अहि) वास ।१४९।

२. दुसट नारि तिमि, उतर देनो ।६६।

रतनावलि धरमहि रषत ताहि रषावत धर्म ।
धरमहि पातति सो पतति जेहि धरम को मर्म ॥१५०॥

१. धरमहिं, धरमहिं ।१५०।

२. रतनावलि धरमहिं रषत, धरम,
धरमहिं, मरम ।८०।

मैन नैन रसना रतन करन नासिका सांच ।
एकहि मारत अवस ह्वै स्ववस जिआवत पांच ॥१५१॥

१. व्है, जियावत, पाँच ।१५१।

रतन करहु उपकार पर चहहु न प्रति उपकार ।
लहहिं न बदलो साधु जन बदलो लघु व्यौहार ॥१५२॥

१. वदलो, वदलो ।१५२।

परहित जीवन जासु जग रतन सफल है सोइ ।
निज हित कूकर काक कपि जीवहिं का फल होइ ॥१५३॥

१. × ।१५३।

रतनावलि छनहूं जियै धरि पर हित जस ग्यान ।
सोई जन जीवत गनहु अनि जीवत मृत मान ॥१५४॥

१. छनहूँ, ज्ञान, गनहुँ ।१५४।

२. छिनहूं, सोई, म्रत ।७९।

जे निज जे पर भेद इमि लघु जन करत विचार ।
चरित उदारन को रतन सकल जगत परिवार ॥१५५॥
अस करनी करि तू रतन सुजन सराहें तोइ ।
तुव जीवन लषि मुद लहहिं मरें करें दुष रोई ॥१५६॥

१. तुम जीवन, लहै, मरें करैं सुधि रोइ ।१५६।

सोइ सनेही जे रतन करहिं विपति में नेह ।
सुष संपति लषि जन वहुत वनहिं नेह के गेह ॥१५७॥

१. वनें ।१५७।

विपति परें जे जन रतन निवहें प्रीति पुरानि ।
हितू मीत सतिभाय ते पै न वहुत जिय जानि ॥१५८॥

१. निवहैं ।१५८।

रतनावलि मुष वचन हूं इक सुष (दुष) को मूल ।
सुष सरसावत वचन मधु कटु उपजावत सूल ॥१५९॥

१. हूँ, इक सुष दुष को मूल ।१५९।
२. वचन ही, सुषदुष ।३४।

मधुर असन जनि देउ कोउ बोलौ मधुरे वैन ।
मधु भोजन छिन देत सु वैन जनम भरि चैन ॥१६०॥

१. वोलो ।१६०।
२. वौलौ ।३५।

रतनावलि कांटो लग्यो वैदनु दयो निकारि ।
वचन लग्यो निकस्यो न कहुं उन डारो हिय फारि ॥१६१॥

१. निकस्यौ, कहुँ ।१६१।
२. हिअ ।३६।

रतन भाव भरि भूरि जिमि कवि पद भरत समास ।
तिमि उचरहु लघु पद करहि अरथ गंभीर विकास ॥१६२॥
परहित करि वरनत न वुध गुपत रषहिं दै दान ।
पर उपकृति सुमिरत रतन करत न निज गुन गान ॥१६३॥
भलहिं होइ दुरजन गुनीं भली न तासों प्रीति ।
विसधर मनिधर हू रतन डसत करत जिमि भीति ॥१६४॥

१. भलें, तासौं, विष ।१६४।

भल इकलो रहिबो रतन भलो न षल सहवास ।
जिमि तरु दीमक संग लहै आपन रूप विनास ॥१६५॥

१. तरु, रूप ।१६५।

रतन वांझ रहिवो भलो भले न सौउ कपूत ।
वाँझ रहै तिय एक दुख पाइ कपूत अकूत ॥१६६॥

१. वाँझ, भलौ, बाँझ रहे ।१६६।

कुल के एक सपूत सों सकल सपूतीं नारि ।

रतन एकुही चन्द जिमि करत जगत उजियारि ॥१६७॥

१. सपूती, एकही ।१६७।

वालहि लालहु अस रतन जो न ओगुनी होइ ।
दिन दिन गुन गुरुता गहै साँचो लालन सोइ ॥१६८॥

१. गुरुता ।१६८।

वालहि सीष सिषाइ अस लषि लषि लोग सिहायं ।
आसिष दें हरषें रतन नेह करें पुलकायं ॥१६९॥

१. सिहांय, पुलकाय ।१६९।

सस्त्र सास्त्र वीना तुरग वचन लुगाई लोग ।
पुरुष विसेसहि पाइ जे वनत सुजोग अजोग ॥१७०॥

१. पुरुष, विशेषहि ।१७०।

२. लुगाइी, पुरुष, विसेषहि ।९२।

जारजात मूरष दरिद सुत विद्या धन पाइ ।
तृन समान मानत जगहिं रतनावलि वौराइ ॥१७१॥

१. पाय, वौराय ।१७१।

२. जगहि ।९३।

फूलि फलहिं इतराइं षल जग निदरहिं सतराइं ।
साधु फूलि फलि नइ रहहिं सबसों नइ वतराइं ॥१७२॥

१. फलहि, इतराइ, निदरहि,
सतराय, रहें, सवसों वतराय ।१७२।

२. फलें, रहें, सवसों ।९४।

एकु एकु आँषरु लिषें पोथी पूरति होइ ।
नेकु धरम तिमि नित करहु रतनावलि गति होइ ॥१७३॥

१. आंषरु, नेकु करौ ।१७३।

२. आंषरु, नेकु, करें ।९५।

दान भोग अरु नास जे रतन सुधन गति तीन ।
देत न भोगत तासु धन होत नास मह लीन ॥१७४॥

१. अरु, नास में लीन ।१७४।

२. अरु, नास में ।८३।

तरुनाई धन देह बल वहु दोसनु आगार ।
विनु विवेक रतनावली पसु सम करत विचार ॥१७५॥

१. तरुनाई, वल, दोषनु ।१७५।

२. तरुनाइी, वल, दोष्नु, विन ॥८४॥

पांच तुरग तन रथ जुरे चपल कुपथ लै जात ।
रतनावलि मन सारथिहि रोकि रुकें उतपात ॥१७६ ॥

१. रुकें ।१७६।

२. रुकें ।८५।

रतनावलि उपभोग सों होत विसय नहिं सांत ।
ज्यों ज्यों हवि होमें अनल त्यों त्यों बढत नितांत ।।१७७।।

१. विषय, नहि सान्त, नितान्त ।१७७।

२. उपभोग सो, विसे, होमे ।५६।

रतन न पर दूषन उगटि आपनु दोस निवारि ।
तोहि लषहिं निरदोस वे दें निज दोस विसारि ।।१७८।।

१. दोष, लषें निरदोष, दोष ।१७८।

२. आपन दोष, लषें, निरदोष, दोष ।८६।

करहु दुषी जनि काहु को निदरहु काहु न कोइ ।
को जानें रतनावली आपनि का गति होइ ।।१७९।।

१. कोय, जाने होय ।१७९।

२. काहु कों, कोय, होय ।८७।

रतन जनक धन ऋन उऋन वहु जग जन गन होइ ।
पै जननी ऋन सों उऋन होइ विरल जन कोइ ।।१८०।।

१. × ।१८०।

तन धन जन वल रूप को गरव करौ जनि कोइ ।
को जानै विधि गति रतन छन महँ कछु कछु होइ ।।१८१।।

१. रूप, कोय, छनमें, होय ।१८३।

उदय भाग रवि भीत बहु छाया बड़ी लषाति ।
अस्त भएं निज मीत कहँ तनु छाया तजि जाति ।।१८२।।

१. वहु, वड़ी, भये, कहँ ।१८२।

२. वहु, वडी, भयें ।८२।

सवरन स्वर लघु द्वै मिलत दीरघ रूप लषात ।
रतनावलि असवरन द्वै मिलि निज रूप नसात ।।१८३।।

१. रूप, रूप, रूप ।१८३।

स्रम सों वाढ़त देह बल सुष सम्पति धन कोस ।
विनु स्रम बाढत रोग तन रतन दरिद दुष दोस ।।१८४।।

१. वल, कोष, दोष ।१८४।

जो जाको करतव सहज रतन करि सकै सोइ ।
वा वा उचरतु ओठ ही हा हा गलसों होइ ।।१८५।।

१. सोय, उचरत, ओठसों, होय ।१८५।

ऊपर सों हरि लेत मन गाँठि कपट उर माहिं ।
बेर सरिस रतनावली बहु नरनारि लषाहिं ।।१८६।।

१. वेर ।१८६।

२. उपर सो, माइं, वेर, लषाइं ।।७६।।

उर सनेह कोमल अमल ऊपर लगें कठोर ।
नरियर सम रतनावली दीसहिं सज्जन थोर ।।१८७।।

२. नरिग्रर, दीषे, साजन ।७७।

भीतर वाहिर एकसे हितकर मधुर सुहायं।
रतना(वलि) फल दाष से जन कहुँ कोउ लषायं ॥१८८॥

१. सुहायँ, रतवलि फलदाष से.
कहुँ, लषायँ ।१८८।

२. बाहीर, ऐकसे, सुहाइं,
रतनावलि, लषाइं ।७८।

यौवन प्रभुता भूरि धन रतनावलि अविचार।
एकु एकु अनरथ करै किमु समुदित जदि चार ॥१८९॥

२. जौवन, रतनावली ।१००।

मन वानी अरु करम महं सतजन एक लषायं।
रतन जोइ विपरीत गति दुरजन सोइ कहायं ॥१९०॥

१. अरु, करम में, लषायँ, कहायँ ।१९०।

२. अरु, करम में, लषाइं, जोई, कहाइं ।१०६।

जे उपकारी को रतन करत मूढ अपकार ॥
ते जग अपजस लहत पुनि मरें नरक अधिकार ॥१९१॥

रतनावलि नइ चलि सदा नइ सुभाइ बतराइ।
नारि प्रसंसा नइ रहें नित नूतन अधिकाइ ॥१९२॥

१. प्रशंसा ।१९२।

२. रहे ।११०।

षल रिपु वस परि जे रषहिं सतिपन सुजुगति पूरि।
पतिवरता तिन तियनु की रतनावलि पग धूरि ॥१९३॥

२. पतिव्ररता ।१०७।

रतनावलि करतव समुझि सेइ पतिहि निषकाम।
तप तीरथ व्रत फल सकल लहहि वैठि घर वाम ॥१९४॥

१. लहै ।१९४।

पति वरतत जेहि वस्तु नित तेहि धरि रतन संभारि।
समय समय नित दै पियहि आलस मदहि विसारि ॥१९५॥

१. पतिवरतन, सम्हारि ।१९५।

विरध सतिनु ढिग वैठि तिय तेहि अनुभौ धरि ध्यान।
तेहि अनुसारहि वरति तेहि राषि रतन सनमान ॥१९६॥

पुन्य धरम हित नित पतिहि रहि बढाय उतसाह।
ताहि पुन्य निज गुनि रतन पुन्य करत जो नाह ॥१९७॥

१. वडाय ।१९७।

तुव पिय नित नित हरि भजत तू तिय सेवति ताहि।
जासु भजन तिय तुव भजन रतन न मनहि भ्रमाहि ॥१९८॥

१. सेविति ताइ। तासु भजन, भ्रमाइ ।१९८।

सती धरम धरि जांचि नित हरि सों पति कुसलात ।
जनम जनम तुव तिय रतन अचल रहहि अहिवात ।।१९९।।

१. जाचि, रहै अहिवात ।१९९।

जो तिय मन वच काय सों पिय सेवति हुलसाति ।
तेहि चरननु की धूरि धरि रतनावली सिहाति ।।२००।।
जासु चरित वर अनुसरहि सतवंती हरषाइ ।
ता इक नारी रतन पै रतनावलि बलि जाइ ।।२०१।।

१. अनुसरैं ।२०१।
२. अनुसरैं ।१११।

इति श्री रतनावलिकृत दोहा रतनावली संपूर्ण ।। संवत् १८२४।। भाद्रपद मासे कृष्णपक्षे ३० अमावस्याम् सोमवासरे ।। लिषितम् गोपालदासेन मुंशी माधौराइ निमित्तम् ।। शुभम् भवतु ।।

राम ।। राम ।। राम ।। राम ।। राम ।। राम ।। राम ।। राम ।।

मंगलं भगवान् विष्णुर्मंगलं गरुडध्वजं
मंगलं पुंडरीकाक्ष मंगलायतनो हरिः ।।१।। शुभम्[1]

१. इति श्री साधवी रतनावलि की दोहा रतनावली संपूरनम् शुभम् संवत् १८२९ भादौ शुदि ३ चन्द्रे लिषितम् गंगाधर ब्रह्मण जोग मारग समीपे वाराह क्षेत्रे श्रीरस्तु शुभमस्तु ।

२. इतिश्री रतनावली लघुदोहा संग्रिह संपूरनम् ।। लिषितं ह्रीसुरनाथ पंडीत मोरोंजी मिति माह सुदी तेरसि १३ सोमवार संवतु १८७५ में ।। गंगा ।। ह्रीतिशुभम् ।।

जन-श्रुति से संकलित रत्नावली के पद

प्रियतम एक वार गृह आओ ।
अनुचित उचित कर्यो हों कबहू ताहि समुझि समझाओ ।१।
तव वियोग अकुलात हीय अति, धीरज आइ वँधाओ ।
सह्यो न जात दुसह दुख एतो दरस दया दरसाओ ।२।
दिन कितेक नाथ अब बीते नाहिं मोरि सुधि लीनी ।
सुजन पाछिली प्रीति रावरी अहह परी किमि झीनी ।३।
रूठि गये मो वैन सुनत जन कहत सुनत सकुचाऊँ
का अब करों कहाँ अब खोजों कितहू खोज न पाऊँ ।४।
अमित प्रीति परतीति-भाँग तव पाइ रही हों भोई ।
सपनेहूँ न कबहुँ हों जानी, दसा मोरि अस होई ।५।
भूलि जाउँ हों सवै परेखो बीती ताहि विसारों ।
भाग सराहों रतन आपनो जो तव चरन निहारों ।६।

× × ×

काहे नाथ मोहि विसराई ।
इक पति ही परलोक लोक गति वेद पुराननि गाई ।१।

---

१. (उर्दू में) मालिक एन किताब मुंशी माधौराय कायस्थ सकसेना साकिन शहर बदायूं ।

पतिहि सखा गुरु बंधु देव धन सरवस वेद बखानें।
हों अजान ह्वै कहा जनाऊँ जानत आपु भुलानें।२।
नीर छीन सर दीन मीन जिमि, देह जथा विनु देही।
विनु पिय तिय तिमि जती ज्ञान विनु, गेह जथा विनु गेही।३।
जानि कर्यो अपराध न कबहूँ, नाथ आप हू जानें।
भयौ भूलसों होय न जानों, वारिक आइ वखानें।४।
माँगों छमा चरन परि परि हों पदरज निज सिर लाऊँ।
हाहा पाऊँ पधारें निजगृह, रूठे नाथ मनाऊँ।५।
जननी जनक तजी जीवन धन, अब इक आस तिहारी।
सोउ त्यागि कित गये आपु पिय, मेरे हृदय विहारी।६।
कोमल हृदय आपु करुनामय, किमि निज बानि विसारी।
करि करि सुरति विसूरति निसिदिन, दासी रतन तिहारी।७।

× × ×

तुम विनु सब जग मोंहि अंधेरो,
निसि दिन जगत चंद रवि ऊगत, घर घर दीप उजेरो।१।
गृहजन परिजन सदननु देखे, नगर गाम मझियाये,
बूझि बूझि हौं पथिकन हारी, पिय तुम कहूँ न पाये।२।
आवत अति सनेह उर लाये, जात न पद परसाये,
आपनि कही न बूझी मोसों, सोवति छाँड़ि सिधाये।३।
हाट बाट घर बाहिर देखे, नगर गाम मझियाये
ढूंढि ढूंढि हौं सब विधि हारी पिय तुम कहूँ न पाये।४।
कबहुँ न मो बिनु पर्यौ चैन अब, सो मो सुधि विसराई,
का अरपाध भयौ गुरु मोसों, तासों उर रिसि छाई।५।
आहट लेति बाट नित जोहति, आवन आस तिहारी,
रत्नावलि मुख चंद दिखावहु, आय होय उजियारी।६।

× × ×

प्रियतम नाथ वेगि घर आवौ।
तव वियोग दावानल तापित, मम उर आय सिरावौ।१।
तनक होत दुख कबहुँ मोर तन, तुम अति होत दुखारी।
करत विविध उपचार हरत दुख, रहे सदा सहचारी।२।
केतिक रैनि दिवस अब बीते हौं दुख पावति भारी।
अस कस निठुर भए निरमोही तुम निज बानि विसारी।३।
छमहु दोष अज्ञात ज्ञात सब मोहि आपनी जानी।
तजहु रोष उर द्रवहु दया करि निज पद दासी मानी।४।
जीवन धन तुम सरवस मेरे जग इक आस तिहारी।
मो रत्नावलि उभय लोक गति पति तुम ही दुख हारी।५।

रत्नावली चरित

वन्दे गणपति मीशम् ।।
सकल देव पूजित महि हारं मनुज तनुं करि वदनम् ।।
मंगल मूलं गिरिजा तनुजं महोदरं सुख सदनम् ।।वन्दे०।।
विविधभूत गण सेवित पादं चाष्ट सिद्धि दातारम् ।।
ऋद्धि बुद्धि नव विधि प्रदायकं विपुल गुण गणागरम् ।।वन्दे०।।
त्रि नयन मेक दन्त मति दिव्यं विकटं विघ्न विनाशम् ।।
परशु कमल धर माखु वाहनं सिन्दूराभ विकाशम् ।।वन्दे०।।
ओंकाराक्षर रूप मुत्तमं भक्त भद्र कर्त्तारम् ।।
सत्कपित्थ जम्बूफल मोदक भक्षण मेक मुदारम् ।।वन्दे०।।
मौलि मिलित बद्धांजलि नाऽहम् गायन्संस्तव पद्यम् ।।
अधि पाचे मुरलीधर विप्रो मति वैभव मनवद्यम् ।।वन्दे०।।
वन्दे गणपति मीशम् ।।

श्री गणपतये नमः ।। सरस्वत्यै नमः ।।

हरिहर गुरु भक्तः कर्म धर्मानुरक्त
स्त्रि भुवन गत कीर्तिः कान्ति कन्दर्प मूर्तिः ।।
रघुवर गुण गाथा गान शीलो महात्मा
सजयति सुकुलात्माराम सूनुः कवीन्द्रः ।।१।।
रत्नावली वदन चन्द्र चकोर रूपः श्री रामचन्द्र पद पंकज चंचरीकः
श्री शुक्ल वंश तिलक स्तुलसी द्विजेन्द्रो वन्द्यो बुधो जयति शौकर तीर्थ तीर्थे ।।२।

अथ रत्नावली चरित लिष्यते ।।

वन्दों विकट वराह ईस । वन्दों सनकादिक मुनीस ।।
सती सारदहि सीस नाइ । सावित्री सिय गुनन माइ ।।
अरुन्धती दमयन्ति नारि । अनुसूया पुनि गान्धारि ।।
सती भई जे जगत धाम । तिनहिं सवनु कहं करि प्रनाम ।।
रतनावलि की लिषहुं गाथ । तिहि चरनन महं नाइ माथ ।।
जासु चरित है अति गंभीर । तदपि लिषहुं कछु धारि धीर ।।
विदित वेद अघ हरनहारि । पतितनु पावन करन हारि ।।
सुर सरिता के दछिन कूल । धन्य धरनि मांगल्य मूल ।।
निज सुभाव वस जगत नाह । हरि प्रगट्यो जहँ वपु वराह ।।१।।
तासो जे वाराह षेतु । भई भूमि भव तरन सेतु ।।
तीरथ सूकर षेत नाम । भयो विदित जन मुकति धाम ।।

वहु तीरथ जहं रहे राजि। सेवत अघ गन जात भाजि॥
पाई मुनि जन जहां शान्ति। भेंटी निज भव भीति भ्रान्ति॥
आदि तीर्थ जे जगत माहिं। सव तीर्थनु फल है जहांहिं॥
सुरसरि पुनि वाराह षेत। मधुर ऊष पुनि फलहु देत॥
जहं वराह प्रभु सदन एक। सोहत सुर सदनहुं अनेक॥
जवननु डारे वहुत तोरि। पुनि कछु पुनि भगतन लये जोरि॥
जहं सुरसरि की वहति धारि। जनु वराह पद रहि पषार॥
विपुल विप्र जहं करत वास। रहे वेद धरमहिं प्रकास॥३९॥
वांचत नित चित सों पुरान। प्रभु की कीरति करत गान॥
जहं जोगी जन मठ समाधि। वनी दरस सों हरति व्याधि॥
सोरंकी नृप सोम दत्त। भयो जहां श्रुति धरम मत्त॥
तासु दुर्ग अव सेस नाहिं। कछुक चिन्ह ताके लषाहिं॥
सौरंकी नृप के सुनाम। भयो क्षेत्र सोरंक गाम॥
ताके पच्छिम दिशि कछार। वहति पुरातन गंग धार॥
तासु प्रतीची तीर धाम। कबहुं रह्यो नयनाभिराम॥
नाम वदरिका वन प्रसिद्ध। होत मृगादि न जहां विद्ध॥
विविध गुल्म तरु लता जाल। वर पाकर पीपर रसाल॥
कदम निंव जंवू षजूरि। सिसप वदरिन रह्यो पूरि॥
कूजत तहं वहु विध विहंग। सुषि स्वतन्त्र विहरत कुरंग॥
रह्यो शान्ति को थल विसाल। वदरी वन भुइं अन्तराल॥
जहां राजतीं मुनि कुटीर। वही ज्ञान की जहं समीर॥
जहां वसे ऋषि मुनि विरक्त। सिद्ध साधु जोगी सुभक्त॥
सोइ काल वस मुनिन धाम। वन्यो गृहस्थनु वास गाम॥
जाहि वदरिका गाम धाइ। विविध जाति जन वसे आइ॥
वसतु तहां वर विप्र एकु। धारतु निगमागम विवेकु॥
दीन वन्धु पाठक सुनाम। ईश भक्त वहु गुनन ग्राम॥
उपाध्याय की धरत वृत्ति। निरत कर्म षट सुकृत कृत्ति॥
तासु दयावति नाम वाम। पति वरता गुन शील धाम॥
दोउन प्रगटे पुत्र तीन। शिव शंकर शंभू प्रवीन॥
तनया रत्नावलि कनीन। पति पितु कुल जिन पूत कीन॥४१॥
जासु रूप अति मनोहारि। जनु विरंचि विरची सम्हारि॥४२॥
जनक जननि की अति दुलारि। परिजन पुरजन सवै प्यारि॥
वोलति सवसों मधुर वैन। जेहि लषि पावत दुषित चैन॥
जासु हंसनि चितवनि अनूप। शान्ति शील सुष नेह रूप॥
निर्मोही लषि मोहि जात। फिरि नेहिन की कौन वात॥
गूढ ज्ञान की कहति वात। वड़ी वात लघु मुष लषात॥
वालक पन सों गेह काज। सीषि गई सव पाक साज॥

निज भ्रातनु सो पढ़त देषि। आपुहु आंषर पढ़त लेषि ॥
प्रषर वुद्धि तेहि जनक जानि। पाटी वुदिका दयो लानि ॥
कछुक दिननु महं भई जोग। कहहिं सरसुती ताहि लोग ॥
पुनि व्याकरनहुं पितु पढाइ। दीनो कोशहु तेहि घुकाइ ॥
वालमीकि पुनि पढन लागि। गई भारती तासु जागि ॥
पिंगल के कछु अंग जानि। काव्य करन की परी वानि ॥५४॥
शिव . गौरी को धरति ध्यान। पूजति वहु विधि सहित मान ॥५५॥
पितु तनया लषि व्याह जोग। सोचहिं किन घर जासु भोग ॥
ढूंढि फिरे सो वहुरि गाम। भई न पूरी मनोकाम ॥
भये दुषित अति चित्त माहिं। सुता जोग वर मिलत नाहिं ॥
तवहि मीत इक दई आस। गुरु नृसिंह के जाउ पास ॥
स्मारत वैष्णव सो पुनीत। सकल वेद आगम अधीत ॥
चक्र तीर्थ ढिंग पाठ शाल। तहीं पढ़ावत विपुल वाल ॥
तहां रामपुर के सनाढ्य। सुकुल वशधर द्वै गुनाढ्य ॥
तुलसिदास अरु नन्ददास। पढ़त करत विद्या विलास ॥
एक पिता महं पौत्र दोउ। चंद्रहास लघु अपर सोउ ॥
तुलसी आत्माराम पूत। उदर हुलासो के प्रसूत ॥
गये दोउ ते अमर लोक। दादी पोतहि करि सशोक ॥६६॥
वसत जोग मारग समीप। विप्रवंश कर दिव्य दीप ॥६७॥
कहत रह्यो सो राम राम। रामोला हू तासु नाम ॥
गौर वरन विद्या निधान। विविध शास्त्र पंडित महान ॥
काव्य कला महं सो प्रवीन। सकल दुर्गुनन सों विहीन ॥
सव विधि रत्नावली जोग। अति सुशील तनु रहित रोग ॥
सुनि एती प्रिय मीत वात। गे नृसिंह गुरु ढिंग सिहात ॥
पाठक तिन कहं करि प्रनाम। देष्यो तुलसी मुष ललाम ॥
गुरु मुष परिचय तासु पाय। गोत गाम कुल विधि मिलाय ॥
करि दीनो पुनि वाग दान। मुदित भये मन महं महान ॥
पीत पत्रिका लगन रीति। करी सवहि जस वंश नीति ॥७६॥
शुभ दिन पुनि आई वरात। दोऊ पच्छ न फूले समात ॥७७॥
कीन जथा विधि विधि विवाह। दीन वन्धु भरि उर उछाह ॥
तुलसी कर में सह विधान। रत्नावलि को दयो दान ॥
रत्नावलि गइ तुलसि गेह। तासु वढयो पति पदनु नेह ॥
रत्नावलि सी नारि पाइ। तुलसी घर सुष गयो छाइ ॥
पितामही वहु दुष उठाइ। पोषे तुलसी उर लगाइ ॥
दंपति सेवा सों सिहाइ। सुरग गई कछु दिन विताइ ॥
नन्ददास अरु चन्दहास। रहहिं रामपुर मातु पास ॥
दंपति वसि वाराह धाम। लहत मोद आठोहु याम ॥

कवहु करत विद्या विनोद। लहत शब्द चातुरि प्रमोद ।।
संध्यावंदन आदि कर्म। धरत सकल नित गृही धर्म ।।
रषत राम मूरति स्व गेह। उभय संधि पूजत सनेह ।।८८।।
वात वात श्री राम राम। तुलसी मुष लागहि ललाम ।।
भक्तनु घर वांचहिं पुरान। तुलसी लहहिं धन औरु मान ।।
रत्नावलि तेहि चष चकोरि। मधुर वचन वोलति निहोरि ।।
कवहु न अप्रिय कहति वात। कवहु न सो पति सों रिसात ।।
मीजति नित पति पाय पीठि। नितहि न्हवावति प्रेम दीठि ।।
पति वियोग नहिं छिन सुहात। जात कहूं मुष उतरि जात ।।
करति सोइ जो पतिहि चाह। पति सेवन मन अति उछाह ।।
कवहु जातु जो पति षिझाइ। पायंनु परि लेवइ मनाइ ।।
जौलौं पति भोजन न पाइ। तौलों आपुहु कछु न षाइ ।।
जो मन सोई वचन कर्म। पतिहि लुकावत कछु न मर्म ।।
तारापति नामक सुपूत। भयो तासु वुधि वल अकूत ।।९९।।
गयो दैव गति स्वर्ग धाम। विलपति रत्नावली वाम ।।१००।।
भयो पुत्र को अधिक सोक। धरी धीर पति मुष विलोक ।।
तुलसी हू वहु करत प्यार। रत्नावलि भइ हृदय हार ।।
ताहि न चाहत आंषि ओट। ओट होति हिय लगति चोट ।।
सिथिल परी प्रभु भजन रीति। वाढ़ी तिय महं अधिक प्रीति ।।
व्याह भयें दस पंच वर्ष। इक दुष तजि वीते सहर्ष ।।
राषी वांधन एक वार। भ्राता संग हिय हरष धार ।।
पति आयसु गहि सीस नाइ। गई माइ के सदन धाइ ।।
इत तुलसी करिवे नवाह। गये सुमिरि उर अवध नाह ।।
तुलसी ग्यारह दिन विताइ। आये तिनहि न घर सुहाइ ।।
रत्नावलि मन लषन चाह। चले ससुर घर भरि उमाह ।।
होनहार वलवान होत। जसि भवितव तस ज्ञान होत ।।१११।।
नारि प्रेम मद गये भोइ। चले समय को ज्ञान षोइ ।।११२।।
वीति गइ तव अरध राति। नभ घन चपला चमकि जाति ।।
वहति जोर सुरधुनी धार। ताहि पैरि करि गये पार ।।
दीन वन्धु की पौरि जाय। टेरि दये घर के जगाय ।।
द्वारहि आये ततहिं काल। तुलसिहि लषि भे चकित श्याल ।।
करि प्रनाम कहि कुशल तात। हां कहि तुलसी मन लजात ।।
करि आदर समयानुसार। पौढाये करि वहु दुलार ।।
रत्नावलि एकान्त पाइ। पति दर्शन हित गई धाइ ।।
पति पद परसे करि प्रणाम। चरण दवावन लागि वाम ।।
बूझि किमि आये अवेरि। गरजत घन गाढ़ी अंधेरि ।।

कैसे उतरे गंगधार। मेरे जिय अचरज अपार॥
इमि सुनि बोले तुलसि दास। तुमहिं मिलन अति उर उलास॥
तुम बिन परत न मोहि चैन। भई शान्ति तव लषत नैन॥१२४॥
तव सुप्रेम महं गंगधार। सुमिषि सहज ही भयो पार॥
कहि रत्नावली प्रान नाथ। धन्य आप को मिल्यो साथ॥
मेरे हित बहु दुष उठाइ। दरस दयो तुम नाथ आइ॥
मो सम को वड भागि नारि। मो सम को तिय पति हि प्यारि॥
सीम प्रेम तुम करी पार। नाथ प्रेम के तुम अधार॥
मम सुप्रेम निज हिये धार। उतरे प्रिय सुर सरित पार॥
जग अधार पद प्रेम धार। जातु मनुज भव उदधि पार॥
प्रेम हीन जीवन असार। नाथ प्रेम महिमा अपार॥
सुनि रत्नावलि भव्य बानि। भव विषयनु सों भई ग्लानि॥
भये चित्र सम तुलसिदास। कछु जनु सोचत भे उदास॥
रतनावलि पति नींद जानि। गइ परसि पद जोरि पानि॥
दैव मिलन को कर्यो अन्त। कहूं नारि अब कहूं कन्त॥१३६॥
जहां योग तहं है वियोग। धरत भोग सो लहत सोग॥१३७॥
काल कर्म गति है विचित्र। बनत शत्रु जो रहे मित्र॥
आजु करत नर कछु विचार। कालि होत कछु होनहार॥
राम लैन कहं यौवराज। वन गे तजि सो राज साज॥
जो तुलसि हि प्रानन पियारि। सो रत्नावलि दइ बिसारि॥
गृह जन सोवत करि प्रमान। अचक कियो तुलसी पयान॥
रैनि गई उदयो प्रभात। तुलसी काहु न कहुं लषात॥
बूझि फिरे सब गाम माहिं। सबनु कही हम लषे नाहि॥
जहं जहं तुलसी मिलन आस। मिले न तहुं सब भे उदास॥
पति बिनु रत्नावली दीन। बिलपति जल बिनु जथा मीन॥
बहु दिन त्यागो पान पान। रुदन कर्यो धरि नाथ ध्यान॥
बीते बहु दिन पाष मास। भई न तुलसी मिलन आस॥
तजि दीने सब ही सिंगार। करति एक बारहि अहार॥१४६॥
उत्तम भोजन वसन त्यागि। सुलगति प्रिय पति विरह आगि॥१५०॥
तुलसि पादुका उर लगाइ। सोवति तृन आसन बिछाइ॥
कबहु रामपुर बसति जाइ। कबहु बदरिका रहति आइ॥
तिन चांद्रायन वरत धार। पूरन कीने विपुल बार॥
धारे औरहु व्रत अपार। सती धरम निवह्यो संम्हार॥
मन वच करमन रही पूत। कर्यो भजन प्रभु तिन अकूत॥
जासु पति व्रत दृढ़ निहारि। भईं अनेकन सतीं नारि॥
देती नारिन सीष नीक। रही दिषावति धरम लीक॥
पति वियोग मंहं साधि जोग। त्यागि दये सब जगत भोग॥

चरन सदन रज जासु कोइ । धरत देह रुज रहित होइ ।।
भूशर रस भू वरस पूरि । स्वर्ग गई लहि सुजस भूरि ।।
धनि रत्नावलि मात धन्य । जेहि सम अब कहुं जगत अन्य ।।
नव कर वसु भू विक्रमीय । शूकर तीरथ वंदनीय ।।
साध्वी रत्नावलि कहानि । वृद्धन मुष जस परी जानि ।।
द्विज मुरलीधर चतुरवेद । लिषि प्रगटी जगहित सभेद ।।१६३।।

इति श्री रत्नावली चरितं सम्पूर्णम् शुभम् । संवत् १८२६ श्रावण शुक्ला १ प्रतिपदायाम् शुक्र वासरे लिषितम् चतुर्वेद मुरलीधरेण सोरों क्षेत्रे ।। शुभंभवतु ।।

छप्पय

एक पितामह सदन दोउ जनमें वुधि रासी ।
दोऊ एकहि गुरु नृसिंह वुध अन्ते वासी ।
तुलसिदास नन्ददास मते द्वै मुरली धारे ।
एक भजे सियराम एक घनश्याम पुकारे ।
एक वसे सो रामपुर एक श्यामपुर महं रहे ।
एक राम गाथा लिषी एक भागवत पद कहे ।।१।।
एक पिता के पूत दोउ वलराम मुरारी ।
मुरलि चक्र इक धर्यो एक हलमूशल धारी ।
नीलांबर तनु एक एक पीतांवर धारो ।
दोउन चरित उदार रह्यो मत न्यारो न्यारो ।
इमि कर्तव रुचि मत प्रकृति जन जन कीन समान जग ।
जनमि एक हू गृह गहं निज स्वभाव अनुरूप मग ।।२।।
जय जय आदि वराह क्षेत्र तप भूमि सुहावनि ।
वहति जहां सुर सरित दरिद दुरितादि वहावनि ।
लसत विविध सुर सदन भक्त जन जीय जुरावन ।
सकल अमंगल हरन करन मंगल मुनि भावन ।
विप्र वृन्द जोगी जती वरनत वेद पुरान जहं ।
मुरलीधर अस पाइयत दूजो जग मंहं धाम कहं ।।३।।
उभय संधि महं देव आरती भक्त उतारत ।
घंटा दुंदुभि शंष झांझ धुनि मोद पसारत ।
भक्त भक्ति मद मत्त तहां प्रभु को जस गावत ।
मृदंग मंजु मंजीर तार झनकार सुहावत ।
जय गंगा वाराह की पावन धुनि कान परत ।
भीर हरिपदी तीर द्विज मुरलीधर संध्या करत ।।४।।
विपुल सिद्ध मुनि वृद्ध सन्त जन वृन्द वसत जहं ।
श्री हरि पदनु प्रसूत हरि पदी लोल लसत जहं ।

तासु कूल सोपान सेनि नयनाभिराम जहं ।
भक्ति ज्ञान वैराग पुंज वाराह धाम तहं ।
वहु पुन्यन सों पाइयत दरस क्षेत्र वाराह महि ।
केतिक पुन्यनु फल लह्यो द्विज मुरली जहं जनम गहि ।।५।।
सुष दुष बीते असी लगे मुरली इक्यासी ।
वसत सौकरव आस कटैं वंधन चौरासी ।
दीठि भई अव मंद दुरत सिर कंपत कछुक कर ।
तदपि न मानत लिषन कहत मन कविता सुन्दर ।
सो अव कस वानक वनहि मन वहलावन करि रहे ।
जिमि जन विनु दसनन चनक पीसि पीसि मुष भरि रहे ।।६।।

कृष्णदास कृत वंशावली[१]

षेत वराह समीप शुचि गाम रामपुर एक ।
तहं पंडित मंडित वसत सुकुल वंश सविवेक ।।१।।
पंडित नारायण सुकुल तासु पुरुष परधान ।
धार्‌यो सत्य सनाढ्य पद ह्वै तप वेद निधान ।।२।।
शस्त्र शास्त्र विद्या कुशल भे गुरु द्रोण समान ।
व्रह्म रंध्र निज भेदि जिन पायो पद निर्वान ।।३।।
तेहि सुत गुरु ज्ञानी भये भक्त पिता अनुहारि ।
पंडित श्रीधर शेषधर सनक सनातन चारि ।।४।।
भये सनातन देव सुत पंडित परमानन्द ।
व्यास सरिस वक्ता तनय जासु सच्चिदानन्द ।।५।।
तेहि सुत आतमाराम वुध निगमागम परवीन ।
लघु सुत जीवाराम भे पंडित धरम धुरीन ।।६।।
पुत्र आतमाराम के पंडित तुलसीदास ।
तिमि सुत जीवाराम के नन्ददास चँदहास ।।७।।
मथि मथि वेद पुरान सव काव्य शास्त्र इतिहास ।
रामचरित मानस रच्यो पंडित तुलसीदास ।।८।।
वल्लभ कुल वल्लभ भये तासु अनुज नँददास ।
धरि वल्लभ आचार जिन रच्यो भागवत रास ।।९।।
नन्ददास सुत हों भयो कृष्णदास मति मन्द ।
चन्दहास वुध सुत अहै चिरजीवी व्रजचन्द ।।१०।।

।। इति कृष्णदास वंशावली ।।

१. १८२९ वि० के उक्त 'रत्नावली चरित,' 'छप्पय' और कृष्णदास कृत 'वंशावली' एक ही जिल्द में हैं। ये और १८०९ में मुरलीधर चतुर्वेद द्वारा नकल किये गये कृष्णदास कृत 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य' श्री चन्द्रसहाय वडगैयां द्वारा सोरों निवासी पं० श्री गोपाल मिश्र से कासगंज के पंडित भद्रदत्त शर्मा को प्राप्त हुए थे ।

गोपीश्वर विनोद

सूकरक्षेत्र

रागिनी[1] काफी

देव मुनि तीरथ याहि सराह।
जहं हिरनाक्ष मारि छिति उधरचो.
धरि हरि रूप बराह।
जहँ सुरनदी बहति जग पावनि.
हरति सकल अघ दाह।
मञ्जत तहं विधिते जहं जो नर.
होत रूप श्रीनाह।
गोपिईश शूकर तीरथ जो.
आवत मन अवगाह।
तिहि नहि होत जातना जमकी.
दुर्ल्लभ व्रह्म कटाह ।।२०६।।५४।।१।।

इति विविध विरुदावली विराजमान मानोन्नत महाराजाधिराज मिथिलाधीश रुद्रसिंह बहादुर देव देवात्मज श्री श्रीमद् गोपीश्वर सिंह विरचितो गोपीश्वर विनोदे प्रकीर्णकन्नाम द्वितीयः खण्ड : समाप्तश्चाय ग्रंथ ।।[1]

---

१. मुद्रक : मेडिकल हॉल बनारस, सं० १९४५ वि० । पृष्ठ १३७-३८

॥ श्रीः ॥

तुलसी प्रकाश

श्रीमते रामानुजायनमः ॥

अथ तुलसी प्रकास लिख्यते ॥

॥ रूपघनाच्छरी ॥

जासु भ्रू विलास होत, जगत विकास नास
जगत निवास जासु आदि हू न है विराम ।
आनन अनन्त नैन बाहु पाद रूप जासु
जो है विनु रूप हीन गुन हू गुनन ग्राम
जो है जग कारन को कारन करनधार
तारन भौ सागर अधार जग को ललाम ।
प्रनमत अविनास दास ताही औधवासि
दसरथ सुषरासि कौसिलासुवन[1] राम । १॥

तोमरछन्द

श्री राम करुना धाम । तुम भक्त पूरन काम ।
तुम हौ अनादि अनन्त । ध्यावहिं तुमहिं सुर सन्त ।
जब जब बढ़त भू भार । तब तब धरत अवतार ।
हरि दुष्ट दानव भार । करि देत धर्म पसार ।
प्रभु सर्वभूत निवास । प्रनमत तुमहिं अविनास ॥ २ ॥

छन्द

वालमीकी आदि कवि तव चरित संस्कृत माहिं ॥
निरमयौ समुझत सु पंडित और समुझत नाहिं ॥
जावनी पढिवे लगे जन देववानी त्यागि ॥
निज धर्म हूं बहु तजि रहे विषय भोगनु पागि ॥
वालमीकी दूसरो भुइं एकु तुलसीदास ॥
नर भाष रामायन विरचि कीन्ह धर्म प्रकास ॥
करि कृपा निज दास तुलसी तुम दियौ प्रगटाय ॥
लिषत हों कछु तासु परिचै देषि सुनि मन लाय ॥३॥

दोहा

गंगा दच्छिन कूल इक, ताली गाम सुथान ॥
सोरंकी हरसिंह जहं, भूमिपाल मतिमान ॥४॥

---

१. ललन ।

तोमरछन्द

प्राची उमापति थान । उत्तर ललित उद्यान ।।
पच्छिम दिसा हरि धाम । वाराह छेत्र ललाम ।।
तहं एकु सुरसरि सोत । दच्छिन प्रवाहित होत ।।
तहं वसत भूभुज भूरि । कछु लसत भूसुर सूरि ।।
कछु दास जन सुषकारि । लघु गाम पै मनहारि ।।
रन बांकुरे बहु बीर । रथ वाजि वारन भीर ।।
जनि भूमि मेरी जेइ । आनंद सुरग सम देइ ।।
सिवराइजू कविराइ । मेरे जनक सुष दाइ ।।५।।

कवित्त

नीर अरु छीर की विवेक नीति धारन हार
हंस वंस हू सों विसेष नीति धारी है ।।
विस्व जन मौलि मनि कीरति कलाप केकि
कविजन[1] जनक सो काव्य कलाकारी है ।।
महामति महीपनि सभा को सिंगार सार
गुनि जन हिय हार हीय तमहारी है ।।
तुच्छ अविनास भयौ ताही ब्रह्मभट्ट वंस
जासु सीस हाथ धर्यौ वीन कर वारी है ।।६।।

दोहा

कौडिनि मुनि गोती दुवे, तहाँ विप्र सिर मौरु ।।
वसत अजुध्या नाथ बुध, एहि सम गनक न औरु ।।७।।

मदिरा छन्द

पूत न कोउ जियो उनको दुहिता हुलसी बहु जत्न भई ।।
व्याहन जोग भई जबही वर ढूढन में चित वृत्ति दई ।।
सूकरेषत समीप तवै वर रामपुर हि मधि देषि लयो ।।
आतमराम सुकुल्लहि के कर में हुलसी कर दान दयो ।।८।।

सोरठा

आतमाराम वर हाथ, मातु हीन हुलसी सुता ।।
दई अजुध्या नाथ, लोक वेद कुल रीति करि ।।९।।
जामातहि बुलबाइ, वरष गयें कछु व्याह सों ।।
निज सरवस्स गहाय, तारी तजि सुरपुर गये ।।१०।।
ऊरध देह विधान, सकल कराये वेद विधि ।।
तेहि निमित्त बहु दान, दये सांति परलोक हित ।।११।।
रही सरसुती गेह जरठ तासु विधवा भगिनि ।।
पोषी सहज सनेह, जिन हुलसी अति जतन करि ।।१२।।

---

१. कविन्दन

दोहा

तालो महं वसि वरस इक, पंडित आत्माराम ।।
जाइ वसे हुलसी सहित, सुषद रामपुर गाम ।।१३।।

अहिना छन्द

वांछ रूप फल दानि जहां तप धाम है ।।
तहं सुरसरिता तीर रामपुर गाम है ।।
जासु धर्‌यौ नन्ददास स्यामपुर नाम है ।।
करयो स्याम सर तहां नैन अभिरामहै ।।
तरुवर विविध लगाय तहाँ उपवन कर्‌यो ।।
थापि स्यामबलराम सदन जग जस भर्‌यो ।।
सुकुल सनाढ्य विप्र वंस को वास तहं ।।
सुकुल सच्चितानन्द भये यहि वंस मंहं ।।
पंडित अति बुधिवन्त महाग्यानी रहे ।।
आत्मराम अरु जीवराम सुत द्वै लहे ।।
तेउ भये मति मान महाविद्या धनी ।।
छाइ रही चहुँ ओर कीर्ति घर घर घनी ।।१४।।

सोरठा

सुकुल सच्चितानन्द, जीवाराम विवाह करि ।।
भोगि सकल आनन्द, जाइ वसे सुरपुर सदन ।।१५।।

दोहा

पंडित जीवाराम की, चंपा चपला नारि ।।
लरिकाई वस सासु सों, करी एक दिन रारि ।।१६।।
परुष वचन तेहि सासु सुनि, सपथ करी तव एक ।।
अब न वसोंगी रामपुर, राम रषावे टेक ।।१७।।
सून पर्‌यौ राजौरिया, मातु पिता को धाम।
अबहि जाइ सोरम वसों, करहुं न छिन विसराम ।।१८।।
मातु सत्य प्रन जानि मन, बोले आत्माराम ।।
जहां रहौ सुष सों जननि, तुरत चलौ तेहि धाम ।।१९।।

अहिना छन्द

सूकरषेत पुनीत अछय सुष कारि है ।।
सोहति सुरसरि जहां भक्त भय हारि है ।।
जहं वराह प्रभु दरस सुमंगल हेतु है ।।
न्हान दान जप जहाँ अमित फल देतु है ।।
भोग मोच्छ सुष षानि भूमि पुन्यस्थली ।।
सूकरषेतहि सेइ तरत पापिहु छली ।।
सोरम दूजो नाम षेत को ष्यात है ।।
पतितनु पावन करन तीर्थ अवदात है ।।

मांडव हारित देव आय तप चित दयो ।।
चुलुक गंगजल पियत भूप चौलुक भयो ।।
अजहूं चुलुका भूमि तासु सुधि देति है ।।
सोरंकी चौलुक्क चित्त हरि लेति है ।।
जहं नृप चौलुक बेन दुरग थापित कर्‌यो ।।
सोरंकी नृप सोम जहां जस विसतर्‌यो ।।
सोरम सों अनि देस जाति चौलुक गई ।।
सोरमकी पद पाय जगत परसिध भई ।।
जहीं सुरसरी तीर वघेला गामु है ।।
सौरंकिनु वसि लह्यौ वघेला नामु है ।।२०।।

चामर छन्द

जाहि धाम जोगमार्ग आत्माराम जू रहे ।।
वृद्ध मात भारजा सुदास संग में लहे ।।
सो पुरान वेद पाठ वृत्ति आपनी करें ।।
धर्मधी गृही धनी इन्हें सदा समादरें ।।
दीन छीन आर्त देषि चित्त में दया धरें ।।
इष्ट देव राम की सदा समर्चना करें ।।२१।।

सोरठा

कृषि वृष गो हय यान, सेवत दुज आचार धरि ।।
आतमराम सुजान, परम विवेकी धरम रत ।।२२।।

दोहा

कछुक दिवस वीते भई, हुलसिहि संतति आस ।।
आतमराम पंडित जननि, पायौ हीय हुलास ।।२३।।
जोग तीरथ वासी सुजन, मन फूले न समात ।।
कहें परसपर होय सुत, धरें आस उमगात ।।२४।।
राम राम सागर मही, सक सित सावन मास ।।
रवि तिथि भृगु दिन दुतिय पद, नषत विसाषा वास ।।२५।।
गरभ द्यौस पूरन भये, हुलसी प्रगट्यौ बाल ।।
गोरो तन मुष मार छवि, सुनयन बाहु विसाल ।।२६।।

छन्द

जन वृद्ध संवधी सखा निज अनुज जीवाराम,
हंकारि कुलगुरु भीमसंकर वेद विद्या धाम,
निज पौरि इक ठौरे करे उच्छव भयो अभिराम,
जाचक जुरे बहु आय ते सब कीन्ह पूरन काम,
बाजहिं बजनिया बाजने गावहिं बधाईं नारि,
चिर चिर जिये बालक असीसहिं जन पुकारि पुकारि,

कुल लोक वेद प्रमान कीनो जन्म हर्ष विधान
सनमान पाय तवै गये सब लोग निज-निज थान ।।२७।।

दोहा

उदर आतमाराम के, उठ्यौ सूल अति घोर ।
दई विविध भेषज तऊ, आमय भयौ न थोर ।।२८।।
विकल रहत त्रय दिन भये, दुषी सकल परिवार ।
हारे जीवाराम करि, नानाविधि उपचार ।।२९।।
मुरछित मरनासन्न लषि, जननि गिरी हहराय ।
हुलसी निजपति दुष निरषि, विलपति अति अकुलाय ।।३०।।
आत्माराम सपने लषे, निसि गत लछिमन राम ।
भोर होत भे विगत गद, हरष छयो गृह गाम ।।३१।।
कहें गाम गृह नारि नर, भागिवन्त भो बाल ।
आवत आवत जगत जिन, टार्यौ निज पितु काल ।।३२।।
दयौ बधैया सुभ दिवस, ताली गाम पठाइ ।
जरठ सरसुती कहं दई, जनम बधाई जाइ ।।३३।।
हुलसी सुत जनम्यौ सुनत, फूली मन न समाइ ।
ताहि पारितौसक दयौ, सरसुति मन हरसाइ ।।३४।।

निसिपालिका छन्द

सोधि सुभ द्यौस गुरु नाम तुलसी धर्यौ
मातु पितु मातु पितु हीय सुषसों भर्यौ
पाष सित इन्दु सम बाल बढिवे लग्यौ
मास दस वैस सिसु सब्द गढिवे पग्यौ ।।३५।।

दोहा

नित तुलसिहि सेवति रही, हुलसी हरि के हेत ।
तासों तुलसीदास ही, किय सुत नाम संकेत ।।३६।।

छन्द

इत गाम ताली सों सरसुती चलि गई सुरधाम,
सुनि तहं गए सुत नारि जुत तब विप्र आत्माराम,
करि तेहि सराध विधान पूरन विप्र वृन्द जिमाइ,
गेह कहँ परबन्ध कीनौ गौन गृह मन लाइ,
हुलसिहि अचानक भई विसूची काल कछु दुष पाइ,
त्यागि पति सिसु सासु देवर सुरग बैठी जाइ,
करि तासु अन्तिम सब क्रिया संसकार वेद विधान,
तुलसी सुतहि लै दुषित मन आये सो सोरम थान,
तिय सोक आतमाराम हूँ जुर घोर घेर्यो आइ,
निज नारि अनुगामी भये दुष मास अर्द्ध विताइ ।।३७।।

दोहा

सुकुल आतमाराम धनि तुम जग कियो प्रकास।
तब घर नरवर मौलि मनि प्रगटे तुलसीदास ॥३८॥

कवित्त

तार्यो तें दुविन वंस तार्यो तें सुकुल वंस,
सासु ससुर तारे तें तारी महतारी है।
कहैं अविनासराय आपु तरी तार्यो बापु,
तार्यो पति रामपुर तारी हू तारी है।
अजहूँ हुलसात लै हुलसी जन तेरो नामु,
तुलसी सो जायो पूत धर्म अवतारी है।
धन्य मात हुलसी तें मोच्छ द्वार तारे की,
मुमुच्छुन हाथ दई तुलसी रूप तारी है ॥३९॥

प्रझटिका छन्द

तेहि माता विलपै हुई अधीर। वहै ताके दृग सों दुषद नीर।
लघु भ्राता वरनें चरित रोय। कहै मो कहं तुमसो जग न कोय।
तिय चम्पा हिरदै अधिक दाह। पछितावै अति ही भयौ काह ॥४०॥

दोहा

करम पारलौकिक सकल करि दुज जीवाराम।
रोय कही निज मातु सों चलउ रामपुर गाम ॥४१॥
चम्पा हू मांगी छमा विलपि नयन भरि वारि।
जननि कही विललाइ पुनि प्रन न सकोंगी टारि ॥४२॥
जाहि भूमि हों तनु धर्यौ जाही भूमि समाउँ।
तीरथ सूकरषेत तजि अब कहुँ अनत न जाउं ॥४३॥
लेत रहौ नित आय सुधि, मेरो वच चित माढि।
जानति मोहू सों तनुज, तोहि तुलसी प्रिय बाढि ॥४४॥

तोमर छन्द

नित आय जीवाराम। पुजवत जननि मन काम।
तुलसीहि अंक लगाय। लालत अनेक उपाय।
गै वर्ष त्रय षट मास। चम्पा जने नददास।
तब सुकुल जीवाराम। सुत को धरायो नाम।
तुलसिहि गनेस मनाय। पाटी दई पुजवाय।
पुनि वर्ष द्वै दस मास। पाछें भये चन्दहास।
पुनि सुकुल जीवाराम। रोगी भये मति धाम।
भइ नष्ट अन धन आय। दारिद गयौ गृह छाय।
क्षय रोग सों दुष पाय। गे स्वर्ग वर्ष बिताय ॥४५॥

दोहा

जननी जाया भ्रात सुत, तेहि सुत भयो अनाथ।
सेस सनातन वंस की, रही पुरातन गाथ ॥४६॥

तोमर छन्द

कृषि कर्म गृह धन धान। सबको भयो अवसान।
बूझत न कोऊ बात। तेहि दुष न वरनों जात।
काका गये सुरलोक। तुलसी बढ्यो मन सोक।
दादी कह्यौ सुमुझाय। सुत होंय राम सहाय।
कुलदेव तेरे सोय। दी हैं सबै दुष षोय।
तू राम भजि अविराम। पूजें सकल मन काम।
बहु राम गाथ सुनाय। धीरज दयो मन लाय।
तुलसी बसे मन राम। अविराम टेरत राम।
तब रामबोला नाम। कहि लोग टेरत गाम।
बहुविध सुभोजन षात। अध पेट सो रहि जात।
धारत पुरातन चीर। तेहि कोउ धरत न धीर।
जात्री जनन सों जाइ। जाचन लगे सकुचाइ।
निजगाम जन गृह धाय। जाचत कबहु दुषपाइ।
कोउ देत कोउ न देत। पछिताइ मन चलि देत ॥४७॥

दोहा

पावत जिनके द्वार नित, आइ अतिथि सनमान।
तेहि सुत औरनि अतिथि बनि, राषत आपन प्रान ॥४८॥

छन्द

तहं विप्रमनि इक वसत गुरुवर श्री नृसिंह बुधाग्रनी।
बहु ग्राम अधिपति राम हनुमत भक्त वर विद्याधनी।
स्रुति सास्त्र धर्म पुरान सिच्छा देत नित बटुकन रहें।
निज पाठसाला बैठि सो नित रैनि राम कथा कहें ॥४९॥

दोहा

धरा उदधि सागर मही, बरस सुमंगल मूल।
सुभ अषाढ बुध पूर्निमा तुलसिहि भइ अनुकूल ॥५०॥
याहि दिवस नरसिंह गुरु, सोरम गंगा तीर।
दान करत इक वनिक तहं, तुलसी लषे अधीर ॥५१॥
पायौ तुलसी नाहि कछु, ठाडे दुषित उदास।
गुरुवर बूझी बाल तू, कौन तनय कहं वास ॥५२॥
सुकल आतमाराम सुत, कह्यो जाहि पुर वास।
मात पिता सुर पुर गये, एक राम की आस ॥५३॥
समुझि सुकुल कुल बाल मन, दुषित भए गुरुराय।
करुना करि कर गहि गए, आपन सदन लिवाय ॥५४॥

तुलसिहि गुरु धीरज दयो, कही पढो नित आय ।
अब जनि जाचन जाउ कहुं, ह्वै हैं राम सहाय ।।५५।।

छंद

अवलंब गुरु कहं पाय तुलसीदास मन प्रमुदित भए,
नरसिंह गुरु पद परसि सुमरित राम कहं निज गृह गए,
आपनि पितामहि सों कही जो बारता गुरु सों भई,
सुनि कही राम कृपा करी नित जाउ पढि अनुमति दई ।।५६।।

दोहा

असन बसन तेहि भूमि को, दिय परबन्ध कराय ।
दइ इक सुरगृह आयहू, वृत्ति हेत गुरु राय ।।५७।।
गुरु सेवा तुलसी करत, पढत सविधि नित जाय ।
पढ्यो प्रथम व्याकरन पुनि, कोस काव्य मन लाय ।।५८।।
नन्ददास हू तेहि अनुज, पढन लगे पुनि आय ।
दोउ भ्रात गुरु भगति रत, वरमति सील सुभाय ।।५९।।
उपनयनादि विधान सब, कुल गुरु सों करवाय ।
वेद पढायो सुर सहित, संध्या सविधि सिषाय ।।६०।।
पिंगल रामायन गनित, दरसन सास्त्र पुरान ।
अनुज सहित तुलसी पढ़े, पंडित भये महान ।।६१।।
स्वामि हरी हर बसत इक, मन्दिर सीताराम ।
गान वाद्य परवीन अति, गावत पद हरिनाम ।।६२।।
तुलसिदास नन्ददास तहं, कछुक समय नित जाय ।
गान बाद्य सिच्छा लहत, राग रागिनी गाय ।।६३।।
तुलसिदास नन्ददास को, बढ्यौ चहूँ दिसि मान ।
दोउ करावत कृषि करम, बांचत कथा पुरान ।।६४।।
तारीपति पितु भूपसिंह, इक दिन बहु गुनषानि ।
हरषे अति तुलसिहि निरषि, हुलसी सुत जिय जानि ।।६५।।
सनमानित करि लै गए, आपनि तालीगाम ।
बालमीकि सुनि तासु मुष, मुदित भये बलधाम ।।६६।।
तुलसिहि दीने बहु वसन, धन भाजन गौ अन्न ।
मातामह गृह लषि चलै, तुलसीदास प्रसन्न ।।६७।।
आवत जात रहैं सदा, तुलसी तारी गाम ।
तिनहिं आदरत सब तहां, बुध छत्रिय गुन धाम ।।६८।।

रोला छंद

तुलसी संपति भगति सुजस दिन दिन अधिकानो,
पौत्र सुस्रुषा पाइ पितामहि मन सुष मानो ।।
गंगा पच्छिम तीर बदरिका गाम निवासी,
मुनि बसिष्ठ कुल दीनबंधु पाठक गुन रासी ।।

द्वादस बरसी सुता जोग वर देषन धाए,
श्री नृसिंह गुरु सदन लषे तुलसी मन भाए ।।
भरद्वाज मुनि गोत सुकुल वर सुघर निहारी,
विद्या विनय विवेक जासु मूरति मन हारी ।।
रतनावलि सम वरहि पाय सम्बन्ध जुरायो,
वेद बान वारीस इन्दु सक वरष सुहायो ।।
कातिक सुदि गुरुवार इकादसि हरि परबोधनि,
निसि निसींथ परकाल उत्तरा नषत सुखद धनि ।।
तुलसी साजि बरात जाय पाठक दुज द्वारे,
रतनावलि कर गह्यो विप्रगन वेद उचारे ।।
पूर्यो सविधि विवाह हरष बदरी महि छाये,
निरषि निरषि वर वधू सवै जन मन हरषाये ।।
दीन बन्धु दायादि दयौ जामात तोषकर,
अरची सकल बरात समुद अरचे श्री गुरुवर ।।
तुलसि जमाता पाय दयावति सासु सिहानी,
तनुजा दई पनारि सुमिरि मन संभु भवानी ।।६९।।

नाराच छन्द

गयो महा अनन्द छाइ आत्माराम देहली,
पितामही प्रसन्न देषि पौत्र की बधू भली ।।
लई लगाय हीय सों सप्रेम पौरि सौ लई,
बधू नवायो सीस त्यों असीस सासुहू दई ।।७०।।

दोहा

वरष पाँचईं व्याह सों, दुरागमन भो तासु,
तिरागमन पुनि तेहि भयो, लषि सिहाति ददसासु ।।७१।।

सवैया

रतनावलि सी भलि पाय बधू
तुलसी पितु मातु महा सुष पायो ।
नित पांय पलोटति धोवति सीस
न्हवावति ताहि सनेह बढायो ।
रुचि होय पचावति व्यंजन सोइ
करे नित सोइ जो ताहि सुहायो ।
अविनास रमा सम गेह रमी
तुलसी गृह स्वर्ग समान बनायो ।।७२।।
रतनावलि पीय सनेह सनी
अति चाव करे पति की सिवकाई ।
पति कों निज प्रान परेस समान
निहारि सुषी जिय में सुष लाई ।

अवलोकि उदास उदास रहै
तन द्वै इक प्रान प्रमान लषाई।
तुलसी बड़ भाग गृही अविनास
सती रतनावलि सी तिय पाई ॥७३॥
नित राम सती सिव पूजति सो
वर मागति एकुहि नाथ भलाई।
निसि रामकथा अविनास सुनें
कबहूं सोइ आपु पढ़ै मन लाई।
नित काव्य पुरानन कानन में
विहरै पति संग करै कविताई।
मन तोष लहैं पति जाविधि सों
रतनावलि सोइ करै हरषाई ॥७४॥

कवित्त

अनसूया अरुन्धती सावित्री सुकन्या सी
सीतासी सतीसी सती सवितासी भासमान।
रूपवती सीलवती सत्यवती सुकृती सी
सुरसरिसी पावनी सरसुती मूर्तिमान।
माधुर रस सानी कोकिल सम वानी जासु
धरनीसी धीर धनि गंभीर सिन्धु समान।
रतनावलि तुलसी की गृहनी गुननि षानि
हार्‌यौ अविनास करत कीरति वषान ॥७५॥

दोहा

इक दिन रतनावलि सहित, निसिमहं तुलसीदास।
सेवत पितु जननी चरन, धरि हिय अमित हुलास ॥७६॥
पितु जननी बोली तवै, पुजई तैं सब आस।
चहहुँ अवध दरसन करन, कछु दिन कासी वास ॥७७॥
वेगिहि दरसन राम को करिहौ कासी वास।
कीन्ह सवन कहि जाय पुनि, पद छुइ तुलसीदास ॥७८॥
सोधि महूरत सुभ दिवस तुलसिदास नन्ददास।
रतनावलि पितु जननि जुत, चले छांडि चन्दहास ॥७९॥
चले और हू नारि नर, मन धरि राम पुरारि।
दृग रस उदधि मही वरष, लाग्यो मग सुष कारि ॥८०॥

बरुआ छन्द

चैत मास सित नवमी सरजू न्हाय,
कीन्ह रामसिय दरसन अवधहि जाय।
करि परिकरमा देषे सब ही धाम,
तहाँ कछुक दिन वसिके ध्याए राम।

अवध पुरी सों पुनि सब चले प्रयाग,
विधि जुत न्हाय त्रिवेनी धरि अनुराग।
विरमि कछुक दिन धाए कासी धाम,
विस्वनाथ हर अरचे लह्यौ विराम।
पितामही की पुजई सब मन आस,
नित सिव राम समर्चहिं सहित हुलास।
गाम बघेला वासी हरिसिंह देव,
बसत समुद सो कासी धरि सिव सेव।
पायो तुलसी परिचै कीन्ह सुमान,
कही सुनावहु मोकहं संभु पुरान।
अस्वमेध दस सुभ थल सहित विधान,
भूभुज पूजित तुलसी कहहिं पुरान।
वढन लगी नित स्रोता जन गन भीर,
कथा सुनन कहं उतसुक रहहिं अधीर।
भई सिव कथा पूरन सावन मास,
बहु धन वस्तुनि अरचे तुलसीदास ॥८१॥

दोहा

कासी वासी अग्र कुल, धनिक बनिक मनिराम।
पर उपकारी धरम रत, राम भगत गुन ग्राम ॥८२॥
मन गुनि तुलसी ग्यान गुन, बुधि विद्या विस्तार।
कथा कथन मधु वचन अति, पावन करम विचार ॥८३॥
चरन वंदि सविनय कही, लागत भादव मास।
बालमीकि मो गृह कहौ, पुजवहु मो मन आस ॥८४॥
ताहि वचन दै तिन कही, रामायन इक मास।
पूजे बहुविध बनिकगन, बुधवर तुलसीदास ॥८५॥

चंचला छन्द

नन्ददास देषि एक संग द्वारिकाहि जात,
हौं हुं जाउं जे विचार धारिगे समीप भ्रात।
भाव हीय को कह्यौ सुभ्रात उच्चरो न जाय,
दूसरों न आपनो सो तोर होय को सहाय।
नन्ददास हाथ जोरि नौरि नौरि माथ नाय,
जान दैं कहैं मिल्यौ सुभाग सों संजोग आय।
जानि हट्ठ तासु आसु भ्रातहू कह्यो जु जाउ,
हों रहों सु पंच मास तू सवेग लौटि आउ।
नाइ सीस सो सवै असीस लै चले सिहाय,
बाहुरे न नन्ददास औधि द्यौसहू विताय ॥८६॥

दोहा

करि आसौज सराध विधि, सारदीय व्रत पूरि।
कातिक न्हान व्रतादि किय, हिय सरधा भरि भूरि ॥८७॥
तुलसी रतनावलि सहित, आतमराम सुमातु।
सोचत मिली न नन्द सुधि, अगहन बीत्यौ जातु ॥८८॥
तुलसी जात्रिन बूझियत, नन्ददास कुसलात।
कोउ न ताहि वताइयतु, नित नित मन पछितात ॥८९॥
पुनि इक ब्रजवासी कही, श्री बिट्ठल प्रभु धाम।
दीच्छा लहि गोकुल भजत, नन्ददास हरिनाम ॥९०॥
तुलसी लिषि पाती दई, नन्ददास के जोग।
तुरत आउ हम सब दुषित, पाइ तिहार वियोग ॥९१॥
देषत वाट वितीतभौ, सबहि पूस को मास।
नन्ददास पाती मिली, माघ चले निजवास ॥९२॥

सुन्दरी छन्द

आइ गये गृह फागुन में सब,
करयौ हवन दुज भोज सविधि तब।
फागुन सित तेरिस भृगु सुभ दिन,
देह पितामहि त्याग कियो छिन।
षेदित ज्यों तुलसी गत सरवस,
अन्त क्रिया करि वेद कही जस।
नन्द बिना इत होत दुषी जन,
ताहि सुमिरि पछितात सबै मन।
बीति चल्यौ इमि फागुन मासहु,
गोकुल भेजि दयौ चन्दहासहु ॥९३॥

पद्धरी छन्द

नददास लषे चंदहास जाय,
पुलकित तन मन माथ नाय।
पुनि कह्यौ पितामहि सुरगवास,
सुनि भए दुषित मन नन्ददास।
श्री विट्ठल प्रभु आदेस पाय,
लघु भ्राता संग तुर तुर सिधाय।
आए सूकरषेतहिं दुष्यात,
पद गहि वंदे निज भ्रात मात।
श्री रतनावलि पद परसि पानि,
सब गाथा आपनि कही बषानि।
हिय हरषित भई कमला निहारि,
पति पद रज लइ निज सीस धारि।

सब दसम इकादस द्वादसाह,
कीन्ह त्रयोदस विधि सह उछाह ।।९४।।

दोहा

विगत सोक निज निज सदन, तुलसी नन्द सचंद ।
बंधे परसपर प्रेम रजु, वसत सतिय सानंद ।।९५।।
रामरूप तुलसी भजत, कृष्णरूप हरि नन्द ।
निज निज रुचि अनुसार दोउ, भजत सच्चिदानन्द ।।९६।।
तुलसी वरनत राम जस, नन्द कृष्ण गुनग्राम ।
छन्द रचत नव नव सरस, गान करत अभिराम ।।९७।।
दोउ धारत षटकरम, बांचत कथा पुरान ।
दोउ करावत समुद कृषि, गहत चहूं दिसि मान ।।९८।।
वेदसास्त्र सागर धरनि, सक सित कातिक मास ।
दसमी तिथि बुधवार सुभ, पूर्वाभाद्र प्रकास ।।९९।।
रतनावलि जनम्यो तनय, तुलसी सदन प्रकास ।
बाजे बहु विध बाजने, छायो अमित हुलास ।।१००।।
तारापति तेहि नाम कहि, टेरत सबै सिहात ।
बुद्धिवन्त दुतिवन्त अति, हंस मुष गोरो गात ।।१०१।।
तीनि वरष दुइ मास को, सुरपुर गयो सिधारि ।
गृह जन कीन विलाप बहु, भरि भरि दृग दुषवारि ।।१०२।।
नारि नेह पिंजरा परे, तुलसिदास सुकरूप ।
आतमरूप विस्मृति भई, जानत छांह न धूप ।।१०३।।

कवित्त

सारस कपोत चक्रवाक सम तुलसी भे
रतनावलि वियोग एकु छन हूं ना सुहात ।।
सुनत रसीले वैन दीरघ लजीले नैन
मंद मुसकान जासु देषि देषि ना अघात ।।
आकृति अनूप रूप गोरो तन प्रेम नेम
गेह काज साज देषि मन फूले ना समात ।।
तीय अनुराग मोह भूले सुधि सिय पी की
विसरो अपान उन्हें सांझ प्रात न जनात ।।१०४।।
निद्धि रस सिंधु इंदु वत्सर सित सावन संभु
आयो अविनासराय अनुजाहि लीवे साथ ।।
तुलसी मत पाय रतनावलि लिवाय संग
बदरी पयान कर्‌यो बंदि पाद संभुनाथ ।।
दूजे दिन तुलसी हू आन गाम भक्त गेह
बैठि गये स्यंदन सो बांचन श्री राम गाथ ।।

ग्यारहीं साँझ आए बाढ़ी तिय देखन चाह
चाव भरे आधीराति चलि दीने बदरीपाथ ॥१०५॥
भादों अंधियारी घटा कारी कजरारी घिरीं
परत फुहार तऊ तुलसी न मानी हार ॥
नारि नेह मोहे जनु काहू मद भोए से
चलें अविनासराय पग धरैं ना पिछार ॥
राम उरधारि ज्यों वायुसूनु लांघ्यो सिंधु
त्योंही उर धारि तिय गंगा लंघि गए पार ॥
तुलसी हरषात सो जात चले भीजे गात
षोलियो किवार जाइ बोले ससुरार द्वार ॥१०६॥
तुलसी सुर जानि रतनावलि भ्रात उठे
तुरतैं कपाठ षोलि बोलि घर लाए जाइ ॥
बूझी कुसलात उन बात करी आदर दै
सूषे पहराय पट सेज पै सुआए लाइ ॥
जानि कै इकंत कंत रतनावलि आई पास
कहैं अविनासराय बैठी ढिग सीस नाइ ॥
बोली कस आधीराति आए तुम प्राननाथ
गंगा कस उतरे पार हाइ दुष पायो आइ ॥१०७॥
तुलसी सुनि बोले हों राम कथा पूरी करि
आजु सांझ आयौ तुम बिनु घर भयौ भार ॥
जीय अकुलायो अविनास न सुहायो कछु
देषन तोहि आयौ लषि मोद भो अपार ॥
तुम बिनु एकु छन जुग जैसो बीतै मोहि
वियोग में तिहारें घर लागतु है असार ॥
बिनुहीं प्रयासरी प्रान प्रिय तिहारे प्रेम
पोत के सहारे करि आयो सुर सिन्धु पार ॥१०८॥

सवैया

मो तन प्रेम करी सरि पार करें हरि प्रेम तरें भव प्रानी ॥
प्रेम प्रताप महा महिमा लघु धी अविनास न जाय बषानी ॥
नाथ भई बड़भागिन हों तुम प्रेम पयोनिधि पाय सिहानी ॥
नैनन आनद नीर भरें पुलकाय कही रतनावलि वानी ॥१०९॥
बैन सुनैं तिय के तुलसी हरि प्रेम कथा मनमांहि समानी ॥
सूषत राम सनेह को षेत दयो रतनावलि मानहु पानी ॥
राम विसारि असार विचारनु वैस चली अविनास न जानी ॥
सोचत भे तुलसी धरि मौन सती तिय नैनन नींद प्रमानी ॥११०॥
नाथहि नींद लगी जिय जानि पलोटति पायंनु वन्दि सयानी ॥
पीय अगाध सनेहहि पाय गई रतनावलि हीय सिहानी ॥

सोइ रही विधि बाम लिषी अविनास मिटी न ललाट निसानी।।
रातिहि में तुलसी गृहत्यागि गए कित औचक काहु न जानी ।।१११।।
भोरहि होत उठी रतनावलि मोद भरी पिय देष न धाई ।।
दीसि परे न कहूं चहुं ओर सबै बदरी नरनारि मझाई ।।
हीय सनाको भयौ रतनावलि नैनन नीर नदी घहराई ।।
जात कहे विनु नाहिं कबौ अविनास कहा मन आजु समाई ।।११२।।

कबित्त

रामपुर सूकरषेत घाट बाट हाट गेह
देषत अथाईं लोग चहूँ दिसि धाए हैं ।।
पंथी नर नारि बहु बूझे बहु देषे गाम
दूरि दूरि दूत लोग षोजिवे पठाए हैं ।।
कहैं अविनासराय कहूं ना सनास लगी
षोजि षोजि हारे सब लौटि लौटि आए हैं।।
सिवनाथ संकर सम्भु रतनावलि भ्रात सबै
बैठे निराश ह्वै तुलसी न पाए हैं ।।११३।।
तुलसी पयान जानि नन्ददास चन्दहास
गहरे उसास लेत आए भ्रात जाया पास ।।
अंसुअन तन धोए रोए सब षोए से
भाग निज विगोए सुमिरत तुलसिदास ।।
धीर धरि धाए दिसि दिसि लगाए षोज
विविध जन पठाए बितए हैं कितेक मास ।।
कितहूँ न पाए पछिताए अविनासराय
ह्वै कै मन निरास लौटि आए जन उदास ।।११४।।
निसि दिन विलविलाति छलछलात जासु नैन
हीय छटपटात गात कुम्हिलायो है ।।
दीरघ उसास लेति कबहूं न सांस लेति
वेसुधि ह्वै जाति मनौ प्रान हूँ अथायो है ।।
कबौ अविनास कहै नाथ नाथ आओ नाथ
टेरत ही टेरत सुकंठ भरि आयो है ।।
रतनावलि तुलसी के वियोग भइ बौरी सी
जानि परै कबहूं त्रिदोष जुर आयो है ।।११५।।

दोहा

पति वियोग तपसिनि भई, रतनावलि गुनग्राम ।
सेवति हरि पति पादुका, कीरति लही ललाम ।।११६।।
वास कर्‌यौ रतनावली, वदरी भ्राता गेह ।
कबहु रही नंददास गृह, सादर सहित सनेह ।।११७।।

नव रिषि भुवन सुतीज तिथि, सित माधव भृगुनंद ।
जोग तीत्थ रतनावली, वसी सदेवर चन्द ॥११८॥
नारि सिषावन दोहरा, नाना विध पद छन्द ।
निज अनुभव सिरजति रही, रतनावलि तिय चन्द ॥११९॥
नव रस उदधि मही वरष, भाद्र तीज भृगुवारि ।
निसायाम चौथे चले, तुलसि विरागहि धारि ॥१२०॥

कवित्त

त्याग्यो परिवार ससुरारि घर द्वार धन
मनहि पछार मारि नारि नेह तोर्यो है ॥
धार्यो पै नारि वैन भौनिधिसों तारन हार
सरवस विसारि हरि सों नेह जोर्यो है ॥
मनही मन टेरें तुलसी अविराम राम
कहत तोहि भूलि राम हों कुल बोर्यो है ॥
जैसोहों तैसोहों तिहारो ही अविनासराय
मोहि अपनाय हों जग सों मुष मोर्यो है ॥१२१॥

हीय धरि राम विचरत पुर गाम बन
धाए है तुलसिदास पावन अवध धाम ॥
दूरहि तें औध देषि नैन भरि लाये नीर
पुलकित सरीर ह्वै मनावत सीयराम ॥
सरजू अन्हाय धाय राम धाम धूरि धारि
राम के सदन जाय कीन्ह दंड ज्यों प्रनाम ॥
बोले अविनास जू सरनागत तिहारो हों
भक्ति वर देउ निज पूजो मो मनोकाम ॥१२२॥

जहां जहां राम पद अंकित सुनि पाई भू
तहां तहां जाय जाय तुलसी मनाए राम ॥
लोटि लोटि जात हुइ जात पुलकित गात
स्रवत जात जासु नैन वैन धारें विराम ॥
कहे अविनास पुनि बोलें गदगद वानि
जोरि पानि कहैं मोरि लेउ सुधि दया धाम ॥
मोहि ना विसारो सहारो अब तिहारो नाथ
दया करि निहारो हीय बैठो प्रभु आठो याम ॥१२३॥

करि कै द्वै मास औधवास श्री तुलसिदास
धाए अविनास अघनासि तीरथराज ॥
राम विसराम भूमि जानि पानि जोरत जात
पुलकित गात गात आस्रम श्री भरद्वाज ॥
न्हाए त्रिवेनी पाप छेदन छैनी छोनि
सुरग निसेनी दैनी वैनी सो सुगति साज ॥

तहां भजि राम चित्रकूट वास कीनो पुनि
संकर मनाए जाइ कासी राम भक्ति काज ।।१२४।।
देषे पुनि तीरथ राम तीरथ सबै धाय
नाना गिरि कानन हूं बैठि भजे सीय राम ।।
विविध ब्रत विधान जप तप महान ध्यान
साधि अविनास सही वरषा सीत घाम ।।
सून्य बसु वेद चंद चैत सित पांचै गुरु
आए श्री तुलसिदासफेरि श्री अवध धाम ।।
सात मास वास करि धाए फिरि सेस तीरथ
बान बसु वेद भूमि धाए पुनि कासी धाम ।।१२५।।

दोहा

तुलसिदास कासी पुरी, बसे सुरसरी तीर ।
सतसंग हित लागी रहै, भगत सन्त जन भीर ।।१२६।।
वरन करम वरनत कबौ, तुलसि धरम आचार ।
ईस भगति महिमा कबौ, वेद पुरान अधार ।।१२७।।
वरनत कवहू सिव कथा, राम कथा निज वास ।
भगति ग्यान रस संचरत, नित नव तुलसीदास ।।१२८।।
वारानसि वसि कीन्ह नित, बहु विध छन्द अधार ।
रामचरित कृति अति सरस, तुलसी विविध प्रकार ।।१२९।।
चित्रकूट चलि जात सो, कबहूं अवध प्रयाग ।
वसहिं अधिक सो सिवपुरी, धरें राम अनुराग ।।१३०।।

कवित्त

कह्यौ एक पन्थी नन्ददास हू विराग लह्यौ
सतत बसें ब्रज सो बहु दिन सों गेह त्यागि ।।
पुलके सुनि तुलसी बोले धनि नन्ददास
ईस अनुराग पाय तासु गए प्रेम पागि ।।
कही उमगाय जाय अविनास देषों कबौ,
छूटि भवबन्धन सों सोऊ भयो भूरि भागि ।।
जेठ मास पाष सित सूर तिथि जीव वार
राम नन्द वेद चन्द वत्सर जबै गो लागि ।।१३१।।

दोहा

धारें अमित उछाह उर, सुमिरि राम अवधेस ।
रितु हिमन्त तुलसी चले, नन्द मिलन ब्रज देस ।।१३२।।
गुन नव वेद धरा वरस, सुकल माघ कुजवार ।
तुलसीदास पंचमि सुतिथि, धसे मधुपुरी द्वार ।।१३३।।
सानंद देषी मधुपुरी, परासौलि पुनि जाय ।
नन्ददास लषि मुदित भे, राम भरत जिमि पाय ।।१३४।।

पुलकि नन्द तेहि पद गहे, कहि सब निज गृह गाथ ।।
दरस करायौ सूर को, तुलसि नवायौ माथ ।।१३५।।
तुलसि हि संग लै नन्द गे, नाथ गोवर्धन धाम ।
तुलसि वंसिधर रूप महं, लषे धनुष धर राम ।।१३६।।
कछु दिन करि विसराम पुनि, तुलसि अनुज निज संग ।
कृष्ण सुजस वरनत चले, गोकुल सहित उमंग ।।१३७।।
तुलसी श्री विट्ठल दरस, लहि अभिवादन कीन्ह ।
कहि गोसाईं प्रिय वचन, बहुविध आदर दीन्ह ।।१३८।।
लषे जानकी सहित तहं, विट्ठल सुत रघुनाथ ।
इष्ट नाम मय रूप कहं, समुद नवायो माथ ।।१३९।।
नन्द दिषाए सकल ब्रज, श्री हरि लीला धाम ।
तुलसिदास हरषित भए, देषि धाम अभिराम ।।१४०।।
तुलसी कृष्ण पदावली, सृजन कियो आरंभ ।
अनुज भेंटि कासी चले, भगति भवन के थंभ ।।१४१।।
ब्रज संगिन संग संग चले, तुलसी कासी धाम ।।
विस्वनाथ के दरस करि, लियो वास विसराम ।।१४२।।
भक्त करत निसि आय नित, श्री तुलसी सत संग ।।
बने धरम पथ पथिक बहु, रंगे राम रस रंग ।।१४३।।
सर नव उदधि मही वरष, मकर प्रयाग अन्हात ।
तुलसी औधपुरी चले सुमिरत राम सिहात ।।१४४।।
रितु नव वेद धरा अबद, राम नवमि मधुमास ।
आर बार मानस ललित, किय क्रमवद्ध प्रकास ।।१४५।।
गगन व्योम सरचन्द सक, असित जेठ सुभ मास ।
रामचरित भृगु तीज दिन, पूर्यो तुलसीदास ।।१४६।।

छंद

श्री हरि भजन लेषन करन ब्रत सतत नित तुलसी धर्यो ।
कछु औध वसि वारानसी पुनि औध रहि पूरन कर्यो ।
तेहि सुफल रामचरित्र मानस वरस पचई पकि फल्यो ।
श्री राम भक्ति पियूष रस मय तासु सोता बहि चल्यो ।।१४७।।
अगनित विनय पद चरित राम उमा सुमंगल पद करे ।
तुलसी अवध कासी पिराग सुवास करि आनद भरे ।
चलि जात कबहू चित्रकूटहि नित्त राम कथा पढें ।
जहं जहं रहैं तुलसी तहां तहं भक्त स्रोता गन बढें ।।१४८।।

दोहा

जेठ नन्द नभ बान महि, सक श्री तुलसीदास ।
नित नित राम कथा कहत, चित्रकूट करि वास ।।१४९।।

तब तहं आयौ साधु इक, राजा नाम सुभक्त ।
सदा साधु सेवा निरत, राम नाम अनुरक्त ।।१५०।।
जेहि अहीर वर कुल भए, नन्दबबा बडभाग ।
राजवीर तेहि कुल भयो, कर्‌यो गाम गृहत्याग ।।१५१।।
अवगासी वासी भगत, सुकवि सन्त सुषदाय ।
राजबीर आभीर सोइ, राजा साधु कहाइ ।।१५२।।

सवैया

ऊरध पुंड विसाल सुभाल जटा सुठि स्याम महा छवि छाजै
कंठ लसै तुलसी वर माल सदा कटिवास कोपीन सुसाजै
सामल देह सनेह को गेह धरै जनु देह विदेह विराजै
संतनि हाथ विक्यो अविनास सो राजा धर्‌यो तनु सन्तन काजै ।।१५३।।

दोहा

सुनि सुनि तुलसी मुष सरस, गाथा राम ललाम ।
तुलसी ग्यान विराग लषि, भगति लह्यौ विसराम ।।१५४।।
सविनय तुलसी पद परसि, इकदिन राजा भोर ।
बोल्यौ मोर कुटी चलौ, पुजवहु आसा मोर ।।१५५।।
तुलसी सुनि सविनय गिरा, कीन्ह गौन स्वीकार ।
भगत साधु दुइ संग चले, सुमिरत जगदाधार ।।१५६।।

कवित्त

पयस्विनी जसस्विनी कलिन्दिनी जुरी हैं जहां
तासु जाम्य कूल मूल फूल बाटिका सुहात ।।
कदली मधूक अंब निंबु जंबु सोहैं तरु
सिंसिपा बदरि तिंदु तुलसी छुप लषात ।।
ललित लता वितान पटी तहां पर्नकुटी
प्रगटी अमित आभ मुनिन मन लुभात ।।
तहाँ अविनास राय पुन्य रासि राजा साधु
करे वास सन्तन पद सेवा करि सिहात ।।१५७।।
आवै जासु पर्नकुटी सो न दुष पावै कबौ
आपनी कुटी समान सन्त पावते सुवास ।।
भिच्छा गहि लावै जदि साधु आइ जावे कोउ
नेहसों जिमावै भलें आपु धारत उपास ।।
रोगी होइ साधु कोउ तासु उपचार करै
बूझि बूझि वैद घोटि प्यावै अनेक घास ।।
कबहू रिसाय न अनषाय अविनास राय
सरल सुभाय पाय होत हिय हुलास ।।१५८।।

दोहा

जमुना तीर अरन्य महं, राजाकुटी सुहाय।
सनि दिन रवि तिथि जेठ सित, तुलसि विराजे जाय ॥१५६॥
लषि पावन एकान्त थल, तुलसी मन गो भाय ।
भजत राम सिय वसि तहां, जमुना नीर अन्हाय ॥१६०॥
राजा सेवत निसि दिवस, हरि तुलसिहि मन लाय ।
सीय राम गाथा सुनत, तुलसी मुष हरषाय ॥१६१॥
तुलसिदास को वास सुनि, आवत भक्त अनन्त ।
गृही जती नृप रंक बुध, धनी नारि नर सन्त ॥१६२॥

कवित्त

सुंदर सुजान मतिमान आजान बाहु
　　भगत जन पधान तेहि गले माल मानिये ॥
गान परवीन हरिध्यान लवलीन कवि
　　विषय विकार हीन छीन सिष जानिये ॥
मुंडित सीस मुच्छ सो सेत सेत केस वेस
　　पीन देह सूत्र कटि गौर त्यों वषानिये ॥
कहैं अविनास भाल तिलक तुलसिदास
　　सेत कटि अधोवास तासु पहचानिये ॥१६३॥
श्री श्री तुलसिदास दर्सन पदपर्सन सों
　　होत अति अकर्सन मन धर्म ओर जाय ॥
छूटत कुविचार त्यों टूटत विषै विकार
　　फूटत पहार पाप ताप अविनासराय ॥
नाना विध जासु मुष सुनत श्री राम गाथ
　　होत स्रवन पावन मन भक्ति उमगाय ॥
होत वडभाग धन्य जासु सतसंग पाय
　　जासु चरित पावन जन सकै कौन गाय ॥१६४॥
सारद सुपुत्र से कि वालमीकि नारद से
　　वसिष्ठ से वरिष्ठ कहों कि व्यास से महान ॥
कहों सुकदेब से कि सूत से प्रभूत मति
　　वकता प्रवीन अति वैन हूं सुधा समान ॥
आगम पुरान सर्व वेद भेद तत्व ग्यान
　　महा तप निधान सो धर्म जनु मूर्तिमान ॥
धन्य श्री तुलसिदास नासन जगतत्रास
　　प्रगटे अविनास सो करन धरम त्रान ॥१६५॥

विजय छन्द

राजत राजकुटी जबसों तुलसी चरचा चहुँ ओर बढ़ी है ॥
कालिंदि कूल कुटी कल कीरति जाय सुमेरु सिषानि चढ़ी है ॥

मास अढाई संग लह्यौ, राजा कुटी सुवास।
ताहि वरष कासी गए, कातिक तुलसीदास ।।१७४।।
फेरि नाहि हों लहि सक्यौ, तुलसी दरसन लाहु ।
तदपि रह्यौ मो मन सदा, दरसन करन उछाहु ।।१७५।।
राजा साधु सुनाम सों, राजापुर निरमाइ।
तुलसी निज मरजाद करि, कासी गए सिधाइ ।।१७६।।
आवत जात सुभक्त तहं, बसत करत विसराम।
जोग जाग जप व्रत धरत, भजत विविध विध राम ।।१७७।।
तुलसी पदरज पावनी, राजाभूमि ललाम।
राम भगति वरदाइनी, तपोभूमि अभिराम ।।१७८।।
हौंहुं तुलसि सतसंग लहि, धनि धनि भो बडभाग ।
मन व्रत तीरथ रुचि बढी बढ्यौ राम अनुराग ।।१७९।।
बसु दृग सर भू वरष सनि, पूनम भादव मास।
तीरथ दरसन हित चल्यौ त्यागि सिहुडा वास ।।१८०।।

रूपमालिका छन्द

सिहुड़ा जन सिह छत्रिय सर्वजीत पमार।
तासु पावन चरित सुन्दर राजसिंह कुमार ।।
धीर विजयी वीर वरमति सत्यप्रन गुनधाम ।
सुर महीसुर भक्त कवि गन गुनिन पूरन काम ।।
पावत सबै सन्तोष जन गन जाइ जासु दुआर ।
धर्म कर्म प्रवीन पालकदीन परमोदार ।।
अविनास गुनगन हंसनि बोलनि जासु सील सुभाय ।
सुमिरतु कबौ मन मोर चाहतु जाउं पंष लगाय ।।१८१।।

दोहा

भरत षंड पच्छिम दछिन, उत्तर हिम गिरि जाय :
कीन वास तीरथ दरस, सुर हरि पद मन लाय ।।१८२।।
वेद अनल सर महि वरष, पूनम कातिक मास।
सितदल गुरु ताली सदन, आयौ हों अविनास ।।१८३।।
पानी लग्यौ पहार को, भयौ उदर रुज मोइ।
वरष अढाई दुख लह्यौ, दियो राम पुनि षोइ ।।१८४।।
सर गुन बान धरा वरष, सातें माधव मास।
असित पच्छ सनिवार किय, हरसिंह सुरपुर वास ।।१८५।।
सासत इहं हरसिंह सुत, करनसिंह गुन ग्राम।
बल विवेक विद्या विनय, धरम धाम अभिराम ।।१८६।।
तिन बहु धन धरती दई, राष्यो करि सनमान।
ताली तजि जाउ न कहूँ, रहौ भजौ भगवान ।।१८७।।

तारी अनुज तनूज गृह, भजों कौसिलानन्द ।
जुग जुग जीवहिं करनसिंह, सुतन सहित सानन्द ॥१८८॥
धनि धनि तारी ग्राम इह, जहं जन चारु चरित्र ।
भए जासु सुत करन से, तुलसी से दौहित्र ॥१८९॥
हुलसी सी दुहिता जहाँ, भक्त प्रसविनी धन्य ।
बीर जननि दुर्गा भई, करन मात तिय गन्य ॥१९०॥
धनि धनि श्री हुलसी भई, धनि श्री तुलसीदास ।
जिन जगती तल विसतर्यो, कीरति कलित प्रकास ॥१९१॥
नंददास चंदहास सुत, कृष्णदास ब्रजचन्द ।
गए बुलावन वार बहु, श्री तुलसिहि नंद नंद ॥१९२॥
भई धन्य भारत मही, तुलसीदासहि पाय ।
भगति ग्यान मंदाकिनी, जिन जग दई बहाइ ॥१९३॥

छन्द

होत न जो तुलसी जग में हिंदुआन की कानिहि को धरतो ।
वेद पुरानन की चरचा अरचा अविनास को आचरतो ॥
मोह मयी मदिरा मद मत्त अचेतन चेतन को करतो ।
मानस रामपियूष पिआइ सो जीवन जीवन को धरतो ॥१९४॥

छन्द

तुलसी सम धर्म धुरीन सुधी
जन होयं सुभक्त गुनी गुरु ग्यानी ।
रत्नावलि सी कुल लाजवती
तिय होयं सुसील सती गुनषानी ॥
हुलसी सम पूत जनें जननी
विदुआन विनीत जसी हरि ध्यानी ॥
अविनास अकव्वर से अवनीस,
रहै जिनकी जग कीर्ति कहानी ॥१९५॥
धनि धन्य भए तुलसी जग में
कल कीरति जासु रहै चिरथाई ।
नृप पालहिं राम समान प्रजा
मिटि जायं दसानन से दुषदाई ॥
सब ही घर होयं भरत्त से भ्रात,
विमात सुमित्रा समान सुहाई ॥
अविनास सु केसव से कवि भानु,
प्रकास करें नृप धाम लुनाई ॥१९६॥

कवित्त

बीती तरुनाई वीर मंडित बुन्देलषंड
कालिंजर वासि करि सिंहुडा कीनो वास ।

आवत जात सिहात सुहात अनेकन भक्तनु छाई मढ़ी है ।।
श्री तुलसी कलि जीतन हेतु मनौ सिरजी अविनास गढ़ी है ।।१६६।।

कवित्त

नाना विध राम भोग भक्त लोग लाय जहाँ
देत जोग सरधा के सोत बहिबो करें ।।
जासु पर्न भौन नौन साक दारि चाउर चून
सत्तू गुर घीउ तेल पुंज रहिवो करें ।।
देषी अविनास श्री तुलसीदास रिद्धि सिद्धि
कोटि अन्नपूर्ना जहाँ लाज लहिबो करें ।।
राजा सो साधु साधु सेवक सुभक्त जासु
निरषि जासु सेवा साधु कीरति कहिबो करें ।।१६७।।
जंगल में सुमंगल कीनो श्री तुलसिदास
जासु परताप पाप पुंज जरिबो करें ।
सोहति पयस्विनी रविनन्दिनी तापहारि
नई नई भक्तकुटी जहाँ परिबो करें ।।
थाप्यो रामदूत धाम भक्त मन पूजें काम
भक्त जहाँ राम नाम जाप करिबो करें ।
तुलसी ज्यों व्यास सूनु राजाजू परीछित ज्यों,
देषे अविनास हीय भक्ति भरिबो करें ।।१६८।।
राजापुर बसाय राजा हू कृतारथ कीन,
सेवाफल दीन पीन कीन कीरति प्रकास ।
भक्त जन भीर जहाँ रहै ना उछीर कबौ,
जमुना के तीर कर्‌यौ दूजो नैमिष निवास ।।
राम गान ग्यान ध्यान जग्य जप साधें लोग
वेद औ पुरानन को छहरयो जहं उजास ।
भाषै अविनास देषि देषि ना अघाए नैन,
वर्नत थकाए बैन ऐसे श्री तुलसिदास ।।१६९।।

दोहा

रिषि भू सर महि सक वरष, असित माघ रविवार ।
पंचमि तिथि अविनास हों, गयौ तुलसि दरबार ।।१७०।।

बरुआ छन्द

धातु धरा सर भू सक फागुन मास ।
सुकुल पच्छ तिथि दुतिया सुक्र प्रकास ।।
हनुमत मन्दिर बैठे राजा साधु ।
भजत राम सिय हनुमत प्रेम अगाधु ।।
गए अचानक तनु तजि रघुपति धाम ।
भई भोर की बिरियाँ गति अभिराम ।।

सुनि उठि धाए तुरतहि तुलसीदास ।
बोले धनि धनि राजा भए उदास ।।
कुटी कुटी महं छायो सोक अपार ।
निरमोही हु बहावत दृग जल धार ।।
सुनि सुनि दौरी भक्त जनन की भीर ।
तेहि गुन गावति नैन बहावति नीर ।।
धाए चहुँदिसि ग्राम निवासी लोग ।
करि करि तेहि सुधि सबै मनावत सोग ।।
जुरि मिलि भगतन विरच्यो तासु विमान ।
दाहे जमुना सरि तट जाय मसान ।।
तुलसीदास करायो पुनि भंडार ।
तब अविनास विलोकी भीर अपार ।।
तुलसी पाहन मूरति तासु गढाय ।
हनुमत मंदिर थापी हीय सिहाय ।।१७१।

कवित्त (२ री पोथी में)

धातु धरा तत्व भूमि वर्ष सित फागुन की
दौज तिथि सुक्रवार भयौ दुष दाइ आइ ।
अंजनी सूनु के सदन रामध्यान मगन,
बैठे जब राजा साधु भोर आसन लगाइ ।।
रटत राम राम सो चले रामधाम गए,
देषि देषि आचरज कर्यौ साधु समुदाय ।
देषे श्री तुलसिदास अकुलाए भे उदास,
धन्य धन्य राजा साधु कह्यौ अविनास राइ ।।१७१।।
प्रथमहिं चित्रकूट देषे हौं तुलसिदास,
देषे पुनि राजकुटी राजसिंह संग जाय ।
परिचै मो लीनो निज दीनो बहु बूझें मोहि,
आदर बहु कीनो सो लीनो हिय लगाय ।।
देषि अनुराग्यौ मोर हीय प्रेम पाग्यो पुनि,
राजासाधु रामधाम जात, सर्मै देषे धाय ।
* नन्द चन्द तत्व ईस ऊर्ज सित नौमि कच्छ
जीव फेरि कीय संग[1] मास अविनास राय ।।१७२।।

दोहा

पन्द्रह सौ बाईस सक, पावन सावन मास ।
अमा सोम दिन पुनि गयो तुलसी सतसंग आस ।।१७३।।

***१. नंद चंद तत्व सोम कातिक अछय नौमि ।
सोम फेरि कीन संग मास अविनासराय ।।**

Report on the Examination of manuscript volumes of 'Balkand', 'Aranyakand' of Tulsikrit Ramayan and 'Bhaktmal' by Shri Seva Das received from Dr. Bharadwaj.

The manuscript volume of 'Aranyakand', 'Balkand' of Tulsikrit Ramayan, and 'Bhaktmal' by Shri Seva Das Ji were examined in this Department. These three manuscripts are written with carbon ink, from which any dating evidence is not possible. The paper of all these manuscripts has been found to be all rag, and is sized with starch. All rag, starch sized paper has been in use since ancient times (13/14 century) upto the present period for writing purposes, and as such it is not possible to derive any conclusion regarding the date of these manuscripts from the above observation.

Colophons on page 124 of manuscript 'Balkand' and page 28 of manuscript 'Aranyakand' have been also examined. The reddish tinge underneath the black writing in the end three lines on page 124 of 'Balkand' manuscript does not appear to be from any previous writing. Perhaps red colour has been used as a background for the colophon in black ink as a decoration. However, the end four lines of colophon on page 28 of manuscript 'Aranyakand' appear to be rewritten in blank ink over red writing. Some of the alphabets of the previous writing in red ink could be distinctly seen up to the 1st and 2nd line, but from the middle portion of the third line upto the end of fourth line there is no clear indication of overwriting, since the red ink appears to have faded in these portions. However, light faded impression of digit 4 is visible slightly shifted from the impression of the digit 4 in black ink in the year inscription 1643 (in Hindi numerals).

Perhaps a calligraphic study of these manuscripts may help their dating and the Department of Archaeology may be in a position to help in this matter.

K. D. Bhargava
Director of Archives,
Government of India.

D.O.No.P/11/59-J DGA

From : Dr. B. Ch. Chhabra, M.A., M.O.L., Ph.D. (Lugd.), F.A.S ,
JOINT DIRECTOR GENERAL OF ARCHAEOLOGY IN INDIA
New Delhi-11, the 22nd September, 1959.

Dear Dr. Bharadwaj,

Please refer to your letter dated the 21st September, 1959. I examined the manuscripts in the original of the following which you had brought personally with you :

1. The 'Bala Kanda' of the Rama Carita Manasa, dated 1643 V.E.

2. The 'Aranya Kanda' of the Rama Carita Manasa, dated 1643 V.E.

3. The 'Bhaktamala' by seva dasa, dated 1894 V.E.

I hereby confirm what I told you about the genuiness of the manuscripts. In each case the colophon and the rest of the text on the last page appears to me to be by one and the same hand. In the case of the third manuscript, namely that of the Bhaktamala, the top and bottom notes and also the marginal notes on page 164 and the rest of the text also appear to be by one and the same hand

The Devanagari characters used in all the three manuscripts appear to be of the period noted in each case.

The four photographs kindly sent by you are hereby returned.

Yours sincerely,
B. Ch. Chhabra
Joint Director General
22-9-1959

Dr. R. Bharadwaj,
14/29, Shakti Nagar,
Delhi.

Encls : 4 Photographs.

पाए बहु बीर धीर मानी बडदानी जहां
साधु औ गुनग्य जे कविन्दजन पूजें आस ।।
देषे बहु राजद्वार जाय अविनास राय
पायौ बहु दान मान कहुं प्रेम को प्रकास ।
पै न ओरछेस सो गुनग्य कवि केसव सो
राजा सो उदार साधु देष्यो हों न भक्तदास ।।१९७।।
राजा महाराज श्री जहाँगीर भूपतिराज
तालीपति कर्नसिंह सोरंकी सुभगवास ।
पन्द्रह सौ बयालीस वर्ष सक सुक्रवार
दौज तिथि स्याम पाष वर्त्यो अब पूष मास ।।
गुरु जन जस भाष्यो देषि राष्यौ जैसो होंहुं
जीय अभिलाष्यौ लिष्यौ चारित तुलसिदास ।
छहरैं छबीलो छिति छेत्र में छपाकर सो
नासै तम रासि अविनास तुलसी प्रकास ।।१९८।।

दोहा

लिष्यो अतिहि संछेप विधि, तुलसी तत्त्व प्रकास ।
पढ़ें सुनें अविनास जे, पावें भगति विलास ।।१९९।।
धन्य राम पद जुग जलज, अलि श्री तुलसीदास ।
जासु रुचिर पावन चरित, भनि धनि भो अविनास ।।२००।।

उल्लाला छन्द

अग जग साईं जानकी रमन दुरित दारिद हरन ।
करौ सदा अविनास हिय वास आस पूरन करन ।।२०१।।

इति श्री अविनासराय कृत तुलसीप्रकास समाप्तम् ।
संवत् १८५९ जेठ बदि ३० अमावस सोमवार ।।
लिषितम् भोगीराम मिसुर ।। सुभम् ।।

टिप्पणी

पृष्ठ ४९६ की अन्तिम पंक्ति में अन्य प्रति के पृष्ठों का उल्लेख है । ये पृष्ठ ४९२ की बीसवीं पंक्ति में 'जीतेसि नाग नगर' इन शब्दों से प्रारम्भ होकर पृष्ट ४९५ की बारहवीं पंक्ति के 'देस काल दिसि विदिसिहु माही । श्री' समाप्त होते हैं । ये पृष्ठ पुष्पिका के पश्चात् मुद्रित होने चाहिए थे ।

शर्त वाजिब उल अर्ज़ मौज़ा मझगवाँ उर्फ राजापुर

मुहाल मुस्तकिल परगना छेड़ाँ तहसील मऊ किस्मत करोई ज़िला बाँदा मश-मूला जिल्द अव्वल बंदोबस्त बाबत सन् १८८०-८१ ई० बाबत १२८८ फ०

आज इस वाजिब उल अर्ज़ को ज़िमीदारान व काश्तकारान व पटवारी ने हमारे सामने तसदीक किया लिहाज़ा हुक्म हुआ कि शामिल मिस्ल रहे।

अल मरकूम १९ मार्च सन् १८७९ ई० Sd. (Illegible) Seal

बाब अव्वल और नोइयत हक्कियत के दस्तूरात

दफा १ मुहाल की नोइयत

मुहाल हाज़ा बशकल पट्टीदारी नामुकम्मिल मुनकिसम ऊपर चार भरी व पांच पट्टियात और एक पट्टी शामिलात मुहाल के है जिसमें दो मकबूज़ा हैं।

दफ़ा २ तरीक़ा वसूली व अदाइ मालगुज़ारी सरकार

पट्टियात मुनकसमा में मालकान पट्टी इकजाई व शामलात मुहाल में हर चहार नम्बरदारान काश्तकारान से लगान वसूल करके मालगुज़ारी हस्ब इकसात ज़ैल दाख़िल खजाना सरकारी करते हैं—

खरीफ़	०—१०—०	रबी	०—६—०
१५ दिसम्बर	०—१०—०	१५ मई	०—६—०

दफा ३ दस्तूर खास बाबत तकर्रुर पटवारी

ब हालत ख़िलवी ओहदा तकर्रुर पटवारी मंज़ूरी साहब कलक्टर बहादुर हस्ब कानून मुजरिया वक्त होगा।

× × ×

दफ़ा १० कोई दूसरा रिवाज या इस्तहकाक जोकि मुहतमिम बंदोबस्त मुन्दर्ज करना मुनासिब समझता हो

अगर कोई शख्स बग़रज़ रफ़ायाम चाह या तालाब पुख़्ता या ख़ाम बनावे तो बिला इजाज़त ज़मीदार व न देने किसी हक के आराज़ी ग़ैर मज़रुआ में बना सकता है। और इस मुहाल में यह रिवाज है कि काश्तकारान मौरूसी बवक्त ज़रूरत अदाय बाक़ी या शादी व ग़मी अपनी काश्त को रहन करके मुर्तहन का नाम दर्ज जमाबंदी करा देते हैं और जब ज़र कर्ज़ा अदा करे मुर्तहन से काश्त मौरूसी वापस लेते हैं। और मुबलिग़ १३६९।।)।। मुसल्लिमा जमीदारान व ९८८।।=) मुसल्लिमा राम जियावन व गयादीन व रामलाल व ब्रजलाल माफ़ीदारान चेला गोसाई तुलसीदास कटरा व बज़ाजा व बाज़ार व अंधाइ व गिरहाई से हक़ूक़ पाते हैं।

दस्तख़त व ख़त उर्दू	दस्तख़त व खत उर्दू
फरज़न्द अली मुहर्रिर	प्रभुदयाल मुहर्रिर
सफाई व मुकाबला	मुकाबला
दस्तखत व ख़त उर्दू	दस्तखत व ख़त उर्दू
(पढ़े नहीं जाते)	(पढ़े नहीं जाते)

१. हैनरी वर्गसों : द फ़िलॉस्फ़ी ऑव चेंज, टी० सी० एण्ड ई० सी० जैक लि०, लन्दन १६१६ ई० ।
२. द फ़िलॉस्फ़ी ऑव चेंज, मेकमिलन एण्ड कम्पनी, १६१४ ई० ।

किसेन कीने : ग्रेटमैन ऑव इण्डिया (होम लाइब्रेरी क्लब), तुलसीदास ।

किशन लाल : रामचरितमानस सटीक, बम्बई, १६५६ वि० ।

की, एफ० ई० : हिन्दी लिट्रेचर, १६२० ई० ।

कुरान, द होली : सम्पादक : रॉडवेल, जे० एम० डेण्ट, लन्दन, १६१३ ई० ।

'कुमार', राजकुमार : तुलसी का गवेषणात्मक अध्ययन, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, २०१२ वि० ।

क्रु, एफ० ए०, ई० : सेक्स : एन आउट लाइन ऑव मॉडर्न नॉलिज, विक्टर गोलंज लि०, लन्दन, १६३१ ई० ।

केशवदास : कविप्रिया, सम्पादक : लाला भगवानदीन, नेशनल प्रेस, वाराणसी केण्ट, १६८२ वि० ।

केसरी नारायण शुक्ल, डॉ० : मानस की रूसी भूमिका (ए० पी० वरान्नीकोव) अनुवाद, विद्यामन्दिर, लखनऊ, १६५५ ई० ।

गर्ग संहिता : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

गणेशीलाल, लाला : श्रीमद् गोस्वामि तुलसीदासजी का जीवन-चरित, गणेशीलाल लक्ष्मीनारायण, मुरादाबाद, १६६६ वि० ।

गांधी, मोहनदास करमचन्द : राम-नाम, दि इनफालिबिल रिमेडी । आनंद टी० हिंगुरानी, कराची, १६४७ ई० ।

ग्राउज़, एफ़० एस० : (१) रामायण ऑव तुलसीदास, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, सप्तम संस्करण १६३७ ई०, पंचम संस्करण १८६१ ई० ।
(२) द प्रोलोग टु द रामायण ऑव तुलसीदास, जे० आर० ए० एस०, बंगाल, जिल्द ४५, १८७६ ई० ।

ग्रियर्सन, सर जॉर्ज आर्थर :
(१) द माडर्न वर्नाक्युलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८८६ ई० ।
(२) तुलसीदास, जे० आर० ए० एस०, १६०३ ई० ।
(३) नोट्स ऑन तुलसीदास, इण्डियन एण्टिक्वैरी, जिल्द २२, १८६३ ई० ।
(४) द मिडीवल वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान विद् स्पेशल रेफ़रेंस टु तुलसीदास, सैविथ इंटरनेशनल कांग्रेस ऑव ओरियंटेलिस्ट्स्, वियना, १८८६ ई० ।

गीता, श्रीमद्भगवद् : शांकर भाष्य, गीता प्रेस, १६६१ वि० ।

ग्रीव्ज़, एडविन :
(१) गोसाईं तुलसीदास का जीवन-चरित, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १६५५ वि० ।

(२) ए स्केच ऑव हिन्दी लिट्रेचर, क्रिश्चियन लिट्रेचर सोसाइटी, १९१८ ई० ।

गुप्त, डॉ० दीनदयालु :

(१) अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, २००४ वि० ।

(२) तुलसीदास और नन्ददास के जीवन पर नया प्रकाश, हिन्दुस्तानी, अक्तूबर १९३९ ई० ।

(३) गोसाईं तुलसीदास की धर्मपत्नी रत्नावली, हिन्दुस्तानी, जनवरी, १९४० ।

(४) महाकवि नन्ददास का जीवन-चरित, हिन्दुस्तानी, जनवरी १९४१ ई० ।

गुप्त, डॉ० माताप्रसाद :

(१) तुलसीदास, प्रयाग विश्व-विद्यालय हिन्दी परिषद्, मई १९४२ ई०, और सितम्बर १९५३ ई० ।

(२) सोरों में प्राप्त गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत्त से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री की बहिरंग परीक्षा, सम्मेलन पत्रिका, अगस्त-सितम्बर १९४० ।

(३) सोरों में प्राप्त गो० तुलसीदास के जीवन-वृत्त से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री की अंतरंग परीक्षा, सम्मेलन पत्रिका, फाल्गुन-चैत्र १९९७ वि० ।

(४) तुलसी का अध्ययन, हिन्दुस्तानी, अक्तूबर १९३९ ई० ।

(५) रामचरित मानस का पाठ, हिन्दुस्तानी अकादमी उ० प्र०, २००५ वि० ।

(६) तुलसी संदर्भ, १९३५ ई० ।

(७) श्री रामचरित मानस, साहित्य कुटीर, प्रयाग, १९४९ ई० ।

गुप्त, डॉ० श्यामलाल :

(१) तुलसीदास का जन्मस्थान, विशाल भारत, दिसम्बर, १९४० ई० ।

(२) साध्वी रत्नावली, नवीन भारत, अगस्त, १३, सन् १९३८ ।

(३) श्री रत्नावली के दोहे, नवीन भारत, अगस्त और अक्तूबर, १९३८ ।

गुलाबराय : तुलसीदास का जीवन-वृत्त, तुलसीदास एक विश्लेषण, पब्लिकेशंज डिवीजन, १९५६ ई० ।

गोपीश्वर सिंह : गोपीश्वर विनोद, मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस, १९४५ वि० ।

गौड़, रामदास :

(१) श्री रामचरित मानस की भूमिका ।

(२) रामचरितमानस (मूल), हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता, तुलसी संवत् ३०६ ।

गौड़, होरीलाल शर्मा : मूल गोसाईं चरित्र अथवा भूल गोसाईं चरित्र, नवीन भारत, १९४१ ई० ।

चतुर्वेद, महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा : गोस्वामीजी के दार्शनिक विचार, तुलसी ग्रन्थावली ।

चतुर्वेदी, परशुराम :

(१) उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, भारती भंडार, प्रयाग, २००८ वि० ।

(२) मानस की राम-कथा, किताब महल, प्रयाग, १९५३ ई० ।

चतुर्वेदी, पुरुषोत्तम शर्मा : रस गंगाधर, का० ना० प्र० सभा ।

अध्ययन-सामग्री

(क) हस्तलिखित ग्रन्थ

बालकाण्ड, रामचरित मानस, १६४३ वि०, तुलसीदास जी के द्वारा अपने भतीजे कृष्णदास को भेंट।

अरण्य काण्ड, रामचरित मानस, १६४३, तुलसीदासजी के द्वारा अपने भतीजे कृष्णदास को भेंट।

भ्रमरगीत, नन्ददास-कृत, कृष्णदास के शिष्य बालकृष्ण के द्वारा प्रतिलिपि, १६७२ वि०।

सूकर-क्षेत्र माहात्म्य, कृष्णदास-कृत, मुरलीधर चतुर्वेद की प्रति, १८०९ वि०।

रत्नावली चरित, मुरलीधर चतुर्वेद-कृत, १८२९ वि०।

रत्नावली चरित, मुरलीधर चतुर्वेद-कृत, लिपिकार: रामवल्लभ मिश्र, १८६४ वि०।

दोहा रत्नावली, रत्नावली-कृत, २०१ दोहों का संग्रह, लिपिकार: गोपालदास, १८२४ वि०।

दोहा रत्नावली, रत्नावली--कृत, २०१ दोहों का संग्रह, लिपिकार: गंगाधर' १८२९ वि०।

रत्नावली लघु दोहा संग्रह, रत्नावली-कृत, १११ दोहों का संग्रह, लिपिकार: ईश्वरनाथ पण्डित, १८७५ वि०।

रत्नावली लघु दोहा संग्रह, रत्नावली-कृत, १११ दोहों का संग्रह, लिपिकार: रामचन्द्र, १८७४ वि०।

कृष्णदास वंशावली, कृष्णदास-कृत, लिपिकार: मुरलीधर चतुर्वेद, १८२९ वि०।

अष्ट सखामृत, प्राणेश कवि-कृत, १८६५ वि० की प्रति।

सूकर क्षेत्र माहात्म्य, कृष्णदास-कृत, लिपिकार: शिवसहाय, १८७० वि०।

वर्षफल, कृष्णदास-कृत, लिपिकार: रुद्रनाथ, १८७२ वि०।

वर्षफल जगन्नाथ विप्र (आगरा) की प्रति १९२९ चैत्र सुदी द्वादशी शनिवार।

सेवादास की टीका, नाभादास के भक्तमाल पर प्रियादास की भक्तिरस बोधिनी टीका पर टीका, सेवादास कृत १८९३ वि०।

ज्ञान दीपक, तुलसीदास-कृत, लिपिकार: मनोहर पांडे, लगभग १८९३ वि०।

विष्णुस्वामी चरितामृत, हरिहर भट्ट कृत, लिपि-तिथि अज्ञात।

तुलसीकृत-रामायण, फारसी लिपि, १२११ हि० वहूम रबिउल अव्वल।

(ख) मुद्रित ग्रन्थ और लेख

अथर्व वेद, ग्रीँध, १९४३ ई०।

अद्भुत रामायण ।

अध्यात्म रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९४४ ई० ।

अयोध्या माहात्म्य, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, गोरखपुर, ५६ वि० ।

अवस्थी, सद्गुरुशरण : तुलसी के चार दल, ई० प्रे०, १९३५ ई० ।

अवस्थी, हरिकृष्ण : तुलसी : व्यक्तित्व और विचार, विद्यामन्दिर, लखनऊ, १९५२ ई० ।

अविनाशराय : तुलसी प्रकास, लक्ष्मी प्रेस कासगंज, प्रथम संस्करण, १९५३ ई०, द्वितीय संस्करण, जनवरी १९५४ ई० ।

अहिर्बुध्न्य संहिता, अदयार, १९१६ ई० ।

आत्रेय, डॉ० भी० ला० : द फिलॉस्फ़ी ऑव योग वासिष्ठ, अदयार, १९३६ ई०; योगवासिष्ठ एण्ड इट्स फ़िलॉस्फ़ी, इंडियन बुक शॉप, बनारस ।

आयंगर, पी० टी० श्रीनिवास : आउट लाइन ऑव इंडियन फ़िलॉस्फ़ी, इंडियन बुक शॉप, वाराणसी, १९०९ ई० ।

आर्कलौजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, जिल्द १, १८७१ ई० ।

इन्द्रदेव नारायण : नवरत्न (तुलसी चरित की समालोचना) मर्यादा, मई १९१२ ई० ।

इम्पीरियल गज़टियर ऑव इण्डिया, उ० प्र०, सेकिण्ड प्रॉविंशल सिरीज़, जिल्द २३, कलकत्ता, १९०८ ई० ।

ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद् : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१७ ई० ।

उत्तरार्द्ध भक्तमाल, प्रकाशक : रा० ब० श्री रामरण विनयसिंह, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, १९२७, हरिश्चन्द्राब्द ४३ ।

ऋग्वेद, औंध, १९४० ई० ।

एटकिंस, ए० जी० : द रामायण ऑव तुलसीदास, हिन्दुस्तान टाइम्ज़ प्रेस, नई दिल्ली, १९५५ ई० ।

एटकिंसन, एडविन टी० :

१. स्टेटिस्टिकल डिस्क्रिप्शन एण्ड हिस्टोरिकल अकाउंट ऑव द नॉर्थ वेस्ट प्रॉविंस ऑव इंडिया, जिल्द १, बुन्देलखण्ड, इलाहाबाद, १८७४ ई० ;

२. अलीगढ़, १८७५ ।

३. वही, जिल्द ४, आगरा डिवीज़न, १८७६ ई० ।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, लन्दन, जिल्द २२, चतुर्थ संस्करण, १९२९ ई० ।

एन्युअल प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑव द सुपरिंटेंडेंट ऑव हिन्दु एण्ड बुद्धिस्ट मोनुमेंट्स, नॉर्दर्न सर्किल फ़ॉर दि ईयर एण्डिड ३१ मार्च १९१९ ई०, लाहौर, १९२० ई० ।

अंजनीशरण : मानस पीयूष, अयोध्या, तृतीय संस्करण, २००८ वि० ।

कल्याण : गोरखपुर, जिल्द, ९, १ ; १४, १ ; २०, ६ ; २५, १ ।

कार्पेण्टर, जे० ई० : थीइम इन मिडिवल इंडिया ।

कार्पेण्टर, जे० एन० : थियॉलोजी ऑव तुलसीदास, द क्रिश्चियन लिट्रेचर सुसाइटी फ़ॉर इण्डिया, १९१८ ई० ।

कार, डॉ० एच० विल्डन :

द्विवेदी रामचंद्र : तुलसी साहित्य रत्नाकर, सत्साहित्य प्रकाशक मण्डल, नया टोला, पटना, १९८६ वि० ।

द्विवेदी, डॉ० हजारीप्रसाद :

(१) हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२ ई० विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ३ ।

(२) हिन्दी साहित्य, अत्तरचन्द कपूर एण्ड संज़, दिल्ली, १९५२ ई० ।

(३) हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई, १९४० ई० ।

दीन, जयरामदास :

(१) मानस रहस्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९९८ वि० ।

(२) मानस शंका समाधान, गीताप्रेस, २००६ वि० ।

दीक्षित, भगीरथ प्रसाद :

(१) गोस्वामी तुलसीदास और उनकी जाति, माधुरी, १९२८ ई० ।

(२) तुलसीदास और उनके ग्रन्थ, अशोक प्रकाशन, लखनऊ, १९५५ ई० ।

दीक्षित, भट्टो जी : प्रौढ़ मनोरमा, सम्पादक : सदाशिवशर्मा जोशी, १९२८ ई० ।

दीक्षित, डॉ० राजपति : तुलसीदास और उनका युग, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, २००९ वि० ।

दुबे, रामचन्द्र : श्री गोस्वामी जी और राजनीति, तुलसी ग्रन्थावली ।

दे, नन्दलाल : द ज्योग्रेफ़िकल डिक्शनरी ऑव ऐशेंट एण्ड मिडिवल इंडिया, १८९९ ई० ।

देवीप्रसाद मुंशी : जहाँगीर नामा ।

दो सौ बावन वैष्णव वार्ता : रणछुर पुस्तकालय, डाकोर, १९६० वि० ।

धेनुसेवक, शोभाराम : मानस मंजूषा, श्री तुलसी ग्रन्थमाला कार्यालय, लखना दौन (सिवनी), म० प्र०, तुलसी संवत् २९८ ।

नगेन्द्र, डॉ० : तुलसी और नारी, तुलसीदास एक विश्लेषण, पब्लिकेशंज़ डिवीज़न, १९५६ ई० ।

नरोत्तमदास : सुदामा चरित, भार्गव पुस्तकालय, वाराणसी ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९५५, १९८४, १९९८, १९९९, २००८, २००९, २०१३, वि० ।

नाभादास : भक्तमाल, नवलकिशोर प्रेस, द्वितीय संस्करण, १८९५ ।

नारद भक्ति सूत्रम् : गीताप्रेस, गोरखपुर, २००१ वि० ।

परीख, द्वारकादास पुरुषोत्तम दास : सम्पादक

(१) प्राचीन वार्ता रहस्य, विद्या विभाग, कांकरौली, १९९८ वि० ।

(२) नन्ददास जी पर मेरा अन्वेषण, व्रज भारती, २००२ वि० ।

प्रसाद' डॉ० वेणी : हिस्ट्री ऑव जहाँगीर, इ० प्रे०, १९३० ई० ।

प्रसाद और पणशोकर (म. म. दुर्गा और वासुदेव शर्मा) : सम्पादक, रसगंगाधर, १९१६ ई० ।

पाण्डे, चंद्रबली :

(१) तुलसी की जीवन भूमि, ना० प्र० सभा, काशी ।

(२) तुलसीदास, शक्ति कार्यालय, दारागंज, प्रयाग, २००५ वि० ।

(३) साहित्य संदीपनी, सरस्वती मंदिर वाराणसी, १९४७ ई० ।
(४) विचार विमर्श ।
(५) हुलसी कौन ? तुलसी की माता अथवा पत्नी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ७ मार्च १९५४ ।

पाण्डेय, डा० रामनिरंजन : रामभक्ति शाखा, नव हिन्द पब्लिकेशंस, हैदराबाद ।

प्रियादास : भक्तिरस बोधिनी ।

पुरोहित, हरिनारायण शर्मा : व्रजनिधि ग्रन्थावली, ना० प्र० सभा, १९९० वि०।

पोद्दार, अभिनन्दन, ग्रन्थ : अखिल भारतीय व्रजसाहित्य मण्डल, मथुरा, २०१० वि० ।

फर्कुहार, जे० एन० : एन आउट लाइन ऑव द रिलीजस लिट्रेचर ऑव इण्डिया, १९२० ई० ।

फ्रांसिस बुचानन : एन एकाउण्ट ऑव द डिस्ट्रिक्ट आव पूर्णिया इन १८०९-१०, सम्पादक : बी० एच० जैकसन, १९२८ ई० ।

बघेला, भीमदेव : चालुक्य वंश प्रदीप, सम्पादक : आचार्य वेदव्रत शास्त्री, भारतीय साहित्य संघ, कासगंज, १९९९ वि० ।

बड़थ्वाल, डा० पीताम्बरदत्त : हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा अनूदित, अवध पब्लिशिङ् हाउस, लखनऊ, २००७ वि० ।

बहुगुणा, शम्भु प्रसाद : नन्ददास, ना० प्र० पत्रिका, १९९६ वि० ।

वृहत् स्तोत्र रत्नावली, प्रथम भाग, खेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, १९५१ वि० ।

बैजनाथ कुर्मी :
(१) तुलसी सतसई (श्रीराम सतसई सटीक) पं० रामबिहारी और पं० वंदी दीन द्वारा संशोधित, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १८८६ ई० ।
(२) रामायण तुलसीकृत, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १८९० ई० ।

ब्रह्म पुराण : (१) वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई । (२) आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १८९५ ई० ।

ब्रह्म सूत्रा वादरायणकृत :
शंकर-भाष्य, अनन्त कृष्ण शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १९१७ ई० ।

बाइबिल, द होली : ब्रिटिश एण्ड फॉरिन सोसाइटी, लन्दन, १९११ ई० ।

बालकराम विनायक : कवित्त रामायण में गो० तुलसीदास का आत्मपरिचय, उत्तर पक्ष, सरस्वती संख्या १, भाग १९ ।

बावन वचनामृत :

बुल्के, डॉ० फादर कामिल : रामकथा, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, १८५० ई०

भगीरथ, हरिप्रसाद : तुलसीकृत रामायणम् (सटीक) कालबा देवी रोड, रामबाड़ी, बम्बई, १९४९ वि० ।

भट्ट, केदारनाथ :
(१) सोरों का सौभाग्य, विशाल भारत, १९४० ई०, नोंकझोंक १९४० ई० ।
(२) गो० तुलसीदास और सोरों में प्राप्त सामग्री, विशाल भारत, १९४० ई० ।

भट्ट, गोविन्द वल्लभ :

चरक : चरक संहिता, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४१ ई० ।

चौबे, बिहारीलाल : तुलसी सतसई, संक्षिप्त टीका सहित, बेप्टिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, १८९७ ई० ।

चौबे, शम्भु नारायण :

(१) रामचरितमानस (संशोधित मूल), नागरी प्रचारिणी सभा काशी, २००५ वि० ।

(२) रामचरित मानस के प्राचीन क्षेपक, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९९८ वि० ।

(३) मूल रामचरितमानस की संख्या और विषयानुक्रमणी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९९८ वि० ।

(४) मानस पाठ भेद, ना० प्र० स०, १९९९ वि० ।

चंदवरदायी : पृथ्वीराज रासो, काशी नागरी प्रचारिणी सभा ।

जर्नल आव द रॉयल एशियाटिक सुसायटी ऑव बंगाल, १९०३ ई० ।

जानकीदास : रामायण मानस प्रचारिका, नवलकिशोर प्रेस, मार्च १८८५ ई० ।

ज्वालाप्रसाद मिश्र : तुलसीकृत रामायण संजीवनी टीका, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०४ ई० ।

जियालाल त्रिपाठी : भक्ताम्बुधि, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८९५ ई० ।

जैन, डॉ० विमलकुमार : तुलसीदास और उनका साहित्य, साहित्य सदन, देहरादून, १९५७ ई० (२०१४ वि०) ।

जोशी और भारद्वाज, प्रो० सीताराम जयराम और प्रो० विश्वनाथ : संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास ।

टंडन, डॉ० हरिहरनाथ : वार्त्ता साहित्य का जीवनी-परक अध्ययन, भाग १-२ आगरा विश्वविद्यालय, १९५६ ई० ।

ट्रैवलर्स कम्पेनियन, रेलवे बोर्ड, १९१३ ई० ।

टंडन, डॉ० प्रेमनारायण : सूर की भाषा, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, नवम्बर १९५७ ई० ।

डिस्ट्रिक्ट गज़टियर्स ऑव द युनाइटेड प्रॉविंसेज, जिल्द २१, बाँदा, १९०९ ई०

डिस्ट्रिक्ट गज़टियर, डिस्ट्रिक्ट गज़टियर, एटा, १९११ ई०

डिस्ट्रिक्ट गज़टियर, अलीगढ़, १९०९ ई० ।

तिवारी, प्रेम कृष्ण : सोरों में प्राप्त गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत्त से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री की बहिरंग परीक्षाएँ, नवीन भारत, १५ जनवरी १९४१।

तुलसीकृत रामायण, तुलसीकृत रामायण, ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई, १९१२ ई० ।

तुलसी ग्रन्थावली, सम्पादक : पं० रामचन्द्र शुक्ल, ला० भगवान दीन, और श्री ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १९८० वि० ।

तुलसीदास, गोस्वामी :

(१) तुलसीकृत रामायण, सीताराम मिश्र की लिपि, गणेश यंत्रालय चैत्र कृष्णा, तीज, चन्द्र, १९४० वि० ।

(२) विनय पत्रिका, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९९१ वि० ।
(३) दोहावली, गीताप्रेस, २००६ वि० ।
(४) कवितावली, गीताप्रेस, २००६ वि०
(५) गीतावली, गीताप्रेस, २००४ वि ।
(६) कुण्डलिया रामायण, सम्पादक : श्री सत्यनाराण पांडे, इ० प्रे०, १९४१ ई० ।
(७) तुलसी सतसई, संपादक : श्री विहारीलाल चौबे, एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, १८९७ ई० ।
(८) रामाज्ञा प्रश्नावली (तुलसी ग्रन्थावली) ।
(९) पार्वती मंगल (तुलसी ग्रंथावली) ।
(१०) जानकी मंगल (तुलसी ग्रन्थावली) ।
(११) बरवै रामायण (तुलसी ग्रन्थावली) ।
(१२) रामलला नहछू (तुलसी ग्रन्थावली) ।
(१३) श्रीकृष्ण गीतावली (तुलसी ग्रन्थावली) ।

तुलसी शब्दसागर : सम्पादक : डॉ० भोलानाथ तिवारी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५४ ई० ।

तुलसी साहब :
(१) घटरामायण, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।
(२) रत्नसागर, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, तृतीय संस्करण, १९३० ई० ।

दयानन्द सरस्वती, स्वामी : सत्यार्थप्रकाश, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, १९९१ वि० ।

दास, बाबा रघुवर : तुलसी चरित ।

दास, भगवद् : श्रीमद् रामानन्द दिग्विजय, आबू, १९८४ वि० ।

दास, डॉ० श्यामसुन्दर :
(१) रामचरितमानस, इ० प्रे०, १९१५ ई० ।
(२) रामचरितमानस सटीक, १९१६ ई०, एवं १९२२ ई० ।
(३) रामचरितमानस सटीक, १९४१ ई०, इ० प्रे० ।
(४) साहित्यालोचन, इ० प्रे०, नवीं आवृत्ति, २००६ वि० ।
(५) हिन्दी भाषा और साहित्य, इ० प्रे०, १९३० ई० ।
(६) गोस्वामी तुलसीदास, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के सहयोग से, हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग, १९३१ ई० ।
(७) गोस्वामी तुलसीदास, इ० प्रे० ।
(८) गोस्वामी तुलसीदास, ना० प्र० पत्रिका, जिल्द ७-८, १९२६-२७ ई० ;

द्विवेदी, गौरीशंकर :
(१) बुन्देल वैभव, बुंदेल वैभव ग्रंथमाला, टीकमगढ़, १९९२ वि० ।
(२) सुकवि सरोज, १९८४ वि०, श्री सनाढ्यादर्श ग्रंथमाला, कालपी; द्वितीय भाग १९९० वि० ।
(३) महाकवि गो० तुलसीदास जी, माधुरी, १९८६ वि० ।

(१) गो० तुलसीदास का जन्मस्थान राजापुर अथवा सूकरखेत सोरों ? माधुरी, १६८६ वि० ।
(२) सम्पादक : तुलसी स्मृति अंक, सनाढ्य जीवन, १६३६ (भद्रदत्त शर्मा और प्रभुदयाल शर्मा के सहयोग से)
(३) श्री सूकर क्षेत्र महात्म भाषा, नवीन भारत, ५ नवम्बर, १६३८ ।
(४) गोस्वामी तुलसीदास, २२४ बालकेश्वर रोड, बम्बई. २०१५ वि० ।

भट्ट, रामेश्वर : तुलसीदास-कृत रामायण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६०२ ई० ।

भट्टजी, विट्ठलनाथ (१७२६ वि) : सम्प्रदाय कल्पद्रुम, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६५० वि० ।

भटनागर, डॉ० रामरतन :
(१) तुलसी साहित्य की भूमिका, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, १६४६ ई० ।
(२) तुलसीदास : आलोचनात्मक अध्ययन, किताबमहल, २००५ वि० ।
(३) रहस्यवाद, किताब महल, इलाहाबाद, मार्च १६४८ ।

भवानीदास : गोसाईं चरित्र, डॉ० भगवतीप्रसादसिंह की प्रतिलिपि, अक्टूबर १६५६ ई०, पाण्डु लिपि ।

भागवतम्, श्रीमद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, २००८ वि० ।

भारतेन्दु ग्रन्थावली; दूसरा भाग, उत्तरार्द्ध भक्तमाल, नागरी प्रचारिणी सभा, २०१० वि० ।

भारद्वाज, डॉ० कृष्णदत्त : द भक्ति स्कूल ऑव रामानुज, सर शंकर लाल चैरिटि ट्रस्ट, नयी दिल्ली, १६५६ ई० ।
गो० तुलसीदास की व्रजभाषा-साहित्य को देन, पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ, २०१० वि० ।

भारद्वाज, डॉ० रामदत्त :
(१) द फ़िलॉस्फ़ी ऑव तुलसीदास, आगरा विश्वविद्यालय, १६५३ ई० ।
(२) तुलसीदास का घरवार, द नेशनल इनफ़रमेशन एण्ड पब्लिकेशंज़, बम्बई, १६४६ ई० ।
(३) तुलसी चर्चा, पं० भद्रदत्त के सहयोग से, लक्ष्मी प्रेस, कासगंज, १६४१ ई० ।
(४) रत्नावली : जीवनी और रचना, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ, १६४१ ।
(५) गोस्वामी तुलसीदास, संक्षिप्त जीवन चरित, तुलसी स्मारक समिति, कासगंज, २००१ वि० ।
(६) गोस्वामी तुलसीदासजी की धर्मपत्नी रत्नावली (भूमिका), रत्नावली, प्रकाशक : रावबहादुर कुवर कंचनसिंह, गोरहा, ज़िला एटा, १६६५ वि० ।
(७) गो० तुलसीदास की धर्मपत्नी रत्नावली, विशाल भारत, फरवरी १६३६ ई० ।
(८) महाकवि नंददास, विशाल भारत, जून १६३६ ई० ।
(९) मूल गोसाईं चरित की अप्रामाणिकता, सुधा, लखनऊ, एप्रिल १६४० ई०।

(१०) कुछ प्राचीन वस्तुएँ (गो० तुलसीदास पर प्रचुर प्रकाश), माधुरी, मई १९४० ई० ।
(११) गोस्वामीजी के चित्र और प्रतिमाएँ, सुधा, मई १९४० ई० ।
(१२) वर्षतंत्र और वर्षफल, माधुरी विशेषांक, १९४० ई० ।
(१३) रत्नावली एण्ड तुलसीदास, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, लाहौर १९४० ई० ।
(१४) तुलसी चरित की अप्रामाणिकता, नवीन भारत, १८ दिसम्बर १९४० ।
(१५) रत्नावली दोहों के आधार वचन, नवीन भारत, मार्च १९४१ ई० ।
(१६) घट रामायण की अप्रामाणिकता, माधुरी, फ़रवरी १९४२ ई० ।
(१७) रत्नावली-तुलसीदास, प्राचीन भारत, ज्येष्ठ १९९८ वि० ।
(१८) व्रजावधी, व्रजभारती १९९९ वि० ।
(१९) गोस्वामी तुलसीदास : द डेट ऑव हिज़ रिननसिएशन : १६०४ वि० एण्ड द बर्थ-प्लेस ऑव हिज़ मदर हुलसी : तारी इन द डिस्ट्रिक्ट ऑव एटा, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, अलीगढ़, १९४३ ई० ।
(२०) द हिस्टोरिकल इम्पोर्टेंस ऑव सूकरक्षेत्र और सोरों, अतिरञ्जी-हस्तिनापुर ? द औरिजिन ऑव चालुक्यज़, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, अलीगढ़, १९४३ ई० ।
(२१) सोरों-सामग्री (प्रत्यालोचना), राजस्थानक्षितिज १९४८ और नवीन-भारत १९४६ ई० ।
(२२) 'तुलसी प्रकास' पर विचार, विशाल भारत, १९४८ ई० ।
(२३) राजापुर का नामकरण, विशाल भारत, सितम्बर १९४८ ई० ।
(२४) रामचरित मानस : भाषा और पाठान्तर, भारत साहित्य, कासगंज एप्रिल १९४२ ई० ।
(२५) तुलसी जन्मस्थान सम्बन्धी सोरों-सामग्री के अतिरिक्त अन्य साक्ष्य, व्रजभारती, २००९ वि० ।
(२६) गोस्वामी तुलसीदास का काव्य सिद्धान्त, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ३ जनवरी १९६०
(२७) साधारणीकरण : क्या और कैसे ? सम्मेलन पत्रिका, पौष-फाल्गुन, शक १८८२
(२८) रामभक्ति शाखा, हिन्दी वार्षिकी १९६०, दिल्ली ।
(२९) तुलसीदास और मनोविश्लेषण, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २० अगस्त १९६१ ।

मनुस्मृति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४६ ।
माधुरी, (पत्रिका), १९२३, १९२६, १९२९ ई० ।
मानसांक : कल्याण, गोरखपुर, १९९५ वि० ।
मानसहंस : श्रीमंत यादवशंकर जामदार, अनुवादक डॉ० केशव लक्ष्मण नाखरे, लोक सेवा प्रेस नागपुर, १९८३ वि० ।
माहेश्वरी, संतदास : रामायण का गूढ़ रहस्य, स्वामी बाग, आगरा, १९५२ ई० ।
मिश्र-बन्धु (गणेश विहारी, श्यामविहारी, शुकदेवविहारी) :

(१) मिश्रबन्धु विनोद, जिल्द १, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, १९८३ वि०, द्वितीय संस्करण ।
(२) हिन्दी नवरत्न, हिन्दी ग्रंथ प्रसारक मंडली, प्रयाग १९६७ वि०, एवं गंगा पुस्तकमाला १९९५ वि० ।

मिश्र, डॉ० बलदेवप्रसाद :
(१) तुलसीदर्शन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९९५ वि० ।
(२) मानस में रामकथा, द नेशनल हिन्दी परिषद् कलकत्ता, १९५२ ई० ।

मिश्र, बाबूराम : रामचरितमानस सटीक, हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता ।

मिश्र, डा० भगीरथ : तुलसी रसायन, साहित्य भवन, लखनऊ, १९५४ ई० ।

मिश्र, नारायणप्रसाद : गो० तुलसीदास कृत रामायण भाषा टीका, भार्गव पुस्तकालय, काशी, १९३० ई० ।

मिश्र रामस्वरूप : श्री तुलसीदास के काल्पनिक जीवन चरित्र पर एक दृष्टि, तुलसीस्मृति अंक, सनाढ्य जीवन, इटावा, १९३९ ई० ।

मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद : गौतम चन्द्रिका में तुलसीदास का वृत्तान्त, ना० प्र० पत्रिका, २०१२ वि० ।

मिश्र, डा० श्यामविहारी और शुकदेवविहारी :
(१) महात्मा तुलसीदासजी, माधुरी, १९२३ ई० ।
(२) ट्राइएनियल रिपोर्ट ऑन सर्च फ़ार हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स, एपैनडिक्स १, १९२४ ई० ।

मीतल, प्रभुदयाल : अष्टछाप परिचय, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, २००४ वि० और २००६ वि० ।

मुखोपाध्याय, जगदीश : सम्पादक, आइने अकबरी, १८९८ ई० ।

मुनरो विलियम वेनेट : द गवर्नमेंट्स ऑव युरोप, मेकमिलन कं०, न्यूयोर्क, १९५४ ई० ।

मैक्डुगल, डॉ० विलियम चार्ल्स : द वे ऑव सेलवेशन इन द रामायण ऑव तुलसीदास, युनिवर्सिटी ऑव चिकागो, इलिनोइस, १९२६ ई० ।

मैकडौनल, ए० ए० :
(१) वैदिक मिथौलौजी, सट्रैस्बर्ग, १८९७ ई० ।
(२) ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर, लंदन, १९२५ ई० ।

मैक्फ़ी, जे० एम० : द रामायण ऑव तुलसीदास और द बाइबिल ऑव नॉर्दर्न इण्डिया, १९३० ई०, टी० एण्ड टी० क्लार्क, एडिम्बरा ।

यजुर्वेद संहिता (शुक्ल) : सम्पादक : श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, औंध, १९८४ वि० ।

याज्ञिक, मायाशंकर : गो० तुलसीदासजी, ना० प्र० पत्रिका, १९२७ ई० ।

राधाकृष्णन्, डा० सर्वपल्ली :
(१) इंडियन फ़िलॉस्फ़ी, एलिन एण्ड अनविन, १९३१ ई० ।
(२) भगवद्गीता, एलिन एण्ड अनविन, लंदन, १९४८ ई० ।

रानाडे, डॉ० आर० डी० : हिस्ट्री ऑव इंडियन फ़िलॉस्फ़ी, जिल्द ७, मिस्टिसिम ।

रामकिशोर शुक्ल : रामचरितमानस, नवलकिशोर प्रेस, १९२५ ई०, प्रथम संस्करण ।

रामकिंकर : हुलसी कौन, तुलसी की माता अथवा पत्नी ? साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १८ अप्रेल, १९५४ ई० ।

रामचरण, महन्त : रामायण, गो० श्री तुलसीदासजी कृत सटीक, प्रथम भाग, नवलकिशोर प्रेस, १८९० ई० ।

रामचरितमानस (पाठान्तर सहित): गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, २००८ वि० ।

रामचरितमानस : श्री खेमराज श्री कृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९५० वि० ।

रामचन्द्र वैद्य शास्त्री :

(१) तुलसी समाचार, सुधावर्षक प्रेस, अलीगढ़, १९४१ ई० ।

(२) तुलसी सत्स्वरूप दर्शन अथवा मायाविनाश, वही, १९५० ई० ।

रामजसन, पं० (बनारस कॉलेज वाले) : श्री तुलसीकृत रामायन, मैडिकल हाल प्रेस, बनारस, १८६९ ई० ।

रामनारायण, प्रो० : ट्रांसलेशन ऑव द अयोध्यामाहात्म्य, इंडियन ऐंटिक्वेरी, १८७५ ई० ।

रामनारायण मिश्र : रामायण सटीक, १९३१ ई० ।

रामबालक दास : रामचरितमानस सटीक, सेठ लक्ष्मीचन्द छोटेलाल वैष्णव पुस्तकालय, अयोध्या ।

रामभद्र : तुलसीदास कृत रामायण, सम्पूर्ण क्षेपक सहित (गोस्वामी तुलसीदास चरितामृतं सहित) जगदीश्वर प्रेस बम्बई, १९५९ वि० ।

रामायण : लाला प्यारेलाल, हिन्दू प्रेस, १९२८ वि० ।

रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश : खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, १८९८ ई० ।

रामायणांक : कल्याण, १९३० ई० ।

राव, विनायक : रामायण सटीक, यूनियन प्रेस, जबलपुर, १९१५ ई० ।

रिकमन, जॉन : ए जैनरल सिलेक्शन फ्रॉम द वर्क्स ऑव सिग्मंड फॉयड, किताबिस्तान इलाहाबाद, १९४१ ई० ।

रैप्सन, इ० जे० : ऐंशेंट इण्डिया, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, १९१६ ई० ।

रैल्फ, जोसेफ़ : हाउ टु साइकोएनेलाइज़ योर्सेल्फ़ ।

लाल, डॉ० श्रीकृष्ण : मानस दर्शन, आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी कैंट, २००६ वि० ।

लक्ष्मीदत्त, मेरठ निवासी : रामायण आनन्द प्रकाश अर्थात् श्री गोस्वामी तुलसीदासकृत श्रीमद् रामायण का तिलक सरल भाषा में, राम प्रेस, मेरठ १९४४-१९४५ वि० ।

वडेर वी० एच० : रामायण कालीन स्थान परिचय, रामायणांक, १९३० ई० ।

वर्मा, डा० धीरेन्द्र : अष्टछाप, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

वर्मा, डा० रामकुमार : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, रामनारायण लाल इलाहाबाद, १९५४ एवं १९५८ ई० ।

वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर : सूरदास, हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, द्वि० सं० १९५० ई० ।

वराह पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०२ ई० ।

ब्रजभाषा सूर कोष, लखनऊ विश्वविद्यालय, २००७ वि० ।

व्रजरत्नदास : नन्ददास ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, २००६ वि० ।

वाल्मीकि रामायणम् : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२९ ई० ।

वाजपेयी, नन्द दुलारे :

(१) सूर संदर्भ, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ।

(२) महाकवि सूरदास, आत्माराम एण्ड संज़, दिल्ली, १९५२ ई० ।

वार्ष्णेय, डॉ० लक्ष्मीसागर :

(१) श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत, सरस्वती, १९४० ई० ।

(२) हिन्दी साहित्य का इतिहास, मालवीय पुस्तक भवन, लखनऊ ।

(३) हिन्दुई साहित्य का इतिहास, गार्साँ द तासी (अनुवाद), हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९५३ ई० ।

विद्यार्थी, रामचन्द्र : तुलसीदास और नन्ददास, विशाल भारत, १९३९ ई० ।

विद्यालंकार, भूदेव : नरहरि निरूपण, सम्मेलन पत्रिका, २००१-२००२ वि० ।

विनायक, पं० बालकराम : गोस्वामीजी के नामराशि, कल्याण, अक्टूबर, १९३६ ई० ।

वियोगी हरि : विनय पत्रिका सटीक, साहित्य सेवासदन, वाराणसी, १९८७ वि० ।

विलसन, एच० एच० : स्केच ऑव द रिलीजस सेक्ट्स ऑव द हिन्दूज़, नवीन संस्करण, रेनहोल्ड रोस्ट द्वारा, १८६१ ई० ।

विश्वकोष (हिन्दी), कलकत्ता ।

वेणीमाधव दास, बाबा : मूल गोसाईं चरित, गीता प्रेस, १९९३ वि० ।

वैद्य, रमणलाल : महाकवि नन्ददास का परिचय, व्रजभारती, २००० वि० ।

शर्मा, आदित्यनारायण सिंह : गोस्वामी तुलसीदास के विषय में कुछ निवेदन, सरस्वती १, १९ ।

शर्मा और परीख, गो० व्रजभूषण और द्वारकादास : दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता, हरिराय प्रणीत, शुद्धाद्वैत एकेडमी, काँकरौली, तीन खण्ड ।

शर्मा, प्रभुदयाल, सम्पादक : दोहा रत्नावली, इटावा, १९३९ ई० ।

शर्मा, भद्रदत्त शास्त्री :

(१) तुलसी सम्बन्धी प्राचीन- हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, हिन्दुस्तानी, १९४० ई० ।

(२) तुलसी चर्चा, डॉ० रामदत्त भारद्वाज के सहयोग से, लक्ष्मी प्रेस, कासगंज, मार्च १९४१ ई० ।

(३) सूकरखेत का वास्तविक स्थान, नवीन भारत, ८ दिसम्बर, १९४३ ।

(४) सोरों की सामग्री, विशाल भारत, १९४८ ई० ।

(५) श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने राजापुर की नींव डाली, नवीन भारत, १९५३ ।

(६) गोस्वामी जी ने राजापुर बसाया, विशाल भारत १९५४, व्रजभारती, १९५४ ई० ।
(७) गोस्वामी तुलसीदास के जीवन से सम्बन्धित तिथियाँ, विशाल भारत, १९५४ ई० ।
(८) सूकरखेत, व्रजभारती, फाल्गुन २०११ वि० ।
(९) तुलसी जन्मभूमि सूकर खेत (सोरों) श्रीतुलसी समिति, सोरों, २०१५ वि० ।

शर्मा, डॉ० मुंशीराम (सोम) :
(१) सूर सौरभ, आचार्य शुक्ल, साधना मन्दिर, कानपुर, २०१३ वि० ।
(२) भारतीय साधना और सूर साहित्य, साधना मन्दिर, कानपुर, २०१० वि ।
(३) वैदिक भक्ति तथा हिन्दी कालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति, १९५६ ई० ।

शर्मा, डा० हरवंशलाल :
(१) सूर काव्य की आलोचना, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ ।
(२) सूर समीक्षा, हिन्दी निकेतन, होशियारपुर, २०१२ वि० ।
(३) सूर और उनका साहित्य, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ ।

शर्मा, रामकिशोर :
(१) गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्मस्थान, विशाल भारत, १९४० ई० ।
(२) शेष सनातन : गोस्वामी तुलसीदास के गुरु अथवा पूर्वज, सरस्वती, १९५३ ।

शर्मा, विनय मोहन : तुलसीदास के महाराष्ट्रीय शिष्य संतजन जसवंत, ना० प्र० पत्रिका, २०१३ वि० ।

शर्मा, पं० सूर्यनारायण : रामायण संदेश, जे० लाल विश्वकर्मा एण्ड संज़, मीठांपुर, पटना, १९८८ वि० ।

शाण्डिल्य : भक्ति सूत्रम्, पाणिनि आफ़िस, इलाहाबाद, १९१२ ई० ।

शास्त्री, सीताराम : संस्कृत साहित्य का इतिहास ।

शास्त्री, डा० सूर्यकान्त :
(१) हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास ।
(२) द इडेक्स वर्बोरम टु तुलसीदासज़ रामायण, १९३७ ई० ।

शास्त्री, हीरानन्द : मेमोयर्स ऑव द आर्केलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया नं० २, द बघेल डायनेस्टी ऑव रींवा १९२५, वीर भानूदय काव्यम् ।

शास्त्री, रजनीकान्त : मानस मीमांसा, किताब महल, इलाहाबाद, १९४९ ई० ।

शिवसिंह सेंगर : शिवसिंह सरोज, नवलकिशोर प्रेस, १९२६ ई० ।

शुक्ल और मिश्र (प्रो० रामबहोरी और डॉ० भगीरथ) : हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, हिन्दी भवन, १९५६ ई० ।

शुक्ल, रामचन्द्र :
(१) गोस्वामी तुलसीदास, काशी ना० प्र० सभा, षष्ठ संस्करण, २००५ वि० ।

(२) हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९४० ई०, एवं नवीन संस्करण, ना० प्र० सभा काशी, २००६ वि० ।
(३) गोस्वामी तुलसीदासजी (जीवन खंड सहित), ना० प्र० सभा, १९८० वि० ।
(४) शशांक (अनुवाद), ना० प्र० सभा, १९२२ ई० ।
(५) भ्रमरगीत सार, साहित्य सेवा सदन, बनारस, २००६ वि० ।

शुक्ल, प्रो० रामबहोरी :
(१) तुलसी, हिन्दी भवन इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, १९५२ ई० ।
(२) गोस्वामी तुलसीदास का जन्म-स्थान, वीणा, १९३८ ई० ।

श्री रामचरितमानस : संशोधक, दास पूरण भक्त श्रीवास्तव, भार्गव पुस्तकालय काशी, १९८६ वि० ।

श्री वल्लभ दिग्विजय :

श्रीवास्तव, डॉ० देवकीनन्दन : तुलसीदास की भाषा, लखनऊ विश्वविद्यालय, २०१४ वि० ।
श्रीवास्तव, डॉ० बदरी नारायण : रामानन्द सम्प्रदाय, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९५७ ई० ।

षोडश रामायण :
(१) वंगवासी स्टीम मिशन प्रेस, कलकत्ता, १९०३ ई० ।
(२) खेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, १९८८ ई० ।

स्कंद पुराण : संक्षिप्त हिन्दी संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर । तृतीय संस्करण, १९४९ ई० ।

सम्मेलन पत्रिका : १८८२ शक

सहाय, गोकुलानन्द :
(१) ट्रूथ अबाउट द लाइफ़ ऑव गोस्वामी तुलसीदास, सर्चलाइट, १३ मई, १६ मई, २३ मई, ३० मई, ७ जून, १३ जून, २० जून, १९५४ ई० ।
(२) एस्ट्रोलॉजिकल योगज़ विच इनफ्लुएंस्ड द लाइफ़ ऑव गोस्वामी तुलसीदास, सर्चलाइट, १६, २५ अक्टूबर; १, ८ नवम्बर, १९५३ ई० ।
(३) गो० तुलसीदास और उनकी जीवनियाँ, अवन्तिका ।

सहाय, शिवनन्दन :
(१) श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन चरित्र, विहारस्टोर, आरा, १९१६ ई० ।
(२) गोस्वामी तुलसीदास जी, माधुरी, अगस्त १९२२ ई० ।

सावित्री सिन्हा, डॉ० : मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, आत्माराम एण्ड संज़, दिल्ली १९५३ ई० ।

सूरस्वामी, श्री : हाथरस वाले सतगुरु श्री तुलसी साहब की वानी और जन्म कथा, प्रकाशक : गुरु चरन दास लाहौरी, सतगुरु आश्रम, अनारकली गेट, लाहौर, वर्तमान, हाथरस, तृतीय बार, फरवरी १९३० ई० ।

स्मिथ विसेंट ए० : अकबर द ग्रेट मुग़ल, ऑक्सफोर्ड, क्लेरेंडन प्रेस, १९१७ ई० ।

सिंह, भगवती प्रसाद : सूकरखेत, सरस्वती, जून १९४३ ई० ।

रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, अवध साहित्य मन्दिर, बलरामपुर, २०२४ वि० ।

सिंह, व्योहारराजेन्द्र : गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना, भाग १-३, ना० प्र० सभा, २००५ वि० ।

सिंह, प्रताप : भक्त कल्पद्रुम, नवल किशोर प्रेस, १९२६ ई० ।

सीताराम; रायबहादुर लाला :

(१) तुलसी-कृत रामायण, अयोध्याकाण्ड (राजापुर की प्रति), किशोर ब्रदर्स, २०३ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद, १९२१ ई० ।

(२) क्या राजापुर का रामचरितमानस तुलसीदास के हाथ का लिखा है ? माधुरी १९२५ ई० ।

(३) सिलेक्शंज़ फ्रॉम हिन्दी लिट्रेचर, १९२३ ई०, तृतीय पुस्तक ।

(४) रामचरितमानस केलोकप्रिय होने का कारण, कल्याण, १९३० ई० ।

(५) सम्पादक : नोट्स ऑन तुलसीदास (ग्रियर्सन-कृत), १७ नवम्बर १९२० ई० ।

सीताराम मिश्र : गो० तुलसीकृत रामायण, लखीमपुर खीरी ।

सीतारामशरण भगवान् प्रसाद : श्री भक्तमाल सटीक, वार्तिक प्रकाश युक्त, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १९१३ ई० ।

सुकुल, चन्द्रमौलि : मानस दर्पण, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९१३ ई० ।

सूक्तिसुधाकर : गीताप्रेस, गोरखपुर ।

सूरजभान अग्रवाल : रामचरितमानस रामायण टीका सहित ।

सूरदास ठाकुर दास : दो सौ बावन वैष्णव वार्त्ता, जगदीश्वर प्रेस, बम्बई, १९४७ वि०

सूरसागर : नागरी प्रचारिणी सभा काशी, प्रथम संस्करण, १९९३ वि० ।

सोलंकी, नाहरसिंह, संपादक : श्री सूकरक्षेत्र, (सोरों) माहात्म्य, कवि कृष्णदास कृत, गोरहा, एटा ज़िला, १९३८ ई० ।

हण्टर, डब्ल्यू० डब्ल्यू० : इम्पीरियल गज़टियर ऑव इण्डिया, जिल्द ११, द्वितीय संस्करण, १८८६ ई० ।

हरिप्रसाद भगीरथ : रामचरित मानस सटीक, कालबादेबी रोड, मुम्बई, १९६० वि० लग० ।

हिन्दी शब्द सागर : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, इण्डियन प्रेस, १९१६ ।

हिल, डब्ल्यू० डगलस पी० : द होली लेक ऑव द ऐक्ट्स ऑव राम, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२ ई० ।

हैरिमन फिलिप लौरेंस : एनसाइक्लोपिडया ऑव साइकॉलोजी, न्यूयार्क, १९४६ ई० ।

हैस्टिंग्ज, जेम्ज़ : एनसाइक्लोपिडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स, टी० एण्ड टी० क्लार्क, एडिम्बरा, १९२१ ई० ।

होपकिंस : रिलिजंज़ ऑव इण्डिया

त्रिपाठी, रामनरेश :

(१) तुलसीदास और उनकी कविता, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, १६३७ ई० ।
(२) रामचरितमानस (रामायण) सटीक, वही, १९९२ वि० ।
(३) तुलसी और उनका काव्य, राजपाल एण्ड संज, दिल्ली, १९५३ ई० ।
(४) कविता कौमुदी, प्रथम भाग, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, १९८४ वि० । पंचम संस्करण ।

त्रिपाठी, विजयानन्द :

(१) ज्ञान दीपक का स्पष्टीकरण, कल्याण, जुलाई १९३० ई० ।
(२) श्री गो० तुलसीदास जी की स्वकथित जीवनी, श्री रामायणांक कल्याण, १९३० ई० ।
(३) श्री रामचरितमानस, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, १९९३ वि० ।

नामानुक्रम

रामचरितमानस : बालकाण्ड, १६४३ वि०, पृष्ठ २१६, २२७

रामचरितमानस : अरण्य काण्ड, १६४३ वि०, पृष्ठ २१९, २२८

भ्रमर गीत, बालकृष्ण की प्रति, १६७२ वि०, पृष्ठ २२०

दोहा रत्नावली, गोपालदास की प्रति, १८२४ वि०, पृष्ठ २१६
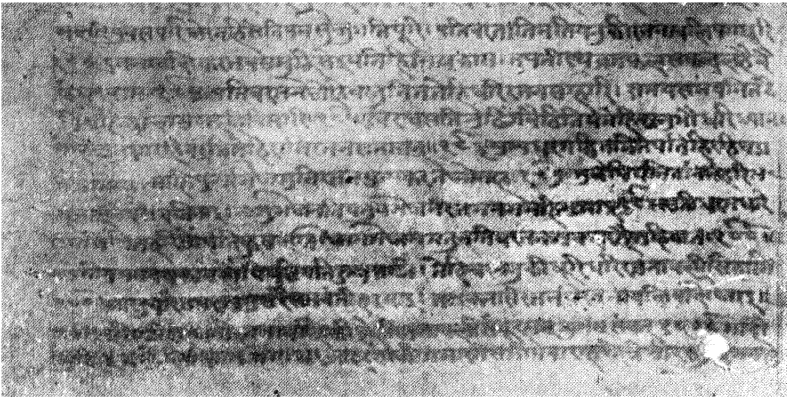
दोहा रत्नावली, गगाधर की प्रति, १८२९ वि०, पृष्ठ २१६
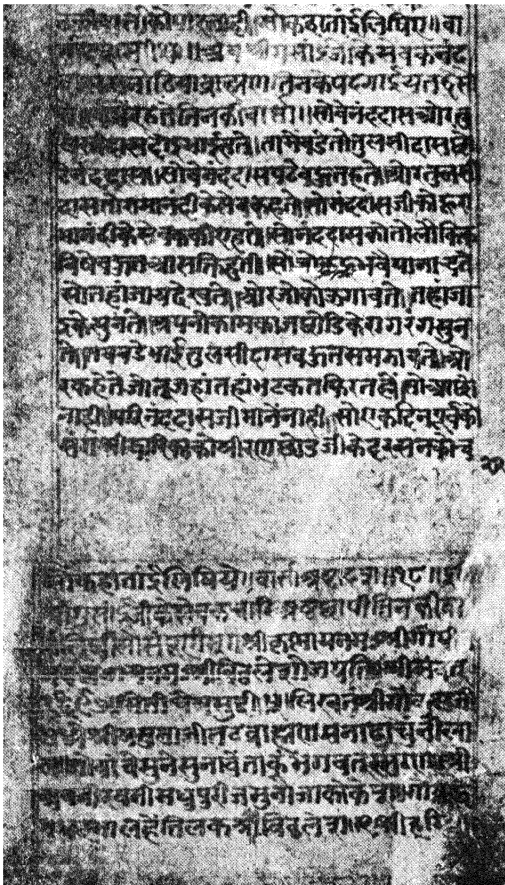
श्री गोसाई जी के सेवक चारि
अष्टछापी तिनकी वार्ता,
१६९७ वि०, पृष्ठ २०१

रत्नावली लघु दोहा सग्रह, ईश्वरनाथ की प्रति १८७५ वि०, पृष्ठ २१८

रत्नावली चरित, मुरलीधर चतुर्वेद की प्रति, १८२९ वि०, पृष्ठ २१४

श्री वाराह मन्दिर और घाट, सूकरक्षेत्र, सोरों (एटा), पृष्ठ १०२

कृष्णदास वंशावली, मुरलीधर चतुर्वेद की प्रति, १८२९ वि०, पृष्ट २२०

सूकरक्षेत्र माहात्म्य (भाषा), मुद्रित १९२७ वि०, पृष्ठ २४२
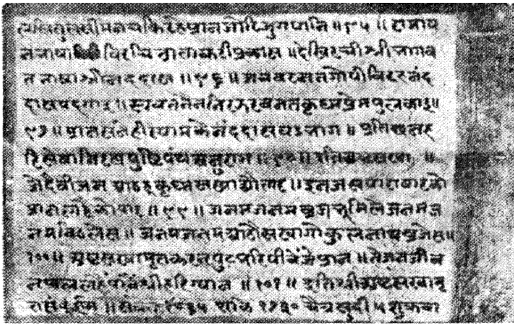
अष्टसखामृत. १८६५ वि०, पृष्ठ १९९
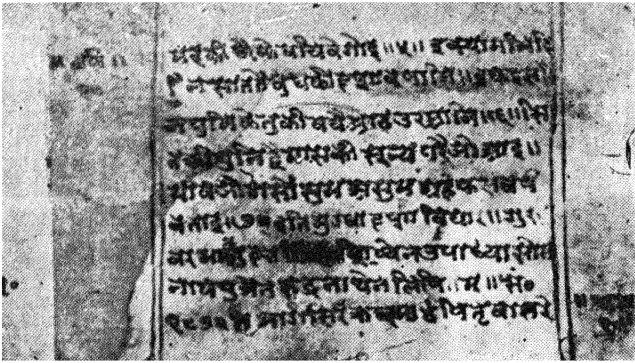
वर्षफल, रुद्रनाथ की प्रति, १८७२ वि०, पृष्ठ २११
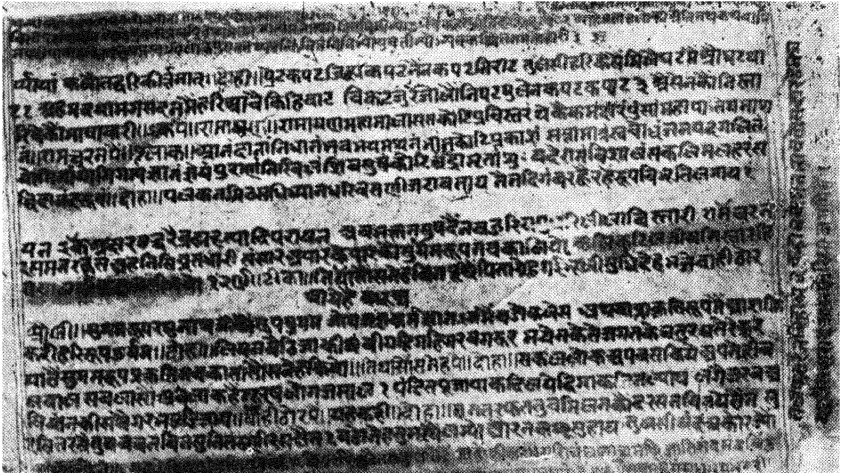
भक्तमाल सेवादास की टीका १८६४ वि०, पृष्ठ २२३
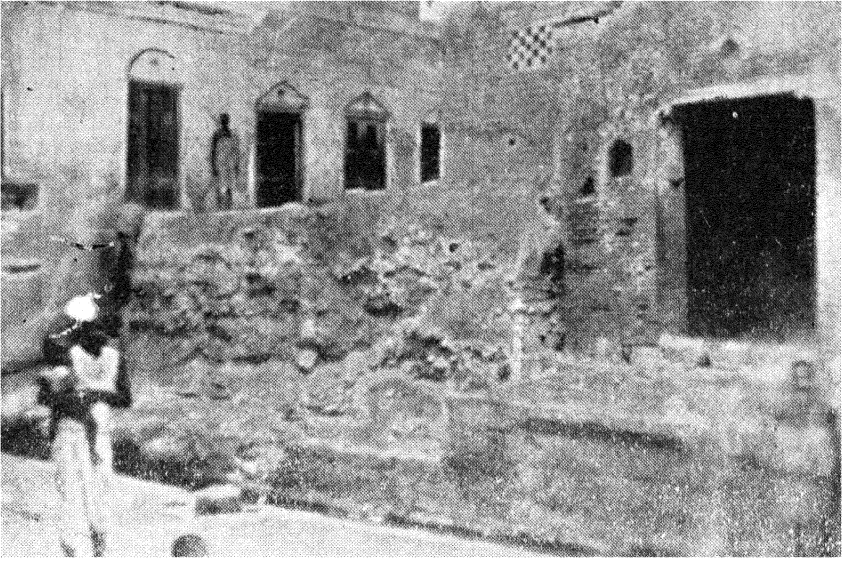
गुरु नरसिंह का विद्यालय, जीर्णोद्धार से पूर्व, पृष्ठ १६२
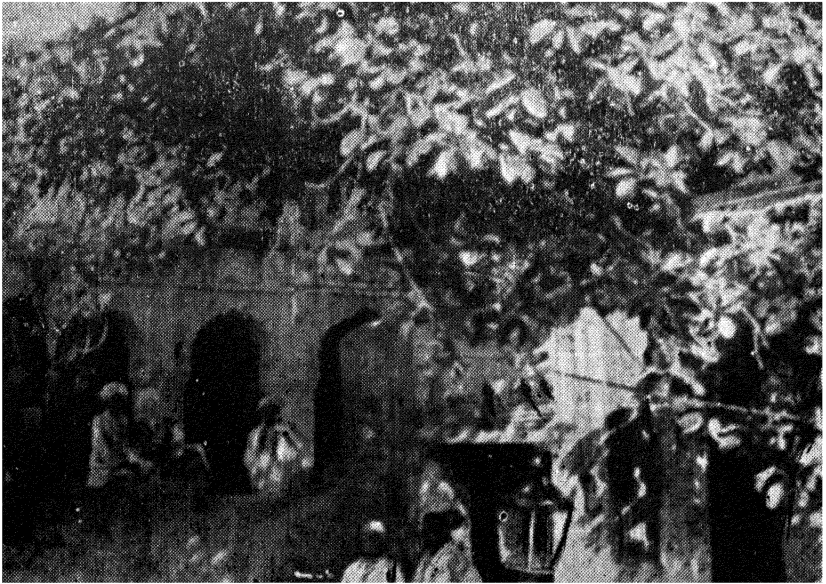
गुरु नरसिंह का विद्यालय, जीर्णोद्धार के पश्चात्, पृष्ठ १६२

रामपुर के निवासी पृष्ठ १६५

रामपुर (श्यामपुर) की ग्रामदेवी, पृष्ठ १६१

रामपुर के निवासी, पृष्ठ १६५
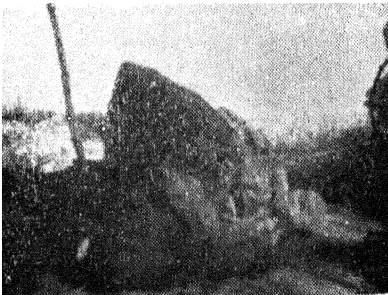
तारी की ग्राम देवी पृष्ठ १५६

तारी का वट और तारी के कुछ
सिवासी, पृष्ठ १५६

तारी का ताल, पृष्ठ १५८
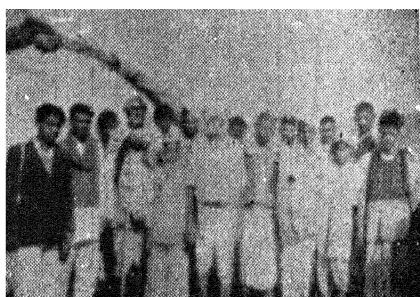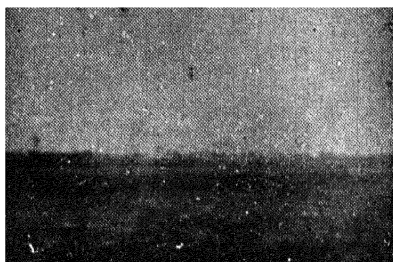
तारी के कुछ निवासी, पृष्ठ २५८

श्यामसर, पृष्ठ १६१

श्यामायन रामपुर पृ०ठ १७१

सीताराम जी का मन्दिर सोरो
पृष्ठ १९२

तुलमी ग्रह पृष्ठ १९२

श्यामायन रामपुर, पृष्ठ १९१